शाखाएँ

बुकलैण्ड प्राइवेट लिमिटेड
१, शकर घोष लेन, कलकत्ता-६

बुकलैण्ड प्राइवेट लिमिटेड
२११।१, कॉर्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता-६
४४, जॉन्स्टनगज, इलाहाबाद-३
चौहट्टा, पटना-४

संशोधित और परिवर्द्धित
पचम सस्करण, जुलाई १९५६
मूल्य १० रु० मात्र

...नाथ वसु, एम० ए०, बुकलैण्ड प्राइवेट लिमिटेड, १, शकर घोष लेन,
कलकत्ता-६ द्वारा प्रकाशित तथा श्री वीरेन्द्र घोष, माया प्रेस
...इवेट लिमिटेड, इलाहाबाद-३ द्वारा मुद्रित

पाचवें संस्करण की भूमिका

"अर्थशास्त्र परिचय" का यह सस्करण मूल अँगरेजी ग्रन्थ के नवीनतम सस्करण पर आधारित है। आजकल कीन्स के विचारो का अधिकाधिक मथन हो रहा है। अत. मूल्य तथा इसी प्रकार के अन्य सिद्धान्तो पर नये दृष्टिकोण से नयी शैली मे विचार किया गया है। हमारी पचवर्षीय योजनाये देश का आर्थिक मानचित्र तेजी से वदल रही है। अत राष्ट्रीय आय, नियोजन, राजस्व और राष्ट्रीकरण से सम्वन्धित सिद्धान्तो पर भी पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इस सस्करण मे हमने भरसक यह प्रयत्न किया है कि विद्यार्थियो के लिये महत्त्वपूर्ण कोई वात छूटने न पावे।

हमे विशेषरूप से प्रसन्नता इस वात की है कि इस ग्रन्थ के अनुवादक श्री पन्नालाल श्रीवास्तव एम० ए० हमारे विचारो को सरल भाषा और सुवोध शैली मे प्रकट करते आ रहे है। गूढ सिद्धान्तो को यथातथ्य सरलतापूर्वक प्रकट करना हिन्दी भाषा की विशाल क्षमता का परिचायक है। हमे विश्वास है कि यह नवीन सस्करण भी हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रो के विद्यार्थियो के लिये अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

कलकत्ता
जुलाई, १९५६

एस० एन० सेन
एस० के० दास

विषयानुक्रमणिका

अध्याय विषय

अध्याय १

परिभाषा और तत्सम्बन्धी कुछ बातें

(Definition and Other Allied Topics)

अर्थशास्त्र की परिभाषा—अर्थशास्त्र समाज मे रहनेवाले मनुष्यो की आर्थिक समस्याओ का अध्ययन है। यह तो किसी सत्य का एक साधारण कथन मात्र-सा लगता है। क्योकि प्रश्न यह है कि 'आर्थिक' समस्या किसे कहते है ? यदि किसी व्यक्ति के सामने यह समस्या है कि वह अपने पसंद की लडकी से शादी करे अथवा अपने माता-पिता के ही पसद की हुई लडकी से, तो क्या हम इसे आर्थिक समस्या कह सकते है ? यदि हम यह सोच रहे है कि आज की शाम विनोद पूर्वक कैसे विताई जावे, तो क्या यह आर्थिक समस्या है ? जीवन मे हमारे सामने पग-पग पर तरह-तरह की समस्याएँ आती है। उनमें से कौन आर्थिक है और कौन नही ? आर्थिक समस्याओ की दो विशेपताएँ होती है। पहिली तो यह कि उन सवकी तह मे यह सत्य रहता है कि हम सव लोगों की कुछ आवश्यकताएँ रहती है। इन आवश्यकताओ मे विलकुल प्राचीन साधारण जीवन की विलकुल साधारण आवश्यकताओ से लेकर वर्तमान सभ्यता में ढले हुए आधुनिक जीवन की तरह-तरह की आवश्यकताएँ शामिल है। ये आवश्यकताएँ दिन-प्रति-दिन वढती ही जाती है। आर्थिक समस्याओ का सम्बन्ध इन्ही आवश्यकताओं की पूर्ति से है। आर्थिक समस्याओ की दूसरी महत्वपूर्ण विशेपता यह है कि जिन वस्तुओं से हम अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते है, वे सीमित है। जैसे कि हम अपनी आवश्यकताएँ अपने कुछ गुणो, कुछ वस्तुओ तथा कुछ समय द्वारा पूरी करते है, परन्तु दुर्भाग्यवश हमारी कार्यशक्ति, ससार के पदार्थ तथा हमारे पास समय, ये सव सीमित है। इन साधनो के सीमित होने मे ही आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न होती है। यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिये कि 'सीमित' शब्द एक विशेप आर्थिक माने मे उपयोग किया जाता है। किसी वस्तु की सीमित मात्रा ही केवल उसे आर्थिक दृष्टि से कम नही बना देती। परन्तु किसी वस्तु की कुल माँग जितनी हो और वह उतनी न मिल सके, अर्थात् उसकी पूर्ति माग से कम हो, तव हम उसे आर्थिक माने मे सीमित कहेंगे। वस्तुओ के सीमित होने के कारण मनुष्य अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये तरह-तरह के कर्म करता है। उसका अन्तिम ध्येय अपनी आवश्यकताओ को पूरा करना रहता है। इन [illegible] के सम्बन्ध मे जो तरह-तरह की समस्याएँ उठती है, उनको आर्थिक समस्याएँ कहते है। एक उदाहरण ले लीजिये। मनुष्य-जीवन के लिये पानी एक अत्यन्त आवश्यक पदार्थ है। साधारणत पानी प्राप्त करना मनुष्य के लिये कोई बड़ी समस्या

नही है। किसी नदी के किनारे पानी मनुष्य की माँग से कही अधिक मिलता है इसलिये इस आवश्यकता की पूर्ति वहाँ एक आर्थिक समस्या नही है। परन्तु एक शहर मे रहनेवाले मनुष्य के लिये पानी मनचाही मात्रा मे नही मिलता। शहर में रहनेवाली बडी मनुष्य-संख्या के लिये पानी की मात्रा सीमित हो जाती है। इसलिये शहर में इस आवश्यकता की पूर्ति एक आर्थिक समस्या हो जाती है। इसलिये "अर्थशास्त्र उन कार्यो का अध्ययन है, जिनके द्वारा आवश्यकताओं की पूर्ति करना सभव होता है।"

प्राचीन अँगरेज अर्थशास्त्रियो ने अर्थशास्त्र की परिभाषा दूसरी तरह से की है उनके मतानुसार आर्थिक कार्यो के उद्देश्य अन्य कार्यो के उद्देश्य से भिन्न होते है आर्थिक कार्यो का उद्देश्य केवल स्वार्थ-साधन होता है, परन्तु अन्य कई ऐसे कार्य होते है, जैसे धर्म-साधन, भक्ति, दान इत्यादि जिनके मूल मे कोई स्वार्थ-भावना नही होती। इन लेखको मे से कुछ ने तो इस विषय की परिभाषा और व्याख्या इस प्रकार की है कि कई लोगो को यह भ्रम होने लगा कि अर्थशास्त्री का सम्बन्ध साधारण मनुष्य के जीवन से नही, वरन् एक ऐसे 'आर्थिक मनुष्य' से है, जिसका काम केवल पैसा गिनना और हानि-लाभ देखना है। जीवन मे उसका और कोई उद्देश्य नही है। परन्तु अर्थशास्त्रियो ने इस परिभाषा को बहुत पहिले रद्द कर दिया। हम किसी कल्पित आर्थिक मनुष्य के जीवन का अध्ययन नही करते। हम जीवन-पथ पर चलते हुए साधारण स्त्री-पुरुषो के कार्यो और उनके विभिन्न उद्देश्यो का अध्ययन करते है। वास्तव मे कार्यो की तह मे जो उद्देश्य होता है, उससे भी अर्थशास्त्री का मतलब नही रहता। अर्थशास्त्री तो मनुष्य के उन कार्यो का अध्ययन करता है, जिन्हे वह अपनी अनन्त इच्छाओ को सीमित पदार्थो द्वारा पूरी करने का प्रयत्न करता है।

कुछ लेखको की परिभाषा के अनुसार अर्थशास्त्र सम्पत्ति का विज्ञान है। ऑडम स्मिथ वर्तमान आर्थिक सिद्धान्तो का जनक माना जाता है। इस विषय की व्याख्या करते हुए उसने लिखा था कि अर्थशास्त्र विभिन्न देशो की सम्पत्ति, उसके कारण तथा उनके विविध प्रकारो का अध्ययन है। इस परिभाषा से तरह-तरह के भ्रमपूर्ण विचारों का प्रचार होने लगा, जिनमे उन्नीसवी शताब्दी के साहित्यिक लेखको कार्लाइल रस्किन इत्यादि का विशेष हाथ था। सम्पत्ति का प्रचलित अर्थ धन अथवा रुपये-पैसे की प्रचुरता है। इसलिये लोगो के विचार होने लगे कि अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल धन प्राप्त करने के उपायो से है। इस प्रकार लोग इसे निकृष्ट विज्ञान (a 'dismal science') समझने लगे। परन्तु इन लेखको ने वास्तव मे अर्थशास्त्र के अध्ययन के उद्देश्य और उसकी परिमिति समझी ही नही। हम कह चुके है कि अर्थशास्त्र मे 'सम्पत्ति' शब्द एक विशेष अर्थ मे उपयोग किया जाता है। सम्पत्ति शब्द का उपयोग रुपये के अर्थ मे नही, वरन् उन सीमित पदार्थो और कार्यों के लिये किया जाता है जिनसे मनुष्य अपनी आवश्यकताएँ पूरी करता है। आवश्यकताओ की पूर्ति के सम्बन्ध मे साधारणतः उन सीमित पदार्थों और कार्यों के उत्पादन, विनिमय और वितरण का अध्ययन किया जाता है। सम्पत्ति साधन है, ध्येय नही। अर्थात् वह केवल एक जरिया है

ध्येय नही। हम सम्पत्ति पर ध्यान इसलिये केन्द्रित करते है कि हमें मनुष्यो के उन कार्य-कलापो का अध्ययन करना है, जिनका सम्बन्ध सम्पत्ति से है। हमारा सम्बन्ध सम्पत्ति से नही, मनुष्य के कार्यो से है। इसलिये अधिक महत्त्व मनुष्य के कार्यो को दिया जाता है, सम्पत्ति को नही। अर्थशास्त्र अब भी सम्पत्ति का विज्ञान माना जाता है, परन्तु वास्तव मे वह मनुष्य-मात्र के अध्ययन का एक भाग है।

सम्पत्ति का प्रारम्भिक अर्थ सुख-साधन था। इसलिये यह विचार किया जाता था कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का ध्येय सम्पत्ति तथा तत्सम्बन्धी अन्य कार्यो के अध्ययन द्वारा मनुष्य-समाज के सुख-साधनो को बढ़ाना था। लोग धन की इच्छा इसलिये करते है कि वह अधिक सुखी होने के साधन जुटा सकेगा। चूंकि सम्पत्ति का अर्थ उन भौतिक वस्तुओ से लगाया जाता है, जो मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है, इसलिये कुछ लेखको ने अर्थशास्त्र की यह परिभाषा की कि वह भौतिक सुख के साधनो को जुटाने का अध्ययन है।[1]

क्या अर्थशास्त्र भौतिक सुखों के साधनों का अध्ययन है?

अन्य परिभाषाएं—अर्थशास्त्र की जो परिभाषा हम ऊपर दे चुके है, उसकी आलोचना इधर हाल मे प्रोफेसर एल० रॉबिन्स (Prof L Robbins) ने की है। उनका कहना है कि भौतिक और अभौतिक (material and non-material) वस्तुओ के बीच मे जो अन्तर होता है, वह हमेशा साफ जाहिर करना कठिन है। दोनो के बीच मे रेखा खीचनी मुश्किल हो जाती है। ऐसी बहुत-सी वस्तुएँ है, जो हमारी आवश्यकताएँ पूरी करती है और जिनकी पूर्ति सीमित है। परन्तु वे किसी अर्थ मे भौतिक नही है। "जो व्यक्ति थियेटर मे नाच दिखाता है, उसका कार्य भी सम्पत्ति है और जो रसोइया (बावर्ची) खाना बनाता है, उसका कार्य भी सम्पत्ति है। अर्थशास्त्र इन विभिन्न कार्यो का मूल्य आंकता है।" परन्तु हम इन कार्यो को किसी अर्थ मे 'भौतिक' नही कह सकते। इसलिये अर्थशास्त्र का सम्बन्ध केवल सुख के भौतिक कार्यो से नही है, उसका सम्बन्ध सुख के अभौतिक कारणो अथवा वस्तुओ से भी है। अर्थशास्त्र और मनुष्य के सुख में का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी भी आलोचना प्रोफेसर रॉबिन्स ने की है। उनका कहना है कि बहुत से अर्थ सम्बन्धी कार्य सुख के साधन नही होते। शराब बनाना और बेचना एक आर्थिक कार्य है। इससे मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति होती है और इसका सम्बन्ध एक सीमित मात्रा मे प्राप्त वस्तु के उत्पादन और विनिमय से है। परन्तु अधिकतर यह देखने मे आता है कि इससे मनुष्य का सुख नही बढ़ता। दूसरी बात यह है कि हम सुख अथवा कल्याण की मात्रा को नाप नही सकते। दो व्यक्ति किसी वस्तु के लिये एक ही दाम देते है। परन्तु हम यह [illegible] (utility)

प्राप्त करते है अथवा उन दोनो को उससे जो सुख प्राप्त होता है, उसकी मात्रा बराबर है। पहिला व्यक्ति धनी हो और दूसरा गरीब। तब उनके सुख और उपयोगिता की मात्रा मे अन्तर पड जायगा। इसलिये धन सुख का उपयुक्त मापक नही है। इसलिये हम समाज के विभिन्न वर्गो के सुख को एक बराबर नही मान सकते। अन्त मे सुख की जो हम इस प्रकार की व्याख्या करते हैं, इससे इसका एक प्रकार का मूल्यांकन हो जाता है। इसका अर्थ यह होता है कि सुख की वृद्धि अधिक से अधिक करनी चाहिये। परन्तु अर्थशास्त्र का सम्बन्ध ध्येय से नही है। वह तो इस बात का अध्ययन करता है कि 'क्या है'। 'क्या होना चाहिये', इसका नही। वह विभिन्न उद्देश्यो के बीच मे तटस्थ रहता है।

अर्थशास्त्र वस्तुओ की न्यूनता अथवा कमी की विशेषताओं का अध्ययन करता है।

प्रोफेसर रॉबिन्स के मतानुसार अर्थशास्त्री का प्रधान सम्बन्ध न 'भौतिक' साधनों (material means) से है, न सुख (welfare) से। उनके मत मे अर्थ-शास्त्र वह विज्ञान है, जो मनुष्य के कार्य-कलापो का अध्ययन इस दृष्टि से करता है कि वे उसके उद्देश्यो और सीमित साधनो के बीच मे क्या सम्बन्ध स्थापित करते है और वे साधन भी ऐसे है, जिनके कई उपयोग हो सकते हैं। "(Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternate uses"[1])

इस परिभाषा के मूल मे तीन बाते है। पहिली यह कि मनुष्य की आवश्यकताएँ होती है और उनकी कोई सीमा नही है, वे अनन्त है। दूसरी यह कि इन आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिये मनुष्य के पास साधन और समय दोनो सीमित है। और तीसरी यह कि इन सीमित साधनो के कई उपयोग होते है। हम चाहे तो अधिक मक्खन बना ले और चाहे तो अपने साधन और समय अधिक बन्दूके बनाने मे लगा दे। परन्तु हम दोनो को अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त नही कर सकते। हमारी आवश्यकताएँ अनन्त है, परन्तु जीवन सीमित है। साथ ही स्वभाव से भी हम लोग आलसी या आरामपसन्द होते है। चूंकि मनुष्य सीमित समय और सीमित साधनो के कारण अपनी सब आवश्यकताओ की पूर्त्ति नही कर सकता, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति के सामने यह प्रश्न रहता है कि किन आवश्यकताओ की पूर्त्ति करे और किनको छोड दे। यदि हम एक वस्तु को लेते है, तो हमे अन्य कई वस्तुओ को त्यागना पडता है। इसलिये हमारे सामने चुनाव करने का प्रश्न उठता है। अथवा हम इस प्रकार कह सकते है कि हमारे पास जो सीमित साधन है, उनका उपयोग किस प्रकार करे। इस प्रकार का चुनाव करने के लिये हमारे पास मूल्य आंकने का कोई तरीका होना चाहिये। हमारे पास जो साधन है, उनका कुछ मूल्य निश्चित कर देना चाहिये, जिससे उनका उपयोग हम केवल अति आवश्यक

[1] Nature and Significance of Economic Science, p. 15.

कामो के लिये कर सके। यह मूल्य निश्चित करने की क्रिया ही अर्थशास्त्र का विषय है। इस प्रकार अर्थशास्त्री इस बात का अध्ययन करता है कि विभिन्न कार्यों या चीजों में चुनने की विशेषता और महत्त्व क्या है। अर्थशास्त्र की समस्या चुनने अथवा किफायत करने की समस्या है।

पहिले जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उनमे दोष हो सकते है। परन्तु प्रोफेसर रॉबिन्स ने जो परिभाषा दी है, उसमे एक विशेषता है। वह यह है कि यदि हम अर्थशास्त्र का अध्ययन मूल्याकन के तरीके पर करते हैं, तो उसके आधार पर कुछ वैज्ञानिक सिद्धान्तों को प्राप्त कर सकते हैं। चूंकि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है, इसलिये उसे विभिन्न उद्देश्यो के बीच में तटस्थ रहना चाहिये। जो है, उसका अध्ययन करना चाहिये, जो होना चाहिये, उसका नही। कारण, कार्य अथवा अनुमान के सहारे उसे वैज्ञानिक सत्य (a priori results) देने में समर्थ होना चाहिये। यदि कम मिलनेवाली वस्तुओं के उपयोग के आधार पर अर्थशास्त्री कुछ परिणाम या नतीजे स्थिर करे तो उनके द्वारा हम उन वैज्ञानिक सिद्धान्तो अथवा सत्य को नही जान सकते, जिनसे ठीक भूल निकाले जा सके अथवा उपयुक्त मूल्याकन किया जा सके। सच्चा विज्ञान सत्य की खोज सत्य ही के लिये करता है और किसी भी विषय का अध्ययन जो वस्तु-स्थिति है, उसके आधार पर करता है। जो होना चाहिये, उसके आधार पर नही। इसलिये प्रो० रॉबिन्स का कहना है कि अर्थशास्त्री को सत्य और विज्ञान का मार्ग नही छोडना चाहिये और मुख्य विषय के साथ जिन विषयो का सम्बन्ध दूरवर्ती हैं, उन पर अपना समय नष्ट नही करना चाहिये। अब देखना यह है कि पहिले दी गई परिभाषा और प्रो० रॉबिन्स की परिभाषा में क्या अन्तर है। पहिली परिभाषा का सम्बन्ध मनुष्य के कार्यों के एक प्रकार अथवा विभाग (a particular kind or department of human activities) से है, दूसरी परिभाषा का सम्बन्ध मनुष्य के कार्यों के विशेष पहलू से है—उन कार्यों से जो वस्तुओ की न्यूनता अथवा कमी के कारण किये जाते है। (A particular aspect of human activities—activities undertaken under the influence of scarcity)

तक ही सीमित रखना चाहिये ? क्या उन्हे केवल सत्य के लिये सत्य की खोज में लगा रहना चाहिये, नीति-निर्माण मे कुछ भी भाग नही लेना चाहिये?

अर्थशास्त्र की परिमिति यह सत्य है कि मूल्याकन की रीति से अध्ययन करने से कुछ महत्वपूर्ण फल प्राप्त हुए है। और यदि अर्थशास्त्री को विभिन्न कार्यो की विशेषताएँ बतलाने में एक विशेषज्ञ का काम करना है, तो इस रीति से अध्ययन करने की अधिक आवश्यकता है। वैज्ञानिक आधार अथवा सत्य की जो कठोरता होती है, उस पर अधिक अवलम्बित होने से विषय की व्यापकता भी कम हो जाती है। परन्तु प्राय सब अर्थशास्त्रियो ने (उनमे प्रो० रॉबिन्स भी शामिल है) वैज्ञानिक अर्थशास्त्र की सीमा को लाघकर उद्देश्यो पर वाद-विवाद किया है। एक बात यह भी है कि विषय की व्यापकता का घेरा कम कर देने मे कई प्रकार के खतरे है। जितने प्राकृतिक विज्ञान (natural sciences) है, उनमे और अर्थशास्त्र मे एक मौलिक भेद है। भौतिकशास्त्र अथवा रसायनशास्त्र का विद्यार्थी केवल सत्य की खोज करने के लिये अपने विषय का अनुसधान कर सकता है। अपनी खोज का वास्तविक उपयोग करना वह दूसरो के लिये छोड सकता है। परन्तु अर्थशास्त्री केवल सत्य के लिये सत्य (truth for its own sake) जानने की दृष्टि से अपने विषय का अध्ययन नही करता। उसके सामने जो बडी-बडी सामाजिक समस्याएँ रहती है, उनका हल उपस्थित करना उसका ध्येय होता है। अर्थशास्त्र का अध्ययन ही एक प्रत्यक्ष वास्तविक विषय की दृष्टि से आरम्भ हुआ था, जिसका ध्येय लोगों की आर्थिक दशा मे सुधार करके उनको सुखी बनाना था। "जब हम मनुष्य के साधारण उद्देश्यो का अवलोकन करते है—कभी-कभी ये उद्देश्य नीच प्रकृति के और निराशाजनक भी होते है—तब हमारी मनोदशा एक दार्शनिक की-सी नही रह जाती। अर्थात् हम सत्य का अन्वेषण केवल सत्य के ही लिये नही करते, बल्कि हमारी मनोवृत्ति एक डाक्टर की-सी हो जाती है। हम सत्य ज्ञान का अन्वेषण इसलिये करते है कि वह दवा का काम करे।" अर्थशास्त्र मे ज्ञान का मूल्य प्रधानत इसलिये नही है कि वह 'प्रकाश' देता है, बल्कि इसलिये है कि वह 'फल' देता है। प्रोफेसर रॉबिन्स ने इस बात पर खेद प्रकट किया है, कि अर्थशास्त्र की सीमा पर बहुत से नीमहकीम खेलवाड करते है। यदि ऐसा है तो उनको दूर भगाना अच्छा होगा। परन्तु उनको अर्थशास्त्री ही भगा सकते है, क्योकि उनके पास उपयुक्त वैज्ञानिक कुशलता रहती है। उपयुक्त तरीको पर शिक्षित व्यक्ति ही जनता के सामने प्रत्यक्ष फल पाने की विविध रीतियाँ रख

---

[1] "When we watch the play of human motives that are ordinary,—that are sometimes mean and dismal and ignoble—our impulse is not the philosopher's impulse, knowledge for the sake of knowledge, but rather the physiologist's impulse,—knowledge for the healing that knowledge may help to bring"

—*Pigous*, Economics of Welfare.

सकते है। श्री पाल स्ट्रीटेन ने अपने एक लेख मे लिखा है, "यदि अर्थशास्त्रियों का ज्ञान केवल कार्य और कारण के सूक्ष्म भेदो का विश्लेषण करने तक ही सीमित नही है और उनका क्षेत्र इसमे अधिक व्यापक है तो उन्हे प्रस्तुत समस्याओ पर निश्चित निर्णय देने से पीछे नही हटना चाहिए। तर्क-प्रणाली निश्चय ही महत्वपूर्ण है और उसे जितना अधिक वैज्ञानिक बनाया जा सके उतना अच्छा है परन्तु यह केवल सम्पत्ति और कल्याण और इनमे सुधार करने के तरीको का अध्ययन करने के साधन के रूप मे ही महत्वपूर्ण है।"[1] अर्थशास्त्र मे कार्य और कारण के सूक्ष्म भेद भी आसानी से नहीं जाने जा सकते इसलिये सुख की समस्याओ को अर्थशास्त्र की परिमिति से बाहर करना असम्भव है।

विज्ञान शब्द का अर्थ

क्या अर्थशास्त्र एक विज्ञान है? बहुत समय तक इस बात पर विवाद चलता रहा है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है, अथवा नही। शब्दकोष के अनुसार विज्ञान का अर्थ यह है कि वह प्रकृति के किसी विभाग के सम्बन्ध मे सम्बद्ध ज्ञान का संग्रह है, मनुष्य के लिये चाहे वह बाह्य हो अथवा आन्तरिक। प्रकृति के किसी विभाग मे जो एकता रहती है, उसका वह अध्ययन करता है और उसके आधार पर वह कुछ तथ्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, जिन्हे हम नियम अथवा सिद्धान्त कहते है। भौतिकशास्त्र एक विज्ञान है। बाह्य-जगत मे हम कुछ एकताएँ देखते है। उनका वह अध्ययन करता है। मनोविज्ञान भी एक विज्ञान है, जो हमारे मानसिक जगत की एकताओ का अध्ययन करता है। अर्थशास्त्र मनुष्य की उन एकताओ का अध्ययन करता है, जो उनके दैनिक जीवन के साधारण कार्यकलापो मे देखने मे आती है। मनुष्यो के समूह के कार्यकलापो मे जो एकताएँ देखने मे आती है, अर्थशास्त्र उनसे कुछ नियम या सिद्धान्त पाने का प्रयत्न करता है। इसलिये अर्थशास्त्र भी एक विज्ञान है।

प्राकृतिक विज्ञान ऐसे पदार्थो का अध्ययन करते है, जिनकी मात्राओ को हम निश्चित रूप मे तौल सकते है। प्रयोगो द्वारा उनके परिणामो की सत्यता सिद्ध की जा सकती है। अर्थशास्त्र भी मनुष्य के उन कार्यो का अध्ययन करता है, जिनको हम धन के मापदण्ड से माप सकते हैं। जितने समाज-विज्ञान है, उनमे अर्थशास्त्र सबसे अधिक निश्चित है। किसी अन्य समाजशास्त्र मे मात्रा के निश्चित माप के बाह्य साधन नहीं है। परन्तु यह ध्यान मे रखना चाहिये कि मनुष्य के उद्देश्यो का इस प्रकार का माप केवल निकटवर्ती हो सकता है। मनुष्य के उद्देश्यो का हमेशा ठीक-ठीक माप नही हो

---

[1] "Economists cannot and should not refrain from making value judgements if their studies are to be more than a purely formal technique of reasoning, an algebra of choice The technique, the algebra, is important and ought to be as scientific as possibly but it is significant only as means to a study of wealth and welfare and of the ways to improve them."—*P Streeten*, "Economics and Value Judgements" in the Quarterly Journal of Economics, Nov. 1950, p 555.

सकता। इसलिये अर्थशास्त्र यद्यपि सब समाज-विज्ञानो मे सबसे अधिक निश्चित है परन्तु प्राकृतिक विज्ञानो जैसा निश्चित नही है, क्योकि वह मनुष्यो के उद्देश्यो का अध्ययन करता है, जिनका रूप गहन है। रुपये के सहारे हम मनुष्य के उद्देश्यो का केवल एक अदाज-सा लगा सकते है। उसे हम निश्चयपूर्वक यथातथ्य नही नाप सकते परन्तु प्राकृतिक विज्ञानो को हम ठीक-ठीक मात्रा मे यथातथ्य घटित कर सकते है।

बहुत से लोग अर्थशास्त्र को इस कारण एक विज्ञान नही मानते कि जिस सामग्री के आधार पर उसका अध्ययन होता है, उस सामग्री से ऐसे नियम नही बनाये जा सकते जो सार्वभौमिक हो, अर्थात् जो सब जगह लागू हो सकें। प्राकृतिक विज्ञानो मे एक इस प्रकार के नियमो का समू[ह] बन गया है, जिसे हम सब जगह लागू कर सकते है, औ[र] जिसकी माप-तौल निश्चित मात्रा मे हो सकती है। परन्[तु] अर्थशास्त्री अपने नियमो के सम्बन्ध मे इसका दावा नही कर सकते। प्रत्येक मनुष्य की इच्छा स्वतन्त्र होती है, इसलिये निश्चयपूर्वक कोई यह नही कह सकता कि एक-सी परिस्थितियो मे सब मनुष्य एक से कार्य करेगे।

यद्यपि आर्थिक उद्देश्यों मे विभिन्नता रहती है परन्तु कार्यसमूहो के औसत के आधार पर हम कुछ सिद्धान्त स्थिर कर सकते है।

परन्तु इतना होने पर भी तीन ऐसी बाते है, जिनके कारण हम कुछ नियम अथवा सिद्धान्त बना सकते है। पहिली बात यह है कि मनुष्य के सब अनुभव उसकी इच्छानुसार नही होते। यह निश्चय करना हमारे वश की बात नही है कि हम कब प्रसन्न होगे और कब दुखी। यदि हम खाते भी चले जावे और यह भी चाहे कि तृप्ति न हो तो यह भी नही हो सकता। इसी प्रकार के कितने ही ऐसे अनुभव है, जिन पर हमारा वश नही है और इन्ही के आधार पर आर्थिक नियम बनते है। दूसरी बात यह है कि हमारे कुछ आर्थिक अनुभव बाह्य प्रकृति के उन नियमो पर आधारित है, जिन पर हमारा कोई काबू नही है, जैसे कि क्रमागत ह्रास का नियम। तीसरी बात यह है कि स्वतन्त्र इच्छा का यह मतलब नही है कि मनुष्य सब काम बिना सोचे-विचारे करते है। यदि वे कोई काम बिना तर्क-बुद्धि के करते भी है, तो गणितशास्त्र के सभावना सिद्धान्त के आधार पर हम यह कह सकते है कि उनके कामो की रूप-रेखा किस प्रकार की होगी। परन्तु प्राय. मनुष्य बुद्धिपूर्वक ही अपने काम करते है। इस कारण से हम मनुष्य के होने वाले कार्यो की रूप-रेखा का अनुमान कर सकते है और कुछ नियम बना सकते है।

इसमे सन्देह नही कि अर्थशास्त्र की भविष्यवाणियाँ प्राय सच नही होती। बाद की घटनाएँ उन्हे प्राय गलत सिद्ध कर देती है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन का तरीका अवैज्ञानिक है। वास्तविकता यह है कि हम कार्यो के सही कारणो से परिचित नहीं रहते। प्राणि-विज्ञान तथा मौसम विज्ञान (Meteorology) के नियम भी बाद की घटनाओ के आधार पर सदा सत्य नही निकलते। परन्तु यह कोई नही कह सकता कि ये दोनो शास्त्र विज्ञान नही है। अर्थशास्त्र आनेवाली व्यापारिक मदी का समय जितने पहिले बतला सकता है, उतने पहिले जलवायु-

विज्ञान तूफान का आना नही बतला सकता। अर्थशास्त्री और प्राकृतिक वैज्ञानिक दोनों का काम एक-सा है, दोनो एक विशेष दृष्टिकोण से कुछ सामग्री का अवलोकन और अध्ययन करते है, दोनो उस अध्ययन के आधार पर कुछ सार्वभौमिक नियम बनाने का प्रयत्न करते हैं, ऐसे नियम जो सब जगह लागू हो सके। इसलिये हम अर्थशास्त्र के विज्ञान होने का अधिकार इस कारण नही छीन सकते कि उसमे निश्चयता तथा भविष्यवाणी की शक्ति नही है।

आर्थिक नियमों की प्रकृति अथवा विशेषता (Nature of Economic Laws)—प्रत्येक विज्ञान के अपने कुछ नियम होते हैं। अर्थशास्त्रियों ने भी अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाये हैं। अब प्रश्न यह है कि इन नियमो की विशेषता क्या है। नियम (law) शब्द के कई अर्थ होते है। एक तो समाज द्वारा बनाये हुए नियम होते हैं, जिनके अनुसार समाज किसी काम को करने या न करने को कहता है। इंग्लैण्ड का कॉमन ला (Common Law) इसी प्रकार का नियम है। दूसरे नियम इस प्रकार के होते हैं जो किसी काम को चलाने का क्रम बतलाते है। जैसे, क्रिकेट के खेल के नियम यह बतलाते है कि खेल किस प्रकार खेलना चाहिये। तीसरे नियम का अर्थ धारासभा द्वारा बनाये कानून से होता है और अन्तिम कार्य-कारण के आधार पर दो परिस्थितियो या घटनाओ मे जो सम्बन्ध होता है, उसे नियम कहते है जैसे, भौतिकशास्त्र के नियम।

नियम शब्द के विभिन्न अर्थ।

अर्थशास्त्र के नियम केवल अन्तिम अर्थ मे ही नियम कहलाते है। वे कुछ प्रवृत्तियो के कथनमात्र होते है जैसे कि अमुक परिस्थितियो मे हम मनुष्यो के एक समूह या समाज मे अमुक प्रकार के कार्य की आशा कर सकते है। अर्थशास्त्र का नियम यह कहता है कि यदि इस प्रकार का कारण है तो कार्य का स्वरूप इस प्रकार का होगा। प्रत्येक विज्ञान के नियम इसी अर्थ मे नियम होते है। यदि आक्सीजन और हाइड्रोजन गैसो का मिश्रण किया जावे और अन्य सब चीजे यथास्थिति रहे तो उस समय मिश्रण के फलस्वरूप पानी बन जावेगा। इसी प्रकार अर्थशास्त्र मे भी अन्य वस्तुओ के यथास्थिति होने पर (other things being equal) यदि किसी वस्तु के दाम बढ़ेंगे तो उसकी माँग कम हो जावेगी। इसलिये यदि रसायनशास्त्र का कोई नियम एक प्राकृतिक नियम माना जाता है तो अर्थशास्त्र का नियम भी उसी अर्थ में प्राकृतिक नियम है।

परन्तु अर्थशास्त्र के नियम उतने निश्चित (exact) नही है, जितने कि प्राकृतिक विज्ञानो के नियम। प्राकृतिक विज्ञानो के अध्ययन का आधार अणु और परमाणु है, जिनकी मात्रा निश्चित है। परन्तु अर्थशास्त्री के अध्ययन का आधार मनुष्य के कार्य होते है। किसी विशेष परिस्थिति मे या विशेष कारणवश मनुष्यो का एक समूह सदा एक-सा कार्य नही करेगा। यह नही कहा जा सकता कि अब-

कारण हो, तव-तव मनुष्य सदा यह काम करेगे। प्रयत्न करने पर आर्थिक-तथ्यो में सुधार किया जा सकता है। परन्तु एक अणु के गुणो में इस प्रकार परिवर्तन नही किया जा सकता। इसलिए अर्थशास्त्र के नियम भौतिकशास्त्र के नियमो की तरह निश्चित और अपरिवर्तनशील नही होते हे।

"अर्थशास्त्र के नियमो की तुलना गुरुत्वाकर्षण के साधारण और निश्चित नियम से करने की अपेक्षा समुद्र की ज्वार-भाटे के नियम से की जानी चाहिये।"[1] मानव स्वभाव वहुत जटिल होता है और उसके कार्य भी विभिन्न प्रकार के और अनिश्चित होने हैं। चूंकि अर्थशास्त्र के नियम मानव-समाज के कार्यो पर आधारित होते हैं इसलिए वह किसी भी स्थिति मे निश्चित नही हो सकते। गुरुत्वाकर्षण का नियम है कि यदि कोई अन्य शक्ति वाधक न वने तो दो वस्तुएँ एक निश्चित अनुपात मे एक दूसरे को अपनी ओर खीचती हे। गुरुत्वाकर्षण का यह नियम इतना सही और निश्चित है कि गणितज्ञ पहिले ही ग्रह-नक्षत्र मण्डल की गतिविधि की गणना कर लेते हैं और कई वर्ष पहिले ही इन नक्षत्रो की भावी स्थिति के वारे मे भविष्यवाणी की जा सकती है। यह गणना और भविष्यवाणियाँ वहुत कम गलत होती हैं। अर्थशास्त्र का कोई भी नियम इतना निश्चित नही है।

आर्थिक नियम भौतिक नियमो की तरह निश्चित नहीं होते।

अर्थशास्त्र के नियमो की समुद्र के ज्वार-भाटे के नियम से तुलना की जा सकती है। ज्वार का नियम यह वतलाता है कि सूर्य और चाँद के प्रभाव से किस प्रकार दिन मे दो वार ज्वार आता है और उतरता है और पूर्णिमा को तथा अमावस्या को ज्वार का अधिक जोर क्यो होता है। इस प्रकार ज्वार-भाटा विज्ञान यह वता सकता है कि हावडा के पुल के पास किस दिन किस समय ज्वार का जोर सवसे अधिक होना सभव है। इस कथन के साथ 'सभावना' शव्द जुडा हुआ है क्योकि कुछ अप्रत्याशित कारणो से उस समय ज्वार नही भी आ सकता है। वगाल की खाडी मे जोर की हवा वह सकती है जो हावडा पुल के समीप ज्वार की स्थिति को विल्कुल वदल दे। ऐसी अनेक परिस्थितियाँ होती हैं जो मनुष्य के कार्यो को प्रभावित करती हैं और इनसे कार्यो की वही दिशा नही रह सकती है जिसकी आशा हो। नियमित रूप से कार्य सचालन मे वाधा पड सकती है।

आर्थिक नियम मूलतः काल्पनिक होते हैं (Economic laws essentailly hypothetical)—सेलिगमन (Seligman) ने लिखा है कि "आर्थिक नियम मूलत काल्पनिक होते है।"[2] अर्थशास्त्र के सभी नियमो के साथ

---

[1] "The laws of Economics are to be compared with the laws of tides rather than with the simple and exact law of gravitation."

—*Marshall*, Principles of Economics, p. 32.

[2] "Economic laws are essentially hypothetical."

—*Seligman*, Principles of Economics, p 27.

यह वाक्यांश जुडा होता है "यदि अन्य बाते समान है" (other things being equal)। हम यह मान लेते है कि विशेष परिस्थिति मे एक निश्चित परिणाम निकलेगा। परन्तु यह तभी सभव है जब कि इस बीच कोई और परिवर्तन न हो जाय। परन्तु

अर्थशास्त्र के नियम कहाँ तक काल्पनिक होते हैं ?

अन्य बाते सदैव समान नही रहती है और इसके फलस्वरूप अर्थशास्त्र मे कुछ विशेष तथ्यो के आधार पर कोई निश्चित परिणाम घोषित नही किया जा सकता। इसीलिए अर्थशास्त्र के नियमो को काल्पनिक कहा जाता है। काल्पनिक कहने का कारण यह है कि इनकी सच्चाई और इनकी क्रिया अनेक बातो पर निर्भर करती है जो परिवर्तनशील है और अनिश्चित तथा अपूर्ण है। इसके लिए क्रमागत उपयोगिता के नियम का उदाहरण लिया जा सकता है। इस नियम के अनुसार यदि किसी व्यक्ति के पास कुछ सामान है और उसमे वृद्धि हो तो सामान की प्रत्येक नयी इकाई की उस व्यक्ति के लिए सीमान्त उपयोगिता क्रमश कम होती जायगी। परन्तु नियम यह नही बता सकता है कि वास्तव मे किस बिन्दु से उपयोगिता घटने लगेगी। यह भी सभव है कि यदि वह वस्तु एकाएक अधिक प्रयोग मे आने लगे तो उसकी उपयोगिता वास्तव मे बढ जाय।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि आर्थिक नियम काल्पनिक है इसलिए यह अवास्तविक और व्यर्थ है। अन्य सभी विज्ञानो के नियम भी काल्पनिक ही होते है।

अन्य विज्ञानो के नियम भी बहुत कुछ काल्पनिक होते है।

प्रत्येक विज्ञान मे कुछ कारणो की पूर्व कल्पना कर ली जाती है, इन कारणो से कुछ परिणाम निकाले जाते है और यह मान लिया जाता है कि इस बीच सारी स्थिति मे कोई परिवर्तन नही होता है। इस अर्थ मे सभी नियम काल्पनिक होते है। भौतिकशास्त्र मे यह माना जाता है कि पदार्थ एक निश्चित शक्ति से एक दूसरे को अपनी ओर खीचते है परन्तु वास्तविक जीवन मे सदैव ऐसा होना आवश्यक नही है। गुरुत्वाकर्षण के नियम के अनुसार सभी चीजो को नीचे गिरना चाहिए पर सदा ऐसा नही होता है। वायुमण्डल के दबाव से इन वस्तुओ के गिरने मे रुकावट पैदा हो सकती है। एक विशेष दबाव और तापमान मे आक्सीजन तथा हाइड्रोजन मिलकर पानी बनाते है। किसी ने भी यह तर्क पेश नही किया है कि गुरुत्वाकर्षण का नियम या रसायनशास्त्र के नियम अवास्तविक या व्यर्थ है। विभिन्न शक्तियो के सक्रिय रहने से यह सभव है कि जिस परिणाम की आशा लगा रखी है वह न निकले। इस दृष्टि से सभी विज्ञानो के कानून काल्पनिक है। अन्तर केवल इतना है कि कल्पना का तत्व अर्थशास्त्र मे सबसे अधिक होता है। भौतिकशास्त्र मे विभिन्न शक्तियाँ सक्रिय हो सकती है फिर भी उनको नापा जा सकता है। इसलिए कोई भी निश्चित परिणाम घोषित नही किया जा सकता। आर्थिक नियम इस दृष्टि से बहुत कुछ अनुमानित होते है।

पर बता देना अनुचित न होगा कि सभी आर्थिक नियम सदा काल्पनिक नही होते

है। कुछ ऐसे भी नियम है जो उतने ही सही माने जा सकते है जितने भौतिकशास्त्र के और कुछ ऐसे भी है जो स्वय-सिद्ध होते है। क्रमागत ह्रास नियम मूलत कुछ कारणो पर आधारित है जो मनुष्य के लिए वाह्य-कारण होते है। आविष्कारो के द्वारा क्रमागत ह्रास की प्रवृत्ति को कुछ समय के लिए रोका जा सकता है। कृषि-क्षेत्र मे वैज्ञानिक-विधि का प्रयोग करके इस प्रवृति को कुछ समय तक रोका जा सकता है परन्तु दीर्घकाल मे यह प्रवृति दिखाई देगी। इसलिए इस नियम को भी भौतिकशास्त्र के नियमो की ही कोटि मे रखा जा सकता है। कुछ ऐसे भी नियम है जो स्वयसिद्ध है और जिनके लिए प्रमाण की आवश्यकता नही है। उदाहरण के लिए यह नियम कि पूंजी कुल आय मे व्यय करने के वाद हुई वचत से प्राप्त होती है या यह नियम कि किसी वर्ग के रहन-सहन का स्तर मूल रूप मे उस वर्ग की उत्पादन क्षमता पर निर्भर करता है स्वयसिद्ध है ओर किसी भी रूप मे इन्हे काल्पनिक नही कहा जा सकता है।

सभी आर्थिक नियम मूलत: काल्पनिक नहीं होते हैं।

अर्थशास्त्र के अध्ययन की रीतियाँ (Methods of Economics)—प्रत्येक विज्ञान के अध्ययन करने की कुछ रीतियाँ होती है। अव हम इस वात पर विचार करेगे कि अर्थशास्त्र मे अध्ययन करने की तथा अन्वेषण और गवेषणा की क्या रीतियाँ ग्रहण की गई है। कोई भी वैज्ञानिक अपना अध्ययन और अनुसन्धान दो रीतियो से करता है। एक को अनुमान या निगमन प्रणाली (deductive or abstract method) और दूसरी को अनुभव या आगमन प्रणाली (inductive or historical method) कहते है। अनुमान प्रणाली इस प्रकार की होती है। जिस घटना या सत्य का अध्ययन करना है, उसमे कौन-कौन-सी वाते और विशेषताएँ है, पहिले इस वात को देखते है। फिर हम तर्क-बुद्धि या बहस द्वारा यह निश्चय करने का प्रयत्न करते है कि यदि अमुक परिस्थितियो मे ये घटनाएँ या विशेष वाते अपना काम करें तो उनका फल क्या होगा। तर्क-वितर्क द्वारा हम एक सिद्धान्त पर पहुँचने का प्रयत्न करते है। प्राचीन आग्ल अर्थशास्त्रियों (classical economists) ने पूरे अर्थशास्त्र के अध्ययन मे केवल इसी रीति अर्थात् अनुमान-पद्धति का उपयोग किया। अर्थविज्ञान के सव नियम उन्होंने मनुष्यो के उद्देश्यो और आदतो सम्वन्धी कुछ विशेषताओ के अध्ययन द्वारा निश्चित किये। उन्होंने अपना अध्ययन मनुष्य प्रकृति की कुछ सर्वमान्य वातो को लेकर किया। जैसे कि मनुष्य हमेशा सस्ते दर पर वस्तुएँ लेना चाहता है, इत्यादि। उन्होंने इस वात को मान लिया कि मनुष्य के ये उद्देश्य और प्रकृति यह सव स्थानो मे एकसे होते है। तव उन्होंने यह निश्चय करने का प्रयत्न किया कि मनुष्यो के उन कार्यो का स्वरूप क्या होगा और वे किन नियमो के अनुसार घटित होगे। इस प्रकार के सिद्धान्त और उनको निश्चय करने की इस विधि की कई लेखको ने आलोचना की है। परन्तु इन प्राचीन अर्थशास्त्रियो

अनुमान या निगमन प्रणाली।

(classical writers) की गलती इस बात मे नही थी कि उन्होने अपने अध्ययन मे अनुमान पद्धति का उपयोग किया। उनकी त्रुटि इस बात मे थी, कि उन्होने अपने सिद्धान्तो को अपूर्ण और कम सामग्री के आधार पर निश्चित किया।

गणित की रीति।

अनुमान-पद्धति के प्रयोग का एक प्रकार गणित पद्धति भी है। जेवेन्स का कहना है—'अर्थशास्त्र की रूपरेखा और प्रकृति मूलत गणित के समान है।' यहाँ वह गणित का अर्थ उन समस्याओ से लगाता है जो परिमाणवाचक सिद्धान्तो (quantitative relations) का अध्ययन करती है। अर्थशास्त्र कुछ ऐसे तथ्यो (phenomena) का अध्ययन करता है, जिनके परिमाणवाचक स्वरूप का मौलिक महत्व है। इन तथ्यो के अध्ययन मे इस पद्धति का उपयोग लाभपूर्वक किया जा सकता है। इस पद्धति का सबसे बडा लाभ यह है कि यह अर्थशास्त्र के शुद्ध भाववाचक तर्क-वितर्क मे भी ऊँचे दर्जे की निश्चयता (precision) ला देता है। त्रुटियो के मौके कम हो जाते है। इस पद्धति मे सबसे बडी त्रुटि यह है कि जो इस रीति का उपयोग करते है, वे अपने अध्ययन का असली ध्येय भूलकर बौद्धिक खिलौने बनाने मे ही लगे रहे। केवल बुद्धि और गणित का व्यायाम करने मे ही लगे रह जावे।

अनुभव या ऐतिहासिक पद्धति।

अनुमान-पद्धति के प्रधान आलोचक वे लेखक हुए है, जिन्होने अनुभव या ऐतिहासिक पद्धति का अनुसरण किया है। ये लेखक मुख्यत जर्मनी मे हुए है। इन लोगो ने अनुभव-पद्धति का उपयोग करके आर्थिक इतिहास से आर्थिक विज्ञान को तैयार किया है। वे इतिहास तथा सामयिक घटनाओ से अपने अध्ययन की सामग्री इकट्ठी करते है और इसके अध्ययन के परिणामस्वरूप विविध सिद्धान्तो का निरूपण करते है। इधर गत कुछ वर्षो मे अकशास्त्र (statistics) ने जो प्रगति की है तथा सरकार और कुछ व्यक्तियो ने विविध आँकडे इकट्ठे करने की जो प्रथा प्रचलित की है, उससे इस रीति का मूल्य अधिक बढ गया है। इस प्रकार जो आँकडे इकट्ठे किये गये उनसे वैज्ञानिक सिद्धान्तो का निरूपण करने में बडी सहायता मिली है। इससे अर्थशास्त्र का विज्ञान अधिक पूर्ण और निश्चित हो गया है। परन्तु उन लोगो ने अनुमान-पद्धति की जो आलोचना की है, वह प्राय गलत [illegible] थी। यह बात सच है कि हमे सबसे पहिले कुछ आँकडो या अध्ययन-सामग्री की आवश्यकता होती है। बिना सामग्री के अथवा अपूर्ण सामग्री के आधार पर किसी [illegible] अध्ययन नही हो सकता। तर्क-वितर्क द्वारा हम जो सिद्धान्त बनावें उनका [illegible] और घटनाओ द्वारा भी होना चाहिये। परन्तु इस बात को स्वीकार [illegible] नही होता कि अनुमान-पद्धति बिलकुल व्यर्थ है। 'आँकडे स्वयं कुछ [illegible]। केवल [illegible], [illegible], तुलना, [illegible] और [illegible] द्वारा

हम इनका अर्थ लगा सकते है।"[1] विना तर्क और कल्पना की सहायता के किसी विज्ञान की प्रगति नही हो सकती। यदि अनुमान-पद्धति की सहायता न ली जावे तो अनुभव या ऐतिहासिक पद्धति के प्रयोग मे यह खतरा है कि वह केवल वर्णनात्मक रह जावेगी। हमारे पास ऑकडो का एक वडा समूह जमा हो जावेगा, जिनमे आपस मे कोई सम्बन्ध नही होगा और जिनका हमारे लिये कोई उपयोग नही होगा। अनुभव-पद्धति के अर्थशास्त्रियो ने वास्तव मे विषय का नवनिर्माण नही किया है। उन्होने केवल एक नये दृष्टिकोण से एक नये प्रभाव का परिचय दिया है।

दोनो रीतियो का उपयोग आवश्यक है।

आधुनिक लेखको का मत है कि ये दोनो पद्धतियाँ सहयोगी है, प्रतियोगी नही। इस विज्ञान का ध्येय आर्थिक एकताओ को खोजना है। जिस रीति मे भी यह ध्येय सध सके उसी का प्रयोग करना सही है। 'जिस प्रकार चलने के लिये दाहिने और वाये दोनो पैरो की आवश्यकता होती है उसी प्रकार अर्थ-विज्ञान के अध्ययन के लिये अनुमान और अनुभव दोनो पद्धतियो की आवश्यकता है।' अर्थशास्त्री दोनो पद्धतियो से लाभ उठा सकते है, परन्तु उन्हे दोनो का उपयोग विभिन्न कामो के लिये विभिन्न मात्राओ मे करना चाहिये।

अर्थ-विज्ञान का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध (The relation of Economics with other Sciences)—आजकल विभिन्न समाजशास्त्रो मे वढती हुई एकता देखी जा रही है। समाजशास्त्रो मे परस्पर सम्पर्क साफ जाहिर होता जाता है, अर्थशास्त्र का सम्बन्ध समाजविज्ञान, इतिहास तथा गणितशास्त्र के साथ स्वीकार किया जा चुका है। आधुनिक अध्ययन की प्रवृत्ति विशेषता (specialisation) और भेदकरण (differentiation) की ओर है। परन्तु इस प्रवृत्ति के होते हुए भी यह सभावना मानी जाती है कि किसी एक दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत इन सब विज्ञानो का सम्मिश्रण हो सके और कुछ लेखको ने इस सम्बन्ध मे प्रयत्न भी किया है।

सब समाजविज्ञान परस्पर सम्बन्धी है।

अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र (Economics and Sociology)—समाजशास्त्र समाज सम्बन्धी एक व्यापक विज्ञान है। वह सामाजिक जीवन के सब मौलिक अगो का अध्ययन करता है। जैसे कि आर्थिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक इत्यादि। समाजशास्त्र सामाजिक सगठन के प्रारम्भिक सिद्धान्तो का अध्ययन करनेवाला विज्ञान है। कॉम्टे (Comte) का मत है कि अर्थशास्त्र समाज-शास्त्र मे सम्मिलित है। उसे पृथक विज्ञान नही कहा जा

समाजशास्त्र समाज के सब अगो या पहलुओ का अध्ययन करता है; अर्थशास्त्र केवल एक

[1] "Facts do not speak for themselvees It is only by analysis, comparison, hypothesis and prophecy that they can be made to speak at all"—*Dalton*, 'Methods of Research' in the Economic Journal, June 1933, p. 181

अंग का।

सकता। कॉम्टे के कथन के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र और अर्थशास्त्र के क्षेत्र बिलकुल अलग है। समाजशास्त्र समाज सम्बन्धी एक व्यापक विज्ञान है? जितने समाजविज्ञान है, उन सबके सिद्धान्तो का वह अध्ययन करता है और उनका उपयोग अन्य सिद्धान्तो के निरूपण करने मे करता है। समाजशास्त्र विभिन्न समाजविज्ञानो का केवल एक जोड या समूह नही है। उन विज्ञानो के सिद्धान्तो पर आधारित एक दर्शन है। समाजशास्त्र मौलिक विज्ञान है। अन्य समाजविज्ञान उसके भेदकरण है। इसलिये अर्थशास्त्र की परिमिति समाजशास्त्र की परिमित से बिलकुल भिन्न है। वह समाजशास्त्र के समान व्यापक नही है, बल्कि समाजशास्त्र का एक अग है। यद्यपि वह समाजशास्त्र की एक शाखा है, परन्तु उसके उद्देश्य और उसकी व्यापकता समाजशास्त्र के उद्देश्यो और व्यापकता से बिलकुल भिन्न है। वह मनुष्य-जीवन के एक विशिष्ट पहलू का अध्ययन करता है, पूरे मनुष्य-जीवन का नही। उसकी अध्ययन की पद्धति, उसकी परिमिति और उसके उद्देश्य विशिष्ट और विभिन्न है। इसलिये अर्थशास्त्र यद्यपि समाजशास्त्र की एक शाखा है, परन्तु वह एक अलग विज्ञान है।

अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र (Economics and Politics)—अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र दोनो समाजशास्त्र की शाखाएँ है। अर्थशास्त्र और राजनीति-शास्त्र मे बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। आरम्भ मे लेखक अर्थशास्त्र को राजनीतिशास्त्र का एक अग मानते थे। प्राचीन ग्रीस देश के विद्वान राजनीतिक अर्थशास्त्र (political economy) को राज्य के कर और आमदनी इकट्ठा करने की एक कला मानते थे और आडम स्मिथ (Adam Smith) के समान लेखक उसे राज्य की शक्ति बढाने की एक कला मानते थे। 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' शब्द ही से मालूम हो जाता है कि राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र मे कितना निकट सम्बन्ध है। आधुनिक काल मे 'राजनीतिक अर्थशास्त्र' के

राजनीतिशास्त्र राज्य का अध्ययन करता है और अर्थशास्त्र सम्पत्ति का

पर निर्भर है। कानूनो के अनुसार सब आर्थिक कार्य होते है। व्यक्तिवा और समाजवाद की समस्याएँ अर्थशास्त्र और समाजवा के घनिष्ट सम्बन्ध को बतलाती है। ये समस्याएँ अलग नही की जा सकती। दोनो शास्त्र इनका विवेचन करते है। दूसरी बात यह है कि किसी देश का राजनीतिक सगठन उ देश के आर्थिक सगठन का दिग्दर्शक है। अरिस्टॉटल (Aristotle) राज्यतन्त्र का जो वर्गीकरण स्वेच्छाचारी शासन या तानाशाही (tyranny) सामन्तशा (oligarchy) और प्रजातन्त्र या जनतन्त्र (democracy) मे किया था वह सम्पत्ति के आधार पर किया था। राजनीतिक आन्दोलनो के पीछे बडे-बडे आर्थि प्रश्न रहते है। राज्य समाजवाद (state socialism), मजदूर सघवा (syndicalism), समाजवाद विरोधी राष्ट्रीयतावाद (fascism) औ साम्यवाद या मजदूरशाही (bolshevism) इत्यादि आन्दोलनो के आर्थि और राजनीतिक दोनो स्वरूप होते है।

इन बातो से मालूम होता है कि इन दोनो विज्ञानो मे कितना घनिष्ट सम्बन्ध है, यद्यपि इन दोनो के अध्ययन के क्षेत्र अलग-अलग और विशिष्ट है। अर्थशास्त्र और

अर्थशास्त्र आचार नीतिशास्त्र का सहयोगी है।

आचार नीतिशास्त्र (economics and ethics) इन दोनो विषयो मे भी घनिष्ट सम्बन्ध है। आचार नीतिशास्त्र एक आदर्श रखता है और ऐसी आशा की जाती है कि आर्थिक सस्थाओ को इस आदर्श को प्राप्त करना चाहिये। अर्थशास्त्र आचार नीतिशास्त्र का सहयोगी है और उसका ध्येय मनुष्य की सर्वतोमुखी उन्नति करना है। इस प्रकार आचार नीतिशास्त्र हमारे सामने एक आदर्श रख देता है, जिसके अनुसार हमे अपने सब कार्य करने चाहिये।

अर्थशास्त्र की सामग्री पर आचार नीतिशास्त्र बनता है।

फिर भी आचार नीतिशास्त्र का ऋणी है। अर्थशास्त्र के नियम और गवेषणाएँ आचारशास्त्र के अध्ययन की सामग्री होते है और उनसे आचारशास्त्र अपने सिद्धान्तो का निरूपण करता है। उदाहरण के लिये अपने अध्ययन के अनुभव से अर्थशास्त्र यह कहता है कि कुछ परिस्थितियों में बिना सोचे-विचारे गरीबो को सहायता देना आलस्य बढाता है और आत्मनिर्भरता का घातक है। आचारशास्त्र इसके आधार पर अपने सिद्धान्त बनाता है और गरीबो को बिना सोचे-विचारे मनचाही भिक्षा देना उचित नही ठहराता। वह बतलाता है कि किन परिस्थितियो मे दान देना चाहिये। इस प्रकार अर्थशास्त्र और आचार नीतिशास्त्र मे निकट सम्बन्ध है। सेलिगमेन (Seligman) ने उचित ही कहा है कि 'आचार नीतिशास्त्र के समान अर्थशास्त्र भी प्रधानत एक समाजविज्ञान है। सच्चा आर्थिक कार्य अन्त मे नैतिक कार्य होता है।'[1]

---

1 "Economics, like Ethics, is primarily a social science, the true economic action must, in the long run, be an ethical action" *Seligman*, Principles of Economics, p 35.

अध्याय २

कुछ मौलिक विचार

(Some Fundamental Pleas)

वस्तुएँ (Goods)—भौतिक या अभौतिक कोई भी वस्तु जो मनुष्य की आवश्यकताओ को पूरी करती है, वस्तुओ मे गिनी जाती है। वस्तुओ के दो प्रकार माने गये है। एक तो स्वतन्त्र या प्रचुर वस्तुएँ (free goods) और दूसरी आर्थिक वस्तुएँ (economic goods)। स्वतन्त्र वस्तुएँ वे होती है, जिनकी पूर्ति सीमित नही है। इन वस्तुओ की जितनी माँग हो सकती है, उससे कही अधिक प्रचुर मात्रा मे वे प्राप्त रहती है, उसकी पूर्ति आवश्यकता से अधिक रहती है। धूप, हवा, समुद्र का पानी और मरुस्थल की रेत स्वतन्त्र या प्रचुर वस्तुओ के उदाहरण है। स्वतन्त्र वस्तुएँ प्राय प्रकृति की देन होती है। जिन वस्तुओ की पूर्ति माँग की अपेक्षा कम होती है, उन्हें आर्थिक वस्तुएँ कहते है। **कमी का अर्थ केवल मात्रा का सीमित होना नहीं है। माँग की अपेक्षा पूर्ति की कमी होनी चाहिए।** किसी वस्तु की जितनी माँग हो और वह वस्तु उस कुल माँग को पूरी न कर सके, तब उसे आर्थिक दृष्टि से कम मानते है। इस प्रकार स्वतन्त्र वस्तुओ और आर्थिक वस्तुओ मे निश्चित और साफ अन्तर नही है। आजकल के बडे-बडे शहरो मे प्रत्येक घर मे पानी एक आर्थिक वस्तु है। परन्तु किसी नदी के किनारे रहनेवाले के लिये वह एक स्वतन्त्र वस्तु है। इस प्रकार आधुनिक सभ्यता के जटिल जीवन मे अधिकाधिक स्वतन्त्र वस्तुएँ आर्थिक वस्तुएँ होती जा रही है। इस प्रकार कमी की जो विशेषता है, वह कोई निश्चित विशेषता नहीं है। यह विशेषता मनुष्य की आवश्यकताओ के अनुसार बदलती रहती है।

आर्थिक वस्तुएँ।

एक अन्य दृष्टिकोण के अनुसार आर्थिक वस्तुएँ उन्हे कहते है, जो विनिमयसाध्य (transferable) हो और जिन पर बाह्य अधिकार (external possession) किया जा सके, विनिमयसाध्य का अर्थ यह नही है कि उन्हे एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाया जा सके। हस्तान्तरकरण का अर्थ स्थानान्तरकरण नही है। यदि किसी वस्तु पर अधिकार प्राप्त हो सकता है, तो वह काफी है, क्योकि कोई भी मनुष्य ऐसी वस्तु नही मांगेगा जिसका वह मालिक नही हो सकता। यद्यपि जमीन को एक स्थान से दूसरे स्थान मे नही ले जा सकते, परन्तु उस पर अधिकार कर सकते है और वह अधिकार एक मनुष्य से दूसरे को दिया जा सकता है। इस प्रकार जमीन विनिमयसाध्य है और वह हस्तान्तरित हो सकती है। एक बात यह भी है कि हस्तान्तरित होने के लिये किसी वस्तु

को बाह्य होना चाहिये। क्योकि किसी मनुष्य की आन्तरिक (internal) वस्तुओ या गुणो का अधिकार हस्तान्तरित नही किया जा सकता, इसलिये उसके लिये कोई कुछ नही देगा। रवीन्द्रनाथ टैगोर की कवित्वशक्ति अथवा किसी ऊँचे दर्जे के डाक्टर की विद्या अन्य किसी मनुष्य को हस्तान्तरित नही की जा सकती। इसलिये आर्थिक माने मे ये सम्पत्ति नही है। परन्तु जिन दो दृष्टिकोणो से हमने आर्थिक वस्तुओ की व्याख्या की है, उनमे कोई सघर्ष नही है। जो चीज हस्तान्तरित करने लायक या विनिमयसाध्य हो, उसे माँग की अपेक्षा कम भी होना चाहिये, क्योकि यह सोचना गलत है कि कोई आदमी स्वतन्त्र या प्रचुर वस्तुओ के लिये भी कुछ देने को तैयार होगा।

सम्पत्ति (Wealth)—सम्पत्ति और आर्थिक वस्तुओ का एक ही अर्थ है। सम्पत्ति की गणना मे आने के लिये किसी वस्तु मे चार गुण होने आवश्यक है-

(१) उपयोगिता
(२) कमी या न्यूनता
(३) हस्तान्तरकरण या विनिमय साध्य होना

(१) उसमे उपयोगिता होनी चाहिये अर्थात् उसमे मनुष्य की आवश्यकता पूरी करने का गुण होना चाहिये। (२) माँग की अपेक्षा उसकी पूर्ति कम होनी चाहिये। (३) उसमे विनिमयसाध्य या हस्तान्तरकरण का गुण होना चाहिये। (४) उसे मनुष्य के लिये बाह्य होना चाहिये। इस प्रकार सम्पत्ति शब्द मे केवल वे भौतिक वस्तुएँ सम्मिलित नही है, जो बाह्य है और हस्तान्तरित हो सकती है, जैसे कि जमीन, मकान, सामान इत्यादि। वरन् वे अभौतिक वस्तुएँ भी शामिल है जो बाह्य है और हस्तान्तरित हो सकती है। जैसे कि किसी व्यावसायिक फर्म का नाम (goodwill) किसी पुस्तक का कापीराइट, पेटेन्ट अधिकार इत्यादि। परन्तु सम्पत्ति मे वे भौतिक वस्तुएँ शामिल नही है, जो हस्तान्तरित नही हो सकती जैसे कि शुद्ध वायु और वे अभौतिक वस्तुएँ भी शामिल नही है, जो मनुष्य के लिये बाह्य नही है। जैसे कि किसी इजीनियर की व्यक्तिगत कुशलता।

सामूहिक सम्पत्ति (Collective Wealth)—सामूहिक सम्पत्ति मे वे विनिमयसाध्य और बाह्य भौतिक और अभौतिक वस्तुएँ शामिल है। जो सार्वजनिक सम्पत्ति है और जिनका उपभोग समाज के सब लोग करते है। सडके, सरकारी दफ्तर, सार्वजनिक भवन, चित्रशालाएँ इत्यादि सामूहिक सम्पत्ति मे शामिल है।

राष्ट्रीय सम्पत्ति (National Wealth)—राष्ट्रीय सम्पत्ति मे व्यक्तिगत और सामूहिक दोनो सम्पत्तियाँ शामिल है। राष्ट्रीय सम्पत्ति का लेखा करने के लिये समाज के सब व्यक्तियो की सब सम्पत्ति और सब सार्वजनिक सम्पत्ति, भौतिक और अभौतिक दोनो प्रकार की जोडते है। यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि कुछ उलटी या प्रतिकूल सम्पत्ति (Negative Wealth) भी होती है। सरकारी ऋण व्यक्तियो के लिये तो सम्पत्ति होती है, क्योकि सरकारी सिक्योरिटी मे रुपया लगाने से

ब्याज मिलता है। परन्तु यह एक प्रकार का राष्ट्रीय ऋण है। इसी प्रकार कई सार्वजनिक कार्यो के लिये भी सार्वजनिक ऋण लिया जाता है। परन्तु देश के लोगो का जो ऋण विदेश के लोगो पर रहता है, उसे राष्ट्रीय सम्पत्ति मे जोडा जाता है।

मूल्य (Value)

उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य और विनिमय सम्बन्धी मूल्य (Value-in-use and Value-in exchange)—मूल्य का अर्थ दो मे से एक कोई हो सकता है। उसका अर्थ केवल उपयोगिता हो सकता है। अथवा मूल्य का अर्थ विनिमय शक्ति से हो सकता है कि अन्य वस्तुओ पर उसमे खरीदने की शक्ति कितनी है। पहिले अर्थ को उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य कहते है और दूसरे अर्थ को विनिमय सम्बन्धी मूल्य।

उपयोगिता सम्बन्धीमूल्य (Value-in-use)

विनिमय सम्बन्धी मूल्य होने के लिये किसी वस्तु मे उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य भी होना चाहिये और साथ ही मॉग की अपेक्षा उसकी पूर्ति मे कमी भी होनी चाहिये। अर्थशास्त्र मे उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य से प्रयोजन नही रहता। केवल विनिमय सम्बन्धी मूल्य से मतलब रहता है।

विनिमय सम्बन्धी मूल्य

कुछ वस्तुओ मे उपयोगिता बहुत रहती है, परन्तु उनकी विनिमय शक्ति उतनी ऊँची नही रहती। उदाहरण के लिये पानी मनुष्यो के लिये बडा उपयोगी वस्तु है। सच पूछा जाय तो पानी सोने से कही अधिक उपयोगी है, परन्तु फिर भी पानी की अपेक्षा सोने की विनिमय शक्ति कही अधिक है। अर्थात् पानी मे उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य सोने से अधिक है, परन्तु विनिमय सम्बन्धी मूल्य सोने से कही कम है। कारण स्पष्ट है। पानी की पूर्ति उतनी सीमित नही है, जितनी सोने की पूर्ति है। जैसा कह चुके है, विनिमय सम्बन्धी मूल्य होने के लिये किसी वस्तु मे केवल उपयोगिता होनी ही काफी नही है। उसकी पूर्ति भी सीमित होनी चाहिये। अन्य सब वस्तुओ के यथास्थिति होते हुए (other things being equal) पूर्ति जितनी अधिक सीमित होगी, मूल्य भी उतना ही अधिक होगा।

मूल्य और कीमत (Value and Price)—जैसा बतला चुके है, मूल्य का अर्थ विनिमय शक्ति है। इस प्रकार मूल्य दो वस्तुओ के बीच मे एक अनुपात है। एक [illegible] का मूल्य अन्य वस्तुओ की वह मात्रा है, जो उसके बदले मे प्राप्त की जा [illegible]। [illegible] का मूल्य गेहूँ, जूट [illegible] अथवा अन्य किसी वस्तु [illegible] जा सकता है, जो [illegible] बदली जा सकती है। [illegible]

द्रव्य या रुपये-पैसे के हिसाब से बतलाया जाता है, तब उसे कीमत या दाम कहते हैं। जब एक मन चावल का विनिमय द्रव्य के साथ किया जाता है, तब उसका जो अनुपात द्रव्य की मात्राओ के साथ होगा, उसे कीमत (Price) कहते हैं।

वास्तविक जीवन मे सब विनिमय द्रव्य मे किया जाता है। इसलिये किसी वस्तु का मूल्य (value) हम अन्य वस्तुओ के रूप मे जानने के बदले उसकी कीमत (price) द्रव्य के हिसाब से जानते हैं।

क्या मूल्य और कीमत आमतौर से घट-बढ़ सकते है?

इस सम्बन्ध मे एक अन्य बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है। सब वस्तुओ के दाम आमतौर से गिर या बढ सकते है, परन्तु सब वस्तुओ के मूल्य मे ऐसी बात नही हो सकती। क्योकि सब चीजो की कीमत दो बातो पर निर्भर रहती है। एक तो उन सब वस्तुओ की कुछ मात्रा जिनका विनिमय द्रव्य से होता है और दूसरी द्रव्य की कुल मात्रा जो चलन मे है। चलन मे जो द्रव्य है, यदि उसकी मात्रा बढती है, तो वस्तुओ के दाम आमतौर मे बढ जावेगे। इसके विरुद्ध यदि चलन मे जो द्रव्य है, उसकी मात्रा घटती है, तो अन्य वस्तुओ के यथास्थिति रहते हुए वस्तुओ के दाम घट जावेगे। अर्थात् सब वस्तुओ के दाम गिर जावेगे, यद्यपि सब वस्तुओ के दाम एक से नही गिरेगे। वस्तुओ के दामो का आमतौर से बढना या घटना एक ऐसी क्रिया है, जो बराबर होती रहती है। महायुद्ध का अन्त होते ही वस्तुओ के दामो का स्तर बहुत ऊँचा हो गया। **परन्तु सब वस्तुओं के मूल्य (value) मे आमतौर से घटा-बढी नहीं हो सकती।** क्योकि मूल्य तो एक अनुपात है। एक उदाहरण ले लिया जावे। यदि चावल का मूल्य बढता है, तो उसका अर्थ यह है कि चावल के बदले मे अधिक वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती है। अर्थात् चावल के हिसाब मे अन्य वस्तुओ का मूल्य गिर गया है। यदि गेहूँ के हिसाब मे चावल का मूल्य अधिक बढ जाता है, तो इसका अर्थ यह है कि चावल के बदले मे अधिक गेहूँ प्राप्त हो

वस्तुओं का वर्गीकरण—

- वस्तुएँ
  - वाह्य
    - भौतिक
      - हस्तान्तरित होनेवाली, जैसे—मकान, रोटी।
      - हस्तान्तरित न होनेवाली, जैसे—हवा, जलवायु।
    - व्यक्तिगत
      - हस्तातरित होनेवाली, जैसे—किसी व्यवसाय फर्म का नाम
      - हस्तातरित न होनेवाली, जैसे—व्यावसायिक सम्बन्ध
  - आन्तरिक—व्यक्तिगत—हस्तातरित न होनेवाली, जैसे—किसी डाक्टर की कुशलता।

सम्पत्ति में वाह्य—भौतिक—हस्तातरित होनेवाली और वाह्य—व्यक्तिगत और हस्तातरित होनेवाली वस्तुएँ शामिल होती है।

सकता है। इसका अर्थ यह भी है कि गेहूँ का मूल्य गिर गया है। जब दामो का स्तर (price-level) बढता है, तब यद्यपि द्रव्य के हिसाब मे अन्य वस्तुओ का मूल्य बढ जाता है। तथापि अन्य वस्तुओ के हिसाब से द्रव्य का मूल्य घट जाता है। इसलिये सब वस्तुओ के मूल्य मे आमतौर से घटी या बढी नही हो सकती।

प्रतियोगिता और आर्थिक स्वतन्त्रता (Competition and Economic Freedom)—अब कुछ कल्पनाओ या विचारो का समझना आवश्यक है जिनके आधार पर अर्थशास्त्री अपने अनुमान निश्चित करते है। सबसे महत्वपूर्ण कल्पना या विचार जिसके आधार पर प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने अपनी गवेषणा की, यह था कि बाजार मे प्रतियोगिता होती है। सब सभ्य आर्थिक प्रणालियो की यह एक आम विशेषता मानी जाती थी कि उनमे प्रतियोगिता करने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु प्रतियोगिता क्या वर्तमान युग की विशेषता है? इस प्रश्न के उत्तर मे मार्शल ने लिखा है कि यद्यपि कई लेखको ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीनकाल की अपेक्षा आधुनिक काल के व्यवसाय मे अधिक प्रतियोगिता है, परन्तु प्रतियोगिता शब्द से आधुनिक काल की विशेषताएँ अच्छी तरह से नही समझी जा सकती। "प्रतियोगिता का बिलकुल ठीक अर्थ यह मालूम पडता है कि कोई वस्तु खरीदने या बेचने के लिहाज से एक आदमी दूसरे से होड या दौड करे।" परन्तु इसमे आधुनिक काल की सब विशेषताएँ समझ मे नही आती। आधुनिक काल की विशेषताएँ इस प्रकार है—"एक प्रकार की स्वतन्त्रता अपने लिये अपना रास्ता स्वय चुनने की आदत, एक प्रकार की आत्मनिर्भरता, सोच-विचार कर अपना मन जल्दी निश्चित कर लेने की शक्ति, भविष्य देख लेने की आदत और भविष्य के ध्येय को ध्यान मे रख कर काम करना। ये काम मनुष्यो मे आपस मे प्रतियोगिता करा सकते है और प्राय कराते है। परन्तु दूसरी तरफ ये काम आपस मे अच्छा और बुरा सब प्रकार का सगठन और सहयोग भी कराते है और उनकी प्रवृत्ति इस समय इसी ओर है।"[1]

प्रतियोगिता का वास्तविक अर्थ

इसके सिवा "प्रतियोगिता शब्द के साथ बुरा अर्थ जुड गया है। उसके साथ स्वार्थ की भावना का अर्थ जुड गया है, जो दूसरो के सुख की तरफ उदासीन हो जाना है। यह बात सच है कि प्राचीन उद्योग-धन्धो मे जितनी जान-बूझ कर स्वार्थ की मात्रा होती थी आधुनिक धन्धो में उससे अधिक है। परन्तु यह भी सच है कि जान-बूझकर नि स्वार्थ की मात्रा भी होती है। यह जानने-बूझने का जो गुण है, वही आधुनिक युग की विशेषता है, स्वार्थपरता नही।"[2] इस गुण या विशेषता को हम अच्छी तरह प्रकट करने के लिये 'साहस की स्वतन्त्रता' (freedom of enterprise) या 'आर्थिक स्वतन्त्रता' (economic freedom) कह सकते है।

---

[1] Marshall Principles of Economics, p 5

[2] [illegible]

द्रव्य या रुपये-पैसे के हिसाब से बतलाया जाता है, तब उसे कीमत या दाम कहते हैं। जब एक मन चावल का विनिमय द्रव्य के साथ किया जाता है, तब उसका जो अनुपात द्रव्य की मात्राओ के साथ होगा, उसे कीमत (Price) कहते हैं।

वास्तविक जीवन मे सब विनिमय द्रव्य मे किया जाता है। इसलिये किसी वस्तु का मूल्य (value) हम अन्य वस्तुओ के रूप मे जानने के बदले उसकी कीमत (price) द्रव्य के हिसाब से जानते हैं।

क्या मूल्य और कीमत आमतौर से घट-बढ़ सकते है ?

इस सम्बन्ध मे एक अन्य बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है। सब वस्तुओ के दाम आमतौर से गिर या बढ सकते है, परन्तु सब वस्तुओ के मूल्य मे ऐसी बात नही हो सकती। क्योकि सब चीजो की कीमत दो बातो पर निर्भर रहती है। एक तो उन सब वस्तुओ की कुछ मात्रा जिनका विनिमय द्रव्य से होता है और दूसरी द्रव्य की कुल मात्रा जो चलन में है। चलन मे जो द्रव्य है, यदि उसकी मात्रा बढती है, तो वस्तुओ के दाम आमतौर मे बढ जावेगे। इसके विरुद्ध यदि चलन मे जो द्रव्य है, उसकी मात्रा घटती है, तो अन्य वस्तुओ के यथास्थिति रहते हुए वस्तुओ के दाम घट जावेगे। अर्थात् सब वस्तुओ के दाम गिर जावेंगे, यद्यपि सब वस्तुओ के दाम एक से नही गिरेगे। वस्तुओ के दामो का आमतौर से बढना या घटना एक ऐसी क्रिया है, जो बराबर होती रहती है। महायुद्ध का अन्त होते ही वस्तुओ के दामो का स्तर बहुत ऊँचा हो गया। **परन्तु सब वस्तुओं के मूल्य (value) मे आमतौर से घटा-बढ़ी नहीं हो सकती।** क्योकि मूल्य तो एक अनुपात है। एक उदाहरण ले लिया जावे। यदि चावल का मूल्य बढता है, तो उसका अर्थ यह है कि चावल के बदले मे अधिक वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती है। अर्थात् चावल के हिसाब मे अन्य वस्तुओ का मूल्य गिर गया है। यदि गेहूँ के हिसाब मे चावल का मूल्य अधिक बढ जाता है, तो इसका अर्थ यह है कि चावल के बदले मे अधिक गेहूँ प्राप्त हो

वस्तुओं का वर्गीकरण—

- वस्तुएँ
  - वाह्य
    - भौतिक
      - हस्तान्तरित होनेवाली, जैसे—मकान, रोटी।
      - हस्तान्तरित न होनेवाली, जैसे—हवा, जलवायु।
    - व्यक्तिगत
      - हस्तातरित होनेवाली, जैसे—किसी व्यवसाय फर्म का नाम
      - हस्तातरित न होनेवाली, जैसे–व्यावसायिक सम्बन्ध
  - आन्तरिक–व्यक्तिगत–हस्तातरित न होनेवाली, जैसे—किसी डाक्टर की कुशलता।

सम्पत्ति में वाह्य—भौतिक—हस्तातरित होनेवाली और वाह्य—व्यक्तिगत और हस्तातरित होनेवाली वस्तुएँ शामिल होती है।

सकता है। इसका अर्थ यह भी है कि गेहूँ का मूल्य गिर गया है। जब दामो का स्तर (price-level) बढता है, तब यद्यपि द्रव्य के हिसाब मे अन्य वस्तुओ का मूल्य बढ जाता है। तथापि अन्य वस्तुओ के हिसाब से द्रव्य का मूल्य घट जाता है। इसलिये सब वस्तुओ के मूल्य मे आमतौर से घटी या बढी नही हो सकती।

प्रतियोगिता और आर्थिक स्वतन्त्रता (Competition and Economic Freedom)—अब कुछ कल्पनाओ या विचारो का समझना आवश्यक है जिनके आधार पर अर्थशास्त्री अपने अनुमान निश्चित करते है। सबसे महत्वपूर्ण कल्पना या विचार जिसके आधार पर प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने अपनी गवेषणा की, यह था कि बाजार मे प्रतियोगिता होती है। सब सभ्य आर्थिक प्रणालियो की यह एक खास विशेषता मानी जाती थी कि उनमे प्रतियोगिता करने की प्रवृत्ति होती है। परन्तु प्रतियोगिता क्या वर्तमान युग की विशेषता है? इस प्रश्न के उत्तर मे मार्शल ने लिखा है कि यद्यपि कई लेखको ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि प्राचीनकाल की अपेक्षा आधुनिक काल के व्यवसाय मे अधिक प्रतियोगिता है, परन्तु प्रतियोगिता शब्द से आधुनिक काल की विशेषताएँ अच्छी तरह से नही समझी जा सकती। "प्रतियोगिता का बिलकुल ठीक अर्थ यह मालूम पडता है कि कोई वस्तु खरीदने या बेचने के लिहाज से एक आदमी दूसरे से होड या दौड करे।" परन्तु इससे आधुनिक काल की सब विशेषताएँ समझ मे नही आती। आधुनिक काल की विशेषताएँ इस प्रकार है— "एक प्रकार की स्वतन्त्रता अपने लिये अपना रास्ता स्वय चुनने की आदत, एक प्रकार की आत्मनिर्भरता, सोच-विचार कर अपना मत जल्दी निश्चित कर लेने की शक्ति, भविष्य देख लेने की आदत और भविष्य के ध्येय को ध्यान मे रख कर काम करना। ये काम मनुष्यो मे आपस मे प्रतियोगिता करा सकते है और प्राय कराते है। परन्तु दूसरी तरफ ये काम आपस मे अच्छा और बुरा सब प्रकार का सगठन और सहयोग भी कराते है और इनकी प्रवृत्ति इस समय इसी ओर है।"[1]

इसके सिवा "प्रतियोगिता शब्द के साथ बुरा अर्थ जुड गया है। उसके साथ स्वार्थ की भावना का अर्थ जुड गया है, जो दूसरो के सुख की तरफ उदासीन हो जाता है। यह बात सच है कि प्राचीन उद्योग-धन्धो मे जितनी जान-बूझ कर स्वार्थ की मात्रा होती थी, आधुनिक धन्धो मे उससे अधिक है। परन्तु यह भी सच है कि जान-बूझकर नि स्वार्थ की मात्रा भी होती है। यह जानने-बूझने का जो गुण है, वही आधुनिक युग की विशेषता है, स्वार्थपरता नही।"[2] इस गुण या विशेषता को हम सबसे अच्छी तरह प्रकट करने के लिये 'साहस की स्वतन्त्रता' (freedom of enterprise) या 'आर्थिक स्वतन्त्रता' (economic freedom) कह सकते है।

प्रतियोगिता का वास्तविक अर्थ

[1] Marshall, Principles of Economics, p 5.
[2] Ibid

साहस और उद्योग की स्वतन्त्रता अथवा आर्थिक स्वतन्त्रता मे निम्नलिखित बा सम्मिलित है। (अ) **गमनागमन की स्वतन्त्रता** (Freedom of movement) इसका सम्बन्ध पूंजी और मजदूरो के चलन या गमनागम से है। पूंजी और मजदूरी मे उद्योगो के उन केन्द्रो की ओ जाने की प्रवृत्ति होती है, जहाँ उन्हे सबसे अधिक लाभ होत है। (ब) **उद्योग-धन्धा चुनने की स्वतन्त्रता** (Freedom of occupation) इसका अर्थ यह है कि मजदूरो को जो धन्धा सबसे अधिक उचित और लाभदाय समझ पडे, उसे चुनने की स्वतन्त्रता रहे। धन्धा चुनने की स्वतन्त्रता मे सही काम क लिये सही आदमी मिलने की सम्भावना हो जाती है, जिससे उत्पादन भी बढता है और वितरण भी अच्छा होता है। (स) **उपभोग की स्वतन्त्रता** (Freedom of consumption). बहुत से देशो मे ऐसे कानून थे, जो बडी बारीकी के साथ इस प्रकार के नियम बना देते थे कि कौन वर्ग अथवा मनुष्य क्या खायेगा, क्या पहिनेगा इत्यादि। यद्यपि इन नियमो का ध्येय अच्छा होता था, परन्तु उनका फल प्राय बुरा होता था। आवश्यकताओ का प्रसार रोक देने से वे उन्नति के बाधक होते थे। आर्थिक स्वतन्त्रता मे इस प्रकार के नियमो के लिये स्थान नही है। (द) **उत्पादन और व्यवसाय की स्वतन्त्रता** (Freedom of production and trade) मध्यकाल मे उत्पादन और व्यवसाय स्वतन्त्र नही थे। आधुनिक काल मे उत्पादन स्वतन्त्र हो गया है और राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय मध्यकालीन बन्धनो से मुक्त हो गया है। मध्यकाल मे Guilds थे, जिनके पास उत्पादन के एकाधिकार थे। उत्पादन की स्वतन्त्रता होने से उसके सगठन और साधनो मे लोच आ जाती है। मौका मिलते ही नयी आवश्यकताओ के अनुसार नये धन्धे खडे हो जाते है और बदलती हुई माँग के अनुसार पुराने धन्धे भी अपने तरीके बदल देते है।

आर्थिक स्वतन्त्रता के दोष।

स्वतंत्र साहस की प्रथा के दोष (Defects of the System of Free Enterprise)–'स्वतन्त्र साहस' प्रथा की सफलता अधूरी ही रही। व्यक्तियों की कार्य-स्वतन्त्रता के मार्ग मे जो बाधाएँ थी, उन्हे तो उसने हटा दिया। परन्तु वह एक प्रतिकूल या उलटा सुधार (negative reform) था। परन्तु जहाँ तक क्रियात्मक राजनीति का प्रश्न था, वहाँ तक इसने कुछ नही किया। उसने सार्वजनिक खर्च पर उत्पादन की विभिन्न क्रियाओ मे खोज करने के लिये कुछ नही किया। न तो उसने सब लोगो की शिक्षा के लिये ही कोई प्रबन्ध किया। दूसरे यद्यपि इस प्रथा ने छोटे उद्योगपतियो को उद्योग-धन्धे के क्षेत्र मे नेतृत्व प्राप्त करने का मौका दिया है, उसने यह प्रबन्ध नही किया कि इस क्षेत्र मे जो नालायक लोग ऊँचे और सुरक्षित स्थानो मे बैठे है, उन्हे हटाया जा सके। 'प्रतियोगिता द्वारा नालायक उद्योगपतियो को क्षेत्र से बाहर निकालने मे समय लगता

नालायकों को निकालने के साधन प्राय नहीं प्राप्त रहते।

है, और इस बीच मे वह चाहे जितना नुकसान कर सकता है। कम से कम वह बरबादी तो बहुत कर सकता है।' तीसरे आर्थिक स्वतन्त्रता अथवा सरकारी हस्तक्षेप न करने की नीति (Laissez-faire) यह मान लेती है कि सब लोगो को अवसर की समानता (equality of opportunity) प्राप्त होगी। परन्तु समाज के वर्तमान सगठन मे सम्पत्ति का वितरण बहुत असमान है। जब तक सम्पत्ति के वितरण की यह असमानता काफी हद तक दूर नही होगी, तब तक अवसर की समानता नही प्राप्त हो सकती। अन्त मे वर्ग पक्षपात का भी प्रश्न है। एक मध्यमवर्ग का मनुष्य निम्नवर्ग की अपेक्षा मध्यवर्ग के मनुष्य को ही पसद करेगा, चाहे वह निम्न वर्ग का मनुष्य कितना ही योग्य क्यो न हो। यह वर्ग पक्षपात की भावना समाज के आर्थिक सगठन मे मनुष्यो और सम्पत्ति का उचित सम्बन्ध नही होने देती। इससे समाज की पूंजी और श्रम की व्यर्थ हानि होती है।

परन्तु मार्शल ने जब से अपने विचारो का प्रतिपादन किया, तब से अब तक परिस्थितियाँ काफी बदल गई है। हाल की घटनाओ से पता चलता है कि ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसमे अधिक तथ्य नही है। प्रतियोगिता अथवा स्वतन्त्र आर्थिक साहस का प्रभाव पूंजी के सगठन द्वारा धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। एक तो पूंजी-पतियो के सगठन और दूसरे समाज सम्बन्धी बदलते हुए विचारो के कारण आर्थिक सगठन मे शासन का हस्तक्षेप भी बढ गया है। इसका प्रयत्न किया जाता है कि उत्पादन कार्य एक विशेष ढग से हो। इस प्रकार आधुनिक युग को हम 'राष्ट्रीय आर्थिक योजनाओ' (National Economic Planning) का युग कह सकते है।

अध्याय ३

उपभोग : आवश्यकताएं और विलास

(Consumption Necessaries and Luxuries)

उपभोग का अर्थ किसी वस्तु को नष्ट करना नही है। मनुष्य न किसी वस्तु को उत्पन्न कर सकता है, न किसी वस्तु को नष्ट कर सकता है। उपभोग का अर्थ आवश्यकताओ की पूर्ति करना है, उत्पादन कार्य द्वारा भौतिक वस्तुओ मे जो उपयोगिता आ जाती है, मनुष्य उसी का उपभोग करता है। उपभोग मे उपयोगिता का लाभ उठाया जाता है, वस्तु का नही। वस्तु मे जो उपयोगिता रहती है, हम उसे काम मे लाते है। वस्तु का केवल आकार और रूप बदल जाता है। जब हम कपडे पहिनते है या मकान मे रहते है, तो हम उनका उपभोग करते है। 'जिस मकान के बनाने मे ससार के विभिन्न भागो मे अनगिनत श्रमिको का श्रम लगा हुआ है और जिसके लकडी का फर्श बनाने मे एक बढई कीलें ठोकने में लगा हुआ है। वह बढई भी उतना ही बडा उपभोक्ता है, जितना बडा उस मकान में आराम से रहनेवाला रईस है।'

उपभोग का अर्थ उपयोगिता को काम मे लाना है।

अभी कुछ समय पहिले तक अर्थशास्त्र के अध्ययन मे उपभोग के विषय पर अधिक ध्यान नही दिया जाता था। आरम्भ मे अर्थशास्त्री मनुष्य की आवश्यकताओ पर बहुत कम ध्यान देते थे। परन्तु हाल मे अर्थशास्त्रियो ने जब मनुष्य की माँग रेखा (demand curve) का अध्ययन करना शुरू किया कि आखिर वे कौन से कारण हैं, जो मनुष्य की माँगे और आवश्यकताएँ उत्पन्न करते है, तब उन्होने इस विषय की ओर अधिकाधिक ध्यान देना आरम्भ किया।

उत्पादन सम्बन्धी जितने काम होते है, उन सबका ध्येय उपभोग होता है। उत्पादन केवल कारण है, कार्य नही। कार्य अथवा ध्येय तो मनुष्यो की आवश्यकताओ की पूर्ति है। मनुष्य के जितने कार्य होते है, उनका प्रधान कारण उसकी आवश्यकताएँ है। उत्पादन सम्बन्धी जितने कार्य होते है, उन सबकी तह मे हम मनुष्य की आवश्यकताओ को कारण रूप से पाते है। मनुष्य की आवश्यकताओ का बाहरी रूप हम द्रव्य के लेन-देन मे देखते है। खरीदार अथवा उपभोक्ता कुछ वस्तुएँ पसद करते है और कुछ को छोड देते है। अपनी रुचि या पसन्दगी के द्वारा वे उत्पादन

उपभोग और उत्पादन मे सम्बन्ध

की दिशा निर्धारित करते है। जिस तरह लोग धन खर्च करना चाहेगे, उसी तरह के समान भी बनेगे। जहाँ खर्च नेतृत्व करता है, वहाँ उत्पादन अनुकरण करता है।

परन्तु जहाँ एक तरफ आवश्यकताओ के अनुसार उत्पादन कार्य होते है, वहाँ दूसरी तरफ इसका उलटा भी होता है। अर्थात् उत्पादन के अनुसार आवश्यकताएँ होती है। विशेषकर आजकल ऐसा ही होता है। समाज के प्रारम्भिक काल मे शारीरिक इच्छाओ के आधार पर मनुष्य सब काम करता था। जब तक कुछ मौलिक और प्राकृतिक आवश्यकताओ को सन्तुष्ट करने की समस्या न उठती थी, तब तक प्रारम्भिक काल का जगली मनुष्य कुछ काम नही करता था, परन्तु ज्यो-ज्यो सभ्यता की प्रगति बढती है, त्यो-त्यो आवश्यकताओ का मनुष्यो के कार्यो के ऊपर प्रभाव तो रहता है, परन्तु कई बार ऐसा देखने मे आता है कि मनुष्य के कार्य नई आवश्यकताओ को जन्म देते है। साइकिल और टेलीफोन का आविष्कार मनुष्य की निश्चित और पहिले से मालूम आवश्यकता के अनुसार नही हुआ। परन्तु आविष्कार के बाद उनका इतना प्रचार हो गया कि एक नये प्रकार की आवश्यकताएँ उत्पन्न हो गई। इस प्रकार हम देखते है कि उत्पादन के कारण उपभोग बढा। ऐसा अनेक वस्तुओ के सम्बन्ध मे हुआ है। इसलिये हम कह सकते है कि उपभोग और उत्पादन का आपस का सम्बन्ध कार्य और कारण की अपेक्षा परस्पर निर्भरता का अधिक है।

आधुनिक काल मे उत्पादन कार्य से कई नई आवश्यकताएं उत्पन्न होती है।

आवश्यकताएँ--चूँकि मनुष्य की आवश्यकताओ की पूर्ति ही उपभोग है, इसलिये यह जानना आवश्यक है कि आवश्यकताएँ क्या है। आवश्यकताएँ चार कारणो से उत्पन्न होती है। पहिले तो आवश्यकताएँ इसलिये उत्पन्न होती है कि जीवित रहने के लिये कुछ वस्तुएँ नितात आवश्यक है। जीवित रहने की इच्छा ही कुछ कम से कम वस्तुओं की अनिवार्य आवश्यकता उत्पन्न करती है। कम से कम उपयुक्त मात्रा मे खाने और कपडो की आवश्यकताएँ इसी प्रकार की है। दूसरे समाज मे अपने वर्ग के रहन-सहन या जो दर्जा है, उसे बनाये रखने की इच्छा से कुछ आवश्यकताएँ उत्पन्न होती है। इस प्रकार की भावना मे जो आवश्यकताएँ उत्पन्न होती है, उन्हे कई लोग कृत्रिम आवश्यकताए (conventional necessaries) भी कहते है। तीसरे आवश्यकताओ की उत्पत्ति अपनी उच्चता और भद्रता तथा व्यक्तित्व दिखाने की इच्छा से उत्पन्न होती है। इसी प्रकार की इच्छा के वश होकर स्त्रियाँ नये-नये तरह के कपडे और आभूषण पहिनती है। चौथे प्रकार की आवश्यकताएँ सार्वभौमिक या कलात्मक भावनाओ की प्रेरणा से उत्पन्न होती है। परन्तु यह चौथा कारण उतना महत्वपूर्ण नही है। क्योकि इस प्रकार की आवश्यकताओ पर जो खर्च होता है, वह किसी

आवश्यकताओ का उद्गम

उपभोक्ता के कुल खर्च का एक छोटा-सा भाग रहता है। इन चारो प्रकार की आवश्यकताओ का वर्गीकरण हम दूसरे प्रकार से भी कर सकते है। इनको हम दो वर्गो मे रख सकते है। एक तो वे जो नियमित रूप से बार-बार होती है और दूसरी वे जो बार-बार नही होती या अनियमित रूप से होती है। इन दोनो प्रकारो में साफ-साफ भेद नही है, परन्तु अध्ययन के लिये हम इनके दो भेद बना सकते है। पहिले समूह मे अर्थात् आवर्त्तक या बार-बार होनेवाली आवश्यकताओ (recurring wants) मे अनिवार्य आवश्यकताएँ, कृत्रिम आवश्यकताएँ और कुछ उच्चता या व्यक्तित्व प्रदर्शन सम्बन्धी आवश्यकताएँ शामिल है और दूसरे समूह मे अर्थात् अनावर्त्तक या बार-बार न होनेवाली इच्छाओ (non-recurring wants) मे व्यक्तित्व प्रदर्शन सम्बन्धी प्रतियोगिता से उत्पन्न होनेवाली तथा सार्वभौमिक और अन्य भावनाओ से उत्पन्न होनेवाली इच्छाएँ या आवश्यकताएँ शामिल है। पहिले समूह मे दो विशेषताएं है।[1] ये अधिकतर पहिले से निश्चित (pre-determined) होती है। अर्थात् ये आदत और सामाजिक प्रथाओ के कारण होती है। कोई मनुष्य समाज के जिस वर्ग में रहता है, उस वर्ग के रहन-सहन के दर्जे के अनुसार ये आवश्यकताएँ निश्चित होती है। इसलिये इस सम्बन्ध मे जो आवश्यकताएँ होती है, वे साधारणत बेलोच (inelastic) होती है। यदि इन आवश्यकताओ की वस्तुओ के दाम गिरे तो लोग उन्हे बहुत बडी मात्रा में खरीदने को तैयार न होगे। परन्तु जो वस्तुएँ अनावर्त्तक इच्छासमूह मे आती है, उनकी माँग प्राय लोचदार (elastic) हुआ करती है।

आवश्यकताओं की विशेषताएं (Characteristics of Wants)—आवश्यकताओ की चार विशेषताएँ होती है। (अ) प्रत्येक आवश्यकता विशेष की पूर्ति या तृप्ति हो सकती है। हमे कोई वस्तु जितनी अधिकाधिक मात्रा में मिलती जाती है, उसके लिये हमारी इच्छा कम होती जाती है। एक मनुष्य को कोई वस्तु जितनी अधिक मात्रा में मिलती जाती है, उन मात्राओ से मिलनेवाली तृप्ति अधिकाधिक घटती जाती है। इस समय के आधार पर घटती उपयोगिता का नियम (Law of Diminishing Utility) बनाया गया है।

(अ) प्रत्येक आवश्यकता विशेष की पूर्ति हो सकती है।

(ब) साधारणत आवश्यकताएँ अनन्त होती है। यदि हमे कोई वस्तु बहुत अधिक मात्रा में मिल जावे तो उस वस्तु के लिये अपनी आवश्यकता विशेष की तृप्ति कर

[1] *Angell*, "Consumer's demand" in the Quarterly Journal of Economics, August 1925

सकते हैं। परन्तु साधारणत मनुष्य की आवश्यकताओ की कोई सीमा नही है और न उनकी तृप्ति की ही कोई सीमा है। जब हम आवश्यकताओं के एक समूह की तृप्ति कर लेते है, तो उनकी जगह दूसरी आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती है। या उन्ही आवश्यकताओ के दूसरे प्रकार तैयार हो जाते हैं। मनुष्य की संतोष वृत्ति अस्थायी होती है।

(ब) साधारणत मनुष्य की आवश्यकताओं की तृप्ति नहीं की जा सकती।

(स) आवश्यकताओ मे परस्पर प्रतियोगिता होती रहती है। हमारी भोजन की आवश्यकता रोटी या चावल या अन्य किसी प्रकार के खाने से पूरी हो सकती है। 'अतृप्त असंतोष की दशा मे जो मनुष्य हो, उसे अच्छी पुस्तक, बढिया खाना या किसी बडे फुटबाल मैच की लालच से प्रसन्न किया जा सकता है।' एक प्रकार से सभी आवश्यकताएँ प्रतियोगी हुआ करती है। क्योकि यदि हमारे साधन भी अनन्त हो तो भी हमारे पास समय इतना कम है कि एक आवश्यकता का उपभोग करते समय हमे अन्य आवश्यकताओ का त्याग करना पड़ता है। इस विशेषता के आधार पर आवश्यकताओ के बदलने का सिद्धान्त अथवा सम-सीमान्त उत्पत्ति का नियम (Law of Equimarginal Returns) बना है।

(स) आवश्यकताएँ अधिक होने से हमे उनमें चुनाव करना पड़ता है।

(द) आवश्यकताएँ परस्पर पूरक होती है। बहुत-सी आवश्यकताओ की पूर्ति एक साथ करनी पडती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि जब हम एक आवश्यकता की पूर्ति के लिये एक वस्तु का उपयोग करते है, तब हमें उसके साथ अन्य वस्तुओ का भी उपभोग करना पडता है। जैसे, जब हमे मोटर पर चढने की इच्छा होती है, तब मोटरकार के साथ-साथ पेट्रोल की भी आवश्यकता होती है।

(द) आवश्यकताएँ परस्पर पूरक होती है।

आवश्यकताएँ, आराम और शौक (Necessaries, Comforts & Luxuries)–सम्पत्ति के इन तीन वर्गो मे अन्तर बतलाना सरल नही है। कुछ लोगो ने विशेषकर प्राचीनकाल मे नैतिक आधार पर सम्पत्ति का वर्गीकरण किया है। उन लोगो ने आवश्यकताओ मे उन वस्तुओ को शामिल किया था, जिससे 'सादा जीवन उच्च विचार' का आदर्श प्राप्त होता था। उनके विचार मे शौक या विलास की वस्तुएँ मनुष्य के जीवन को पतित करती थी। कभी-कभी सम्पत्ति का वर्गीकरण 'उत्पादक' उपभोग के आधार पर किया जाता है। उन वस्तुओ को आवश्यकताओं मे सम्मिलित किया जाता है, जो जीवन और कार्यक्षमता बनाये रखने के लिये आवश्यक है। इस हिसाब से हम आवश्यकताओ को दो भागो मे बाँट सकते

जीवन की और कार्य-क्षमता की आवश्यकताएँ

है। (अ) जीवन की आवश्यकताएं (Necessaries for life) इनमें वस्तुएँ सम्मिलित है, जो जीवन-रक्षा के लिये नितान्त आवश्यक है। (ब) कार्यक्षम की आवश्यकताएँ (Necessaries for efficiency) जीवन-रक्षा सम्बन् वस्तुओ के साथ-साथ इनमे वे वस्तुएँ शामिल है, जो मनुष्य को अपना कार्य क के लिये सब प्रकार से योग्य बनाती है।

कृत्रिम आवश्यकताएँ

इन दो प्रकार की आवश्यकताओ के सिवा एक तीसरे प्रकार की भी आवश्यकत मानी जाती है। इन्हे कृत्रिम आवश्यकताएँ या मानी हुई आवश्यकताएँ (conve tional necessaries) कहते है। इनमे वे वस् शामिल है, जो जीवन-रक्षा अथवा कार्यक्षमता के ि आवश्यक नही है। परन्तु आदत के कारण वे इ आवश्यक बन जाती है कि जब तक मनुष्य उन्हे प्राप्त नही कर लेता, तब तक अ आवश्यकताओ की पूर्ति को अधूरा समझता है। चाय, तम्बाकू, फैशन के कपडे इत्याद क्रुत्रिम आवश्यकताओ के परिचित उदाहरण है।

आराम

(स) **आराम** (Comforts)—आराम सम्बन्धी वस्तुओ का स्थान कृत्रिम आवश्यकताओ और शोक या विलास की वस्तुओ के बीच मे है। इनमे वे वस्तुएँ शामिल है, जिनसे मनुष्य की योग्यता और कार्यक्षमता तो बढती है, परन्तु इतनी नही बढती कि उन पर किये गये खर्चे के बराबर हो सके।

शौक

(द) **शौक या विलास** (Luxuries)—शौक मे वे वस्तुएँ शामिल है जिनका उपभोग आवश्यक इच्छाओ की पूर्ति के लिये किया जाता है। इनके उपभोग से मनुष्य की योग्यता नही बढती, वरन कभी-कभी कम हो जाती है।

ये शब्द तुलनात्मक है

आवश्यकताएँ, आराम और शौक ये सब तुलनात्मक शब्द है। जलवायु और सामाजिक प्रथाओ के भेद कुछ वस्तुओ को एक स्थान मे आवश्यक बना देते है, तो दूसरे स्थान मे अनावश्यक। पश्चिमी देशो मे एक मजदूर के लिये कमीज आवश्यक वस्तु है, परन्तु एक भारतीय मजदूर के लिये वह बहुधा एक शोक की वस्तु है। इसलिये जब हम किसी वस्तु की गणना आवश्यकता मे करते है, तब स्थान और समय के अनुसार केवल तुलनात्मक दृष्टि से कर सकते है। कृत्रिम आवश्यकताएँ भी विभिन्न समाजो और सामाजिक वर्गो के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार की हुआ करती है। हमारे देश मे निम्न वर्गो के लोगो मे हुक्का बहुत प्रचलित है और मध्यवर्ग मे चाय की प्रथा अधिक है वस्तुओ का वर्गीकरण करते समय हमे लोगो के धन्धो का भी ध्यान रखना चाहिये। जो

वस्तु एक आदमी के लिये आराम की वस्तु है, वही दूसरे के लिये शौक की सामग्री हो सकती है और तीसरे के लिये अपनी योग्यता बनाये रखने के लिये आवश्यक। एक गरीब मनुष्य के लिये मोटरकार शौक की वस्तु है, परन्तु वही मोटरकार किसी डाक्टर के लिये अपनी कार्यक्षमता बनाये रखने के लिये आवश्यक हो जाती है और वही मोटरकार कितनो के लिये आराम का साधन हो सकती है।

क्या आर्थिक दृष्टि से शौक की वस्तुओं पर खर्च करना उचित है? शौक या विलास शब्द से ही कुछ निन्दनीय अर्थ टपकता है। परन्तु अर्थशास्त्री का इससे कोई मतलब नही। अपने अध्ययन के लिये हम शौक की वस्तुओं को दो श्रेणियो मे बाँट सकते है—एक तो हानिकारक शौक और दूसरे हानिरहित शौक।

शौक कब उचित हो सकता है।

हानिरहित शौक मे वे वस्तुएँ शामिल है, जिनसे मनुष्य की योग्यता या कार्यशक्ति न तो बढती है न घटती है, जैसे कीमती कपडे। **हानिकारक शौक** मे वे वस्तुएँ शामिल है, जो मनुष्य की योग्यता या कार्यशक्ति को कम कर देती है, जैसे, शराब। इसलिये हानिकारक शौक के पदार्थो का उपभोग उचित नही कहा जा सकता। हानिरहित शौक के पदार्थो के सबंध मे कभी-कभी यह कहा जाता है कि उनके उपयोग से कुछ लोगो को काम मिलता है। अर्थात् कुछ लोगो को अपनी जीविका उपार्जन का एक साधन मिल जाता है। परन्तु इस दलील मे तथ्य नही है। जो रुपया शौक की वस्तुओ पर खर्च किया जाता है, वह अन्य वस्तुओ के खरीदने मे खर्च किया जा सकता था अथवा उसे व्याज पर लगाया जा सकता था। इसमे भी तो मजदूरो को काम मिलता, यद्यपि वह काम किसी अन्य प्रकार का होता। आर्थिक दृष्टि से शौक पर खर्च इसलिये उचित कहा जा सकता है कि विलास की इच्छा मनुष्य मे धन सग्रह की प्रवृत्ति बढाती है और इस प्रवृत्ति के कारण वह परोक्षरूप से समाज का बडा हित करता है। विलास की इच्छा मनुष्य से हमेशा अधिकाधिक काम कराती है। चाहे यह इच्छा निम्न प्रकार की हो, परन्तु यह सच है कि वह मनुष्य को कार्यशील बनाती है, समाज की उत्पादन शक्ति को बढाती है। यह बात भी सच है कि विलास के ही कारण ललित कलाओ ने इतनी उन्नति की है।

अध्याय ४

उपयोगिता

(Utility)

उपयोगिता (Utility)—शब्दकोश के अनुसार उपयोगिता का अर्थ उपयोगी होना या काम मे आना है। इस अर्थ मे हवा और पानी मे बहुत उपयोगिता है। परन्तु अर्थशास्त्र मे उपयोगिता शब्द का अर्थ अन्य दृष्टि से किया जाता है। उपयोगिता का अर्थ आवश्यकताओ को पूरा करने की शक्ति है। इसके माने यह है कि जब किसी वस्तु की आवश्यकता होती है, तो यह आशा की जाती है कि वह किसी इच्छा विशेष की पूर्ति कर सकेगी। हम किसी वस्तु की इच्छा इसलिये कर सकते है कि वह उपयोगी हो। पर यह भी सभव है कि वह उपयोगी न भी निकले। हम यह भी नही कह सकते कि किसी वस्तु से हमे जो इच्छापूर्ति या तृप्ति मिलती है, वही उस वस्तु की उपयोगिता है। इच्छा और तृप्ति दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ है। उनमे सदा सतुलन (balance) नही रहता। इसलिये उपयोगिता इच्छा की प्रगाढता का माप है, उपयोग का नही और न तृप्ति का। (Utility is the measure, not of usefulness, nor of satisfaction, but the intensity of desire)

उपयोगिता की व्याख्या करने मे हम यह मान लेते है कि इच्छा की प्रगाढता और उपभोग से प्राप्त तृप्ति बराबर होते है।

किसी वस्तु की आवश्यकता जितनी प्रगाढ इच्छा के साथ होती है और उसके उपभोग से जो वास्तविक तृप्ति प्राप्त होती है, ये दोनो दो भिन्न मानसिक स्थितियो के द्योतक है। वास्तव मे अर्थशास्त्री दूसरी स्थिति को नापना चाहता है, परन्तु वह इसलिये नही नाप सकता कि वह उपभोक्ता के मन मे प्रवेश नही कर सकता। इसलिये उसे पहिली स्थिति का आसरा लेना पडता है। अर्थशास्त्री यह मान लेता है कि जिस वस्तु की इच्छा होती है, उस इच्छा का गाढापन और उसके उपभोग से मिलनेवाली तृप्ति लगभग बराबर होते है। अर्थात् जितनी अधिक इच्छा होती है, लगभग उतनी ही अधिक पूर्ति या तृप्ति होती है। परन्तु यह हमेशा नही होता है। अर्थशास्त्र के आचार्य मार्शल ने इच्छा और तृप्ति की इस असमानता के कई कारण बतलाये है, जिसे मानसिक उत्तेजना, आदत, कुप्रवृत्ति, झूठी आशा इत्यादि।[1] परन्तु फिर भी यह कहा जा सकता है कि जब किसी मनुष्य की

---

[1] *Marshall*, Principles of Economics, p 92.

आदतें काफी हद तक निश्चित होती हैं, तब यह असमानता इतनी नही होती कि अर्थशास्त्री के सिद्धान्तो पर आघात कर सके।

उपयोगिता का नाप हम परोक्ष रूप से द्रव के रूप में कर सक्ते है।

किसी वस्तु की उपयोगिता प्रत्यक्ष रूप से (directly) नही नापी जा सकती, क्योकि हम उपयोगिता की परिभाषा भौतिक रूप से नही कर सकते। जिस प्रकार कि भोजन के पदार्थो की कर सकते है कि अमुक पदार्थ मे इतनी स्वास्थ्यप्रद मात्रा या केलॉरीज होनी है। हम अपनी मानसिक अवस्थाओ को ठीक-ठीक नही नाप सकते, न उनकी तुलना ही कर सकते है। परन्तु हम एक वस्तु की उपयोगिता की तुलना दूसरी वस्तु की उपयोगिता से कर सकते है। अथवा एक वस्तु की उपयोगिता की तुलना द्रव्य की उपयोगिता से कर सकते है। अथवा दो वस्तुओं की उपयोगिताओं की तुलना द्रव्य की दो रकमो के अनुपात मे की जा सकती है। "जब हम एक मनुष्य को इस असमजस मे पाते है कि वह थोडे से आने एक सिगार पर खर्च करे, अथवा एक कप चाय पर अथवा पैदल घर जाने के बदले किसी सवारी पर, तब हम साधारण कहावत के अनुसार यह कहते है कि वह उन सबसे बराबर उपयोगिता पाने की आशा करता है।"[1]

अन्त मे यह ध्यान रखना चाहिये कि यद्यपि 'उपयोगिता' शब्द से नीतिशास्त्र की विचारधारा की ओर इशारा होता है, परन्तु अर्थशास्त्र इस शब्द का उपयोग नीतिशास्त्र से बिना किसी प्रकार के सम्बन्ध से किया जाता है। जिस इच्छा की प्रगाढता या प्रबलता हम नापना चाहते है, वह उच्च भी हो सकती है और नीच भी। अर्थशास्त्री का मतलब तो केवल इच्छा या आवश्यकता के अस्तित्व से होता है, उसके प्रकार से नहीं कि वह अच्छी है या बुरी।

घटती उपयोगिता (Diminishing Utility)—यद्यपि साधारणत. मनुष्य की आवश्यकताओं की सीमा नही है, परन्तु कोई भी आवश्यकता विशेष की पूर्ति की जा सकती है। कोई भी वस्तु हमे जितनी अधिकाधिक मात्रा मे मिलती जाती है, उतनी ही हमारी इच्छा उसके लिये कम होती जाती है। मनुष्य की प्रकृति के सम्बन्ध मे यह चिरपरिचित अनुभव है और इसी अनुभव के आधार पर यह सिद्धान्त बनाया गया है। एक जोडा जूता रखने की हमारी इच्छा बडी प्रबल होती है। परन्तु दूसरे जोडे के लिये उतनी तेज न होगी, तीसरे जोडे से तो हमे और भी कम तृप्ति मिलेगी और चौथा

---

[1] "If we find a man in doubt whether to spend a few pence on a cigar or a cup of tea, or on riding home instead of walking home, then we may follow ordinary usage and say that he expects from them e[illegible] [illegible]lities —Ibid, p 15

जोडा तो जैसे शायद एक बोझ-सा लगने लगे। उपभोग के सभी क्षेत्रों मे यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि जैसे-जैसे किसी वस्तु की अधिक मात्राएँ मिलती जाती है, वैसे-वैसे उन मात्राओ की उपयोगिता घटती जाती है। यह हो सकता है कि किसी वस्तु की मात्राओ की उपयोगिता कम तेजी से घटे और किसी की अधिक तेजी से, परन्तु यह घटने की प्रवृत्ति सबमे रहती है। और एक ऐसा समय आ जाता है कि जब मात्राओ मे उपयोगिता बिलकुल न रहेगी। इस अनुभव को **घटती उपयोगिता का नियम** (Law of Diminishing Utility) कहते है। मार्शल ने इस नियम का वर्णन इस प्रकार किया है—

'किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु का जो सचय होता है और उस सचय मे बढती होने से उसे जो अधिक तृप्ति मिलती है, वह तृप्ति क्रमश घटती जाती है, ज्यो-ज्यो उस सचय मे प्रत्येक बार बढती होती है।' हम देख चुके है कि उपयोगिता का नाप केवल परोक्ष रीति से हो सकता है। कोई मनुष्य किसी वस्तु की जो कीमत देने को तैयार है, उसी कीमत के द्वारा उसकी उपयोगिता का नाप हो सकता है। कीमत के हिसाब से इस नियम को हम इस प्रकार समझावेगे। मान लो, एक आदमी एक जोडे जूते का दाम ६ रुपया देने को तैयार है। यह रकम उस मनुष्य के लिये एक जोडे जूते की उपयोगिता बतलाती है। दूसरे जोडे जूते की उपयोगिता उसके लिये उतनी नहीं रहेगी जितनी कि पहिले जोडे की है। इसलिये वह दूसरे जोडे के लिये कम दाम देगा। मान लो, दूसरे जोडे के लिये वह ५ रुपया देगा। यह रकम उसके लिये दूसरे जोडे की उपयोगिता बतलाती है।

सीमांत मात्रा।

घटती उपयोगिता के कारण वह तीसरे जोडे के लिये और भी कम दाम देगा, मान लो, तीसरे जोडे के लिये वह ४ रुपया देगा। वह सख्या उसके लिये तीसरे जोडे की उपयोगिता बतलाती है। इस प्रकार जैसे-जैसे वह मनुष्य अधिक जूते खरीदता है, वह क्रमश कम दाम देता है और एक ऐसा समय आवेगा जब वह जूता खरीदने से बिलकुल इनकार कर देगा। जूते का अन्तिम जोडा जिसे खरीदने को वह किसी प्रकार राजी होता है, **सीमांत जोड़ा या सीमांत मात्रा** (marginal unit) कहलाता है और इस जोडे से जो उपयोगिता प्राप्त होती है, उसे **सीमांत उपयोगिता** (marginal utility) कहते है। मान लो, वह केवल तीन जोडे जूते खरीदेगा, अधिक नही। तो इन तीन जोडो मे जूते की सीमान्त उपयोगिता ४ रुपया मानी जायगी। तब हम घटती उपयोगिता के नियम की परिभाषा इस प्रकार कर सकते है—

'किसी एक समय किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु का जो सचय है, उस सचय में प्रत्येक बढती के साथ उस मनुष्य के लिये उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है।' इस नियम को अगले पृष्ठ में दिये गये चित्र न० १ की सहायता से इस प्रकार समझाया जा सकता है।

चित्र न० १ अब रेखा पर हम वस्तु (जूता) की मात्राएँ नापते है और अस रेखा पर हम जूतो के दाम नापते है, जो आदमी विभिन्न जोडो के देने के लिये तैयार है। अक जोडे के लिये उपभोक्ता कक[1] दाम देगा; कख जोडा के लिये वह खख[1] दाम देगा। क्योकि कख जोडे की उपयोगिता अक जोडे से कम होगी। इस प्रकार खग
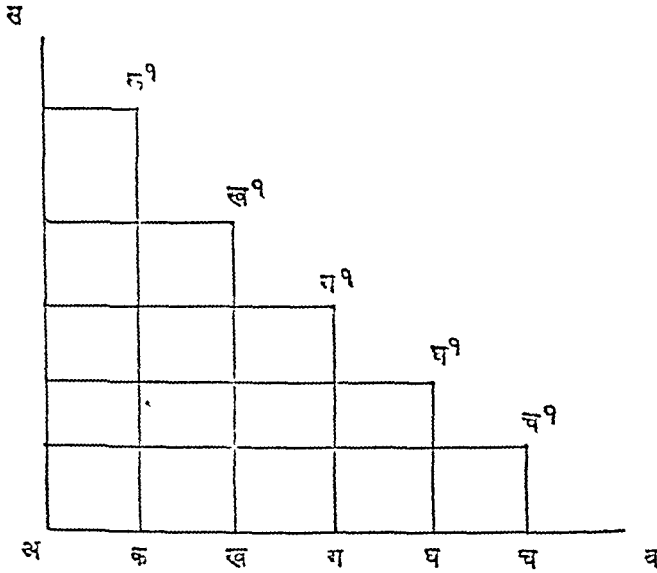
चित्र न० १

जोडे के लिये गग[1] दाम देगा और गघ जोडे के लिये वह घघ[1] दाम देगा। जिस प्रकार वह अधिक जोडे खरीदता जावेगा, उसी प्रकार जोडो के दाम कम होते जावेगे। जो रेखा क[1]ख[1]ग[1]घ[1] विन्दुओ को जोडेगी, वह घटती उपयोगिता का नियम बतलावेगी और इस रेखा का घुमाव नीचे की ओर होगा।

नियम की सीमाएं (Limitations of Law)–'किसी एक समय' शब्दो मे इस नियम का एक महत्त्वपूर्ण बन्धन या सीमा है। यदि हम अपना अध्ययन एक दिये हुए समय पर केन्द्रित रखते है, तो यह कहा जा सकता है कि उसी बीच मे उपभोक्ता की आदते या रुचि बदल सकती है। इसलिये यह कहना नियम का अपवाद नहीं है कि कोई मनुष्य अच्छा संगीत जितना अधिक सुनेगा, उसकी इच्छा संगीत के लिये उतनी अधिक बढ़ेगी। अथवा कोई मनुष्य ज्यो-ज्यो शराब पियेगा, उसकी इच्छा शराब के लिये अधिकाधिक बढ़ेगी। क्योकि इसी बीच मे उसकी आदते और रुचि बदल जाती है। हमे प्रत्येक बार [illegible] [illegible] समय मानना ही पडेगा। यह नियम नहीं है कि किसी एक समय यदि उपभोक्ता

यह मान लिया जाता है कि उपभोक्ता की आदते और रुचि नहीं बदलती।

की आदते और रुचि मे अन्तर न हो तो किसी वस्तु की अधिकाधिक मात्राओ से उसे घटती हुई तृप्ति या पूर्ति प्राप्त होगी।

इसी प्रकार हमे मात्राएँ या इकाइयाँ बहुत छोटी नही लेनी चाहिये। यदि हम किसी वस्तु की मात्राए बहुत छोटे परिमाण की मानेगे तो सीमान्त उपयोगिता घटने के बजाय आरम्भ मे बढेगी। बहुत थोडे समय की छुट्टी मे आदमी के काम से थके हुए शरीर और दिमाग को शायद पूरा आराम न मिले। परन्तु यदि उसे उससे दुगने समय की छुट्टी मिल जावे तो आराम की दृष्टि से उसकी उपयोगिता पहिली की अपेक्षा दुगुनी से भी अधिक हो सकती है। इसलिये यह आवश्यक है कि जो मात्राएं हम लें वे आकार और परिमाण मे न्यायोचित हों। इस प्रकार ये सीमाएँ वास्तविक अपवाद नही है। वे तो केवल नियम के कुछ बन्धन बतलाते है।

यदि मात्राएं बहुत छोटी हो तो सीमांत उपयोगिता बढ़ सकती है।

कुछ ऐसी वस्तुएँ है, जिनकी सीमान्त उपयोगिता उनके सचय मे बढती के साथ-साथ नही घटती। जैसे, यदि किसी मनुष्य को विचित्र वस्तुएँ (curios) या डाकखाने के टिकट (stamps) सग्रह करने का शौक है, तो जैसे-जैसे उसके सग्रह की बढती होगी, वैसे-वैसे उसकी इच्छा उन वस्तुओ का सग्रह बढाने के लिये बढती जावेगी। परन्तु वाइनर [1] के मत के अनुसार यह भी कोई अपवाद नही है। शर्त केवल यह है कि हमे उस वस्तु की पूरी मात्रा को इकाई मान लेना चाहिये। जैसे, मान लो, ससार भर मे केवल दो विचित्र एक से मोती प्राप्त है, तो हमे इन दोनो को एक मात्रा या इकाई मान लेना चाहिये। इस तरह के मोतियो की अधिक मात्राएँ घटती उपयोगिता देने लगेगी।

कभी-कभी सीमांत उपयोगिता बढ़ सकती है, जैसे टिकटों की।

कभी-कभी किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता केवल मनुष्यो के सग्रह पर नही, परन्तु अन्य मनुष्यो के पास उस वस्तु के सग्रह पर भी निर्भर होती है। जैसे यदि किसी मनुष्य के पास टेलीफोन है, तो जितने अधिक मनुष्यो के पास टेलीफोन होगा उतनी अधिक उस मनुष्य के टेलीफोन की उपयोगिता होगी। यही हाल बहुत-सी फैशन की वस्तुओ का है। परन्तु इसमे सन्देह नही है कि किसी एक समय यदि किसी वस्तु के उपयोग की सीमा निश्चित कर दी जावे तो किसी वस्तु की अधिकाधिक मात्राओ की उपयोगिता घटती जावेगी। उदाहरण के लिये यदि टेलीफोन का उपयोग करनेवालों की सख्या बाँध दी जावे अथवा वही रहे तो एक मनुष्य के लिये दूसरे टेलीफोन की उपयोगिता उतनी न रहेगी जितनी पहिले की होती है।

---

[1] *Viner*, "The Utility Concept in Economic Theory" in the Journal of Political Economy, 1925.

यद्यपि ये सीमाएँ या अपवाद अधिक महत्वपूर्ण नही है, परन्तु इनके रहते हुए भी यह प्रवृत्ति इतनी अधिक पाई जाती है और इसके अपवाद भी इतने कम है कि हम इस प्रवृत्ति को सार्वभौमिक कह सकते है। इस नियम का महत्त्व इस कारण है कि माग के नियम का आधार यही है और माग-रेखा (demand curve) का ढाल सदा नीचे की ओर होने के काफी कारण बतलाता है।

घटती उपयोगिता के नियम का अधिक विस्तृत वर्णन—इस नियम की परिभाषा प्राय इस प्रकार की जाती है कि किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता किसी मनुष्य के पास उसके कुल सग्रह पर निर्भर होती है और उस सग्रह मे प्रत्येक बढती के साथ वह घटती जाती है। परन्तु किसी वस्तु की सीमात उपयोगिता उन वस्तुओ की मात्रा पर निर्भर भी होती है, जो उसके बदले मे उपयोग मे आ सके और उनकी सहायक या पूरक भी हो सके। उदाहरण के लिये चाय की सीमात उपयोगिता केवल इस पर निर्भर नही है कि एक मनुष्य ने कितने प्याले पिये है, वरन् काफी की कीमत पर भी निर्भर है। दूसरे किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता इस बात पर भी निर्भर होती है कि उसकी पहुँच के भीतर कितनी वस्तुएँ हो सकती है। यदि किसी मनुष्य की आमदनी एकाएक दुगनी हो जाती है तो फिर वह किसी वस्तु के लिये अधिक दाम देने को तैयार हो जायेगा और उसकी इच्छा भी उस वस्तु के लिये अधिक प्रगाढ हो जायेगी। 'जो मनुष्य मोटरकार न होने के कारण साइकिल पर चढता है, यदि उसे मोटरकार मिल जावे तो साइकिल की उपयोगिता उसके लिये शून्य हो जावेगी।' अन्त मे किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु का जो सग्रह है, केवल उस पर उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता निर्भर नही होती, वरन् अन्य लोगो के पास उस वस्तु का जो सग्रह है, अन्य लोगो मे उसका जो वितरण होता है और वे लोग कौन है, इन बातो पर भी उस वस्तु की सीमान्त उपयोगिता निर्भर होती है। जैसे कि हीरो का उपयोग जितना ज्यादा होगा, उनकी उपयोगिता उतनी कम होगी। परन्तु किसी फैशन के कपडो की लोकप्रियता जितनी अधिक होगी उनकी उपयोगिता भी उतनी ही अधिक होगी। यदि यह मालूम हो जाय कि राजघराने के लोग कोई विशेष प्रकार के कपडे पहिनते है तो लोगो की इच्छा उन कपडो के लिये बढ सकती है। इसलिये किसी मनुष्य के लिये किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके पास उस वस्तु का जो सचय है, केवल उस पर निर्भर नहीं होती, वरन् इस बात पर भी निर्भर होती है कि उस वस्तु की सहायक और प्रतियोगी वस्तुओं की मात्रा कितनी है, उसके पास अन्य वस्तुओ का सग्रह कितना है, अन्य लोगो के पास अन्य वस्तुओ का सग्रह कितना है तथा अन्य लोगो मे उस वस्तु का वितरण कैसा है और वे अन्य लोग समाज के किस वर्ग के है।"[1]

Marginal note: किसी वस्तु की उपयोगिता कई वस्तुओं पर निर्भर है।

---

[1] *Pigou*, 'Some Remarks on Utility' in the Economic Journal, 1903.

पूर्ण उपयोगिता और सीमांत उपयोगिता (Total Utility and Marginal Utility)—किसी मनुष्य के पास किसी वस्तु की जितनी मात्राएँ होती हैं, उन सबकी उपयोगिता के जोड को पूर्ण उपयोगिता कहते हैं। उन मात्राओं के खो जाने या न मिलने से हमें जो नुकसान होता है, उसके बराबर उस वस्तु की पूर्ण उपयोगिता है। सीमान्त उपयोगिता उस वस्तु की उस मात्रा की उपयोगिता को कहते हैं, जिसे वह मनुष्य एक निश्चित दाम पर खरीदने को किसी प्रकार राजी हो जाता है। जूतों के उदाहरण को यदि हम यहाँ फिर से ले जैसा हम मान चुके हैं कि वह मनुष्य केवल तीन जोडे जूते खरीदता है, तो उसके लिये जूतो की पूर्ण उपयोगिता उसने जो कीमत दी है, उसके अनुसार (६+५+४) १५ रुपये के बराबर है, और सीमान्त उपयोगिता ४ रुपये के बराबर है।

कीमत के द्वारा पूर्ण उपयोगिता नहीं केवल सीमांत उपयोगिता नापी जाती है। एक आदमी तब तक कोई वस्तु खरीदता जायगा, जब तक उसकी सीमान्त उपयोगिता ठीक उस वस्तु की कीमत के बराबर न आ जायगी। पानी की एक कम या एक अधिक मात्रा पानी के दाम पर प्रभाव डालती है, हमारे पास पानी की जो पूरी मात्राएँ है, वे नही। **इसलिये पूर्ण उपयोगिता का महत्त्व केवल सिद्धान्त की दृष्टि से है। परन्तु सीमांत उपयोगिता का महत्त्व प्रत्यक्ष व्यावहारिक दृष्टि से है।** किसी वस्तु की पूर्ण उपयोगिता जानने की कोई परवाह नही करता। जैसे चाय की पूर्ण उपयोगिता जानने की कोई परवाह नही करता, परन्तु सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त हमारे दैनिक जीवन मे आता रहता है। जब कोई व्यक्ति कोई वस्तु खरीदता है, तो उसके मन मे यही समस्या रहती है कि कितना खरीदे ? खरीद कहाँ बन्द करे ? वह जो भी वस्तु खरीदता है, उसके लिये सीमा बाँधनी होती है और यह सीमा निश्चित करने में उसे यह खयाल करना पडता है कि यदि वह एक मात्रा और ले तो उसकी उपयोगिता कीमत के बराबर होगी या नही। अन्त में वह खरीद बन्द करता है, अर्थात् वह अपनी खरीद की सीमा पर पहुँच गया। यह ध्यान मे रखना चाहिये कि **सीमाँत उपयोगिता अन्तिम मात्रा की उपयोगिता नहीं है। वह तो किसी वस्तु की एक अधिक या एक कम मात्रा की उपयोगिता है।** क्योंकि भौतिक रूप मे मात्राओं में आपस मे अन्तर नही होता। उन्हे एक दूसरे से अलग-अलग रखना कठिन है। जैसे कि हमारे पास जो चाय का सचय है, उसमे किसी एक पौण्ड की उपयोगिता वही है, जो किसी दूसरे पौंड की। इस सचय के अन्तिम पौंड की उपयोगिता वही है, जो किसी अन्य पौण्ड की। परन्तु ५ पौण्ड चाय के सचय मे, अन्य वस्तुएँ यथास्थिति रहते हुए भी एक पौण्ड की उपयोगिता ६ या अधिक पौण्ड चाय के सचय के एक पौण्ड की उपयोगिता की अपेक्षा अधिक है।

कीमत केवल सीमांत उपयोगिता नापती है पूर्ण उपयोगिता नहीं

सीमान्त मात्रा अन्तिम मात्रा नहीं है।

उपयोगिता सिद्धांत की आलोचना[1]—उपयोगिता सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई है। एक तो यह कहा गया है कि वह कच्चे मनोवैज्ञानिक आधार पर खड़ा किया गया है। इन आलोचकों की धारणा है कि अर्थशास्त्रियों ने घटती उपयोगिता या सिद्धान्त मनोविज्ञान के वेबर-फेकनर सिद्धान्त (Weber-Fechner Law of Psychology) के आधार पर बनाया है। उनका कहना है कि मनोविज्ञान का यह सिद्धान्त घटती उत्तेजनाओं (diminishing sensations) की व्याख्या करता है, भावों (feelings) की नहीं। इसलिये वह कच्चे मनोवैज्ञानिक आधार पर खड़ा है। **परंतु यह सिद्ध करने के लिये कोई सबूत नहीं है कि प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियों ने अपने सब मनोवैज्ञानिक विचार मनोवैज्ञानिकों से ग्रहण किये थे।** उन्होंने अपने सिद्धान्त कोई मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर नहीं बनाये थे। उन्होंने अपने अध्ययन की सामग्री अनुभव और अवलोकन से प्राप्त की, मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों से नहीं। दूसरे, यह कहा जाता है कि सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त मनुष्य के आचरण को इतना अधिक तर्कपूर्ण या बुद्धिमत्तापूर्ण बना देता है कि उसमें वास्तविकता नहीं रह जाती। मनुष्य के अधिकांश कार्य पहिले से बिना सोचे-विचारे होते हैं। उसके अधिकांश आचरण 'उत्तेजना, प्रेरणा, आदत, प्रथा, फैशन तथा चलतू लोकमत' के अनुसार होते हैं। परन्तु अर्थशास्त्री का मतलब तो केवल इच्छा (desire) में रहता है। इच्छा के उत्पादक कारणों से नहीं। इच्छा चाहे उत्तेजना से हो, चाहे प्रेरणा से, अर्थशास्त्री को इससे कोई मतलब नहीं। **हमें इस बात पर अधिक जोर देने की आवश्यकता नहीं है कि हमारे सिद्धांत में बुद्धि या तर्क का स्थान बहुत अधिक है।** असल बात यह है कि मनुष्य प्रतियोगी इच्छाओं का शिकार है और चूंकि उनके पास जो साधन और समय है, वे सीमित हैं, इसलिये उसे अपनी विभिन्न इच्छाओं में चुनाव करना पड़ता है। यदि वह एक चीज खरीदता है, तो उसे दूसरी चीज छोड़नी पड़ती है। जीवन की यह दुखभरी कहानी सभी लोग जानते हैं। 'उपयोगिता की यह व्याख्या चुनाव करने के केवल एक मानसिक तरीके का वर्णन

(अ) कच्चा मनोवैज्ञानिक आधार

(ब) मनुष्य के आचरण को बहुत बुद्धिवादी बना देती है।

---

[1] Cf V . ., "The Utility Concept in Economic Theory" in the Journal of Political Economy, 1925 Also *A" n Y Yc "g*, "Trend of Economics as seen by some American Economists" in the Quarterly Journal of Economics, Feb 1925, pp 175-76.

इस नियम से महत्त्व-पूर्ण परिणाम मिलते हैं।

है।[1] और उपयोगिता की व्याख्या करने से हमें जो परिणाम प्राप्त होते हैं, वे मूल्य सिद्धान्त (theory of value) के लिये एक तर्कपूर्ण आधार देते हैं। किसी वस्तु की उपयोगिता और विनिमय में जो काफी अन्तर होता है, उसका मनोग्राह्य उत्तर इस सिद्धान्त से प्राप्त हो जाता है। मनुष्य के आचरण में जो समानता पाई जाती है, जिसे सदा हम माँग रेखा की निम्न गति में देखते हैं, उस समानता का अनुमान भी हम इस सिद्धान्त की व्याख्या द्वारा कर सकते हैं।[2]

अध्याय ५

माँग

(Demand)

माँग (Demand)—उपयोगिता के सिद्धान्त का अध्ययन करने के बाद यह स्वाभाविक है कि हम माँग सम्बन्धी सिद्धान्त का अध्ययन करे। क्योंकि सब प्रकार की माँग की तह मे उपयोगिता स्थित रहती है। किसी वस्तु की केवल इच्छा करने से वह उस वस्तु की माँग नही हो जाती। अँगरेजी मे एक कहावत है कि यदि केवल इच्छा करने से घोडे मिल जाते तो भिखारी भी सवारी करते। बचपन मे हलवाई की दूकान में तरह-तरह की मिठाइयाँ देखकर हम सबका जी ललचाया करता था। परन्तु हमारी वह इच्छा अर्थशास्त्र की दृष्टि से माँग नही थी। माँग वह तभी हुई जब हमारा रोना-मचलना देखकर हमारे माता-पिता ने हमे एक रुपया दिया, उसे लेकर हम हलवाई की दूकान पर दौडे और मिठाई खरीदी। **इच्छा के साथ साथ जब खरीदने की शक्ति उपयुक्त मात्रा में हो, तब वह वास्तविक माँग होती है।**

अर्थशास्त्र मे माँग का सम्बन्ध हमेशा किसी वस्तु के दाम के साथ होता है। **अमुक कीमत पर माँग** का अर्थ यह हुआ कि उस कीमत पर लोग उस वस्तु की कितनी मात्रा

---

[1] *Davenport*, 'Economics of Enterprise' See also *Henderson*, 'Supply and Demand', pp 44-49

[2] *Viner*, 'The Utility Concept in Economic Theory' in the Journal of Political Economy, 1925

खरीदने को तैयार है। जब तक हमे किसी वस्तु की कीमत न मालूम हो, तब तक हम यह नही कह सकते कि हम उस वस्तु की कितनी मात्रा खरीदेगे। किसी व्यक्ति या बाजार की मॉग-सूची (demand schedule) उस सूची या फेहरिस्त को कहते है जिससे यह मालूम होता है कि किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राएँ एक व्यक्ति या कई लोग किन दामो मे खरीदेगे।

किसी मनुष्य का किसी वस्तु का भाडार जैसे-जैसे बढता चलेगा, वैसे-वैसे वह उसके लिये कम दाम देगा। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते है कि कम कीमत पर कोई मनुष्य किसी वस्तु को अधिक मात्रा मे खरीदेगा, पर कीमत बढने पर वह उसे पहिले से कम मात्रा मे खरीदेगा।

यदि कीमत	१०	रु०	है तो एक	मनुष्य	किसी वस्तु की	१०	मात्राएँ	लेगा
"	८	"	"	"	"	१२	"	"
"	६	"	"	"	"	१५	"	"
"	५	"	"	"	"	१८	"	"

ऊपर दी हुई सूची को व्यक्ति की मॉग-सूची (individual demand schedule) कहते है। बाजार के सब व्यक्तियो की मॉग-सूची को मिलाकर बाजार की मॉँग-सूची (market demand schedule) कहते है।

बाजार की मॉँग-सूची

सब व्यक्तियो की मॉँग-सूचियो को मिलाकर बाजार की मॉग-सूची बनाने में पहिली वार कठिनाई यह होती है कि बाजार के विभिन्न व्यक्तियो की मॉग-सूचियाँ एक-सी नही होती। कुछ लोग धनी होते है, कुछ गरीब होते हैं। धनिको मे और गरीबो मे स्वभाव-भेद होता है। कुछ लोग किसी वस्तु को दूसरो की अपेक्षा अधिक प्रगाढता से मागेगे। मनुष्यो की मॉँगो मे ऐसी-ऐसी विचित्र विशेषताएँ पाई जाती है कि हम किसी एक व्यक्ति की मॉग-सूची को सब व्यक्तियो की मांग-सूची का प्रतिनिधि नही कह सकते, जिसका गुणा बाजार में स्थित सब व्यक्तियो की सख्या से कर दिया जाय। परन्तु बडे-बडे बाजारो मे बहुत-सी विचित्र विशेषताएँ एक दूसरे का खडन कर देती है। इस कारण से बाजारो की मॉग-सूचियाँ बनाना सम्भव हो जाता है। "व्यक्ति की इच्छा तो अस्थिर रहती है, परन्तु सब खरीदारो की इच्छाओ का समूह जिनके आधार पर वे खरीद करते है, अपेक्षाकृत स्थिर होता है। जैसे कि भौतिक-शास्त्र मे वायुमडल का प्रत्येक परमाणु जो हमारे शरीर से स्पर्श करता है, परिवर्तनशील और अस्थिर होता है, परन्तु उन परमाणुओ के कारण वायुमडल मे हवा का दबाव प्रति वर्ग इच मे पन्द्रह पाउंड के लगभग स्थिर होता है।"[1]

---

[1] F[illegible], Elementary Principles of Economics, p. 201.

इस नियम से महत्त्व-पूर्ण परिणाम मिलते है।

है।[1] और उपयोगिता की व्याख्या करने मे हमे जो परिणाम प्राप्त होते है, वे मूल्य सिद्धान्त (theory of value) के लिये एक तर्कपूर्ण आधार देते है। किसी वस्तु की उपयोगिता और विनिमय मे जो काफी अन्तर होता है, उसका सतोषप्रद उत्तर इस सिद्धान्त से प्राप्त हो जाता है। मनुष्य के आचरण मे जो समानता पाई जाती है, जिसे सदा हम माँग रेखा की निम्न गति मे देखते है, उस समानता का अनुमान भी हम इस सिद्धान्त की व्याख्या द्वारा कर सकते हैं।[2]

अध्याय ५

माँग

(Demand)

मॉग (Demand)—उपयोगिता के सिद्धान्त का अध्ययन करने के बाद यह स्वाभाविक है कि हम मॉग सम्बन्धी सिद्धान्त का अध्ययन करें। क्योकि सब प्रकार की मॉग की तह मे उपयोगिता स्थित रहती है। किसी वस्तु की केवल इच्छा करने से वह उस वस्तु की मॉग नही हो जाती। अँगरेजी मे एक कहावत है कि यदि केवल इच्छा करने से घोडे मिल जाते तो भिखारी भी सवारी करते। बचपन मे हलवाई की दूकान में तरह-तरह की मिठाइयाँ देखकर हम सबका जी ललचाया करता था। परन्तु हमारी वह इच्छा अर्थशास्त्र की दृष्टि से मॉग नही थी। मॉग वह तभी हुई जब हमारा रोना-मचलना देखकर हमारे माता-पिता ने हमे एक रुपया दिया, उसे लेकर हम हलवाई की दूकान पर दौडे और मिठाई खरीदी। **इच्छा के साथ साथ जब खरीदने की शक्ति उपयुक्त मात्रा मे हों, तब वह वास्तविक मॉग होती है।**

अर्थशास्त्र मे मॉग का सम्बन्ध हमेशा किसी वस्तु के दाम के साथ होता है। **अमुक कीमत पर मॉग** का अर्थ यह हुआ कि उस कीमत पर लोग उस वस्तु की कितनी मात्रा

---

[1] *Davenport*, 'Economics of Enterprise' See also *Henderson*, 'Supply and Demand', pp 44-49

[2] *Viner*, 'The Utility Concept in Economic Theory' in the Journal of Political Economy, 1925

खरीदने को तैयार है। जब तक हमे किसी वस्तु की कीमत न मालूम हो, तब तक हम यह नही कह सकते कि हम उस वस्तु की कितनी मात्रा खरीदेगे। किसी व्यक्ति या बाजार की माँग-सूची (demand schedule) उस सूची या फेहरिस्त को कहते है जिससे यह मालूम होता है कि किसी वस्तु की भिन्न-भिन्न मात्राएँ एक व्यक्ति या कई लोग किन दामो मे खरीदेगे।

किसी मनुष्य का किसी वस्तु का भाडार जैसे-जैसे बढता चलेगा, वैसे-वैसे वह उसके लिये कम दाम देगा। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि कम कीमत पर कोई मनुष्य किसी वस्तु को अधिक मात्रा मे खरीदेगा, पर कीमत बढने पर वह उसे पहिले से कम मात्रा मे खरीदेगा।

यदि कीमत	१०	रु०	है तो एक	मनुष्य	किसी वस्तु की	१०	मात्राएँ	लेगा
"	८	"	"	"	"	१२	"	"
"	६	"	"	"	"	१५	"	"
"	५	"	"	"	"	१८	"	"

ऊपर दी हुई सूची को व्यक्ति की माँग-सूची (individual demand schedule) कहते है। बाजार के सब व्यक्तियो की माँग-सूची को मिलाकर बाजार की माँग-सूची (market demand schedule) कहते है। सब व्यक्तियो की माँग-सूचियो को मिलाकर बाजार की माँग-सूची बनाने में पहिली बार कठिनाई यह होती है कि बाजार के विभिन्न व्यक्तियो की माँग-सूचियाँ एक-सी नही होती। कुछ लोग धनी होते है, कुछ गरीब होते है। धनिको मे और गरीबो मे स्वभाव-भेद होता है। कुछ लोग किसी वस्तु को दूसरो की अपेक्षा अधिक प्रगाढता से माँगेगे। मनुष्यो की माँगो मे ऐसी-ऐसी विचित्र विशेषताएँ पाई जाती है कि हम किसी एक व्यक्ति की माँग-सूची को सब व्यक्तियो की माँग-सूची का प्रतिनिधि नही कह सकते, जिसका गुणा बाजार में स्थित सब व्यक्तियो की सख्या से कर दिया जाय। परन्तु बडे-बडे बाजारो मे बहुत-सी विचित्र विशेषताएँ एक दूसरे का खडन कर देती है। इस कारण से बाजारो की माँग-सूचियाँ बनाना सम्भव हो जाता है। "व्यक्ति की इच्छा तो अस्थिर रहती है, परन्तु सब खरीदारो की इच्छाओ का समूह जिनके आधार पर वे खरीद करते है, अपेक्षाकृत स्थिर होता है। जैसे कि भौतिक-शास्त्र मे वायुमडल का प्रत्येक परमाणु जो हमारे शरीर मे प्रवेश करता है, परिवर्तनशील और अस्थिर होता है, परन्तु उन परमाणुओ के कारण वायुमडल मे हवा का दबाव प्रति वर्ग इच मे पन्द्रह पाउड के हिसाब से स्थिर होता है।"[1]

बाजार की माँग-सूची

---

[1] *Fisher*, Elementary Principles of Economics, p 301.

यह ध्यान रखना चाहिये कि कीमत बाजार में साधारण सीमान्त उपयोगिता नहीं नापती। कीमत वस्तु की सीमान्त उपयोगिता प्रत्येक व्यक्ति के लिये अलग-अलग बतलाती है। चूंकि प्रत्येक मनुष्य की आमदनी और रुचि भिन्न-भिन्न होती है। इसलिये यदि प्रत्येक मनुष्य किसी वस्तु को एक ही दाम पर खरीदे तो भी उस दाम से सबके लिये एक बराबर उपयोगिता नही नापी जा सकती।
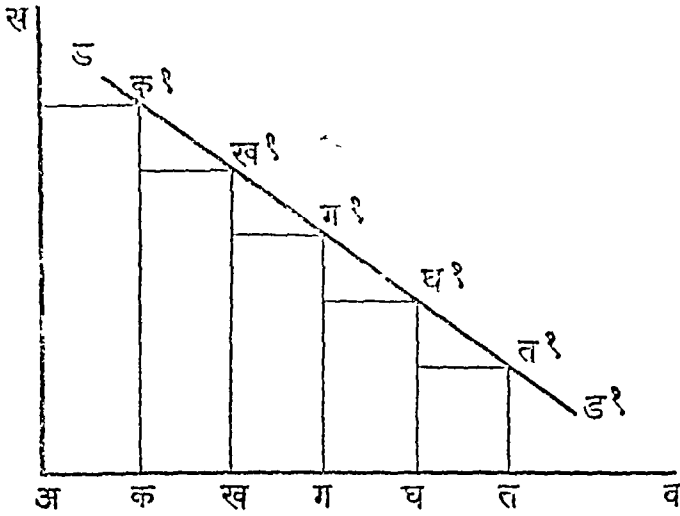
चित्र न० २

चित्र न० २ मे माँग-सूची का ग्राफ दिया गया है। किसी वस्तु की विभिन्न मात्राओं के लिये खरीदार जो कीमत देगे वह अस रेखा पर है और विभिन्न दामो पर वस्तु की जो मात्राएं खरीदार लेगे वे अब रेखा पर है। जब दाम कक१ है, तब खरीदार केवल अक मात्रा लेगे, क्योकि दाम ऊँचा है। जब कीमत कक१ से घटकर खख१ हो जाती है, तब ग्राहक अख अर्थात् अधिक मात्राएँ लेते है और जब कीमत गिरकर घघ१ हो जाती है, तब माँग भी बढकर अघ हो जाती है।

माँग का नियम (Law of Demand)—माँग के नियम की परिभाषा इस प्रकार है। अन्य चीजो के यथास्थिति रहते हुए किसी वस्तु की कीमत जैसे-जैसे कम होगी वैसे-वैसे उसकी माँग बढेगी। इस प्रकार माँग कीमत के उलटे अनुपात में घटती-बढती है। यह घटी-बढी धीमी भी हो सकती है और तेज भी। कभी-कभी कीमत थोडी-सी घटने से भी माँग अधिक बढ जाती है। कुछ वस्तुओ के सम्बन्ध मे माँग अधिक बढाने के लिये कीमत अधिक घटाने की आवश्यकता होती है।

चीजो के यथास्थिति रहते हुए' शब्दो मे इस नियम की एक बडी शर्त लगी नियम यह कहता है कि वस्तुओ की कीमत जैसे-जैसे बदलती है, वैसे-वैसे

उनकी माँग भी बदलती है। परन्तु यदि इसी बीच मे बाजार मे अन्य परिस्थितियाँ बदल जाती है, तो सम्भव है ऐसा न भी हो। उदाहरण के लिये यदि फैशन या रीति-रिवाज या मौसम बदल जाता है तो यह भी हो सकता है कि दाम घटने पर भी माग न बढे।

नियम की शर्तें।

इसके सिवा यदि किसी वस्तु की प्रतियोगी या सहायक वस्तुओ के दाम बदलते है, तब भी यह हो सकता है कि उस वस्तु की कीमत मे बिना कोई घटी-बढी के उसकी माँग किसी एक दाम पर बदल जावे। और थोडे से कुछ मौके ऐसे भी आ सकते है, जब दाम बढने से किसी वस्तु की माँग भी बढ जावे। यदि लोग ऐसा सोचते है कि अभी इस वस्तु के दाम और बढेगे तो थोडे से दाम बढने पर वे उसको अधिक मात्रा मे खरीदने का प्रयत्न करेगे।

माँग की लोच (Elasticity of Demand)—लोच माँग की एक विशेषता है। हम देख चुके है कि किसी वस्तु के दाम बढने पर उसकी माँग घटती है। परन्तु घटने की गति धीमी भी हो सकती है और तेज भी। कीमत बदलने पर माँग जिस गति से बदलती है, उसे 'माँग की लोच' कहते हैं।

किसी वस्तु के लिये माँग लोचदार हो सकती है या बेलोच। जब किसी वस्तु के दाम में थोडी-सी कमी होने पर उसकी माँग अधिक बढ जाती है, तब उस माँग को लोचदार माँग कहते है। अथवा जब कीमत थोडी-सी बढने पर माँग ज्यादा घट जाती है, तब भी माँग लोचदार कही जाती है। परन्तु जब कीमत मे थोडी-सी कमी होने पर माँग भी थोडी बढती है और धीरे-धीरे बढती है, अथवा थोडी-सी कीमत बढने पर माँग भी थोडी-सी घटती है, तब उस माँग को बेलोच कहा जाता है। यहाँ 'थोडी-सी', 'ज्यादा' 'अधिक' इन शब्दो के अर्थ स्पष्ट नही है।

माँग की लोच नापने की रीति।

अपने विचारो को स्पष्ट और निश्चित करने के लिये मार्शल ने लोच नापने की एक रीति सुनाई है। उसका मत है कि किसी वस्तु की जितनी मात्रा की माँग किसी एक कीमत पर होती है, उस मात्रा और कीमत का गुणा करने से जो गुणनफल आता है, वह गुणनफल जब तक एक-सा रहता है, तब तक माँग की लोच को सम (unity) मान लेना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि दाम या कीमत मे चाहे जो घटी-बढी हो, परन्तु किसी वस्तु पर खर्च की गई कुल रकम वही रहेगी। उदाहरण के लिये मान लो कि जब कीमत ५ रुपया है तो लोग किसी वस्तु की १०० मात्राएँ लेगे। जब कीमत ४ रुपया है, तब वे १२५ मात्राएँ लेगे और जब कीमत २ रुपया है, तब वे २५० मात्राएँ लेगे। इन तीनो मे दाम और मात्राओ का गुणनफल एक-सा रहता है, अर्थात् ५०० रुपया रहता है। इसलिये माँग की लोच सम है। परन्तु जब दाम मे थोडी-सी कमी होने पर माग इतनी अधिक बढ जावेगी कि वस्तु पर खर्च की हुई कुल रकम भी बढ जावेगी तब माँग की लोच सम से अधिक हो जावेगी। हमने ऊपर जो उदाहरण दिया है, मान लो ५ रुपया प्रति मात्रा की दर से १०० मात्राओ की माँग है। परन्तु ४ रुपया

प्रति मात्रा की दर से १३० मात्राओ की माँग है। तब पहिले सौदे में खरीदारो ने कुल रकम ५०० रुपया खर्च की और दूसरे सौदे मे ५२० रुपया। इसलिये यहाँ माँग की लोच सम से अधिक होगी।
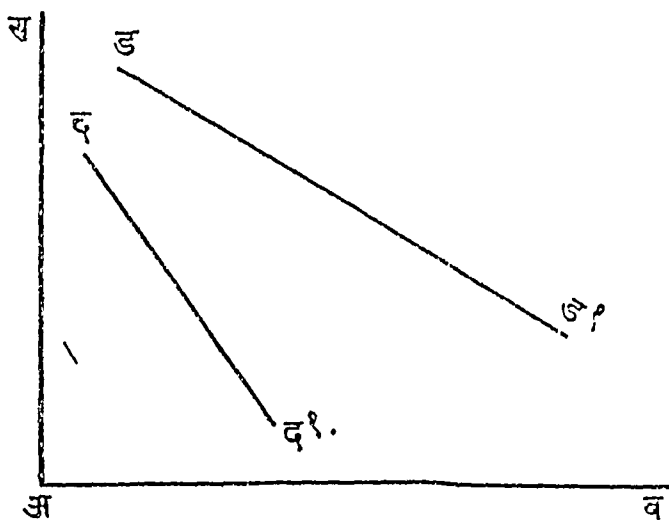
चित्र न० ३

जब कीमत में थोडी-सी घटी होने से माँग मे इतनी थोडी वृद्धि होगी कि कुल खर्च की हुई रकम घट जावेगी, तब माँग की लोच सम से कम कही जायगी। जैसे कि ऊपर के उदाहरण के अनुसार जब कीमत ५ रुपया है, तब १०० मात्राएँ बिकती है, परन्तु जब कीमत ४ रुपया है, तब मानलो १२० मात्राएँ बिकती है। पहिले सौदे मे कुल रकम ५०० रुपया खर्च होता है, परन्तु दूसरे सौदे मे कुल रकम ४८० रुपया खर्च होता है इसलिये माँग की लोच सम से कम है।

ऊपर के चित्र न० ३ मे डड१ रेखा लोचदार माँग और दद१ रेखा बेलोच माँग बतलाती है।

अर्थशास्त्रियो के मतानुसार पाँच प्रकार की माँग की लोच होती है। एक तो **पूर्ण लोचदार माँग** होती है। इसमें कीमत मे थोडी-सी कमी होने पर माँग बहुत अधिक बढ जाती है। दूसरी **आपेक्षाकृत लोचदार माँग** होती है। कीमत मे थोडी-सी कमी होने पर माँग मे अपेक्षाकृत काफी अधिक वृद्धि होगी। अर्थात् उतनी कीमत नही घटेगी जितनी माँग बढ जावेगी। तीसरा प्रकार वह है, जब माँग **सम** रहेगी। इसका वर्णन ऊपर कर चुके है। चौथी माँग **आपेक्षाकृत बेलोच** हो सकती है। इसमे कीमत मे थोडी-सी बदली होने से माँग मे कोई विशेष बदली नही होती। पाँचवा प्रकार **पूर्ण बेलोच माँग** का है। यह तब होता है, जब कीमत मे चाहे जो बदली हो, माँग बिलकुल नहीं बदलती।

मांग की लोच किन बातो पर निर्भर है? (अ) **शौक की वस्तुओं की माँग लोचदार होती है, परन्तु आवश्यक वस्तुओं की मांग बेलोच होती है।** क्योकि आवश्यक वस्तुओ पर खर्च होनेवाली रकम पहिले से मालूम रहती है और वह बँधी हुई होती है। कीमत चाहे जो हो आवश्यक वस्तुएँ हमे खरीदनी ही पडेगी। परन्तु कीमत बढने पर शौक की चीजो की खरीद बन्द कर दी जा सकती है। परन्तु 'आवश्यक', 'शौक की' ये शब्द यहा तुलनात्मक अर्थ मे उपयोग किये जाते है। किसी व्यक्ति या कुछ व्यक्तियो के लिये जो शौक की वस्तु है, वह दूसरे के लिये आवश्यक हो सकती है। इसलिये किसी वस्तु की मॉग की लोच समाज के विभिन्न वर्गो के लिये विभिन्न प्रकार की होती है। जो वस्तु एक वर्ग के लिये शौक की चीज है, वही दूसरे वर्ग के लिये आवश्यक हो सकती है। इसलिये उसी चीज की लोच मे उन दोनो वर्गों के लिये भेद हो जायगा। परन्तु जो वस्तुएँ जीवन के लिये आवश्यक है, उन सबकी मॉग सब वर्गो के लिये बेलोच होती है। जो वस्तुएँ कृत्रिम या मानी हुई आवश्यकताओ मे शामिल है, उनकी भी मांग बेलोच होती है। क्योकि उनका उपयोग आदत मे शामिल हो जाता है, जो जल्दी नही छोडी जा सकती है। परन्तु कई वस्तुएँ जो कार्यक्षमता या योग्यता सम्बन्धी आवश्यकताओ मे शामिल है, उनके लिये गरीब तथा निम्न मध्यम श्रेणी की मॉग तो लोचदार होती है और धनिक वर्ग की माँग बेलोच होती है। (ब) **यदि कोई वस्तु ऐसी है कि उसके बदले में अन्य वस्तुओं का उपयोग हो सकता है तो उस वस्तु की माँग लोचदार होगी।** 'ट्रामकार' और 'बस' एक दूसरे के बदले मे उपयोग मे आ सकती हैं। यदि 'बस' वाले ज्यादा किराया लेने लगे तो बहुत से लोग ट्रामकार मे चढने लगेगे। अर्थात् यदि 'बस' की सवारी की कीमत बढ जाती है, तो उसकी माँग मे काफी कमी हो जायगी। (स) **यदि वस्तु के कई प्रकार के उपयोग हो सकते हैं तो उसकी माँग लोचदार होगी।** उदाहरण के लिये बिजली ले लीजिये। इस समय प्रति इकाई के भाव से बिजली की जो कीमत है, उसके कारण लोग बिजली का उपयोग केवल रोशनी के लिये करते है। परन्तु यदि प्रति इकाई कीमत कम हो जाय तो लोग बिजली का उपयोग भोजन बनाने, ठड मे कमरा गरम रखने इत्यादि के लिये करने लगे। इसलिये कीमत गिरने पर माँग बढ सकती है। (ड) **यदि वस्तु का उपयोग भविष्य के लिये टाला जा सकता है, तो उसकी मांग लोचदार होती है।** उदाहरण के लिये मेरा जूता पुराना हो चला है। यदि जूतो के दाम कम है, तो हम पुराने जोडे को फेक कर नया जोडा खरीद सकते है, परन्तु यदि जूतो के दाम ऊँचे है तो हम यह सोचते हैं कि यह पुराना जोडा कुछ दिन और चलाया जाय, तथा नया जोडा बाद मे खरीद लेगे। इस परिस्थिति मे कम दाम पर मॉग अधिक होगी। परन्तु जो वस्तुएँ हमारी दैनिक आवश्यकता की है और जिनका उपयोग भविष्य के लिये नही टाला जा सकता उनकी मांग बेलोच होती है, जैसे कि चावल। (ट) **बहुत ऊँची कीमत और मामूली**

मॉग की लोच किन बातों पर निर्भर है?

लोच किन बातों पर निर्भर है।

क़ीमत पर माँग लोचदार होती है। पर बहुत नीची कीमत पर बेलोच होती है। है। जब किसी वस्तु की कीमत प्राय बहुत ऊँचा रहती है या काफी ऊँची रहती है, तब दामो मे थोडी-सी कमी होने पर धनी वर्ग उसे अधिक मात्रा मे खरीदेगा। परन्तु जब किसी वस्तु की कीमत पहिले से ही काफी कम रहती है, जिससे वह सब लोगो की पहुँच के भीतर रहती है और सबकी आवश्यकता पूरी हो जाती है, तब कीमत मे थोडी सी घटी-बढी होने पर उसकी माग मे घटी-बढी नही होती। (ट) यदि किसी व्यक्ति की कुल आमदनी का किसी वस्तु पर बहुत थोड़ा हिस्सा खर्च होता है तो उस वस्तु की माँग बेलोच होगी।

सैद्धान्तिक और प्रत्यक्ष समस्याओं के सम्बन्ध में लोच के नियम का महत्व।

मूल्य और कर के सिद्धान्तो के सम्बन्ध मे माँग की लोच का नियम बहुत महत्वपू है। इस नियम से हम यह जानते है कि किसी वस्तु की कीमत मे घटी-बढी होने उसके उपयोग पर क्या असर पडेगा। यदि उस वस्तु की पूर्त्ति थोडी बढ जाती है घट जाती है, तो कीमत कितनी घटेगी या बढेगी। जिस व्यक्ति के पास किसी वस् का एकाधिकार (monopoly) रहता है, उसके लिये तो इस नियम प्रत्यक्ष उपयोगिता है। यदि माँग बेलोच है, तो उस लिये ऊँची कीमत रखना लाभप्रद होगा। तब वह अ एकाधिकार से अधिक से अधिक मुनाफा प्राप्त कर सक है। परन्तु यदि माँग बहुत लोचदार है, तो वह अ एकाधिकार से अधिक से अधिक मुनाफा पाने के लि कम कीमत रखेगा। इसी प्रकार कर की समस्याओ भी हम यह जान सकते है कि विभिन्न वस्तुओ पर जो कर लगाये गये है, उनका वस्तुओ के उपभोग पर क्या असर पड रहा है। यह असर हम उन वस्तुओ की माँग लोच के अवलोकन द्वारा जान सकते है।

प्रतिस्थापन सिद्धान्त या सम सीमान्त उत्पत्ति नियम (The Principle Substitution or the Law of Equi-marginal Returns) - विनिमय कार्यो के सम्बन्ध मे जो अनुभव होते है, उन्ही के आधार पर प्रतिस्थापन या बदलने का सिद्धान्त बनाया गया है।

हम एक वस्तु दूसरी से तब तक बदलते जाते है, जब तक कि दोनो से प्राप्त तृप्ति बराबर नहीं हो जाती।

हम क के बदले मे ख का विनिमय करते है, क्योकि क की एक मात्रा के लिये हमारी इच्छा कम है और ख की एक मात्रा के लिये हमारी इच्छा अधिक है। इस प्रकार विनिमय के प्रत्येक कार्य से हमारी तृप्ति की मात्रा बढती है। परन्तु जैसे-जैसे हम क की मात्राएँ ख की मात्राओ के बदले मे देते चलते है, वैसे-वैसे क की प्रत्येक मात्रा की उपयोगिता बढती जाती है (क्योकि हमारा क का सचय या भाडार कम होता जाता है) और ख की प्रत्येक मात्रा की उपयोगिता कम होती जाती है (क्योकि हमारा ख का सचय बढता जाता है)। जो उपयोगिता हम दे रहे है, वह तब तक मिलने वाली उपयोगिता से कम रहती है, जब तक हम देते जाते

है, अर्थात् विनिमय करते जाते है। परन्तु एक स्थिति ऐसी आती है, जब क की प्रत्येक मात्रा की उपयोगिता जिसे हम देते है और ख की प्रत्येक मात्रा की उपयोगिता जिसे हम लेते है, ठीक बराबर होती है। इसके बाद विनिमय बन्द हो जायगा। क्योकि हमे उससे कोई लाभ नही। प्रतिस्थापन के नियम का आधार यही है। चाहे उपभोक्ता की हैसियत से चाहे उत्पादक की हैसियत से, हम सब एक वस्तु की बदली या प्रतिस्थापन दूसरी वस्तु से किया करते है, जब तक कि हमे इस प्रकार के विनिमय से अधिक उपयोगिता मिलती जाती है। जब हमे एक वस्तु के बदले मे दूसरी वस्तु से अधिक उपयोगिता मिलनी बन्द हो जाती है, तब हम बदली बन्द कर देते है। इस स्थिति पर हमे प्रत्येक मात्रा से जो उपयोगिता मिलती है, वह बराबर है और सब मात्राओ से जो उपयोगिता मिलती है, वह अधिक से अधिक है।

इसलिये प्रतिस्थापन सिद्धान्त को सम-सीमान्त उत्पत्ति नियम भी कहते है। एक वस्तु को दूसरी से बदल कर एक व्यक्ति अपने द्रव्य की प्रत्येक मात्रा से बराबर सीमान्त उपयोगिता प्राप्त करना चाहता है। यह नियम उपभोग, उत्पादन और वितरण मे लागू होता है, क्योकि इनमे से प्रत्येक एक प्रकार का वितरण कहा जा सकता है।

सम-सीमांत उत्पत्ति नियम।

उपभोग के सम्बन्ध मे यह नियम यह कहता है कि हम सब अपनी आमदनी को विभिन्न वस्तुओ और सेवाओ पर इस प्रकार वितरण करना चाहते है कि प्रत्येक वस्तु से हमे बराबर सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। हमारी आवश्यकताएँ अनन्त है, परन्तु उन्हे उपभोग करने के लिये समय सीमित है और अधिकाश लोगो के पास अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिये पर्याप्त साधन भी नही रहते। चूँकि हम सब अपनी आमदनी से अधिक से अधिक तृप्ति चाहते है, इसलिये हम अपनी कुल आमदनी विभिन्न वस्तुओ पर इस प्रकार खर्च करना चाहते है कि हमे प्रत्येक वस्तु से बराबर सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। यदि किसी समय कोई व्यक्ति यह सोचता है, कि सिगार की अपेक्षा चाय पर एक रुपया खर्च करने से उसे अधिक तृप्ति मिलेगी, तो वह अधिक सिगार खरीदने के बदले अधिक चाय खरीदेगा। जिस वस्तु से हमे अधिक उपयोगिता मिलती है, उसको हम कम उपयोगिता देनेवाली वस्तु से तब तक बदलते जाते है, जब तक दोनो से प्राप्त होनेवाली सीमान्त उपयोगिता बराबर नही हो जाती।

उपभोग के सम्बन्ध मे।

चित्र न० ४ सम-सीमान्त उत्पत्ति का नियम समझाता है। अब पर द्रव्य की मात्राएँ है और अस पर उपयोगिता की मात्राएँ, जो चाय या सिगार पर द्रव्य खर्च करने से प्राप्त हुई है। चाय पर खर्च करने से जो सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हुई, उसे टट[1] रेखा बतलाती है और सिगार पर खर्च करने से जो सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हुई उसे दद[1] रेखा बतलाती है। चित्र यह बतलाता है कि यदि उपभोक्ता सिगार पर अब द्रव्य की मात्रा खर्च करता है तो वह चाय पर अ ख द्रव्य की मात्रा खर्च करेगा, क्योकि,

तब कक[1] (सिगार पर खर्च की गई द्रव्य की एक मात्रा की सीमान्त उपयोगिता) खख[1] (चाय पर खर्च की गई द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता) के बराबर होती है।
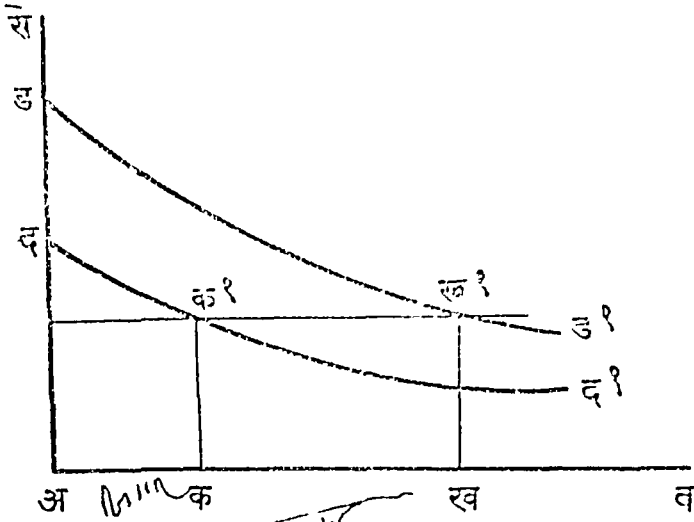
चित्र न० ४

लेकिन हम अपनी आमदनी चाहे इस समय उपयोगिता प्राप्त करने मे खर्च कर दे, चाहे भविष्य मे। अर्थात् हम चाहे तो इसी समय अपनी आमदनी खर्च कर दे, चाहे कभी भविष्य मे। हम अपने कुल खर्च का प्रबन्ध इस प्रकार करेगे कि इस समय के खर्च की किसी वस्तु की एक मात्रा से और भविष्य के खर्च की किसी वस्तु की मात्रा से बराबर उपयोगिता प्राप्त हो।

उत्पादन में।

उत्पादन के क्षेत्र मे कोई भी उत्पादक अपने साधनो का वितरण उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रो मे इस प्रकार करेगा कि उसका कुल लाभ अधिकतम हो। वह बराबर अपने मन मे उत्पादन के विभिन्न साधनो की सीमान्त उपयोगिताओ की तुलना करता रहता है। ये भूमि, पूंजी और श्रम है यदि कभी वह ऐसा सोचता है कि अधिक मजदूरो की अपेक्षा अधिक मशीनो का उपयोग करने से अधिक लाभ होगा, तो वह ऐसा ही करेगा। यदि वह सोचता है कि एक एकड अधिक जमीन खरीदने की अपेक्षा मकान मे एक खड अधिक बनवाने में कम खर्च पडेगा, तो वह जमीन न खरीदकर मकान मे एक खड ओर बनवा लेगा। अर्थात् वह अधिक भूमि की अपेक्षा अधिक पूंजी और मजदूरी का उपयोग करेगा। इस प्रकार वह अपनी लागत का उपयोग इस तरह करेगा कि उसकी लागत की प्रत्येक मात्रा की सीमान्त उत्पत्ति बराबर होगी, चाहे वह मात्रा भूमि मे लगी हो, चाहे श्रम मे और चाहे पूंजी में। इसी प्रकार एक किसान अपनी भूमि मे अधिक जूट अथवा अधिक चावल पैदा कर सकता है। यदि वह देखता है कि चावल की अपेक्षा अधिक जूट पैदा करने मे लाभ अधिक होगा तो वह अधिक जूट ही उत्पन्न करेगा। इस तरह

उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में, चाहे उद्योग मे, चाहे कृषि मे, उत्पादक अपने साधन इस चीज पर अथवा उस चीज पर अथवा एक साथ कई चीजो पर इस प्रकार लगा सकता है कि प्रत्येक चीज की सीमान्त उत्पत्ति बराबर होती है।

वितरण मे। वितरण के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे इस नियम से यह पता चलता है कि उत्पादन में किस साधन का कितना हिस्सा है। यदि हम उत्पादन कार्य के सगठन पर सम्पूर्ण रूप से विचार करे तो देखेगे कि उत्पादन का प्रत्येक साधन दूसरे साधन के द्वारा बदला जा सकता है। हम देख चुके हैं कि प्रत्येक उत्पादक व्यवसायी अपनी लागत भूमि, श्रम, पूंजी, और सगठन मे इस प्रकार वितरित करता है और वहा तक वितरित करता है कि प्रत्येक साधन की प्रत्येक मात्रा की सीमान्त उत्पत्ति बराबर होती है। इस स्थिति मे प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पत्ति उससे होनेवाले लाभ से नापी जाती है।

इस प्रकार हम देखते है कि आर्थिक क्षेत्र मे प्रतिस्थापन का नियम बहुत महत्वपूर्ण है। इस नियम का सम्बन्ध क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम या घटती उपयोगिता नियम (Law of diminishing utility) और क्रमागत ह्रास या घटती उत्पत्ति नियम (Law of diminishing returns) से बहुत घनिष्ठ है। यदि किसी वस्तु के सचय मे बढती के साथ-साथ उपयोगिता घटने के बजाय बढती जाती तो कोई व्यक्ति एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु का उपयोग करने की बात न सोचता। चूंकि हमे किसी वस्तु की अधिकाधिक मात्राओ से क्रम से घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है, इसलिये हम अन्य वस्तुएँ खरीदने की बात सोचते हैं। इसी प्रकार उत्पादन क्षेत्र में अन्य वस्तुओ के यथास्थिति रहते हुए यदि किसी एक साधन की अधिकाधिक मात्राओ का उपयोग करने से उत्पत्ति घटने के बजाय बढती जाती तो कोई भी उत्पादक व्यवसायी एक साधन के बदले दूसरे साधन के उपयोग करने की बात न सोचता।

यहाँ आलोचना के रूप मे यह कहा जा सकता है कि यह नियम मनुष्य स्वभाव को बहुत तर्कपूर्ण और हिसाब-किताब करनेवाला मान लेता है। वास्तविक जीवन मे खर्च करते समय हम एक वस्तु की उपयोगिता की तुलना दूसरी वस्तु की उपयोगिता के साथ नही करते है। प्राय हम आदत या प्रेरणा के वश होकर खरीद करते हैं। परन्तु जैसा कि चेपमेन ने लिखा है 'हम अपनी आमदनी का वितरण प्रतिस्थापन नियम या सम-सीमान्त खर्च के अनुसार करने के लिये विवश नही है, जैसा कि ऊपर फेका गया पत्थर एक प्रकार से नीचे गिरने के लिये विवश है। परन्तु फिर भी एक मोटे हिसाब से हम इस नियम का पालन करते है, क्योकि हममे तर्कबुद्धि है।[1] इस नियम से हम दो महत्वपूर्ण बाते जान सकते हैं। उपभोग के सम्बन्ध मे इस नियम का उपयोग करके हम द्रव्य

[1] *Chapman*, Outlines of Political Economy, p. 48.

सीमान्त उपयोगिता जान सकते है। द्रव्य की एक अधिक मात्रा की जो उपयोगिता होगी वही द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता है। यदि द्रव्य की उस अधिक मात्रा की उपयोगिता वही न रहती, चाहे वह उस वस्तु की सीमा पर खर्च की जाय, चाहे उस वस्तु की सीमा पर, तो हम निश्चित रूप से द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता के सम्बन्ध मे कुछ न कह सकते। क्योकि तब विभिन्न वस्तुओ के साथ-साथ द्रव्य की उपयोगिता भी बदलती रहती।

अधिकतम तृप्ति का नियम।

इस नियम के आधार पर एक और नियम बनता है, जिसे **अधिकतम तृप्ति का नियम** (Doctrine of Maximum Satisfaction) कहते है। जब सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर होती है, तब पूर्ण उपयोगिता अधिकतम होती है। एक उदाहरण लेते है। मान लो, एक मनुष्य चाय अथवा सिगार पर ५ रुपये खर्च कर सकता हैं। जाहिर है कि वह अपने रुपये से अधिकतम तृप्ति चाहेगा। अब मान लो कि चाय पर १ रुपया खर्च करने से उसे ८ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। चाय पर दूसरा रुपया खर्च करने से उसे ७ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। यदि चाय पर वह तीसरा रुपया खर्च करे तो उसे ५ रुपये के बराबर तृप्ति मिलेगी। चाय पर चौथे रुपये से उसे ३ रुपये के बराबर तृप्ति मिलेगी और पाँचवे रुपये से १ रुपये के बराबर। अब यदि वह सिगार पर एक रुपया खर्च करता है, तो उसे ६ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है और सिगार के ऊपर दूसरे रुपये से ५ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। तीसरा रुपया जब वह सिगार पर खर्च करता है, तो उसे ४ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। चौथे रुपये से २ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है और अन्तिम रुपये से केवल एक रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है।

जब सीमांत उपयोगिताएं बराबर होती है, तब पूर्ण उपयोगिता अधिकतम होती है।

यदि वह पूरे ५ रुपये सिर्फ चाय पर खर्च करता है, तो उसे २४ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। यदि वह पूरे ५ रुपये सिर्फ सिगार पर खर्च करता है तो उसे १८ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। यदि वह एक रुपया सिगार पर और ४ रुपये चाय पर खर्च करता है तो उसे २९ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। यदि वह २ रुपये सिगार पर और ३ रुपये चाय पर खर्च करता है, तो उसे ३१ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। परन्तु यदि वह ३ रुपये सिगार पर और २ रुपये चाय पर खर्च करता है, तो उसे ३० रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। इस प्रकार हम देखते है कि जब वह २ रुपये सिगार पर और ३ रुपये चाय पर खर्च करता है, तब उसे सबसे अधिक तृप्ति मिलती है और द्रव्य की अन्तिम मात्रा की उपयोगिता अर्थात् चाय पर खर्च की गई सीमान्त उपयोगिता (अर्थात् ५) सिगार पर खर्च की गई सीमान्त उपयोगिता के ठीक बराबर है (अर्थात् वह भी ५ है)।

इसलिये जब सीमांत उपयोगिताएँ बराबर होती है, तब पूर्ण उपयोगिता (total utility) अधिकतम होती है। इसे अधिकतम तृप्ति का नियम कहते हैं।

उपभोक्ता की बचत (Consumer's Surplus)—उपभोक्ता की बचत का नियम घटती उपयोगिता के नियम से बनाया गया है। हम किसी वस्तु को जो कीमत देते है, वह केवल सीमान्त उपयोगिता बतलाती है, पूर्ण उपयोगिता नही। केवल सीमान्त मात्रा पर जिसे खरीदार किसी तरह खरीदने को राजी हो जाता है, कीमत ठीक उतनी तृप्ति के बराबर होती है, जितनी वह उस मात्रा से पाने की आशा करता है। लेकिन वह जो दूसरी मात्राएँ खरीदता है, उन पर उसे अधिक तृप्ति मिलती है। इन मात्राओ के लिये वह जितनी कीमत देता है, उससे अधिक देने को तैयार हो जायगा। वस्तुएँ खरीदने से उपभोक्ता को जितनी तृप्ति मिलती है और उनके लिये दाम देने से उसे जितनी तृप्ति छोड देनी पडती है, इन दोनो का अन्तर उपभोक्ता की बचत का आर्थिक नाप है। उपभोक्ता को जो अधिक तृप्ति मिलती है, वही उसकी बचत है। यह 'अधिक' तृप्ति क्या है? खरीदी हुई वस्तुओ की उपयोगिता और न खरीदी हुई वस्तुओ की उपयोगिता का जो अन्तर है, वही यह 'अधिक' है। यदि उसे इच्छित वस्तु न मिलती तो वह अपना द्रव्य अन्य वस्तुओ पर खर्च करने को बाध्य होता। परन्तु इनसे उसे पहिले के बराबर तृप्ति न मिलती।

घटती उपयोगिता के नियम से बना है।

अपने विचारो को ठीक-ठीक प्रकट करने के लिये हम जूतो का उदाहरण ले लें, जैसे हम पीछे दे चुके है। जैसा पहिले कह चुके है, जूते के पहिले जोडे से एक व्यक्ति को कम से कम ६ रुपये के बराबर तृप्ति मिलती है। दूसरे जोडे से वह ५ रुपये के बराबर अधिक तृप्ति की आशा करता है। तीसरे जोडे से वह ४ रुपये के बराबर अधिक तृप्ति की आशा करता है। मान लो, वह किसी तरह तीन जोडे जूते खरीदने पर राजी होता है, अधिक नही। चूँकि बाजार मे एक कीमत से अधिक नही हो सकती, अर्थात् केवल एक दाम हो सकता है, इसलिये प्रत्येक जोडे का मूल्य सीमान्त जोडे के हिसाब से होगा। अर्थात् ४ रुपया होगा। वह तीनो जोडे के लिये कुछ मिलाकर १२ रुपये (४×३) देगा। परन्तु हमारे उदाहरण के अनुमान के अनुसार वह तीनो जोडो से १५ रुपये (६ रु० +५ रु०+४ रु०) के बराबर तृप्ति पाता है। इसलिये अपनी खरीद पर वह जो खर्च करता है, उससे ३ रुपये (१५ रु०−१२ रु० = ३ रु०) अधिक की तृप्ति का भोग करता है। इसलिये पूर्ण उपयोगिता और सीमांत उपयोगिता मे जो अन्तर होता है, उससे

खरीदी हुई मात्राओं का गुणा करने से जो गुणनफल आता है, वही उपभोक्ता बचत बतलाता है।
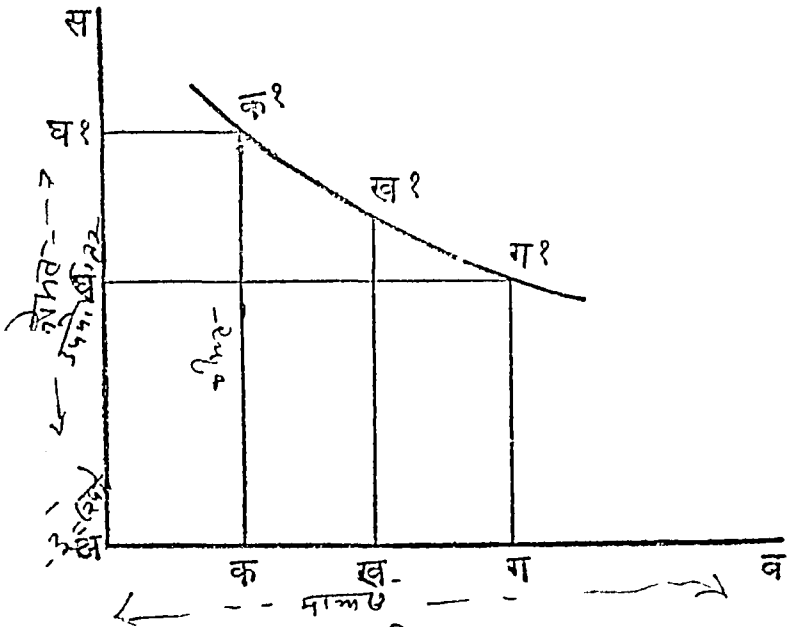
चित्र नं० ५

किसी वस्तु के उपभोग से किसी व्यक्ति को जो उपभोक्ता की बचत होती है, चित्र नं० ५ में दिखाई गई है। इस चित्र मे अस रेखा पर कीमत अथवा उपयोगि नापी गई है। अव रेखा पर मात्राएँ नापी गई है। किसी वस्तु की अक मात्रा के लि एक मनुष्य कक१ कीमत देने के लिये तैयार है। अर्थात् वह कम से कम अकक१ मात्रा मे तृप्ति की आशा करता है। नही तो वह कक१ के बराबर कीमत देने तैयार न होगा। अ ख मात्रा के लिये खख१ के बराबर कीमत देगा। अर्थात् कख मात्रा से कखख१क१ मात्रा मे तृप्ति पाने की आशा करता है। खग मा के लिये वह गग१ कीमत देगा। अर्थात् उससे वह खगग१ख१ क्षेत्रफल के बरा तृप्ति पाने की आशा करता है। मान लो वह अक, कख और खग, ये तीन मा गग१ कीमत पर खरीदता है। तो वह जितनी कुल रकम खर्च करता है, वह अगग क्षेत्रफल (अर्थात् अग × गग१) के बराबर है। इसलिये अक, कख और मात्राओ के खरीदने से उपभोक्ता को घग१क१घ१ क्षेत्र के बराबर अधिक तृ मिलती है।

मार्शल के मतानुसार अधिक तृप्ति की मात्रा हमारे सामने आनेवाले अव (opportunities) या हमारे मन के भावो पर निर्भर होती है। आधु सभ्यता में बहुत-सी वस्तुएँ बडी आसानी से और कम खर्च पर बनती है। इसलिये वे

कीमत पर बिकती भी है। परन्तु उनसे जो तृप्ति मिलती है, वह बहुत अधिक होती है। परन्तु किसी वस्तु से हमे जो तृप्ति मिलती है, कम सभ्य जातियो मे उसका महत्त्व नही होता। उनके लिये वह प्राय व्यर्थ उत्पादन होता है।

उपभोक्ता की बचत मापने मे कठिनाइयाँ (Difficulties of Measuring Consumers Surplus)—द्रव्य के रूप मे उपभोक्ता की बचत मापने मे कई प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पडता है। यह बात मान लेनी पडती है कि कम या अधिक द्रव्य खर्च करने से द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता पर उसका असर नही पडता। यदि पडता भी है, तो वह इतना कम पडता है, कि हमे उस पर ध्यान देने की आवश्यकता नही है। यह अनुमान तभी उचित हो सकता है, जब किसी वस्तु पर किया गया खर्च कुल आमदनी का बहुत छोटा भाग हो। परन्तु जब हम ऐसी वस्तुओ का विचार करते है, जिन पर हमारी आमदनी का काफी बडा भाग खर्च होता है, तब खर्च की कमी-वेशी द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता पर अवश्य असर डालेगी और उसे बदल देगी, तब हमारे नतीजो मे अन्तर पड़ जायगा।

हमें यह मानना पड़ता है कि द्रव्य की सीमांत उपयोगिता कभी नही बदलेगी।

यह कठिनाई वास्तविक है और इससे इस सिद्धान्त की उपयोगिता पर काफी बडी रोक लग जाती है। इस सम्बन्ध मे 'मार्शल' का कहना है कि यह कठिनाई तो सभी आर्थिक समस्याओ मे पाई जाती है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे यह कोई विशेष बात नही है। जे० आर० हिक्स[1] ने इस कठिनाई का एक हल बतलाया है। उसका मत है कि इस समस्या पर विचार करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उपभोक्ता की बचत को एक प्रकार से आमदनी मे वृद्धि समझनी चाहिये, जो किसी वस्तु की कीमत गिरने से प्राप्त होती है। मान लो एक मनुष्य १० पैसे जोडे के हिसाब से ४ जोडे सतरे खरीदेगा। यदि कीमत गिरती है और सतरा ६ पैसे जोडा हो जाता है, फिर भी वह ६ पैसे जोडे के हिसाब से केवल ४ जोडे सतरे खरीदने का निश्चय करता है। तब उसकी द्रव्य-आमदनी चार आना बढ जावेगी और उसे वह अन्य वस्तुओ पर खर्च कर सकता है। सम्भावना तो यह है कि सतरो की कीमत अपेक्षाकृत अधिक गिरने के कारण वह सतरो पर ही अधिक खर्च करेगा और अन्य वस्तुओ पर कम। इससे उसे लाभ ही होगा। जो भी हो, हम यह कह सकते है कि सतरो की कीमत गिरने के कारण उसे जो उपभोक्ता की बचत होगी, वह चार आने से कम न होगी।

दूसरी कठिनाई तब उठती है, जब बाजार में किसी वस्तु के कुल उपयोग के आधार पर उसकी उपभोक्ता की कुल बचत द्रव्य के रूप मे निश्चित करनी पडती है। जिस व ७

[1] *J R Hicks*, Value and Capital, pp 38-41.

सम्पत्ति-भेद।

में धनी और गरीब सभी वर्गों के लोग होंगे, उसमें गरी आदमी के लिये एक रुपया खर्च करना धनी आदमी क अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके सिवा यदि सब आदमि की आमदनी बराबर भी होती तो भी उनकी रुचि और विचारो मे तो अन्तर होता है

रुचि-भेद।

एक आदमी किसी वस्तु की इच्छा दूसरे आदमी की अपे अधिक प्रगाढता से कर सकता है। तब वह उसके लि अधिक कीमत देने के लिये तैयार होगा। अथवा जो कीम दूसरा आदमी देगा, वही कीमत देकर भी पहिले आदमी की तृप्ति अधिक होगी, क कि इसकी इच्छा अधिक प्रगाढ थी। लेकिन ये कठिनाइयाँ ऐसी नही है कि इनके का बाजार मे उपभोक्ता की बचत न मापी जा सके। क्योंकि जब हम बहुत से लोगो उदाहरण लेते है, तब हम औसत नियम (law of averages) की सहाय ले सकते है। एक तरफ जहाँ थोडे से धनी लोगो की सम्पत्ति और रुचि रहती है, व दूसरी तरफ समतुलन के लिये बहुत से लोगो की गरीबी रहती है। इसलिये हम इन औरा रुचि के विभेदो को छोड सकते है।

पैटन आदि कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि कोई मनुष्य जब किसी वस्तु अधिकाधिक मात्राएँ खरीदता है, तब पहिले खरीदी हुई मात्राओ के लिये उसकी इच्छा

जैसे-जैसे हम अधिक मात्राए खरीदते है वैसे-वैसे पहिले की मात्राओ की उपयोगिता कम होती जाती है।

की प्रगाढता कम हो जाती है। अर्थात् जैसे-जैसे उसकी खरीद बढती जाती है, वैसे-वैसे तृप्ति के साथ-साथ पहिले खरीदी हुई मात्राओ के लिये उसकी माँग की कीमत (demand price) कम होती जाती है। इसलिये हमारे उपभोक्ता की बचत का माप सही नही होता। हमने पीछे जूतो का उदाहरण लिया था। उसे ही देख लिया जाय। जब मनुष्य जूते का पहिला जोडा खरीदता है, तब उसकी उपयोगिता घटने लगती है और जब वह तीसरा जोडा खरीदता है, तब उसकी उपयोगिता ६ पये से बहुत कम हो जाती है। "लेकिन इस बात की सम्भावना बहुत कम है कि उपभोग मे थोडा-सा अन्तर होने से पहिले की मात्राओ की उपयोगिता पर अधिक प्रभाव पडेगा। क्योंकि उपभोग की 'समानता' (commonness') मे अन्तर अनुभव करने के लिये उपभोग में काफी अन्तर की आवश्यकता है।"[1] इसके सिवाय इस आलोचना मे एक त्रुटि यह भी है कि माँग के अनुसार कीमत (demand price) की सूची बनाने की रीति के बारे मे भी यह गलत विचार करती है। यह आलोचना तब उचित होती, जब माँग के अनुसार कीमत की सूची मात्राओ की औसत-उपयोगिता बतलाती। हमने जो उदाहरण लिया है, उसमे जूते के पहिले जोडे की उपयोगिता

---

[1] *Pigou*, 'Some Remarks on Utility' in the Economic Journal 1903, p 65

८ रुपया है। जब वह दूसरा जोडा ५ रुपये मे खरीदता है, तब दोनो जोडो की औसत-उपयोगिता साढे पाँच रुपये होगी। जब वह तीसरा जोडा ४ रुपये मे खरीदता है, तब एक जोडे की औसत उपयोगिता ४ रुपये होती है। इसलिये यदि हमारी माँग-रेखा केवल औसत उपयोगिता दिखाती, तब यह होता कि जैसे-जैसे कोई मनुष्य किसी वस्तु की अधिकाधिक मात्राएँ खरीदता, वैसे-वैसे प्रारम्भिक मात्राओ की औसत उपयोगिता कम होती जाती। लेकिन माँग के अनुसार कीमत की सूची अधिक मात्राओ की अधिक उपयोगिता (additional utility) दर्शाती है। खरीदार को दूसरे जोडे से जो उपयोगिता मिलती है, वह पहिले जोडे से मिली हुई उपयोगिता के अलावा (in addition to) है और यह उपयोगिता ५ रुपये के बराबर है। इसलिये बाद की खरीद का पहिले की खरीद पर प्रभाव नही पडता। इसलिये यह आलोचना सही नही है।

हम पूरी माँग सूची नहीं जानते।

एक अन्य कठिनाई यह है कि हम माँग-रेखा के प्रारम्भ के हिस्से नही खीच सकते, क्योकि वे शुद्ध अनुमान पर अवलम्बित होते है। यदि हमे यह खतरा है कि कोई वस्तु हमे बिलकुल नही मिलेगी तो हम यह नही कह सकते कि हम उस वस्तु की कितनी कीमत देने को तैयार होगे। उदाहरण के लिये यदि ससार भर मे केवल एक जोडा जूता प्राप्त होता तो हम नही कहते कि उसके लिये कहाँ तक कीमत मिल सकती है। केवल अनुमान द्वारा हम कोई भी कीमत बता सकते है। इसलिये किसी वस्तु की माँग-कीमत केवल अनुमान मात्र है। हम उसका अनुमान चालू दामो के आस-पास लगाते है। लेकिन यह कठिनाई केवल सैद्धान्तिक (theoritical) है, और वह भी बहुत जटिल नही है। क्योकि जहाँ तक नियम के प्रत्यक्ष प्रयोग का प्रश्न है, वह तो चालू दामो के आस-पास की कीमतो में फरक आने से उपयोगिता मे जो अन्तर आते है उनसे सम्बन्धित है। कीमतो मे छोटे-छोटे अन्तर होने से उपभोक्ता की कुल बचत मे जो अन्तर होता है, उससे हमारा सम्बन्ध है। उसे हम ऐसे मापना चाहते है, जैसे करो की समस्या मे। और इस काम के लिये हमारी माँग के अनुसार कीमत की सूची काफी तर्कपूर्ण रहती है, यद्यपि उसमे कुछ त्रुटियाँ होती है।

बदली जाने वाली वस्तुओं के कारण कठिनाइयां।

सहायक अथवा बदली जानेवाली वस्तुओ के कारण भी उपभोक्ता की बचत मापने मे कुछ कठिनाई होती है। बदली जानेवाली वस्तुओ का सबसे अच्छा उदाहरण चाय और काफी है। यदि चाय बिलकुल न मिले तो लोग काफी पीने लगे। यद्यपि चाय न मिलने से उनकी तृप्ति मे बहुत हानि होगी। परन्तु यदि चाय और काफी दोनो न मिले तो हानि बहुत होगी, क्योकि फिर चाय के बदले काफी न मिलेगी। इसलिये यदि यह मान ले कि चाय न मिलेगी तो काफी तो मिलेगी स्थिति मे दोनो की जो उपयोगिता है, उससे अधिक एक साथ चाय और का।

की पूर्ण उपयोगिता अधिक है। इसलिये यदि हम चाय और काफी से मिलनेवाली कु
उपयोगिता को जोड दे तो भी दोनो के उपभोग मे मिलनेवाली कुल तृप्ति को वह नह
माप सकती। इस कठिनाई को हल करने के लिये मार्शल का कहना है कि ऐसी स्थिति
मे हमे चाय और काफी दोनो वस्तुओ को एक वस्तु मानना चाहिये और इन वदले
जानेवाली वस्तुओ को एक माँग-सूची में रखनी चाहिये।

जो वस्तु जीवन की आवश्यकताओ में शामिल है, उसकी पूर्ण उपयोगिता निश्चित
करनी बहुत मुश्किल है। ऐसी वस्तुओ के उपभोग से जो तृप्ति मिलती है, वह बहुत

जीवन की आवश्यकताओं से मनुष्य को प्रतिकूल और अनिश्चित तृप्ति मिलती है।

प्रतिकूल (negative) होती है। अर्थात् स्वय उनके
उपभोग से कोई तृप्ति नही मिलती। परन्तु यदि वे न मिले
तो हमे वडी भारी कमी मालूम होगी। उनसे वचित रहने के
वजाय हम अपना सव कुछ उन पर खर्च करने को तैयार हो
जायँगे। इस स्थिति मे उपभोक्ता की वचत अनिश्चित
रहती है। केवल जीवन की आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे नही, वरन् **कृत्रिम आवश्यकताओ के सम्बन्ध में भी** यही हाल होता है। इस कठिनाई को हल करने के लिये हम
पैटन (Patten) का सुझाव मानकर 'सकटमय अर्थनीति' (pain economy) और 'आनन्दमय अर्थनीति' (pleasure economy) दो भेद
कर सकते है। पहिली स्थिति वह है, जव मनुष्य केवल अपनी जीवन-रक्षा के लिये
अत्यन्त आवश्यक वस्तुओ का उपभोग करता है, जिससे, भूख, प्यास, सर्दी-गरमी
से उसकी रक्षा हो सके। किसी प्रकार की तृप्ति पाने के लिये नही, वरन् कष्ट से वचने
के लिये वह उपभोग करता है। पहिली स्थिति के समाप्त होते ही दूसरी स्थिति आरम्भ
होती है। तव मनुष्य के पास जीवन रक्षा के लिये साधन रहते है। यहाँ से अनुकूल तृप्ति
आरम्भ होती है। उपभोक्ता की वचत केवल दूसरी स्थिति मे मापी जा सकती है।

इसी प्रकार जो वस्तुएँ केवल व्यक्तिगत प्रदर्शन या भद्रता की इच्छा पूरी करती है
उनकी भी उपभोक्ता की पूर्ण वचत वहुधा अनिश्चित होती है। ये वस्तुएँ (जैसे हीरे)

उच्चता प्रदर्शन की वस्तुओं की उपभोक्ता की वचत अनिश्चित होती है।

केवल उच्चता और भद्रता देने का मूल्य रखती है। यदि
उनकी ऊँची कीमत घटकर काफी कम हो जाय तो उनसे
प्राप्त होनेवाली तृप्ति भी काफी कम हो जायगी। उदाहरण
के लिये यदि इस समय हीरो की कीमत काफी कम हो जाय
तो हीरा पहिननेवालो के लिये उसकी उपयोगिता कम हो
जायगी। इसलिये इस प्रकार की वस्तुओ की कीमत कम होने से उपभोक्ता की वचत की
मात्रा हमेशा नही वढती।

प्रोफेसर निकलसन (Prof Nicholson) को उपभोक्ता की वचत के
[illegible]न की उपयोगिता में गहरा सदेह है। वह कहते है कि यह कहने से क्या लाभ कि

सैद्धान्त मनगढन्त और असत्य है।

१०० पौंड प्रति वर्ष की आय १००० पौंड प्रति वर्ष की आय के बराबर है। उनके मतानुसार यह सिद्धान्त कोरा मनगढन्त ओर मनमाना है। परन्तु ऐसा कहना सही नही है। यदि हम भूतकाल की परिस्थितियो की तुलना वर्तमान काल से करें अथवा एक देश की परिस्थितियो की तुलना दूसरे देश की परिस्थितियो से करे तो हमें अपनी परिस्थितियो से जो लाभ प्राप्त होते है, उन्हे हम इस सिद्धान्त की सहायता से जान सकते है। जैसा मार्शल ने कहा है, यदि हम मध्य अफ्रीका ओर लण्डन की परिस्थितियो की तुलना करे तो हमे इस प्रश्न के औचित्य का पता चलेगा। जीवन के बहुत से सुख जो लडन मे प्राप्त है, मध्य अफ्रीका मे देखने को नही मिलते। तब हम कह सकते है कि मध्य अफ्रीका मे १००० पोड की आमदनीवाला मनुष्य उतना ही सुखी है, जितना लडन मे १०० पौंड की आयवाला मनुष्य। इसके सिवाय यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि हम आमदनी की कुल उपयोगिता नही जानना चाहते। हम तो यह जानना चाहते हैं, कि दामो मे थोडी-बहुत कमी होने से उपभोक्ता की बचत मे क्या अन्तर पडता है और इसके लिये 'मार्शल' ने जो उपाय बतलाया है, वह यद्यपि सीमित कार्यशक्ति वाला है, परन्तु उससे हमारा काम चल सकता है।"[1]

यद्यपि उपभोक्ता की बचत का माप सदा ठीक करना सम्भव नही है, परन्तु यह सिद्धान्त भी बिलकुल कल्पित नही है। चूंकि वह हमारे साधारण विचारो के आधार पर बना है, इसलिये वह मनगढन्त अथवा असत्य नही है। "चाहे यह बचत उपभोग की निम्न श्रेणी में साफ जाहिर न हो, जहाँ केवल जीवन-रक्षा की वस्तुएँ खरीदी जाती है। अथवा चाहे यह उपभोग की उच्च श्रेणी मे साफ जाहिर न हो, जहाँ केवल प्रदर्शन की इच्छा की तृप्ति की जाती है। परन्तु जिसे हम जीवन का सच्चा आनन्द कह सकते है, वहाँ यह साफ जाहिर होता है।"

नियम की सैद्धान्तिक और प्रत्यक्ष उपयोगिता (Theoritical and Practical Utility of the Doctrine)—उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त की रचना सबसे पहिले मार्शल ने की थी। उसने लिखा है कि उसका ध्येय परिचित भाषा को ठोस रूप मे रखना था, जिसमे कि अधिक अध्ययन मे सहायता मिल सके। इस सिद्धान्त से हमे यह महत्त्वपूर्ण बात मालूम होती है कि किसी वस्तु की कीमत उससे प्राप्त होनेवाली तृप्ति को हमेशा ठीक-ठीक नही बतलाती। वह केवल इस बात का सतोषप्रद उत्तर देती है कि नमक जैसी साधारण

यह उपयोगिता और कीमत मे अन्तर मापता है।

[1] *Pigou*, 'Some Remarks on Utility' in the Economic Journal, 1903, p. 66.

उपयोग की वस्तुओ की उपयोगिता और कीमत मे बहुत अन्तर होता है और इस सिद्धान्त की सहायता से हम उस अन्तर को एक मोटे तरीके से जान सकते है। दूसरे इस सिद्धान्त की सहायता से हम वास्तविक आय की मात्राओ की तुलना कर सकते है। अथवा यह जान सकते है कि किसी देश के एक मनुष्य को दूसरे देश के मनुष्यो की अपेक्षा जीवन की कितनी सुविधाएँ प्राप्त है। अथवा भूतकाल की अपेक्षा वर्तमान समय मे जीवन की कितनी सुविधाएँ प्राप्त है। तीसरे, एकाधिकार प्राप्त व्यवसायी के लिये यह सिद्धान्त उपयोगी हो सकता है। वह अपनी वस्तुओ के दाम इतने ऊचे रख सकता है कि किसी खरीदार के लिये उपभोक्ता की बचत की गुजाइश न रह जायगी। परन्तु उस हालत मे उसे खरीदारो के विरोध अथवा सार्वजनिक हस्तक्षेप का खतरा हो सकता है। इसलिये अपना एकाधिकार सुरक्षित रखने के लिये वह दाम कुछ कम रखेगा, जिससे उपभोक्ता की बचत के लिये कुछ गुंजाइश अवश्य रहे। यदि उसमे सार्वजनिक हित की भावना है, अथवा अपने व्यवसाय-प्रसार की चिन्ता है, तब तो वह अवश्य दाम कुछ कम रखेगा, जिससे उपभोक्ता की बचत के लिये भी कुछ गुंजाइश रहे। किसी वस्तु के दाम कम रखने से लोग उसके उपयोग से परिचित हो जायगे, जिससे उसकी माँग बढ़ेगी और अन्त मे उससे मुनाफा भी अधिक प्राप्त होगा। चौथे, जैसा मार्शल ने कहा है कि विभिन्न देशो के लोगो को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय से जो लाभ होता है, उसे उपभोक्ता की बचत के रूप मे मापा जा सकता है। **पाँचवें, कर सम्बन्धी समस्याओं के सम्बन्ध मे इस सिद्धान्त का विशेष महत्व है।** इसकी सहायता से अर्थमन्त्री यह जान सकता है कि यदि चीनी अथवा नमक पर कुछ आना प्रति मन कर अधिक बढ़ा दिया जावे तो उपभोक्ता की बचत मे कितनी हानि होगी। यदि वस्तु ऐसी है कि उसमे क्रमागत वृद्धि का नियम लागू होता है कि उस पर जितना कर लगेगा उससे अधिक कीमत मे वृद्धि कर दी जायगी। परन्तु यदि उस वस्तु पर क्रमागत ह्रास का नियम लागू है, तो कीमत मे वृद्धि कर की मात्रा से कम रहेगी। इसलिये दूसरी स्थिति की अपेक्षा पहिली स्थिति मे उपभोक्ता की बचत की हानि अधिक होगी। साधारणत अन्य वस्तुओ के यथास्थिति रहने से पहिले की अपेक्षा दूसरी स्थिति का कर अधिक अवाछनीय है। परन्तु जहाँ व्यवसाय मे सरकारी सहायता दी जाती है, वहाँ पहिली स्थिति का कर वाछनीय होगा। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त का सम्बन्ध अर्थशास्त्र के कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो और समस्याओ से है और अर्थशास्त्र मे सत्य की शोध का वह एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

विभिन्न समय की परिस्थितियो की तुलना कर सकते है।

एकाधिकार सिद्धान्त की समस्याओं के सम्बन्ध मे यह महत्वपूर्ण है।

अध्याय ६

उत्पादन क्या है ?

(What is Production ?)

साधारण बातचीत में उत्पादन का अर्थ भौतिक वस्तुएँ बनाना होता है। लेकिन मनुष्य पदार्थ नही बना सकता। वह तो प्रकृति की देन है। प्रकृति के दिये हुए जो भौतिक पदार्थ है, मनुष्य उनका केवल रूप और आकार बदल सकता है। हम पत्थर का कोयला अथवा कच्चा लोहा नही बना सकते। उनका केवल उपयोग कर सकते है। जो कोयला पृथ्वी के गर्भ मे छिपा रहता है, वह बाहर लाया जा सकता है और उसका विविध प्रकार से उपयोग किया जा सकता है। 'कोयले के उत्पादन' से हमारा यही अर्थ होता है। मनुष्य का श्रम पदार्थ का एक अणु भी उत्पन्न नही कर सकता। इसलिये उत्पादन का अर्थ भौतिक पदार्थो का उत्पन्न करना नहीं हो सकता।

मनुष्य पदार्थ नहीं, उपयोगिता उत्पन्न करता है।

अर्थशास्त्र में उत्पादन का अर्थ उपयोगिता उत्पन्न करना होता है। मनुष्य पदार्थ को बदलकर अधिक उपयोगी और कीमती बना देता है। जगल मे सागौन उपयोगी रहता है, परन्तु जब वह शहरो मे लाया जाता है तब और अधिक उपयोगी हो जाता है। उनमे अधिक उपयोगिता जुड जाती है। इसलिये उसे जगल से शहर मे लाने का कार्य उत्पादक कार्य है। फिर मनुष्य उस सागौन से कुरसी, टेबिल इत्यादि बनाकर उनका उपयोग करते है। तब उनकी उपयोगिता सागौन से अधिक हो जाती है। इसलिये यह भी एक उत्पादक कार्य है।

तीन प्रकार की उपयोगिताएं।

तीन प्रकार की उपयोगिता उत्पन्न की जा सकती है—पहिला रूप की उपयोगिता, दूसरा स्थान की उपयोगिता और तीसरा समय की उपयोगिता। जब किसी वस्तु के रूप, रग, वजन, गन्ध अथवा अन्य गुणो मे ऐसी बदली कर दी जाती है कि उसमे कुछ ऐसी उपयोगिता आ जाती है, जिससे उसकी मनुष्य की आवश्यकताएँ पूरी करने की शक्ति बढ जाती है, तब उसे रूप सम्बन्धी उपयोगिता उत्पन्न करना कहते है। फिर जहाँ कोई वस्तु बहुतायत से पैदा होती है, वहां से ऐसे स्थान मे लाया जा सकता है, जहाँ वह बहुत कम पैदा होती है। फल यह होता है कि उसकी उपयोगिता बढ जाती है। इस प्रकार की उपयोगिता को स्थान सम्बन्धी उपयोगिता कहते है। व्यवसायी लोग स्थान सम्बन्धी उपयोगिता उत्पन्न करते है। अन्तिम वर्ष के एक मौसम मे कोई वस्तु बहुतायत से हो सकती है और

दूसरे मौसम मे बहुत कम। अथवा एक वर्ष कोई वस्तु बहुत अधिक पैदा हो सकती है और दूसरे वर्ष बहुत कम। इसलिये यदि कोई वस्तु एक ऋतु से दूसरी ऋतु तक अथवा एक वर्ष से दूसरे वर्ष तक सुरक्षित रखी जा सकती है, तो उसकी उपयोगिता नष्ट जाती है। यह सुरक्षित रखने का कार्य समय सम्बन्धी उपयोगिता उत्पन्न करता है।

उत्पादक और अनुत्पादक श्रम (Productive and Unproductive Labour)—अरिस्टॉटल (Aristotle) के समय से यह विचार प्रचलित है कि कुछ प्रकार का श्रम तो विशेष महत्त्वपूर्ण होता है और कुछ साधारण। अरिस्टॉटल के विचार मे कुछ कार्य, जैसे कृषि, 'स्वाभाविक' थे और कुछ जैसे व्यवसाय और विनिमय 'अस्वाभाविक' थे। इस विचार को विभिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रकट किया। व्यापार मे सोना-चाँदी-प्रधानतावाद के सिद्धान्त के समर्थक (Mercantilists) अर्थशास्त्रियो के मत मे सबसे अच्छा धन्धा वह विदेशी व्यापार था, जिसके कारण देश मे सोना-चाँदी इत्यादि बहुमूल्य धातुओ का काफी आयात होता था। परन्तु भूमि प्रधानतावादी (Physiocrats) अर्थशास्त्री व्यवसायी वर्ग को एक बाँझ या अनुत्पादक वर्ग समझते थे, जिससे प्रत्यक्ष उत्पादन के रूप मे कुछ भी नही प्राप्त होता था। उनके मत मे कृषि सबसे उत्तम धन्धा था, क्योकि उसमे प्रकृति से बहुत अधिक उत्पादन प्राप्त होता था। ऑडम स्मिथ (Adam Smith) ने उत्पादन सम्बन्धी विचारो को और विस्तृत किया। उसने न केवल कृषि वरन् सब प्रकार के व्यवसाय और उनसे सम्बन्धित सब पेशो को उत्पादक ठहराया। **उसके मत मे केवल वह श्रम उत्पादक था, जो बिकने वाले पदार्थ या भौतिक पदार्थ बनाता था।** केवल शारीरिक श्रम करनेवाले मजदूर ही नही, परन्तु काम करनेवाले मैनेजर, इजीनियर, फोरमैन इत्यादि का काम भी उत्पादक समझा जाता था। तब भी ऑडम स्मिथ ने बहुत से लोगो के कामो को अनुत्पादक ठहराया, जिनमे न केवल सेवा-टहल करनेवाले नोकर-चाकर और गाने-नाचनेवाले तथा नाटको मे काम करनेवाले कलाकार शामिल थे, वरन् कुछ गम्भीर और महत्त्वपूर्ण काम करनेवाले लोग भी उसमे शामिल थे, जैसे धर्म-पुरोहित, वकील, डाक्टर, साहित्यकार और शायद अर्थशास्त्री भी।

केवल उन मजदूरों का काम उत्पादक समझा जाता था, जो भौतिक वस्तुएँ बनाते थे।

भौतिक वस्तुओ के उत्पादन के आधार पर श्रम का उत्पादक और अनुत्पादक वर्गीकरण जॉन स्टुअर्ट मिल नामक अर्थशास्त्री ने भी अपनी रचनाओ मे स्वीकार किया। लेकिन इन लेखको ने यह नही समझा कि इस प्रकार के वर्गीकरण से कई प्रकार के विरोधी प्रश्न खडे हो जाते है। गायको का उदाहरण ले लिया जाय। एक गायक का श्रम अनुत्पादक समझा जाता था, क्योकि उससे भौतिक वस्तुओ का उत्पादन नही होता था। लेकिन संगीत सम्बन्धी बाजे बनानेवाले का श्रम उत्पादक समझा जाता था। यदि बाजो

 करनेवाले गायको का श्रम अनुत्पादक समझा जाता था, तो फिर बाजा ही

क्यो बनाया गया ? और बाजा बनाने का श्रम क्यो उत्पादक समझा जावे ? यदि बाजा बनानेवाले का श्रम उत्पादक है, तो उस बाजे के उपयोग करनेवाले का श्रम भी उत्पादक है। जैसा कहा जा चुका है, मनुष्य स्वय पदार्थ उत्पन्न नही करता। वह तो प्रकृति द्वारा दिये गये पदार्थो की केवल उपयोगिता बढा देता है।

जिस श्रम से मनुष्य की आवश्यकताएं पूरी होती हैं वह उत्पादक है।

आधुनिक विचार यह है कि **जिन मनुष्यों के श्रम से मनुष्य की आवश्कताओं की पूर्ति होती है, उन सब को उत्पादक श्रमिक समझा जाना चाहिये।** जब तक एक मनुष्य आवश्यकता समझकर कोई वस्तु खरीदता है, अथवा किसी सेवा के लिये दाम देता है और उससे तृप्ति पाता है, तब तक उसमे लगा हुआ श्रम उत्पादक है ?' इस दृष्टि से शिक्षक, वकील, सैनिक और न्यायाधीश इन सबका श्रम उत्पादक है। इस प्रकार के उत्पादक वर्ग के लोगो से केवल उनको अलग किया जायगा जो अपना श्रम पूरा नही कर सके। अथवा जिन्होने ऐसी वस्तुएँ बनाई, जिनकी माँग नही थी।

जिस श्रम से सुख समृद्धि नही बढ़ती क्या वह भी उत्पादक है।

अब प्रश्न यह है कि जिन मनुष्यो के श्रम से प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से भौतिक सुख की बढती नही होती, क्या उनका श्रम भी उत्पादक समझा जाना चाहिये। एक मामूली दवा बनानेवाले नीमहकीम का उदाहरण ले लो। क्या उसका श्रम उत्पादक है ? उत्तर मे हमे 'हाँ' कहना पडेगा क्योकि जब तक उसकी वस्तुओं के खरीदार लोग है, जो इन चीजो के दाम देने को तैयार है, तब तक हम यही समझेंगे कि उन्हे उन वस्तुओ से तृप्ति प्राप्त होती है। जिन वस्तुओ और सेवाओ से आर्थिक सुख नही बढता, यदि हम उन्हे त्यागने लगे तो समझ मे नही आयगा कि हम कहाँ रुके।

उत्पादन के साधन (Factors of Production)—जितने उत्पादन काम होते है, वे सब कई साधनो के सहयोग से होते है। प्राचीन अँगरेज अर्थशास्त्रियों (classical economists) ने उत्पादन के तीन साधन माने थे—भूमि, श्रम और पूँजी। अर्थशास्त्र मे भूमि का अर्थ केवल पृथ्वी का धरातल नही है। भूमि मे वे सब वस्तुएँ और शक्तियाँ शामिल है, जिन्हे प्रकृति मनुष्य की सेवा के लिये जमीन, पानी, हवा, प्रकाश और तेज अथवा गरमी के रूप मे देती है। उसमे कृषि के लिये जमीन, नदिया, खदाने, धूप इत्यादि शामिल है। श्रम मे मनुष्य के वे सब शारीरिक और बौद्धिक काम शामिल है, जो केवल आनन्द के लिये किये जाते है। श[illegible] से लेकर कुली तक प्रत्येक श्रमिक है। प्रकृति द्वारा दिये हुए साधनो मे हम अपने [illegible] का उपयोग करके कुछ भौतिक वस्तुएँ प्राप्त करते है, जिनका उपयोग उत्प[illegible] मे किया जाता है। ये वस्तुएँ एक तो हमारे पिछले श्रम का फल है अ[illegible]

इस समय उत्पादन कार्य मे लगाते है। इन्हे पूंजी कहते है। परन्तु व्यवसाय सगठन जैसे-जैसे बढता गया, वैसे-वैसे यह जाहिर होने लगा कि उत्पादन कार्य मे एक चौथा स्वतन्त्र साधन भी सहायता करता है। इस चौथे साधन को सगठन कहते है।

किसी व्यवसाय को सगठित करके उसे चलाने के श्रम को सगठन कहते है। आजकल उत्पादन कार्य बहुत बडे पैमाने पर होता है, इसलिये सगठन का महत्त्व बहुत अधिक है। सगठन का मुख्य कार्य उत्पादन के विभिन्न साधनो को इस प्रकार उचित अनुपात में जुटाना है कि कम से कम लागत मे अधिक से अधिक उत्पादन हो सके।

अध्याय ७

भूमि

(Land)

अर्थशास्त्र मे भूमि का अर्थ किसी देश के सब प्राकृतिक साधन होते है। इसलिये भूमि मे पूरा क्षेत्रफल, सब प्रकार की जमीने, जलवायु, गरमी, हवा, धूप, जगल, खनिज-पदार्थ, नदियाँ, समुद्र तथा मछलियो के स्थान, जल-विद्युत-शक्ति इत्यादि शामिल है। मनुष्य जीवन मे भूमि का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उससे मकानो, कारखानो, बगीचो के लिये स्थान मिलता है, जीवित रहने के लिये भोजन मिलता है और तरह-तरह के पदार्थ मिलते है, जिनकी सहायता से मनुष्य अपने विभिन्न कार्य करता है। भूमि के सम्बन्ध में अर्थशास्त्री की दृष्टि मे सबसे महत्वपूर्ण बात यह होती है कि अन्य साधनो की अपेक्षा भूमि की पूर्त्ति बहुत बेलोच होती है। उत्पादन के अन्य साधनो की तरह भूमि की पूर्त्ति सरलतापूर्वक और जल्दी नही बढाई जा सकती। जैसे-जैसे किसी देश की जनसख्या बढती है, वैसे-वैसे प्रति मनुष्य पीछे भूमि का भाग कम होता जाता है। जब प्रति मनुष्य पीछे भूमि का भाग कम होता जाता है, तो प्रति श्रमिक पीछे उत्पादन की मात्रा भी कम होती जाती है। अर्थशास्त्र मे इस प्रवृत्ति को क्रमागत ह्रास नियम या घटती उपज का नियम कहते है।

क्रमागत ह्रास का नियम (The Law of Diminishing Returns)—क्रमागत ह्रास का नियम अर्थशास्त्र के बहुत महत्त्वपूर्ण नियमो मे से है। यह किसानो के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर बना है। कहा जाता है कि सबसे पहिले स्कॉटलैंड के एक किसान ने इस नियम का प्रतिपादन किया था। एक अनुभवी किसान जानता है कि ट जमीन पर वह लाभ पाने की लालसा से असीमित उपज पैदा नही कर सकता।

किसी जमीन के टुकडे को वह जैसे-जैसे अधिक श्रमपूर्वक जोतता है उसको वैसे अनुपात मे अधिक उपज नही मिलती। यदि एक किसान अपनी जमीन दुगुने परिश्रम और लागत से जोतता है, तो सभव है कि पहिली बार उसकी उपज दुगुनी अथवा दुगुनी से भी अधिक हो जावे। परन्तु यदि दूसरी बार वह फिर अपने श्रम ओर लागत को दुगना कर देता है तो पहिले बार की अपेक्षा अब उसे दुगुनी उपज नही मिलेगी, उपज दुगुनी से कम रहेगी। यही क्रमागत ह्रास का नियम है, जिसे मार्शल ने इन शब्दो मे कहा है। "कृषित भूमि में लगी हुई पूँजी ओर श्रम की मात्रा बढाने मे साधारणत उपज की मात्रा अनुपात मे कम बढती है, यदि इसी बीच मे कृषि-कला मे कोई उन्नति न हो।"

इस नियम को इस प्रकार समझाया जा सकता है। नीचे दिये हुए खानो मे यह बतलाया गया है कि तीन बीघा जमीन पहिले एक मजदूर जोतता है, फिर दो, फिर तीन और इसी प्रकार मजदूरो की सख्या बढती जाती है। प्रत्येक मजदूर के पास एक हल तथा कृषि के अन्य औजार है। जमीन मे खाद्य ओर सिचाई का समुचित प्रबन्ध है।

भूमि	मजदूर	कुल उपज	अधिक उपज
३ बीघा	१ मजदूर	३५ मन	
३ ,,	२ ,,	७५ ,,	४० मन
३ ,,	३ ,,	११२ ,,	३७ ,,
३ ,,	४ ,,	१४२ ,,	३० ,,

तीसरे खाने मे प्रत्येक बार की कुल उपज दिखाई गई है और अन्तिम खाने मे अधिक मजदूरो के लगाने से जो अधिक उपज बढती है, वह दिखाई गई है।

उपरोक्त टेबुल के खानो से यह साफ जाहिर है कि पहिले मजदूर के सिवाय एक और मजदूर उपयुक्त औजारो के साथ जब भूमि में लगाया जाता है, तब उपज पहिले की अपेक्षा दुगुनी से भी अधिक हो जाती है परन्तु जब उसी जमीन मे तीसरा मजदूर लगाया जाता है, तब उपज उसी अनुपात मे नही बढती। यही से क्रमागत ह्रास शुरु होता है।

चित्र नम्बर ६ की वक्र रेखा घटती उपज का नियम दर्शाती है। अब रेखा किसी जमीन मे लगी हुई पूँजी और श्रम दिखलाती है। अस रेखा अधिक उपज दिखलाती है। सभव है कि जमीन पहिले अच्छी तरह नही जोती जाती थी, इसलिये जब पूँजी और श्रम की अधिक मात्राएँ उसमे लगाई जाती है, तब उपज का अनुपात अधिक होना है। रेखा का कख भाग यह दिखलाता है। जब ख स्थिति पहुँच जाती है, तब अधिक

और श्रम की मात्राएँ लगाने से उपज बढ़ेगी, पर घटते हुए अनुपात मे बढेगी। इसलिये ख बिन्दु के बाद रेखा नीचे को झुकने लगती है।
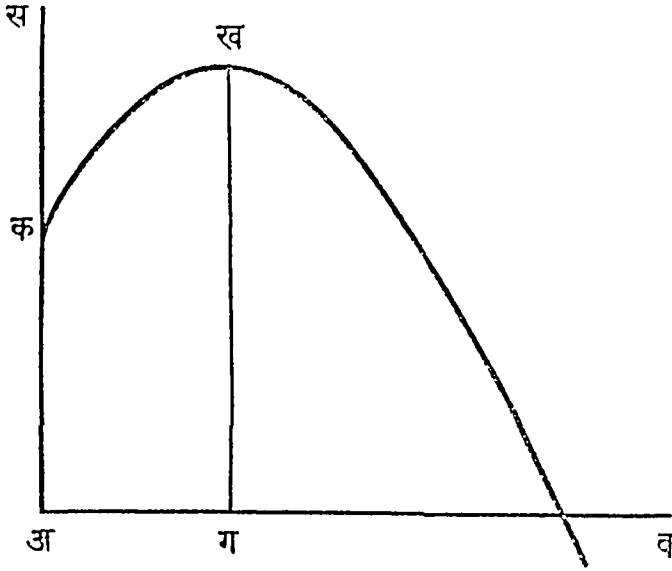
चित्र न० ६

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि नियम का सम्बन्ध कीमत से नही है। उसका सम्बन्ध केवल उपज की कुल मात्रा से है। दूसरी बात यह भी ध्यान मे रखनी चाहिये कि नियम यह नही कहता कि उत्पत्ति घटती है। उत्पत्ति तो बढती है, पर वह लगातार घटती हुई दर से बढती है। यह घटती हुई बढती का उदाहरण है। तीसरी बात ध्यान में रखने की यह है कि उत्पत्ति मे जो कमी होती है, वह लगातार कृषि होती रहने के कारण, जमीन की उपजाऊ शक्ति कम होने के कारण नही होती है। क्रमागत ह्रास नियम की व्याख्या करते समय हम यह मान लेते है कि उतने समय के लिये जमीन की उपजाऊ शक्ति मे कोई अन्तर नही पडता। जमीन के एक निश्चित भाग मे पूँजी और श्रम की अधिक मात्राओ का उपयोग करने से उपज घटती मात्रा मे पैदा होगी अथवा उपज मे क्रमागत ह्रास होगा। बात यह है कि सामाजिक दृष्टि से उत्पादन के अन्य साधनो की अपेक्षा भूमि की अधिक पूर्त्ति सीमित है। यद्यपि उत्पादन के चारो साधनो मे से किसी भी साधन की पूर्त्ति अनत नही है, परन्तु अन्य साधनो की अपेक्षा भूमि की पूर्त्ति अधिक बेलोच है। आधुनिक सभ्यता मे भूमि की अपेक्षा श्रम और पूंजी की पूर्त्ति अधिक शीघ्रता से बढ रही है। इसलिये भूमि की पूर्त्ति जैसे-जैसे कम होती जाती है, वैसे-वैसे उसमें अधिक पूँजी और श्रम लगाने की अवश्यकता होती है और जैसे-जैसे यह किया जाता है, वैसे-वैसे कुल उत्पत्ति क्रमागत ह्रास से बढती है अथवा घटती हुई दर से बढती है।

नियम का सम्बन्ध उत्पत्ति से है, कीमत से नहीं।

क्रमागत ह्रास की क्रिया दो प्रकार से देखने मे आती है। एक तो अधिक उपज पैदा करने की जरुरत पडने पर किसान घटिया किस्म की जमीन जोतना आरम्भ कर दे। अथवा वह उस जमीन को जोते जिसकी स्थिति पहिली जमीन की अपेक्षा खराब है। अर्थात् वह जमीन ऐसे स्थान पर है, जहाँ पहिली जमीन के समान सुविधाएँ नही है। इसलिये इस स्थिति मे उसकी उत्पत्ति मे श्रम की लागत पर क्रमागत ह्रास होगा। यह विस्तृत कृषि (extensive cultivation) कहलाती है। दूसरी बात यह हो सकती है कि जिस जमीन को किसान पहिले से जोतता आता है, उसी मे वह अधिक पूँजी और श्रम लगावे। इसमे भी उसकी उपज पहिले की अपेक्षा कम होगी। इसको गहरी कृषि (intensive cultivation) कहते है। मार्शल ने यह मान लिया था कि किसान जमीन के एक टुकडे मे श्रम और पूँजी क्रमागत 'मात्राओ' मे लगता है और प्रत्येक मात्रा मे पूँजी और श्रम निश्चित और बँधे होते है। जैसे-जैसे किसान अपनी जमीन मे पूँजी और श्रम की अधिकाधिक मात्राएँ लगाता है,वैसे-वैसे उसकी उपज प्रत्येक मात्रा पीछे घटती जाती है। एक स्थिति ऐसी आयेगी, जब पूँजी और श्रम की किसी मात्रा के पीछे जो अधिक उत्पत्ति होगी वह उत्पत्ति उस मात्रा मे लगी हुई पूँजी और श्रम की कीमत के बराबर होगी। इस मात्रा को सीमान्त मात्रा कहते हैं। जिस जमीन मे यह मात्रा लगायी जायगी, उसे सीमान्त मात्रा कहते है।

इस नियम की शर्तें।

यह नियम कुछ अनुमानो पर आधारित है। पहिला अनुमान तो यह है कि जमीन पर कृषि-कार्य अच्छे से अच्छे तरीको से होता है। उसमे आवश्यक पूँजी और श्रम लगाया जा चुका है। यह हो सकता है कि कोई जमीन इतनी लापरवाही से जोती गई है और उसमे इतना कम परिश्रम किया गया है कि उसमे अधिक पूँजी और श्रम लगाने से उपज मे क्रमागत ह्रास नही बल्कि वृद्धि होगी। इसलिये हमे यह मान लेना पडता है कि जमीन खूब अच्छी तरह से जोती गई है। दूसरे यह मान लेना पडता है कि कृषि सम्बन्धी ज्ञान और तरीके वही रहते है। नये साधन नही खोजे जाते, कृषि सम्बन्धी कोई नया वैज्ञानिक अनुसन्धान नही प्राप्त होता, और कृषि के तरीको मे कोई परिवर्तन नही होता। यदि किसी वैज्ञानिक खोज अथवा उत्पादन कला मे कोई परिवर्तन होने के कारण जमीन की उपज बढ जाती है तो कुछ समय के लिये क्रमागत ह्रास नियम की क्रिया बिलकुल रुक सकती है। उदाहरण के लिये सन् १९१९-२० ई० के बाद कृषि मे मशीनो तथा वैज्ञानिक तरीको का उपयोग काफी बडे पैमाने पर होना शुरू हुआ। उसका फल यह हुआ कि खाद्यान्नो की उपज बहुत अधिक बढ गई। इन परिस्थितियो मे नियम की क्रिया कुछ समय तक रुक जाती है। लेकिन उसकी क्रिया बिलकुल बन्द नही होती। क्योकि वह प्रवृत्ति तो मौजूद रहती ही है और जैसे ही मनुष्य अपने वैज्ञानिक अनुसन्धान बन्द करता है, वैसे ही वह प्रवृत्ति फिर क्रियाशील हो जाती है। जो लोग इस नियम की सत्यता में विश्वास नहीं करते, वे इस बात को भूल जाते है कि यदि यह नियम सत्य नहीं होता तो

सारे ससार के पालन-पोषण के लिये आवश्यक अन्न केवल एक एकड भूमि जोतकर प्राप्त किया जा सकता था।

कृषि के सिवाय उत्पादन के अन्य क्षेत्रों मे इस नियम की क्रिया (The Law of Diminishing Returns as applied to spheres of Production other than Agriculture)—अभी तक हमने इस नियम की क्रिया का विचार कृषि के सम्बन्ध मे किया है। परन्तु इस नियम की क्रिया की सत्यता उत्पादन के अन्य क्षेत्रो मे भी उतनी ही सत्य है, जितनी कृषि मे। खदानो, शहरो की भूमि, मछलीगाहो इत्यादि उद्योगो के सब क्षेत्रो मे इस नियम की क्रियाशीलता दिखती है। यदि खोजने की कला मे कोई उन्नति न हो तो खदानो मे इस नियम की क्रियाशीलता दिखती हे। यह सम्भावना तो रहती ही है कि जल्दी अथवा देर मे किसी खदान के खनिज पदार्थ खतम हो जावेंगे। परन्तु इसके सिवा भी अधिक उत्पत्ति के लिये गहरी खुदाई करनी पडती है और जितनी अधिक गहरी खुदाई होती जाती है, उस खनिज पदार्थ का मूल्य भी उतना बढता जाता है। क्योंकि गहरी खुदाई पर लागत अधिक लगती है। पदार्थ को ऊपर लाने मे भी खर्च अधिक पडता है। जब खदाने गहरी होती जाती है, तब उनका ऊपर का छत अधिक मजबूत बनाना पडता है। उसमे भी खर्च अधिक लगता है, अधिक प्रकाश और हवा का प्रबन्ध करना पडता है। इस प्रकार खोदने का खर्च बढता जाता है। साथ ही जैसे-जैसे खुदाई गहरी होती जाती है, वैसे-वैसे पदार्थ की उत्पत्ति भी कम होती जाती है।

खदानों के सम्बन्ध मे।

शहरो की जमीन मे भी इस नियम की क्रिया देखने मे आती है। आजकल लोहे की बल्लियो और सीकचो की सहायता से पचास खड के गगनचुम्बी भवन बनाये जा सकते है। लेकिन उनमे भी एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि अधिक खण्ड बनाने से लाभ कम होने लगता है। जैसे-जैसे अधिक खण्ड जुडते जाते है, वैसे-वैसे नीचे के खडो में हवा और प्रकाश की कमी होती जाती है, ऊपर सामान चढाने का खर्च बढता जाता है और उनकी देख-रेख का खर्च भी बढता जाता है। इस प्रकार क्रमागत ह्रास की प्रवृत्ति अपना काम करने लगती है।

शहरों की भूमि मे।

मछलीगाहो में, विशेषकर नदियो में इस नियम की क्रिया हम देख सकते है। जमीन की उपजाऊ शक्ति की तरह, नदियो मे मछली की उत्पत्ति भी सीमित होती है। इसलिये एक समय ऐसा आ जाता है, जब अधिक पूंजी और श्रम लगाने से भी मछली की जो मात्रा पकडने मे आती है, वह बराबर घटती हुई दर से आती है। परन्तु समुद्र के मछलीगाहो में चूंकि मछली की पूर्ति बहुत अधिक रहती है, इसलिये यह प्रवृत्ति प्रायः देखने मे नहीं आती।

मछलीगाहों में।

परिवर्तनशील अनुपात नियम (The law of variable proportions)

अब यह अधिकाधिक स्वीकार किया जा रहा है कि क्रमागत ह्रास नियम केवल भूमि पर लागू नही होता। नियम की परिभाषा करते समय हम यह मान लेते हैं कि भूमि की मात्रा तो निश्चित रहती है और अन्य वस्तुओ की मात्राएं बढते हुए परिमाण मे भूमि मे लगाई जाती हैं। इस स्थिति मे कुल उत्पत्ति घटती हुई दर से बढती है। परन्तु यह बात उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र मे सत्य है। जब उत्पादन के एक साधन की मात्रा बँधी हुई रहती है और उसके सहयोगी अन्य साधनो की मात्राओ का उपयोग अधिकाधिक मात्राओ मे किया जाता है तब कुल उत्पत्ति घटती हुई दर से बढती है।

आधुनिक लेखक परिवर्तनशील अनुपात नियम (law of variable proportions) की बहुधा चर्चा किया करते है। यह सभव हो सकता है कि किसी कारण से उत्पादन के एक साधन की मात्रा न बढ़ाई जा सके। अथवा बढाई जानेवाली मात्रा घटिया किस्म की हो सकती है। यदि उत्पत्ति बढानी आवश्यक है तो उस साधन की सीमित मात्रा के साथ उत्पादन के अन्य साधन मिलाये जायँगे। अथवा घटिया गुणो-वाले उसी मात्रा के अधिक परिमाण के साथ अन्य साधन मिलाये जायँगे। फल यह होगा कि जो अधिक उत्पत्ति होगी उसका उत्पादन-खर्च भी बढा हुआ होगा। यह मानना आवश्यक नही है कि उत्पादन के साधन उचित अनुपातो मे नही मिलाये गये। उद्योगपति के पूर्ण कार्यकुशल होते हुए भी यह हो सकता है कि उत्पादन के किसी साधन की मात्रा बढानी सभव न हो। भूमि के सम्बन्ध में यही विशेषता है। अच्छी भूमि की मात्रा तो सीमित है। यदि फसलो की उत्पत्ति आवश्यक हो जाती है तो या तो घटिया प्रकार की भूमि जोतनी पडेगी, या फिर अच्छी भूमि की पहिले की अपेक्षा गहरी कृषि करनी पडेगी। इसलिये कुल उत्पत्ति उसी अनुपात मे नही बढेगी। यही हाल पूंजी तथा अन्य साधनो का है। यदि एक कुशल उद्योगपति पूंजी की मात्रा सीमित रखे तथा अन्य साधन अधिक मात्रा में लगावे तो भी जो अधिक उत्पत्ति होगी उसका लागत खर्च प्रति मात्रा पीछे अधिक होगा। जब उत्पत्ति बढाई जायगी तो उत्पादन का सीमान्त लागत खर्च अधिक होगा। जब उत्पादन के एक साधन अथवा एक से अधिक साधन सीमित मात्रा मे होते है तथा उनके साथ अन्य साधन अधिकाधिक मात्रा मे मिलाये जाते है, तब यह प्रवृत्ति देखने में आती है। इसलिये हम यह कह सकते है कि क्रमागत ह्रास का नियम उत्पादन के सब क्षेत्रो मे लागू होता है।

अध्याय ८

श्रम की पूर्ति और जनसंख्या के सिद्धान्त

(Supply of Labour and Theories of Population)

श्रम की पूर्ति (Supply of Labour)—उत्पादन के जितने साधन है, उनमें मनुष्य सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। किसी देश के उत्पादन की मात्रा उसके कुल उपलब्ध मजदूरवर्ग पर निर्भर होती है। इसलिये जनसख्या की समस्या काफी महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य उत्पादन का केवल साधन नही है, वह उसका ध्येय भी है। अर्थात् उत्पादन मनुष्य के उपभोग के लिये होता है। इसलिये जनसख्या की समस्या का महत्त्व अर्थशास्त्री के लिये दुगुने महत्त्व का है। वह मनुष्य को सम्पत्ति के उत्पादक और उपभोक्ता दोनों दृष्टियो से देखता है। इस अध्याय मे हम यह देखेगे कि किसी देश की जनसख्या का निर्माण किन नियमो के अनुसार होता है और उसकी शक्ति किन बातो पर निर्भर होती है। श्रम की पूर्ति के सम्बन्ध मे मजदूरवर्ग की केवल सख्या का महत्त्व नही है, उसकी कार्यशक्ति का भी महत्त्व अधिक है। किसी देश की जनसख्या मनुष्यो के जन्म-दर मृत्यु-दर और स्थान परिवर्तन अर्थात् आवास और प्रवास पर निर्भर होती है।

मालथस का जनसंख्या का सिद्धान्त (The Malthusian Theory of Population)—अर्थशास्त्र मे मॉलथस का जनसख्या सम्बन्धी सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन टॉमस मॉलथस (Thomas Malthus) ने १७९८ ईस्वी सन् मे अपनी एक पुस्तक मे किया था। इस पुस्तक का नाम था—'समाज की उन्नति पर जनसख्या के प्रभाव सम्बन्धी निबन्ध' (Essay on the principle of population as it affects future improvement of society) यह पुस्तक मॉलथस ने अपना नाम दिये बिना छपवाई थी।

मॉलथस का मूल सिद्धान्त यह है कि सन्तानोत्पत्ति की शक्ति अपार है। मनुष्य की इन्द्रिय-लोलुपता के कारण उसकी जनसख्या की दर बहुत तेजी के साथ बढती है और प्राय ऐसा देखा गया है कि किसी स्थान की जनसख्या २५ वर्ष मे दुगुनी हो जाती है। यद्यपि प्रत्यक्ष मे सदा ऐसा नही होता, परन्तु उसके कारण है। सबसे बडा कारण तो भोजन की कमी है, पर अन्य कारण बीमारी, युद्ध इत्यादि है। मॉलथस का मत है कि जितनी जल्दी जनसख्या बढती है, उतनी जल्दी अन्न की मात्रा नही बढती। मॉलथस के शब्दो में भोजन-पूर्ति समान्तर प्रगति से बढती है और मनुष्य-सख्या गुणोत्तर प्रगति से। अमेरिका की परिस्थितियो का अध्ययन करके मॉलथस ने यह सिद्धान्त

निकाला कि २५ वर्ष में जनसंख्या दुगुनी हो जाती है। परन्तु भोजन-पूर्त्ति दुगुनी नही होती। इसलिये किसी भी देश की जनसख्या उसकी भोजन-पूर्त्ति से अधिक होगी। भूतकाल मे ऐसा हुआ है, इसलिये भविष्य मे भी ऐसा होने की सम्भावना है।

इसलिये यदि जनसख्या की वढती अन्य उपायो द्वारा नही रोकी गई तो भोजन की कमी के कारण रुक जायगी। जनसख्या की वढती दो प्रकार से रोकी जा सकती है। या तो जन्म-दर कम हो जाय या मृत्यु-दर वढ जाय। जन्म-दर दूरदर्शिता, वशेन्द्रियता और देर मे विवाह द्वारा कम की जा सकती है। इन्हे कृत्रिम निरोध या वनावटी रुकावट (preventive checks) कहते है। वीमारी, अकाल, युद्ध इत्यादि के कारण मृत्युसख्या की दर बढ सकती है। उन्हे निश्चित निरोध (positive checks) कहते है। यदि जन्म-निरोध इत्यादि कृत्रिम निरोध द्वारा जन-सख्या की वढती नही रोकी जाती, तो अन्त मे निश्चित निरोव द्वारा वह रोक दी जावेगी। अर्थात् निश्चित निरोध अपने आप क्रियाशील हो जाता है। परन्तु उसका परिणाम दुखद होता है, क्योकि निश्चित निरोध अधिक मृत्यु-सख्या द्वारा होता है। वास्तव में कृत्रिम निरोध सदा क्रियाशील रहता है। 'मनुष्य जैसे-जैसे पशुओ की सतह से ऊँचा उठता है, वैसे-वैसे उसकी जनसख्या भी आवश्यकताओ के वढने के डर से रुकती जाती है।' वहुत असभ्य समाजो को छोडकर वाकी सभ्य समाजो की जन्म-सख्या (निश्चित निरोध द्वारा) अधिक मृत्यु-दर से नही, वरन् दूरदर्शिता द्वारा सीमित रखी जाती है। मॉल्थस अपने देशवासियो को कृत्रिम उपायो द्वारा जनसख्या को सीमित रखने के लिये उत्साहित किया करता था।

[यदि कृत्रिम निरोध से काम नहीं लिया गया तो निश्चित निरोध क्रियाशील होगा।]

यही मॉल्थस का सिद्धान्त है। यह ध्यान रखना चाहिये कि इस सिद्धान्त का क्रमागत ह्रास उत्पत्ति नियम से घनिष्ठ सम्वन्ध है। जनसख्या वढने से कृषि अधिक गहरे तरीको से होती है। फल यह होता है कि उत्पत्ति घटती दर से होती है। यही से परिस्थिति की गभीरता आरम्भ होती है। जनसख्या दुगुनी होने पर जमीन मे अधिक श्रम लगाया जायगा। परन्तु अन्न की उत्पत्ति उसी अनुपात मे नही वढेगी। इसलिये हमारे सामने अन्न की कम उत्पत्ति और भूखो मरने की समस्या खडी हो जाती है।

आलोचना (Criticism)—उन्नीसवी शताब्दी मे जो आर्थिक प्रगति हुई उसने मॉल्थस की जनसख्या सम्वन्धी अशुभ भविष्यवाणी को झूठा सावित कर दिया। जव मॉल्थस अपने विचारो को लिख रहा था, उस समय औद्योगिक क्रान्ति आरंभ हो गई थी। इस औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप संसार की उत्पादन शक्ति मे महान् उन्नति हुई। यद्यपि नव की जनसख्या जल्दी बढी परन्तु उनके रहन-सहन की सतह भी काफी ऊँची

[इतिहास ने उसकी भविष्यवाणी गलत सावित की।]

जीवन के साधनो के सम्बन्ध में मॉलथस के जो विचार थे, उनसे कही अधिक उन्नति कृ
और औद्योगिक उत्पादन मे हुई। बीसवी सदी मे वैज्ञानिक तरीको और मशीनो
सहायता से कृषि उत्पादन मे बहुत उन्नति हुई। साथ ही जन्म-निरोध के उपायों
प्रचार से उसके भविष्य मे जनसख्या की बढती के सम्बन्ध मे जो विचार थे, उनमें
काफी अन्तर पडा। वास्तव मे यह कहा जा सकता है कि कुछ पश्चिमी देशों में तो घट
हुई जनसख्या एक चिन्ताजनक समस्या बन गई है।

मॉलथस के सिद्धान्त की आलोचना में यह कहा जाता है कि न केवल उस
भविष्यवाणी गलत साबित हुई, वरन् उसका सिद्धान्त भी अमान्य है। वह सही न
है। पहिला कारण तो यह है कि उसका यह गणितीय सिद्ध
स्वीकार नही हो सकता कि अन्न की मात्रा समान
तरीके से बढती है और जनसख्या गुणोत्तर तरीके

गणितीय सिद्धान्त सही नहीं है।

वास्तव मे खाद्यान्न की मात्रा समान्तर क्रम की अपेक्षा कहीं अधिक बढी। प
हम यह कह सकते है कि नियम का उपयोग उसने केवल सरलताप
अपने विचार प्रकट करने के लिये किया था। ससार की खाद्यान्न की उत्पत्ति में जो उ
हुई है, उसके सही आँकडे देकर हम चाहे यह सिद्ध कर दे कि नियम उ
लागू नही होते है। परन्तु फिर भी मॉलथस के सिद्धान्त का सार गलत सिद्ध नहीं हो

दूसरी आलोचना यह है कि जनसख्या मे बढ़ती केवल खाद्यान्न की बढती के सम्
में नही देखना चाहिये। जनसख्या मे बढती की तुलना देश की कुल सम्पत्ति से क
चाहिये। हो सकता है कि देश की अन्न की उत्पत्ति उसकी जनसख्या के हिसाब से ब
कम हो। परन्तु वह अपनी अन्य अधिक सम्पत्ति को दूसरे देशो के अन्न के साथ विनि...
करके अपनी अन्न की कमी को पूरा कर सकता है। इगलैड मे जितना अन्न पैदा होता
है, उससे उसकी जनसख्या का बहुत थोड़ा भाग पल सकता है। परन्तु वह औद्योगिक
दृष्टि से उन्नत है और अपना कोयला तथा अन्य औद्योगिक वस्तुओ का विनिमय
कृषिप्रधान देशो से करके अपनी अन्न की कमी को पूरा कर लेता है।

तीसरी आलोचना यह है, जैसा कि केनन (Cannan) ने कहा है कि मॉलथस
ने यह विचार नही किया कि जनसख्या की प्रत्येक बढती के साथ उसकी श्रमिक शक्ति
भी बढ जाती है। जो मनुष्य जन्म लेता है, वह खाने के
लिये मुंह और पेट के साथ-साथ काम करने के लिए दो हाथ
भी लाता है। जनसख्या में वृद्धि होने से देश की श्रमिक शक्ति
में भी वृद्धि होती है। इस अधिक श्रमिक शक्ति से कृषि
और उद्योग की उत्पत्ति बढाई जा सकती है। अधिक जन-

जनसंख्या वृद्धि से कृषि और उद्योग की उत्पत्ति मे वृद्धि हो सकती है।

सख्या होने से श्रम का विभाजन अधिक अच्छा होगा और कृषि मे मशीनो का उपयोग

करने का अधिक मोका मिलेगा। कृषि की उत्पत्ति बहुत अधिक बढ जायगी। इसके सिवाय यदि प्रति मनुष्य पीछे कृषि की उत्पत्ति कम भी हो जाती है, तो भी अन्य प्रकार की उत्पत्ति बढाई जा सकती है।'

सेलिगमेन (Seligman) ने लिखा है कि इन कारणो से **जनसंख्या की समस्या केवल आकार या गिनती की समस्या नहीं है, वह कुशल उत्पादन और न्यायोचित वितरण की भी समस्या है**। जनसख्या बढने से कोई देश श्रम विभाजन अधिक अच्छी तरह से कर सकता है, जो कि छोटी जनसख्या होने से सम्भव नही है। श्रम विभाजन अच्छा होने से उत्पादन शक्ति भी बढ जायगी, जिससे उस देश के लोगो की रहन-सहन का दर्जा अधिक अच्छा हो सकता है। इसके सिवाय यदि आय और सम्पत्ति का वितरण न्यायानुकूल हो तो इस समय की अपेक्षा अधिक जनसख्या का निर्वाह हो सकता है।

इसलिये मॉलयस को झूठा भविष्यवक्ता ठहराया गया है। जन्म-निरोध के तरीको के प्रचार ने जन्म-दर कम कर दी है। स्त्री-शिक्षा के प्रचार ने भी जन्म-दर को कम कर दिया है। शिक्षा के प्रभाव से एक तो लडकियो का विवाह देर मे होता है और दूसरे वे अधिक कुटुम्ब बढाना पसन्द नही करती। रहन-सहन के दर्जे में उन्नति होने से भी जन्म-दर कम हो जाती है। जब आरामपरस्ती का दर्जा ऊँचा हो जाता है, तब जिन्दगी में लोग काफी उम्र तक उपयुक्त आमदनी नही कर पाते। इसलिये लाचार होकर वे देर मे शादी करते हैं। बडा कुटुम्ब भी वे पसन्द नही करते, क्योकि उससे उनकी रहन-सहन का दर्जा कम हो जायगा। नवयुवको के सामने जब यह प्रश्न उठता है कि मोटर-कार होनी चाहिये कि बच्चा, तो प्राय. कार की इच्छा की ही जीत होती है।

जनसंख्या सम्बन्धी आदर्श अधिकतम सिद्धान्त (The Optimum Theory of Population)—आधुनिक अर्थशास्त्रियो का ध्यान अधिकतर जनसख्या के आकार और देश की उत्पादन शक्ति के सम्बन्ध पर केन्द्रित होता है। वे अब अधिकतम जनसख्या का विचार देश की भोजन सामग्री के सम्बन्ध में नही करते। बल्कि अब यह उत्तरोत्तर स्वीकार किया जाता है कि एक निश्चित समय मे देश मे एक आदर्श अधिकतम जनसख्या होती है। आदर्श अधिकतम जनसख्या वह है, जिसमे प्रति मनुष्य पीछे वस्तुओ और सेवाओ के रूप मे वास्तविक अधिकतम आय हो सके। आदर्श अधिकतम सख्या मे थोड़ी भी कमी या वृद्धि होने से समाज की वास्तविक आय घट जायगी।

आदर्श अधिकतम का अर्थ।

यदि यह मान लिया जाय कि किसी देश में प्राकृतिक साधनो का एक निश्चित [illegible] उसके पास एक निश्चित उत्पादन कला है और पूंजी की मात्रा भी नि[illegible]

आदर्श अधिकतम सिद्धाँत का वास्तविक अर्थ।

फिर एक निश्चित मनुष्य सख्या उससे प्रति मनुष्य पीछे अधिकतम आय उत्पन्न कर देगी। यदि मनुष्य-सख्या बहुत थोडी है, तो विभिन्न प्रकार के श्रमिको मे विशेषज्ञता प्राप्त करने का अवसर बहुत कम रहेगा। अधिकतम श्रम-विभाजन के लिये जनसख्या काफी बडी होनी चाहिये। जितनी अधिक जनसख्या होगी, वस्तुएँ बेचने के लिये बाजार भी उतना ही बडा होगा। अर्थात् बिक्री का अवसर अधिक रहेगा तथा श्रम-विभाजन के लिये भी अधिक मौका रहेगा। इससे उत्पादन भी अधिक बडे पैमाने पर हो सकेगा। इसलिये उत्पादन की प्रति मात्रा पीछे लागत भी घट जायगी

जब प्रति मनुष्य पीछे आय अधिकतम हो जाती है, तभी जनसख्या भी आदर्श अधिकतम समझनी चाहिये। जिस प्रकार किसी फर्म या उद्योग सगठन मे भूमि, श्रम, पूंजी और प्रबंध का आदर्श समिश्रण होने से अधिकतम उत्पत्ति और प्रति श्रमिक पीछे अधिकतम सीमान्त उत्पत्ति प्राप्त होती है, उसी प्रकार किसी देश मे भी भूमि और उद्योग की एक निश्चित स्थिति के लिये श्रम (अर्थात् जनसख्या) की एक निश्चित सख्या अधिकतम राष्ट्रीय सम्पत्ति उत्पन्न कर सकती है, अर्थात् जनसख्या की प्रति मनुष्य पीछे अधिक आय हो सकती है। हमने अभी जो आदर्श फर्म मान ली है, उसमे लगे हुए श्रमिको की सख्या में घटी या बढी करने से अधिकतम सीमान्त उत्पत्ति कम हो जायगी। इसी प्रकार किसी देश मे भी अन्य वस्तुओ के यथास्थिति रहते एक मनुष्य-सख्या होती है, जिसमे कुछ भी कमी या बेशी होने से प्रति मनुष्य पीछे आय घट जायगी। इस प्रकार यदि केवल लखपतियो का एक समाज हो और उसमे कुछ लखपतियो के कम होने से अन्य लखपतियो की आय प्रति मनुष्य बढ जावे तो हम कह सकते है कि उस समाज की मनुष्य-सख्या अधिक है।

आदर्श अधिकतम स्थिति निश्चित नहीं है, वह सरल है।

यह ध्यान रखना चाहिये कि आदर्श अधिकतम स्थिति एक निश्चित स्थिति नही है, क्योकि अन्य वस्तुएँ बराबर या यथाशक्ति नही है। हम एक प्रगतिशील समाज मे रहते है। मिल ने यह मानने मे गलती की कि किसी क्षेत्र के लिये आदर्श अधिकतम सख्या हमेशा वही रहेगी। कृषि, कला तथा उद्योग मे वैज्ञानिक उन्नति के साथ-साथ आदर्श अधिकतम भी एक स्थिति से दूसरी स्थिति पर बदलता रहता है। अर्थात् वैज्ञानिक उन्नति और आविष्कारो के साथ-साथ मनुष्यो की वह आदर्श सख्या जो व्यक्ति पीछे सबसे अधिक आय करती है, बदलती रहती है। इस प्रकार आदर्श अधिकतम एक बिन्दु है, पर वह सचल बिन्दु है।

डालटन (Dalton) ने अधिक जनसख्या और कम जनसख्या का अर्थ अधिकतम नियम के आधार पर लगाया है। प्रत्यक्ष जीवन मे प्रत्येक जगह

अधिक मनुष्य-संख्या नापने का डालटन का हल या गुर

वास्तविक संख्या का आदर्श अधिकतम संख्या के साथ गलत सम्बन्ध या गलत अनुपात होता है। यह गलत अनुपात दो वदलती हुई वस्तुओ के कारण होता है। मान लो म गलत अनुपात वतलाता है, अ आदर्श अधिकतम, व वास्तविक सख्या, तो—

$$म = \frac{व - अ}{अ}$$

जब म किसी धनात्मक सख्या के बराबर है, तब वह अधिक जनसख्या (over-population) का द्योतक है। और जब म ऋणात्मक है, तब वह कम जनसंख्या (under-population) का द्योतक है। चूंकि वर्त्तमान परिस्थिति में अ मे होनेवाले परिवर्त्तन हम नही माप सकते, इसलिये इस गुर या हल की उपयोगिता मे हमे सदेह है। परन्तु जिस विधि द्वारा यह हल बनाया गया है, वह हमारे लिये उपयोगी है। किसी एक क्षेत्र के लिये अ कैसे निश्चित होता है ? प्रति व्यक्ति पीछे प्राप्त प्राकृतिक साधनो और आर्थिक सहयोग के लिये प्राप्त सुविधाओ (जिनमे अन्य क्षेत्रो के लोगो का सहयोग भी शामिल है) मे अनुमानित वदलती हुई सख्याओ के कारण जो परस्पर प्रभाव पडता है, उसके फलस्वरूप अ निश्चित होता है। अनुमानत जैसे-जैसे व शून्य से वढकर अ होता है, वैसे-वैसे पहिली सख्या घटती है, परन्तु दूसरी वढती है और उससे अधिक हो जाती है। जब आर्थिक उन्नति तेज गति से होती है, तब दूसरी सख्या वडी तेजी से वढती है और उसी के साथ-साथ अ वढता है। युद्धकाल मे अथवा युद्धके वाद जब राजनीतिक परिस्थितियाँ और सीमाएँ एकाएक वदलती है, पहिले के व्यावसायिक सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो जाते है, नये आयात-निर्यात कर लगाये जाते है तथा व्यवसाय मे तरह-तरह के अडगे लगाये जाते है, तव दूसरी सख्या एकाएक कम हो जाती है और उसी के साथ-साथ अ भी कम होता है। इसलिये यह नही कहा जा सकता कि आदर्श अधिकतम हमेशा वढता है।

आदर्श अधिकतम सिद्धान्त का मूल्य इस दृष्टि से है कि उसकी सहायता से हम जनसख्या मे होनेवाली वढती के महत्त्व और परिणामो को भली-भाँति समझ सकते है।

क्या वढती हुई जनसख्या किसी देश के लिये सदा लाभप्रद है ?

मॉलथस के अनुयायियो के मतानुसार तो जनसख्या में वृद्धि कभी अच्छी नही होती है। इसलिये वह वाछनीय नही है। परन्तु आदर्श अधिकतम सिद्धान्त की सहायता से हम इस समस्या पर एक दूसरे दृष्टिकोण से और अधिक अच्छी तरह विचार कर सकते है। यदि वास्तविक जनसख्या आदर्श अधिकतम से कम है, तो जनसख्या मे वृद्धि होने से प्रति व्यक्ति पीछे आय वढेगी, इसलिये वह वाछनीय है। [illegible] हमे आर्थिक सहयोग की अधिक सुविधाएँ प्राप्त होती है, हम विशेषज्ञता प्राप्त

कर सकते है और मशीनो की सहायता से अधिक बड़े पैमाने पर उत्पादन कर सकते है। परन्तु जब आदर्श अधिकतम की स्थिति पहुँच जाती है, तब यह ज्ञात हो जाता है कि अब वृद्धि के माने अधिक जनसख्या होगी और उसका फल यह होगा कि प्रति व्यक्ति पीछे आय कम हो जायगी। इसलिये जनसख्या मे वृद्धि न हमेशा अच्छी होती है और न हमेशा बुरी। उसका विचार आदर्श अधिकतम सिद्धान्त के सम्बन्ध में करना चाहिये।[1]

ध्यान रखना चाहिये कि मनुष्य-सख्या की बढती केवल जन्म-दर और मृत्यु-दर के अध्ययन से नही जानी जा सकती। यदि मृत्यु-दर अधिक है, तो उससे यह नहीं कह सकते कि जनसख्या बढ रही है। जनसख्या बढ रही है या नही यह जानने की सबसे अच्छी रीति 'वास्तविक पुनरुत्पादन दर' जानना है। यह रीति इस प्रकार जानी जाती है। उदाहरण के लिये १०० लडकियाँ ले ले और यह जानने का प्रयत्न करे कि बच्चा उत्पन्न करने की अवस्था मे (अर्थात् १५ वर्ष से लेकर ४० वर्ष तक) वे कितने बच्चे उत्पन्न करेगी। यदि यह मालूम हो कि जन्म-दर और मृत्यु-दर की वर्तमान दर के अनुसार वे १०० बच्चियाँ उत्पन्न करेगी, तो हम यह मान सकते है कि वर्तमान जनसख्या का पुनरुत्पादन होगा। इसलिये वास्तविक पुनरुत्पादन दर एक होगी। परन्तु यदि वे केवल ८० बच्चियाँ उत्पन्न करती है, जो आगे चलकर सन्तान उत्पन्न करेंगी तो वास्तविक पुनरुत्पादन दर .८ होगी। अर्थात् जनसख्या धीरे-धीरे कम हो जायगी, यद्यपि जनसख्या मृत्युसख्या से अधिक है।

वास्तविक पुनरुत्पादन दर

श्रम की कार्य-कुशलता (Efficiency of Labour)—श्रम की वास्तविक पूर्त्ति तथा कुल उत्पादन केवल श्रमिको की सख्या पर निर्भर नही होते, श्रम की कार्य-कुशलता पर भी वह निर्भर होते है। श्रमिक जितने अधिक कार्यकुशल होगे, किसी उद्योग अथवा देश का कुल उत्पादन ही अधिक होगा। श्रमिको की उत्पादन शक्ति कई बातो पर निर्भर होती है, जैसे श्रम का विभाजन, बड़े पैमाने पर उत्पादन की शक्ति, उत्पादन में पंजीवादी प्रथा का वृहद् प्रयोग, श्रम का प्रकार इत्यादि। यहाँ हम श्रम के प्रकार पर विचार करेंगे। प्रश्न यह है कि श्रम की कार्य-कुशलता किन बातो पर निर्भर होती है?

किसी श्रमिक की कार्य-कुशलता के दो पहलू होते है—एक शारीरिक और दूसरा बौद्धिक। जहाँ तक शारीरिक कुशलता का प्रश्न है, वह श्रमिक के स्वास्थ्य और ताकत

[1] But the main difficulty regarding this theory is that it is practically impossible to say what the optimum population will be for a country. It is not an easy task to measure changes in the real income per head in a country. Moreover, the productive technique and the amount of capital resources available in a country are constantly changing. So the concept of an optimum population is 'of extremely little practical interest.'

पर निर्भर होती है। बौद्धिक कुशलता, उसकी वृद्धि, कारीगरी और काम करने की इच्छा पर निर्भर होती है।

श्रमिक का स्वास्थ्य और ताकत।

कुछ हद तक श्रमिक की ताकत और स्वास्थ्य उसकी जाति पर निर्भर होते है। एक जाति के मजदूर दूसरी जाति के मजदूरो की अपेक्षा अधिक तगडे और मेहनती हो सकते है। जलवायु का भी मजदूरो की कार्य-कुशलता पर काफी प्रभाव पडता है। समशीतोष्ण जलवायु मे लोग अधिक बौद्धिक और मानसिक परिश्रम कर सकते है। गरम जलवायु मे कुछ घटो के काम करने बाद शरीर थक जाता है। फिर श्रमिक का स्वास्थ्य कुछ हद तक काफी मात्रा मे स्वास्थ्य-प्रद भोजन मिलने पर भी निर्भर होता है। जिस प्रकार भाप के इजिनो की ताकत कोयले की मात्रा पर निर्भर होती है, उसी प्रकार एक श्रमिक की ताकत भी उसके भोजन की किस्म और मात्रा पर निर्भर होती है। भारतवर्ष के अधिकाश श्रमिको को स्वास्थ्यप्रद भोजन उपयुक्त मात्रा मे नही मिलता। वे अधपेट खाते है

अच्छा भोजन मिलना।

और भूखो मरते है। इसलिये यदि श्रमिको को स्वास्थ्यप्रद भोजन उचित मात्रा मे मिलने लगे तो उनकी उत्पादन शक्ति और कार्य-कुशलता काफी बढ जायगी। जिस प्रकार श्रमिको के लिये अच्छे भोजन का प्रश्न महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार अच्छे मकान, काफी कपडे तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओ का प्रश्न भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। साफ और हवादार मकान जिनमें कुटुम्ब सहित रहने की सुविधाएँ हो, सर्दी और गरमी के

अच्छे मकान इत्यादि।

लिये काफी कपडे, मेहनत के बाद आराम का प्रबन्ध, ये सब श्रमिक के स्वास्थ्य और ताकत को सुरक्षित रखने के लिये आवश्यक है।

इसके सिवाय, मिलो और कारखानो में काम करने का जो वातावरण रहता है, उसका प्रभाव भी श्रमिको के स्वास्थ्य और नैतिक विचारो पर बहुत पडता है। यदि कारखानो मे सफाई हो, हवा तथा प्रकाश का अच्छा प्रबन्ध

कारखानों मे हवा, प्रकाश तथा सफाई का प्रभाव।

हो तो श्रमिको की उत्पादन कुशलता बढ जाती है। यहाँ तक देखा गया है कि यदि कारखानो मे शोरगुल कम होता हो और दीवालो का रग शान्तिप्रद हो तो उनका प्रभाव भी श्रमिको की कार्य-कुशलता पर अच्छा पडता है।

श्रमिको की कार्य-कुशलता इस बात पर भी बहुत हद तक निर्भर होती है कि उन्हे कितने घटे काम करना पडता है। यदि किसी श्रमिक को अधिक घटो तक काम करना पडता है, तो कुछ घटो के बाद थकावट लगने लगती है और उसका ध्यान बंटने लगता है तथा कुछ समय बाद थकावट के मारे काम करना असम्भव हो जाता है। इस त्रुटि को दूर करने के लिये काम के घटे कम होने चाहिये और काम के बीच मे श्रमिको को [illegible] समय मिलना चाहिये, जिससे उनकी थकावट दूर हो सके।

श्रम की कार्य-कुशलता बुद्धि और कारीगरी पर निर्भर होती है। आजकल उत्पादन बारीक और पेंचीदा मशीनो द्वारा होता है। इन मशीनो पर काम करने के लिये श्रमिक को बुद्धिमान और होशियार होना चाहिये। एक बुद्धिमान और शिक्षित कारीगर अशिक्षित मनुष्य की अपेक्षा अधिक उत्पादन करेगा। इसलिये साधारण और विशेष शिक्षा के प्रचार से श्रमिको मे बुद्धि और कारीगरी का विकास होगा।

श्रम की बुद्धि और चतुराई।

कुछ काम ऐसे होते है, जिनमे शिक्षा के प्रभाव से कुशलता नही बढ सकती। बहुत से कारखानो तथा ग्रामोद्योग मे कुछ ऐसे काम होते है, जिनमे किताबी शिक्षा, कुशलता नही बढा सकती। यह सब कहने के बावजूद भी यह सत्य है कि देश में कितना अधिक शिक्षा का प्रचार होगा, लोगो की कार्य-कुशलता भी उतनी अधिक बढेगी। तरह-तरह के सुधारो और उन्नति का प्रचार बौद्धिक आदान-प्रदान के द्वारा अधिक जल्दी होता है।

विशेष वैज्ञानिक शिक्षा का कार्य-कुशलता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है। इंजीनियरों और फोरमैनो को जो शिक्षा मिलती है, उसमे उन्हे विगत युगो का अनुभव प्राप्त होता है। उससे कला की उन्नति होती है तथा विभिन्न विभागो मे तरह-तरह के सुधार होते है। बडे-बडे आविष्कार कारखानो मे होते है। विभिन्न प्रकार की कारीगरी और पेशों की विशिष्ट शिक्षा से श्रम की कार्यशीलता बढती है।

काम करने की इच्छा भविष्य की आशा, स्वतन्त्रता और परिवर्तन पर निर्भर होती है। मनुष्य को आश्वासन मिलना चाहिये कि यदि उसका काम अच्छा हुआ तो उसे भविष्य मे उन्नति करने का मौका मिलेगा। गुलामो को न तो स्वतन्त्रता मिलती थी, न भविष्य के लिये कोई आशा थी। इसलिये स्वाभाविक था कि उनमे काम करने की इच्छा नही होती थी। काम ऐसा होना चाहिये कि उसमे मनहूसियत न रहे। यदि कार्य की प्रकृति बदलती रहे और नये ससर्ग होते रहे तो मनुष्य मे नई स्फूर्त्ति, नई उत्पादक शक्ति आ जाती है।

भविष्य की आशा, स्वतंत्रता और नवीनता।

———

अध्याय ६

पूँजी

(Capital)

पूँजी क्या है ? (What is Capital ?)—अर्थशास्त्र का यह् बडा विवाद-स्त विषय है कि पूंजी क्या है। इस वात पर सभी अर्थशास्त्री सहमत है कि पूंजी उत्पादन ा एक साधन है और वे यह भी मानते है कि पूंजी कोई मूल साधन नही है। परन्तु जी का अर्थ क्या है और कौन-कौन पदार्थ पूंजी मे शामिल है, इन वातो पर अर्थशास्त्री कमत नही है। इस विषय मे जो सबसे तर्कपूर्ण विचार हैं, वे प्रचलित विचारो से भिन्न और जो प्रचलित विचार है भी वे तर्कपूर्ण नही है।

पूंजी से वे वस्तुऐं शामिल है, जो उत्पादन मे काम आती है।

प्रचलित विचारो से विषय का विवेचन करना ज्यादा अच्छा होगा। यदि किसी व्यवसायी से पूछा जाय कि उसकी पूंजी क्या है, तो शायद वह मकान, मशीनो, कच्चे सामान इत्यादि मे लगी हुई कुल रकम वतलायेगा। अपने कुल व्यवसाय की कुल पूंजी वतलाते समय वह वतलायेगा कि उसके कारखाने का मूल्य क्या है तथा उसके फर्म के नाम का मूल्य कितना है। परन्तु पूंजी का विचार करते समय अर्थशास्त्री मूल्य पर ध्यान नही देता। पूंजी का विचार करते समय वह श्रम तथा प्राकृतिक साधनो को छोडकर वाकी उत्पादन के सव भौतिक साधनो का विचार करता है। अर्थशास्त्र मे पूंजी का अर्थ होता है, उत्पादक पदार्थ (capital goods) वे भौतिक वस्तुएँ जो मनुष्य के श्रम से वनी है और आगे चलकर जिनका प्रयोग उत्पादन के लिये किया जायगा। वे स्वय उपभोग के काम मे न आवेगी। परियो की कहानियो से हम इस परिभाषा को स्पष्ट कर सकते है। मान लो, एक आधुनिक समाज को किसी परी ने एकदम सुला दिया है। वाकी सव वस्तुएँ यथास्थिति दुरुस्त है। इस सोते हुए शहर मे परियो का राजकुमार अपनी परी रानी को खोजता फिरता है। शहर मे घूमता हुआ राजकुमार क्या देखता है ? वह कई प्रकार की वस्तुएँ देखेगा जो मनुष्य की तत्काल आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये वनाई गई है। रसोई-घर मे और थालियो मे उसे तरह-तरह के भोजन रखे मिलेगे, लोग तरह-तरह के कपडे और जूते पहिने सोते दिखाई देगे। लोगो के कमरे अनेक प्रकार से सजे मिलेगे। ये सव उपभोग की वस्तुएँ है। उसे वहुत-सी ऐसी वस्तुएं भी मिलेगी, जिनका उपभोग तत्‍ नही हो सकता अथवा सीधी उनसे किसी आवश्यकता की पूर्ति नही हो सकती। ५ भविष्य मे वे कई आवश्यकताओ की पूर्ति करने के काम मे आवेगी। यदि ...

अर्थशास्त्री है तो वह कहेगा कि ये वस्तुएँ इस देश की पूँजी है। इस प्रकार की वस्तुओं में वे मकान शामिल है, जहाँ उद्योग और व्यवसाय होता है। वे मशीने और औजार जो इन मकानो मे रखे है, वे कच्चे सामान जो कई प्रकार की वस्तुएँ बनाने मे काम आते है। और वे सब सामान जो उत्पादन करते समय श्रमिको के भरण-पोषण के लिये आवश्यक है।

इसलिये पूँजी को 'उत्पादन के उत्पन्न किये गये साधन" कहा गया है। 'उत्पन्न किये गये' शब्द ध्यान मे रखना चाहिये। जितनी उत्पादक वस्तुएँ (capital goods) है, वे मनुष्य के विगत श्रम का फल है। इनके विपरीत श्रम और भूमि 'मौलिक' साधन है। कई लेखको के मत मे भूमि तथा श्रम भी पूँजी है। यदि हम पूँजी का अर्थ थोडा विस्तृत कर दे तो उसमे भूमि शामिल कर सकते है। परन्तु अधिकाश अर्थशास्त्रियो का मत पूँजी की व्याख्या विस्तृत करने का नही है और वे भूमि को पूँजी मे शामिल नही करते। इस सम्बन्ध मे आगे चर्चा करेगे। श्रम का खर्च करके और प्राकृतिक साधनो का उपयोग करके पूँजी उत्पन्न की जाती है। विकसेल (Wicksell) के शब्दो में 'पूँजी' कई वर्षो मे एकत्रित बचाये हुए श्रम तथा बचाई हुई भूमि का एक पुँज समूह है।"[1]

भूमि पूँजी नहीं है।

पूँजी उत्पादन का एक साधन है। इसके विपरीत वस्तुओ का उपभोग तत्काल होता है। लेकिन उत्पादक वस्तुओ (capital goods) और उपभोग की वस्तुओं (consumption goods) मे केवल अशो का अन्तर है। इन दो प्रकार की वस्तुओ मे यह अन्तर किसी भौतिक आधार पर नही किया जाता। केवल उनके उपयोग के आधार पर किया जाता है। वही वस्तु पूँजी भी हो सकती है और वही पूँजी नही भी हो सकती। जिस मकान मे मैं रहता हूँ, वह पूँजी नही है। परन्तु यदि उसी मकान मे कोई उद्योग होने लगे, कोई कारखाना खुल जाय तो वह पूँजी हो जायगा। जो कोयला टाटा कम्पनी की भट्टियो मे जलता है, वह पूँजी है। परन्तु जो कोयला हमारे रसोईघर मे जलता है, वह पूँजी नही है।

साधारणत पूँजी का यह सर्वमान्य अर्थ है। परन्तु फिशर (Fisher) के समान कुछ अर्थशास्त्री पूँजी की अधिक विशद और तर्कपूर्ण व्याख्या चाहते है। पूँजी का सम्बन्ध

---

[1] "............. . a single coherent mass of saved-up labour and saved-up land, which is accumulated in the course of years"

—*Wicksell*, Lectures on Political Economy, vol. 1, p. 15

आय से है। पूँजी मे वे वस्तुएँ शामिल हैं, जिनसे हमारी आय होती है। धन उसका निकटतम स्वरूप है। धन की आय के पीछे 'वास्तविक' आय रहती है। किसी वस्तु के उपभोग से मनुष्य को जो उपयोगिता प्राप्त होती है, वही वास्तविक आय है। आय तो मानसिक तुष्टि का द्योतक है। सव प्रकार की सम्पत्ति से उपयोगिता प्राप्त होती है, इसलिये सभी सम्पत्ति पूँजी है। आय श्रेणिवद्ध या लगातार उपयोगिता है, जो हमे किसी निश्चित काल मे वस्तुओ से प्राप्त होती है। इस प्रकार की पूर्ण या अपूर्ण उपयोगिताओं का जो समूह है, उसका वर्त्तमान मूल्य पूँजी है। यह परिभाषा वहुत तर्कपूर्ण है, परन्तु इसके अनुसार अमल करना वहुत कठिन है।

क्या भूमि पूँजी है? (Is land capital?)—भूमि उत्पादन का स्वतन्त्र साधन मानी जाती है। इसलिये वह पूँजी से पृथक् मानी जाती है। कई अर्थ-शास्त्रियो के मत मे भूमि पूँजी के अन्य प्रकारो से भिन्न नही है और जो भेद वतलाये गये है वे आर्थिक विवेचना के लिये गलत और व्यर्थ है। भेद के प्राय ये कारण वतलाये जाते है। एक तो भूमि प्रकृति की मुफ्त देन है, जव कि पूँजी श्रम का फल है। दूसरे पूँजी नष्ट हो जाती है, परन्तु भूमि अमर है, वह कभी नष्ट नही होती। तीसरे भूमि की मात्रा निश्चित है और उसका पुनरुत्पादन नही हो सकता। चौथे पूँजी और भूमि से होनेवाली आय के सम्वन्ध मे जो कानून या नियम होते है, वे भी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है।

भूमि प्रकृति की देन है।

जहा तक पहिले प्रकार के भेद का सम्वन्ध है, हम यह कह सकते है कि अन्य वस्तुएँ भी अपने मौलिक रूप मे प्रकृति की देन है। फिर कई जगह भूमि पर उतना ही श्रम किया गया है, जितना अन्य वस्तुओ के उत्पादन पर। नहरो और वाँधो के विना भूमि के वड़े-वडे भाग उपजाऊ न होकर मरुस्थल के समान वजर होते है। भूमि के एक भाग को एक मनुष्य ने अपने श्रम से उपजाऊ खेत वना दिया और दूसरे मनुष्य ने अपने श्रम से एक लकडी को मेज के रूप मे परिवर्तित कर दिया। इसलिये हमें इन दो प्रकार के श्रम में कोई भेद नही मानना चाहिये।

दूसरा भेद भी मान्य नही है। अन्य किसी साधन के समान भूमि भी नष्ट हो सकती है। भूमि मे जो रासायनिक द्रव्य रहते है, जिन पर उसका मूल्य निर्भर होता है, सदा सुरक्षित नही रहते। वे नष्ट हो सकते है। इसलिये भूमि मे वरावर खाद देनी पडती है। कुछ वर्षो के वाद उत्तम भूमि भी वेकार हो सकती है। इसलिये आर्थिक दृष्टि से भूमि उतनी ही नश्वर है, जितनी अन्य उत्पादक वस्तुएँ।

तीसरे भूगोल की दृष्टि से भूमि की मात्रा निश्चित हो सकती है। परन्तु संसार में प्रत्येक वस्तु की मात्रा निश्चित है। कच्चे लोहे की मात्रा उतनी ही निश्चित है, जितनी भूमि की। खनिज पदार्थ अपरिमित नही है और भूमि भी विलकुल परिमित नही है। इसके सिवाय हमारा मतलव तो भूमि के उपजाऊपन से है, उसकी मात्रा से नही। "जिस प्रकार एक टन लोहे को भाप इंजिन मे परिवर्तित करके उसकी [illegible]

बढाई जा सकती है, उसी प्रकार एक एकड़ भूमि की भी उत्पादक शक्ति बढाई जा सकती है।[1]

चौथा भेद यह बतलाया जाता है कि एक बाजार मे पूंजी से आय प्राय एक दर से होती है। परन्तु भूमि से होनेवाली आय की दर एक-सी नही होती। उसके उत्तर में हम यह कह सकते है कि इन दोनो वस्तुओ का मापदण्ड एक-सा नही होता। भूमि का माप धरातल के हिसाब से होता है परन्तु पूंजी का माप मूल्य के आधार पर होता है।

जिन लोगो ने पूंजी और भूमि मे भेद बतलाया है, वे भी इन समानताओ और समाधानो को जानते हैं। बात यह है कि दोनो मे प्रकार भेद नही है। केवल अंश भेद है। इन समानताओ के होते हुए भी भूमि और पूंजी में एक महत्वपूर्ण भेद है। भूमि की कमी एक स्थायी बात है। वह हमेशा बनी रहती है। परन्तु अन्य वस्तुओ की कमी अस्थायी होती है, वह हमेशा नही बनी रहती। कभी-कभी होती है। इसके सिवाय आर्थिक उन्नति का अन्य वस्तुओ की अपेक्षा भूमि पर दूसरे प्रकार का असर हो सकता है। भौतिक सभ्यता की उन्नति के साथ-साथ अन्य वस्तुओ का मूल्य कम होता जाता है। परन्तु जनसख्या की बढती के साथ-साथ भूमि का मूल्य बढता जाता है।

भूमि और पूँजी में अंशों का अन्तर है।

इसलिये भूमि और पूंजी में बहुत-सी समानताएँ होते हुए भी हम यह कह सकते हैं कि भूमि पूंजी से पृथक् है, क्योकि पूंजी की अपेक्षा भूमि की पूर्ति अधिक बेलोच है इसीलिये बहुत से अर्थशास्त्री भूमि और पूंजी मे भेद मानते है।

पूँजी का वर्गीकरण (Classification of Capital)—पूंजी का विस्तार हम समाज की दृष्टि से और व्यक्ति की दृष्टि से कर सकते है। इस प्रकार से पूंजी के दो भेद हो सकते है—एक तो **सामाजिक** (social) और दूसरा **व्यक्तिगत** या **निजी** (private)। जैसा पहिले कह चुके है, सामाजिक दृष्टि से भूमि को छोडकर वे सब वस्तुएँ पूंजी है, जिनसे आय होती है। इसमे वे वस्तुएँ भी शामिल हैं जिन पर सार्वजनिक अधिकार है। निजी पूंजी वह पूंजी है, जिस पर व्यक्तिगत रूप से विचार किया जाता है। कोई भी वस्तु जिससे कोई व्यक्ति आय प्राप्त करने की आशा करता है, पूंजी है। यदि युद्धकाल मे सरकार ऋण ले तो वह व्यक्ति की दृष्टि से पूंजी है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से पूंजी नही है। सामाजिक पूंजी के दो भेद किये जाते है। एक तो उपभोक्ता की पूंजी और दूसरी उत्पादक की पूंजी। उपभोक्ता की पूंजी मे बनी हुई वस्तुएँ शामिल है, जिन पर उपभोक्ता उत्पादन करते समय अपना निर्वाह करते है, जैसे—मकान, कपडा, भोजन इत्यादि।

---

[1] *Cannan*, A Review of Economic Theory, p. 296.

उत्पादक की सहायक या औजारवाली पूंजी मे वे वस्तुएँ शामिल है, जो उत्पादन में श्रम की सहायता करती है। औजार, मशीने, कारखाने, रेले, जहाज, बन्दरगाह इत्यादि उत्पादक की पूंजी है।

सामाजिक पूंजी के दो भेद और किये गये हैं। एक अचल पूंजी (fixcd capital) और दूसरी चल पूंजी (circulating capital)। अचल पूंजी मे वे वस्तुएँ शामिल है, जो खटाऊ होती है। वे काफी समय तक टिकती है, जैसे, मशीने। चल पूंजी मे वे वस्तुएँ शामिल है, जिनका उपयोग केवल एक वार होता है, जैसे, कपास, चमडा इत्यादि। जव कपास का सूत बन जाता है, तव वह कपास नही रह जाता। इस सम्वन्ध मे पुरानी पूंजी (old investment) और चलती पूंजी (floating capital) मे अन्तर समझ लेना चाहिये। जो पया मशीनो, औजारो इत्यादि मे एक बार लगा दिया जाता है, वह वहाँ फँस जाता है। कुछ समय के वाद उन मशीनो का मूल्य उनकी उत्पादक शक्ति के ऊपर रहता है। इन मशीनो को पुरानी पूंजी कहते है। परन्तु जिन वस्तुओ के मूल्य का उपयोग हम द्रव्य के रूप मे किसी भी काम के लिये कर सकते है, उन्हे चलती हुई पूंजी (free or floating capital) कहते है।

पूँजी से उत्पादन (Production with Capital)—पूंजी के द्वारा उत्पादन वडा घूम-फिर कर होता है। उसमे कई मजिले तय करनी होती है। वॉम बावर्क (Bohm Bawerk) ने इसका वडा अच्छा उदाहरण दिया है। आदिकाल मे जव असभ्य मनुष्य के पास पूंजी नही थी, तव प्यास लगने पर वह पास के झरने पर चला जाता था और अपने हाथो से पानी पी आता था। उसके पास पानी भरकर रखने के साधन नही थे, इससे प्यास लगने पर प्रत्येक वार उसे झरने तक जाना पडता था। इसमे उसे वडी असुविधा होती थी। झरने तक जाकर प्यास वुझाने के वदले मान लो उसने एक दिन, दिन भर परिश्रम करके एक लकडी की वाल्टी वना डाली और झरने तक जाकर उसमे पानी भर लाया। अव उसका वार-वार झरने तक जाने का परिश्रम वच गया। इसके वाद मान लो उसने झरने से अपने घर तक लकडी का नल लगाने का उपाय सोच निकाला, जिससे उसके घर काफी मात्रा में वरावर पानी आता रहे। नल लगाने मे उसे वाल्टी वनाने से अधिक समय लगेगा। इस प्रकार अधिक पूंजी लगाने से उत्पादन अधिक टेढा-मेढा या घुमावदार हो जाता है। परन्तु यह ध्यान मे रखना चाहिये कि घुमावदार रीति की उत्पादन शक्ति प्राय अधिक होती है।

होता है। उत्पादन की जो पूंजीवादी रीति है, उसका प्रभाव इस अतिरिक्त पर दो प्रकार से पड़ता है। एक तो वह वस्तु का भाडार बढ़ाती है और उत्पादन का खर्च हमेशा कम करती है। वह श्रम और श्रमिक दोनो की सहायता करती है। वह श्रमिक की सहायता औजारो और मशीनो द्वारा करती है। उससे श्रम अधिक उत्पादक हो जाता है। एक तो कुल उत्पादन की मात्रा बढ जाती है और दूसरे उत्पादन का खर्च कम हो जाता है।

पूँजी से उत्पादन मात्रा बढ़ती है और वस्तुएँ सस्ती होती है।

पूंजी श्रमिको को केवल औजार नही देती। उत्पादन काल मे वह उन्हे जीवन निर्वाह के साधन भी देती है। प्रारम्भ मे एक कारीगर स्वय अपने हाथ से आदि से लेकर अन्त तक कोई पूरी वस्तु बनाता था। पहिले ग्राम का चमार स्वय चमडा पकाता था, उसे सिझाता था, उसका जूता बनाता था और उसे बाजार मे भी बेचता था। यदि इस उत्पादनकाल मे उसके पास जीवन-निर्वाह के लिये थोड़ी सी अपनी पूंजी नही होती तो जब तक उसका जूता बाजार मे न बिक जाता, तब तक उसे ठहरना पड़ता। परन्तु उत्पादन मे समय अधिक नही लगा। उसे जूता बनाने में थोडे दिन लगे। और चाहे वह अँगरेज हो, चाहे अफ्रीका निवासी, थोडे दिनो के लिये खाना सबके घर मे होता था। ग्राम-निवासी चमार एक जोडा जूता बनाकर तब दूसरा शुरू करेगा। परन्तु एक आधुनिक कारखाने मे एक तरफ कच्चा माल चला आता है, दूसरी तरफ पक्का माल तैयार होता जाता है। थोडे से समय मे एक जोडा जूता तैयार हो जाता है। इसलिये पूंजी **श्रम और उपभोग का मिलान कर देती है**। श्रमिक को तब तक नही ठहरना पडता, जब तक पक्का माल न बिक जाय। उसे रोज मजदूरी मिल जाती है। पूंजीपति श्रमिक को मजदूरी पहिले दे देता है, यद्यपि तैयार माल जिसके बनाने में मजदूर ने श्रम किया है, उपभोक्ता के पास महीनो बाद पहुँचेगा।

पूँजी श्रम और उपभोग का मिलान कर देती है।

मजदूरो को तरह-तरह के सामान और औजार देकर पूंजी उत्पादन मे सहायता पहुँचाती है। मजदूर अधबने सामानो का उपयोग करके उन्हे पक्का रूप देते है। पूंजी का बडे पैमाने पर उपयोग किये बिना यह सम्भव नही हो सकता।

पूँजी उद्योग के सामानो द्वारा श्रम को सहायता करती है।

उत्पादन की पूंजीवादी प्रथा एक टेढी-मेढी रीति है। पूंजी के कारण उत्पादन का समय बढ जाता है। जब जूता बनना शुरू होता है, तब से लगाकर उसके उपभोक्ता तक पहुँचने मे काफी समय लग जाता है। पूंजी के उपयोग से श्रमविभाजन अपनी कुशलता की पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। कच्चे सामान खरीदने के लिये, कारखाने की इमारत बनवाने के लिये, मशीने खरीदने के लिये, श्रमिको

पूँजी के उपयोग से उत्पादन विधि टेढी-मेढी हो जाती है।

को मजदूरी देने के लिये, व्यापारियो को देने के वास्ते थोक माल रखने के लिये पूंजी की आवश्यकता होती है। पूंजी का जितना अधिक उपयोग किया जायगा, उत्पादन की विधि उतनी ही टेढी-मेढी होती जायगी। परन्तु इसके साथ ही मशीनो की सहायता से उत्पादन का एक भाग वडी जल्दी पूरा हो जाता है। इस प्रकार पूँजी उत्पादन विधि के एक अंश का तो समय कम कर देती है, परन्तु पूरी विधि का समय बढ़ा देती है। इससे श्रम की उत्पादन शक्ति अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाती है। समाज के दृष्टिकोण से पूंजी का अर्थ उत्पादन का जारी रहना है।

पूँजी से उत्पादन जारी रहता है।

पूँजी का संचय (Accumulation of Capital)—आय मे बचत करने से पूंजी जमा होती है। उत्पादक वस्तुओं का सग्रह तीन प्रकार से हो सकता है। जो मनुष्य उपभोग की वस्तुएँ बनाने मे लगे है, वे कुछ दिनो के लिये अपने काम के घटे बढा दे और पहिले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ बनावे। इन वस्तुओ का एक भाग अलग रख दिया जावे और उनका उपयोग तब किया जावे, जब वे मनुष्य किसी प्रकार की उत्पादक वस्तुओ के बनाने मे लगे लगे हो। अपने काम के घटो मे से मनुष्य कुछ समय तो उपभोग की वस्तुएँ बनाने में लगावे और बाकी उत्पादन वस्तुए बनाने मे। परन्तु इसमें उन्हे अपने उपभोग मे कुछ कमी करनी पडेगी, क्योकि अब उपभोग की वस्तुओ की मात्रा पहले की अपेक्षा कम रहेगी। तीसरा प्रकार यह है कि लोग आपस मे दो प्रकार के काम बाँट सकते है। कुछ लोग उपभोग की वस्तुएँ बनावे और कुछ लोग उत्पादक वस्तुएँ। इसमे उपभोग की वस्तुएँ बनाने वाले लोग अपनी बनाई हुई सब वस्तुओ का उपभोग नही कर सकते। उनके जो साथी मशीनें आदि उत्पादक वस्तुएँ बना रहे है, उनका भी उन्हें पोषण करना पडेगा। उत्पादन का औसत समय पूरा होने तक इनका पोषण करना पडेगा। अर्थात् उत्पादक वस्तुओ की सहायता से जब तक उपभोग की वस्तुयें न बनने लगेगी तब तक इन लोगो का पोषण करना पडेगा। इसलिये जो लोग उपभोग की वस्तुएँ बनावे उन्हे सब वस्तुओ का उपभोग नही करना चाहिये। इसी प्रकार पूंजी का सग्रह करने के लिये लोगो को अपनी पूरी आय नही खर्च करनी चाहिये। उन्हे कुछ बचत अवश्य करनी चाहिये। लेकिन यह पूछा जा सकता है कि लोग अपने उपभोग मे कमी क्यो करे? इसका मुख्य कारण यह है कि उपभोग में कमी करने से ही उत्पादक वस्तुओ अथवा पूंजी का सग्रह होता है। उत्पादन में पूंजी का उपयोग करने से श्रम की उत्पादन-शक्ति बढ जाती है। इसलिये यदि हम थोडा कष्ट सहकर कुछ पूंजी जमा कर लें और फिर अपने सब साधन और शक्ति उपयोग की वस्तुएँ बनाने मे लगा दे तो बाद मे हमे उपभोग अधिक मात्रा मे मिलेगा।

बचत करने से पूँजी जमा होती है।

इसलिये पूंजी की बढ़ती बचाने की मात्रा पर निर्भर होती है और बचत लोगो की [illegible] पर निर्भर होती है। यदि आय इतनी कम है कि जीवन की केवल आवश्यकताएँ

बचत की मात्रा आय पर निर्भर होती है।

पूरी करने के बाद कुछ नही बचता तो बचत की मात्रा बहुत कम होगी। जितनी ऊँची आय होगी देश में बचत की सभावना भी उतनी अधिक होगी। लेकिन यदि आय की सतह काफी ऊँची भी हो तो इसके माने यह नही है कि लोग हमेशा उसका कुछ अश बचावेगे। बचत कई प्रकार की परिस्थितियो और विचारो पर निर्भर होती है।

बचाने की इच्छा।

कई प्रकार की इच्छाएँ मनुष्य को बचत करने की लालसा देती है। मनुष्य अग्रसोची होता है। कहावत है 'अग्रसोची सदा सुखी'। इसलिये भविष्य में बुरे दिनो के डर से मनुष्य कुछ द्रव्य बचाकर रखने की सोचता है अथवा बच्चो की शिक्षा, लडकियो की शादी और बुढापे मे आराम करने के विचार से भी मनुष्य कुछ बचत करने का विचार करता है। तीसरे वह अपने रहन-सहन का दर्जा ऊँचा करने के लिये बचाने का प्रयत्न कर सकता है। चौथे मनुष्य की यह इच्छा हो सकती है कि मृत्यु के बाद वह कुटुम्ब के लिये कुछ धन छोड जावे, स्त्री और बच्चो के भरण-पोषण का प्रबन्ध कर जावे। इस इच्छा से भी वह धन कमाने का प्रयत्न कर सकता है। पाँचवें हमारे समाज में धनी मनुष्यो का आदर होता है, इसलिये वह समाज में मान-प्रतिष्ठा पाने के लिये धन सग्रह का प्रयत्न कर सकता है। अन्तिम मनुष्य की कजूस मनोवृत्ति हो सकती है, जिसे वह अकारण डर के मारे किसी वस्तु पर खर्च करना नही चाहता। यह भी बचत का एक कारण हो सकता है। बचाने की इन इच्छाओ को हम बुद्धिमानी, दूरदृष्टि, उन्नति, कुटुम्ब-प्रेम, अभिमान और कजूसपन कह सकते है।

सार्वजनिक संस्थाओं के बचत करने के ध्येय।

वर्तमान समाज मे बचत का एक भाग मिश्रित पूँजीवाली कंपनी जैसी सार्वजनिक सस्थाओ से भी आता है। इन सस्थाओ के प्रबन्धकर्त्ता भविष्य सुरक्षित बनाने के लिये बचत करते है। घसारा या निरन्तर उपयोग द्वारा जो मूल्य ह्रास होता है, उसे पुरा करने के लिये बचत करते है। कभी-कभी मदी तथा अन्य प्रकार के सकट के समय जल्दी द्रव्य प्राप्त करने के लिये भी वे बचत करते है। कभी-कभी वे अधिक व्यावसायिक साहस करने की नीयत से भी बचत करते है। यदि वे काफी साधन जमा कर लेगे तो बिना कर्ज लिये वे अपने उद्योग का प्रसार कर सकते है।

जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा।

द्रव्य की बचत करने की प्रवृत्ति कई प्रकार की परिस्थितियो पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिये जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा अवश्य रहनी चाहिये, नही तो कोई मनुष्य कुछ नही बचावेगा। क्योकि भविष्य में आनन्द और सुख भोग के लिये मनुष्य कष्ट सहन कर जो बचत करता है उसके सुरक्षित रहने में सन्देह हो तो मनुष्य क्यो बचावेगा? वह उसका उपभोग तत्काल न कर लेगा? जिस देश में

लाभपूर्वक पूंजी लगाने की सुविधाएँ प्राप्त है, वहाँ बचत करने की प्रवृत्ति बलवान होगी। धन बचाने की प्रवृत्ति पर देश के धर्म, प्रथा, शिक्षा इत्यादि का भी प्रभाव पड़ता है।

बचत पर व्याज-दर का प्रभाव।

बचत की मात्रा पर व्याज दर का भी प्रभाव पडता है। इधर हाल में अर्थशास्त्रियो ने इसकी काफी चर्चा की ह। मार्शल जैसे लेखको के मत में व्याज दर का बचत की मात्रा पर गहरा प्रभाव पडता है। व्याज दर जितनी ऊँची होगी, अर्थात् बचत पर जितना अधिक लाभ होगा, बचाने की प्रवृत्ति उतनी ही बलवान होगी। इसके विपरीत व्याज दर कम होने पर बचाने की इच्छा कमजोर होगी। व्याज दर अधिक होने पर भी कुछ लोग ऐसे अवश्य होंगे, जो बचत कम करेगे। जिन लोगो ने केवल इतना बचाने का निश्चय किया है कि भविष्य मे एक निश्चित आमदनी भोगने को मिल जाय, उन्हे व्याज दर ऊँची होने पर अपेक्षाकृत कम बचाना पडेगा और व्याज दर कम होने पर अधिक बचाना पडेगा। कुछ लोग ऐसे भी मिलेगे जो बचाने का काम नियमपूर्वक पालेगे, व्याज की दर चाहे जो हो। ये लोग या तो धनीवर्ग के होते है अथवा बहुत अधिक अग्रसोची। इनके सिवाय मिश्रित पूंजी की कम्पनियाँ (joint-stock companies) बचत द्वारा काफी धन सग्रह करती है। परन्तु उनकी बचत का कारण व्याज की ऊँची दर नही होती। इसलिये कीन्स (Keynes) के समान लेखको ने बचत की मात्रा और व्याज दर के सम्बन्ध मे सन्देह प्रकट किया है। उनके मत मे ऊँची व्याज दर आर्थिक कार्यो को शिथिल कर देगी और मुनाफे के लिये लगने वाली पूंजी पर भी उसका प्रभाव अच्छा न होगा। फल यह होगा कि द्रव्य की कुल आय कम हो जायगी और यदि बचत की वही प्रवृत्ति रही तो बचत की मात्रा भी कम हो जायगी। बचत की कुल मात्रा दो बातो से निश्चित होती है—एक तो धन की आय की सतह और दूसरे उस आय मे से खर्च करने की प्रवृत्ति। जब धन की आय की सतह नीची होगी तो बचत की मात्रा अपेक्षाकृत कम होगी। परन्तु जैसे-जैसे आय की सतह ऊँची उठती है, वैसे-वैसे बचत की मात्रा भी बढने की आशा रहती है, यदि उसी आय से खर्च करने की प्रवृत्ति बनी रहे।

वास्तविकता यह है कि यदि एक मनुष्य सोच-विचार कर काम करनेवाला है, तो व्याज दर ऊँची होने पर वह अपनी आय मे से अधिक बचत करने का प्रयत्न करेगा। अधिक व्याज दर का अर्थ बचत पर अधिक लाभ मिलना है। इसलिये मनुष्य की बुद्धि उसे बचाने की प्रेरणा अवश्य देगी। लेकिन बचत करने मे मनुष्य अपनी बुद्धि का सबसे कम उपयोग करता है। वह नाना प्रकार के विश्वासो और सामाजिक बन्धनो से घिरा रहता है। इनके सिवाय आय में परिवर्तन होने से खर्च मे जो परिवर्तन होते है, उनके बीच सम्बन्ध स्थापन करने के लिये बचत की मात्रा 'मध्यस्थ' का काम करती है। जब उपभोक्ता की आय बढती है अथवा जब दाम गिरते है, तब उसके रहन-सहन का स्तर उसकी आय की बढती हुई क्रय-शक्ति से पिछड जाता है और वह बचत करने में

समर्थ होता है।[1] और जब वस्तुओ के दाम बढते है, अथवा आय घटती है, तब इसके विपरीत होता है। इसलिये बचत की मात्रा हमेशा मनुष्य की विवेक बुद्धि पर निर्भर नही होती। "फिर भी जब हम इस सम्बन्ध में दूर तक की समस्याओ का विवेचन करते है, तब बचत के विवेक बुद्धि सम्बन्धी सिद्धान्त अधिक तर्कपूर्ण मालूम होते है।"[2]

अध्याय १०

श्रम-विभाजन और उत्पादन का संगठन

(Division of Labour and the Organization of Production)

श्रम-विभाजन (Division of Labour)—वर्त्तमान आर्थिक व्यवस्था की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता श्रम-विभाजन है। प्रारम्भिक काल मे आदि जातियों में किसी न किसी प्रकार श्रम-विभाजन होता था। ईसाई धर्म मे आदिकाल सम्बन्धी एक कथा है, जिसके अनुसार सृष्टि के आदि मे ईडन के बगीचे मे आदम तो जमीन खोदने का काम करता था और उसकी स्त्री ईव घर मे चर्खा चलाती थी। प्रारम्भ में श्रम विभाजन कुटुम्ब तक सीमित था। कुछ समय बाद लोग कुटुम्ब के बदले ग्राम को आर्थिक इकाई मानने लगे। एक ग्राम को आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी इकाई बनाने के लिये ग्राम के विभिन्न कुटुम्ब विभिन्न धन्धे करने लगे। जैसे-जैसे भौतिक सभ्यता की उन्नति हुई, तरह-तरह की नई-नई मशीनो का आविष्कार हुआ, आवागमन के साधन सुगम हुए, जिससे बाजारो का विस्तार बढा और आर्थिक क्षेत्र अधिक विस्तृत हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि श्रम-विभाजन अधिक बारीक और जटिल हो गया।

श्रम-विभाजन के लिये दो बातें आवश्यक है—(अ) बाजार का विस्तार और (ब) लगातार उत्पादन। यदि किसी वस्तु के उत्पादन के श्रम को उचित रूप से विभाजित करना है, तो बहुत से आदमियो को कई प्रकार के कार्यो में लगाना पडेगा। इसलिये उत्पादन भी बड़े पैमाने पर करना पडेगा। जब बडे पैमाने पर उत्पादन होगा, तो

बाजार का विस्तार।

---

[1] "When the money income of the consumer is rising or when prices are falling, his standard of life will frequently lag behind the rise in the purchasing pawer of his income, he will find himself saving."

[2] Never the less, for problems of the 'long-run' variety, the conclusions of the theory of rational saving are likely to be more valid."

—*Boulding, K*, Economic Analysis, p. 65

उनकी खपत के लिये विस्तृत बाजार चाहिये, नही तो अधिक उत्पादन से कोई लाभ न होगा। अधिक उत्पादन के लिये बडे बाजार की आवश्यकता होती है। इसलिये श्रम-विभाजन बाजार के विस्तार द्वारा सीमित होता है। दूसरे यदि श्रम-विभाजन बारीक ढग पर करना है, तो उत्पादन लगातार होना चाहिये। यदि उत्पादन का काम बीच-बीच मे रुक जाता है, तो बेकारी के दिनो मे श्रमिक को अन्य काम खोजना पडता है। तब हम श्रम-विभाजन के अधिकतम आर्थिक लाभ को नही पा सकते।

लगातार उत्पादन।

श्रम-विभाजन दो प्रकार का होता है। एक साधारण और दूसरा मिश्रित (complex)। **साधारण प्रकार** के श्रम-विभाजन मे एक श्रमिक उत्पादन के कई भागो मे से एक भाग का सब प्रकार का काम पूरा-पूरा करता है, जैसे कि जूता बनानेवाला मोची या बढई। **मिश्रित प्रकार** के श्रम-विभाजन मे उत्पादन के कई भागो मे से एक भाग का काम भी कई आदमियो और विभागो मे बँट जाता है। जूते के कारखाने मे जूते का एक जोडा एक आदमी द्वारा नही बनाया जाता। उसमे अस्सी आदमियो का श्रम और कारीगरी लगी रहती है। श्रम-विभाजन का एक अन्य पहलू है, जिसे **भौगोलिक श्रम-विभाजन** (geographical division of labour) कहते है। जब रेलवे, नहर और जहाजो के आविष्कार के कारण आवागमन के साधनो मे उन्नति हुई तो कोई स्थान-विशेष अथवा देश-विशेष किसी वस्तु-विशेष के उत्पादन में विशेषता प्राप्त करने लगा। बहुधा उस स्थान अथवा देश को उस वस्तु-विशेष के उत्पादन की कुछ स्वाभाविक सुविधाएं अथवा रुचि या कारीगरी प्राप्त रहती है। उदाहरण के लिये बगाल विशेषकर जूट की फसल पैदा करता है, और बरार कपास।

भौगोलिक श्रम-विभाजन

श्रम विभाजन से लाभ और हानि (Advantages and Disadvantages of Division of Labour)—श्रम-विभाजन के लाभ बहुत पहिले ऑडम स्मिथ ने वर्णन कर दिये है। सबसे बडा लाभ यह है कि उत्पादन मे बहुत अधिक वृद्धि होती है। ऑडम स्मिथ ने लिखा था कि आलपीन बनानेवाला एक मनुष्य अकेले दिन भर मे २० पिन से अधिक नही बना सकता, परन्तु यदि उचित रूप से श्रम-विभाजन कर दिया जाय तो १० मनुष्य एक दिन मे कम से कम ४,८०० पिन बना सकते है। उत्पादन मे इस वृद्धि के कई कारण है। पहिला कारण यह है कि यदि काम का विभाजन उचित ढग से किया जाय तो प्रत्येक मनुष्य को वह काम दिया जा सकता है, जिसके लिये वह सबसे अधिक उपयुक्त है। इसमें श्रम की फिजूल-खर्ची न होगी, क्योंकि जो काम एक साधारण बेसीखा मजदूर कर सकता है, वह काम एक सीखे हुए कारीगर को न करना पडेगा। इसमे अपनी रुचि के अनुसार काम करने का उसको अच्छा मौका मिलता है। दूसरा कारण यह है कि श्रम-विभाजन से प्रत्येक मनुष्य की योग्यता बढ जाती है। जब कोई मनुष्य बहुत समय तक लगातार एक ही काम

उचित मनुष्य को उचित काम पर लगाता है।

श्रमिक को अधिक कुशल बनाता है।

करता रहता है, तो वह उसके करने मे विशेष कुशलता प्रा कर लेता है। इसलिये स्वाभाविक है कि श्रमिक कार्यकु हो जायँगे। इस प्रकार की कुशलता प्राप्त करने में एक अ लाभ है। सभव है कि एक आदमी दूसरे की अपेक्षा प्रत्ये काम को अच्छे ढग से करे, परन्तु उसकी कारीगरी भी अन्य वस्तुओं की अपेक्षा कु कामो मे विशेषरूप से दिखाई देगी। यदि ठीक से श्रम-विभाजन किया जाय तो आदमी केवल वही काम करेगा, जहाँ उसकी कुशलता सबसे अधिक चमके तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त (theory of 'comparative cost') सम्बन्ध मे यह नियम विशेषरूप से लागू होता है और इससे विदेशी व्यवसाय में देश बहुत लाभ होता है। तीसरा कारण यह है कि श्रम-विभाजन के समय और औजारो

समय और औजारों की बचत होती है।

बचत और किफायत होती है। चूंकि श्रमिक का एक प्रकार का काम लगातार करना पडता है, इसलिये एक क से दूसरे काम पर जाने मे उसका समय नष्ट नही हो समय की बचत अन्य प्रकार से भी होती है। चूंकि श्र को उत्पादन कार्य का एक अश सीखना पड़ता है, इसलिये सीखने मे भी अधिक स नही लगता। इस प्रकार समय और श्रम की बचत हो जाती है। औजारो की भी बचत होती है। प्रत्येक मशीन एक विशेष प्रकार के काम मे लाई जाती है। उसे कई प्रकार के कामो के लिये बार-बार खोलना-जमाना नही पडता। चौथा कारण यह है—श्रम-

मशीनो का आविष्कार होता है।

विभाजन के कारण मशीनो का आविष्कार बहुत अधिक हुआ है। ऑडम स्मिथ ने एक उदाहरण दिया है। एक लडका भाप के इंजिन पर काम करता था। उसने एक उपाय ढूंढ निकाला, जिससे उसका काम भी चालू रहे और उसे खेलने के लिये समय भी मिल जाय। इस उपाय ने भाप-इजिन मे बहुत उन्नति कर दी। ज्यो-ज्यो उत्पादन का क्रम बँटता जाता है, त्यो-त्यो वह अधिक सरल भी होता जाता है। यहां तक कि कुछ काम केवल मशीनो द्वारा हो सकते है। इस प्रकार श्रम-विभाजन से उत्पादन में बहुत वृद्धि होती है और उत्पादन की लागत मे काफी कमी हो जाती है।

लेकिन श्रम-विभाजन से कई प्रकार की हानियाँ भी होती हैं। जब मनुष्यो मे अत्यधिक श्रम-विभाजन हो जाता है, तो उससे निम्नलिखित हानियाँ होती हैं। एक

योग्यता की हानि होती है।

तो कुशलता और जिम्मेदारी कम हो जाती है। श्रमिक केवल मशीन चलानेवाला रह जाता है। उसे अपने काम मे आनन्द नहीं मिलता, अपनी बनाई हुई चीजो पर अभिमान नही होता, क्योंकि वास्तव में वह उसकी बनाई हुई नहीं है। न जाने उसमे कितने मनुष्यो का श्रम लगा है और शायद वे मनुष्य एक दूसरे से हजारो मील दूर रहते है। एक दूसरे से परिचित नही है। एक वस्तु को पूर्णरूप से बनाने की जिम्मेदारी हजारो लोगो में बँटी हुई है, इससे वह किसी की जिम्मेदारी नही रह जाती।

मनहूसियत आ जाती है

दूसरे श्रम-विभाजन से एक मनहूसियत आ जाती है। दिन पर दिन उसी मशीन पर वही काम करते-करते बुद्धि मंद हो जाती है, कला-भाव मंद पड़ जाता है और दृष्टि संकुचित हो जाती है। मनुष्य में किसी नये काम पर हाथ उठाने की क्षमता और आत्मविश्वास नहीं रह जाता। तीसरे किसी काम के एक अंग पर अत्यधिक निर्भर होने से बेकारी का खतरा बढ़ जाता है। यदि किसी कारण से उस वस्तु की माँग कम हो जाय तो उसके उत्पादन में लगे हुए आदमी बेकार हो जायँगे।

उससे बेकारी का डर रहता है।

उत्पादन बन्द होने का डर रहता है।

उद्योगों का स्थानीयकरण होता है।

अत्यधिक स्थानानुसार श्रम-विभाजन (territorial division of labour) के कारण निम्नलिखित हानियाँ हो सकती हैं। यदि देश का एक भाग किसी एक वस्तु पर निर्भर हो जाता है और यदि किसी कारण से उस वस्तु का उत्पादन रुक जाता है, तो वह निर्भरता उस भाग के लिये खतरनाक हो जाती है। यदि एक देश अपने आवश्यक अन्न के लिये किसी अन्य देश पर निर्भर है, तो युद्ध होने पर अन्न का आयात बन्द हो सकता है। दूसरे अत्यधिक स्थानानुसार श्रम-विभाजन से उद्योग-धन्धों का स्थानीयकरण (localization of industries) हो जाता है। स्थानीय धंधे में केवल एक प्रकार के मजदूरों की माँग होगी, लोहे के धन्धे में बलिष्ठ लोगों की माँग रहती है। वहाँ स्त्रियों और बच्चों के लिये काम नहीं रहता। इसलिये वहाँ के मजदूरवर्ग के एक कुटुम्ब की औसत आय बहुत कम होगी, चाहे कुटुम्ब के पुरुष भले ही अपेक्षाकृत अधिक मजदूरी पाते हों। इसका उपाय यह है कि ऐसे बड़े-बड़े उद्योगों के आस-पास सहायक उद्योग स्थापित करने चाहिये, जहाँ स्त्रियों और बच्चों को भी काम मिल सके।

मशीन के उपयोग के आर्थिक परिणाम।

मशीन का उपयोग (The Use of Machinery)—हम देख चुके हैं कि आधुनिक जीवन में श्रम-विभाजन ने जो जटिल रूप धारण कर लिया है, उसका मशीन के आविष्कार और औद्योगिक क्रान्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब हम यह विचार करेंगे कि श्रमिकों का काम मशीनों से लेने से उसके आर्थिक परिणाम क्या होते हैं और उनसे क्या बुराइयाँ पैदा होती हैं। मशीन का उपयोग करने से निम्नलिखित आर्थिक परिणाम होते हैं। कुछ ऐसे काम होते हैं, जो केवल मनुष्य की शक्ति से पूरे नहीं हो सकते। उनमें मशीन और प्रकृति की शक्तियों का उपयोग आवश्यक होता है। कुछ ऐसे काम होते हैं, जो मशीनों की सहायता से बड़ी सरलता से किये जा सकते हैं। एक क्रेन (crane) आज जिन भारी वजनदार वस्तुओं को उठा देता है वे मनुष्य की शक्ति से नहीं उठ सकतीं। प्रायः मनुष्य की अपेक्षा मशीन कहीं तेजी से काम करती है और मनुष्य से अधिक उत्पादन भी करती है। मशीन के कारण

नही होता, एक-सा होता है। यह बात मनुष्य मे नही पाई जाती। क्योकि मशीन तो अपना क्रम ठीक उसी प्रकार दुहराती रहती है। मशीन के पेंच-पुरजो की बनावट आकार-प्रकार एक-सा रहता है, वे एक नाप-तौल के बने रहते है। यदि एक पुरजा खराब हो जाता है, तो वह आसानी से बदला जा सकता है। उसकी जगह दूसरा पुरजा लगा दिया जायगा और मशीन फिर पूर्ववत् काम करने लगेगी। पेच-पुरजे बदलने की सुविधा ने मशीन की उपयोगिता बढा दी है। उसका उपयोग बडे पैमाने पर होता है और उसके कारण उत्पादन की मात्रा भी बहुत बढ गई है। इन सबका फल यह हुआ है कि वस्तुएँ सस्ती हो गई है। बहुत-सी वस्तुएँ जो पहिले केवल धनी मनुष्यो के पहुँच के भीतर थीं, अब मजदूरो की पहुँच के भीतर आ गई है।

श्रम पर मशीन का प्रभाव (Effects of Machinery on Labour)—मशीन शारीरिक श्रम को कम कर देती है। जिस काम मे अधिक शारीरिक श्रम की आवश्यकता होती है, उसे मशीन की सहायता से किया जा सकता है। जिन कार्यों मे लगातार एक क्रम रहता है और जिनके करने मे मनहूसियत-सा लगता है, वे सब मशीनो द्वारा किये जाते है। आजकल समाचार-पत्र छापने की मशीन, पत्रो की तह भी लगा देती है। मोडने और तह लगाने का काम बडे मनहूसपने का काम है। दूसरे मशीन का उपयोग करने के लिये श्रमिको मे कुछ बुद्धि और जिम्मेदारी होनी चाहिये, तब वे ठीक तौर से मशीन का उपयोग कर सकते है। आजकल जो श्रमिक मशीनो पर काम करते है, वे बुद्धिमान और जिम्मेदारी पहिचाननेवाले व्यक्ति होते है। मशीन श्रम के गुणो को उन्नत कर देती है। विभिन्न व्यवसायो मे जो भेद होते है, उन्हे मशीन दूर कर देती है और श्रम को अधिक सचल बना देती है। जो मशीन एक वस्तु बनाने के उपयोग में आती है, उन्हे थोडे हेर-फेर के साथ हम किसी दूसरी वस्तु के बनाने में लगा सकते है। इसलिये यदि कोई मजदूर चाहे तो वह एक व्यवसाय से दूसरे मे जा सकता है। उदाहरण के लिये घडियाँ और बन्दूक बनाने की मशीने प्राय एक-सी होती है। इसलिये जो श्रमिक घडियाँ बनाने की मशीनो पर काम करता है, वह चाहे तो बन्दूक बनाने के कारखाने में भी काम कर सकता है, जहाँ उसी प्रकार की मशीने चलती है। अन्तिम, मशीनो से श्रमिक की योग्यता और श्रम की दर दोनो बढ जाती है। उत्पादन की प्रथा जितनी अधिक पूँजीवादी होगी, उतना अधिक मशीनो का उपयोग होगा, उसी प्रकार उत्पादन की लागत दर भी कम होगी और लाभ अधिक होगा। फलत मजदूरी की दर ऊँची होगी।

श्रम पर मशीनों का प्रभाव।

मशीन से हानियाँ (Disadvantages of Machinery)—परन्तु मशीनो के उपयोग से मनुष्यो मे बेकारी फैलती है। इसलिये मशीनो का एकाएक उपयोग श्रम के हितो के विरुद्ध जाता है। जिस काम से हजारो मनुष्यो का भरण-पोषण होता वह मशीनो की सहायता से थोडे से मनुष्यो द्वारा हो सकता है और बाकी लोगो को

सडको पर मारा-मारा फिरना पडता है। औद्योगिक क्रान्ति (१७६०-१८२०) के समय इग्लैंड मे ऐसा हुआ था। भारतवर्ष मे वही हाल अब हो रहा है।

मशीन का सबसे अधिक हानिकर प्रभाव पूँजीपति और श्रमिको के आपस के सम्बन्धों पर पडता है। जो श्रमिक पहिले ग्रामीण उद्योगो मे लगे थे, वे एकाएक बेकार हो गये और काम की खोज मे बडे-बडे औद्योगिक केन्द्रो की ओर जाने को लाचार हुए। उन्हे बडे-बडे कारखानो मे काम मिल सकता है, पर उनकी पहिले की स्वतन्त्रता चली जाती है। कारखाने के ऊँची तनख्वाह पानेवाले मैनेजर और श्रमिको मे व्यक्तिगत सम्बन्ध नही रहता। वे एक प्रकार से मशीनो के एक अग हो जाते है। ग्रामीण उद्योगो मे जो मधुर कौटुम्बिक वातावरण होता था, वह चला जाता है। पूँजीपति और श्रमिक सोचने लगते है कि उनके स्वार्थ परस्पर विरोधी है। श्रेणी-युद्ध या वर्ग-युद्ध के बीज पडने यही से आरम्भ होते है। मशीन का हानिकर प्रभाव श्रमिको के स्वास्थ्य और नैतिक विचारो पर भी पडता है। उन्हे कई घंटो तक लगातार अस्वास्थ्यकर वातावरण मे काम करना पडता है और अस्वास्थ्यकर बस्तियो मे रहना पडता है। स्त्रियो और बच्चो से उनके स्वास्थ्य का विचार किये बिना काम लिया जाता है। स्त्रियो और पुरुषो के मेल-जोल मे कोई बाधा नही रहती और उन लोगो के निवास-स्थान इस प्रकार के होते है कि उनमे दूषित अनैतिकता का शीघ्र प्रचार हो जाता है। ये सब बुराइयाँ केवल मशीन के उपयोग के कारण उत्पन्न नही होती और न ये स्थायी होती है। औद्योगीकरण की प्रारभिक स्थिति मे उचित प्रबन्ध न करने से तथा पूँजीपतियो के लालची स्वभाव के कारण ये बुराइयाँ उत्पन्न होती है। यदि कारखानो सम्बन्धी (factory laws) कानूनो का उचित रूप से पालन किया जाय और यदि लोग मजदूर कल्याण कार्य (labour welfare) मे अधिक दिलचस्पी लेने लगे तो ये बुराइयाँ बहुत हद तक दूर हो सकती है। मशीन के उपयोग मे कुछ त्रुटियाँ अवश्य है, परन्तु जाति का उसमे बहुत लाभ हुआ है। उनमे मनुष्य जीवन अधिक सुखी और पूर्ण हो गया है।

कुछ त्रुटियो के रहते भी मशीन मनुष्य के लिये लाभदायक सिद्ध हुई है।

मशीन और बेकारी (Machinery and Unemployment)—हमेशा तो नही, पर प्राय मशीनो से श्रम की बचत होती है। जब मशीनो का उपयोग आरम्भ होता है, तब प्राय कुछ समय के लिये कुछ श्रमिको की आवश्यकता नही रहती। जो काम पहिले सौ मनुष्यो द्वारा होता था, वही अब पाँच मनुष्यो द्वारा पूरा हो सकता है। इसलिये कुछ समय के लिये मशीनो के उपयोग से श्रमिको में साधारणत बेकारी फैलती है। पूँजी और श्रम मे एक प्रतियोगिता सी होती है और वे एक दूसरे का स्थान छीनने ।

इस कारण से श्रमिक प्राय मशीन के उपयोग का विरोध करते आये है। औद्योगिक क्रान्ति के समय में इग्लैंड मे मजदूर बहुत लडाई-झगडे करते थे और ...

आविष्कार और बेकारी।

लगाई हुई मशीनें तोड-फोड देते थे, क्योकि उन्ही के कारण उनमें बेकारी फैलती थी। परन्तु परिस्थिति इतनी बुरी नही है, जितनी मजदूर नेता उसे बतलाते है। वाद-विवाद के जोश में लोग यह भूल जाते है कि मजदूर और पूंजी के सहयोग से राष्ट्रीय आय सम्भव होती है। विना श्रम के पूंजी मरी हुई वस्तु है और विना पूंजी के श्रम अयोग्य रहता है। परस्पर सहयोग करने से दोनो की आय बढती है। वास्तव में मशीनो के उपयोग से दीर्घ काल में बेकारी की जगह राष्ट्र में कुछ काम बढता है और अधिक लोग काम पाते है। मान लो कपडे के उद्योग में एक मशीन लगाई गई है, जिससे श्रम की बचत होती है। तो कुछ समय के लिये कुछ आदमी बेकार अवश्य हो जायँगे। परन्तु शीघ्र ही उन्हें फिर काम मिल जायगा। मशीनो के उपयोग के कारण [illegible] कपडे सस्ते हो जायँगे। यदि इन कपडो की माँग लोचदार है, तो उपभोक्ता उन्हें अधिक खरीदेंगे। इससे उद्योग का विस्तार होगा और बेकार श्रमिको में से कुछ को फिर काम मिल जायगा। परन्तु यदि माँग बेलोच है और उपभोक्ता अपनी कपडे की खरीद नही बढाते तो उन कपडों की बिक्री कम होगी और वह पहिले की अपेक्षा सस्ता हो जायगा। इसलिये उपभोक्ता के पास अन्य वस्तुओ पर अधिक खर्च करने के लिये कुछ द्रव्य बच जायगा। फल यह होगा कि अन्य उद्योगो में उत्पादन बढेगा और उनमे से कुछ बेकार श्रमिको को काम मिलेगा। कुछ श्रमिको को मशीन बनाने के कारखानो मे काम मिलेगा। अन्तिम मशीनो के उपयोग से काम में लगे हुए श्रमिको को पहिले से अधिक मजदूरी मिलेगी, क्योकि मशीनो की उत्पादन योग्यता बढ जाती है। अब ये श्रमिक वस्तुओ पर अधिक खर्च करेंगे और इनकी आवश्यकताएँ पूरी करने में अन्य मजदूरो को काम मिलेगा। इस प्रकार धीरे-धीरे बेकार मजदूरो को किसी न किसी धन्धे मे काम मिल जायगा। यह भी याद रखना चाहिये कि मशीनो के कारण वस्तुओ के दाम सस्ते हो जाते है और जहाँ तक उपभोक्ता की दृष्टि से मजदूरो का सम्बन्ध है, वहाँ तक सम्पूर्ण मजदूरवर्ग की भलाई होती है। वास्तव में जिन वस्तुओ का उपयोग अधिकतर मजदूरवर्ग करता है, उनमें उन्नति और आविष्कार अधिक जल्दी होते है। इसलिये यह कहना सत्य है कि निकट काल में पूंजी और श्रम प्रतियोगी है, तथापि दीर्घकाल में वे सहयोगी है।

यह सब दीर्घकाल में होता है। अन्तरिम काल मे जब बहुत हेर-फेर होते है, तब बहुत से श्रमिक बरबाद हो सकते है। बहुत से श्रमिक बहुत कष्ट और प्रयत्न के बाद किसी ऐसे धधे में काम पावेंगे, जिसे उन्होने सीखा नही है। इसलिये उन्हे मजदूरी कम मिलेगी। बेकारी का समय एक ओर तो उद्योगपतियो पर निर्भर करता है कि नई परिस्थितियो का उपयोग वे कितने समय मे करते है और दूसरी ओर श्रमिको पर निर्भर करता है कि वे कितने समय मे नये धन्धो में काम करने योग्य हो सकते है।

उद्योग मे बड़ी मात्रा की उत्पत्ति के लाभ (The Advantages of Large Scale Production in Manufacture)—श्रम-विभाजन औ

मशीन के उपयोग का निश्चित परिणाम वडी मात्रा में उत्पादन होता है। वडे पैमाने पर उत्पादन से कुछ लाभ होते हैं। मार्शल के समवन उन लाभो को हम उत्पादन की आन्तरिक और वाह्य वचत कह सकते हैं।

वाह्य वचत (External economics) उसे कहते हैं, जो किसी एक कारखाने या फर्म के विस्तार के कारण नही होती। वह देश भर के पूरे उद्योग के विस्तार के कारण होती है। इसका अच्छा उदाहरण वडी मात्रा में वनाई जानेवाली मगीनो की कीमत है। कपडे की मिले जितनी अधिक होगी, उनकी मशीने उतनी अधिक मात्रा में वनाई जावेगी और उनकी कीमत भी कम होती जायगी। स्थानीयकरण के लाभ इसी वर्ग में आते हैं।

वड़े उद्योग मे उद्योग सम्बन्धी पत्रिकाएँ (Trade Journals) और अन्य टेकनिकाल विषय सवधी प्रकाशन प्रकाशित किये जा सकते है। इनको प्रकाशित करना लाभदायक सिद्ध होता है क्योकि इनसे उद्योग के अन्तर्गत सभी फर्मो को लाभ पहुँचता है। जैसे-जैसे उद्योग का विस्तार एवम् प्रसार होता है उसकी उत्पादन क्रियाओ को कई भागो में वाँट दिया जाता है और हर भाग का कार्य सभी पक्षो के पारस्परिक लाभ को दृष्टि में रखते हुए विशेषत· फर्मे सम्पन्न करती है। एक क्षेत्र में जितनी ही अधिक सूती मिलें होगी उस क्षेत्र में मरम्मत के कारखाने स्थापित करना भी उतना ही लाभदायक होगा। मशीनो की मरम्मत के सिलसिले में मिलें विशेषज्ञो की सलाह और उनकी सहायता माँगती है और मरम्मत करने वाली फर्मे भी अपने अधिक ग्राहक होने से लाभ में रहती है। जब अनेक काखाने एक ही स्थान पर केन्द्रित हो जाते है उन्हे कुशल लाभ मजदूरो की उपलब्धि से, मजदूरो के प्रशिक्षण की व्यवस्था से और यातायात की अच्छी सुविधाओ से विशेष लाभ होता है। यह ध्यान मे रखने की वात है कि एक कारखाने के लिए जो वाह्य वचत होती है वही दूसरे कारखाने के लिए आन्तरिक वचत होती है। उदाहरण के लिए सूती मिलो को मशीनो का उत्पादन करनेवाली फर्मों की आन्तरिक वचत के कारण ही कम कीमत पर मशीनें उपलब्ध हो सकती हैं।

आन्तरिक वचत (Internal Economics) वह है, जो किसी फर्म को उसके विस्तार के कारण प्राप्त होती है। इस प्रकार की वचत एक तो उद्योग के साधारण विस्तार पर निर्भर होती है और दूसरे फर्म विशेष के योग्यतापूर्ण प्रवध और परिचालन पर। वडी मात्रा मे उत्पादन मे लगे हुए किसी फर्म को निम्नलिखित प्रकार की आन्तरिक वचत हो सकती है।

(१) योग्यता की वचत—लाभप्रद उत्पादन के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक मनुष्य एक निश्चित कार्य मे लगातार लगा रहे और वह कार्य ऐसा हो, जिसमें वह अपनी शक्ति से अधिक कुशलता और योग्यता दिखा सके। श्रम-विभाजन को उसकी चरम सीमा तक पहुँचा देने से योग्यता की वचत प्राप्त होती है।

(२) **मशीन की वचत**—कोई वडा कारखाना कीमती मशीनो का उपयोग कर सकता है, जो किसी विशेष कार्य के लिये वनाई गई हो। वह अच्छो से अच्छी और नवीनतम मशीने खरीद सकता है। इससे उसे छोटे कारखानो की अपेक्षा बहुत लाभ होगा।

(३) **सामान की वचत**—वडे कारखाने मे उप-उत्पत्ति या फालतू पैदावार (by-product) का उपयोग करके खर्च घटाया जा सकता है और लाभ वढाया जा सकता है। यदि उप-उत्पत्ति से कुछ कीमत प्राप्त हो जाय तो प्रधान वस्तु कम दाम पर बेची जा सकती है।

(४) **वड़े पैमाने पर खरीद और बिक्री से वचत**—वडे कारखाने को कच्चे सामान सस्ती दर से मिल जाते है। उसकी बिक्री की लागत या खर्च भी कम होता है। वह अच्छे ढग से विज्ञापन कर सकता है और प्रति इकाई पर विज्ञापन का खर्च कम होगा। वह फुटकर बिक्री के लिये अपनी दूकानें खोल सकता है और मुनाफा खुद ले सकता है।

(५) **बाजार की तेजी-मंदी का प्रभाव वड़े कारखाने पर छोटे कारखाने की अपेक्षा कम पड़ता है**—वडे कारखाने का प्रवन्धकर्त्ता या मैनेजर प्राय. ऐसा व्यक्ति होता है, जिसे काफी दूरदर्शिता और अनुभव होता है। वह वतला सकता है कि उसके कारखाने के उत्पादन की माँग भविष्य में कैसी होगी। उसी हिसाब से वह उत्पादन का सचालन करता है। वह प्रतियोगिता का मुकाबिला साहसपूर्वक करता है। प्रवन्धकर्ता अपना समय कारखाने की छोटी-छोटी बातो में नष्ट नही करता। वह अपनी बुद्धि और ज्ञान बाजार की परिस्थिति जानने में लगाता है। उसका सतत प्रयत्न लागत खर्च कम करने और माल की बिक्री वढाने की ओर रहता है।

(६) **प्रयोग और अनुसन्धान**—वडा कारखाना प्रयोग और अनुसन्धान पर काफी खर्च कर सकता है। परन्तु इससे उसका खर्च प्रति इकाई अधिक नही बढता वह उत्पादन के तरीको में उन्नति कर सकता है। नये-नये कच्चे सामानो का उपयोग कर सकता है और वैज्ञानिक अनुसन्धान का लाभ सबसे पहिले उठा सकता है।

छोटी मात्रा मे उत्पादन (Small-Scale Production)—अब तक हमने वडी मात्रा के उत्पादन के लाभो पर विचार किया। यद्यपि देश के औद्योगिक ढाँचे में वडे कारखानो का महत्त्वपूर्ण स्थान है फिर भी बडे कारखानो के साथ-साथ अनेक छोटे कारखाने भी चलते रहते हैं। भारत की राष्ट्रीय आय समिति (National Income Committee) की प्रथम रिपोर्ट के अनुसार वडे कारखाने कुल उत्पादन का केवल १२ प्रतिशत पैदा करते है जब कि छोटे कारखाने जो अधिकतर घरेलू कारखाने है ६१.३ प्रतिशत का उत्पादन करते हैं। १९३५ की उत्पादन-गणना के अनुसार ब्रिटेन में कुल २५७.४ हजार फर्मो में से २३५.५९ हजार फर्मो में प्रत्येक मे ५० से कम कर्मचा

काम करते है। दूसरे शब्दो मे ब्रिटेन के कुल कारखानो मे छोटे कारखानो का बहुत अधिक प्रतिशत है।

व्यवसाय के विस्तार की सीमा (Limits of the Expansion of a Business)—अब प्रश्न यह उठता है कि बडे पैमाने के लाभप्रद उत्पादन को देखते हुए कारखानो का बहुत अधिक विस्तार क्यो नही होता? वास्तव में प्रत्येक उद्योग मे हम छोटे-छोटे कारखाने देखते है। इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है कि बडी मात्रा मे उत्पादन से होनेवाले लाभ की भी सीमा होती है। बात यह है कि जब किसी फर्म का विस्तार होता है, तब प्राय. उससे होनेवाले लाभ मे क्रमागत ह्रास होने लगता है। विस्तार के कारण उसके सामने बहुत-सी कठिनाइयाँ भी आ जाती है। एक-तो श्रम-विभाजन और बड़ी मशीनो से होनेवाली बचत की भी सीमा होती है। एक स्थिति ऐसी आती है, जब अधिक विस्तार से मशीन सम्बन्धी लाभ नही होता। "छोटी भट्टी की अपेक्षा बडी भट्टी मे अधिक बचत होती है। परन्तु एक स्थिति ऐसी आ जाती है, जहाँ से अधिक विस्तार मे लाभ नही होगा।" दूसरे मनुष्य की शक्ति की भी एक सीमा होती है। इस कारण से भी फर्म के विस्तार मे बडी बाधा होती है। व्यवसाय के विस्तार के साथ-साथ प्रबन्ध और देख-रेख सम्बन्धी कठिनाइयाँ भी बढती जाती है। जब श्रम-विभाजन अधिक बढता है, और एक नई शाखा या नया विभाग खोला जाता है, तब विभिन्न विभागो को सम्बद्ध करने का काम अधिक कठिन हो जाता है। "एक बडा फर्म पहियो के अन्दर पहियो की एक कतार के समान है। वह एक शासनसूत्र के समान है। जिसमे प्रत्येक निर्णय लेते समय एक आदमी की सलाह लेनी पडती है, दूसरे आदमी से पूछ-ताछ करनी पडती है, तीसरे आदमी से आज्ञा लेनी पडती है, चौथे आदमी से समझौता करना पडता है और इस प्रकार निर्णय लेने मे चाहे जितना समय लग जाता है।" एक समय ऐसा आता है, जब फर्म बहुत भारी हो जाता है और उसका प्रबन्ध करना कठिन हो जाता है। विभिन्न विभागो को सम्बद्ध और सगठित करना, हजारो श्रमिको के काम की देख-रेख करना, कई शाखाओ को सँभालना यह सब काम इतना भारी हो जाता है कि बडी मात्रा मे उत्पादन की जो बचत होती है, उन सबको वह निगल जाता है। तीसरे बडे पैमाने पर उत्पादन करने के लिये किसी फर्म को काफी धन की आवश्यकता पडेगी। सम्भव है कि विस्तार करने के लिये उपयुक्त समय पर पैसा न मिले। जो व्यवसायी अपने फर्म का विस्तार करना चाहे, यदि उसके पास आवश्यक धन नही है, तो उसे बैंक अथवा अन्य सस्थाओ से लेने का प्रबन्ध करना पडेगा। परन्तु सम्भव है कि वे व्याज दर अधिक मागे, जो वह न दे सके। तब वह अपने फर्म को मिश्रित पूँजीवाली कम्पनी (joint-stock company) बनाकर जनता से रुपया इकट्ठा करने का प्रयत्न करेगा। तब उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता समाप्त हो जायगी क्योंकि उसे हिस्सेदारो की इच्छानुसार काम करना पडेगा। इससे उसके साहस और योग्यता

सम्बद्ध करने की कठिनाई

धन सम्बन्धी बाधाएं।

पर विपरीत प्रभाव पड सकता है। जिससे उसके फर्म का सुप्रवन्ध और कुशलता विगडने का डर रहता है।[1] चौथा उत्पादित माल मे काफी तेजी-मदी का डर रहता है। इनसे वडा कारखाना नुकसान मे आ सकता है। वडे कारखाने का ढाँचा और प्रवन्ध वडे पैमाने पर होता है। इसलिये जव माँग का रुख वदलता है, तो कारखाने को नई परिस्थितियो के अनुसार वदलने में वडी कठिनाई होती है। इसके कारण व्यवसाय के विस्तार मे वडी वाधा आती है। अन्त मे यद्यपि किसी फर्म मे विस्तार द्वारा उत्पादन की वचत करने की शक्ति होती है, परन्तु वह वास्तव मे ऐसा करने मे समर्थ न हो, क्योकि 'विस्तार की लागत'[2] के कारण उसे लाभ की सभावना न हो। विस्तार की लागत वाधक वन सकती है। अपने उत्पादन की विक्री के लिये फर्म को रुपया खर्च करना पडेगा। विस्तार करने के प्रयत्न मे विक्री का सगठन करने मे इतना खर्च वढ सकता है कि विस्तार से कोई लाभ न हो। अपूर्ण वाजार तथा उदासीन खरीदार व्यवसाय के विस्तार को सीमित कर देते है।

विस्तार की लागत।

छोटे कारखानो को उत्पादन सम्वन्धी कुछ सुविधाएँ प्राप्त रहती है, जिनके कारण उनका अस्तित्त्व वना रहता है। छोटे व्यवसायो के मालिको की व्यक्तिगत शक्ति उनकी वडी भारी सम्पत्ति और साधन होती है। कुछ ऐसे आदमी होते है, जो दूसरो की अपेक्षा स्वय अपने लिये अधिक लगन और योग्यता के साथ काम करेगे। वे काम का प्रत्येक अग अच्छी तरह देख-भाल कर सकते है। मजदूर हरदम उनकी दृष्टि के सामने रहते है, इस लिये कामचोरी का मौका नही आता। मालिक के व्यक्तित्त्व और कार्यशक्ति का प्रभाव नौकरो पर भी पडता है और वे जी लगाकर काम करते है। छोटे व्यवसायी की दूसरी सुविधा यह है कि उसके सामने परस्पर विरोधी विभागो को सम्वद्ध करने का प्रश्न नही आता। छोटे-से फर्म को थोडे-से आदमियो से सलाह और पछ-ताछ करनी पडती है, इसलिये वह निर्णय भी शीघ्रतापूर्वक कर सकता है। जिस उद्योग मे जल्दी-जल्दी तत्काल निर्णय करने पडते है, वहाँ छोटे फर्मो की ही विजय होती है और वे उन्नति करते हैं। इसलिये जिन उद्योगो में फैशन और उत्पादन के तरीके जल्दी-जल्दी वदलते रहते है, उनमें अधिकाश छोटे फर्मो की वहुतायत रहती है। इन उद्योगो में प्रामाणिकता या दर्जावन्दी (Standardisation) सभव नही होती। छोटे उत्पादक को कलात्मक वस्तुएँ वनाने की भी सुविधाएँ रहती हैं। वह प्रत्येक वस्तु के वनाने मे अधिक समय लगा सकता है। उसकी वस्तुओ की वनावट अच्छी रहेगी। इस प्रकार के उद्योगो में अभी तक छोटे उत्पादक वडे-वडे उत्पादकों का मुकाविला साहस और सफलतापूर्वक करता आया है।

छोटे उत्पादक की सुविधाएँ।

---

[1] *T. Scitorsky*, Welfare and Competition, pp 193-200

[2] *E A G Robinson*, 'The Structure of Competitive Industry', 120.

अंत में, ऐसा सदैव नही होता है कि जहाँ कही बडे कारखाने स्थापित किये जायें वहां उनके कारण छोटे कारखाने बन्द हो जाते हो। बिजली के अधिकाधिक उपयोग से छोटे और स्वतत्र कारखानो के विकास की नयी सभावनाये पैदा होती जा रही है। "पानी के जहाज और ट्रेन की अपेक्षा विमान, मोटर आदि सवहन के छोटे साधन है। जेट इजन पुराने पिस्टन इजन से छोटा, सस्ता और अधिक सरल यत्र है।"[1] कम-से-कम एक अमेरिकी विशेषज्ञ ने यह मत प्रकट किया है कि आधुनिक टेकनिकल बात छोटे कारखानो के लिये लाभदायक सिद्ध हो रही है। इसलिए हमे सदैव कुशल और अधिक उत्पादन शक्ति वाले कारखानो मे चुनाव करना नही होता। वास्तव मे हमे सामाजिक दृष्टि से अहितकर या अवाछित बडे कारखानो और सामाजिक दृष्टि से हितकर या वाछित कम उत्पादन क्षमता वाले कारखानो के बीच चुनाव करना पडता है। दोनो प्रकार के सर्वोत्तम कारखानो की स्थापना असम्भव नही है।

उद्योगों का स्थानीयकरण (Localization of Industries) उद्योगो के स्थानीयकरण का अर्थ यह है कि विशेष प्रकार के धन्धे देश के अलग-अलग स्थानो में केन्द्रित हो जाते है। जब एक ही वस्तु बनानेवाले या बेचनेवाले बहुत-से फर्म विशेष क्षेत्रों मे केन्द्रित हो जाते है, तब ऐसा कहा जाता है कि इस उद्योग का इस क्षेत्र में स्थानीयकरण हो गया। जैसे कि भारत मे जूट का उद्योग कलकत्ता में केन्द्रित है और स्कॉटलैण्ड में डडी मे। भारतवर्ष के सूती कपडे का उद्योग बहुत कुछ बम्बई और अहमदाबाद मे केन्द्रित है।

स्थानीयकरण के कारण।

देश के विभिन्न भागो में विभिन्न उद्योगो का स्थानीयकरण किन कारणो से होता है? कोई भी उत्पादक अपने व्यवसाय को ऐसे स्थान में स्थापित करने का प्रयत्न करेगा, जहाँ उत्पादन-खर्च कम-से-कम हो। इसलिये वह स्थान चुनते समय कई बातो को ध्यान में रखेगा। जिसमे एक तो उत्पादन की लागत कम हो और दूसरे आवागमन का खर्च कम से कम हो। इन कारणो को हम भौतिक, आर्थिक और राजनीतिक विभागो में बाँट सकते है।

भौतिक कारण सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इनमें जलवायु, जमीन अथवा खनिज पदार्थ का पास में होना और जमीन अथवा पानी द्वारा सुगम आवागमन शामिल है।

(अ) भौतिक कारण।

धातुओ के उद्योग वहां केन्द्रित हुए हैं, जहाँ या तो खदानें पास मे है या धन पास में है। यदि कच्चा माल और ईंधन एक ही स्थान में प्राप्त हो, तो स्थानीयकरण वहाँ आसानी से हो जाता है। चूंकि बिहार और छोटा नागपुर में लोहे और कोयले की खदानें पास-

[1] [illegible], "The size of the factory," Economic Journal, June, 1952, p. 247.

पास में है, इसलिये वहाँ लोहे के कई कारखानें स्थापित हो गये है। भौतिक और जलवायु सम्वन्धी कारण व कच्चे सामानो का वितरण और किसी कारखाने की स्थिति के लिये वातावरण निश्चित करते है। इन्ही के द्वारा वन्दरगाहो, समुद्र और नदियो की स्थिति और महत्त्व निश्चित होता है, क्योकि कच्चे और वने हुए माल के आगमन के ये साधन है। केन्द्रीयकरण वहुत हद तक वाजार के विस्तार पर निर्भर होता है और वन्दरगाहो तथा नदियो द्वारा वाजार का विस्तार वढ जाता है। इग्लैड में अधिकतर उद्योग वन्दरगाहो के पास स्थित है वहाँ से वे सारे ससार के वाजार मे अपना माल भेजते है। यदि पास में उत्पादन के लिये चालन-शक्ति प्राप्त हो तो वह भी स्थानीयकरण का एक कारण हो जाती है। पहिले जमाने मे तेज वहनेवाली नदियो के किनारे कारखाने स्थापित किये जाते थे। आजकल कारखाने वहाँ केन्द्रित होते है, जहाँ जल-विद्युत-शक्ति या कोयले की खदाने हो।

(१) कच्चा माल पास मे मिलना।

(२) भौतिक और जलवायु सम्वन्धी कारण।

(३) चालक शक्ति का पास में होना।

आर्थिक कारणो में वाजार तक पहुँच (accessibility) सवसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें सन्देह नही कि आर्थिक कारण नदियो और वन्दरगाहो की भौतिक स्थिति से घनिष्ठ सम्वन्ध रखते है। प्राय. वडे-वडे शहरो के आस पास कारखाने स्थापित किये जाते है, जहाँ उनका माल आसानी से विक सके। वहुत से उद्योग वडे-वडे रेलवे जकशनो के पास केन्द्रित हो जाते है, क्योकि वहाँ भी उन्हे वडे वाजार मिलने की सुविधा रहती है। स्थानीयकरण का एक महत्त्वपूर्ण कारण **काफी मात्रा में श्रम मिलने की सुविधा भी** है। कलकत्ता में वहुत से उद्योगो के स्थानीयकरण का एक कारण यह भी है कि कलकत्ता तथा उसके आस-पास मजदूर काफी सख्या मे मिलते रहते है। कभी-कभी ऐसा होता है कि सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक कारणो से एक प्रकार का काम जाननेवाले कुशल कारीगर और मजदूर एक स्थान मे वस जाते है। इस कारण से भी उस स्थान पर कोई उद्योग केन्द्रित हो सकता है क्योकि वहाँ श्रमिक मिलने की सुविधा रहती है।

(ब) आर्थिक कारण:
(१) वाजार तक पहुँच।

(२) काफी मात्रा मे श्रम मिलना।

राजनीतिक कारणो में राजघरानो की कृपा उद्योगो के केन्द्रीयकरण में वहुत सहायता पहुँचाती है। ढाका में मलमल का उद्योग और मुर्शिदावाद मे रेशम का उद्योग वहाँ के हिन्दू और मुसलमान राजाओ की कृपा से उन्नत हुआ।

(स) राजनीतिक कारण:
राजा की कृपा।

किसी उद्योग का किसी स्थान में केवल इसलिये स्थानीयकरण हो सकता है कि उस स्थान मे कुछ व्यवसायी बस गये है और वहाँ व्यवसाय करते है। कई फर्मे एक स्थान मे इसलिये जम सकती है कि उस स्थान का नाम कुछ वस्तुएँ बनाने के लिये प्रसिद्ध हो। शेफील्ड के कांटे और छुरी आदि तथा स्विट्जरलैंड की घडियाँ ससार भर में प्रसिद्ध है। इन प्रसिद्धि के कारण उस स्थानो में नये फर्म भी अपना व्यवसाय आरभ करेगे, जिसमें उन्हे 'शेफील्ड की बनी' या 'स्विटजरलैंड की बनी' इत्यादि ट्रेड मार्कों का लाभ मिल सके।

स्थान-प्रसिद्धि।

जब कोई उद्योग एक स्थान मे जम जाता है, तो उस स्थान का पूरा लाभ उठाने के लिये वह उस स्थान मे लम्बे समय तक जमा रहता है। एक तो उस स्थान की बनी वस्तुओ का नाम हो जाता है, इसलिये वस्तुओ के दाम अच्छे मिलते है। जैसे शेफील्ड के बने कॉटे और छुरी तथा स्विट्जरलैंड की घडियो का नाम संसार-प्रसिद्ध है। लोगों का उनके गुणो में विश्वास है। उनके दाम अच्छे मिलते है और बेचने मे भी कठिनाई नही होती। दूसरे उस स्थान के श्रमिक उस उद्योग में परम्परागत कुशलता पाते आते है। ऐसा लगता है, मानो उस स्थान के वातावरण में उस उद्योग की विशेषता भरी रहती है और बच्चे उसे अपने आप सीख लेते है। तीसरे उस स्थान में एक विशेष प्रकार की कुशलता के लिये एक बाजार तैयार हो जाता है। उस उद्योग सम्बन्धी कुशलता प्राप्त लोग जगह-जगह से उस स्थान में आते है, क्योकि वे जानते है कि उनके कुशल श्रम की मांग वहाँ बराबर बनी रहती है। इसलिये उस स्थान में उस उद्योग सम्बन्धी नये फर्म भी स्थापित होते जाते है, क्योकि वहाँ उन्हे व्यवसाय सम्बन्धी कुशल श्रम आसानी से मिल जाता है। चौथे उस स्थान में बहुत से सहायक धंधे स्थापित हो जाते है। ये सहायक उद्योग कई प्रकार से प्रधान केन्द्रीय उद्योग की सहायता करते है। वे उसे कच्चे सामान तथा औजार, कल-पुरजे इत्यादि देते है। उसके गमनागमन का संगठन करते है, उसकी उप-उत्पत्तियो का कई प्रकार से उपयोग करते है और कई तरह से उसकी बचत कराते है। पाँचवे स्थानीयकरण से विशेष प्रकार की मशीनो का उपयोग बढता है। ये मशीनें विशेष कार्यों के लिये बनती है। जब उस स्थान में स्थापित कई फर्मों में प्रतियोगिता होती है, तो इन मशीनो मे अधिक उन्नति होने तथा नये आविष्कार होने का मौका रहता है। छठे जिस उद्योग का स्थानीयकरण हो जाता है, उसे काफी पूंजी मिलने की सुविधाएँ प्राप्त हो जाती है। बैंक और पूंजी देनेवाले फर्म ऐसे स्थानो और उद्योगो पर विशेषरूप से अपनी दृष्टि रखते है। यहा पूंजी लगाना उन्हे अधिक लाभदायक प्रतीत होता है।

स्थानीयकरण के लाभ।

परन्तु इसका यह अर्थ नही है कि स्थानीयकरण से हानि नही होती। पहिली [illegible] [illegible] है कि किसी उद्योग-विशेष मे एक ही प्रकार के श्रम की आवश्यकता [illegible] [illegible] होता है कि कुटुम्ब के अन्य लोग जैसे स्त्री और बच्चे बेकार

स्थानीयकरण से हानियां। पक्का लोहा बनानेवाले कारखानो में केवल पुरुषों को काम दिया जाता है। वहाँ स्त्रियो और बच्चो को काम नही दिया जाता। चाहे पुरुषो की मजदूरी की दर अधिक हो। पर वह इतनी ऊँची नही रहती कि बिना अन्य किसी आय के केवल अपनी कमाई मे वह सारे कुटुम्ब का भरण-पोषण कर सकें। उद्योगपतियो के सामने भी एक कठिनाई रहती है। पुरुषो को उन्हे मजदूरी ऊँची दर से देनी पडती है, परन्तु इससे उनका उत्पादन का लागत खर्च बढ जाता है। लेकिन यह कठिनाई दूर की जा सकती है। यदि सहायक उद्योग स्थापित कर दिये जायँ तो वहाँ स्त्रियो और बच्चो को काम दिया जा सकता है। दूसरा नुकसान यह है कि स्थानीयकरण से देश का एक भाग दूसरे भाग पर निर्भर हो जाता है। कभी-कभी एक देश आवश्यक वस्तुओं के लिये दूसरे देश पर निर्भर हो जाता है। यदि किसी केन्द्रित उद्योग में मन्दी आती है, तो बहुत से लोग बेकार हो जाते हैं अथवा यदि किसी कारण से उत्पादन रुक जाता है, तो लोगो को कष्ट सहना पडता है। इसलिये एक स्थान मे कई प्रकार के उद्योग स्थापित करने चाहिये। लेकिन इस उपाय से भी हम किसी उद्योग में मदी नही रोक सकते।

युक्तिसंगत पुनर्संगठन (Rationalization)

दो महायुद्धो के बीच में जो समय बीता, उसमें ससार की परिस्थिति में बडे-बडे परिवर्तन हुए। इसी बीच में बराबर यह प्रयत्न होता रहा है कि परिवर्तनो के अनुसार उद्योग के सगठन में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

युक्तिसंगत पुनर्संगठन का अर्थ। परिवर्तन होते भी रहे हैं। इसी को युक्तिसगत पुनर्संगठन कहते हैं। संक्षेप में इसका अर्थ उद्योग में तर्क या युक्ति का उपयोग करना है। सन् १९२७ में विश्व आर्थिक सम्मेलन में इस क्रम की व्याख्या में कहा गया था कि युक्तिसगत पुनर्सगठन का अर्थ 'उत्पादन की क्रिया और सगठन को इस प्रकार रखना है, जिससे सामान और श्रम की बरबादी कम से कम हो।' इसमे कई बातें शामिल है, जैसे वस्तुओ और सामानो का एक दर्जा बाँध देना, प्रकार भेद या बहुतायत को कम करके उसमें समानता और सरलता लाना, उत्पादन क्रिया में बरबादी को कम करना, प्रबन्ध वैज्ञानिक ढग पर करना, आदमी के श्रम के बदले मशीन का अधिकतम उपयोग, समान और विशिष्ट मशीनो के उपयोग के लिये विभिन्न व्यवसायियों के सहयोग, जो फर्में या कम्पनियाँ लाभपूर्वक नही चलती उनको बन्द कर देना, ऊपरी खर्च में कमी और बिक्री सम्बन्धी खर्च में कमी। सक्षेप मे युक्तिसगत पुनर्संगठन उत्पादन का लागत खर्च कम करने का एक वैज्ञानिक तरीका है। 'इसका अर्थ राष्ट्रीय अर्थनीति के सम्बन्ध में तथा अन्य उद्योगो के सम्बन्ध मे किसी एक उद्योग का जागृत नेतृत्व है।"[1] यह साहस, बुद्धि और धन का एकीकरण है।

[1] It represents the idea of enlightened leadership embracing an entire industry in relation to other industries, and to the national economy"
—Rationalization of the German Industry, p. 7

युक्तिसंगत पुनर्संगठन की कई विधियाँ है। जैसे कि केवल पूंजी सम्बन्धी युक्तिसंगत पुनर्संगठन हो। किसी व्यवसाय में आवश्यकता से अधिक पूंजी लगी हो और उसमें पूंजी की कमी की जावे अथवा व्यवसाय का मिश्रण (integration of enterprise) हो सकता है। यह मिश्रण 'खडा मिलन' (किसी वस्तु के भिन्न-भिन्न भाग बनानेवाली कम्पनियो का मिलन) (vertical combination) अथवा 'आडा मिलन' एक तरह की सब कम्पनियो का मिलन (horizontal combination) हो सकता है, अथवा किस्मो का प्रामाणिक करण (standardization of types) करके मनुष्य-श्रम की जगह मशीनो का उपयोग हो सकता है। अमेरिका में जिसे वैज्ञानिक ढग का प्रवन्ध कहते है, युक्तिसगत पुनर्संगठन का अर्थ उससे अधिक व्यापक है। किसी एक फर्म का इकाई के रूप में जो अच्छे से अच्छा प्रबन्ध होगा, उसे वैज्ञानिक प्रबन्ध कहते है। बरबादी घटाने की भी वह एक व्यवस्था है। लेकिन वैज्ञानिक प्रबन्ध या व्यवस्था केवल शिल्पी संगठन (technical organization) की ओर ध्यान देता है। युक्तिसगत पुनर्संगठन में व्यवसाय की आर्थिक (economic) स्थिति पर अधिक ध्यान दिया जाता है। राष्ट्र की औद्योगिक अर्थनीति को ध्यान में रखकर फर्म के पूरे व्यवसाय की उन्नति के लिये योजना बनाई जाती है। वैज्ञानिक व्यवस्था मे आवश्यक नही है कि कम्पनी का मिलन अन्य कम्पनियो के साथ हो। परन्तु युक्तिसगत पुनर्संगठन में अन्य कम्पनियो के साथ मिलन या मिश्रण समझौता प्राय एक मानी हुई वात-सी रहती है। जैसे मेकग्रेगर ने लिखा है कि 'नीति का अर्थ है, नेतृत्व और नेतृत्व का अर्थ है अधिकार। किसी चीज पर अच्छी तरह अधिकार रखने के लिये यह आवश्यक है कि उसके अधिकाश पर अधिकार हो।"[1]

युक्तिसगत पुनर्संगठन और वैज्ञानिक व्यवस्था

युक्तिसगत पुनर्संगठन से पूरी आर्थिक व्यवस्था में कम से कम श्रम में अधिकतम कार्य-कुशलता प्राप्त होती है। उत्पादन का खर्च कम हो जायगा, कीमत की दर कम हो जायगी और उत्पत्ति बढ जायगी। कच्चे माल और उत्पादक शक्ति की वेकार वरवादी न होगी। इसका अर्थ उपभोक्ता के लिये वस्तुओ के दाम कम होगे। उत्पादक व्यवसायी के लिये वाजार का विस्तार, व्यवसाय में तेजी और अधिक लाभ होगा। उद्योग की वडी-वडी इकाइयाँ छोटी इकाइयो की अपेक्षा कम व्याज दर पर पूंजी प्राप्त कर सकेगी। चूंकि उनके पास पूंजी अधिक रहेगी, इसलिये प्रत्येक उद्योग वैज्ञानिक अनुसन्धान और नवीनतम मशीनो पर खूव खर्च कर सकता है। वे योग्यतम मनुष्यों को अपना वेतनभोगी बना सकते हैं। मिश्रण के फलस्वरूप व्यवसाय पूंजी की दृष्टि से सुरक्षित हो जाता है। चूंकि इसके व्यवसाय की मात्रा बढ जाती

युक्तिसगत पुनर्संगठन से लाभ

1 "Policy means leadership; leadership means control; to control anything well, it is necessary to control a large part of it."
—*MacGregor*, Economic Jo

इसलिये फेल होने या टूटने का डर अधिक नही रहेगा। समाज को यह लाभ होगा कि उत्पादन में बाधा आने का डर न रहेगा। अन्त में जव आवश्यक वस्तुओ के दाम क हो जायँगे तो श्रमिक वर्ग के रहन-सहन का दर्जा ऊँचा हो जायगा।

युक्तिसंगत पुनर्संगठन की कठिनाइयाँ।

जैसा प्रोफेसर क्ले (Prof. Clay) ने कहा है कि युक्तिसगत पुनर्संगठन मार्ग मे वहुत-सी वाधाएँ आती है। सवसे पहली समस्या पुनर्संगठित उद्योग की कीम की नीति से सम्वन्ध रखती है। यद्यपि यह कहा जाता है कि युक्तिसगत पुनर्संगठन से वस्तुओ के दामो में कमी होती परन्तु हमेशा यह खतरा वना रहता है कि व्यवसायी मिल पुनर्संगठन के द्वारा एकाधिकार की सुविधा वना लें औ कीमत की दर ऐसी रखे कि उन्हे एकाधिकार के समान लाभ हो। जव प्रतियोगिता परिस्थिति रहती है, तव वाजार में कीमत की दर, मां और पूर्ति का परस्पर प्रभाव वाँधता है और कम्पनि व्यक्तिगत रूप से अपने उत्पादन का वाजार दर के साथ मे कराती रहती है। परन्तु युक्तिसगत पुनर्संगठन में ऐसा नही होगा तव मूल्य स्थिर करते समय 'उपभोक्ता के हित का कम्पनी के हिस्सेदारो के हितो का, सुरक्षित वन (reserve) का औ आकस्मिक खर्च (contingency) का सामञ्जस्य करना पडेगा।'[1] उद्यो पति समाज-विरोधी-नीति ग्रहण करके कीमत वढा सकते है। तव इस कठिनाई का ह केवल राज्य-शासन के हाथ में रह जाता है।

(१) एकाधिकार की कीमत लगाई जा सकती है।

उसके वाद नेतृत्व की समस्या आती है। इस युग में व्यावसायिक नेता चाहे का सँभाल लें। परन्तु अगली पीढी के लिये हम क्या कह सकते है। क्या युक्तिसगत पु संगठित उद्योगो के लिये योग्य नेता मिल सकते है, जो उ सफलतापूर्वक चला सकें। उद्योगो के वड़े पैमाने पर मिश्र के कारण जो वडी-वड़ी विशालकाय कम्पनियाँ और ट्र वन रहे है, उनके कारण स्वतत्र वृत्ति के महत्वाकां नवयुवको को व्यवसाय में प्रवेश और उचित स्थान पाना कठिन हो रहा है। सामाजि परिस्थिति ऐसी हो उठी है कि योग्य व्यक्तियो को वडे-व व्यवसायिक फर्मो में साधारण नौकरियो से सन्तोष कर पडता है। युक्तिसगत पुनर्संगठित उद्योगो मे योग्य व्याव सायिक नेताओ का मिलना एक महान् समस्या होती ज रही है।

(२) उपयुक्त नेता कैसे मिलें?

(३) युक्तिसगत पुनर्संगठन और वेकारी।

[1] Prices would be, "a compromise between the interests of the cor sumers, those of the shareholders, the provision of reserves and contir gencies"

—*MacGregor*, Economic Journal, 1927.

पुनर्संगठन के विरुद्ध एक आरोप यह है कि उसके कारण बेकारी बढती है। युक्तिसंगत पुनर्संगठन का मुख्य ध्येय यह है कि प्रति श्रमिक से अधिक काम करा सके। जब पुनर्संगठन किया जाता है, तब श्रम में बचत की जाती है। अमेरिका के संयुक्तराष्ट्र में सन् १८९९ से सन् १९१३ के बीच में उद्योग में मशीनीकरण की प्रगति बहुत हुई। उद्योग मे उत्पादन प्रति श्रमिक १६.३ प्रतिशत बढ गया और श्रम १९२१ से १९२७ के बीच में अर्थात् ६ वर्षो में उत्पादन प्रति श्रमिक पीछे ४० प्रतिशत बढा। इसलिये यह कहा जा सकता है कि युक्तिसगत पुनर्संगठन में मशीनीकरण के कारण बेकारी बढी। परन्तु सब प्रकार के युक्तिसंगत पुनर्संगठन में बेकारी नही बढती। उदाहरण के लिये यदि केवल पूंजी सम्बन्धी पुनर्संगठन किया जाय तो बेकारी नही बढेगी। लेकिन यदि उद्योगो का मिश्रण हो और उत्पादन का प्रामाणिकपन हो तो बेकारी बढेगी। जब वस्तुओ के दाम गिर रहे हो, तब यदि युक्तिसगत पुनर्संगठन किया जाय तो बेकारी बढ सकती है। क्योंकि गिरते दामो के समय में मजदूरी की दर मे उतनी कमी नही होती, जितनी होनी चाहिये। और खर्च मे कमी करने के लिये व्यवसायी कुछ श्रमिको को निकालने का प्रयत्न करेगे। परन्तु इससे यह निष्कर्ष नही निकलता कि युक्तिसगत पुनर्संगठन के कारण हमेशा बेकारी बढेगी। आविष्कारो और वैज्ञानिक उन्नति के कारण समाज की क्रय-शक्ति नष्ट नही होती। केवल उसकी दिशा बदल जाती है। यदि एक प्रकार की कुछ वस्तुओ की माँग कम होती है, तो दूसरी प्रकार की अन्य वस्तुओ की माँग बढ जाती है। इसके सिवाय युक्तिसगत पुनर्संगठन से वस्तुओ के दाम कम हो जाते है और उपभोक्ता उतनी ही वस्तुओ को कम दामो में पा जाता है। इसलिये उनके पास खर्च करने के लिये कुछ अधिक द्रव्य बच जायगा। यदि इस अधिक द्रव्य को उपभोक्ता खर्च करने या व्यवसाय में लगाने के बदले जमा करे तो बेकारी बढेगी।[1]

कुछ परिस्थितियो मे बेकारी बढ़ सकती है।

लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि युक्तिसंगत पुनर्संगठन के कारण उद्योग को जो लाभ होता है, उससे नये उद्योगो के लिये रास्ता खुल जाता है। इसलिये यह संभव है कि उपभोक्ता जो अधिक द्रव्य बचायेंगे, वे लाभदायक व्यवसाय में लगायेंगे। यदि ऐसा हो तो बेकारी का डर न रहेगा। इसके सिवाय दीर्घकाल में कीमतो की कम दर और रहन-सहन के दर्जे की ऊँची सतह के कारण बेकारी की मात्रा बहुत घट जायगी। परन्तु इस दीर्घकाल की अवधि बहुत लम्बी हो सकती है। इस बीच में अस्थायी बेकारी रहेगी। अन्तरिम काल मे श्रम की गतिहीनता (immobility) के कारण कई मनुष्यो को काफी हानि हो सकती है। साथ ही परिवर्तन काल की अवधि भी बढ जायगी। इस अस्थायी अव्यवस्था को छोड़कर युक्तिसगत पुनर्संगठन अथवा मशीनीकरण की उन्नति से बेकारी नही बढती। 'सन् १९२४ से १९२९ तक, चार वर्ष में जर्मनी में जो

---

[1] G..., 'Rationalisation and technological unemployment' Economic Journal, 1930

युक्तिसगत पुनर्संगठन हुआ उसके पहिले १८ महीनो में वेकारी में काफी कमी हुई। उ
के वाद के १८ महीनो में वेकारी काफी वढी और अन्तिम वर्ष मे वेकारी में फिर काफ
कमी हुई। इन परिस्थितियो को देखते हुए यह कहना कठिन है कि युक्तिसगत पुनर्संगठ
और वेकारी में कोई सम्वन्ध है।"[1]

अध्याय ११

व्यवसाय का संगठन

(Organization of Business)

साहसी व्यवसायी वे लोग हैं, जो आधुनिक जटिल उत्पादन प्रथा की व्यवस्था और सचालन करते है।

व्यवसायी वर्ग की उन्नति और प्रमुखता आधुनिक औद्योगिक क्रान्ति का स्वाभावि परिणाम है। औद्योगिक क्रान्ति के पहिले उत्पादन के तरीके सीधे-सादे थे, वाज सीमित था और पूंजी का उपयोग भी कम मात्रा मे कि जाता था। उत्पादन के कार्यो का और साधनो का परस्प सगठन अधिक कठिन और आवश्यक नही था। इसलि उद्योगो के प्रबन्ध के लिये श्रेष्ठ व्यक्तियो की आवश्यक नही रहती थी। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति ने परिस्थि वदल दी। अव उत्पादन वडी मात्रा मे होता है, कीमती और वारीक पचीली मशीनो का उपयोग होता है, पूंजी का उपयोग वडी मात्रा मैं होता है, सारे ससार की माँग-स्थिति का अध्ययन करना पडता है और उसी के अनुसार उत्पादन करना पडता है और उत्पादन तथा विक्री मे जोखिम का सामना करना पडता है और साहस की आवश्यकता होती है। उत्पादन के विभिन्न साधनो का उपयुक्त अनुपात म मिलना वडा कठिन काम हो गया है। इसलिये जो मनुष्य उद्योगो का सगठन करते है, अव उनका महत्त्व वहुत वढ गया है। जो मनुष्य आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था का सचालन करते है, उन्हे साहसी व्यवसायी (entrepreneurs) कहते है।

---

[1] "The process of rationalization observed in Germany during four years (1924-27) was accompanied during the first 18 months by a considerable reduction in unemployment, during the next 18 months, by severe unemployment, and during the last year by another considerable reduction in unemployment In these conditions it seems difficult to assert that there is any general, correlation between the two phenomena"

—*Henry Fuss*, "Rationalization and Unemployment," International ur Review, June, 1928

साहसी व्यवसायी के कार्य (Functions of the Entrepreneur)–आजकल के साहसी व्यवसायी का महत्त्व बहुत अधिक है। वह इस बात का निर्णय करता है कि किसी वस्तु का उत्पादन करना, कहाँ करना और कैसे करना। आरम्भ से अन्त तक वह पूरे व्यवसाय का नक्शा तैयार करता है। वह उत्पादन की मात्रा और किस्म का निर्णय करता है। वह चुनकर अच्छी मशीन खरीदता है और माल को व्यर्थ नष्ट नही होने देता। वह उत्पादन के विभिन्न साधनों का उपयुक्त अनुपात मे मिलान करके उनका पारस्परिक सगठन करता है और प्रत्येक साधन का उपयोग उसी काम मे करता है, जिसके लिये यह सबसे अधिक उपयुक्त है।

वह निर्णय करता है कि क्या, कहां और कैसे उत्पन्न करना।

प्राचीन अँगरेज अर्थशास्त्रियो (classical economists) का मत था कि व्यवस्था करना साहसी व्यवसायी का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था। अपने व्यवसाय के उत्पादन सम्बन्धी विभिन्न कार्यो की व्यवस्था और देख-रेख करना उसी का कार्य था। लेकिन मिश्रित पूंजीवाली अथवा ज्वॉइन्ट स्टॉक कम्पनियो की उन्नति के साथ-साथ यह कार्य वेतनभोगी व्यवस्थापको या मैनेजरो के हाथो मे अधिकाधिक आता गया है। इन वेतनभोगी व्यवस्थापको को हम साहसी व्यवसायी नही कह सकते। इसलिये अब यह आवश्यक नही समझा जाता कि साहसी व्यवसायी स्वय अपने उद्योगो की व्यवस्था करें। छोटे उद्योगो में यह बात विशेषकर व्यवसाय का असली भार और अन्तिम जिम्मेदारी साहसी व्यवसायी के ऊपर रहती है। पूरे व्यवसाय पर उसका वास्तविक अधिकार होता है। साहसी व्यवसायी एक या एक से अधिक व्यक्ति होते है, जो व्यवसाय पर अधिकार रखते है और उनकी नीति निश्चित करने का भी पूर्ण अधिकार रखते है।

वह व्यवसाय का अधिकारी होता है।

उसके कुछ वितरण सम्बन्धी काम भी होते है। व्यवसाय की पूरी आय उसके हाथ मे आती है। उसे भूमि, श्रम और पूंजी को उपयुक्त पुरस्कार देना होता है। यदि हानि भी होती है, तो ये साधन हानि न सहेगे। उन्हे शर्तों के अनुसार पारिश्रमिक या वेतन मिलना ही चाहिये।

वह साधनो के आय का वितरण करता है।

इसलिये साहसी व्यवसायी का सबसे महत्त्वपूर्ण काम जोखिम (risk) लेना है। इसमे सन्देह नही कि उत्पादन के प्रत्येक काम मे जोखिम रहता है, परन्तु साहसी व्यवसायी का जोखिम एक विशेष प्रकार का होता है। उसके जोखिम की परिमिति नही होती वह अनिश्चित होता है और [illegible] की माग की आशा पर [illegible] उत्पादन होता है। [illegible]

उसका सबसे बड़ा काम जोखिम लेना है।

लाने में महीनो लग जाते है। इसलिये साहसी व्यवसायी या उद्योगपति को पहिले वस्तु की माँग का अध्ययन करना पडता है। फिर वह यह देखता है कि वह वस्तु बाजार में कितनी मात्रा मे प्राप्य है, अर्थात् उसकी पूर्ति कितनी है। तब वह उसका उत्पादन हाथ में लेता है। यदि उसके अध्ययन और हिसाब में कही गलती हो जाय तो सभव है कि लाभ के बदले उसे हानि उठानी पडे। आधुनिक उत्पादन और बिक्री की प्रणाली इतनी जटिल है कि अधिकतर यही सभावना रहती है कि उसका अदाज और हिसाब चाहे जब अदृष्ट कारणो से गलत हो सकता है। फैशन बदल जा सकती है, जिससे किसी वस्तु की माँग बिलकुल न रहे। कोई नया आविष्कार हो जावे, जिससे उद्योगपति के उत्पादन के तरीके पुराने हो जावें। उनसे लाभ होने की कोई आशा न रहे। वह इस प्रकार के जोखिम अपने सिर पर लेता है, इसलिये उत्पादन की आधुनिक प्रणाली में उसका इतना महत्त्व है।

कुछ लेखको का मत है कि उत्पादन कार्य में साहसी उद्योगपति का एक विशेष कार्य होता है। उसका मुख्य कार्य नये-नये तरीके (innovation) निकालना है। अपने व्यवसाय में वह मार्गदर्शक होता है। वह नये कार्य हाथ में लेता है, उन्हे करने के नये तरीके ग्रहण करता है। वह आविष्कार और उन्नत तरीको के ग्रहण करने में दूसरे लोगो से आगे बढता जाता है।

नये तरीके ग्रहण करना।

साहसी व्यवसायी वर्ग की पूर्ति (The Supply of the Entrepreneur Class)—उद्योग के महान पथ-प्रदर्शको में उस क्षेत्र में नेतृत्व के लक्षण जन्मजात होते है। शिक्षा-दीक्षा द्वारा वे नही प्राप्त किये जाते। विलक्षण और विचक्षण लोगो की बुद्धि की प्रखरता के कारण जानना मनुष्य के ज्ञान के बाहर की बात है। अवसर का सदुपयोग करने की स्वतन्त्रता और समानता तथा शिक्षा के विस्तृत प्रसार द्वारा इस प्रकार के प्रखर बुद्धि के मनुष्य मिलना संभव होता है।

प्रखर बुद्धिवाले मनुष्य बहुत कम होते हैं।

परन्तु व्यवसाय की औसत योग्यता प्राप्त कर लेना कठिन कार्य नही है। साधारण और विशिष्ट शिक्षा के प्रचार से उद्योग में लगे हुए मनुष्य अधिक बुद्धिमान हो जाते हैं। और अवसर मिलने पर यही लोग योग्य व्यवसायी हो सकते है। जो मनुष्य किसी उद्योग में लगा हो, उसके पुत्र को अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्राप्त होगी। एक बार जब दूकान चल पडती है, तब उसे साधारण योग्यतावाला मनुष्य भी चालू रख सकता है। बडे-बडे उद्योगपतियो के पुत्रो ने स्वय साधारण योग्यता रखते हुए भी अपने पित्रो के व्यवसाय को सफलतापूर्वक चालू रखा है। यह भी सच है कि कभी-कभी पुत्र अपने पिता के उद्योग-व्यवसाय को सफलतापूर्वक नही चला सके। लेकिन उनकी अयोग्यता का यह अर्थ नही है कि व्यवसाय नष्ट हो जायगा। ऐसा हो सकता है कि वे योग्य मनुष्य या मनुष्यो को साझेदार बनाकर व्यवसाय का चलाना उसके ऊपर

छोड दें और स्वय अपने हिस्से की मुनाफे की वडी रकम लेकर सुप्त साझी (sleeping partner) बने रहे। इस प्रकार उद्योग में निम्न श्रेणियो के योग्य मनुष्य ऊपर की ओर चढते रहते है। निम्न श्रेणियो मे ऐसे लोग होते है, जो थोड़ी पूंजी लगाकर भी योग्यतापूर्वक व्यवसाय करते है और वडे-वड़े उद्योगपतियो से प्रतियोगिता करते है। समय पाकर यही लोग वडे-वडे उद्योगपति बन जाते है। विश्वविद्यालय की समुचित शिक्षा और अनुभव भी व्यावसायिक योग्यता वढाते है।

व्यवसाय संगठन के भेद (Forms of Business Organisation)—अब हम यह देखेंगे कि कानून के अनुसार उद्योगो का सगठन कितने प्रकार का होता है। साधारणत इनका वर्गीकरण पाँच प्रकार से किया जाता है—व्यक्तिगत उद्योग, साझेदारी का उद्योग, मिश्रित पूंजी का उद्योग, सहकारी उद्योग और सरकारी उद्योग।

व्यक्तिगत उद्योग व्यवस्था (The Single Entrepreneur System) इस व्यवस्था में उद्योग व्यवसाय का मालिक और प्रवन्धकर्त्ता केवल एक व्यक्ति होता है। वह अकेला व्यवसाय की सफलता अथवा असफलता के लिये जिम्मेदार होता है। एक छोटी दूकान रखनेवाला वनिया या अपनी थोडी-सी जमीन स्वय जोतनेवाला किसान इसके अच्छे उदाहरण है।

लाभ।

इस प्रकार के व्यवसाय में कई लाभ है। मालिक अपने व्यवसाय में व्यक्तिगत दिलचस्पी लेता है और इस बात का भरसक प्रयत्न करता है कि वह उसे सुव्यवस्थित और सुसगठित वनावे। दूसरे चूंकि वह अपने व्यवसाय के लिये स्वय जिम्मेदार है, इसलिये उसे इच्छानुसार काम करने की स्वतन्त्रता रहती है। उसे वहुत से साझेदारो और रिश्तेदारो की सलाह लेने की आवश्यकता नही रहती, जो उसके काम में वाधा डाल सकते है। उसे साझेदारो के जरिये अपने व्यवसाय के गुप्त भेदो के प्रकट होने का डर नही रहता। अन्तिम, छोटे व्यवसाय में व्यवस्था सीधी-सादी होती है और उसमें अधिक पूंजी की आवश्यकता नही होती। ऐसे व्यवसाय में एक आदमी बहुत अच्छी तरह अपनी योग्यता भर चमक सकता है। वह अपने ग्राहको की रुचि के अनुसार वस्तुओ का उत्पादन कर सकता है। वह सुन्दर कारीगरी की वस्तुएँ वना सकता है।

दोष।

इस व्यवस्था का सवसे वडा दोष यह है कि एक व्यक्ति अपने व्यवसाय में बडी मात्रा मे पूंजी नही लगा सकता। आधुनिक उद्योग व्यवसायो में बडी मात्रा में पूंजी की आवश्यकता पडती है। यदि वह बडी मात्रा में पूंजी लगा भी सकता है, तो भी उसमे खतरा बहुत अधिक रहता है क्योकि व्यवसाय की असफलता की पूरी जिम्मेदारी केवल उसी के सिर पर रहती है। इसलिये वर्तमान समय मे इस प्रकार की व्यक्तिगत व्यवस्था कम हो गई है और इनका स्थान मिश्रित पूंजीवाली कम्पनियो ने ले ली है। केवल कृषि के क्षेत्र में व्यक्तिगत व्यवस्था काफी बडे-बडे रूप मे देखी जाती है।

साझेदारी (Partnership)—जब कुछ व्यक्ति जो एक दूसरे को अच्
प्रकार जानते है, मिलकर कोई व्यवसाय अपने हाथ मे लेते है, तो उसे साझेदारी कह
है। दो अथवा दो से अधिक व्यक्तियो द्वारा मिलकर व्यवसा
करने का यह सबसे सरल और सबसे पुराना सिद्धान्त है
कानून की दृष्टि में इस साझेदारी में सब साझेदार सम्मिलि
और व्यक्तिगत रूप से व्यवसाय के ऋणो के लिये जिम्मेदा
होते है। यदि एक साझेदार अन्य साझेदारो की ओर
ऋण चुकाता है, तो वह अदालत से अपना रुपया उन साझेदारो से वसूल कर सक
है। साझेदारी का व्यवसाय भी प्राय छोटे पैमानो पर होता है, यद्यपि कुछ ऐसे
है, जिन्होने साझेदारी व्यवस्था मे रहते हुए भी बहुत बडा व्यवसाय खडा कर लि
है। साझेदारी का व्यवसाय प्राय एक साहसी व्यवसायी द्वारा आरम्भ किया जाता
और जब उसका कोई योग्य कर्मचारी उसकी नौकरी छोडकर अपना स्वतन्त्र व्यवस
आरम्भ करना चाहता है, तो वह अपने व्यवसाय में ही उसे एक हिस्सा दे देता है अ
उसे अपना साझेदार बना लेता है।

व्यवसायी अपने योग्य कर्मचारियों को साझेदार बना लेते है।

साझेदारी मे व्यक्तिगत व्यवसाय की अपेक्षा अधिक पूंजी मिल जाती है। चूं
साझेदारो की अपरिमित देनदारी (unlimited liability) रहती
इसलिये वे अधिक पूंजी इकट्ठी करने में समर्थ हो
क्योकि इसमे साहूकार अधिक सुरक्षा पाते है। दूसरा ल
यह होता है कि इसमे कई योग्य व्यक्तियो का सहयोग र
है। प्रत्येक साझेदार अपने व्यवसाय के किसी खास काम मे विशेषता प्राप्त कर स
है। एक व्यक्ति खरीद का काम अपने हाथ मे ले सकता है। दूसरा बिक्री का काम अ
हाथ मे ले सकता है इसी प्रकार कार्य का विभाजन अच्छे ढग से हो सकता है। इ
व्यवसाय मे कार्य-कुशलता बढती है। नये साझेदार लेकर व्यवसाय की उन्नति की
सकती है। चूंकि काम कई लोगो की सलाह से होता है, इसलिये उसमे त्रुटि की सभा
अधिक नही रहती। साथ ही यह भी सभावना रहती है कि काम कई लोगो की रा

साझेदारी से लाभ।

अनुसार होना है, इसलिये उसमे मतभेद होगा और नि
पर पहुँचने मे देर होगी। दूसरा दोष यह है कि यह नही
जा सकता कि साझेदारी कब तक चलेगी, उसके टूटने
डर लगा रहता है। यदि एक साझेदार मर जाय, पागल हो जाय अथवा दिवालिय
जाय तो साझेदारी टूट जाती है। अन्त मे साझेदारी के व्यवसाय मे चूंकि व्यवसा
ऋणो में प्रत्येक साझेदार की अपरिमित जिम्मेदारी रहती है, इसलिये कई धनी व्य
उसे पसन्द नही करते।

दोष।

संयुक्त पूंजीवाली कम्पनी (Joint-Stock Company)—सयुक्त
वाली कम्पनी कुछ व्यक्तियो को मिलाकर बनती है, जिन्हे शेयर होल्डर या

...ल्डर कहते है। ये व्यक्ति मिलकर किसी विशिष्ट व्यवसाय को चलाने का और उसके लिये पूंजी इकट्ठी करने का निर्णय कर लेते है। व्यक्तियो का यह समूह मिलकर व्यवसाय के सगठन की शर्ते तय कर लेता है। इन शर्तो मे कम्पनी का नाम, उसे ...ाने के उद्देश्य, कितनी और किस प्रकार की पूंजी लगेगी, इत्यादि बाते साफ-साफ ...ख दी जाती है। ये लिखित शर्ते एक सरकारी आफिसर के सामने पेश की जाती है। ...ह आफिसर जब इन्हे स्वीकार करके एक प्रमाणपत्र (certificate of incorpo-...ation) दे देता है, तब कम्पनी अपना कार्य आरम्भ करती है। तब कम्पनी एक ...नूनी व्यक्ति (legal person) का रूप धारण कर लेती है। कम्पनी किसी ...र मुकदमा चला सकती है और कम्पनी पर मुकदमा चलाया जा सकता है। साझेदारी ...विपरीत कम्पनी का जीवन शेयर-होल्डरो या हिस्सेदारो के जीवन से स्वतन्त्र रहता ...। किसी हिस्सेदार की मृत्यु होने से कम्पनी नही टूटती। यदि भूकम्प जैसी किसी आकस्मिक घटना से कम्पनी के सब हिस्सेदार एक साथ मर जावे, तो वे हिस्से उन हिस्सेदारो के उत्तराधिकारियो के नाम मे चले जायँगे और कम्पनी पहिले की तरह चालू रहेगी। कम्पनी पूंजी का समूह है, व्यक्तियो का नही।

...म्पनी और साझेदारी मे अन्तर।

...मित उत्तरदायित्व।

साझेदारी और सयुक्त पूंजीवाले कम्पनी मे दूसरा अन्तर यह ... कि साझेदारी मे व्यवसाय के ऋणो के लिये साझेदारो का उत्तरदायित्त्व (liabi-...ity) असीमित रहता है, परन्तु सयुक्त पूंजीवाली कम्पनी मे हिस्सेदारो का ...उत्तरदायित्व सीमित (limited) रहता है। प्रत्येक व्यक्ति ने कम्पनी मे जितनी ...जी लगाने का जिम्मा लिया है, केवल उतने ही तक उनका उत्तरदायित्व सीमित ...रहता है, यद्यपि कभी-कभी उत्तरदायित्व हिस्से की कीमत का दुगुना होता है। हिस्से-...दारो का जोखिम केवल इतना रहता है कि यदि कम्पनी दिवालिया हो जाती है या टूट ...जाती है, तो उनका उतना धन चला जाता है, जितने के उन्होने हिस्से खरीदे है।

...कम्पनी के साहूकार या ऋणदाता उनकी निजी सम्पत्ति पर अपना अधिकार नही ...रा सकते।

...सयुक्त पूंजीवाली कम्पनी की पूंजी जनता मे कम्पनी के हिस्से (shares of ...stock) बेचकर इकट्ठी की जाती है। हिस्सो का मूल्य प्रायः छोटी रकम मे निर्धारित किया जाता है। एक व्यक्ति चाहे जितने हिस्से

सचालक के चुनाव में भाग लेने का तथा कम्पनी के लाभ में से अपने हिस्सों पर लाभ
प्राप्त करने का अधिकार होता है। कभी-कभी हिस्से दो किस्मो में बाँट दिये जाते हैं।
पहिला साधारण हिस्से (ordinary shares) और दूसरा रियायती हिस्से (pre-
ference shares)। इन दोनो प्रकार के हिस्सो में यह भेद होता है कि रियायती
हिस्सो पर कम्पनी एक निश्चित रकम मुनाफे के रूप में देना मजूर कर लेती है, परन्तु
साधारण हिस्सो पर लाभ की दर अनिश्चित रहती है। एक शर्त यह भी रहती है कि
रियायती हिस्सो पर मुनाफा या लाभाश साधारण हिस्सो पर लाभाश वँटने के पहि
वँट जाना चाहिये। यह बात अवश्य है कि कम्पनी को यदि कोई लाभ नही होता त
रियायती हिस्सो पर भी कोई लाभ नही दिया जाता। कभी-कभी कम्पनी की पूँजी
सचयशील रियायती हिस्से (cumulative preferential shares
भी रखे जाते हैं। इनके मुनाफे की दर प्राय निश्चित होती है। यदि नुकसान या अ
किसी कारण ने किसी वर्ष लाभाश नही दिया, तो इनका लाभाश जमा होता रहता है
जब कभी लाभाश बाँटा जाता है, तब पहिले इन हिस्सों पर लाभाश बाँटा जाता
फिर साधारण हिस्सो पर। यदि कम्पनी दिवालिया होती है या किसी कारण से टू
है तो उसकी अवशेष पूँजी में से पहिले रियायती हिस्सो का पूरा मूल्य चुकाने के बाद
साधारण हिस्सो के हक पर विचार किया जाता है।

कम्पनी की पूँजी का कुछ अश दस्तावेज (bond) और निश्चित सूद दर क
ऋण पत्र (debenture) द्वारा इकट्ठा किया जा सकता है। बाण्ड या डिबे
दस्तावेज या ऋण का प्रमाण-पत्र है। इसे कपम्नी एक निश्चित व्याज दर पर बे
है और कुछ निश्चित वर्षो के बाद मूल और व्याज चुकाकर दस्तावेज वापस ले लेती
जो व्यक्ति बाण्ड खरीदता है, उसका कम्पनी के प्रबन्ध या व्यवस्था में कोई हाथ
रहता। वह कम्पनी का ऋणदाता है, स्वामी नही। यदि कम्पनी का दिवाला निक
है, तो अवशेष पूँजी में से पहिले बान्ड होल्डर का ऋण चुकाया जाता है, तब रिया
और साधारण हिस्सो का धन चुकाने की बात पर विचार किया जाता है। इस प्र
बान्ड हिस्सो से अधिक सुरक्षित होते हैं। परन्तु यदि कम्पनी ने उन्नति की और अ
लाभ उठाया तो उनके लाभाश बढने की कोई सभावना नही रहती, क्योकि उनकी
दर तो बँधी रहती है। इस प्रकार कम्पनी की पूँजी कई वर्गों में बँटी रहती है और
लगानेवाले अपनी-अपनी रुचि के अनुसार वर्ग चुन सकते है।

यद्यपि हिस्सेदार कम्पनी के मालिक होते है, परन्तु वे उसकी व्यवस्था के प्र
कर्त्ता नही होते। कम्पनी का प्रबन्ध वेतनभोगी मैनेजरो के हाथो में छोड दिया
है। हिस्सेदार वोट द्वारा चुनाव करके एक सचालक सभा (board of directo
नियुक्त कर देते है और ये डाइरेक्टर कम्पनी के कारबार की देख-भाल करते
डाइरेक्टर अथवा सचालक कम्पनी की नीति का निर्धारण करते है। इस व्यवस्
नी का स्वामित्व और उसका प्रबन्ध सफलतापूर्वक अलग-अलग कर दिये गये

सरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि यद्यपि कम्पनी का प्रबन्ध देखने में प्रजातन्त्र के द्धान्तो के अनुसार दिखता है, परन्तु वास्तव मे वह अल्प जनतन्त्र (oligarchy) कुछ व्यक्तियो के शासन के समान होता है। वास्तव मे हिस्सेदारो मे अधिकाश पनी के प्रबन्ध में कोई दिलचस्पी नही लेते। न वे हिस्सेदारो की सभा में भाग लेते और न वोट देते है। थोडे से लोग मिलकर कुछ हिस्सो की बहुसख्या (५१ प्रतिशत उससे अधिक) अपने हाथो में कर लेते है अथवा वे कुछ हिस्सेदारो का लिखित मत ote) अपने पक्ष में मँगवा लेते है और ये प्रमुख लोग प्रत्यक्ष रूप से कम्पनी का न्ध करते है।

लाभ—इस व्यवस्था ने वडे पैमाने पर उत्पादन सम्भव कर दिया है। पहिले समय जब किसी उद्योग मे लाखो रुपयो की आवश्यकता पडती थी, तो इतना रुपया इकट्ठा करना कठिन हो जाता था। परन्तु अब बहुत से लोगो के सहयोग से बड़े पैमाने पर उत्पादन सभव हो गया है। उत्पादन का खर्च कम हो जाता है और उत्पत्ति के दाम भी कम हो जाते है। इसलिये उपभोक्ता वर्ग का लाभ होता है।

ड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव हो गया है।

इस व्यवस्था से पूंजी बचाने और उसको लाभ पर लगाने की आदत या प्रथा को त्साहन मिला है। जिन लोगो की बचत थोडी रहती है, वे उसे वेकार न रखकर उसे कम्पनियो के थोडी कीमत के हिस्से खरीद लेते है। जो लोग जोखिम लेने को तैयार रहते है, वे हिस्से खरीदते है और जो लोग जोखिम नही लेना चाहते वे बान्ड खरीदते है। हिस्सो मे भी जोखिम की मात्रा घट और बढ जाती है, क्योकि हिस्से भी दो प्रकार के ते है—एक साधारण और दूसरे रियायती। हस्तातरकरण (transfer-bility) और स्टॉक एक्सचेजो (Stock-exchanges) के स्थापन के कारण चत करके हिस्सो में पूंजी लगाने की प्रथा को बहुत प्रोत्साहन मिला है। स्टॉक एक्स-जो पर कम्पनियो के हिस्से या बान्ड इत्यादि बेचे और खरीदे जाते है। हिस्सो की रीद और बिक्री बाजार में अन्य वस्तुओ की बिक्री के समान स्वतन्त्रतापूर्वक होती है। सलिये पूंजी लगानेवाला आवश्यकता पडने पर चाहे जब अपनी पूंजी वापिस खीच कता है। हस्तान्तरकरण की सुविधा उद्योग के अयोग्य और कमजोर व्यक्तियो के थ से छीनकर योग्य मनुष्यो के हाथो मे सौपने की सुविधा प्रदान करती है। जो व्यक्ति द्योग को सुचार रूप से चला सकते है और उसका भविष्य जान सकते है, वे उसे अयोग्य और भारहीन व्यक्तियो से खरीद सकते है।

जोखिम की पूर्ति की मात्रा घट गई है।

साहसपूर्ण योजनाओं को प्रोत्साहन मिलता है।

कम्पनियो के खतरे से भरे साहसपूर्ण कार्यों द्वारा ही । हुआ है। सयुक्त पंजी प्रथा मे यह लाभ होता है कि स्थायी होती है। जैसा कि साझेदारी में होता है, साझेदारी की मृत्यु के साथ खतम नही हो जाती। प्रवन्ध प्रगतिशील होता है। डाइरेक्टरो में नये योग्य व्यक्तियो के आने की सम्भा रहती है। चूंकि उसके पास बहुत पूंजी होती है, वह क्षेत्र के योग्यतम व्यक्तियो को प्रवन्धकर्त्ता के रूप में प्रा कर सकती है। इन कारणो से उसकी सफलता काफी तक निश्चित रहती है।

व्यवसाय अधिक स्थायी हो गया है।

दोष—इस प्रथा के दोष मुख्यत हस्तान्तरकरण की सुविधा के कारण उत्पन्न है। व्यवसाय का प्रवन्ध और स्वामित्व बेईमान लोगो के हाथो में चले जाने का रहता है। जो लोग कम्पनी के डाइरेक्टरो, प्रवन्धकर्त्ता महत्त्वपूर्ण कर्मचारियो के रूप में उनकी आन्तरिक हा जानते है, वे खतरा उत्पन्न होने पर अन्य हिस्सेदारो को वतलाये अपने हिस्से वेच दे सकते है। इस प्रकार लोगो को जिन्होने कम्पनी के हिस्सो में अपना रुपया लगा रखा है, नुकसान पडेगा। अथवा जब डाइरेक्टर यह जानते हैं कि कम्पनी के हिस्सो पर अधिक मुन मिलनेवाला है, तो वे एक साथ बहुत से हिस्से खरीद लेते है और वाद में उन्हे ऊँचे पर वेच देते है। इस प्रकार वे सट्टा द्वारा धन पैदा करने का प्रयत्न करते है, जि लोकमत निन्दा करता है।

अधिकार बेईमान लोगों के हाथो मे जा सकता है।

दूसरा दोष यह है कि आपस की भलाई के लिये सगठन की भावना कम हो है। सगठन की भावना कम होने का एक कारण यह भी है कि उसके हिस्सेदार इतने होते हैं, कि उनके लिये एक दूसरे को पहिचानना सभव है। दूसरे हिस्सो का हस्तान्तरकरण जल्दी-जल्दी रहता है। साझेदारी में जो आपसाने के सम्बन्ध, जो चारा रहता है वह इसमें नही पाया जाता। जब कम्पनी किसी प्रकार का खतरा दिखता है, तो हिस्सेदार अपना हिस्सा वेचने लगते है, अन्य लोगो में भी भय फैलता है और प्राय. सबको हानि पहुँचती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने लाभ की चिन्ता करता है और जिस प्रारम्भिक उद्देश्य से कम्पनी बनी थी कि और लाभ सब मिलकर बाँटेंगे उसे लोग भूल जाते है।

हिस्सेदारों और संचालकों में भाईचारा नहीं रहता।

एक अन्य दोष यह है कि चूंकि काम की जिम्मेदारी कई लोगो में बँट जात इसलिये लोगो में काम को ढिलाई के लक्षण दिखने लगते है। सयुक्त पूंजी प्रथा मे दोष निहित-सा दिखता है। सचालक चाहे जितने योग्य हो, वे अपने कार्य का मातहतो को सौपते ही हैं और प्राय एक विभाग एक मैनेजर के प्रवन्ध में रहता

न्ध एक व्यक्ति उद्योग
ा साझेदारी के समान
चुस्त नही होता।

यद्यपि विभिन्न विभागो में प्रवन्धकर्त्ता मैनेजर एक ही प्रधान के मातहत होते है, परन्तु फिर भी उन विभागो का आपस का सम्बन्ध और सहयोग जितना अच्छा होना चाहिये, उतना नही होता।

कभी-कभी सचालक स्वय जोखिमपूर्ण साहस से काम नही करना चाहते। आराम समय विताना चाहते है। इसलिये वे स्वय कोई कार्य आरम्भ नही करते। परन्तु यह दोष मनुष्य प्रकृति की एक प्रवृत्ति के कारण कम हो जाता है। वह प्रवृत्ति यह है कि मनुष्य धनलिप्सा से अधिक अपनी योग्यता प्रदर्शित करने की लालसा रखता है। बहुधा मैनेजर अपनी योग्यता दिखाने को अपनी जिम्मेदारी पर ये कार्य आरम्भ कर देता है, क्योकि उसे प्राय. अतिरिक्त लाभ का अश मिल जाता ।

नए काम आरम्भ न
करने की प्रवृत्ति।

सयुक्त पूंजी के प्रवन्ध में एक कमी यह भी रहती है कि नियत्रण (discip-ne) में लोच नही होती है। छोटे व्यक्तिगत फर्मो के समान मैनेजर अपने मातहतो के साथ व्यवहार मे अपने अनुभव और विश्वास के अनुसार नही वर्त सकता। उसे उनका काम देखने के लिये बँधे हुए तरीको से काम लेना पड़ता है। सब बातो का ध्यान रखते हुए यह कहा जा सकता है कि इस प्रथा मे दोषो की पेक्षा लाभ कही ज्यादा है। सयुक्त पूंजी प्रथा के विना आधुनिक बड़े पैमाने पर त्पादन सम्भव नही हो सकता था। इस प्रथा की श्रेष्ठता इसी बात से सिद्ध हो जाती कि आधुनिक उत्पादन के सब क्षेत्रो मे व्यवसाय सगठन का यह तरीका अन्य सग रीको की अपेक्षा अधिक प्रचलित हो रहा है।

र्मचारियो का चुनाव
अच्छा न हो।

सहकारी प्रथा (Co-operation)—औद्योगिक सगठन सहकारी सिद्धान्तो अनुसार भी होता है। यह उत्पादन के पूंजीवादी तरीको के विपरीत होता है, जिसमे जीपति मजदूरो से काम लेता है और बदले मे उन्हे मजदूरी देता है। वर्तमान पूंजीवाद ा सबसे बड़ा दोष यह है कि वह धीरे-धीरे पूंजीपति और मजदूर में भेद बना देता है। ोनो वर्गो के हितो मे विरोध उत्पन्न कर देता है। बोल्शेविज्म, कम्यूनिज्म, समाज-ाद इत्यादि आन्दोलन इस वर्ग सघर्ष के चिह्न है। सहकारिता औद्योगिक सगठन का ऐसा रूप है, जिसमे पूंजीपति के लिये कोई स्थान नही रहता। श्रमिक स्वय पूंजी इकट्ठा रते है, उद्योग का प्रबन्ध स्वय करते है और उससे जो लाभ होता है, उसे आपस में बाँट लेते है। प्रबन्धकर्त्ता मैनेजर से लगाकर साधारण मजदूर तक सब उद्योग के ालिक होते है। मालिक और नौकर का भेद नही होता और सब प्रकार के झगड़ो का कम अवसर होता है।

सहकारिता प्रधानत दो प्रकार की होती है—एक तो उत्पादको मे सहकारिता और दूसरी उपभोक्ताओ मे सहकारिता। इसी को हम उत्पादन सम्बन्धी सहकारिता और वितरण सम्बन्धी सहकारिता कह सकते है। जब कुछ श्रमिक मिलकर उत्पादन करते है और लाभ को आपस में बांट लेते है, तब उसे उत्पादन सम्बन्धी सहकारिता कहते है। अर्थ-

सहकारी उत्पादन।

शास्त्रियो का मत है कि सहकारी उत्पादन पूर्णतया नही तो अशरूप में असफल रहा है। उसे बहुत कम सफलता मिली है। कुछ क्षेत्रो मे विशेषकर कृषि और छोटे उद्योगो में उसे कुछ सफलता मिली है। इसका कारण शायद यह है कि इन क्षेत्रो में औद्योगिक नेतृत्त्व की सबसे कम आवश्यकता है। परन्तु जो उद्योग बडे पैमाने पर चलते है, उनमें सहकारी प्रथा असफल हुई है। इसका प्रधान कारण यह है कि इस प्रथा में साहसी उद्योगपति के लिये कोई स्थान नही होता। सहकारी उत्पादन सगठन के प्रवन्धकर्ता योग्यता के व्यक्ति होते है। चूंकि मजदूर स्वय उद्योग के स्वामी होते है, इसलिये वे प्रवन्धकर्त्ता की आज्ञा और नियमो का समुचित आदर नही करते। इसलिये सगठन में नियत्रण की कमी आ जाती है। "सहकारी उत्पादन में मौलिक त्रुटि यह है कि जहां व्यवसायी को सबसे अधिक आवश्यकता होती है, वहाँ उसमें व्यवसायी के लिये कोई स्थान नही होता। उसकी असफलता व्यावसायिक नेतृत्त्व का कारण और महत्त्व बतलाती है।"[1] इसके सिवाय उपयुक्त मात्रा मे पूंजी और बिक्री के लिये बाजार प्राप्त करने की भी कठिनाई होती है। फिर भी हमें उसके लाभो को नही भूल जाना चाहिये। वह वर्ग सघर्प के अन्त करने का प्रयत्न करता है। श्रमिको में आत्माभिमान जागृत करता है और यदि उचित ढग से चलाया जाय तो उन्हे अधिक धन भी देता है।

दूसरे प्रकार का सहकारी सगठन उपभोक्ताओ का सगठन होता है। वह वस्तुओं की थोक और फुटकर बिक्री के लिये बनाया जाता है। सहकारी दूकान से सगठन के सदस्य जितनी खरीद करेंगे, उसी के अनुसार उन्हे दूकान के लाभ से हिस्सा भी मिलेगा। यही इसका सिद्धान्त है। सहकारी उत्पादन संगठन के विपरीत सहकारी वितरण

सहकारी वितरण।

संगठन को पूर्ण सफलता मिली है। किसी मुहल्ले के लोग मिलकर हिस्सो के द्वारा कुछ पूंजी इकट्ठा करते है और अपनी एक दूकान स्थापित कर लेते है। इसका उद्देश्य हिस्सेदारो को आवश्यक वस्तुएँ देना होता है। दूकान में वस्तुएँ थोक भाव से खरीदी जाती है और फुटकर भाव से बेची जाती है। जो लाभ होता है, उसे दूकान के हिस्सेदारो

---

[1] "The essential difficulty in the way of co-operation in production is that it attempts to supersede the businessmen where he is most needed. Its failure is at once a result and proof of the variety and importance of business leadership"

—*Taussig*, Principles of Economics

सदस्यो में बाँट दिया जाता है। अथवा यह भी होता है कि उस दूकान के हिस्सेदार सदस्यो को वस्तुएँ कम कीमत पर मिलती है। फल एक ही होता है। दलाल या आढ़तिया (middleman) का लाभ खरीदारो को मिलता है। इसकी सफलता का कारण यह है कि इसके ग्राहक बँधे रहते है। एक तो विज्ञापन पर खर्च नही करना पडता और दूसरे खरीदार के रूप मे हिस्सेदार बहुत मोल-भाव करके कम दामो मे खरीदने का प्रयत्न नही करते। बहुत-सी सहकारी बिक्री की शाखाएँ ससार के विभिन्न भागो मे है। इन सगठनो ने अपने उत्पादन सगठन भी स्थापित किये है, जिससे अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ वे स्वय बना सके।

सार्वजनिक प्रबन्ध (Concern Under Public Management)—एक ऐसा भी व्यावसायिक सगठन होता है,जसका प्रबन्ध सरकार अथवा स्थानीय अधिकारियो के हाथ में होता है। भारत सरकार रेल, तार, डाक, टेलीफोन इत्यादि की स्वामी भी है और उनका प्रबन्ध भी करती है। पश्चिमी देशो मे बहुत-सी म्युनिसिपल कमेटियाँ शहर मे रेल, बिजली और पानी के कारखाने चलाती है, जो उन्ही के होते है। जिन उद्योगो का प्रबन्ध सरकार के हाथो मे होता है, उनमे यह प्रथा होती है कि सरकार विशेषज्ञो की एक कमेटी बना देती है और उस कमेटी के ऊपर उस उद्योग को व्यावसायिक तरीको के अनुसार चलाने का भार छोड दिया जाता है। कमेटी पर किसी प्रकार का राजनीतिक दबाव नही डाला जाता तथा वह स्वार्थी प्रभाव से भी मुक्त होती है। भारतवर्ष में रेलो का प्रबन्ध इसी प्रकार के रेलवे बोर्ड के हाथ मे है। लेकिन प्रजातन्त्र मे प्रबन्ध की अन्तिम जिम्मेदारी वोट देनेवाले लोकमत पर रहती है।

अध्याय १२

एकाधिकार और संघबन्दी

(Monopoly and Combination)

एकाधिकार का अर्थ यह है कि किसी वस्तु के व्यवसाय का अधिकार केवल एक फर्म के हाथ में रहे। परन्तु किसी वस्तु के व्यवसाय का इस प्रकार का पूरा अधिकार एक सगठन के हाथ में बहुत कम देखा जाता है। अधिकाश एकाधिकारी सगठनो को किसी न किसी प्रकार की प्रतियोगिता का सामना करना पडता है। कम से कम स्थानापन्न या बदले की वस्तुएँ तो रहती ही है, जो उस वस्तु के बदले उपयोग में लाई जा सकती हैं। कलकत्ता इलेक्ट्रिक सप्लाई कारपोरेशन को कलकत्ता शहर मे बिजली देने का एकाधिकार प्राप्त है। उस क्षेत्र में दूसरी कोई कम्पनी न बिजली बना सकती है, न बेच सकती है। इस हद तक हम यह कह सकते है कि इस कम्पनी को कलकत्ता में बिजली के व्यवसाय पर पूरा अधिकार है और वह एकाधिकार की परिभाषा की सब शर्तें पूरी करती है। परन्तु प्रकाश के लिये बिजली के बदले गैस और मिट्टी के तेल का भी उपयोग होता है और रसोईघरो तथा कारखानो में कोयले का उपयोग होता है। इसलिये कम्पनी को कुछ न कुछ प्रतियोगिता का सामना करना पडता है और हम यह नही कह सकते कि बाजार पर उसका पूर्ण अधिकार है। अधिकतर एकाधिकार इसी प्रकार के होते है। उनका किसी वस्तु के उत्पादन या पूर्ति पर इस प्रकार का अधिकार होता है कि वे कुछ हद तक उसके दामों पर प्रभाव डाल सकते है। यह हो सकता है कि कुछ फर्मो के पास दूसरो की अपेक्षा अधिक हद तक अधिक मात्रा में एकाधिकार हो। दक्षिण अफ्रीका की डी० बीअर्स कम्पनी के अधिकार में वहाँ की प्राय सभी हीरे की खदानें है। इसलिये हम यह कह सकते है कि वह पूर्ण एकाधिकार की परिभाषा में आ सकती है।

एकाधिकार के आधार।

पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति मे किसी भी वस्तु के बेचनेवाले बहुत होते है। उनमे से प्रत्येक विक्रेता उस वस्तु के कुल उत्पादन का बहुत थोडा-सा भाग बेचता है। उस व्यवसाय मे आना किसी भी व्यक्ति के लिये बिलकुल स्वतन्त्रता है और अपेक्षाकृत आसान भी है। अन्य उद्योगो मे लाभ की जो औसत रहती है, उससे अधिक औसत यदि किसी उद्योग मे मिलती है, तो उत्पादक उस उद्योग मे अधिक सख्या में आवेगे। इसलिये उस उद्योग पर कोई एक उत्पादक ठोस अधिकार नही कर सकता। और न वह उत्पादन कम करके उसकी कीमत बढा सकता है। परन्तु जिसका एकाधिकार होता है, वह उत्पादन कम करके कीमत बढा सकता है। वह सफलतापूर्वक तभी ऐसा कर सकता है जब अन्य व्यवसायियो का उस उद्योग में आना कठिन हो। इसलिये हमे यह जानना चाहिये कि किसी उद्योग में प्रवेश किस प्रकार कठिन हो सकता है। इस प्रकार के चार कारण होते है। पहिला तरीका यह है कि कानून द्वारा लोगो का किसी व्यवसाय में प्रवेश करना कठिन किया जा सकता है। कानून की सहायता से थोडे से चुने हुए लोगो को उस उद्योग में काम करने की आज्ञा दी जाय। इस प्रकार के एकाधिकारो को कानूनी अधिकार (legal monopolies) कहते है। नये आविष्कारो के पेटेन्ट और पुस्तको के कापीराइट कानूनी एकाधिकार के उत्तम उदाहरण है। नये आविष्कारो के

आविष्कर्त्ताओ को राज्य यह एकाधिकार दे देता है कि वे स्वय उन आविष्कारो का उपयोग कर उनसे लाभ उठावे। इसका ध्येय आविष्कारो और उनके करनेवालो को प्रोत्साहन देना होता है। कभी-कभी किसी वस्तु का व्यवसाय अथवा कोई अन्य काम करने का एकाधिकार राज्य स्वय अपने हाथ मे रखता है। उदाहरण के लिये डाक और तार का काम सरकार का एकाधिकार है। कभी-कभी बडे-बडे उद्योगो में सरकार किसी को एकाधिकार देती है। इन्हे सार्वजनिक उपयोगिता सम्बन्धी एकाधिकार (public utility monopolies) कहते है। यदि एक ही शहर मे दो गैस कम्पनियाँ या बिजली कम्पनियाँ काम करे तो सडको पर दुहरे बिजली और गैस के तार लगेगे। व्यर्थ दुहरा काम होगा। यदि एक शहर मे दो टेलिफोन कम्पनियाँ रहे तो एक कम्पनी के ग्राहक दूसरी कम्पनी के ग्राहको से बात करने की सुविधा न पावेगे। लोग बडी असुविधा मे पड जायँगे। इसलिये लोगो की सुविधा के लिये सरकार ऐसे व्यवसायो मे एक कम्पनी को एकाधिकार दे देती है।

नए प्रतियोगियों पर कानूनी बन्धन।

दूसरे प्रकार का एकाधिकार यह होता है कि एकाधिकारी को महत्त्वपूर्ण कच्चे माल के साधनो पर अधिकार प्राप्त हो। हीरो के व्यवसाय मे डी० बीअर्स कम्पनी की यही स्थिति है। तीसरा कारण अधिक पूँजी की आवश्यकता हो सकती है। लाभ के लिये यह आवश्यक हो कि उत्पादन और बिक्री बडे पैमाने पर की जाय। इसके लिये बडी पूँजी की आवश्यकता होती है। कुछ व्यवसायो में छोटे पैमाने पर उत्पादन ठीक नही होता। यदि किसी विशिष्ट प्रकार के धन्धे में पुरानी कम्पनियाँ बडी पूँजी लगाकर जमी हुई है, तो एक नया उद्योगपति उस क्षेत्र में आते हुए हिचकिचायेगा। उसे यह डर लगेगा कि पुरानी कम्पनियाँ अपने माल के दाम गिराकर उसके साथ प्रतियोगिता न करने लगे। लोहा और इस्पात का उद्योग इसका उदाहरण है। अथवा सोने के धागे के व्यवसाय में कोट्स नामक फर्म का जैसा एकाधिकार है। इस कारण से ऐसे उद्योगो मे जमे हुए फर्मों का एक प्रकार से एकाधिकार रहता है। उन्हे नये प्रतियोगियो का डर नही रहता। इसके सिवा पहले से जमे हुए फर्मो की प्रसिद्धि या नाम (good-will) के कारण भी किसी उद्योग या व्यवसाय मे प्रवेश करना कठिन हो सकता है।

कच्चे माल के साधनो पर अधिकार।

अचल पूंजी से बडी लागत।

एकाधिकार का अर्थ यह है कि किसी वस्तु के व्यवसाय का अधिकार केवल एक फर्म
के हाथ में रहे। परन्तु किसी वस्तु के व्यवसाय का इस प्रकार का पूरा अधिकार एक
सगठन के हाथ में बहुत कम देखा जाता है। अधिकाश एकाधिकारी संगठनो को किसी
न किसी प्रकार की प्रतियोगिता का सामना करना पडता है। कम से कम स्थानापन्न या
बदले की वस्तुएँ तो रहती ही है, जो उस वस्तु के बदले उपयोग में लाई जा सकती है।
कलकत्ता इलेक्ट्रिक सप्लाई कारपोरेशन को कलकत्ता शहर मे बिजली देने का
एकाधिकार प्राप्त है। उस क्षेत्र में दूसरी कोई कम्पनी न बिजली बना सकती है,
न बेच सकती है। इस हद तक हम यह कह सकते है कि इस कम्पनी को कलकत्ता
मे बिजली के व्यवसाय पर पूरा अधिकार है और वह एकाधिकार की परि-
भाषा की सब शर्ते पूरी करती है। परन्तु प्रकाश के लिये बिजली के बदले गैस और मिट्टी
के तेल का भी उपयोग होता है और रसोईघरो तथा कारखानो में कोयले का उपयोग
होता है। इसलिये कम्पनी को कुछ न कुछ प्रतियोगिता का सामना करना पडता है और
हम यह नही कह सकते कि बाजार पर उसका पूर्ण अधिकार है। अधिकतर एकाधिकार
इसी प्रकार के होते है। उनका किसी वस्तु के उत्पादन या पूर्ति पर इस प्रकार का
अधिकार होता है कि वे कुछ हद तक उसके दामों पर प्रभाव डाल सकते है। यह हो सकता
है कि कुछ फर्मों के पास दूसरो की अपेक्षा अधिक हद तक अधिक मात्रा में एकाधिकार
हो। दक्षिण अफ्रीका की डी० बीअर्स कम्पनी के अधिकार में वहाँ की प्राय सभी हीरों
की खदानें है। इसलिये हम यह कह सकते है कि वह पूर्ण एकाधिकार की परिभाषा में
आ सकती है।

पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थिति मे किसी भी वस्तु के बेचनेवाले बहुत होते है
उनमें से प्रत्येक विक्रेता उस वस्तु के कुल उत्पादन का बहुत थोडा-सा भाग बेचता है

एकाधिकार के आधार।

उस व्यवसाय मे आना किसी भी व्यक्ति के लिये बिलकुल
स्वतन्त्रता है और अपेक्षाकृत आसान भी है। अन्य उद्योग
मे लाभ की जो औसत रहती है, उससे अधिक औसत यदि
किसी उद्योग मे मिलती है, तो उत्पादक उस उद्योग मे अधिक सख्या में आवेंगे। इसलिये
उस उद्योग पर कोई एक उत्पादक ठोस अधिकार नही कर सकता। और न वह उत्पादन
कम करके उसकी कीमत बढा सकता है। परन्तु जिसका एकाधिकार होता है, वह
उत्पादन कम करके कीमत बढा सकता है। वह सफलतापूर्वक तभी ऐसा कर सकता है
जब अन्य व्यवसायियो का उस उद्योग में आना कठिन हो। इसलिये हमे यह जानना
चाहिये कि किसी उद्योग मे प्रवेश किस प्रकार कठिन हो सकता है। इस प्रकार के चार
कारण होते है। पहिला तरीका यह है कि कानून द्वारा लोगो का किसी व्यवसाय में प्रवेश
करना कठिन किया जा सकता है। कानून की सहायता से थोडे से चुने हुए लोगो को उस
उद्योग में काम करने की आज्ञा दी जाय। इस प्रकार के एकाधिकारो को कानूनी
(legal monopolies) कहते है। नये आविष्कारो के पेटेन्ट और
कापीराइट कानूनी एकाधिकार के उत्तम उदाहरण है। नये आविष्कारो के

आविष्कर्त्ताओ को राज्य यह एकाधिकार दे देता है कि वे स्वय उन आविष्कारो का उपयोग कर उनसे लाभ उठावे। इसका ध्येय आविष्कारो और उनके करनेवालो को प्रोत्साहन देना होता है। कभी-कभी किसी वस्तु का व्यवसाय अथवा कोई अन्य काम करने का एकाधिकार राज्य स्वय अपने हाथ मे रखता है। उदाहरण के लिये डाक और तार का काम सरकार का एकाधिकार है। कभी-कभी बडे-बडे उद्योगो में सरकार किसी को एकाधिकार देती है। इन्हे सार्वजनिक उपयोगिता सम्बन्धी एकाधिकार (public utility monopolies) कहते है। यदि एक ही शहर मे दो गैस कम्पनियाँ या बिजली कम्पनियाँ काम करे तो सडको पर दुहरे बिजली और गैस के तार लगेगे। व्यर्थ दुहरा काम होगा। यदि एक शहर मे दो टेलिफोन कम्पनियाँ रहे तो एक कम्पनी के ग्राहक दूसरी कम्पनी के ग्राहको से बात करने की सुविधा न पावेगे। लोग बडी असुविधा मे पड जायँगे। इसलिये लोगो की सुविधा के लिये सरकार ऐसे व्यवसायो मे एक कम्पनी को एकाधिकार दे देती है।

नए प्रतियोगियो पर कानूनी बन्धन।

दूसरे प्रकार का एकाधिकार यह होता है कि एकाधिकारी को महत्त्वपूर्ण कच्चे माल के साधनो पर अधिकार प्राप्त हो। हीरो के व्यवसाय मे डी० बीअर्स कम्पनी की यही स्थिति है। तीसरा कारण अधिक पूँजी की आवश्यकता हो सकती है। लाभ के लिये यह आवश्यक हो कि उत्पादन और बिक्री बडे पैमाने पर की जाय। इसके लिये बडी पूँजी की आवश्यकता होती है। कुछ व्यवसायो मे छोटे पैमाने पर उत्पादन ठीक नही होता। यदि किसी विशिष्ट प्रकार के धन्धे में पुरानी कम्पनियाँ बडी पूँजी लगाकर जमी हुई है, तो एक नया उद्योगपति उस क्षेत्र में आते हुए हिचकिचायेगा। उसे यह डर लगेगा कि पुरानी कम्पनियाँ अपने माल के दाम गिराकर उसके साथ प्रतियोगिता न करने लगे। लोहा और इस्पात का उद्योग इसका उदाहरण है। अथवा सोने के धागे के व्यवसाय में कोट्स नामक फर्म का जैसा एकाधिकार है। इस कारण से ऐसे उद्योगो मे जमे हुए फर्मो का एक प्रकार से एकाधिकार रहता है। उन्हे नये प्रतियोगियो का डर नही रहता। अन्त मे पुराने जमे हुए फर्मो की प्रसिद्धि या नाम (good-will) के कारण भी किसी उद्योग या व्यवसाय में प्रवेश करना कठिन हो सकता है। विज्ञापन तथा अन्य उपायो द्वारा पुराने जमे हुए फर्म अपने उद्योगो के माल का ग्राहको के मन और रुचि पर ऐसा सिक्का जमा देते है कि नये व्यवसायियो के लिये उन लोगो को अपना माल बेचना कठिन हो जाता है। लोग नये माल को पसन्द नही करते। एक ग्राहक को पीयर्स का साबुन इतना पसन्द रहता है कि उसे अन्य कोई साबुन खरीदना पसद नही होता। वह पीयर्स

कच्चे माल के साधनो पर अधिकार।

अचल पूँजी से बडी लागत।

पुरानी प्रसिद्धि।

साबुन को ही सर्वश्रेष्ठ साबुन समझ सकता है। ग्राहकों की रुचि बदलने के लिये कुछ लम्बे समय तक बहुत रुपया खर्च करने की आवश्यकता पड़ेगी। इसलिये नये उद्योगपति उस व्यवसाय मे जल्दी न आवेंगे।

उद्योगों की संघबन्दी या गुटबन्दी (Combinations)—अधिकतर एकाधिकारी व्यवसाय कई फर्मों का सगठन बनाने से बनता है। इस प्रकार के सगठन का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। सबसे अधिक प्रचलित वर्गीकरण को खड़ा और आडा सगठन या सघबन्दी कहते हैं।

खड़ी गुटबन्दी (Vertical Combinations) में उत्पादन के सब काम कच्चे माल से लेकर बिलकुल तैयार माल तक एक गुट में बाध दिये जाते है। कई फर्म मिलकर उत्पादन कार्य का विभाजन कर लेते है। उदाहरण के लिये लोहे के उद्योग में एक फर्म केवल कच्चा लोहा खोदने का काम करता है। दूसरा फर्म केवल कोयला खोदता है, तीसरा फर्म लोहा बनाता है, चौथा इस्पात बनाता है और पाँचवाँ लोहे और इस्पात से कोई वस्तु बनाता है। इसी प्रकार अन्य कई कम्पनियाँ एक-एक वस्तु बनाती है। जब एक उद्योगपति या प्रबन्धक के हाथ मे उद्योग के कुछ लगातार काम आ जाते हैं, तब खड़ा सगठन हो जाता है। टाटा आॅयरन एन्ड स्टील कम्पनी इस प्रकार के सगठन का एक उदाहरण है। वह लोहे और कोयले की खदानो की मालिक है। वह कच्चा लोहा और कोयला खोदती है और पक्का लोहा तथा इस्पात बनाती है। इस प्रकार के सगठन का ध्येय प्रबन्ध में खर्च घटाना रहता है। साथ ही उत्पादन के अलग-अलग काम में जो लाभ विभिन्न कम्पनियो को मिलता है, वह एक ही कम्पनी को मिल जाता है। बिक्री और विज्ञापन के खर्च कम हो जाते है। कच्चे माल का बराबर मिलते रहना निश्चित हो जाता है और उत्पादन की किसी भी स्थिति में आवश्यकता से अधिक उत्पादन का खतरा बहुत कम हो जाता है। इसे उद्योगो का सम्मिलन (integration of industries) भी कहते हैं।

खड़ा संगठन।

जब एक ही वस्तु को बेचनेवाली कई कम्पनियाँ या व्यक्ति एक प्रबन्ध के अन्तर्गत सगठित हो जाते हैं, तब उसे आडा मिलन या आडी गुटबन्दी (horizontal combination) कहते है। सम्मिलन मे लोहा तथा कोयला खोदना, कच्चा और पक्का लोहा बनाना आदि विभिन्न कामो का एक साथ सगठन है। पर आडे सगठन में एक ही प्रकार के कामो का एक प्रबन्ध के अन्तर्गत सगठन होता है। जैसे दो अथवा अधिक लोहे की कम्पनियो का एक प्रबन्ध के अन्दर मिल जाना। अथवा दो या अधिक कोयले की खदानो का एक प्रबन्ध के अन्तर्गत सगठन। इस प्रकार के सगठन का ध्येय तो प्रबन्ध के खर्च में कमी करना होता है और कुछ अत्यधिक प्रतियोगिता का अन्त

आड़ी गुटबन्दी।

करना, जिससे कि लाभ एकाधिकार के आधार पर हो सके। आडी गुटवन्दी का पैमाना बहुत वडा हो सकता है। वह सारे ससार को अपना क्षेत्र वनाकर की जा सकती है। स्टेन्डर्ड ऑयल कम्पनी इसका उदाहरण है। उसका महत्त्व और क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय है।

गुटवन्दी के विभिन्न रूप (The Various Phases of Combinations)—गुटवन्दियो का वर्गीकरण उनके सगठन के आधार पर भी किया जाता है। इन्हे समझौता (agreement), एकत्रीकरण (pool), कारटल (kartel) और ट्रस्ट (trust) कहते है। सगठन के इन वर्गो के छोटे-छोटे उपवर्ग भी होते है।

सवसे साधारण और सरल गुटवन्दी उत्पादको का एक ढीला-सा सगठन होता है, जिसका ध्येय आपस की प्रतियोगिता सीमित करना होता है। उदाहरण के लिये भारत मे पेट्रोल के दाम वरमा ऑयल कम्पनी और स्टेन्डर्ड ऑयल कम्पनी नामक दो वडे प्रतियोगियो द्वारा आपस के समझौते से निश्चित किये जाते है। इसी प्रकार दाम और भाव निश्चित करने के और भी सगठन हो सकते है। इग्लैड में जहाजी कम्पनियो का एक सघ है, जिसे शिपिग कान्फ्रेन्स (Shipping Conference) या जहाजी सभा कहते है। यह सघ विभिन्न वन्दरगाहो के वीच जहाजो का किराया निश्चित करता है। उत्पादन सीमित करने के लिये भी समझौता हो सकता है। भारतीय जूट मिल सघ (Indian Jute Mills Association) इसी प्रकार का सगठन है। इस सघ ने कई बार यह निश्चित किया है कि सघ का प्रत्येक सदस्य मिल कर इस प्रकार उत्पादन करेगा कि जूट की वस्तुओ के दाम स्थिर रहे अथवा वढ सकें। अर्थात् वह उत्पादन निश्चित कर देता है। इस प्रकार के अन्तिम सगठन का नाम कोष (pool) होता है। इस सघ का एक कोष होता है और प्रत्येक सदस्य को अपने उत्पादन का एक निश्चित भाग कोष मे देना पडता है। फिर एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार इस कोष का वँटवारा सदस्यो मे किया जाता है। इस प्रकार की सव गुटवन्दियो में समझौते एक निश्चित काल के लिये किये जाते है और प्रत्येक फर्म या कम्पनी के आन्तरिक सगठन और प्रवन्ध मे दखल नही दिया जाता।

कोष।

गुटवन्दी का एक अन्य रूप कारटल (kartel) है। यह रूप जर्मनी में वहुत प्रचलित है। यह गुटवन्दी कोष के समान रहती है, पर कोष से अधिक दृढ और विस्तृत होती है। प्रतियोगी व्यवसायी एक कम्पनी स्थापित करते है और प्रत्येक का इसमे हिस्सा रहता है। वह एक विक्रय कम्पनी के समान स्थापित की जाती है। यह कम्पनी उत्पादन और भाव दोनो निश्चित करती है। यह कम्पनी प्रत्येक सदस्य फर्म के उत्पादन की मात्रा निश्चित कर देती है और उनके विक्री का भाव भी वाँध देती है। पर विक्री का काम नही करती है। माल की जितनी माग आती है, वह सव इसी के [illegible]

कारटल।

है। हमारे देश में धीरे-धीरे इसी प्रकार की योजना ग्रहण की जा रही है। सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी ऑफ इंडिया और इंडियन शुगर सिंडीकेट इस प्रकार के संगठनों के उदाहरण है।

गुटबन्दी के अन्य रूप को ट्रस्ट (trust) कहते हैं। यह संगठन भी बडे पैमाने पर होता है। प्रारम्भ मे इसका अर्थ विशेष रूप की गुटबन्दी होती थी। कई कम्पनियो के बडे-बडे हिस्सेदार अपने हिस्से ट्रस्टियो की एक सभा (board of trustees) को सौंप देते है। ये ट्रस्टी या साहूकार इन हिस्सो को एक धरोहर के रूप में ले लेते है। इस प्रकार इन ट्रस्टियो के हाथ मे कई प्रकार का प्रबन्ध आ जाता है। क्योंकि हिस्से सौपनेवाले प्रत्येक हिस्सेदार के हाथ मे उस कम्पनी के अधिकांश हिस्से होते है। ट्रस्टियो की सभा इन सब कम्पनियो का प्रबन्ध एक कम्पनी की तरह करती है। परन्तु आजकल किसी भी बडी गुटबन्दी को ट्रस्ट कहते है।

ट्रस्ट।

प्रबन्धक कम्पनी (holding company) भी इसी वर्ग का एक संगठन है। जब अमेरिका मे ट्रस्टो का बनना गैर कानूनी घोषित कर दिया गया, तब वकीलों की तीक्ष्ण सूझ ने इस प्रकार की गुटबन्दी का निर्माण किया। ट्रस्टियो की सभा के बदले एक स्वतन्त्र कम्पनी बनाई जाती है। यह कम्पनी बहुत-सी कम्पनियो के हिस्से खरीद लेती है। प्रबन्धक कम्पनी इन कम्पनियो की नीति निर्धारण और व्यवसाय का प्रबन्ध करती है।

प्रबन्धक कम्पनी।

गुटबन्दी का अन्तिम रूप विलयन (merger) होता है। इसमें विभिन्न कम्पनियाँ अपना अस्तित्व मिटाकर एक नई कम्पनी बनाती है और यह कम्पनी इन कम्पनियो की सब सम्पत्ति ले लेती है। कोष और कारटल मे कम्पनियो का स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व बना रहता है। परन्तु विलयन कम्पनियो का स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व खतम हो जाता है

विलयन।

अन्तर्राष्ट्रीय कारटल (International Kartels)—गत कुछ वर्षों में गुटबन्दी का क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है। अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी मे जो समझौते होते हैं, उनमे साधारणत एक देश के गुट को उसके राष्ट्रीय बाजार दे दिये जाते है और अन्य देशो के लिये या तो बिक्री की मात्रा बाँध दी जाती है या भाव बाँध दिया जाता है। प्राय समझौते मे या तो बिक्री के क्षेत्र बाँट दिये जाते है या विभिन्न क्षेत्रो के लिये दाम निश्चित कर दिये जाते है। ताँबे के उद्योग मे एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ है। इस संघ के अधिकार में संसार भर के ताँबे के उत्पादन की ९० प्रतिशत मात्रा है। इसका प्रधान दफ्तर ब्रुसेल्स में है। इस संघ का नाम कॉपर एक्सपोर्ट ट्रेडिंग कम्पनी है। इसी प्रकार सीमेंट, लोहे की पातो आदि के भी संघ हैं।

एकाधिकार के लाभ (Economics of Monopoly)—पूर्ण प्रतियोगिता की तुलना में एकाधिकार के लाभ बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करते है कि एकाधिकार का सगठन किस ढग से किया जाता था। यदि एकाधिकार एकत्रीकरण (pool) या कारटल के ढंग पर हुआ, तब निश्चित रूप से यह नही कहा जा सकता कि उनमे शामिल होनेवाली कम्पनियाँ प्रतियोगी कम्पनियो से अधिक योग्य होगी। परन्तु यदि एकाधिकार विलयन के ढग का हुआ तो पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा उसमे कुछ लाभ होगे। प्रामाणिकरण (standardization), विशिष्टीकरण (specialization) तथा उत्तम सगठन के द्वारा बहुत से साधारण धन्धो मे वह सब कुशलता और किफायत लाई जा सकती है, जो बडे-बडे ट्रस्टो मे प्राप्त की जाती है। एकाधिकारियो को उत्पादन सम्बन्धी तीन या चार प्रकार की खर्च सम्बन्धी बचत हो सकती है। एक एकाधिकारी अपने विभिन्न कारखानो को एक सीमित प्रकार के कार्य मे विशिष्ट कर सकता है। अथवा वह ऐसा प्रबन्ध कर सकता है कि प्रत्येक बाजार मे सबसे पास के कारखाने से सामान पहुँचाया जाय। इससे उसके यातायात के खर्च मे बहुत बचत हो जायगी। प्रतियोगिता की परिस्थिति मे बम्बई की मिल अहमदाबाद मे और अहमदाबाद की मिल बम्बई मे अपना माल बेच सकती है। परन्तु यदि कई मिले आपस मे मिल जायँ तो वे यह तय कर सकती है कि बम्बई के बाजार मे केवल बम्बई की मिल का माल आ आवेगा। इससे उनका यातायात सम्बन्धी खर्च बच जायगा।

बिक्री सम्बन्धी किफायत

ज्ञान और पेटेंट का एकत्रीकरण।

एकाधिकार से एक लाभ और होता है। उससे ज्ञान और पेटेन्टो का एकत्रीकरण हो सकता है। इससे प्रत्येक फर्म दूसरे फर्मो का अनुभव, व्यावसायिक गुप्त-भेद प्राप्त कर लेगा। इसलिये प्रतियोगिता की अपेक्षा एकाधिकार में प्रत्येक फर्म का अधिक विशिष्ट ज्ञान और पेटेन्ट प्राप्त होगे। तीसरे जब बहुत-से फर्म एक दूसरे के साथ आपस में प्रतियोगिता करते है, तो प्रत्येक फर्म के लिये व्यवसाय में खतरा और अनिश्चितता बढ जाती है। प्राय यह कहना कठिन नही होता कि अगले एक वर्ष में जूट के माल की माग कितनी रहेगी। परन्तु यह बतलाना असम्भव होता है कि प्रत्येक जूट मिल बाजार में अपना माल कितना बेच पावेगी। अर्थात् कुल बिक्री मे उसका भाग कितना रहेगा। मिलो की सख्या जितनी अधिक रहेगी, इस सम्बन्ध मे अनिश्चितता भी उतनी ही अधिक रहेगी। इसलिये मिल के प्रबन्धकर्त्ताओ की कठिनाई भी उतनी ही अधिक रहेगी। एकाधिकारी को इस प्रकार की अनिश्चितता का सामना नही करना पडता। इस प्रकार प्रबन्धकर्ता का काम एकाधिकार मे प्रतियोगिता की अपेक्षा अधिक सरल हो सकता है।

प्रबन्धकर्त्ता का काम अधिक सरल हो जाता है।

एकाधिकारी को एक अन्य लाभ भी प्राप्त होता है। जब एक दूसरे से प्रतियोगिता करनेवाले बहुत-से फर्म रहते है, तब प्रत्येक को प्रतियोगितापूर्ण विज्ञापनो में बहुत खर्च

करना पडता है। परन्तु एकाधिकार मे विज्ञापन और विक्री संगठन में इतना अधिक खर्च अनावश्यक होगा। अन्त मे यह कहा गया है कि एकाधिकार और गुटवन्दी से उद्योग मे अस्थिरता कम हो जाती है और स्थिरता आती है। जो धन वे नष्टकारी प्रतियोगिता में खर्च करते, उसे रचनात्मक कार्यो में खर्च कर सकते हैं। अपने वडे आकार और वडी शक्ति को ध्यान मे रखकर वे उत्पादन और दामो मे स्थिरता लाने का प्रयत्न कर सकते हैं। टॉसिग (Taussing) का विश्वास है कि उद्योग में इस प्रकार की स्थिरता सभव है। परन्तु साथ ही गलत या कमजोर गुटवन्दी, लाभ वढाने के लालच, आवश्यकता से अधिक पूंजी लगाने तथा सट्टेवाजी के कारण अस्थिरता का खतरा भी वढ सकता है। एकाधिकार के सम्वन्ध में एक लेखक ने हाल मे लिखा है कि इस बात का वहुत कम सवूत मिलता है कि गुटवन्दी से उद्योग में स्थिरता आती है।[1]

प्रतियोगितापूर्ण विज्ञापन मे वचत।

हानियाँ (Disadvantages)—एकाधिकार मे सवसे वडी हानि यह है कि उससे उत्पादन के साधनो का एकागी वितरण होता है। प्रतियोगितापूर्ण परिस्थितियो मे प्रत्येक वस्तु का उत्पादन तव तक वढता जायगा, जव तक कि अतिरिक्त साधनो से वने हुए माल के वास्तविक दाम उस वस्तु के दामो के वरावर न हो जायँगे। अर्थात् एकाधिकारी उस हद तक उत्पादन करेगा जिस पर सीमान्त लागत सीमान्त आय के वरावर होती है और सीमान्त आय वस्तु के दाम से कम रहती है। इसलिये एकाधिकार में हमेशा उत्पादन समाज की आवश्यकता से कम रहता है। अर्थात् पूर्ण प्रतियोगिता में जितना उत्पादन होता है, उतना एकाधिकार में नही होता। एक दूसरा नुकसान भी है। थोडे से अपवादो को छोडकर एकाधिकारी अपने वनाये हुए माल पर जो दाम लेता है, वे प्राय. प्रतियोगिता के दामो से ऊँचे रहते हैं। इसलिये खरीदने की शक्ति या क्रय-शक्ति उस माल के खरीदारो के हाथ से निकलकर एकाधिकारियो के हाथ में चली जाती है। यह तवदीली प्रायः गरीव व्यवसायियो से धनी साहसी व्यवसायियो मे होती है। इससे वर्तमान आय की असमानता वढने की ही सम्भावना अधिक होती है और यह परिस्थिति उचित नही है। इसके सिवाय अपनी दृढ और कुशल स्थिति के कारण एकाधिकारी मजदूरो तथा उत्पादन के अन्य साधनो का शोषण कर सकता है। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियों में उन्हे जितनी मजदूरी मिलती है, वह उन्हे उससे कम देने की स्थिति में रह सकता है।

अपने स्वार्थ-साधन के लिये एकाधिकारी राजनीतिक वातावरण भी भ्रष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। उनके पास वहुत अधिक साधन रहते हैं। उनके द्वारा वे व्यवस्थापिका के सदस्यो, राजनीतिक नेताओ और न्यायाधीशो को घूस द्वारा तथा अन्य कई तरीको से

राजनीतिक भ्रष्टाचार

4

---

[1] *A G Robinson*, Monopoly, p. 166

ने वश मे करने का प्रयत्न करते है, जिससे कानून उनके पक्ष मे बने और न्याय भी के पक्ष में हो।

सट्टा, फाटका और जरूरत से ज्यादा पूंजी लगाना औद्योगिक गुटबन्दी की खास इयाँ है। थोडे-थोडे समय बाद पूंजी बढाई जाती है और सट्टा की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन दिया जाता है। कभी-कभी एकाधिकारी सघ या गुट इतना बडा आकार धारण कर लेते है कि उनका उपयुक्त प्रबन्ध करना कठिन हो जाता है और सगठन मे जहाँ कुछ कुशल प्रबन्धकर्त्ताओ की मृत्यु हुई कि उपयुक्त प्रबन्धकर्त्ताओ की मी के कारण उद्योग के चौपट होने का डर रहता है।

अनावश्यक पूंजी और सट्टा।

एकाधिकार का नियन्त्रण (Control of Monopoly)—हम देख चुके कि एकाधिकार मे प्रतियोगिता की अपेक्षा उत्पादन कम होता है और वस्तुओ के दाम अधिक रहते है। यदि सरकार हस्तक्षेप करके एकाधिकार की बुराइयो को दूर कर के, तो समाज की काफी भलाई होगी। हस्तक्षेप सम्बन्धी कामो को हम तीन वर्गों रख सकते है—अनुचित प्रतियोगिता रोकना, उद्योगो के उत्पादन पर नियन्त्रण रखने लिये कर लगाना और आर्थिक सहायता देना, एकाधिकारी दामो पर नियन्त्रण रखना।

(अ) बहुत से व्यवसायी अनुचित उपायो द्वारा अपने प्रतिद्वन्दियो को बाजार से गाने का प्रयत्न करते है। इन अनुचित उपायो मे सबसे अनुचित उपाय दाम गिराना है। हमारे देश मे कई बार जहाजी कम्पनियो ने अपना भाडा बहुत गिराकर नई कम्पनियो को नष्ट करने के प्रयत्न किये है। जब नये प्रतियोगी व्यवसाय क्षेत्र से भगा दिये जाते है, तब दाम फिर बढा दिये जाते है। सरकार इन प्रकार कार्यो को बन्द कर सकती है। उदाहरण के लिये वह यह नियम बना सकती है कि यदि एक बार कोई कम्पनी अपने दाम गिराती है, तब फिर उन्हे बढा नही सकती। इसमें एक बडा दोष यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता का वातावरण नही रह जायगा। यदि कोई कम्पनी अपने माल की बिक्री बढाने के लिये अथवा नये ग्राहक खींचने के लिये कुछ समय के लिये अपना दाम गिराना चाहती है, तो यह बिलकुल उचित उपाय है। हम से अनुचित नही कह सकते। यह एक प्रयोग है। अनुचित उपाय की व्याख्या और निर्धारण करना बडा कठिन है।

अनुचित प्रतियोगिता बन्द करना।

(ब) **कर और सरकारी सहायता (Taxes and Bounties)**—सिद्धान्त रूप मे एकाधिकार की बुराइयाँ दूर करने के लिये यह अच्छा उपाय है। जो धन्धे बहुत [illegible] है, उनके उत्पादन के साधनो पर कर लगाकर सरकार उन साधनो का उन धन्धों [illegible] रोक सकती है। साथ ही, आर्थिक सहायता देकर वह उत्पादन के साधनो को [illegible] अथवा [illegible] उद्योग मे पहुंचा सकती है। परन्तु सरकार को इन [illegible]

का उपयोग इस प्रकार करना चाहिये कि सब उद्योगो में साधनो का वास्तविक सी...
उत्पादन एक बरावर हो। इस प्रकार सरकार किसी उद्योग का आदर्श अधिकतम ...
(optimum size) के फर्म बना सकती है। जो फर्म आदर्श अधिकतम ...
से बडा हो, उस पर कर लगा दिया जाय और जो आदर्श अधिकतम आकार से ...
हो उसे आर्थिक सहायता दी जावे। परन्तु इसमें सबसे बडी कठिनाई यह होती है ...
सरकार के लिये उत्पादन के साधनो का वास्तविक सीमान्त उत्पादन (margin...
net products) और आदर्श अधिकतम आकार निश्चित करना सम्भव नहीं है।

(स) दामों का नियन्त्रण (Control of Prices)—सरकार ऐसा ...
भी कर सकती है कि एकाधिकारी अपने माल के जो दाम लेगा, वह प्रतियोगिता के ...
के बराबर होगा। यह दो प्रकार से हो सकता है—(१) सरकार ऐसा नियम ...
सकती है कि किसी फर्म को कुल पूंजी पर अधिक से अधिक इतना मुनाफा दिया जा ...
है। और यदि वास्तविक मुनाफा उस हद से अधिक हुआ तो उस फर्म के माल के ...
घटने चाहिये। परन्तु इस सम्बन्ध मे मुख्य कठिनाई यह है कि किसी फर्म का व ...
पूंजी का पता लगाना कठिन है। उदाहरण के लिये किसी फर्म की पूंजी कृत्रिम ...
बढाई जा सकती है। प्रतियोगितापूर्ण और उचित दाम का पता लगाना भी मुश्कि...
इसके सिवाय इस रीति के अनुसार काम करने से योग्य प्रबन्ध पर भी बुरा असर ...
का डर है। सरकार उत्पादन के साधनो और वस्तुओ के अधिकतम दाम निश्चित ...
सकती है। परन्तु इस तरीके मे कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। सिद्धान्त की ...
से एकाधिकार के अन्तर्गत किसी भी वस्तु के प्रत्येक किस्म या गुण के अलग-अ...
अधिकतम दाम बाँधने पडेंगे। फिर जैसे-जैसे उत्पादन के वैज्ञानिक तरीको और ...
की रुचि मे परिवर्तन होगे, वैसे-वैसे इन दामो मे भी परिवर्तन करने पडेंगे।

(द) गुटबन्दी विरोधी कानून (Anti-Combination Law)...
नियन्त्रण के तरीको मे कई प्रकार के दोष होने के कारण अन्त मे सरकार को ऐसे ...
करने पडे, जिससे स्वय एकाधिकार का अन्त हो। कानून द्वारा उद्योगो की गुट...
बन्द कर दी जाती है। अमेरिका मे गुटबन्दी रोकने के लिये शेरमन कानून (Sh...
man Anti-Trust Law) और क्लेटन कानून (Clayton Act) ...
परन्तु यहाँ भी कठिनाइयाँ है। वकीलो की पैनी बुद्धि ने इन कानूनो की अवहेलना ...
के उपाय ढूंढ निकाले हैं। साथ ही यह भी हो सकता है कि इन कानूनो से गुटबन्दी ...
एकाधिकार रोके जा सकें, परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता का वातावरण तैयार नही किया ...
सकता। यह भी निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि इन कानूनो से काफी सख्या ...
आदर्श अधिकतम आकार के कई बडे स्वतन्त्र फर्म बन जावेगे, अथवा बाजार मे ...
सम्बन्धी जो बुराइयाँ है, वे दूर हो जावेगी।

अध्याय १३

उत्पत्ति सम्बन्धी नियम

(The Law of Returns)

क्रमागत ह्रास नियम (The Law of Diminishing Returns)—हम पिछले एक अध्याय मे देख चुके है कि कृषि मे उपज क्रमागत ह्रास के नियम के अनुसार होती है। जब भूमि के एक निश्चित टुकडे मे अधिक श्रम और पूंजी लगाई जाती है, तब उत्पादन की सीमान्त लागत बढने लगती है। जब उत्पादन के कुछ निश्चित साधनों के साथ उत्पादन के अन्य साधन अधिकाधिक मात्रा मे जोडे जाते है तो इन अधिकाधिक मात्राओ से होनेवाली उत्पत्ति घटने लगती है। इसके साथ मे अवश्य यह लगा रहता है कि साधनो का आदर्श मिश्रण हो चुका है और उत्पादन के तरीको मे कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

क्रमागत ह्रास नियम।

जब किसान अपनी उपज बढ़ाना चाहता है, तब वह अपनी जमीन में अधिक पूंजी और श्रम लगावेगा। श्रम और पूंजी पर उसे जो खर्च करना पडेगा वह इन चीजो की बाजार दर पर निर्भर होगा। यदि हम यह मान ले कि उसकी माँग के कारण इन चीजो के भाव नही बढते तो पूंजी और श्रम की अधिक मात्राओ के लिये उसे पुराने भाव से दाम देने पडेगे। परन्तु इन अधिक मात्राओ की प्रति इकाई पीछे उपज घटती जाती है। वह श्रम तथा पूंजी की प्रत्येक अधिक मात्रा के लिये पहले के भाव से दाम दे रहा है, परन्तु उसकी प्रत्येक मात्रा पीछे उसे अब कम उत्पत्ति मिल रही है। इसलिये जैसे-जैसे वह अपनी उपज बढाने का प्रयत्न करता है, वैसे-वैसे उसके इस अधिक उपज का उत्पादन खर्च भी बढता जाता है। अर्थात् उत्पादन की सीमान्त लागत (marginal cost of products) बढने लगती है। जब सीमान्त लागत औसत लागत से कम होगी तब यह क्रिया होगी। परन्तु जब सीमान्त लागत बढेगी, तब वह औसत लागत से अधिक हो जायगी और फिर सीमान्त और औसत दोनो लागते बढने लगेगी। इससे यह बात सिद्ध होती है कि जब किसी चीज का उत्पादन बढाया जाता है और उसका [illegible] [illegible] से अधिक साधन ऐसा होता है कि उसकी पूर्ति या मात्रा बढाई नही जा सकती और यदि बढ सकती है तो वह पहिले से घटिया किस्म की होगी, तब उस चीज का उत्पादन अधिकाधिक लागत पर होगा।

बढती उपज का नियम (The Law of Increasing Return)—यह नियम [illegible] है कि यदि उत्पादन के किसी साधन की मात्रा बढा दी जाने तो [illegible]

उस मात्रा के अनुपात से अधिक होगा। यदि किसी व्यवसाय में उत्पादन के एक साधन की मात्रा बढा दी जावे तो सभव है कि उससे यह व्यवसाय का सगठन सुधर जावे, जिससे उत्पादन के साधनो की शक्ति बढ जावे। फल यह होगा कि उतनी ही लागत पर अधिक उत्पादन प्राप्त होगा।

उत्पादन के साधनो की कार्यशक्ति कई कारणो से बढ सकती है। एक कारण यह हो सकता है कि साधनो की इकाइयाँ बडी-बडी हो, जिनका विभाजन नही हो सकता और परिस्थितियाँ ऐसी हो कि उपज प्राप्त करने के लिये इन अविभाज्य इकाइयो का लगाना आवश्यक है। उदाहरण के लिये एक कीमती मशीन का लगाना आवश्यक हो, चाहे उत्पादन कम हो अथवा अधिक। इसी प्रकार साहसी व्यवसायी भी एक अविभाज्य इकाई है। जब किसी साधन की अविभाज्य इकाई का उपयोग करना पडता है, तो उस इकाई की निश्चित कीमत को बढती हुई माँग के साथ अधिक उत्पादन पर फैलाया जा सकता है। फल यह होगा कि जब उत्पादन बढेगा तो उपज की प्रति इकाई की लागत कम होगी। इसका सबसे अच्छा उदाहरण एक नये क्षेत्र में रेल की लाइन बनाने का है। रेल की नई लाइन बनाने मे स्टेशन, पटरी, इजिन आदि पर एक निश्चित रकम से कम रकम लगानी आवश्यक है। सम्भव है, आरम्भ में इतना आवागमन न हो जिससे लगी हुई पूंजी का पूरा लाभ उठाया जा सके। परन्तु जैसे-जैसे उस भूमि की उन्नति होगी, वैसे-वैसे आवागमन भी बढेगा। अधिक गाडियाँ चलाने से बढते हुए आवागमन की माँग पूरी की जा सकती है। कुछ डब्बे खरीदने पडेगे और कुछ कर्मचारी बढाने पडेगे। परन्तु सडक, पुल, स्टेशन इत्यादि बढाने की आवश्यकता न पड़ेगी। ये उत्पादन के निश्चित या बँधे साधन है। चूंकि आवागमन मे वृद्धि के साथ-साथ इन बँधे हुए साधनो में वृद्धि करने की आवश्यकता नही है। इसलिये उत्पादन साधनो की प्रति इकाई पीछे लागत खर्च कम होता जायगा। प्राय प्रत्येक प्रकार के व्यवसाय मे यह सिद्धान्त लागू होता है। छोटे उद्योगपति प्रत्येक मशीन अथवा प्रत्येक श्रमिक की कार्यशक्ति का पूरा पूरा लाभ नही उठा सकते। सम्भव है कि मशीनो के इजीनियरो अथवा अन्य प्रकार के विशेषज्ञो को अपनी कार्यशक्ति भर काम करने का मौका न मिले। परन्तु यदि व्यवसाय बढाया जाय तो उन्हे काम करने का अधिक मौका मिलेगा और इकाइयो का कुल लागत खर्च कम हो जायगा।

बढ़ती उपज के कारण।

विशेषज्ञता (Specialization) बढाने से भी सगठन मे सुधार और उन्नति हो सकती है। किसी उद्योग-विशेष मे विशेषज्ञता की कई सतह होती है। यदि उत्पादन बढाया जावे तो दक्षता की उच्च सतह काम मे लाई जा सकती है, जिससे कार्यशक्ति बढेगी, लागत खर्च घटेगा। उत्पादन की प्रत्येक क्रिया का काम एक ऐसे साधन से लिया जा सकता है, जो विशेषरूप से उसी क्रिया के लिये बना हो। जैसे-जैसे किसी कम्पनी के माल की माँग बढती है, वैसे-वैसे वह कीमती मशीनो, विशेषज्ञो तथा श्रमिको से काम ले सकती है। इसलिये उ[illegible] लागत कम होगी।

ये 'आन्तरिक वचत' (internal economics) के उदाहरण है। अर्थात् जैसे-जैसे फर्म का व्यवसाय बढता है, वैसे-वैसे यह किफायत उसी के आन्तरिक सगठन मे हो सकती है। यह वचत मशीनो का अधिक अच्छा उपयोग करने से अथवा फर्म की दक्षता और विशेषज्ञता वढाने से होती है। परन्तु वाह्य वचत (external economics) से भी लागत खर्च कम हो सकता है। मार्शल ने वाह्य वचत शब्द का उपयोग किया है। किसी फर्म का व्यवसाय बढने से उसे जो वचत होती है, उसे वाह्य वचत कहते है। उदाहरण के लिये जव कोई नया फर्म किसी व्यवसाय मे प्रवेश करता है, तव सव फर्मो के लिये उत्पादन कुछ सस्ता करना सम्भव हो सकता है। जैसे कि मशीनो के दाम कुछ सस्ते हो सकते है। क्योकि मशीन वनानेवाले फर्मो का वाजार अव कुछ वढ गया है।

वाह्य वचत।

यह ध्यान रखना चाहिये कि जव किसी फर्म का व्यवसाय वढता है, तो उपज की वढती अनिश्चित सीमा तक नही होती। एक समय आयेगा, जव वँधे हुए साधनो का पूरा उपयोग करने के वाद उत्पादन वढाने का प्रयत्न करने से उपज घटने लगेगी। जव तक वढती उपज का नियम काम करेगा, तव तक उत्पादन वढाने से प्रत्येक फर्म लागत खर्च कम कर सकेगा। पूर्ण प्रतियोगिता मे उसका ऐसा करना अच्छा होगा। परन्तु उत्पादन वढने पर उसकी विशेषज्ञता और वृहत् उत्पादन सम्वन्धी वचत खतम हो जायगी, जव तक कि व्यवसाय वढाने से उसका लागत खर्च न वढे।

स्थिर उपज का नियम (The Law of Constant Returns)—जव किसी वस्तु का उत्पादन प्रति इकाई पीछे लागत खर्च वढाये विना अधिक किया जा सकता है, तव यह कहा जाता है कि उसका उत्पादन स्थिर उपज के नियम के अनुसार होता है। उत्पादन के साधन वढाने से उपज मे भी वढती होती है। किसी वस्तु का उत्पादन स्थिर लागत पर करने के लिये जहाँ तक हो सके, इन शर्तो का पालन करना चाहिये। एक तो उस वस्तु के उत्पादन के लिये कच्चे माल इतने अधिक होने चाहिये कि उत्पादन वढने से उनके दामो मे वढती न हो। दूसरे उसके उत्पादन के लिये आवश्यक साधन स्थिर दामो मे मिलते रहे। तीसरे, उद्योग ऐसा हो कि उसका प्रसार होने पर उसमे श्रम-विभाजन और विशेष दक्षता की वढती न हो।

वढती उत्पत्ति और घटती उत्पत्ति के फलो का ठीक संतुलन करने से भी स्थिर लागत पर उत्पत्ति हो सकती है। विशेषज्ञता तथा उत्पादन तरीको में उन्नति के कारण जो वचत होगी, वह कच्चे माल अथवा अन्य साधनो के महँगे हो जाने के कारण मिट सकती है।

तात्पर्य (Conclusion)—यह ध्यान रखना चाहिये कि जिन नियमो का अध्ययन हमने इस अध्याय मे किया है वे केवल सिद्धान्त है और सिद्धान्तो के रूप में [illegible] की गई है। [illegible] होगा [illegible] के [illegible]

के सम्बन्ध मे कई समस्याओ का अध्ययन करेंगे। वास्तविक जीवन में कोई भी उद्योग किसी एक समय एक नियम का भी पालन नही करता। जैसे कि कृषि और खनिज पदार्थों के सम्बन्ध में यह देखने मे आता है कि उनके उत्पादन की लागत बढती जाती है। परन्तु उनसे जो वस्तुएँ निर्माण की जाती है और उनका जो यातायात होता है, वह बढती उपज के नियमो के अनुसार होता है। फिर भी निश्चित रूप से कोई बात कहनी कठिन है। विज्ञान की प्रगति, नये-नये आविष्कारो तथा उत्पादन के तरीको में चमत्कारिक परिवर्तनो ने कई उद्योगो का रूप-रग बदल दिया है। यह परिवर्तन लगातार होता रहता है।

अध्याय १४

बिक्री क्षेत्र या बाज़ार

(Markets)

अनादि काल से विनिमय के सब काम बाजारो या बिक्री केन्द्रो में होते आये है वास्तव में औद्योगीकरण की उन्नति विस्तृत और पूर्ण बाजारो के विकास पर निर्भर है यदि किसी वस्तु की बिक्री के लिये बाजार बिलकुल सीमित है, तो उसकी उत्पत्ति भी सीमित रहेगी। जैसे-जैसे उसका बाजार बढेगा और बाजार के साथ-साथ माँग बढेगी वैसे-वैसे उसका उत्पादन भी बढेगा। ऑडम स्मिथ ने बहुत पहिले बतलाया था कि श्रम-विभाजन बाजार की सीमा पर निर्भर है। इसलिये मूल्य सिद्धान्त का गभीर अध्ययन करने के पहिले बाजार के विभिन्न अगो और विशेपताओ की जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है।

बाजार की परिभाषा (Definition of a Market)—साधारण भाषा में बाजार का अर्थ वह स्थान होता है, जहाँ वस्तुएँ बिक्री के लिये लाई जाती है। बोलचाल की भाषा मे बाजार का सबसे अच्छा उदाहरण किसी ग्राम का वह साप्ताहिक मेला है, जहाँ बहुत से खरीद और बिक्री करनेवाले लोग इकट्ठे होते है और शोर-गुल के साथ अपने सौदे करते है। परन्तु अर्थशास्त्र में बाजार का अर्थ कोई स्थान तथा क्षेत्र नहीं है। बाजार के माने कोई वस्तु या बहुत-सी वस्तुएँ है, जिन्हे बहुत से लोग खरीदते और बेचते है। जैसे कि अर्थशास्त्र में 'गेहूँ का बाजार' का अर्थ कोई विशेप स्थान नही है, जहाँ गेहूँ खरीदा और बेचा जाता है। इसी प्रकार स्टॉक-एक्सचेंज या शेयर बाजार का [illegible] स्थान विशेप से नही है। उसका सम्बन्ध केवल प्रतियोगितापूर्ण दामो में

अर्थशास्त्र में बाजार के माने।

ो की खरीद और बिक्री से है। बाजार का अस्तित्व जानने का मापदण्ड यह है कि ो एक समय एक दाम होना चाहिये। बाजार मे किसी वस्तु की खरीद और बिक्री एक भाव होना चाहिये। यदि किसी वस्तु के दो भाव है, तो एक साथ दो बाजार जावेगे।

आर्थिक बाजार का वर्गीकरण दो तरह से हो सकता है—पहिला स्थान की दृष्टि और दूसरा समय की दृष्टि से। किसी बाजार का क्षेत्र प्रतियोगिता की सीमा पर निर्भर होता है। यदि प्रतियोगिता ससारव्यापी है, तो बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होगा। यदि प्रतियोगिता केवल देश-व्यापी है, तो बाजार भी राष्ट्र तक सीमित रहेगा और यदि तियोगिता किसी स्थान विशेष तक सीमित है, तो बाजार भी उसी स्थान तक सीमित गा। इसलिये बाजार अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय और स्थानीय होते है। सोना और दी ऐसी वस्तुएँ है, जिनके बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होते है। इनके विरुद्ध दूध और शाक-जी के बाजार स्थानीय होते है। बाजार का एक वर्गीकरण समय के आधार पर भी या जा सकता है। यदि समय थोडा है, मान लो, केवल एक दिन है, तो बेचनेवालो पास वस्तु की मात्रा उतने समय के लिये निश्चित या बँधी हुई हो जाती है, और भाव र सबसे अधिक प्रभाव माँग का पडेगा। परन्तु यदि समय लम्बा है, तो वस्तु पर धिक उत्पादन की लागत का प्रभाव पडेगा और उसके भाव पर सबसे अधिक प्रभाव ति का पडेगा। मार्शल ने समय को आधार मानकर बाजारो को चार वर्गों मे बाँटा है —(१) कम समय (short period), (२) मामूली लम्बा समय (moderately long period), (३) लम्बा समय, (long period) और ४) काफी लम्बा समय (secular period)। आगे चलकर हम इनका स्तृत अध्ययन करेगे।

न की दृष्टि से बाजार

विस्तृत बाजार के लिये शर्तें (Conditions for a Wide Market)—आधुनिक समय मे किसी वस्तु के लिये बाजार विस्तृत करने की प्रवृत्ति पाई जाती है। आधुनिक काल की औद्योगिक क्रान्ति केवल विस्तृत बाजारो के प्राप्त होने से सभव हो सकी है। साथ ही औद्योगिक क्रान्ति ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित कर रही है, जिनसे ाजार विस्तृत होते जाते है। उदाहरण के लिये रेल, तार और टेलिफोन ने सारे सभ्य ंसार को एक बाजार बना दिया है। फिर भी कुछ विशेष बातें है, जो यह बतलाती कि कुछ वस्तुओ का बाजार ससारव्यापी क्यो है और कुछ का बाजार केवल स्थानीय ो है। निम्नलिखित बाते किसी वस्तु के लिये बाजार विस्तृत कर देती है।

विस्तृत बाजार की शर्तें।

(१) सार्वभौम अथवा बहुत विस्तृत माँग (Universal or a Very Wide Demand)—यह साफ जाहिर है कि किसी वस्तु की माँग जितनी अधिक [illegible] के लिये बाजार भी उतना विस्तृत होगा।

(२) **सुगमता (Portability)**—वस्तुएँ टिकाऊ हो और उनके ले जाने मे आसानी हो। अर्थात् उनके थोडे वजन मे अधिक मूल्य हो। सोना और चाँदी वस्तुओ के उदाहरण है। एक तो वे टिकाऊ होते है, दूसरे उनके थोडे वजन में अधिक होता है। इसलिये उनको विस्तृत बाजार प्राप्त है। परन्तु वजन के हिसाब ईटो का मूल्य बहुत कम होता है, इसलिये वे अधिक दूरी तक नही ले जाई जा सकती जिससे उनका बाजार स्थानीय क्षेत्रो तक सीमित रहता है। ताजी शाक-भाजी टि नही होती। इसलिये उसका बाजार भी सीमित रहता है।

(३) **नमूना बनाने की सुविधा (Suitability for Sampling)**—किसी वस्तु के अच्छे और सही नमूने बनाकर दूर के व्यवसायियो के पास भेजे जा है, तो वे उसे खरीद सकते है। उन्हे यह विश्वास अवश्य होना चाहिये कि उनके ठीक माल पहुँचेगा, परन्तु यदि वस्तु के सही नमूने नही बन सकते तो खरीदार को माल के स्थान पर आना पडेगा। तब उस वस्तु का बाजार क्षेत्र की दृष्टि से सीमित जायगा। यदि उसके नमूने भेजे सकते है, तो बाजार का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जायगा

(४) **वर्गीकरण की सुविधा (Suitability for Grading)**-यदि वस्तु के भिन्न-भिन्न गुणो के अनुसार उसका वर्गीकरण किया जा सकता है, अथ यदि कोई जानकार उसकी किस्मो का विभाजन कर दे तो खरीदार बिना नमूना देखे उसे खरीद सकते है। इस प्रकार उसका बाजार बहुत विस्तृत हो सकता है। उदाह के लिये भारत मे जो कोयला खोदा जाता है, उसका वर्गीकरण भारतीय कोय वर्गीकरण समिति (Coal Grading Board) करती है। वह निर्णय क है कि कौन कोयला पहला, दूसरा, तीसरा या चौथे दर्जे का है। चीन के खरीदार बि नमूने देखे पहले दर्जे या दूसरे दर्जे के कोयले की माँग भेज सकते है।

कोई वस्तु इन शर्तों का जितना अधिक पालन कर सकती है, उसका बाजार उतना अधिक विस्तृत होगा। जिन वस्तुओ के अन्तर्राष्ट्रीय बाजार होते है, उनके सब से अच्छे उदाहरण सोना, चाँदी और ससार-प्रसिद्ध कम्पनियो के हिस्से है। सोना-चाँदी जैसी कीमती धातुओ की माँग सब जगह रहती है। वे जल्दी पहिचानी जा सकती है आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाई जा सकती है और बहुत टिकाऊ होती है। कुछ हद तक कपास, गेहूँ, लोहा, ताँबा इत्यादि का बाजार अन्तर्राष्ट्रीय होता है। उद्योग के कच्चे माल की दृष्टि से उनकी माँग प्रत्येक देश मे होती है। उनके नमूने और किस्म भी अच्छी तरह बनते है। यद्यपि वजन के हिसाब से उनका मूल्य कम होता है, फिर भी उनका यातायात आसानी से हो सकता है उनके बाजार अच्छे ढग से सगठित है।

सोना-चाँदी का बाजार।

गेहूँ कपास आदि के बाजार।

इन वस्तुओ के विपरीत शाक-भाजी, दूध इत्यादि वस्तुएँ होती है, यद्यपि इनकी माँग होती है, बहुत परन्तु ये टिकाऊ नही होती और कीमत के हिसाब से इनका वजन बहुत होता है। इसलिये ये वस्तुएँ ज्यादा दूर नही जा सकती। इनके नमूने और वर्ग बनाना भी कठिन होता है। इसलिये इनका बाजार स्थानीय और सीमित रहता है।

भारी और खराब होने-वाली वस्तुओं का बाजार।

बाजार और प्रतियोगिता की प्रवृत्ति (Markets and the Nature of competition)—आजकल बाजार मे प्रचलित प्रतियोगिता के आधार पर ही बाजार का वर्गीकरण किया जाता है। प्राचीन अर्थशास्त्री यह मानते थे कि बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता है और इसी आधार पर वह बाजार की व्याख्या करते थे। परन्तु उनमे से बहुत कम अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण प्रतियोगिता की आवश्यकताओ और उसके परिणामो का विश्लेषण किया। किसी वस्तु के बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता होने के लिये यह आवश्यक है कि खरीदारो और विक्रेताओ की सख्या अधिक हो, जिससे कोई एक खरीदार या विक्रेता अपने स्वतन्त्र निर्णय से बाजार भाव को प्रभावित न कर सके। प्रत्येक विक्रेता बाजार भाव को स्वीकार करता हो और अपने माल को भाव मे किसी प्रकार की कमी करते हुए बेचे। मान लिया कि एक वस्तु के १,००० विक्रेता है और प्रत्येक विक्रेता उस वस्तु की २० इकाइयाँ बेचता है। इससे कुल पूर्ति २०,००० इकाई हो गई। अब यदि एक विक्रेता अपने माल मे मान लिया ५ प्रतिशत की वृद्धि करता है, तो कुल पूर्ति मे केवल एक इकाई की वृद्धि होगी। पहले २०,००० इकाइयाँ बेची गई थी और अब इस वृद्धि के फलस्वरूप २०,००१ इकाई बेचनी पडेगी। इसका उस वस्तु के बाजार भाव पर प्रभाव नही पडेगा।

पूर्ण प्रतियोगिता।

दूसरी आवश्यकता बात यह है कि जिस वस्तु का बाजार में क्रय-विक्रय किया जा रहा है, वह समान होनी चाहिये। खरीदारो को यह मालूम हो कि एक विक्रेता जैसी वस्तु बेच रहा है, वह अन्य विक्रेताओ के माल से भिन्न नही है।

तीसरी आवश्यकता यह है कि खरीदारो को यह मालूम हो कि उस वस्तु का बाजार मे विक्रेता कितना दाम ले रहे है और बाजार भाव को जानकर वह सबसे कम दाम पर वस्तु खरीदे।

ऐसे बाजार मे एक निश्चित अवधि में एक वस्तु का केवल एक भाव हो सकता है। यदि ऐसा नही है, तो मान लिया कि विक्रेता एक ही वस्तु को दो भावो पर बेच रहे है। चूंकि प्रत्येक खरीदार को वस्तु का बाजार भाव मालूम है, इसलिये वह सब उसी विक्रेता से माल खरीदेंगे, जो सबसे कम दाम पर उसे बेच रहा होगा। यदि विक्रेताओ [illegible] माल की कुल पूर्ति का अधिकांश होगा तो अन्य विक्रेता [illegible] के बराबर मूल्य लेकर उस माल को बेचने के लिये विवश होना पडेगा,

भाव कम करने पडेगे। परन्तु यदि कम भाव पर बेचने वालो के पास कुल पूर्ति का केवल थोडा-सा अश है, तो विक्रेताओ के बीच प्रतियोगिता से उन्हे भी अपने भाव अन्य विक्रेताओ के बराबर ही बढ़ाने पडेंगे। इसलिये पूर्ण प्रतियोगिता में एक वस्तु का केवल एक ही भाव हो सकता है।

प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने यह मान लिया कि प्राय सभी बाजारो में पूर्ण प्रतियोगिता विद्यमान रहती है, परन्तु अब इस विचार को स्वीकार नही किया जाता है। वास्तव में ऐसे बहुत कम बाजार हैं, जिनमे पूर्ण प्रतियोगिता कही जा सकती है। सभवत गेहूँ, कपास, धातु इत्यादि में विनिमय की जानेवाली वस्तुओ के बाजार में ही पूर्ण प्रतियोगिता की कल्पना की जा सकती है। ये बाजार प्रामाणिक वस्तुओ का लेन-देन करते है और अधिकतर विक्रेता तथा खरीदार इस प्रकार के लेन-देन मे लगभग विशेषज्ञ ही होते हैं। अधिकतर बाजारो में पूर्ण प्रतियोगिता कही-कही मिल सकती है। इसलिये पूर्ण प्रतियोगिता की व्यावहारिक उपयोगिता विशेष महत्त्वपूर्ण नही है। परन्तु आर्थिक सिद्धान्त की दृष्टि से पूर्ण प्रतियोगिता के सिद्धान्त का फिर भी महत्त्व है। जब बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता होती है, तो इससे उत्पादन के सगठन की कार्य-कुशलता बहुत बढ़ जाती है और उपभोग के सामान तथा उत्पादन के साधनो की सर्वोत्तम उपयोगिता का लाभ उठाया जा सकता है। इसलिये हमारा विचार है कि इस सम्बन्ध में पहले उन विभिन्न कारणो की जाँच करे, जो पूर्ण प्रतियोगिता मे मूल्य निर्धारित करते हैं। परन्तु यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिये कि वास्तविक बाजारो मे प्रतियोगिता प्राय कभी-कभी ही पूर्ण होती है।

कुछ लेखक पूर्ण प्रतियोगिता और शुद्ध प्रतियोगिता में भी भेद करते हैं। इन लेखको का मत है कि शुद्ध प्रतियोगिता वह है, जिसमे एकाधिकार की प्रवृत्तियो का प्राय पूर्ण अभाव होता है और बाजार मे शुद्ध प्रतियोगिता उस समय लागू होती है, जब कि खरीदारो और विक्रेताओ की सख्या बहुत अधिक हो, जिससे कोई भी अपनी कार्रवाई से बाजार भाव को प्रभावित न कर सके और सभी विक्रेता एक ही तरह की वस्तु बेचें। पूर्ण प्रतियोगिता के लिये उक्त दोनो बातो (विक्रेताओ और खरीदारो की अधिक सख्या तथा समान वस्तु) के साथ ही उक्त वस्तु के उत्पादन पर किसी प्रकार की रोक न लगी हो और सभी उत्पादक समान शर्तो पर उत्पादन के साधनो को खरीद सकते हो।

बाजार और पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव (Markets and the Absence of Perfect Competition)—आमतौर पर जिन बाजारो से उपभोक्ता अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदते हैं, उनमे पूर्ण प्रतियोगिता का अभाव रहता है। औसत उपभोक्ता को उस सेवा तथा माल के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान नही होता है, जिसको वह खरीदता है। उसे उस सेवा अथवा वस्तु का विशेषज्ञ नही कहा जा सकता है। इन बाजारो की पहिचान के लिये इन्हे अपूर्ण प्रतियोगिता के बाजार है।

यदि किसी बाजार में खरीदारों को यह मालूम नहीं है कि एक वस्तु को विभिन्न
ता किस भाव पर बेच रहे हैं, और यदि वह अज्ञान अथवा शिथिलता के कारण या
यातायात व्यय के कारण सस्ते बाजार से खरीदारी करने
का प्रयत्न नहीं करते है, तो ऐसे बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता

ूर्ण प्रतियोगिता।

। यदि खरीदारों का यह विचार हो कि विभिन्न विक्रेताओ द्वारा बेची जानेवाली
ओं में (वास्तविक अथवा काल्पनिक) अन्तर है, तो भी बाजार मे अपूर्ण प्रति-
ता रहेगी। यदि बाजार में उस वस्तु के विक्रेताओ की सख्या कम हो और प्रत्येक
न कुल पूर्ति का काफी अश हो, तब भी बाजार में अपूर्ण प्रतियोगिता रहेगी।
बाजार में विक्रेता एक ही वस्तु के लिये विभिन्न खरीदारो से अलग-अलग दाम
कर सकते है।

अध्याय १५

माँग और पूर्ति
(Demand and Supply)

प्राय सभी आर्थिक समस्याओ पर विचार करने के लिये माग और पूर्ति का सिद्धान्त
[illegible] आवश्यक हो गया है कि इसका प्रयोग व्यग्य के रूप में किया जाने लगा है। यह
[illegible] जाता है कि "प्रत्येक सवाल के उत्तर मे 'तोते को पूर्ति और माग, कहना सिखला
[illegible] और वह अच्छा अर्थशास्त्री बन जायगा।" इसमे सन्देह नही कि एक अच्छे अर्थशास्त्री
[illegible] दो शब्दो का प्रयोग करते समय बहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है। उसे यह
[illegible] रूप से मालूम होना चाहिये कि 'मांग और पूर्ति' से उसका क्या तात्पर्य है, साथ
[illegible] आर्थिक समस्याओ पर विचार करते समय 'माग और पूर्ति' के सिद्धान्त को लागू
[illegible] मे भी काफी सतर्कता की आवश्यकता है।

माग (Demand)—अर्थशास्त्रियो की भाषा मे 'माग' का अर्थ किसी
[illegible] करने की इच्छा नही है। किसी वस्तु की मांग होने के लिये यह आवश्यक है।
[illegible] उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा रखते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र मे किसी वस्तु
[illegible] प्राप्त करने की इच्छा को ही मांग नही कहा जाता है। अँगरेजी मे एक कहावत
[illegible] यदि केवल इच्छा करने से ही घोडे मिल जाते तो भिखारी भी सवारी करते।
[illegible] की दूकान मे तरह-तरह की मिठाइयाँ देखकर हम सब का जी ललचाता
[illegible] परन्तु अनेक बार मिठाई खरीदने के लिये हमारे पास पैसा नही था या हमें
[illegible] की अनुमति नही दी गई, इसलिये हमारी वह इच्छा अर्थशास्त्र की दृष्टि
[illegible] माग तब हुई जब हमारा रोना-मचलना देखकर हमारे माता-

पिता ने हमें एक रुपया दिया, उसे लेकर हम हलवाई की दूकान पर दौड़े और खरीदी। इच्छा के साथ-साथ जब खरीदने की शक्ति उपयुक्त मात्रा में हो, वास्तविक माँग होती है।

अर्थशास्त्र में माँग का सम्बन्ध सदैव किसी वस्तु के दाम से होता है। जब त वस्तु की कीमत न मालूम हो, तब तक हम यह नही कह सकते है कि हम उस कितनी मात्रा खरीदेगे। निश्चित कीमत पर माग का अर्थ यह हुआ कि उस की लोग उस वस्तु की कितनी मात्रा खरीदने को तैयार है। किसी वस्तु की माँग वह कीमत है, जिस पर वस्तु की प्रत्येक इकाई खरीदी जा सकती है। इस की बाजार की वस्तु की प्रत्येक इकाई का खरीदने के लिये खरीदार मिल सकते है।

विभिन्न कीमतो पर वस्तु की कितनी माँग होगी, यह सम्बन्ध साधारणत सूची (Demand Schedule) के द्वारा दर्शाया जाता है। एक वस्तु किसी व्यक्ति की माँग-सूची वह सूची है, जिसमे यह मालूम होता है कि विभिन्न की वह वस्तु की कितनी मात्रा खरीदेगा। यह सर्वविदित तथ्य है कि जैसे-जैसे वस्तु की में परिवर्तन होता है, वस्तु की माँग मे भी उसकी प्रतिकूल दिशा मे परिवर्तन हो है। जैसे ही किसी वस्तु की कीमत बढती है, उस वस्तु की माँग घट जाती है और घटने पर माँग बढ जाती है। यह सम्बन्ध निम्नलिखित सूची मे दर्शाया गया

एक व्यक्ति की चाय की माँग-सूची

यदि	कीमत	८	रुपया	प्रति	पौंड	हो	तो	वह	२	पौंड
"	"	६	"	"	"	"	"	"	३	"
"	"	४	"	"	"	"	"	"	५	"
"	"	३	"	"	"	"	"	"	७	"
"	"	२	"	"	"	"		"	१०	"

यदि हमें किसी व्यक्ति की माँग-सूची मालूम हो तो हम बाजार की माँग- भी पता लगा सकते है। इस सूची मे यह दिखाया जा सकता है कि सभी व्यक्ति विभिन्न कीमतो पर चाय की कुल कितनी मात्रा खरीदेगे।

कीमत	सभी खरीदारो द्वारा खरीदी चाय की मात्रा
८ रुपया	१,००० पौंड
६ रुपया	१,५०० पौंड
४ रुपया	२,५०० पौंड
३ रुपया	३,५०० पौंड

क्या किसी एक व्यक्ति की माँग-सूची को बाजार मे खरीदारो की कुल संख्या से ा कर हम बाजार की माँग-सूची निर्धारित कर सकते है ? ऐसा करने में सबसे पहले रे सामने यह कठिनाई उपस्थित होगी कि इस कार्य के लिये किसे उपयुक्त व्यक्ति ाना जाय ? विभिन्न व्यक्तियो की माँग-सूची समान नही होती। कुछ लोग धनवान ते है और विभिन्न कीमतो पर चाय की बहुत बडी मात्रा खरीद सकते है, परन्तु धिकतर लोग गरीब है और सभवत ८ रुपया प्रति पौंड चाय बिकने पर वह दो पौंड य भी नही खरीद सकते है। स्वय धनवानो मे और गरीबो मे सबकी रुचि अथवा सन्द समान नही होती। साथ ही सबका स्वभाव भी समान नही होता। यह सम्भव कि उनमे से कुछ एक निश्चित कीमत पर अधिक मात्रा मे माल खरीदने को तैयार हो, कि अधिकतर लोग इतनी मात्रा मे खरीदने को तैयार न हो। इसीलिये यह देखा ता है कि विभिन्न व्यक्तियो की माँग-सूचियो मे इतनी भिन्नता होती है कि हम किसी ी माग-सूची को सभी व्यक्तियो की माँग-सूची के प्रतिनिधि के रूप मे स्वीकार नही कर सकते है और उस माँग-सूची को खरीदारो की सख्या से गुणा नही कर सकते है। परन्तु बाजार मे विभिन्न व्यक्तियो की माँग-सूचियो मे जो विभिन्नता होगी, वह एक दूसरे ा खण्डन कर सकती है। इस कारण बाजार की माँग-सूची बनाना सभव हो जाता । "व्यक्ति की इच्छा तो अस्थिर रहती है, परन्तु सब खरीदारो की इच्छाओं का मूह जिनके आधार पर वह खरीद करते है, अपेक्षाकृत स्थिर होता है। जैसे कि ौतिकशास्त्र मे वायमण्डल का प्रत्येक परमाणु जो हमारे शरीर से घर्षण करता है, रिवर्तनशील और अस्थिर होता है, परन्तु उन परमाणुओ के कारण वायमण्डल में वा का दबाव प्रति वर्ग इच मे पन्द्रह पौंड के हिसाब से स्थिर होता है।"[1]

आगे (चित्र न० ७) माँग-सूची का ग्राफ दिया गया है। माँग-सूची वक्र-रेखा ारा दर्शायी गई है। किसी वस्तु की विभिन्न मात्राओ के लिये खरीदार जो कीमतें गे, वह उस रेखा पर है और विभिन्न दामो पर वस्तुओ की जो मात्राएँ खरीदार लेंगे । उस रेखा पर है।

---

[1] "While the individual desire is fitful, the resultant of the desires of all the purchasers is relatively steady, just as in physics, the forces of the individual molecules are variable and fitful, but the aggregate resultant atmospheric pressure is a steady fifteen pounds per square inch"

—Fisher, I. Elementary Principles of Economics, p 30.
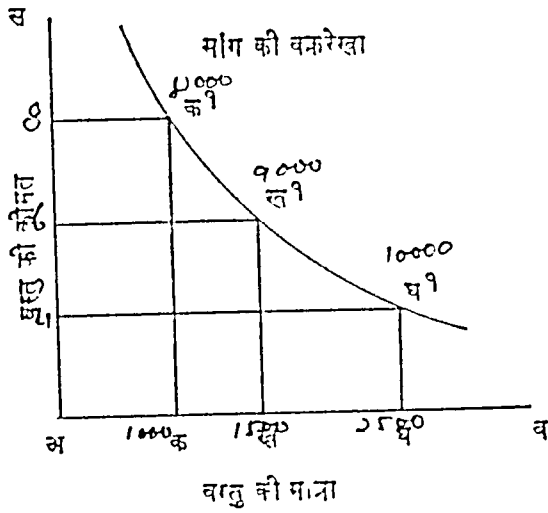
चित्र नं० ७

उक्त वक्र-रेखा से प्रकट है कि जब चाय की कीमत कक¹ है, तब खरीदा केवल अक मात्रा लेते है। जब कीमत कक¹ से घटकर खख¹ हो जाती है, त ग्राहक अख मात्राएँ लेते है। और जब कीमत गिरकर घघ¹ हो जाती है, तब मां बढकर अघ हो जाती है।

मॉग का नियम (Law of Demand)–माग की सूची पर विचार करते यह स्पष्ट हो गया कि यदि अन्य सभी बातो मे किसी प्रकार का परिवर्तन न हो तो कीम में कमी होने के साथ ही लोग वस्तु की अधिक मात्रा खरीदते है। कीमत घटते ही म बढ जाती है। इसके साथ ही यदि कीमतो मे वृद्धि होती है। तो मांग गिर जाती है। मांग वास्तव में वस्तु की कीमत के प्रतिकूल आचरण करती है। यही माग का नियम है। दूसरे शब्दो में इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि कीमत कम होने पर ही वस्तु की अधिकाश मात्रा वेची जा सकती है।

इस नियम के अनुसार वस्तु की कीमत मे जैसे ही कमी होती है, उसकी मांग बढ जाती है। ऐसा क्यो होता है? इसके दो कारण है। पहला, जैसे ही वस्तु की कीमत घटती है, लोग उन अन्य वस्तुओ के बदले इसे ही खरीदना अधिक पसन्द करेंगे, जिनकी कीमतो मे किसी प्रकार की घट-बढ नही हुई है। इससे उस वस्तु की मांग पूर्व की अपेक्षा बढ जाती है। जब चाय की कीमत घटती है और कॉफी या कोको की कीमत पूर्ववत् रहती है, तो कुछ लोग कॉफी और कोको कम मात्रा मे खरीद कर चाय की अधिक मात्रा खरीदेंगे। वह चाय की अपेक्षा महँगी कॉफी या कोको की पूर्ति सस्ती चाय से करना चाहेगे। इसे हिक्स ने 'प्रतिस्थापन का प्रभाव' (the substitution effect) कहा है। दूसरा कारण यह है कि जब चाय की कीमत ६ रुपये

ति पौण्ड से चार रुपया प्रति पौण्ड तक गिर जाती है, तो उपभोक्ता को तीन पौण्ड चाय लिये १८ रुपये की अपेक्षा अब केवल १२ रुपया व्यय करना पडता है। उपभोक्ता स कमी से यह अनुभव करेगा कि उसकी आय मे ६ रुपये की वृद्धि हो गई है, इसलिये ह यह भी निश्चय कर सकता है कि चाय की मात्रा अब पहले की अपेक्षा अधिक खरीदी ाय। इससे चाय की माँग बढेगी। हिक्स के शब्दो मे यह 'आय का प्रभाव' है।

माँग के नियम की परिभाषा देते समय हमने 'अन्य चीजो के यथास्थिति रहने' ी बात कही। यह बात वास्तव मे नियम की बहुत बडी शर्त है, अन्य चीजो में तिस्थापित की जानेवाली वस्तु की कीमत, खरीदार की आय और खरीदार की पसन्द त्यादि बातो को शामिल किया जा सकता है। दूसरे शब्दो में यह कहा जा सकता है क चाय की कीमत में कमी होने पर चाय की माँग मे वृद्धि हो जाती है, परन्तु यह तभी ोगा जब इसके साथ ही प्रतिस्थापित की जा सकने योग्य वस्तुओ (जैसे कॉफी या ोको), उपभोक्ता की पसन्द या उपभोक्ता की क्रय-शक्ति इत्यादि मे किसी प्रकार का रिवर्तन न आये। यदि चाय की कीमत घटने के साथ ही कॉफी या कोको की कीमतो में और भी अधिक कमी हो जाय तो चाय की माँग मे बिलकुल भी वृद्धि नही हो सकती ै, या यदि उपभोक्ता चाय को पहले की अपेक्षा कम पसन्द करने लगे या यदि उपभोक्ता की आय कम हो जाय तो चाय की कीमत कम हो जाने पर भी वह इसकी अधिक मात्रा नही खरीद सकते। यदि उपभोक्ता उस वस्तु को घटिया किस्म का समझे तो आय बढने पर वह उस वस्तु के बदले प्रयुक्त हो सकने वाली अधिक महँगी वस्तु को खरीद सकता है, चाहे पूर्व वस्तु की कीमतो मे गिरावट ही क्यो न आई हो। ऐसी स्थिति मे घटिया किस्म की वस्तु की कीमत में कमी आने पर भी उनकी माँग में वृद्धि नहीं हो सकती है।[1]

उदाहरण के लिए वनस्पति घी घटिया किस्म का घी समझा जाता है। यदि किसी उपभोक्ता की आय इतनी है कि वह वाछित मात्रा मे घी नही खरीद सकता है तो आय बढने पर वह यह निश्चय कर सकता है कि वनस्पति घी कम खरीदा जाय और शुद्ध अधिक मात्रा मे खरीदा जाय। ऐसी स्थिति मे वनस्पति घी की माँग गिर सकती है चाहे उसकी कीमत मे भी कितनी ही गिरावट हो।

यद्यपि सामान्य नियम यह है कि अधिक कीमत पर वस्तु की माँग कम हो जाती है, परन्तु अनेक बार इसके विपरीत भी हो जाता है। उदाहरण के लिये कुछ वस्तुओं की कीमत जितनी अधिक होती है, जैसे हीरा इत्यादि उनका आकर्षण उतना ही अधिक बढता जाता है। हीरे की बहुत अधिक कीमत होने के कारण अनेक लोग उसका प्रयोग अपने सम्मान या बड़प्पन का चिन्ह समझते है। इसलिये ज्यो कीमत बढती है,

तो हीरो की माँग घटने के बजाय बढ सकती है। दूसरे, यदि किसी वस्तु की कीमत बढने पर लोग यह समझे कि भविष्य में कीमत और बढेगी तो वह अधिक कीमत होते हुए भी शीघ्र ही वस्तु की अधिक मात्रा खरीद सकते है। निर्धन समुदाय मे लोगो की आय इतनी कम होती है कि लोगो को अपनी आय का अधिकाश गेहूँ या चावल में खर्च करना पडता है और अन्य प्रकार के खाद्य-पदार्थो के लिये बहुत कम पैसा बचता है। यदि गेहूँ या चावल की कीमत बढती है तो लोगो को अन्य प्रकार के खाद्य-पदार्थों की खरीद बन्द कर देने के लिये विवश होना पडेगा और वह अपनी भूख मिटाने के लिये पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे गेहूँ या चावल खरीद सकते है। इस प्रकार कीमतें बढने पर गेहूँ अथवा चावल की माँग मे वास्तव मे वृद्धि होती है।

पूर्ति (Supply)—किसी वस्तु की पूर्ति का अर्थ वस्तु की उस कुल मात्रा से है, जिसे विक्रेता एक निश्चित समय में उपलब्ध स्टॉक मे से विभिन्न दामो पर वेचने को तैयार रहता है। इस परिभाषा मे बाजार मे उपलब्ध वस्तु की कुल मात्रा की चर्चा की गई है, जब कि पूर्ति का तात्पर्य केवल उस मात्रा मे है, जिसे विक्रेता एक विशेष कीमत पर वेचने के लिये तैयार हो। इसलिये पूर्ति का अर्थ है, एक निश्चित कीमत पर माल की पूर्ति जैसे माँग का अर्थ है, एक निश्चित कीमत पर वस्तु की माँग।

पूर्ति और माल (स्टाक)

पूर्ति का नियम (Law of Supply)—विक्रेता कितना माल वेचेंगे यह निश्चित नही होता है। विक्री की मात्रा खरीदारो द्वारा दी जाने वाली कीमतो के अनुरूप बदलती रहती है। जब बाजार मे कीमतें बढ़ती है, तो विक्रेता अधिक से अधिक मात्रा मे माल वेचने के लिये तैयार रहेगे। दूसरे शब्दो मे जब कीमत बढेगी बाजार में माल की पूर्ति भी बढेगी। जब बाजार मे कीमत कम है, तो इसके विपरीत क्रिया होती है। यह प्रवृत्ति पूर्ति का नियम कही जाती है। इस नियम के अनुसार जैसे-जैसे किसी वस्तु की कीमतो मे वृद्धि होती है या कमी होती है, ठीक वैसे ही वैसे वस्तु की पूर्ति में भी वृद्धि और कमी होती है।

नियम की इस प्रवृत्ति को चित्र न० ८ के ग्राफ में दिखाया गया है। अव रेखा पर वस्तु की वे मात्राएँ है, जो विभिन्न दामो पर विक्री के लिये है। अस रेखा विभिन्न दाम वतलाती है। जब कीमत कक¹ है, तव व्यापारी अक मात्रा वेचने के लिये तैयार है। जब कीमत वढकर खख¹ हो जाती है, तव व्यापारी अख मात्रा वेचने के लिये तैयार हो जाते है। यह प्रवृत्ति इसी प्रकार वढती जाती है और पूर्ति रेखा क¹ग¹ ऊपर की ओर वढती है।

निस्सन्देह इस नियम में भी अपवाद है। यह सभव है कि पूर्ति लगभग बँधी हुई हो, जैसे कि रेफायल (Raphael) नामक चित्रकार के बनाये हुए चित्र। यह पूर्ति कीमतो में परिवर्तन के साथ नही वदलती है। ऐसी वस्तुओ मे कभी-कभी ऐसा हो सकता है (लेकिन ऐसा वहुत कम होता है) कि जैसे कीमत वढे वैसे वेचने वाला पहले की अपेक्षा

वस्तु की कम मात्रा बेचे। कहा जाता है कि भारतीय उद्योगपतियो का मजदूरो के सम्बन्ध मे यही अनुभव है। मजदूरो के रहन-सहन का दर्जा बहुत नीचा होता है और उनकी
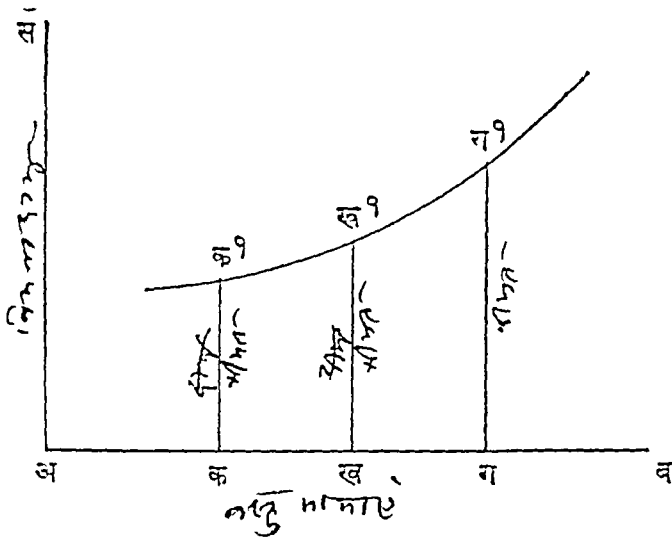
चित्र न० ८

आवश्यकताएँ भी कम होती है। जब उद्योगपतियो ने उनकी मजदूरी की दर बढा दी तब दिन मे कम घण्टे और महीने मे कम दिन काम करके वह अपनी आवश्यकताएँ पूरी कर सकते थे। इसलिये मजदूरी बढ जाने पर काम से गैरहाजिरी भी बढ गई। अर्थात् जैसे मजदूरो के काम की कीमत बढी, वैसे मजदूरो ने अपना काम कम मात्रा मे बेचना शुरू कर दिया। इसीलिये एक स्थिति के बाद पूर्ति-रेखा नीचे की ओर झुकने लगती है। परन्तु इस प्रकार के उदाहरण इतने कम है कि पूर्ति का नियम प्राय. सब जगह लागू होता है।

मॉग और पूर्ति मे सन्तुलन (Equilibrium of demand and supply)—मांग और पूर्ति की विशेषताओ की चर्चा करने के बाद अब हम मांग और पूर्ति की वक्र रेखाओ को सयुक्तरूप मे पेश कर सकते है। इसके लिये हमें माग और पूर्ति की दो सूचियां लेनी पडेगी।

चाय के खरीदारो की खरीद	कीमत	चाय के विक्रेताओ द्वारा बिक्री
१,००० पाण्ड	८ रुपया	४,००० पौण्ड
१,५०० पाण्ड	६ रुपया	३,५०० पौण्ड
२,५०० पौण्ड	४ रुपया	[illegible]
३,५०० पौण्ड	३ रुपया	[illegible]

इस संयुक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि जब चाय की कीमत ४ रुपया प्रति पौण्ड है, चाय की माँग की कुल मात्रा और पूर्ति की कुल मात्रा बराबर है। यही सन्तुलित कीमत (Equilibirium price) है। यदि बाजार में यही भाव विद्यमान रहता है, तो वे सभी खरीदार जो इस कीमत पर खरीदना चाहेंगे, अपनी माँगों की पूर्ति कर सकने मे समर्थ होंगे और विक्रेता भी इस मूल्य पर जितना माल बेचना चाहें बेच सकेंगे। यदि चाय की कीमत ४ रुपये से अधिक हो, मानो ६ रुपया प्रति पौण्ड है तो विक्रेता ३,५०० पौण्ड चाय बेचना चाहेंगे, जब कि खरीदार केवल १,५०० पौण्ड चाय खरीदेंगे। १,५०० पौण्ड चाय बेच चुकने के बाद भी ऐसे विक्रेता रहेंगे, जो शेष १,००० पौण्ड चाय को ४ रुपया प्रति पौण्ड पर बेचने को तैयार हो जायेंगे। इससे बाजार मे चाय की कीमत घट जायगी। यदि किसी तरह चाय की कीमत ३ रुपया प्रति पौण्ड तक पहुँच गई तो खरीदार ३,५०० पौण्ड चाय खरीदना चाहेंगे जब कि विक्रेता इस भाव पर केवल १,२०० पौण्ड चाय बेचने को तैयार होंगे। इससे खरीदार में से बहुतो की माँग पूरी न होने के कारण वह १,३०० पौण्ड अतिरिक्त चाय के लिए ४ रुपया प्रति पौण्ड देने को तैयार हो जायेंगे, जिसके फलस्वरूप बाजार में चाय की कीमत बढ जायगी।

चित्र न० ९ में दद[1] रेखा वस्तु (चाय) की माँग दर्शाती है और घघ[1] रेखा वस्तु की पूर्ति दर्शाती है। यह माँग और पूर्ति की दोनो वक्र रेखाएँ एक दूसरे को प बिन्दु पर काटती है। इसलिये पप[1] उस सन्तुलित कीमत की माप है, जिस पर
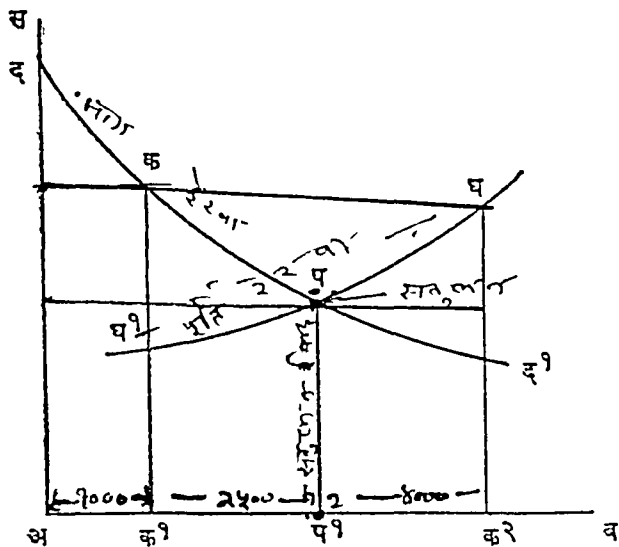
चित्र न० ९

खरीदार अप[1] मात्रा चाय की खरीदने को तैयार होंगे और विक्रेता भी इस कीमत पर अप[1] मात्रा बेचने के लिये तैयार होंगे। यदि वास्तविक कीमत कक[1] के बराबर हो

तो मांग की वक्र रेखा से यह प्रकट होता है कि इस कीमत पर खरीदार चाय की केवल अक[1] मात्रा खरीदेंगे जब कि विक्रेता अक[2] मात्रा बेचने के लिये तैयार है। विक्रेता अपने माल की निकासी चाहेगा और फलस्वरूप कीमतो मे कमी आयेगी। कीमतें घटकर पुन पप[1] तक आ जायँगी और यही कीमत चाय की वास्तविक सन्तुलित कीमत होगी।

माँग और पूर्ति मे परिवर्तन—आगे हम माँग और पूर्ति मे होनेवाले परिवर्तनों के प्रभाव पर विचार करेगे।

एक निश्चित अवधि मे किसी वस्तु की माँग या पूर्ति मे घट-बढ हो सकती है। 'माँग मे वृद्धि या कमी' पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि पूर्ति की स्थिति में कुछ परिवर्तन आ जाने से किसी वस्तु की कीमत मे वृद्धि होती है या कमी आ जाती है तो फलस्वरूप उसकी माँग मे भी कमी या वृद्धि हो जायगी। जब हम माँग मे परिवर्तन होने की बात कहते है, तब हमारा तात्पर्य कीमतो में परिवर्तन हो जाने से माँग मे होनेवाली वृद्धि या कमी से नही होता है। इस स्थिति मे माँग की सूची मे परिवर्तन नही होता है, बल्कि कीमतो मे परिवर्तन होने के फलस्वरूप वस्तु की मात्रा मे भी परिवर्तन आ जाता है।

माँग, कीमत के अलावा अन्य कारणो से भी बदल सकती है। पहला, यदि जनसख्या मे वृद्धि होने के फलस्वरूप उपभोक्ताओ की सख्या बढती है, तो कीमतो मे किसी प्रकार के परिवर्तन के प्रभाव के बिना भी वस्तु की माँग बढ सकती है। यह वृद्धि कीमत के प्रभाव से बिलकुल स्वतत्र हो सकती है। एक ऐसे देश मे जिसकी जनसख्या मे वृद्धि हो रही हो, खरीदारो की सख्या बढ जाने से वस्तु की माग मे भी वृद्धि हो सकती है। दूसरे, यदि इस बीच उपभोक्ताओ की पसन्द मे परिवर्तन आ जाय तब भी वस्तु की माँग मे परिवर्तन आ सकता है। सिगरेट की माग बढ गई है और बीडी की माग कम हो गई है, क्योकि उपभोक्ता की पसन्द बदल गई है और वह बीडी की अपेक्षा सिगरेट का उपभोग अधिक पसन्द करने लगा है। तीसरे, उपभोक्ता की आय मे परिवर्तन होने से भी वस्तु की माग मे परिवर्तन हो सकता है। अधिक आय होने पर कुछ विशेष वस्तुओ की माग बढ सकती है और कुछ घटिया किस्म की वस्तुओ की माग घट सकती है। अत मे, किसी वस्तु की माग मे किसी अन्य वस्तु की कीमत घट

मूल माँग-रेखा दद है। जब माँग बढ़ती है, तब माँग की वक्र-रेखा ऊपर को खिसक जाती है और द¹द¹ की नवीन स्थिति में आ जाती है, परन्तु यदि माँग गिरती है, तो माँग-रेखा भी नीचे की ओर खिसक कर द²द² की नयी स्थिति में आ जायगी। जब माँग में परिवर्तन आता है, तब सभी विभिन्न कीमतों पर खरीदार वस्तु की अधिक या कम मात्रा खरीदेंगे।
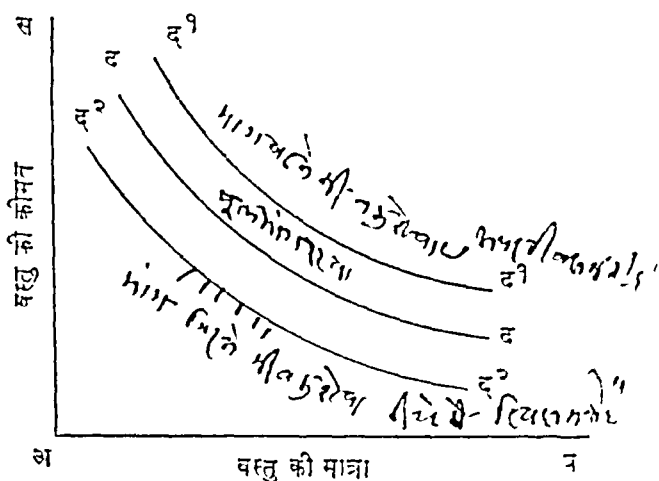
चित्र न० १०

पूर्ति में परिवर्तन—माँग के समान ही यदि पूर्ति में भी परिवर्तन हो तो पूर्ति की वक्र-रेखा घघ भी अपनी मूल स्थिति से ऊपर या नीचे खिसक जाती है
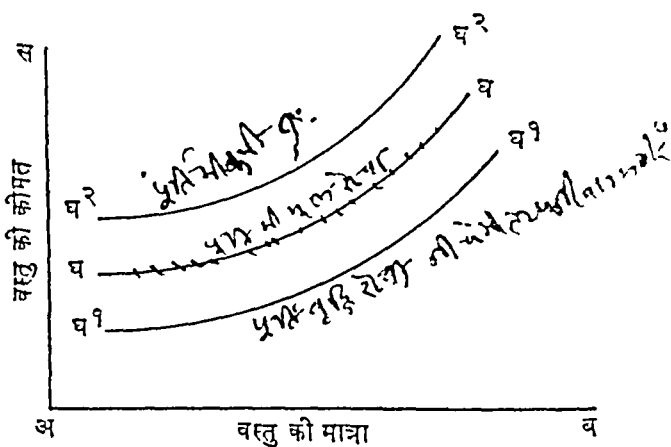
चित्र न० ११

चित्र नं० ११ में पूर्ति की मूल वक्र-रेखा घघ है। पूर्ति में वृद्धि हो जाने पर यह घघ¹ की स्थिति में आ जाती है। इसका तात्पर्य है कि सभी कीमतों पर वस्तु की मात्रा

विक्रय के लिये बढती जा रही है या कम कीमत पर बिक्री के लिये वस्तु की मात्रा वही रहती है, उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है। पूर्ति मे कमी हो जाने पर वक्र-रेखा की नयी स्थिति घ²घ² हो जायगी।
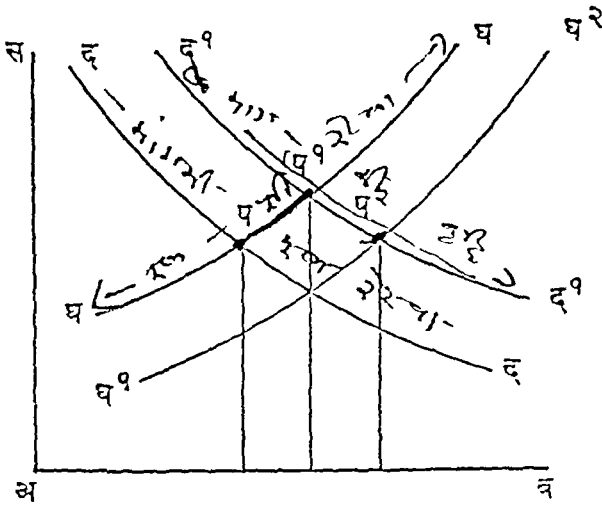
चित्र नं० १२

मांग और पूर्ति मे सन्तुलन (Equilibrium with Demand and Supply)—मान लो कि किसी वस्तु की मांग मे वृद्धि होती है और माग की वक्र रेखा अपनी नयी स्थिति द¹द¹ तक पहुंच जाती है। चूंकि पूर्ति मे तत्काल परिवर्तन नही होगा, इसलिये नयी मांग-रेखा मूल पूर्ति रेखा घघ को प की बजाय प¹ पर काटेगी कीमत मे वृद्धि होगी। यदि पूर्ति मे भी वृद्धि हो तो नयी पूर्ति रेखा घ¹घ¹ होगी, जो नयी मांग रेखा को प² पर काटेगी। यह कीमत मूल कीमत प से कम या अधिक हो सकती है। यह घट-बढ माग और पूर्ति के परिवर्तनो पर निर्भर करेगी यदि पूर्ति रेखा मे मांग-रेखा की अपेक्षा अधिक परिवर्तन हुआ है तो ऐसी स्थिति वस्तु की नयी कीमत मूल कीमत से कम हो सकती है। यदि माग-रेखा मे परिवर्तन अधिक है, तो वस्तु की नयी कीमत भी अधिक होगी।

अध्याय १६

माँग की वक्र-रेखा की विशेषताएँ

(Characteristics of the Demand-Curve)

माँग की लोच (Elasticity of Demand)—जब किसी वस्तु की कीमत मे घट-बढ होती है, तब उसकी माँग मे भी परिवर्तन होता है। यह सम्भव है कि किसी वस्तु की माँग मे परिवर्तन की गति तेज हो और किसी में धीमी। कीमत मे घट-बढ होने के साथ ही जिस गति से किसी वस्तु की माँग मे परिवर्तन होता है, उसे 'माँग की लोच' कहते हैं।[1] वास्तव मे माँग की लोच, कीमत में परिवर्तन होने से उस वस्तु की माँग पर जो तत्काल प्रभाव पडता है, उसकी माप है। माँग की लोच इस अनुपात के बराबर है—

$$इ = \frac{\text{माँग में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

यदि वस्तु की कीमत और उसकी माँग मे १ प्रतिशत वृद्धि होती है, तो अनुपात एक के बराबर होगा। यह स्थिति माँग की सम-लोच (Unit Elasticity) कही जायगी, अर्थात् माँग की लोच एक के बराबर है। परन्तु यदि कीमत मे १ प्रतिशत परिवर्तन होने से माँग में २ प्रतिशत परिवर्तन आ जाय तो यह अनुपात २ के बराबर होगा। इस स्थिति में माँग की लोच सम से अधिक कही जायगी। परन्तु यदि कीमत मे १ प्रतिशत परिवर्तन होने के साथ ही माँग में ½ प्रतिशत परिवर्तन होता है तो ऐसी स्थिति में माँग की लोच सम से कम कही जायगी। जब माँग की लोच सम से अधिक है, तब यह कहा जायगा कि माँग लोचदार है, परन्तु जब सम से कम है, तब यह कहा जायगा कि माँग बेलोच है।

---

[1] कीमत मे बहुत कम परिवर्तन होना चाहिये, अन्यथा कुछ कठिनाइयाँ पैदा हो जायँगी। मान लो कि चाय की कीमत ६ रुपया प्रति पौण्ड से गिरकर ५ रुपया प्रति पौण्ड हो जाती है। यदि ऊँची कीमत के आधार पर कीमत मे परिवर्तन का पता लगाया जाय तो मालूम होगा कि उसमें १६.६ प्रतिशत गिरावट आई है। कम कीमत के आधार पर कीमत में २० प्रतिशत गिरावट आई है। इनमें से किसे हम लोच नापने के लिये प्रयुक्त करेंगे? परन्तु जब कीमत मे परिवर्तन बहुत कम होता है, तब यह कठिनाई उपस्थित नही होती है। इसके लिये सर्वोत्तम उपाय यही है कि कुल आय में ... आधार पर लोच नापी जाय।

किसी वस्तु की माँग की लोच को किस प्रकार नापा जा सकता है? मार्शल ने क तरीका सुझाया है जिसके द्वारा हम माँग की लोच नाप सकते है। जब किसी वस्तु ी कीमत में बहुत कम घट-बढ होती है तो उपभोक्ता उस वस्तु की कम या अधिक या हिले के बराबर मात्रा खरीद सकते है। इन खरीदो के फलस्वरूप इन वस्तुओ पर उनका ल व्यय कम या अधिक हो सकता है या पहिले के बराबर ही रह सकता है। वस्तु की रीद मे जितना व्यय होगा वह कीमत वस्तु की बिकी हुई मात्रा के बराबर होगा। ल व्यय की मात्रा को कुल आय (total revenue) भी कह सकते है।

लोचदार माँग के सम्बन्ध मे हम देख चुके है कि कीमत मे यदि १ प्रतिशत रिवर्तन हो जाय तो माँग मे १ प्रतिशत से अधिक परिवर्तन हो जाता है। वस्तु की ल माना वेचने से जो आय होती है, वह कीमत और वस्तु की मात्रा के गुणनफल के रावर होती है। वस्तु की बिक्री से जो कुल रकम प्राप्त होती है, उसे कुल आय कहते । यदि कीमत मे १ प्रतिशत कमी होने के साथ ही वस्तु की माँग मे १ प्रतिशत । अधिक वृद्धि होती है, तो कुल आय मे भी वृद्धि होगी। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा कता है कि जब माँग की लोच सम से अधिक होती है तो कीमत गिरने के साथ ही ुल आय मे वृद्धि होगी और कीमत मे वृद्धि होने के साथ ही कुल आय मे कमी आयगी। व माँग की लोच सम से कम है, तो कीमत बढने के साथ ही कुल आय मे वृद्धि होगी ौर कीमत घटने के साथ ही उसमे भी कमी आ जायगी। जब माँग की लोच एक के राबर हो तो कीमत में चाहे कितना ही परिवर्तन हो कुल आय सदैव समान रहेगी। न तीनो स्थितियो को नीचे उदाहरण देकर समझाया गया है—

तालिका १

प्रति पौण्ड चाय की कीमत और वेची गई मात्रा में सम्बन्ध

कीमत	वेची गई मात्रा	कुल आय
६ रुपया प्रति पौण्ड	१,००० पौण्ड	६ ००० रुपया
५ रुपया प्रति पौण्ड	१,२०० पौण्ड	६ ००० रुपया
४ रुपया प्रति पौण्ड	१,५०० पौण्ड	६ ००० रुपया

इस स्थिति मे कीमत में चाहे जितना ही प्रतिशत परिवर्तन हो वस्तु की वेची गई [illegible] मे भी विपरीत दिशा की ओर ठीक उसी प्रतिशत से परिवर्तन होता है और कुल [illegible] बराबर रहती है। इन उदाहरण में माँग की लोच एक के बराबर है, [illegible] माँग की लोच सम है।

अन्य बाजार में यह सम्बन्ध बिलकुल भिन्न हो सकता है, जिसे तालिका २ में दिखाया गया है—

तालिका २

कीमत	बेची गई मात्रा	कुल आय
६ रुपया प्रति पौण्ड	१,००० पौण्ड	६,००० रुपया
५ रुपया प्रति पौण्ड	१,३०० पौण्ड	६,५०० रुपया
४ रुपया प्रति पौण्ड	१,७०० पौण्ड	६,८०० रुपया

इस उदाहरण में वस्तु की बेची गई मात्रा मे कीमत की अपेक्षा अधिक प्रतिशत परिवर्तन होता है, जिसके फलस्वरूप कीमत गिरने पर कुल आय में वृद्धि होती है।

तीसरी स्थिति तालिका ३ मे दिखायी गयी है

तालिका ३

कीमत	वस्तु की बेची गई मात्रा	कुल आय
६ रुपया प्रति पौण्ड	१,००० पौण्ड	६,००० रुपया
५ रुपया प्रति पौण्ड	१,१०० पौण्ड	५,५०० रुपया
४ रुपया प्रति पौण्ड	१,२५० पौण्ड	५,००० रुपया

उक्त स्थिति मे जैसे ही कीमतो मे गिरावट आती है, वैसे कुल आय भी कम हो जाती है। इसमे माँग की लोच सम से कम है या यह कह सकते है कि माँग बेलोच है। इस प्रकार हम कीमतो मे परिवर्तन के साथ ही कुल आय मे हुए परिवर्तन से माँग की लोच का पता लगा सकते है।

इन तीनो स्थितियो को नीचे वक्र-रेखाओ में क्रमश चित्र न० १३, १४ और १५ में प्रदर्शित किया गया है—
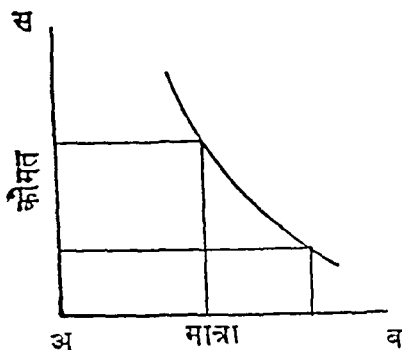
सम- लोच

चित्र न० १३
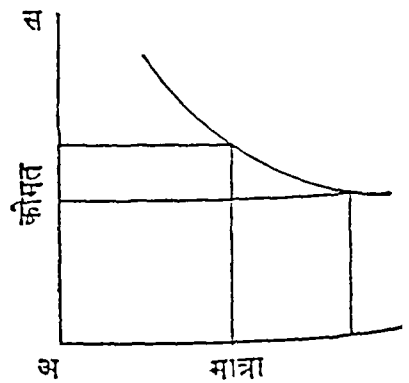
सम से अधिक माँग की लोच
(लोचदार)

चित्र नं० १४
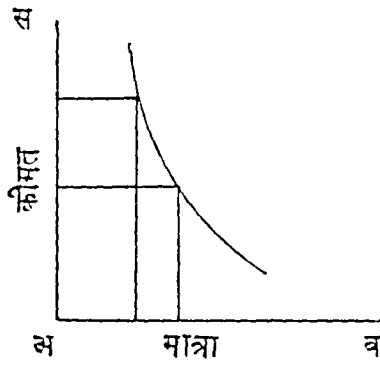
सम से कम मांग की लोच
(वे लोचदार)

चित्र न० १५

मॉग की लोच निर्धारित करने वाली शर्तें (Factors determining elasticity of demand)—किसी फर्म के माल की मॉग की लोच अधिक ोती है और किसी की कम। ऐसा क्यो होता है ? किसी वस्तु की माग की लोच किन र्तों द्वारा निर्धारित की जाती है ?

बेलोच होती है। यदि खाद्य-पदार्थों की कीमतो मे थोडी वृद्धि भी हो जाय तो अधिकतर परिवार किसी-न-किसी तरह अपने पोषण के लिये इन पदार्थो की खरीद मे किसी प्रकार की कमी नही करेगे। यह सभव है कि विलास की वस्तुओ की माँग को अन्य तरीका से सन्तुष्ट कर लिया जाय। उदाहरण के लिये यदि नारगी की कीमत बढ जाती है, तो नारगी के बजाय लोग आसानी से केले खा सकते है। यदि मास का भाव ऊँचा है तो लोग मास पहले की अपेक्षा कम खरीदकर मछली या अण्डे अधिक खरीद सकते है। इस प्रकार विलास की वस्तुओ की माँग लोचदार हो सकती है।

एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु का उपयोग भी उस वस्तु की कीमत और उस खरीदार की औसत आय पर निर्भर करता है। सस्ती वस्तुओ की माँग आमतौर पर बहुत बेलोच होती है। इसका कारण यह है कि उन वस्तुओ की कीमत पहले ही कुछ कम होती है और यदि उसमे किंचित वृद्धि भी हो जाय तो उनके बदले उपयोग में लाई जा सकनेवाली वस्तुएं प्राप्त नही होती है। नमक का भाव इतना कम होता है कि यदि उसकी कीमत मे थोडी वृद्धि भी हो जाय तो उसके बदले उपयोग मे लाई जा सकनेवाली उपयुक्त वस्तु प्राप्त करना सभव नही होता है। इसी प्रकार कुछ वस्तुओ की कीमत परिवर्तन हो जाने से उनकी बिक्री पर कुछ असर नही पडता है, क्योंकि उनके खरीद प्राय ऐसे लोग होते है, जिनके लिये कीमत मे यह परिवर्तन विशेष महत्त्व नही रखता है। इसीलिये धनवान् लोगो की माँग गरीब लोगो की अपेक्षा कम लोचदार होती है। यदि कोई वस्तु ४ या ५ रुपये मे बिकती है और उसमे १० प्रतिशत की वृद्धि हो जाय तो कीमत मे यह वृद्धि धनवान लोगो के लिये विशेष महत्त्व की न होती है। इस वृद्धि का उनकी खरीद पर अधिक प्रभाव नही पडेगा। वे इस बात की चिंता नही करेगे कि इस वस्तु के बजाय किसी अन्य वस्तु का उपयोग किया जाय। शायद उन्हे इसके बदले मे किसी अन्य वस्तु के उपयोग की आवश्यकता का अनुभव भी न हो।

यदि किसी वस्तु की खरीद मे व्यक्ति की कुल आय का बहुत छोटा अश व्यय होता है, तो उसके बदले अन्य वस्तु के उपयोग की इच्छा भी बहुत कम होगी। ऐसी स्थिति मे कीमत मे थोडी वृद्धि की खरीदार परवाह नही करेगे, क्योकि इससे आय पर बहुत कम प्रभाव पडेगा। यह प्रभाव इतना कम हो सकता है कि उस पर चिंता करने की सभावना ही नही रहती।

यदि किसी वस्तु को अनेक प्रकार के उपयोगो मे लाया जा सकता है तो एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु के उपयोग की सभावना बढ जायगी। उदाहरण के लिये बिजली का उपयोग प्रकाश करने, भोजन पकाने, जाडो में कमरा गरम रखने और गर्मियो में कमरा ठढा रखने इत्यादि में किया जा सकता है। इस प्रत्येक काम के लिये बिजली के अलावा अन्य वस्तुओ का भी इस्तेमाल किया जा सकता है। प्रकाश करने के लिये बिजली के स्थान पर मिट्टी का तेल या मोमबत्ती का प्रयोग किया जा सकता है और इसी प्रकार

भोजन पकाने तथा कमरा गरम रखने के लिये कोयले अथवा गैस का उपयोग किया जा सकता है। मान लो कि बिजली की एक इकाई की कीमत इतनी है कि एक व्यक्ति प्रकाश करने के लिये उसका लाभदायक उपयोग कर सकता है, परन्तु भोजन पकाने अथवा कमरा गरम रखने के लिये उसमे कोयले या गैस की अपेक्षा अधिक व्यय करना पडता है। यदि बिजली की कीमत गिरती है, तो उसका भोजन पकाने अथवा कमरा गरम रखने मे इस्तेमाल किया जा सकता है। ऐसी स्थिति मे बिजली कोयले तथा गैस का स्थान ग्रहण कर लेगी और उसकी बिक्री मे भी काफी प्रतिशत वृद्धि हो जायगी। इससे प्रकट है कि बिजली की माँग या विभिन्न उपयोगो मे लाई जा सकनेवाली अन्य वस्तुओ की माग लोचदार होगी।

विभिन्न प्रकार की माँग की लोच—(Different types of elasticity of demand)—माँग की लोच के जिस सिद्धान्त की हम चर्चा करते आये है, उसे 'माँग की कीमत की लोच' (Price-elasticity of demand) कहते है। यह वस्तु की मात्रा और उसकी कीमत मे हुए थोडे आनुपातिक परिवर्तनो का अनुपात है। यह सिद्धान्त इस बात को समझता है कि कीमत मे परिवर्तन होने से वस्तु की माँग मे क्या बदलाव आया।

$$\text{लोच} = \frac{\text{माँग मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि लोच का यह सिद्धान्त माग की पूरी वक्र-रेखा की बात नही कहता। यह उस रेखा पर किसी एक बिन्दु से सम्बन्ध रखता है और केवल उसी बिन्दु पर प्रकाश डालता है। वास्तव मे हम माग की वक्र-रेखा पर एक निश्चित बिन्दु पर कीमत मे हुए किंचित परिवर्तन का माग पर पडनेवाला प्रभाव नापते है। हम यह पता लगाते है कि उस निश्चित बिन्दु पर कीमत मे जो किंचित परिवर्तन हुआ है, उसका माग पर क्या प्रभाव पडा है। माग की वक्र-रेखा के प्रत्येक बिन्दु की लोच भिन्न-भिन्न हो सकती है और यह लोच माग की वक्र-रेखा के प्रत्येक बिन्दु पर अलग-अलग हो सकती है, इसमे अवश्य भिन्नता रहती है। यह सम्भव है कि अधिक कीमत पर और कम कीमत पर दोनो स्थितियो मे वस्तु की माग अपेक्षाकृत बेलोच हो और कीमत के इन चढाव-उतार के मध्य मे माग लोचदार हो।

अपेक्षाकृत कम व्यय करते है। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि आय में परिवर्तन होने से कुछ वस्तुओ की माँग लोचदार होती है। इसको 'माँग की आय की लोच' कहते है। कीमत तथा अन्य बातो के यथास्थिति रहते हुए किसी वस्तु की माँग में प्रतिशत वृद्धि के अनुपात को ही माग की आय की लोच (income-elasticity of demand) कहते है।

यह माँग में हुए आनुपातिक परिवर्तन और आय मे हुए आनुपातिक परिवर्तन के अनुपात के बराबर होती है.—

$$\text{आय की लोच} = \frac{\text{माँग मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{आय मे आनुपातिक परिवर्तन}}$$

माँग की आय की लोच पर विचार करते समय हम यह मान लेते है कि उस वस्तु की कीमत में और अन्य वस्तुओ की कीमत मे कोई परिवर्तन नही होता है, वह पूर्ववत रहती है। साधारणतया माँग की आय की लोच धनात्मक (positive) होती है क्योकि जैसे-जैसे उपभोक्ता की आय मे वृद्धि होती है वह इन वस्तुओ की अधिक मात्रा खरीदता रहता है। परन्तु कुछ स्थितियो मे माँग की आय की लोच ऋणात्मक (negative) भी होती है। दूसरे शब्दो मे जैसे-जैसे आय बढती है उपभोक्ता इन वस्तुओ मे कम खर्च कर सकता है। यह बात घटिया किस्म की वस्तुओ पर लागू होती है। दूसरी ओर यदि उपभोक्ता आय बढने पर अपनी आय का अधिकांश किसी वस्तु पर खर्च करता है तो माँग की आय की लोच एक से अधिक (greater than unity) होती है। यह बात विलास की सामग्री पर लागू हो सकती है परन्तु ऐसा होना आवश्यक भी नही है।

माँग की आड़ी-लोच (Cross elasticity of demand)—दो वस्तुओ की माँगे परस्पर इस प्रकार सबधित हो सकती है, कि इनमे से एक वस्तु की कीमत मे परिवर्तन दूसरी वस्तु की माँग मे परिवर्तन ला देता है जब कि दूसरी वस्तु की कीमत पूर्ववत रहती है। किसी वस्तु की कीमत मे परिवर्तन हो जाने से दूसरी वस्तु की माँग मे जो परिवर्तन पैदा हो जाता है उसे माँग की आडी-लोच (cross-elasticity of demand) कहते है। यह क वस्तु की माँग मे हुए अनुपातिक परिवर्तन और ख वस्तु की कीमत मे हुए अनुपातिक परिवर्तन के अनुपात के बराबर है।

$$\text{माँग की आडी-लोच} = \frac{\text{क की माँग मे आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{ख की माँग मे आनुपाति परिवर्तन}}$$

यदि दो वस्तुएँ ऐसी है जिन का एक दूसरे के स्थान पर अच्छी प्रकार प्रयोग किया सकता है तो इस में से एक वस्तु की कीमत बढने पर दूसरी वस्तु की माँग मे वृद्धि

हो जायगी। उदाहरण के लिए जब काफी (coffee) की कीमत बढती है तो अन्य बातें पूर्ववत् रहने पर चाय की मांग बढना स्वाभाविक है। इसकी विपरीत स्थिति में यदि वस्तुएं ऐसी हैं जिनकी एक साथ माँग की जाती है जैसा कि पावरोटी और मक्खन तो पावरोटी की कीमत मे थोडी-सी कमी होने पर मक्खन की माँग मे वृद्धि हो सकती है। पावरोटी की कीमत मे गिरावट आने से निश्चय ही उसकी बिक्री बढेगी और साथ ही मक्खन की बिक्री मे भी वृद्धि होगी, विपरीत स्थिति मे परिणाम भी विपरीत होगा जब वस्तुएँ ऐसी हैं जिनका एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग किया जा सकता है तो माँग की आडी-लोच धनात्मक होगी। जब वस्तुएँ ऐसी हैं जिनकी साथ-साथ माँग की जाती है तो माँग की आडी-लोच ऋणात्मक होगी।

माँग की लोच के सम्बन्ध मे कुछ और बातें (Further notes on the elasticity of demand)—हमने लोच की तीन स्थितियो—सम लोच, अपेक्षाकृत लोचदार माँग और अपेक्षाकृत बेलोच माँग—पर विचार किया है। इस सिलसिले मे लोच की दो अन्य स्थितियो पर भी विचार करना आवश्यक है। यह दो स्थितियाँ हैं —पूर्ण लोचदार माँग और पूर्ण बेलोच माँग। जब कीमत मे अत्यन्त कम घट-बढ होने से वस्तु की माँग मे बहुत परिवर्तन आ जाता है, तब माँग पूर्ण लोचदार होती है। दूसरी ओर पूर्ण बेलोच माँग भी होती है। जब कीमत मे कितना ही पविर्तन आ जाने के बाद भी वस्तु की माँग पूर्ववत् रहती है, उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है, तब माग पूर्ण बेलोच होती है। पूर्ण लोचदार माँग चित्र में आडी रेखा (horizontal line) द्वारा दर्शायी जाती है और पूर्ण बेलोच माँग खडी रेखा (vertical line) द्वारा। जैसा कि चित्र न० १६ और १७ में क्रमश: दिखलाया गया है।
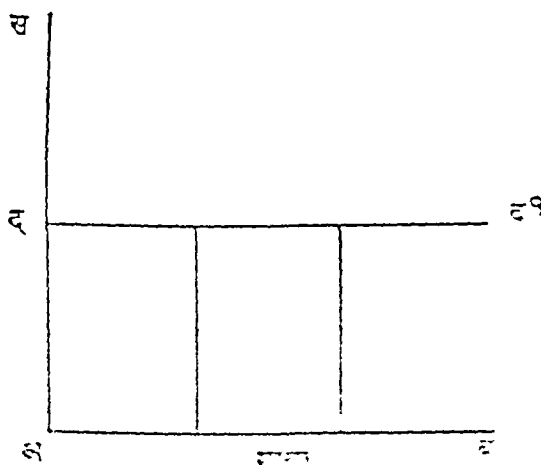
अब तक किसी एक व्यक्ति की माँग-सूची और कुल माँग या किसी वस्तु की उद्योग-माँग-सूची पर विचार किया गया है। इस प्रकार की माँग सूचियाँ पूर्ण लोचदार नही हो सकती है। चूंकि हम सबकी आय सीमित होती है, इसलिये किसी वस्तु की असीम मात्रा खरीदना हमारे लिये सम्भव नही है। परन्तु यदि पूर्ण प्रतियोगिता की

पूर्ण बेलोच माँग
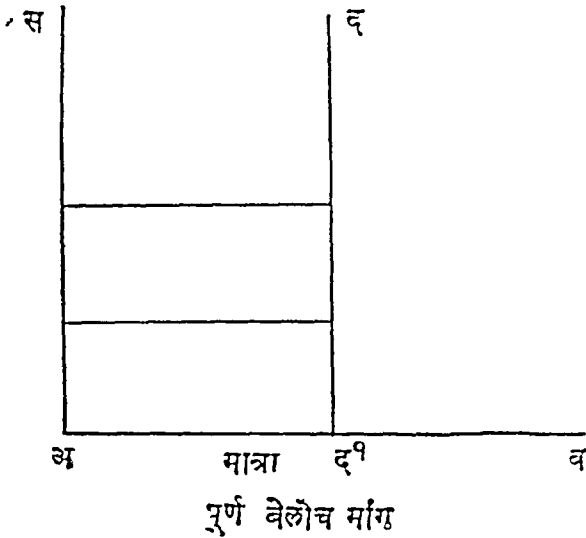
चित्र न० १७

स्थिति हो तो किसी भी विक्रेता की माँग की वक्र-रेखा पूर्ण लोचदार हो सकती है आगे हम उद्योग की विशेषताओ और माँग की वक्र-रेखा के पारस्परिक सम्बन्धो की जाँच करेंगे।

एक विक्रेता की माँग की रेखा (Individual seller's demand curve)—उद्योग माँग-रेखा (या कुल माँग की रेखा) यह दर्शाती है कि एक निश्चित अवधि में विभिन्न कीमतो पर किसी उद्योग द्वारा उत्पादित माल की कितनी माँग होगी। यह उद्योग के सयुक्त उत्पादन की सयुक्त-माँग है। विक्रेता के दृष्टिकोण से इस प्रकार की माँग-रेखा वस्तु की उस कुल मात्रा को दर्शायेगी जिसे विभिन्न कीमतो पर वे सभी विक्रेता बेच सकेंगे। यह रेखा इस बात को नही बतलायेगी कि वस्तु की कुल माँग में से विक्रेता कितने अश को बेच सकेगा। इसमे सन्देह नही कि यदि वस्तु की कुल माँग अधिक है, तो एक विक्रेता कुल माँग कम होने की अपेक्षा अब अधिक मात्रा मे वस्तु की बिक्री कर सकेगा। परन्तु कुल माँग के कितने अश की वह पूर्ति कर सकेगा यह विक्रेता की निजी माँग-रेखा पर निर्भर करेगा। इस प्रकार की माँग-रेखा से उसे मालूम हो जायगा कि हर कीमत पर वह वस्तु की कितनी मात्रा बेच सकेगा। एक विक्रेता की माँग-रेखा की रूप-रेखा आशिक रूप से उद्योग की माँग-रेखा और आशिक रूप से उद्योग में प्रतियोगिता की स्थिति पर निर्भर करेगी। यदि उद्योग की माँग-रेखा दी हुई हो तो

त्येक विक्रेता की माँग-रेखा की लोच उद्योग मे विद्यमान प्रतियोगिता की स्थिति पर र्भर करेगी।

विभिन्न विक्रेताओ की प्रतियोगिता की स्थिति के सम्बन्ध मे अनेक परिस्थितियो ो कल्पना की जा सकती है। यह हो सकता है कि विक्रेताओ की सख्या बहुत अधिक ो और प्रत्येक विक्रेता एक ही तरह की वस्तु को बेचे। यह पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति । यह भी हो सकता है कि बहुत से विक्रेता हो और विभिन्न प्रकार की वस्तुओ को चते हो। यह एकाधिकारिक प्रतियोगिता (monopolistic competition)की स्थिति हुई। अन्तिम स्थिति मे यह भी हो सकता है, कि केवल एक ही क्रेता हो और यह स्थिति शुद्ध एकाधिकार की स्थिति होगी।

पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे विक्रेता अनेक होते है और समान वस्तु का विक्रय रते है। प्रत्येक विक्रेता का उत्पादन कुल उत्पादन का बहुत छोटा अश होता है। सलिये वह बाजार के मौजूदा भाव पर जितना भी उत्पादन कर सकता है, उसमे किसी कार की कमी किये बिना वह सारा माल वेच सकता है। यदि वह अपनी वस्तु की ीमत बाजार भाव से बढाये तो वह कुछ भी माल नही वेच सकेगा, क्योकि ऐसी स्थिति ां सभी खरीदार बाजार भाव पर अन्य विक्रेताओ से खरीद लेगे। यदि वह बाजार भाव ो कम कीमत पर माल बेचेगा तो सभी खरीदार उसके पास जायँगे और उसका सारा ाल बिक जायगा। इसलिये पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे विक्रेता को पूर्ण लोचदार ांग-रेखा का सामना करना पडेगा जब कि यह पूर्ण सम्भव है कि उद्योग की माँग-रेखा ेलोच हो। उदाहरण के लिये गेहूँ की उद्योग की माँग-रेखा बेलोच है, परन्तु गेहूँ के त्येक विक्रेता के लिये (जब कि आमतौर पर गेहूँ के ऐसे विक्रेताओ की सख्या काफी ोती है, जो समान किस्म का गेहूँ बेचते है) माग-रेखा पूर्ण लोचदार हो जाती है।

सामना करना पडता है, वह पूर्ण लोचदार नही होती है। यह माँग-रेखा उपभोक्ता की पसन्द पर निर्भर रहने के फलस्वरूप दाहिनी ओर नीचे को झुक जायगी। विभिन्न विक्रेताओ द्वारा वेची जानेवाली वस्तुओ के लिये उपभोक्ताओ की पसन्द जितनी अधिक बढती जायगी, विक्रेता को उतनी ही कम लोचदार माँग-रेखा का सामना करना पडेगा।

यदि किसी उद्योग के वहुत कम विक्रेता हो तो कीमत मे परिवर्तन लाने में प्रत्येक विक्रेता महत्त्वपूर्ण भाग ले सकता है। अपनी नीति की दूसरो पर प्रतिक्रिया की परवाह किये विना प्रत्येक विक्रेता इस वात को जानता है कि यदि वह अधिक माल बेचने की कोशिश करेगा तो उसके इस प्रयत्न के परिणामस्वरूप वस्तु की कीमत में गिराव आयगी। यदि प्रत्येक विक्रेता समान वस्तुओ का विक्रय करता हो तो प्रत्येक विक्रेता के ऐसे प्रतियोगियो की सख्या कम होती है, जिनके ग्राहको को वह वस्तु की कीमत घटाकर अपनी ओर आकृष्ट करे। यदि विक्रेता प्रामाणिक किस्मो की वस्तुएँ बेचता है, तो कीमत बढ जाने पर उपभोक्ता के लिये ऐसी वहुत कम वस्तुएँ शेष रहती है जिनका वह वदले मे उपयोग करने के लिये निर्वाचन कर सके। इसलिये ऐसी स्थिति मे अधिक विक्रेता होने की स्थिति की अपेक्षा कीमत में होनेवाले परिवर्तन का बिक्री पर कम प्रभाव पडता है। ऐसी स्थिति में प्रत्येक विक्रेता को कम लोचदार माँग-रेखा का सामना करना पडेगा।

अध्याय १७

माँग-रेखा को निर्धारित करनेवाली शक्तियाँ

(Forces behind the Demand Curve)

क्या माँग-रेखा को निर्धारित करनेवाली और उसका झुकाव नीचे की ओर करनेवाली शक्तियाँ अप्रत्यक्ष रूप से सक्रिय रहती है? प्राचीन लेखको के मतानुसार, जिनमे प्रमुख प्रोफेसर मार्शल है, माँग-रेखा को निर्धारित करनेवाली मुख्य अप्रत्यक्ष शक्ति क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम या घटती उपयोगिता (Law of diminishing utility) का प्रसिद्ध नियम है। हम उपयोगिता के अर्थ को भली प्रकार समझते है। इसका अर्थ है किसी इच्छा की पूर्ति की क्षमता। जव हम यह कहते है कि अमुक वस्तु की वहुत उपयोगिता है, तो उससे हमारा तात्पर्य केवल यह होता है कि किसी को उस वस्तु को प्राप्त करने की वडी तीव्र इच्छा है, जो उसके वदले काफी कीमत चुकाने को तैयार है।

क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम या घटती उपयोगिता का नियम Law of diminishing utility)—किसी व्यक्ति के लिये एक वस्तु की पयोगिता, अर्थात् उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा, इस बात पर निर्भर करती कि उस व्यक्ति के पास पहले से ही इस वस्तु की कुल कितनी मात्रा है। यदि किसी यक्ति के पास जूते नही है तो उसके लिये एक जोडे जूतो की उपयोगिता उस व्यक्ति ी अपेक्षा कही अधिक होगी जिसके पास पहले से ही उसी प्रकार के तीन जोडे जूते । दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि यदि किसी व्यक्ति के पास एक वस्तु की नेक इकाइयाँ है तो उसके भण्डार मे प्रत्येक इकाई की वृद्धि के साथ ही हर इकाई की उपयोगिता घटती जाती है। समान वस्तु की हर इकाई की वृद्धि के साथ ही प्रत्येक काई की घटती उपयोगिता की प्रवृत्ति प्राय उपयोग की हर स्थिति मे लागू होती है। उपयोग की प्रत्येक शाखा मे यह प्रवृत्ति पाई जाती है। यह सभव है कि कुछ वस्तुओ की उपयोगिता मे घटती धीरे-धीरे हो और कुछ अन्य वस्तुओ की उपयोगिता तेजी से घटे, परन्तु तथ्य यह है कि उपयोगिता घटने की यह प्रवृत्ति हर स्थिति मे विद्यमान रहती है और क्रमश एक ऐसी स्थिति आ जायगी कि वस्तु की मात्रा मे और अधिक वृद्धि की बिल्कुल भी उपयोगिता नही रहेगी। यह प्रवृत्ति क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम या घटना के नियम के नाम से प्रसिद्ध है। प्रोफेसर मार्शल के शब्दो मे वस्तु की दी हुई मात्रा मे वृद्धि होने से व्यक्ति का अतिरिक्त लाभ होता है, परन्तु वस्तु की दी हुई मात्रा मे बढनेवाली प्रत्येक इकाई से प्राप्त होनेवाले यह अतिरिक्त लाभ क्रमशः घटता जाता है।

कही जायगी। मान लिया वह केवल तीन जोडे जूते खरीदता है और उसके बाद खरीदने से इनकार कर देता है। ऐसी स्थिति मे यदि वह केवल तीन ही जोडे जूते खरीदता है, तो जूतो की सीमात उपयोगिता १० रुपये के बराबर होगी। इसलिये हम इस नियम की निम्नलिखित परिभाषा कर सकते है—

"एक निश्चित अवधि मे किसी भी वस्तु की सीमात उपयोगिता कुल मात्रा में बढनेवाली प्रत्येक इकाई के साथ-साथ घटती जाती है।"

चित्र न० १८

इस नियम को ग्राफ द्वारा भी समझाया जा सकता है। ऊपर दिये गये चित्र न० १८ मे अब रेखा मे वस्तु (जूते) की मात्रा दी गयी है और विभिन्न जोडो के लिये खरीदार जो कीमते चुकाने को तैयार है, वह अस रेखा मे दी गयी है। अक जोडे जूतो के लिये खरीदार कक¹ कीमत चुकायेगा, अख जोडो के लिये खख¹ कीमत चुकायेगा, क्योकि अब जोडे की उपयोगिता अक जोडे से कम होगी। इसी प्रकार खग जोडे के लिये वह गग¹ कीमत चुकायेगा, गघ जोडे के लिये घघ¹ कीमत चुकायेगा। जैसे-जैसे वह अधिक जोडे खरीदता जायगा कीमत घटती जायगी क, ख, ग, घ, विन्दुओ से होकर जाने वाली वक्र-रेखा क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम की वक्र-रेखा होगी और यह रेखा निरन्तर ह्रासोन्मुख रहेगी।

नियम की सीमाएँ (Limitations of law)—क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम की चर्चा करते समय प्राय 'निश्चित अवधि मे' वाक्याश का प्रयोग किया यह वाक्याश इस नियम की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। यदि हम इस क्रिया प

उपभोक्ता की पसन्द और उनकी आदते परिवर्तनशील माननी चाहिये।

विचार करते समय एक निश्चित अवधि को ही ध्यान मे रखे तो इस बीच उपभोक्ता की आदते और उसकी पसन्द बदल सकती है। इसलिये यदि यह कहा जाय कि मनुष्य अच्छा सगीत जितना अधिक सुनता है, वह सगीत को उतना ही अधिक पसन्द करने लगता है, तो यह नियम के लिये अपवाद स्वरूप नही कहा जायगा। या यदि यह कहा जाय कि मनुष्य ...तना ही अधिक शराब पीता है, उसकी शराब पीने की इच्छा और बढती जाती है, ... इसे नियम का अपवाद नही कहा जायगा। क्योकि इस बीच उपभोक्ता की आदते ...र उनकी पसन्द बदल गई है। हमे विचार के लिये ऐसी अवधि को लेना चाहिये, जो ...र स्थिति के लिये उपयुक्त सिद्ध हो। यह हर स्थिति मे सत्य है कि एक निश्चित अवधि ... उपभोक्ता के स्वभाव और उसकी पसन्द को अपरिवर्तनशील मानते हुए वस्तु की ... मात्रा मे जितनी भी इकाइयाँ बढाई जायँगी, उनकी उपयोगिता पहले की अपेक्षा ...म होगी।

बहुत छोटी इकाइयाँ लेने पर सीमान्त उपयोगिता बढेगी।

...सी प्रकार हमे प्रत्येक इकाई की उपयुक्त मात्रा लेनी चाहिये। यदि पहले की ...त्राएँ बहुत कम है, तो अतिरिक्त इकाइयाँ बढाने पर पहले सीमान्त उपयोगिता मे कमी के बजाय वृद्धि दिखाई देगी। यदि कोई व्यक्ति काफी समय तक काम करते रहने से थक गया है या ऊब गया है तो कुछ दिनो के अवकाश मे उसकी हालत मे विशेष सुधार नही होगा जब कि यदि उसे उसकी दूनी छुट्टिया मिल जाए तो उसके स्वास्थ्य-सुधार मे भी दुगना लाभ होगा। इसलिये ... वस्तु की ऐसी इकाइया लेनी चाहिये, जो न्यायसगत और उपयुक्त मात्रा मे हो। ...सीमाए वास्तविक सीमाएँ नही कही जा सकती है। ये नियम की कुछ त्रुटियो की ...र सकेत मात्र करती है।

कही जायगी। मान लिया वह केवल तीन जोडे जूते खरीदता है और उसके वा खरीदने से इनकार कर देता है। ऐसी स्थिति मे यदि वह केवल तीन ही जोडे जू खरीदता है, तो जूतो की सीमात उपयोगिता १० रुपये के बराबर होगी। इसलि हम इस नियम की निम्नलिखित परिभाषा कर सकते हैं—

"एक निश्चित अवधि मे किसी भी वस्तु की सीमात उपयोगिता कुल मात्रा बढनेवाली प्रत्येक इकाई के साथ-साथ घटती जाती है।"

चित्र न० १८

इस नियम को ग्राफ द्वारा भी समझाया जा सकता है। ऊपर दिये गये चित्र न० १८ मे अब रेखा मे वस्तु (जूते) की मात्रा दी गयी है और विभिन्न जोडो के लिये खरीदार जो कीमते चुकाने को तैयार है, वह अस रेखा मे दी गयी है। अक जोडे जूतो के लिये खरीदार कक¹ कीमत चुकायेगा, अख जोडो के लिये खख¹ कीमत चुकायेगा, क्योकि अब जोडे की उपयोगिता अक जोडे से कम होगी। इसी प्रकार खग जोडे के लिये वह गग¹ कीमत चुकायेगा, गघ जोडे के लिये घघ¹ कीमत चुकायेगा। जैसे-जैसे वह अधिक जोडे खरीदता जायगा कीमत घटती जायगी। क, ख, ग, घ, विन्दुओ से होकर जाने वाली वक्र-रेखा क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम की वक्र-रेखा होगी और यह रेखा निरन्तर ह्रासोन्मुख रहेगी।

नियम की सीमाएँ (Limitations of law)—क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम की चर्चा करते समय प्राय 'निश्चित अवधि मे' वाक्याश का प्रयोग किया यह वाक्याश इस नियम की महत्त्वपूर्ण विशेपता है। यदि हम इस क्रिया पर

कही जायगी। मान लिया वह केवल तीन जोडे जूते खरीदता है और उसके बाद खरीदने से इनकार कर देता है। ऐसी स्थिति मे यदि वह केवल तीन ही जोडे जूते खरीदता है, तो जूतो की सीमात उपयोगिता १० रुपये के बराबर होगी। इसलिये हम इस नियम की निम्नलिखित परिभाषा कर सकते है—

"एक निश्चित अवधि मे किसी भी वस्तु की सीमात उपयोगिता कुल मात्रा में बढनेवाली प्रत्येक इकाई के साथ-साथ घटती जाती है।"
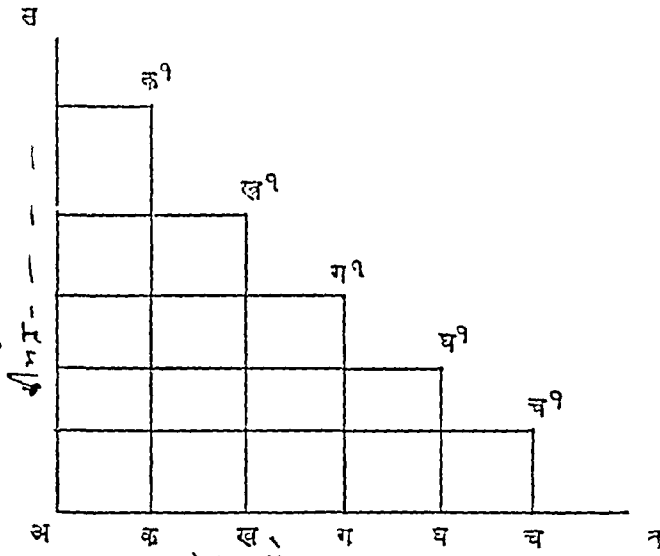
चित्र न० १८

इस नियम को ग्राफ द्वारा भी समझाया जा सकता है। ऊपर दिये गये चित्र न० १८ में अव रेखा मे वस्तु (जूते) की मात्रा दी गयी है और विभिन्न जोडो के लिये खरीदार जो कीमते चुकाने को तैयार है, वह अस रेखा मे दी गयी है। अक जोडे जूतो के लिये खरीदार कक¹ कीमत चुकायेगा, अख जोडो के लिये खख¹ कीमत चुकायेगा, क्योकि अव जोडे की उपयोगिता अक जोडे से कम होगी। इसी प्रकार खग जोडे के लिये वह गग¹ कीमत चुकायेगा, गघ जोडे के लिये घघ¹ कीमत चुकायेगा। जैसे-जैसे वह अधिक जोडे खरीदता जायगा कीमत घटती जायगी। क, ख, ग, घ, विन्दुओ से होकर जाने वाली वक्र-रेखा क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम की वक्र-रेखा होगी और यह रेखा निरन्तर ह्रासोन्मुख रहेगी।

नियम की सीमाएँ (Limitations of law)—क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम की चर्चा करते समय प्राय 'निश्चित अवधि मे' वाक्याश का प्रयोग किया गया है। यह वाक्याश इस नियम की महत्त्वपूर्ण विशेपता है। यदि हम इस क्रिया पर

विचार करते समय एक निश्चित अवधि को ही ध्यान मे रखें तो इस बीच उपभोक्ता की आदते और उसकी पसन्द बदल सकती है। इसलिये यदि यह कहा जाय कि मनुष्य अच्छा सगीत जितना अधिक सुनता है, वह सगीत को उतना ही अधिक पसन्द करने लगता है, तो यह नियम के लिये अपवाद स्वरूप नही कहा जायगा। या यदि यह कहा जाय कि मनुष्य

उपभोक्ता की पसन्द और उसकी आदते अपरिवर्तनशील माननी चाहिये।

जितना ही अधिक शराब पीता है, उसकी शराब पीने की इच्छा और बढती जाती है, तो इसे नियम का अपवाद नही कहा जायगा। क्योकि इस बीच उपभोक्ता की आदते और उसकी पसन्द बदल गई है। हमे विचार के लिये ऐसी अवधि को लेना चाहिये, जो हर स्थिति के लिये उपयुक्त सिद्ध हो। यह हर स्थिति मे सत्य है कि एक निश्चित अवधि मे उपभोक्ता के स्वभाव और उसकी पसन्द को अपरिवर्तनशील मानते हुए वस्तु की कुल मात्रा मे जितनी भी इकाइयाँ बढाई जायँगी, उनकी उपयोगिता पहले की अपेक्षा कम होगी।

इसी प्रकार हमे प्रत्येक इकाई की उपयुक्त मात्रा लेनी चाहिये। यदि पहले की मात्राएँ बहुत कम है, तो अतिरिक्त इकाइयाँ बढाने पर पहले सीमात उपयोगिता मे कमी के बजाय वृद्धि दिखाई देगी। यदि कोई व्यक्ति काफी समय तक काम करते रहने से थक गया है या ऊब गया है तो कुछ दिनो के अवकाश से उसकी हालत मे विशेष सुधार नहीं होगा जब कि यदि उसे इसकी दूनी छुट्टियाँ मिल जायँ तो उसके स्वास्थ्य-सुधार मे भी दुगुना लाभ होगा। इसलिये हमें वस्तु की ऐसी इकाइयाँ लेनी चाहिये, जो न्यायसगत और उपयुक्त मात्रा मे हो। ये सीमाएँ वास्तविक सीमाएँ नही कही जा सकती हैं। ये नियम की कुछ शर्तो की ओर सकेत भर करती है।

बहुत छोटी इकाइयाँ लेने पर सीमात उपयोगिता बढ़ेगी।

कुछ ऐसी वस्तुएँ भी है, जिनकी सीमान्त उपयोगिता कुल मात्रा मे बढने वाली अतिरिक्त इकाइयो के साथ नही घटती है। कठिनता से प्राप्त होनेवाली या ऐतिहासिक सामग्री के सग्रहकर्त्ता या टिकट जमा करने वाले की सदा यह इच्छा बनी रह सकती है कि उनके सग्रह मे निरन्तर वृद्धि होती जाय। यह इच्छा तीव्र हो सकती है। परन्तु विनेर[1] (Viner) के मतानुसार यदि हम विचार करने के लिये वस्तु की पूरी मात्रा को उपयुक्त इकाई मान ले तो यह नियम की सीमा नही रह जाती है। उदाहरण के लिये यदि यह मालूम है कि एक ही प्रकार के दो मोती है, तो दोनो मोतियो को एक इकाई मान लेना चाहिये। इसी प्रकार के मोती और प्राप्त हो तो उनकी प्रत्येक इकाई की उपयोगिता पहले की अपेक्षा कम होगी।

[1] Viner, "The Utility Concept in Economic Theory" in the Journal of Political Economy, 1952

कुछ स्थितियो मे किसी वस्तु की सीमात उपयोगिता केवल इस बात पर ही निर्भर नही करती है कि उपभोक्ता के पास उस वस्तु की कुल कितनी मात्रा है, बल्कि इस बात पर निर्भर करती है कि अन्य व्यक्तियो के पास उस वस्तु की कुल कितनी मात्रा है। उदाहरण के लिये टेलीफोन के एक सेट की उपयोगिता टेलीफोन के अधिक प्रयोग होने के साथ-साथ बढ़ती जाती है। यही बात अन्य शौक की वस्तुओ पर लागू होती है। परन्तु इस बात मे सन्देह नही है कि एक निश्चित अवधि मे यदि यह ज्ञात हो कि वस्तु का कितना उपयोग किया जा सकता है, तो वस्तु की प्रत्येक इकाई बढने के साथ ही उनकी उपयोगिता भी घटती जायगी। उदाहरण के लिये यदि टेलीफोन का उपयोग करनेवालो की सख्या निश्चित हो तो टेलीफोन का एक सेट और बढ जाने से उस व्यक्ति को पहले सेट की अपेक्षा कम सन्तोष प्राप्त होगा। इस नये सेट की उपयोगिता पहले सेट की अपेक्षा कम होगी।

ये सीमाएं यद्यपि विशेष महत्त्व की नही है, फिर भी इनके रहते हुए यह प्रवृत्ति इतने व्यापक रूप से और सर्वत्र पाई जाती है कि हम इसे बिना किसी हिचक के सब पर लागू मान सकते है। यह नियम इस कारण अधिक महत्त्वपूर्ण है कि यह माँग के नियम का आधार है और इस बात को अच्छी तरह समझाता है कि माँग की वक्र-रेखा का झुकाव नीचे की ओर क्यो होता है।

कुल उपयोगिता और सीमाँत उपयोगिता (Total utility and marginal utility)—उपभोक्ता के पास किसी वस्तु की कुल जितनी इकाइयाँ है, सबकी उपयोगिताओ का योग कुल उपयोगिता (Total Utility) कहा जाता है। यह उस कुल उपयोगिता के बराबर है, जिसकी हमे वस्तु की सभी इकाइयो के छिन जाने से हानि उठानी पडेगी। दी हुई कीमत पर हम वस्तु की जो अतिम इकाई खरीदेगे उससे प्राप्त उपयोगिता ही सीमात उपयोगिता होगी। यहाँ इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि दी हुई कीमत पर हम इस इकाई से अधिक खरीदना नही चाहेंगे। जूतो के उदाहरण मे मान लिया कि एक व्यक्ति केवल तीन जोडे जूते खरीदता है। उसके लिये जूतो की कुल उपयोगिता (१६+१४+१० रुपये) या ४० रुपये के बराबर होगी, परन्तु सीमात उपयोगिता केवल १० रुपये के बराबर होगी।

कीमत के द्वारा कुल उपयोगिता नही बल्कि सीमात उपयोगिता नापी जाती है। एक व्यक्ति किसी वस्तु को तब तक खरीदता जायगा जब तक कि उसकी सीमात उपयोगिता वस्तु की कीमत के बराबर न हो जाय। पानी की कीमत पर पानी की कुल उपलब्ध मात्रा की उपयोगिता का प्रभाव नही पडता है। वास्तव मे कीमत पर पानी की एक अधिक या एक कम इकाई की उपयोगिता का प्रभाव पडता है। इसलिये यह स्पष्ट है कि कुल उपयोगिता के सिद्धान्त का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व है, जब कि सीमात उपयोगिता का व्यवहार की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है। इस बात को न कोई जानता है और न जानने की कोशिश ही करता

कीमत मे सीमान्त उपयोगिता की माप होती है।

कि वस्तु की जैसे चाय की सभी इकाइयो की कुल उपयोगिता क्या है। इसकी कोई कभी गणना ही नही करता है। परन्तु सीमात उपयोगिता का सिद्धान्त हमारे दैनिक जीवन के व्यवहार मे आता है। प्रत्येक खरीदार के सामने सदैव यह प्रश्न उपस्थित रहता है कि खरीदारी कब बन्द की जाय। हर खरीदार को अपनी खरीदारी की एक सीमा निश्चित करनी पडती है और इस सीमा को निर्धारित करने में उसे इस बात पर विचार करना पडता है कि एक इकाई कम खरीदी जाय या अधिक खरीदी जाय। यह निश्चित करने मे उसका ध्यान वस्तु की उस कीमत पर रहता है, जो उसे एक इकाई अधिक या कम खरीदने मे चुकानी पडेगी। अत मे एक ऐसी स्थिति आती है, जब वह खरीदारी बन्द कर देता है और यही उसकी खरीदारी की सीमा होती है। यहाँ पर इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि सीमात उपयोगिता वास्तव मे अतिम इकाई की उपयोगिता नही है। यह एक अधिक या कम इकाई की उपयोगिता है, क्योकि भौतिक दृष्टि से सभी इकाइयो मे किसी प्रकार का भेद नही किया जा सकता है। इस प्रकार मेरे भण्डार मे एक पौण्ड चाय की उतनी ही उपयोगिता है, जितनी किसी अन्य पौण्ड चाय की जिसमे कि चाय के भण्डार का अतिम पोण्ड भी शामिल है। यदि अन्य बाते यथास्थिति रहे तो पाँच पौण्ड चाय मे से एक पोण्ड चाय की उपयोगिता छ या अधिक पौण्ड चाय मे से एक पोण्ड की उपयोगिता की अपेक्षा अधिक होगी।

सीमान्त इकाई अतिम इकाई नही है।

सीमॉत की उपयोगिता (Importance of margin)—किसी वस्तु की कीमत उस वस्तु की सीमात उपयोगिता के बराबर होती है। एक व्यक्ति यदि किसी वस्तु की एक से अधिक इकाइयाँ खरीदे तो जैसे-जैसे वह खरीदता जायगा प्रत्येक अगली इकाई की उपयोगिता कम होती जायगी। जब उसे यह मालूम होगा कि अत में खरीदी गई इकाई की उपयोगिता कीमत के बराबर है, तो वह आगे खरीदना बन्द कर देगा। यह इकाई सीमान्त इकाई कही जायगी और इससे जो उपयोगिता प्राप्त होगी वह ठीक कीमत के बराबर होगी। सीमात इकाई का सिद्धान्त मूल्य (value) सिद्धान्त के लिये विशेष महत्त्व का है।

यह बताया जा चुका है कि इस सीमात इकाई की उपयोगिता से मूल्य निर्धारित किया जाता है। यह बात गलत है। सीमात इकाइयो के आधार पर कभी भी मूल्य निर्धारित नही किया जाता है। वास्तव मे सीमान्त इकाइयाँ और स्वय मूल्य माग और पूर्ति की शक्तियो के पारस्परिक सम्बन्ध से निर्धारित किये जाते है। जहाँ पर माग और पूर्ति की वक्र-रेखाएँ मिलती है, उस बिन्दु पर ये रेखाएँ सीमान्त इकाई और मूल्य निर्धारित करती है। किसी वस्तु की सीमान्त इकाई या उसकी कीमत मूल्य निर्धारित

नहीं करती है, बल्कि इनको और स्वय को माँग और पूर्ति के पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारित करते है।'[1]

इससे स्पष्ट है कि सीमान्त इकाई मूल्य निर्धारित नही करती है। निस्सन्दे सत्य है कि यदि सीमान्त इकाई मालूम नही होती, तो वस्तु का मूल्य भिन्न परन्तु यह बात समान रूप से अन्य इकाइयो पर भी होती है, क्योकि यह माना गया है कि वस्तु की इकाइयाँ समान है, उनमें भेद नही किया जा सकता मूल्य को न तो सीमात इकाई की माँग निर्धारित क है और न सीमात इकाई की कीमत। वास्तव में माँग और कुल पूर्ति का सन्तुलन विन्दु ही मूल्य निर्धारित करता है। सीमान्त इकाई की स्थिति सीमा इकाई के रूप मे कुल माँग पर निर्भर करती है, जिसका कुल पूर्ति के साथ सन्तु स्थापित हो। माना कि एक नाव ९ व्यक्तियो को नही ले जा सकती है, और भरी हुई है। मान लिया कि एक दसवाँ व्यक्ति भी नाव पर कूद जाता है अ फलस्वरूप नाव डूव जाती है। हम यह नही कह सकते है कि नाव केवल दसवें व्यक्ति के वजन के कारण डूवी। वास्तव मे यह कहना अधिक सही होगा कि ९ व्यक्तियों दसवें व्यक्ति के कुल वजन के कारण ही नाव डूवी। इसी प्रकार मूल्य को सीमान्त इकाई की उपयोगिता निर्धारित नही करती है। वास्तव मे अन्य इकाइयो की माँग सीमात इकाई की माँग मूल्य निर्धारित करती है और सीमान्त इकाई तथा मूल्य को कुल माँग तथा कुल पूर्ति निर्धारित करती है। सीमात एक ऐसा विन्दु है, जिस पर (जिसके द्वारा नही) मूल्य निर्धारित किया जाता है। इसका यह तात्पर्य नही कि मूल्य पर सीमात इकाई का कुछ प्रभाव नही होता है। सीमान्त इकाई भी अन्य किसी भी इकाई की तरह कुल पूर्ति का एक अश है, इसलिये निश्चय ही मूल्य पर प्रभाव डालती है। यदि सीमात इकाई या सीमात खरीदार या विक्रेता न हो तो इससे मूल्य मे अवश्य परिवर्तन आयेगा, क्योकि तव कुल पूर्ति या कुछ माँग भिन्न-भिन्न होगे।

सीमान्त वह विन्दु है जिस पर (जिसके द्वारा नहीं) मूल्य निर्धारित किया जाता है।

सीमात विन्दु का सिद्धान्त निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है, क्योकि सीमान्त वह केन्द्र-विन्दु है, जिस पर हम मूल्य निर्धारित करनेवाली शक्तियो के पारस्परिक सम्बन्धा

[1] "Marginal uses and cost do not govern value, but are governed together with value by the general relations of demand and supply"

—*Marshall*, Principles of Economics, p 410.

मूल्य निर्धारित करने वाली शक्तियों का अध्ययन करने के लिये हमें सीमान्त बिन्दु पर विचार करना पड़ेगा।

का उपयुक्त अध्ययन कर सकते है। मूल्य मे परिवर्तन कर सकने वाली शक्तियो के प्रभाव का सीमान्त विन्दु पर ही अनुभव किया जा सकता है। जब खाद्यान्न इत्यादि की कीमते गिरती है, तब सबसे पहले सीमात भूमि को ही अर्थात् उस भूमि को जिसमे उत्पादित वस्तु की कीमत मुश्किल से उत्पादन व्यय को पूरा कर पाती है, बजर छोड दिया जाता है। इसलिये सीमान्त विन्दु हमारे विचार का अवश्य केन्द्र-विन्दु होता है। इसलिये हम अर्थशास्त्रियो को सीमात विन्दु के महत्त्व को अवश्य समझना चाहिये और उसकी प्रवृत्तियो का अध्ययन करना चाहिये।

एक अन्य सिद्धान्त
(An alternate theory)

कुछ वर्षो से अनेक लेखको ने सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त की आलोचना की है। इन लेखको मे प्रोफेसर हिक्स (Professor Hicks) और एलन (Allen) प्रमुख है। सर्वप्रथम यह कहा गया है कि सीमात उपयोगिता के सिद्धान्त में यह माना गया है कि उपभोक्ता किसी एक वस्तु की उपयोगिता को अन्य वस्तुओ से अलग पृथक रूप से जान सकता है। परन्तु प्राय ऐसा नही होता है। किसी व्यक्ति के लिये एक वस्तु की उपयोगिता अन्य अनेक वस्तुओ के आधार पर निर्धारित की है। दूसरे इस सिद्धान्त मे माना गया है कि उपयोगिता को नापा जा सकता है। किसी वस्तु की उपयोगिता को नापने के लिये ऐसी बहुत-सी बातो को मान्यता के रूप मे मान लिया जाता है, जिनके सही होने मे सन्देह है और जो मूल्य निर्धारित करने के लिये आवश्यक नही होती है। प्रोफेसर हिक्स के मतानुसार यदि उपभोक्ता के व्यवहार का अध्ययन किया जाय तो पता चलता है कि उपभोक्ता एक प्रकार की वस्तुओ की अपेक्षा दूसरे प्रकार की वस्तुओ को अधिक पसन्द करता है। अर्थशास्त्रियो के लिये केवल इतना ही आवश्यक है कि वह इस तथ्य पर ध्यान दे। इस सम्बन्ध मे उपयोगिता या किसी वस्तु से प्राप्त सन्तोष के विषय मे कुछ और कल्पना करने की आवश्यकता नही है। यदि मूल्य के सिद्धान्त पर इस आधार पर विचार किया जायगा तो उपयोगिता के सिद्धान्त की अपेक्षा कम और अपेक्षाकृत कम जटिल मान्यताओ का सामना करना पड़ेगा।

सीमात पसन्द का सिद्धान्त (The theory of marginal preference)—मान लो कि एक ऐसा व्यक्ति है, जिसको कुछ रुपयो की आय प्राप्त होती है। वह इस आय को अनेक वस्तुओ को खरीदने मे व्यय करना चाहता है। यह व्यक्ति भी अन्य व्यक्तियो की तरह अनेक वस्तुओ की एक निश्चित मात्रा का उपभोग करने

का आदी है। अपने परिवार के रहन-सहन के स्तर के आधार पर उस व्यक्ति ने अपने व्यय का निश्चित स्तर स्थिर कर लिया है। अपने व्यय की मात्रा पूर्व निर्धारित सीमा के अन्तर्गत रखने के लिये वह समय-समय पर कुछ वस्तुओ पर व्यय कम करके अन्य वस्तुओ पर अधिक व्यय करता है। वह अपने व्यय की मदो मे यथासभव सुधार करने का प्रयत्न करता रहता है।

इस व्यक्ति को यह मालूम होता है कि अनेक ऐसी वस्तुएं है, जिन पर व्यय किया जा सकता है। उदाहरण के लिये वह यह निश्चय कर सकता है कि गाडी के अड्डे तक पहुँचने के लिये कुछ अधिक दूर तक पैदल चला जाय और यातायात पर खर्च होनेवाली थोडी रकम बचाकर उससे अपने परिवार के लोगो को सिनेमा दिखाये। या वह अपने कपडों पर कम खर्च करके कुछ रुपया बचाने का प्रयत्न कर सकता है और इस बचत से वह अपनी पत्नी को उसकी वर्षगाँठ पर कुछ उपहार भेट कर सकता है। इन सभी सभावनाओ पर विचार करने के बाद वह कुछ निर्णय कर सकता है। एक बार निर्णय कर लेने के बाद वह व्यक्ति अ की कम मात्रा खरीद कर ब की अधिक मात्रा खरीदता है। इससे हम इस परिणाम पर पहुचते है कि वह व्यक्ति अ की अपेक्षा ब को अधिक पसन्द करता है। इसके लिये इसकी आवश्यकता नही पडती है कि अ तथा ब की उपयोगिता को नापने की कठिन क्रिया सम्पन्न की जाय। इस प्रकार यदि हमें यह मालूम हो कि वह व्यक्ति अ पर १० रुपया कम और ब पर १० रुपया अधिक व्यय करता है, तो हम केवल यही कहेगे कि वह १० रुपये के ब को १० रुपये के अ से अधिक पसन्द करता है।

यदि व्यय की मदो मे इस सुधार के बाद वह व्यक्ति अपने व्यय मे कुछ और परिवर्तन नही करता है, तो हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि वस्तुओ के इस प्रतिस्थापन के बाद १० रुपये के अ और ब को वह समान रूप से पसन्द करता है और अ के स्थान पर ब की ओर अधिक मात्रा के उपयोग से उसे कुछ लाभ नही दिखाई देता। इसलिये यह कहा जा सकता है कि इन दो वस्तुओ के सम्बन्ध मे उसकी पसन्द सीमात तक पहुच गयी है।

प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Marginal rate of substitution)-उक्त उदाहरण से प्रकट है कि जब व्यक्ति के सामने १० रुपये के अ और १० रुपये के ब मे निर्वाचन करने की समस्या उपस्थित हुई तो उसने अ की अपेक्षा ब को अधिक पसन्द किया। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि १० रुपये का ब १० रुपये के अ की अपेक्षा अधिक उपयुक्त समझा गया। परन्तु एक बार यह पसन्द निर्धारित हो जाने पर इनकी परस्पर सम्बन्धित पसन्दो में परिवर्तन हुआ और ब की मात्रा मे अतिरिक्त वृद्धि होने से उसके प्रति व्यक्ति की रुचि घटने लगी, जब कि अ की मात्रा मे कमी होने के कारण उसके प्रति व्यक्ति की रुचि बढने लगी। इन वस्तुओ के प्रति व्यक्ति की पसन्द मे इतना परिवर्तन हुआ कि वह अब अ के स्थान पर ब का उपभोग करने के लिये तैयार

नही रहा। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति मे व्यक्ति को जितना पसन्द अ है उतना ही ब है। इन दोनो वस्तुओ के प्रति उसकी रुचि समान है और किसी एक के स्थान पर दूसरे का उपयोग नही किया जायगा। जब दो वस्तुओ के लिये व्यक्ति की सापेक्षिक पसन्द बराबर है, तब इनमे से एक वस्तु का दूसरे वस्तु से क्या अनुपात है, इसे प्रतिस्थापन की सीमान्त दर का नाम दिया गया है।

प्रतिस्थापन की सीमात दर दो वस्तुओ की उन दो छोटी इकाइयो के आनुपातिक सम्बन्ध को कहते है, जिनको उपभोक्ता समान रूप से पसन्द करता है। अ के लिये ब की प्रतिस्थापन की सीमात दर ब की वह मात्रा है, जो अ की एक छोटी इकाई के बराबर ही पसन्द की जाती है। उक्त उदाहरण मे १० रुपये के ब और १० रुपये के अ के लिये उपभोक्ता की पसन्द बराबर है। मान लो कि अ की एक इकाई की कीमत २ रुपया है और ब की एक इकाई की कीमत ५ रुपया है। ऐसी स्थिति मे उपभोक्ता अ की ५ इकाइयो को उतना ही पसन्द करता है, जितना ब की दो इकाइयो को। इसलिये अ के लिये ब की प्रतिस्थापन की सीमात दर निम्नलिखित हुई —

$$\frac{\text{अ की ५ इकाइया}}{\text{ब की २ इकाइयाँ}} \quad \text{या } \frac{5}{2}$$

ब और अ की कीमतो का आनुपातिक सम्बन्ध $\frac{5}{2}$ के बराबर है। इसलिये अ के लिये ब की प्रतिस्थापन की सीमात दर उनकी कीमतो के अनुपात के बराबर अर्थात् $\frac{5}{2}$ के बराबर हुई। अ के स्थान पर ब के उपयोग मे ब की प्रतिस्थापन की सीमात दर निम्नलिखित हुई —

$$\frac{\text{अ की एक इकाई}}{\text{ब की वह मात्रा जो अ की एक इकाई के बराबर पसन्द की जाती है}} = \frac{\text{ब की कीमत}}{\text{अ की कीमत}}$$

ह्रासोन्मुख प्रतिस्थापन की सीमान्त दर (Diminishing marginal rate of substitution)—उपयोगिता के सिद्धान्त मे यह बताया गया है कि एक व्यक्ति के पास किसी वस्तु की जितनी ही अधिक मात्रा होती है, उसकी सीमान्त उपयोगिता कम होती जाती है। क्रमागत उपयोगिता ह्रास-नियम का स्थान यहा ह्रासोन्मुख प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ने ग्रहण कर लिया है। एक व्यक्ति के पास ब की जितनी ही अधिक और अ की जितनी कम मात्रा होती है, यदि उसमे ब की मात्रा मे वृद्धि हो और अ की मात्रा मे कमी हो तो ब की प्रत्येक बढ़ी हुई इकाई से जो उपयोगिता प्राप्त होगी वह अ की प्रत्येक कम होती हुई इकाई की उपयोगिता के मुकाबले कम होगी। दूसरे शब्दो मे यह कह सकते है कि एक व्यक्ति के पास किसी वस्तु की मात्रा मे वृद्धि होती जाय तो इसकी दूसरे वस्तु के बदले प्रयुक्त की जानेवाली प्रत्येक इकाई की प्रतिस्थापन की सीमान्त उपयोगिता की दर घटती जायगी। अ के बदले ब की जितनी अधिक इकाइयो को बढ़ाया जायगा अ के लिये ब की प्रतिस्थापन

उपयोगिता की सीमान्त दर कम होती जायगी। जब अ के लिये ब की प्रतिस्थापन उपयोगिता की सीमान्त दर ५/२ है, तब उपभोक्ता इस बात के लिये उदासीन है कि ब की दो इकाइयो के स्थान पर अ की ५ इकाइयो का त्याग किया जाय या इसके विपरीत। परन्तु यदि एक बार वह ब की २ इकाइयो के बदले अ की ५ इकाइयो की उपयोग कर लेता है तो फिर वह इस बात से सहमत नही होगा कि ब की दो इकाइयो के बदले अ की ५ इकाइयो का त्याग किया जाय। चूकि उसके पास अ की जितनी मात्रा थी, वह कम हो गई है, इसलिये अ की प्रत्येक इकाई के लिये उसका पसन्द बढ गई है, जब कि ब की प्रत्येक अधिक इकाई की उपयोगिता घटती जाती है, क्योकि उसके पास ब की पहले से ही २ इकाइयाँ है। अ की ५ इकाइयो के त्याग मे जो हानि होगी ब की दो इकाइयाँ उसकी पूर्ति नही कर सकेगी। परन्तु यह सम्भव है कि वह ब की २ और इकाइयो के स्थान पर अ की ३ इकाइयो का उपयोग पसन्द करे। यह ऐसी स्थिति है, जब वह ब की २ इकाइयो या अ की ३ इकाइयो को बराबर ही पसन्द करता है और अ के लिये ब की प्रतिस्थापन उपयोगिता की दर ३/२ होगी। यदि एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु का उपयोग किया जाय तो प्रतिस्थापित वस्तु की मात्रा में वृद्धि होने और पहली वस्तु की मात्रा मे कमी होने के साथ ही प्रतिस्थापित वस्तु की प्रतिस्थापन उपयोगिता की सीमान्त दर घट जाती है।

इस रीति का एक लाभ यह है कि यह सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त के अपेक्षा अधिक यथार्थवादी है। यह सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त से इस अर्थ मे भी भिन्न है कि इसमे यह नही कहा गया है कि ब वस्तु की माँग केवल उपभोक्ता की पसन्द पर निर्भर करती है। इसके विपरीत इस सिद्धान्त मे इस तथ्य को स्पष्टरूप से स्वीकार किया गया है कि किसी वस्तु की माँग केवल उस वस्तु के लिये उपभोक्ता की इच्छा पर ही नही बल्कि उन अन्य वस्तुओ पर भी निर्भर करती है, जिन्हे उपभोक्ता अपनी आय से खरीदना चाहता है या खरीदता है।

उपभोक्ता की बचत का नियम (A note on the doctrine of consumer's surplus)—उपभोक्ता की बचत का नियम घटती उपयोगिता के नियम से बनाया गया है। हम किसी वस्तु की जो कीमत देते है, वह केवल सीमात उपयोगिता बतलाती है, पूर्ण उपयोगिता नही। केवल सीमान्त मात्रा पर जिसे खरीदार किसी तरह खरीदने को राजी हो जाता है, कीमत ठीक उतनी तृप्ति के बराबर होती है, जितनी वह उस मात्रा से पाने की आशा करता है। लेकिन वह जो दूसरी मात्राएं खरीदता है, उन पर उसे अधिक तृप्ति मिलती है। इन मात्राओ के लिये वह जितनी कीमत देता है, उससे अधिक देने को तैयार हो जायगा। वस्तुएँ खरीदने से उपभोक्ता को जितनी तृप्ति मिलती है और उनके लिये दाम देने से उसे जितनी तृप्ति छोड देनी पडती है, इन दोनो का अतर उपभोक्ता की बचत का आर्थिक नाप है। उपभोक्ता को जो 'अधिक' तृप्ति मिलती है, वही उसकी बचत है। यह

घटती उपयोगिता के नियम से बना है।

'अधिक' तृप्ति क्या है? खरीदी हुई वस्तुओ की उपयोगिता और न खरीदी हुई वस्तुओ की उपयोगिता का जो अन्तर है, वही यह 'अधिक' तृप्ति है। यदि उसे इच्छित वस्तु न मिलती तो वह अपना द्रव्य अन्य वस्तुओ पर खर्च करने को वाध्य होता। परन्तु इनमे उसे पहले के बरावर तृप्ति न मिलती।

अपने विचारो को ठीक-ठीक प्रकट करने के लिये हम जूतो का उदाहरण ले ले, जिसे हम पीछे दे चुके है। जैसा पहले कह चुके है, जूते के पहले जोडे से एक व्यक्ति को कम से कम ६ रुपये के बरावर तृप्ति मिलती है। दूसरे जोडे से वह ५ रुपये के बरावर 'अधिक' तृप्ति की आशा करता है। तीसरे जोडे से वह ४ रुपये के बरावर 'अधिक' तृप्ति की आशा करता है। मान लो, वह किसी तरह ३ जोडे जूते खरीदने पर राजी होता है, अधिक नही। चूंकि बाजार मे एक कीमत से अधिक नही हो सकती, अर्थात् केवल एक दाम हो सकता है, इसलिये प्रत्येक जोडे का मूल्य सीमान्त जोडे के हिसाव से तय होगा, अर्थात् ४ रुपया होगा। वह तीनो जोडो के लिये कुल मिलाकर १२ रुपये (४×३) देगा। परन्तु हमारे उदाहरण के अनुमान के अनुसार वह तीनो जोडो से १५ रुपये (६+५+४) के बरावर तृप्ति पाता है। इसलिये अपनी खरीद पर वह जो खर्च करता है, उससे ३ रुपये (१५रु०-१२रु०=३रु०) अधिक की तृप्ति का भोग करता है। **इसलिये पूर्ण उपयोगिता और सीमान्त उपयोगिता मे जो अन्तर होता है, उससे खरीदी हुई मात्राओं का गुणा करने से जो गुणनफल आता है, वही उपभोक्ता की वचत बतलाता है।**

किसी वस्तु के उपभोग से किसी व्यक्ति को जो उपभोक्ता की वचत होती है, वह इस अध्याय के चित्र न० १९ मे दर्शायी गई है। इस चित्र मे अस रेखा पर कीमत अथवा

चित्र न १९

उपयोगिता नापी गई है। अ ब रेखा पर मात्राएँ नापी गई हैं। किसी वस्तु की अक मात्रा के लिये एक मनुष्य कक¹ कीमत देने के लिये तैयार है। अर्थात् वह कम से कम अकक¹घ¹ मात्रा में तृप्ति की आशा करता है। नही तो वह कक¹ के बराबर कीमत देने को तैयार नही होगा। अख मात्रा के लिये खख¹ के बराबर कीमत देगा। अर्थात् वह कख मात्रा से कखख¹क¹ मात्रा मे तृप्ति पाने की आशा करता है। खग मात्रा के लिये वह गग¹ कीमत देगा। अर्थात् उसने वह खगग¹ख¹ क्षेत्रफल के बराबर तृप्ति पाने की आशा करता है। मान लो, वह अक, कख और खग ये तीन मात्राएं गग¹ कीमत पर खरीदता है। तो वह जितनी कुल रकम खर्च करता है, वह अगग¹घ क्षेत्रफल (अर्थात् अग×गग¹) के बराबर है। इसलिये अक, कख और खग मात्राओ के खरीदने से उपभोक्ता को घग¹क¹घ¹ क्षेत्र के बराबर अधिक तृप्ति मिलती है।

मार्शल के मतानुसार अधिक तृप्ति की मात्रा हमारे सामने आनेवाले अवसरों (opportunities) या हमारे मन के भावों पर निर्भर होती है। आधुनिक सभ्यता मे बहुत-सी वस्तुएं बडी आसानी से और कम खर्च पर बनती है। इसलिये वह कम कीमत पर बिकती भी है। परन्तु उनसे जो तृप्ति मिलती है, वह बहुधा बहुत अधिक होती है। परन्तु किसी वस्तु से हमे जो तृप्ति मिलती है, कम सभ्य जातियों मे उसका महत्त्व नही होता है। उनके लिये वह प्राय व्यर्थ उत्पादन होता है।

उपभोक्ता की बचत मापने मे कठिनाइयाँ (Difficulties of measuring, consumer's surplus)—द्रव्य के रूप मे उपभोक्ता की बचत मापने में कई प्रकार की कठिनाइयो का सामना करना पडता है। यह बात मान लेनी पड़ती है कि कम या अधिक द्रव्य खर्च करने से द्रव्य की सीमांत उपयोगिता पर उसका असर नही पडता है। यदि पडता भी है तो इतना कम पडता है कि हमें उस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। यह अनुमान तभी उचित हो सकता है, जब किसी वस्तु पर किया गया खर्च कुल आमदनी का बहुत छोटा भाग हो। परन्तु जब हम ऐसी वस्तुओ पर विचार करते है, जिन पर हमारी आमदनी का काफी बडा भाग खर्च होता है, तब खर्च की कमी-वेशी द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता पर अवश्य असर डालेगी और उसे बदल देगी, तब हमारे नतीजो मे अन्तर पड जायगा।

हमें यह मानना पड़ता है कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता कभी नहीं बदलेगी।

यह कठिनाई वास्तविक है और इससे इस सिद्धान्त की उपयोगिता पर काफी रोक लग जाती है। इस सम्बन्ध मे मार्शल का कहना है कि यह कठिनाई तो सभी आर्थिक समस्याओ मे पाई जाती है। इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे यह कोई विशेष बात नहीं है। जे० आर० हिक्स[1] ने इस कठिनाई का एक हल बतलाया है। उसका मत है

[1] *J. R. Hicks*, Value and Capital, pp. 38-41

कि इस समस्या पर विचार करने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि उपभोक्ता की बचत को एक प्रकार से आमदनी म वृद्धि समझना चाहिये, जो किसी वस्तु की कीमत गिरने से प्राप्त होती है। मान लो, एक मनुष्य १० पैसे जोडे के हिसाब से ४ जोडे सन्तरे खरीदेगा। यदि कीमत गिरती है और सतरा ६ पैसे जोडा हो जाता है, फिर भी वह ६ पैसे जोडे के हिसाब से केवल ४ जोडे सतरे खरीदने का निश्चय करता है। तब उसकी द्रव्य-आमदनी चार आना बढ जायेगी और उसे वह अन्य वस्तुओ पर खर्च कर सकता है। सम्भावना तो यह है कि सतरो की कीमत अपेक्षाकृत अधिक गिरने के कारण वह सतरो पर ही अधिक खर्च करेगा और अन्य वस्तुओ पर कम। इससे उसे लाभ ही होगा। जो भी हो, हम यह कह सकते है कि सतरो की कीमत गिरने के कारण उसे जो उपभोक्ता की बचत होगी, वह चार आने से कम न होगी।

दूसरी कठिनाई तब पैदा होती है, जब बाजार मे किसी वस्तु के कुल उपयोग के आधार पर उसकी उपभोक्ता की कुल बचत द्रव्य के रूप में निश्चित करनी पडती है।

सम्पत्ति भेद

जिस बाजार मे धनी और गरीब सभी वर्ग के लोग होगे, उसमे गरीब आदमी के लिये एक रुपया खर्च करना धनी आदमी की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके सिवा यदि सब आदमियो की आमदनी बराबर भी होती तो भी उनकी रुचि और विचारों में तो अतर होता ही। एक आदमी किसी वस्तु की इच्छा दूसरे आदमी की अपेक्षा

रुचि भेद

अधिक प्रगाढता से कर सकता है। तब वह उसके लिये अधिक कीमत देने के लिये तैयार होगा। अथवा, जो कीमत दूसरा आदमी देगा, वही कीमत देकर भी पहले आदमी की तृप्ति अधिक होगी, क्योंकि इसकी इच्छा अधिक प्रगाढ थी। लेकिन ये कठिनाइयाँ ऐसा नही है, कि इनके कारण बाजार मे उपभोक्ता की बचत न मापी जा सके। क्योंकि जब हम बहुत से लोगो का उदाहरण लेते है, तब हम औसत नियम (Law of Averages) की सहायता ले सकते है। एक तरफ जहाँ थोडे मे धनी लोगो की सम्पत्ति और रुचि रहती है। वहाँ दूसरी तरफ सन्तुलन के लिये बहुत से लोगो की गरीबी रहती है। इसलिये हम इन धन और रुचि के विभेदो को छोड सकते है।

पैटन आदि कुछ अर्थशास्त्रियो का मत है कि कोई मनुष्य जब किसी वस्तु की अतिरिक्त मात्राएँ खरीदता है, तब पहले खरीदी हुई मात्राओ के लिये उसकी इच्छा की प्रगाढता कम हो जाती है। अर्थात् जैसे-जैसे उसकी खरीद बढती जाती

जैसे-जैसे हम अधिक मात्राएँ खरीदते हैं वैसे-वैसे पहले की मात्राओं की उपयोगिता कम होती जाती है।

है, वैसे-वैसे तृप्ति के साथ-साथ पहले खरीदी हुई मात्राओं के लिये उनकी माँग की कीमत (demand price) कम होती जाती है। इसलिये हमारे उपभोक्ता की बचत का माप सही नहीं होगा। हमने पीछे जूतों का उदाहरण लिया था। उसे ही देख लिया जाय। जब मनुष्य जूते का पहला जोड़ा खरीदता है, तब उसकी उपयोगिता घटने लगती है और जब वह तीसरा जोड़ा खरीदता है, तब उसकी उपयोगिता ३ रुपये से बहुत कम हो जाती है। "लेकिन इस बात की संभावना बहुत कम है कि उपभोग में थोड़ा-सा अन्तर होने से पहले की मात्राओं की उपयोगिता पर अधिक प्रभाव पड़ेगा। क्योंकि उपभोग की 'समानता' (common ness) में अन्तर अनुभव करने के लिये उपभोग में काफी अन्तर की आवश्यकता है।"[1] इसके सिवाय इस आलोचना में एक त्रुटि यह भी है कि माँग के अनुसार कीमत (demand price) की सूची बनाने की रीति के बारे में भी यह गलत विचार करती है। यह आलोचना तब उचित होती, जब माँग के अनुसार कीमत की सूची मात्राओं की औसत उपयोगिता बतलाती। हमने जो उदाहरण लिया है, उसमें जूते के पहले जोड़े की उपयोगिता ६ रुपया है। जब वह दूसरा जोड़ा ५ रुपये में खरीदता है, तब दोनों जोड़ों की औसत उपयोगिता साढ़े पाँच रुपया होगी। जब वह तीसरा जोड़ा ४ रुपये में खरीदता है, तब एक जोड़े की औसत उपयोगिता पाँच रुपये होती है। इसलिये यदि हमारी माँग की रेखा केवल औसत उपयोगिता दिखाती, तब यह होता कि जैसे-जैसे कोई मनुष्य किसी वस्तु की अधिकाधिक मात्राएँ खरीदता, वैसे-वैसे प्रारम्भिक मात्राओं की औसत उपयोगिता कम होती जाती। लेकिन माँग के अनुसार कीमत की सूची अधिक मात्राओं की अधिक उपयोगिता (additional utility) दर्शाती है, खरीदार को दूसरे जोड़े से जो उपयोगिता मिलती है, वह पहले जोड़े से मिली हुई उपयोगिता के अलावा (in addition to) है और वह उपयोगिता ५ रुपये के बराबर है। इसलिये बाद की खरीद का पहले की खरीद पर प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिये यह आलोचना सही नहीं है।

एक अन्य कठिनाई यह है कि हम माँग-रेखा के प्रारम्भ के हिस्से नहीं खींच सकते क्योंकि वे शुद्ध अनुमान पर अवलम्बित होते हैं। यदि हमें यह खतरा है कि कोई वस्तु

[1] "It is highly improbable that a *slight change* in the consumption of anything would have an appreciable influence upon the utility of the earlier increments, because a considerable change in consumption is necessary to make us aware that any change in 'commonness' has taken place"

—*Pigou*, "Some Remarks on Utility" in the Economic Journal, 1903,

हमें विलकुल नही मिलेगी तो हम यह नही कह सकते कि हम उस वस्तु की कितनी कीमत देने को तैयार होगे। उदाहरण के लिये यदि ससार भर मे केवल एक जोडा जूता प्राप्त होता तो हम नही कहते कि उसके लिये कहाँ तक कीमत मिल सकती हे। केवल अनुमान द्वारा हम कोई भी कीमत वता सकते है। इसलिये किसी वस्तु की माँग-कीमत केवल अनुमान-मात्र है। हम उसका अनुमान चालू दामो के आस-पास लगाते है। लेकिन यह कठिनाई केवल सैद्धान्तिक (theoretical) है और वह भी वहुत जटिल नही है। क्योकि जहाँ तक नियम के प्रत्यक्ष का प्रश्न है, वह तो चालू दामो के आस-पास की कीमतो मे फरक आने से उपयोगिता मे जो अन्तर आते हैं, उनसे सम्वन्धित है। कीमतो में छोटे-छोटे अन्तर होने से उपभोक्ता की कुल वचत में जो अन्तर होता है, उससे हमारा सम्बन्ध है। उसे हम ऐसे मापना चाहते है, जैसे करो की समस्या में। और इस काम के लिये हमारी माँग के अनुसार कीमत की सूची काफी तर्कपूर्ण रहती है, यद्यपि उसमे कुछ त्रुटियाँ होती है।

हम पूरी माँग-सूची नहीं जानते।

सहायक अथवा वदली जानेवाली वस्तुओ के कारण भी उपभोक्ता की वचत मापने में कुछ कठिनाई होती है। वदली जानेवाली वस्तुओं का सवसे अच्छा उदाहरण चाय और कॉफी है। यदि चाय विलकुल न मिले तो लोग काफी पीने लगे, यद्यपि चाय न मिलने से उनकी तृप्ति मे वहुत हानि होगी। परन्तु यदि चाय और कॉफी दोनो न मिले तो हानि वहुत होगी, क्योकि फिर चाय के वदले कॉफी नहीं मिलेगी। इसलिये यदि यह मान ले कि चाय नहीं मिलेगी तो कॉफी तो मिलेगी और इस स्थिति मे दोनो की जो उपयोगिता है, उससे अधिक एक साथ चाय और कॉफी मिलने की पूर्ण उपयोगिता अधिक है। इसलिये यदि हम चाय और कॉफी मे मिलनेवाली कुल उपयोगिता को जोड दे तो भी दोनो के उपभोग मे मिलनेवाली कुल तृप्ति को वह नही माप सकती। इस कठिनाई को हल करने के लिये मार्शल का कहना है कि ऐसी स्थिति मे हमे चाय और कॉफी दोनो वस्तुओं को एक वस्तु मानना चाहिये और इन वदली जानेवाली वस्तुओ को एक माँग-सूची मे रखना चाहिये।

वदली जानेवाली वस्तुओं के कारण कठिनाइयाँ।

जो वस्तु जीवन की आवश्यकताओ मे शामिल है, उनकी पूर्ण उपयोगिता निश्चित करनी वहुत मुश्किल है। ऐसी वस्तुओ के उपभोग से जो तृप्ति मिलती है, वह वहुधा प्रतिकूल (negative) होती है। अर्थात् स्वय उनके उपभोग से कोई तृप्ति नही मिलती है। परन्तु यदि वे न मिले तो हमे वडी भारी कमी मालूम होगी। उनसे वंचित रहने के वजाय हम अपना सब कुछ उन पर खर्च करने को तैयार हो जायँगे। इस स्थिति मे उपभोक्ता की वचत अनिश्चित रहती है। केवल जीवन की आवश्यकता-

जीवन की आवश्यकताओ से मनुष्य को प्रतिकूल और अनिश्चित तृप्ति मिलती है।

के सम्बन्ध मे नही, वरन् कृत्रिम आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे भी यही हाल होता है। इस कठिनाई को हल करने के लिये हम पेटन (Patten) का सुझाव मान कर 'सकटमय अर्थनीति' (Pain Economy) और 'आनन्दमय अर्थनीति' (Pleasure Economy) दो भेद कर सकते है। पहली स्थिति वह है, जब मनुष्य केवल अपनी जीवन-रक्षा के लिये अत्यन्त आवश्यक वस्तुओ का उपभोग करता है, जिससे भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी से उनकी रक्षा हो सके। किसी प्रकार की तृप्ति पाने के लिये नही, वरन् कष्ट से बचने के लिये वह उपभोग करता है। पहली स्थिति के समाप्त होते ही दूसरी स्थिति आरम्भ होती है। तब मनुष्य के पास जीवन-रक्षा के लिये काफी साधन रहते है। यहाँ से अनुकूल तृप्ति आरम्भ होती है। उपभोक्ता की बचत केवल दूसरी स्थिति मे मापी जा सकती है। इसी प्रकार जो वस्तुएं केवल व्यक्तिगत प्रदर्शन या भद्रता की इच्छा पूरी करती है, उनकी भी उपभोक्ता की पूर्ण बचत बहुधा अनिश्चित होती है। ये वस्तुएं (जैसे हीरे) केवल उच्चता और भद्रता देने का मूल्य रखती है। यदि उनकी ऊँची कीमत घट कर काफी कम हो जाय तो उनसे प्राप्त होनेवाली तृप्ति भी काफी कम हो जायगी। उदाहरण के लिये यदि इस समय हीरो की कीमत काफी कम हो जाय तो हीरा पहिननेवालो के लिये उसकी उपयोगिता कम हो जायगी। इसलिये इस प्रकार की वस्तुओ की कीमत कम होने से उपभोक्ता की बचत की मात्रा हमेशा नही बढती।

उच्चता प्रदर्शन की वस्तुओं की उपभोक्ता की बचत अनिश्चित होती है।

प्रोफेसर निकलसन (Prof. Nicholson) को उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त की उपयोगिता मे गहरा सन्देह है। वे कहते है कि यह कहने से क्या लाभ कि १०० पौण्ड प्रति वर्ष की आय १००० पौण्ड प्रति वर्ष की आय के बराबर है। उनके मतानुसार यह सिद्धान्त कोरा मनगढन्त और मनमाना है। परन्तु ऐसा कहना सही नही है। यदि हम भूतकाल की परिस्थितियो की तुलना वर्तमान काल से करे अथवा एक देश की परिस्थितियो की तुलना दूसरे देश की परिस्थितियो मे करें तो हमे अपनी परिस्थितियो से जो लाभ प्राप्त होते है, उन्हे हम इस सिद्धान्त की सहायता से जान सकते है। जैसा मार्शल ने कहा है यदि हम मध्य अफ्रीका और लन्दन की परिस्थितियो की तुलना करे तो हमे इस प्रश्न के औचित्य का पता चलेगा। जीवन के बहुत से सुख जो लन्दन मे प्राप्त है मध्य अफ्रीका मे देखने को नही मिलते। तब हम कह सकते है कि मध्य अफ्रीका मे १००० पौण्ड की आमदनीवाला मनुष्य उतना ही सुखी है, जितना लन्दन मे १०० पौण्ड की आयवाला मनुष्य। इसके सिवाय यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि हम आमदनी की कुल उपयोगिता नही जानना चाहते। हम तो यह जानना चाहते है कि दामो मे थोडी-बहुत कमी होने से उपभोक्ता की बचत में

सिद्धान्त मनगढन्त और असत्य है।

या अतर पडता है और इसके लिये 'मार्शल' ने जो उपाय वतलाया है, वह यद्यपि सीमित कार्य-शक्तिवाला है, परन्तु उससे हमारा काम चल सकता है।[1]

यद्यपि उपभोक्ता की वचत का माप सदा ठीक-ठीक करना सभव नही है, परन्तु यह सिद्धान्त भी विलकुल कल्पित नही है। चूँकि वह हमारे साधारण विचारो के आधार पर वना है, इसलिये वह मनगढन्त अथवा असत्य नही है। "चाहे यह वचत उपभोग की निम्न श्रेणी मे साफ जाहिर न हो, जहाँ केवल जीवन-रक्षा की वस्तुएँ खरीदी जाती है, अथवा चाहे यह उपभोग की उच्च श्रेणी मे साफ जाहिर न हो, जहा केवल प्रदर्शन की इच्छा की तृप्ति की जाती है। परन्तु जिसे हम जीवन का सच्चा आनन्द कह सकते है, वहाँ यह साफ जाहिर होता है।"

नियम की सैद्धान्तिक और प्रत्यक्ष उपयोगिता (Theoretical and practical utility of the doctrine)—उपभोक्ता की वचत के सिद्धान्त की रचना सवसे पहले मार्शल ने की थी। उसने लिखा है कि उसका ध्येय परिचित भापा को ठोस रूप मे रखना था, जिससे कि अधिक अध्ययन मे सहायता मिल सके। इस सिद्धान्त से हमे यह महत्त्वपूर्ण वात मालूम होती है कि किसी वस्तु की कीमत उससे प्राप्त होनेवाली तृप्ति को हमेशा ठीक-ठीक नही वतलाती। वह केवल इस वात का सन्तोषप्रद उत्तर देती है कि नमक जैसी साधारण उपयोग की वस्तुओ की उपयोगिता और कीमत मे वहुत अन्तर होता है और इस सिद्धान्त की सहायता से हम इस अन्तर को एक मोटे तरीके मे जान सकते है। दूसरे इस सिद्धान्त की सहायता से हम वास्तविक आय की मात्राओ की तुलना कर सकते है। अथवा यह जान सकते है कि किसी देश के एक मनुष्य को दूसरे देश के मनुष्यो की अपेक्षा जीवन की कितनी सुविधाये प्राप्त है। अथवा भूतकाल की अपेक्षा वर्तमान समय मे जीवन की कितनी सुविधाये प्राप्त है। तीसरे एकाधिकार प्राप्त व्यवसायी के लिये यह सिद्धान्त उपयोगी हो सकता है। वह अपनी वस्तुओ के दाम इतने ऊँचे रख सकता है कि किसी खरीदार के लिये उपभोक्ता की वचत की गुंजाइश न रह जायगी। परन्तु उस हालत में उसे खरीदारो के विरोध अथवा सार्वजनिक हस्तक्षेप का खतरा हो सकता है। इसलिये अपना एकाधिकार

यह उपयोगिता और कीमत मे अन्तर मापता है।

विभिन्न समय की परिस्थितियों की तुलना कर सकते है।

एकाधिकार सिद्धान्त की समस्याओ के सम्बन्ध मे यह महत्त्वपूर्ण है।

[1] "The engine which he (Marshall) has devised, though limited in range, can therefore often serve us"

—Pigou, "Some Remarks on Utility," in the Economic Journal, 1903 p 66

सुरक्षित रखने के लिये वह दाम कुछ कम रखेगा, जिसमे उपभोक्ता की बचत के लि गुंजाइश अवश्य रहे। यदि उसमे सार्वजनिक हित की भावना है, अथवा अपने व्यवसा प्रसार की चिन्ता है, तब तो वह अवश्य दाम कुछ कम रखेगा जिससे उपभोक्ता की बच के लिये कुछ भी गुंजाइश रहे। किसी वस्तु के दाम कम रखने से लोग उसके उपभो से परिचित हो जायेंगे, जिससे उसकी मॉग बढ़ेगी और अन्त मे उसमे मनाफा भी अधि प्राप्त होगा। चौथे, जैसा मार्शल ने कहा है कि विभि देशो के लोगो को अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय से जो लाभ होता है, उसे उपभोक्ता की बचत के रूप मे मापा जा सकता है। पाचवे, कर सम्बन्धी समस्याओ के अध्ययन मे इस

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय लाभ मापने मे सहायक है।

सिद्धान्त का विशेष महत्त्व है, इसकी सहायता से अर्थसम्बन्धी यह जान सकता है कि यदि चीनी अथवा नमक पर कुछ आना प्रति मन कर अधिक बढा दिया जावे तो उपभोक्ता की बचत मे कितनी हानि होगी। यदि वस्तु ऐसी है कि उसमें क्रमागत वृद्धि का नियम लागू होता है तो उस पर जितना कर लगेगा उससे अधिक कीमत मे वृद्धि कर दी जायगी। परन्तु यदि उस वस्तु पर क्रमागत ह्रास का नियम लागू है, तो कीमत मे वृद्धि कर की मात्रा से कम रहेगी। इसलिये दूसरी स्थिति की अपेक्षा पहली स्थिति मे उपभोक्ता की बचत की हानि अधिक होगी। साधारणत अन्य वस्तुओ के यथास्थिति रहने से पहले की अपेक्षा दूसरी स्थिति का कर अधिक अवाछनीय है। परन्तु जहॉ व्यवसाय मे सरकारी सहायता दी जाती है, वहां पहली स्थिति का कर अवाछनीय होगा। इस प्रकार उपभोक्ता की बचत के सिद्धान्त का सम्बन्ध अर्थशास्त्र के कई महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो और समस्याओ से है और अर्थशास्त्र मे सत्य की शोध का वह एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

करो मे परिवर्तन होने का प्रभाव मापने मे सहायक है।

अध्याय १८

पूर्ति की शर्तें और उत्पादन की लागत

(Conditions of Supply and Cost of Production)

पूर्ति की लोच (Elasticity of Supply)—जैसा मॉग के सम्बन्ध में देखा था, वैसा पूर्ति के सम्बन्ध मे भी, किसी वस्तु की पूर्ति की लोच अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये। दाम मे परिवर्तन होने से बिक्री की वस्तु की मात्रा मे जिस दर से परिवर्तन होगा, उसे पूर्ति की लोच कहते है। कीमत मे परिवर्तन होने से अलग-अलग वस्तुओं की बिक्री की मात्रा की पूर्ति मे भी अलग-अलग परिवर्तन होंगे। जब कीमत मे थोड़ा-सा परिवर्तन होने से वस्तु की पूर्ति मे बहुत परिवर्तन होता है, तो उसे लोचदार पूर्ति कहते हैं। परन्तु कीमत मे थोडी-सी घटी-बढी होने से जब पूर्ति मे अधिक घटी-बढी नही होगी, तब पूर्ति को बेलोच कहते है।

पूर्ति की लोच किन बातों पर निर्भर है ?—वह इस बात पर निर्भर है कि वस्तु टिकाऊ है या जल्दी नष्ट होनेवाली है। दूध, मछली और ताजी तरकारियाँ जल्दी नष्ट होनेवाली वस्तुएँ हैं। इसलिये थोडे समय मे इनकी पूर्ति बेलोच होती है। क्योंकि नष्ट होने के पहले इनका बिक जाना जरूरी है। इसी प्रकार श्रम या मजदूरी बहुत शीघ्र नष्ट होनेवाली वस्तु है। अल्पकाल मे उसकी पूर्ति भी बहुत बेलोच होती है। यदि टिकने वाली वस्तुओं के दाम कम हो तो उनकी पूर्ति कुछ समय के लिये बढाई जा सकती है। इसलिये अल्पकाल मे उनकी पूर्ति लोचदार होती है। दूसरे यदि किसी वस्तु का उत्पादन बढाने मे पहले की अपेक्षा लागत खर्च काफी अधिक लगता है, तो उस वस्तु की पूर्ति बेलोच होगी। क्योंकि सम्भव है कि पूर्ति अधिक न बढ सके। यह क्रिया कृषि तथा इसी प्रकार के उद्योगो मे होती है, जहाँ घटती उत्पत्ति का नियम लागू होता है। यदि उनकी निर्माण कला मे कोई परिवर्तन नही होता है तो इन वस्तुओं की पूर्ति प्राय. बेलोच होती है। तीसरे, मशीन द्वारा बनने वाली वस्तुओं की पूर्ति अल्पकाल मे उस हद तक लोचदार हो सकती है, जिस हद तक लगी हुई मशीनों की उत्पादन शक्ति है। परन्तु जब मशीनें शक्ति भर काम करने लगे तो उसके बाद सभव है कि मूल्य मे थोड़ी-सी वृद्धि होने से पूर्ति न बढे। उत्पादन की मशीनें और यन्त्र जितने बारीक और उलझी हुई होते है तब उत्पादन मे जितनी अधिक दक्ष कारीगरी की आवश्यकता पडती है, उसी वस्तु की पूर्ति भी उतनी अधिक बेलोच होगी। परन्तु दीर्घकाल मे ऐसी वस्तुओं की पूर्ति लोचदार हो सकती है, क्योंकि तब उत्पादन बढाने के लिये नयी मशीनों का लगाना सम्भव हो जायगा। चौथे, यदि किसी वस्तु का उत्पादन बढती उपज के नियम

के अनुसार होता है, तो उस वस्तु की पूर्ति बहुत लोचदार होगी। माँग बढाने के साथ-साथ उसके दाम भी बढेंगे। साथ ही उत्पादन बढाने मे लागत खर्च कम होगा। इसलिये ऐसी वस्तुएं बनाने वालो को बहुत अधिक लाभ होगा। पर यह ध्यान रहे कि घटती उपज की परिस्थितियो मे भी यदि कीमत घटी रही है, तो पूर्ति बेलोचदार हो सकती है। क्योंकि शायद उत्पादक इस कारण से उत्पादन कम न करे कि कम उत्पादन मे लागत खर्च अधिक होगा। अत मे किसी वस्तु की पूर्ति बहुत हद तक उसके उत्पादन की यान्त्रिक कला (technical conditions of production) पर निर्भर होगी। यदि उत्पादन की क्रिया सीधी-सादी है, जिसमे अचल पूंजी की अधिक आवश्यकता नही पडती, तो माँग के अनुसार पूर्ति आसानी से बढाई जा सकती है वडे और कीमती यन्त्रो को काम मे लाने वाले उद्योगो में यह जल्दी सम्भव नहीं होता इसलिये उत्पादन सकट का प्रभाव कही अधिक होता है। जिन उद्योगो में उत्पादन के लिये विशेष यन्त्रो की आवश्यकता होती है, उनमें पूर्ति माँग के अनुसार जल्दी नहीं बढाई जा सकती।

उत्पादन का लागत मूल्य (Costs of production)—पूर्ति की लोच निर्धारित करने के लिये इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि जब किसी वस्तु की कम या अधिक मात्रा का उत्पादन किया जा रहा है, तब उसके लागत मूल्य पर क्या प्रभाव पडता है, अर्थात् उसमे क्या परिवर्तन होता है। एक अकेला फर्म कितने माल का उत्पादन करेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि उत्पादन का लागत मूल्य कितना होगा और इस लागत मूल्य का उत्पादन की दर से क्या सम्बन्ध है।

उत्पादन का लागत मूल्य क्या है? जब कोई कारखाना किसी वस्तु का उत्पादन करने का निश्चय करता है तो उसे कुछ खर्च करना पडता है, अर्थात् उत्पादन के लिये कारखाने और मशीनो पर कच्चे माल की खरीद मे ओर मजदूरो की मजदूरी इत्यादि मे उसे रुपया खर्च करना पडता है। उत्पादन के विभिन्न साधनो को अपने व्यवसाय के काम मे लाने के लिये उत्पादक को जो कुल रकम खर्च करनी पडती है, वही उत्पादन का लागत मूल्य है। इन साधनो मे ये खर्च शामिल रहते है—(१) कच्चे माल के दाम, (२) मजदूरो की मजदूरी, (३) व्यवसाय मे जो पूंजी लगी है, उस पर व्याज (४) इमारतो का किराया, (५) मकान, मशीनो तथा पूंजी सम्बन्धी अन्य वस्तुओ पर मूल्य ह्रास पूरक खर्च (depreciation charges), (६) प्रबन्ध विभाग के कर्मचारियो का वेतन, (७) व्यवसाय सम्बन्धी अन्य खर्च, जैसे, विज्ञापन, बिक्री इत्यादि और (८) कर इत्यादि की अदायगी। केवल आवश्यक वस्तुओ की खरीद तथा विभिन्न सेवाओ के लिये चुकाई गई रकम ही उत्पादन के लागत मूल्य मे शामिल नहीं है, इनमे उन वस्तुओ और सेवाओ या उन उत्पादन के साधनो का मूल्य (imputed value) भी शामिल है, जिनका वह कारखाना उपयोग तो करता है, पर प्रत्यक्ष रूप से उनकी कीमत नही चुकाता है। इसलिये इसमे कारखाने के मालिक-मैनेजर का

यह वेतन भी शामिल है, जो वास्तव मे उसे दिया तो नही जाता, परन्तु वह उसका हकदार होता है। इसमे उस भूमि का अनुमानित लगान भी शामिल है, जिस पर कारखाना स्थापित किया गया है और जिसका मालिक स्वय कारखाने का मालिक ही है। इसके अलावा कारखाने का सस्थापक अपने व्यवसाय मे जितनी भी पूंजी लगाता है, उस पर चालू दर से जितना व्याज होगा वह भी इसमे शामिल है।

प्रमुख लागत मूल्य और पूरक लागत मूल्य (Variable or prime and fixed or supplementary costs)—यदि हम इन विभिन्न लागत मूल्यों पर विचार करे तो पता चलेगा कि इनमे से कुछ मे उत्पादन के साथ-साथ परिवर्तन होता जाता है और कुछ ऐसे है, जिनमे उत्पादन मे कितना ही परिवर्तन हो जाने पर भी कुछ बदलाव नही आता है। इनमे से पहले प्रकार के लागत मूल्यो को प्रमुख लागत मूल्य कहते है और दूसरे प्रकार के लागत मूल्यो को पूरक लागत मूल्य।[1]

पूरक लागत मूल्य . मे खर्च की वे मदे शामिल है, जिनमे उत्पादन की मात्रा मे परिवर्तन होने के साथ ही बदलाव आ जाता है। उत्पादन की मात्रा बढाने से कच्चे माल की भी अधिक मात्रा मे आवश्यकता होती है और यह भी सभव है कि अधिक मजदूरो को नियुक्त करना पडे। जब उत्पादन शून्य के बराबर होता है, अर्थात् उत्पादन नही होता, उस समय पूरक लागत मूल्य की ये मदे भी नही होती है।

पूरक लागत मूल्य म वे मद शामिल है, जिनमे उत्पादन घटाने या बढाने से किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है। यह ऐसी लागत है, जो उत्पादक को या फर्म को उत्पादन बिलकुल न होते हुए भी पूरी करनी पडती है। जब कोई फर्म कुछ समय के लिये उत्पादन बन्द कर देता है, तब भी यह व्यय करना पडता है। व्यवसाय की भाषा मे इसे ऊपरी खर्च (Overhead costs) कहते है। इसमे लगान, लम्बे समय के लिये उधार ली हुई रकम पर व्याज, मशीनो का मूल्य ह्रास-पूरक खर्च, प्रधान अफसरो के वेतन और भत्ते, कार्यालय तथा कर्मचारियो पर किया जानेवाला खर्च इत्यादि शामिल है। इसके साथ ही प्रमुख लागत मूल्य (Variable costs) मे वेतन, कच्चे माल का दाम और बिजली इत्यादि पर किया जानेवाला सामान्य व्यय शामिल है।

उक्त लिखित दो तरह के लागत मूल्यो मे बहुत थोडा अन्तर है। यह अन्तर कुछ अंशो मे फर्म की नीति पर और कुछ अंशो मे विचाराधीन अवधि पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिये, यदि कोई फर्म मजदूरो को पांच वर्ष के ठेके पर नियुक्त करता है तो फिर चाहे कुछ उत्पादन करे या न करे उसे इस ठेके की अवधि मे मजदूरो की मजदूरी चुकाते रहना पडेगा। ऐसी स्थिति मे यह मजदूरी पूरक लागत मूल्य के अन्तर्गत आ जायगी। दूसरे, लागत मूल्यो का यह भेद केवल अल्पकाल मे ही लागू होता है। यदि

[1] प्रमुख लागत मूल्य (prime costs) और पूरक लागत मूल्य (supplementary costs) शब्दों का प्रयोग पहले पहल प्रोफेसर मार्शल ने किया था।

पर्याप्त दीर्घकाल की दृष्टि से विचार किया जाय तो सभी लागत मूल्य प्रमुख लागत मूल्य के अन्तर्गत आ जायँगे। इस दीर्घकाल मे फर्म केवल उत्पादन की पूर्व मात्रा के लिये ही आवश्यक श्रम और कच्चे माल का उपयोग नही करेगा, वल्कि वह अपने कारखाने के पूर्व आकार को बदलेगा, मशीनो तथा अन्य यन्त्रो मे वृद्धि करेगा और उत्पादन मे होनेवाली वृद्धि के अनुरूप ही अपने प्रवन्धक विभाग के कर्मचारियो में भी वृद्धि करेगा। इसलिये दीर्घकाल मे सभी लागत मूल्य उत्पादन के साथ ही परिवर्तित होते जाते हे और प्रमुख लागत मूल्य के अन्तर्गत आ जाते हे।

औसत पूरक लागत मूल्य और औसत प्रमुख लागत मूल्य (Average fixed cost and average variable costs)—कुल पूरक लागत मूल्य में और कुल प्रमुख लागत मूल्य मे कुल उत्पादन का भाग देने से औसत पूरक लागत मूल्य और औसत प्रमुख लागत मूल्य प्राप्त होते है। इस प्रकार हम उत्पादन की एक इकाई का औसत पूरक लागत मूल्य और औसत प्रमुख लागत मूल्य निकाल सकते है। कुल औसत लागत और उत्पादन के सम्वन्ध का विश्लेपण करने के लिये इस भेद का विशेष महत्व है।

जैसे-जैसे किसी फर्म का उत्पादन वढता जाता है, उसका औसत पूरक लागत मूल्य निरन्तर घटता जाता है। यह पूरक लागत मूल्य की परिभाषा मे ही स्पष्ट हो जाता है। पूरक लागत मूल्य उसे कहते है, जिसमे उत्पादन मे वृद्धि या कमी होने से कुछ प्रभाव नही पडता है। माना कि जिस समय फर्म का उत्पादन शून्य है, उस समय उस
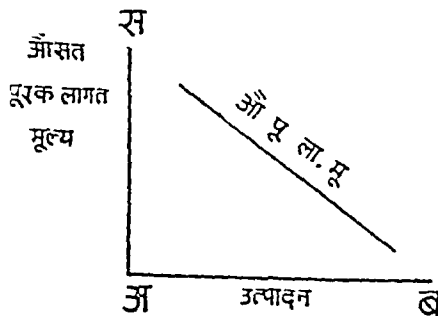
चित्र न० २०

का कुल पूरक लागत मूल्य १,००० रुपया है। फर्म चाहे १०० इकाई का उत्पादन करे या २०० इकाइयो का, उसका पूरक लागत मूल्य समान रहेगा, अर्थात् वह १,००० रुपया ही रहेगा। जव कुल उत्पादन १०० है, तव औसत पूरक लागत मूल्य (१०० रु०—१००) १० रुपया होगा, जव कुल उत्पादन २०० है, तव औसत पूरक लागत मूल्य ५ रुपया होगा।

औसत प्रमुख लागत मूल्य (जो कुल प्रमुख लागत मूल्य मे उत्पादन का भाग देने से प्राप्त होता है) में उत्पादन की निम्न मात्रा में वृद्धि होने के साथ पहले गिराव

आयेगी। आमतोर पर फर्म स्थापित करते समय उनके निश्चित उत्पादन की मात्रा का भी अनुमान लगा लिया जाता है और इसी दृष्टि से उसका सगठन किया जाता है। यदि फर्म का उत्पादन इस निर्धारित उत्पादन की मात्रा से कम हो तो उत्पादन मे वृद्धि होने के साथ ही ओसत प्रमुख लागत मूल्य मे उत्पादन मे वृद्धि की दर की अपेक्षा मन्द गति मे वृद्धि होगी। यदि उत्पादन मे १० प्रतिशत वृद्धि हो जाती है तो ओसत प्रमुख लागत मूल्य मे ५ प्रतिशत की वृद्धि हो सकती है। दूसरे शब्दो मे पूर्व निर्धारित उत्पादन की मात्रा से नीचे उत्पादन मे वृद्धि होने के साथ ओसत प्रमुख लागत मूल्य मे गिरावट दृष्टिगोचर होती है।

ऐसा क्यो होता है ? वास्तव मे तथ्य यह है कि इतने कम उत्पादन मे श्रम की पूरी क्षमता का लाभ नही उठाया जा सकता है। उसकी पूर्ण उत्पादन शक्ति का उपयोग नही होता है। इसलिये जब उत्पादन मे वृद्धि होने लगती है, तो श्रम की पूर्व मात्रा ही इस वृद्धि के लिये पर्याप्त होती है। परन्तु जब उत्पादन उस सीमा तक पहुँच जाता है जितनी कि फर्म की उत्पादन क्षमता है तो इसके बाद औसत प्रमुख लागत मूल्य में उत्पादन मे और वृद्धि की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि होने लगती है। ऐसी स्थिति में
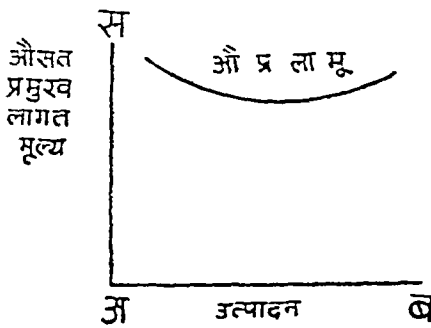
चित्र न० २१

यह सम्भव है कि फर्म को ऐसी मशीनो और ऐसे मजदूरो का उपयोग करना पडे जिनकी कार्यक्षमता कम है और जिन्हे कुशल नही कहा जा सकता है। इसलिये जब उत्पादन फर्म की कुल उत्पादन शक्ति की सीमा तक पहुँच जाता है, औसत प्रमुख लागत मूल्य मे वृद्धि होने लगती है। इस अध्याय के चित्र न० २१ में यह स्थिति 'U' आकार की रेखा से दर्शायी गयी है।

कुल औसत लागत (Average total cost)—कुल लागत मे कुल उत्पादन का भाग देने से कुल औसत लागत मालूम हो जाती है। चूकि कुल लागत में पूरक लागत मूल्य और प्रमुख लागत मूल्य शामिल होते है, इसलिये कुल औसत लागत औसत पूरक लागत मूल्य और ओसत प्रमुख लागत मूल्य के कुल जोड के बराबर होगी। अर्थात्—

कुल औसत लागत=ओसत पूरक लागत मूल्य+औसत प्रमुख लागत मूल्य।

कुल ओसत लागत का उत्पादन मे क्या सम्बन्ध है? हम जानते हैं कि उत्पादन में वृद्धि होने के साथ ही औसत पूरक लागत मूल्य मे गिरावट आने लगती है, जब कि औसत प्रमुख लागत मूल्य मे पहले तो गिरावट आती है, परन्तु उत्पादन की एक निश्चित मात्रा तक पहुँचने के बाद उसमे वृद्धि आरम्भ हो जाती है। इसलिये जब तक उत्पादन शून्य से बढकर उस स्थिति तक नही पहुँच जाता, जब कि औसत प्रमुख लागत मूल्य में वृद्धि होना आरम्भ हो जाती है, कुल ओसत लागत मे कमी होती जाती है। यदि औसत पूरक लागत मूल्य मे औसत प्रमुख लागत मूल्य मे होनेवाली वृद्धि की अपेक्षा गिरावट की दर अधिक हो, तब भी कुल औसत लागत मे गिरावट आती रहेगी। परिणाम-स्वरूप जैसे-जैसे उत्पादन मे वृद्धि होती है, तो औसत पूरक लागत मूल्य में जो कमी होती है, उससे कहीं अधिक ओसत प्रमुख लागत मूल्य मे वृद्धि होती जाती है। कुल औसत लागत मे पहले वृद्धि होगी, परन्तु यह वृद्धि बहुत धीरे-धीरे होगी और फिर एक सीमा तक पहुँचने के बाद यह वृद्धि तेजी से होने लगेगी।

इस सम्बन्ध को निम्न तालिका मे दिखाया गया है।

अल्पकालिक उत्पादन और लागत

उत्पादन	कुल पूरक लागत मूल्य	कुल प्रमुख लागत मूल्य	औसत पूरक लागत मूल्य	औसत प्रमुख लागत मूल्य	कुल औसत लागत	सीमान्त लागत
१	१० रुपया	२ रुपया	१० रुपया	२ रुपया	१२ रुपया	
२	१० रुपया	३·८ रुपया	५ रुपया	१·९ रुपया	६·९ रुपया	१·८ रुपया
३	१० रुपया	५·३ रुपया	३·३ रुपया	१·८ रुपया	५·१ रुपया	१·५ रुपया
४	१० रुपया	६·४ रुपया	२·५ रुपया	१·६ रुपया	४·१ रुपया	१·१ रुपया
५	१० रुपया	७·५ रुपया	२·० रुपया	१·५ रुपया	३·५ रुपया	१·१ रुपया
६	१० रुपया	९·६ रुपया	१·६ रुपया	१·६ रुपया	३·२ रुपया	२·१ रुपया
७	१० रुपया	१२·८ रुपया	१·४ रुपया	१·८ रुपया	३·२ रुपया	३·२ रुपया
८	१० रुपया	१७·२ रुपया	१·२ रुपया	२·१ रुपया	३·४ रुपया	४·४ रुपया
९	१० रुपया	२३·३ रुपया	१·१ रुपया	२·६ रुपया	३·७ रुपया	६·१ रुपया
०	१० रुपया	३०·० रुपया	१·० रुपया	३·० रुपया	४·० रुपया	६·७ रुपया

सीमान्त लागत (Marginal Cost)—सीमात लागत कुल लागत मे वह परिवर्तन है, जो उत्पादन मे एक इकाई मात्रा बढ जाने के फलस्वरूप होता है। यदि दो इकाइयो का उत्पादन करने की कुल लागत १३ ८ रुपया है और तीन इकाइयो का उत्पादन करने की कुल लागत १५ ३ रुपया है, तो तीसरी इकाई की सीमान्त लागत १ ५ रुपया हुई। सीमान्त लागत वास्तव मे कुल लागत मे हुए परिवर्तन की माप है। यह कुल औसत लागत या औसत पूरक लागत मे हुए परिवर्तन की माप नही है। चूँकि परिभाषा के अनुसार जब कुल उत्पादन मे एक इकाई का और उत्पादन किया जाय तो पूरक लागत मूल्य मे किसी प्रकार की वृद्धि नही होती है, इसलिये सीमान्त लागत मे केवल प्रमुख लागते ही शामिल है। परन्तु यह औसत प्रमुख लागत मूल्य से भिन्न है, जैसा कि उक्त तालिका मे दर्शाया गया है। तीसरी इकाई की सीमान्त लागत १ ५ रुपया है, जब कि उसकी औसत प्रमुख लागत १ ८ रुपया है। औसत प्रमुख लागत कुल प्रमुख लागत में कुल उत्पादन का भाग देकर प्राप्त करते है। जब कि सीमान्त लागत कुल उत्पादन मे एक इकाई के बढके फलस्वरूप कुल प्रमुख लागत मे हुई वृद्धि के बराबर होती है।
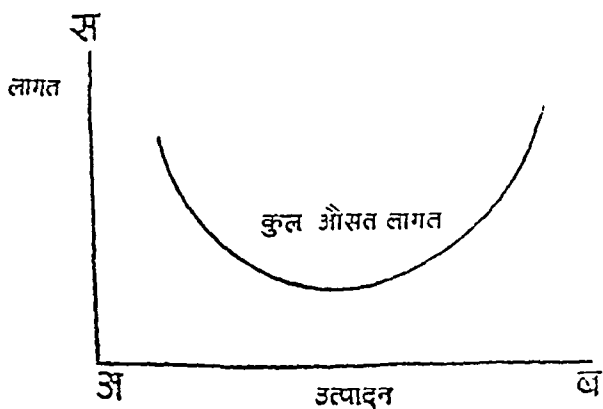
चित्र न० २२

औसत और सीमॉत लागत मे सम्वन्ध (Relation between average and marginal cost)—अल्पकालिक लागत और उत्पादन की पहले दी गई तालिका के अनुसार यह स्पष्ट है कि छठी इकाई तक सीमात लागत कुल औसत लागत से कम है और आठवी इकाई से सीमान्त लागत कुल औसत लागत से बढ गई है। कुल औसत लागत भी सातवी इकाई तक गिरती गई है, परन्तु इसके बाद उसमे भी क्रमश वृद्धि होती है। इससे स्पष्ट है कि जब तक सीमात लागत कुल औसत लागत से कम है, तब तक उत्पादन मे वृद्धि होने के साथ औसत लागत गिरती जायगी। जब सीमान्त लागत कुल औसत लागत से अधिक होगी तो औसत लागत मे भी उत्पादन मे वृद्धि होने के साथ ही वृद्धि होती जायगी। यह स्थिति अगले ग्राफ मे दर्शायी गई है। जब तक

ल औसत लागत की वक्र-रेखा दाहिनी ओर को नीचे झुकती जाती है, तब तक सीमात लागत की वक्र-रेखा कुल ओसत की वक्र-रेखा के नीचे होनी चाहिये। जिस विन्दु से कुल औसत लागत की वक्र-रेखा ऊपर उठने लगती है, वहाँ पर सीमात लागत की वक्र-रेखा उसके ऊपर रहेगी। ये दोनो वक्र रेखाएँ एक दूसरे को उस विन्दु पर काटती है, जो कुल औसत लागत की वक्र-रेखा का सवसे निचला विन्दु है।
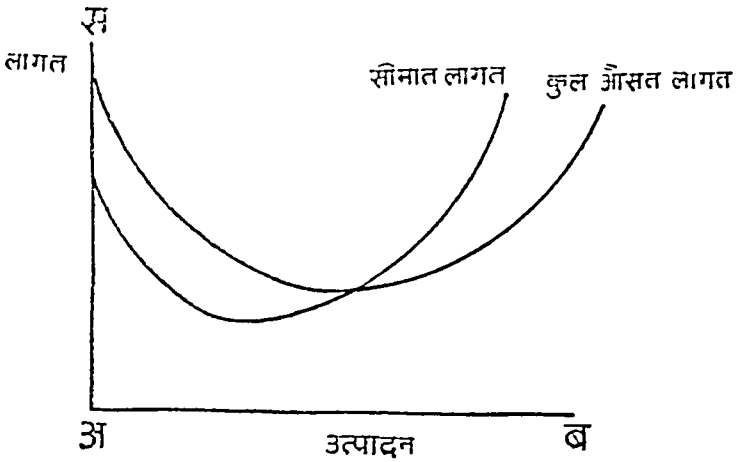
चित्र न० २३

कुल औसत लागत और सीमात लागत के वीच जो सम्बन्ध है, उसके विपय में कुछ वातो पर प्रकाश डाला जा सकता है। जव तक सीमात लागत कुल औसत लागत से अधिक है, तव तक कुल औसत लागत मे वृद्धि होती रहेगी। इसके विपरीत जब तक सीमात लागत औसत लागत से कम है, तव तक औसत लागत में कमी होती रहेगी। जव सीमात लागत ओसत लागत के वरावर होगी, उस समय कुल ओसत लागत सबसे कम होगी।

वास्तविक लागत और अवसर प्राप्त लागत (Real cost and opportunity cost)—अभी तक हमने उत्पादन की लागत का अध्ययन मुद्रा के रूप में किया है। परन्तु अर्थशास्त्रियो ने और गहराई मे जाने का प्रयत्न किया है। माँग रेखा के पीछे उपयोगिता और उपभोक्ता की रुचि रहती है। परन्तु धन की जो लागत होती है, अर्थात् जो धन खर्च किया जाता है, उसके पीछे क्या रहता है? दूसरे शव्दो मे हम कह सकते है कि उत्पादन मे जो धन-लागत रहती है, उसके पीछे अतिम रूप मे कौन-सी लागत रहती है? प्राचीन अँगरेज अर्थशास्त्रियों की परिपाटी के अनुसार मार्शल का विचार था कि धन की लागत ही उत्पादक की वास्तविक लागत थी। अर्थात् धन की वचत, उसके उपभोग के लिये ठहरना तथा कई प्रकार के श्रम सब धन में आ जाते है। परन्तु उत्पादन की वास्तविक लागत जानने के लिये हमें

वास्तविक लागत के सिद्धान्त की आलोचना

श्रमिको और व्यवसायियो के परिश्रम और पुंजीपतियो के पूँजी सग्रह सम्वन्धी त्याग और प्रयत्नो का जानना आवश्यक है।

यह तो सभी जानते है कि काम करने मे परिश्रम और कष्ट होता है। यह भी मानते है कि वचत का अर्थ वर्तमान उपभोग का त्याग है। परन्तु इनमे और लागत धन मे उचित सम्बन्ध क्या है? यदि काम करना कम आवश्यक ओर अधिक आनन्द-दायक हो जाय तो क्या मजदूरी की दर गिर जायगी। यह सभव नही है। फिर सब प्रकार के श्रम मे कष्ट नही होता है, जिस काम मे ऊँचा पारिश्रमिक मिलता है, वह प्रायः आनन्ददायक होता है। इसलिये यह कहना उचित नही है कि परिश्रम के रूप मे जो वास्तविक लागत हो, वह मूल्य (value) के रूप मे अंश रूप में चुका दी जाती है। इसके सिवाय हमारे पास ऐसा कोई मापदण्ड नही है, जिसके द्वारा हम मजदूरी के वास्तविक मूल्य की तुलना वचत के वास्तविक मूल्य से कर सकें। मजदूर के परिश्रम मे जो कष्ट होता है और वचत करनेवाले को उपभोग का जो त्याग करना पड़ता है, उन दोनो चीजो की तुलना हम इस प्रकार करेगे कि जिससे हम निश्चय-पूर्वक यह कह सके कि उपभोक्ता को वचत करने के फलस्वरूप जो एक रुपया व्याज में मिलता है, वह वास्तव मे उस एक रुपये के बराबर है, जो परिश्रम करने के फलस्वरूप एक मजदूर को मिलता है? हम दोनो चीजो के मूल्य की तुलना किस प्रकार कर सकते है? इस प्रकार वास्तविक लागत मूल्य का सिद्धान्त हमे 'केवल एक श्रमपूर्ण दलदल और सदेहकारक विचारधारा मे फँसा देता है।[1]

वास्तविक लागत के सिद्धान्त की आलोचना

तब प्रश्न उठता है कि यदि मुद्रा द्वारा हम श्रम का कष्ट और उपभोग का त्याग नही माप सकते तो फिर रुपयो की दर मे लागत मूल्य किस प्रकार निश्चित किया जाता है? किसी व्यवसाय की लागत वह रकम होती है, जो उत्पादन के साधनो को अन्य उत्पादन व्यवसायों से उस व्यवसाय मे खीचने के लिये दी जाती है। हमारे साधन कम और सीमित है। इसलिये जब हम किसी एक व्यवसाय मे उत्पादन के प्रत्येक साधन की एक निश्चित मात्रा लगा देते है, तो उसका अर्थ यह होता है कि अन्य उत्पादक कार्यो मे से उतने साधन घट जाते है और जब हम किसी व्यवसाय मे उत्पादन के साधन खीचना चाहते है, तो हमे कम से कम उन्हे उतनी रकम देनी ही पड़ेगी, जितनी उन्हे अन्य व्यवसायो मे मिलती। यह रकम ही वर्तमान व्यवसाय की वस्तुओं के उत्पादन की लागत है। सक्षेप मे अवसर प्राप्त लागत के सिद्धान्त का सार यही है।

अवसर प्राप्त लागत का अर्थ

इसलिये मजदूरो को एक स्थान मे अथवा एक व्यवसाय मे किस दर से मजदूरी मिलेगी, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर रहेगी कि उन्हे अन्य स्थानो अथवा अन्य

[1] Henderson, Supply and Demand, p 164

व्यवसायो मे किस हिसाव से मजदूरी मिलेगी। एक व्यवसाय मे पूँजी को किस दर से ब्याज या मुनाफा मिलेगा, वह इस पर निर्भर होगा, कि अन्य व्यवसायो में उसे किस दर से प्राप्त होगा। उत्पादक व्यवसायी को प्रवन्धकर्त्ता की दृष्टि मे क्या मुनाफा मिल सकता है, यह इस वात पर निर्भर होगा कि यदि वह किसी ज्वाइट स्टॉक कम्पनी मे वेतनभोगी प्रवन्धकर्त्ता की तरह काम करता तो उसे क्या वेतन मिलता। इस प्रकार लागत का अर्थ 'निष्कासित चुनाव' (displaced alternative) की लागत होता है। किसी वस्तु का उत्पादन करने की लागत उस वस्तु से निश्चित नही होगी, जो अभी वनी ही नही, वल्कि जो उत्पादन के कुछ साधन खीच कर या निष्कासित करके वनाई जा सकती है। जो वस्तु उत्पन्न नही हुई वह उत्पन्न वस्तु की लागत है।

मुद्रा लागत अन्य व्यवसायो की लागत वतलाती है।

इसी प्रकार किसी व्यक्ति के लिये किसी वस्तु की उपयोगिता अन्य वस्तुओ पर निर्भर रहेगी, जिनका उपभोग उन्हे छोडना पडेगा। हमारी इच्छाएँ असीम है, परन्तु जीवन सीमित है और हमारे साधन भी सीमित है। इसलिये जव हम एक वस्तु के उपभोग का आनन्द लेते है, तो हमे अन्य कई वस्तुओ के उपभोग का आनन्द त्यागना पडता है। इस प्रकार मनुष्य का जीवन एक लगातार दुःखमय कहानी है। जव हम एक वस्तु प्राप्त करना चाहते है, तो उसके मूल्य मे हमे अन्य कई वस्तुएँ छोडनी पडती है। जव हम कुछ घण्टे काम करते है, तव उसके मूल्य के रूप मे कुछ घण्टो का आराम छोडना पडता है।

यह अवसर-प्राप्त लागत का सिद्धान्त है। 'किसी वस्तु की वास्तविक लागत अन्य कई ऐसी चीजो की पूर्त्ति कम करना है, जो वस्तु के उत्पादन मे काम आती है।' लागत प्राय उन रकमो के वरावर होती है, जो अन्य व्यवसाय मे लगे हुए उत्पादन के साधनो को प्राप्त होती। इसका अर्थ यह होता है कि साधनो की पूर्त्ति निश्चित अथवा सीमित होती है। यह वात सत्य है, क्योकि अर्थशास्त्र सीमित साधनो का अध्ययन करता है। कुछ लोगो का मत है कि यदि पूर्त्ति परिवर्त्तनशील हो तो वास्तविक लागत का सिद्धान्त लागत के सम्वन्ध मे सन्तोषप्रद उत्तर दे सकता है।'[1] लेकिन यदि पूर्त्ति निश्चित न होकर परिवर्तनशील भी हो तो अवसर-प्राप्त लागत का सिद्धान्त सत्य रहता है। 'उत्पादन मे भूमि की पूर्त्ति मे जो परिवर्त्तन होते है, उसके साथ-साथ भूमि के उपभोग सम्वन्धी जो उपयोग होते है, उनमे भी परिवर्त्तन होते रहते है।'[2]

[1] "The real cost of anything is the curtailment of the supply of other useful things which the production of that particular thing entail"
—*Edgeworth*, Papers relating to Political Economy, Vol III, pp. 56-64 Also *Robertson*, Economic Fragment, *p 21*.

[2] "Variation in the supply of land in production are accompanied by changes in the supply of land put to consumption uses"
—*Robbins*, "Certain aspects of the Theory of Costs," Economic Journal, March 1934, p. 24.

अध्याय ११

पूर्ण प्रतियोगिता में कीमत निर्धारण

(Price Determination in Perfect Competition)

हमने पिछले अध्यायो मे मॉग की रेखा की विशेपताओ और पूर्त्ति की स्थिति का अध्ययन कर लिया है और अब हम बाजार मे उत्पादित माल की कीमत निर्धारित करने वाली विधि की जॉच कर सकते है। हमारा विचार है कि उत्पादन की कीमत निर्धारित करने के सिद्धान्त का अगले अध्यायो मे अध्ययन किया जाय। पहले दो अध्यायो में इस बात पर विचार किया जायगा कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे वेची गई वस्तुओं का मूल्य किन बातो के आधार पर निर्धारित किया जाता है। तत्पश्चात् परस्पर निर्भर वस्तुओ की कीमत निर्धारित करने के विपय पर विचार किया जायगा। अत के दो अध्यायो में एकाधिकार तथा अपूर्ण प्रतियोगिता पर विचार किया जायगा।

कुछ आरम्भिक सिद्धान्त

हम अपने पाठको को पहले कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो से परिचित कराना चाहते हें। प्रत्येक व्यवसाय का उद्देश्य यह होता है कि अधिकतम नफा कमाया जाय। चूंकि नफा बिक्री की कुल आय और व्यवसाय की लागत के अन्तर के बराबर होता है, इसलिये अधिकतम नफा कमाना इस बात पर निर्भर रहता है कि यथासभव अधिक बिक्री की आय और व्यवसाय की लागत जहॉं तक सभव हो सके कम की जाय। यदि उत्पादन की लागत दी हुई हो तो नफा बिक्री से प्राप्त आय पर निर्भर करेगा। व्यवसाय मे उत्पादित माल की बिक्री से प्राप्त आय के लिये आय (Revenue) शब्द का प्रयोग किया जायगा। आगे हम कुल आय (Total Revenue), औसत आय (Averago Revenue) और सीमात आय (Marginal Revenue) के सिद्धान्तो की चर्चा करेंगे।

मान लो कि किसी वस्तु की मांग ऐसी है कि व्यापारी उसकी १० इकाइयों को २ रुपया प्रति इकाई की दर से बेच सकता है। उसकी कुल आय २० रुपया हुई। यदि वह ११ इकाइयां बेचना चाहता है, तो कीमत गिरकर १ रुपया १५ आना प्रति इकाई हो जायगी। इस स्थिति मे कुल आय २१ रुपया ५ आने के बराबर हुई। इस से स्पष्ट है कि ११वीं इकाई के बेचने से कुल आय मे केवल १ रुपये ५ आने की वृद्धि हुई जब कि एक इकाई की कीमत १ रुपया १५ आना है। इसलिये ११ वीं इकाई की सीमांत आय १ रुपया ५ आने के बराबर हुई। यदि वह १२ इकाइयां बेचता है और प्रत्येक इकाई की कीमत १ रुपया १५ आने की दर से वसूलता है तो कुल आय २२ रुपया ८ आने के बराबर होगी। इस प्रकार १२वीं इकाई की बिक्री से कुल आय में
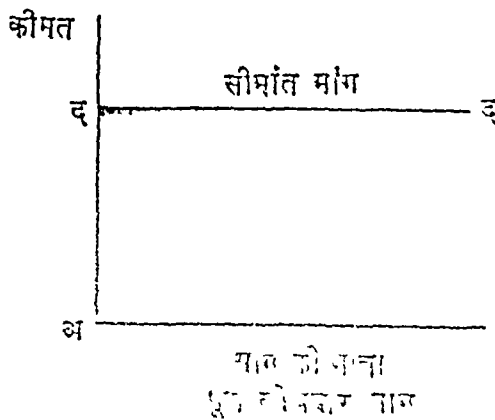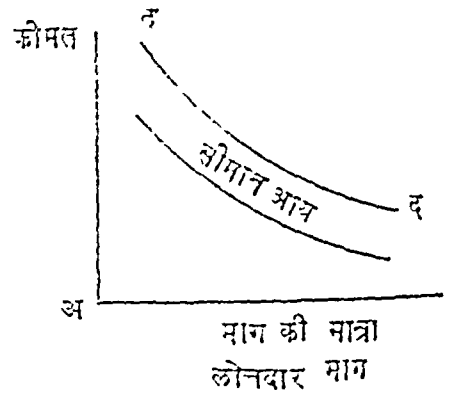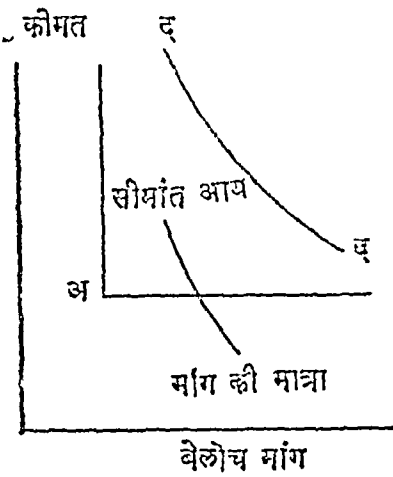
चित्र नं० २४

केवल १ रुपया ३ आने की वृद्धि हुई। इसलिये १२वीं इकाई की सीमान्त आय १ रुपया ३ आना हुई। किसी वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई बेच देने से कुल आय मे जो अन्तर आता है, वही सीमान्त आय के बराबर होता है।

जव किसी वस्तु की माँग की लोच एक से अधिक होती है, तो कीमतों में कमी होने
से विक्री की कुल आय मे वृद्धि होती है, अर्थात् कुल आय बढती है। ऐसी स्थिति मे
सीमान्त आय धनात्मक (positive) होगी। परन्तु यदि माग की लोच एक
से कम है तो कीमतो मे कमी होने से कुल आय मे भी कमी आ जायगी। ऐसी स्थिति
में सीमान्त आय ऋणात्मक (negative) होगी। जव माग की लोच एक के
वरावर होगी कुल आय समान रहेगी। कीमत मे किसी प्रकार का परिवर्तन उस पर
कुछ प्रभाव नही डालेगा और सीमान्त आय शून्य के वरावर होगी। अत मे यदि माँग
की लोच असीम (infinite) है, तो सीमान्त आय कीमत के वरावर या औसत
आय के वरावर होगी। इसके प्रमाण स्पष्ट है। जव मांग की लोच असीम होती है,
तो विक्रेता किसी भी वस्तु की अतिरिक्त इकाइयो को उसी कीमत पर वेच सकता है,
जिस कीमत पर उसने पहली इकाइयाँ वेची। अर्थात् जव वह ११वी या १२वी इकाई
वेचता है, तो कीमत मे किसी प्रकार की कमी नही आती है ओर वह २ रुपया प्रति
इकाई की दर से वेच देता है। चूंकि १०वी, ११वी और १२वी या इससे भी अधिक
इकाइयाँ २ रुपया प्रति इकाई की दर से विकती है इसलिये १० इकाइयो की विक्री पर
कुल आय २० रुपया, ११ इकाइयो की विक्री पर २२ रुपया ओर १२ इकाइयो की
विक्री पर २४ रुपया होगी। प्रत्येक स्थिति मे कुल आय मे केवल २ रुपया का अन्तर
आता है। इसलिये जव माँग की लोच असीम है, सीमान्त आय कीमत के वरावर होती
है। यह सव पहले तीन चित्रो मे दिखाया गया है।

पूर्ण प्रतियोगिता मे मूल्य
(Value under Perfect Competition)

इस विषय पर विचार करने से पहिले यह मान लेगे कि विचाराधीन वस्तु के बाजार
में पूर्ण प्रतियोगिता है। पूर्ण प्रतियोगिता होने के लिये इन शर्तों का पूरा होना आवश्यक
है कि (१) किसी वस्तु के विक्रेता और खरीदार काफी संख्या मे हो, (२) बाजार
में प्रत्येक विक्रेता समान वस्तु वेचे। वस्तु की किस्मो और गुणो मे भेद नही होना
चाहिये। वस्तु ऐसी हो जिससे खरीदार विभिन्न विक्रेताओ द्वारा वेची जानेवाली
वस्तुओ मे किसी प्रकार का भेद न कर सके ओर (३) सभी खरीदारो तथा विक्रेताओ
को वस्तु के भाव मालूम होने चाहिये, अर्थात् खरीदार को विभिन्न विक्रेताओ के भाव
मालूम होने चाहिये और उसे कम-से-कम भाव पर खरीदना चाहिये। ऐसी
प्रतियोगिता का बाजार बहुत कम स्थितियो मे मिल सकता है। यह सम्भव है कि
रुपया, जैसे गेहूं, धान के बाजार मे यह स्थिति पाई जाय, परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता
का बाजार आमतौर पर अपवादस्वरूप ही कहा जा सकता है।

पूर्ण प्रतियोगिता मे किसी वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित होते है
अवस्था पर समय के आधार पर विचार करना अधिक उपयुक्त होगा।

मे समय (time) के महत्त्व पर उचित जोर देनेवाला मार्शल ही पहला अर्थशास्त्री था। मार्शल ने चार प्रकार के समयो मे स्पष्ट भेद किया, (१) बहुत ही कम अवधि (extremely short period), (२) अल्पकाल (short period), (३) दीर्घकाल (long period) और अति दीर्घकाल (secular period)। पहली प्रकार की अवधि मे पूर्त्ति निश्चित (fixed) रहती है। इन अवधि में मल्य को बाजार मूल्य कहा जाता है। अल्पकाल मे पूर्त्ति निस्सन्देह अस्थिर रहती है, परन्तु यह पूर्त्ति फर्म के उत्पादन की उस मात्रा के बराबर होगी, जिसका फर्म अपनी मौजूदा मशीनो और कारखानो से इस अवधि मे उत्पादन कर सकता है। यह अल्पकालिक स्वाभाविक मूल्य है। दीर्घकाल मे अनेक वर्षो का समय निहित होता है, जिसमें उद्योग के अन्तर्गत फर्मो की सख्या और प्रत्येक फर्म का आकार बदल सकता है। इसलिये दीर्घकालिक पूर्त्ति का अर्थ उत्पादन की वह मात्रा है, जिसका नयी मशीने लगाकर और कुशल श्रम की अधिकाधिक मात्रा का उपयोग करके तथा अन्य तरीको से उत्पादन किया जा सकता है। यह दीर्घकालिक स्वाभाविक मूल्य है। अतिदीर्घकालिक में पूर्ति से तात्पर्य उत्पादन की उस मात्रा से होगा, जिसका नये आविष्कारो के प्रयोग में लाने, अन्य सुधार करने, पूंजी की और अधिक मात्रा जमा करने, जनसख्या बढने इत्यादि के साथ-साथ उत्पादन किया जायगा। हम अतिदीर्घकालिक की स्थिति पर विचार नही करेंगे, क्योकि उसमे कोई नया सिद्धान्त निहित नही है। आगे हम उन बातो पर विचार करेगे जिनसे बाजार मूल्य, अल्पकालिक स्वाभाविक मूल्य और दीर्घकालिक स्वाभाविक मूल्य निर्धारित किये जाते है।

बाजार मूल्य (Market Value)–किसी वस्तु का बाजार मूल्य वह है, जो बाजार मे थोडे समय के लिये रहता है और इस बीच उस वस्तु की पूर्त्ति लगभग निश्चित रहती है। इसके लिये जल्दी नष्ट होनेवाले पदार्थ दूध का उदाहरण सबसे अच्छा होगा। चूंकि दूध बहुत जल्दी नष्ट होनेवाला पदार्थ है, इसलिये प्रत्येक दिन बाजार मे दूध की जितनी मात्रा लाई जाती है, वह उसी दिन बिक जानी चाहिये। बाजार मे जो माल है, उसे घटाने-बढाने का अन्य तरीका नही है। इस प्रकार पूर्त्ति तो निश्चित है, इसलिये माँग के प्रभाव ही अधिकतर मूल्य निश्चित करेंगे। प्रत्येक वस्तु के लिये बाजार की एक निश्चित माँग होती है, जिससे पता चलता है कि दी हुई कीमत पर खरीदार वस्तु की कितनी मात्रा खरीदना चाहते है। यदि उस दिन दूध की माँग बढती है तो मूल्य भी एकदम बढ जायगा। दूध के उत्पादन खर्च का उस दिन मूल्य पर कोई प्रभाव नही पडेगा। माँग चाहे जैसी हो, परन्तु उसी दिन कुल माल का बिकना आवश्यक है। उस दिन अस्थायी साम्य स्थापित हो जायगा और उस साम्य पर सब माल बिक जायगा।

दूध और मछली की तरह सभी वस्तुएं शीघ्र नष्ट हो जानेवाली नही है। प्रतिदिन उपयोग मे लाई जानेवाली अनेक वस्तुएं इतनी कम टिकाऊ नही होती है और कुछ समय

तक उनकी कुछ मात्रा को बाद मे उपयोग करने के उद्देश्य से रखा जा सकता है। विक्रेता जिस मूल्य को उपयुक्त समझते है, यदि बाजार मूल्य उससे नीचे गिरता है तो विक्रेता यह निश्चय कर सकते है कि उस वस्तु के कुछ भाग को सुरक्षित रख दिया जाय ओर भविष्य में किसी समय बेचा जाय। यदि किसी कारणवश वस्तु की माँग बढती है और अस्थायी काल के लिये उसकी कीमत बढ जाती है तो विक्रेता माल को भविष्य मे बेचने के लिये सुरक्षित रखने के बजाय सभी उपलब्ध मात्रा को बाजार मे ले आने की कोशिश करेंगे। इस प्रकार कीमतो मे वृद्धि कुछ हद तक रुक जायगी। किसी वस्तु को भविष्य के उपयोग के लिये स्टॉक मे जमा करने या सारी उपलब्ध मात्रा को विक्रय के लिये बाजार मे ले आने की प्रवृत्ति पर उस वस्तु के अल्पकालिक स्वाभाविक मूल्य के सम्बन्ध मे विक्रेता की धारणा का प्रभाव पडता है। यदि विक्रेता को यह आशा होती है कि वस्तु की कीमत मे वर्त्तमान कीमत के अपेक्षा निकट भविष्य मे वृद्धि होनेवाली है, तो वह उनको अपने गोदामो मे जमा कर देंगे, जिसके फलस्वरूप वस्तु की बाजार-कीमत बढने लगेगी। यदि विक्रेता यह समझता है कि निकट भविष्य मे उस वस्तु की कीमत गिरने वाली है, तो वह इसके विपरीत आचरण करेगा। इससे स्पष्ट है कि बाजार मूल्य पर भविष्य की माँग और भविष्य मे की जा सकनेवाली पूर्त्ति का प्रभाव पडता है।
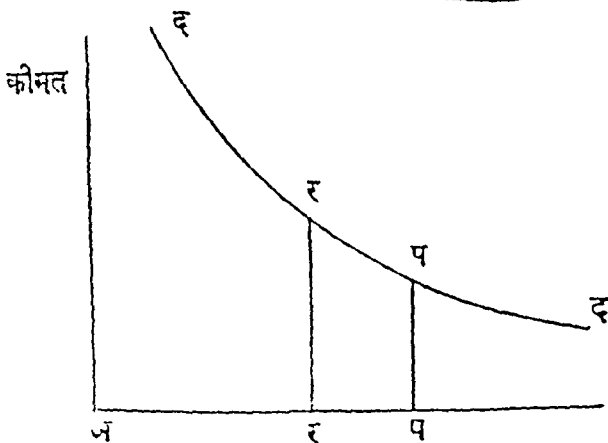
चित्र नं० २५

यह बात उक्त चित्र में दर्शायी गई है। दद वक्र रेखा अल्पकाल मे माग की स्थिति बतलाती है और अप वस्तु की वह मात्रा है, जिससे विक्रेता अपना कारोबार प्रारम्भ करता है। यदि उन्हे कुल मात्रा बेच देनी है, तो कीमत पप होगी। परन्तु यदि वह यह निश्चय करते है कि वस्तु के कुछ अंश को सुरक्षित रख दिया जाय और केवल अर मात्रा बेची जाय तो कीमत रर तक बढ जायगी।

स्वाभाविक मूल्य (Normal Value)—किसी वस्तु का [illegible] कालिक का मूल्य होता है जब कि वस्तु की पूर्ति की मात्रा [illegible] होती है। [illegible] के पास बदलती माग के अनुसार उत्पादन मे परिवर्तन करने के लिये [illegible] होता है, तब इस लम्बी अवधि मे वस्तु का जो मूल्य होता है वही स्वाभावि[illegible]

मूल्य कहा जाता है। स्वाभाविक मूल्य पर विचार करने मे हम यह मान लेते हैं कि मोजूदा आर्थिक शक्तियो या मोजूदा परिस्थितियो के पास अपना पूर्ण प्रभाव जमाने के लिये पर्याप्त समय है और इस बीच कुछ ओर परिवर्तन नही होता है। स्वाभाविक मूल्य ओर बाजार मूल्य मे क्या सम्बन्ध है? बाजार मूल्य का अध्ययन करते समय हमने यह माना था कि कुछ समय के लिये वस्तु की पूर्ति की मात्रा निश्चित है ओर इस बीच उत्पादन का मूल्य माँग की स्थिति के आधार पर निर्धारित किया जायगा। चूंकि विक्रेता वस्तु का कुछ अंश अपने गोदाम मे जमा रखते हैं और भविष्य के स्वाभाविक मूल्य के सम्बन्ध मे अपनी धारणा के अनुकूल बाजार मे वस्तु की कम या अधिक मात्रा बिक्री के लिये लाते है। यद्यपि बाजार मूल्य पर अस्थायी कारणों का जैसे माग मे एकाएक परिवर्तन हो जाने का प्रभाव पड़ता है, परन्तु वास्तव में स्वाभाविक मूल्य ही उसका केन्द्र रहता है ओर उसके चारो ओर बाजार मूल्य घूमता रहेगा। किसी वस्तु की पूर्त्ति तथा माग मे होनेवाले परिवर्तनो के साथ बाजार मूल्य स्वाभाविक मूल्य से किसी समय अधिक हो सकता है ओर कभी कम हो सकता है। परन्तु स्वाभाविक मूल्य ही केन्द्र रहता है और इसके चारो ओर बाजार मूल्य चक्कर काटता है। पेण्डुलम के ठहरने का एक केन्द्रीय स्थान होता है। अस्थायी कारणो से विचलित होकर वह अपने साम्य विन्दु से इधर-उधर जायगा, परन्तु वह हमेशा साम्य विन्दु पर आने का प्रयत्न करेगा। साम्य विन्दु ही उसका केन्द्र होता है। यही बात बाजार मूल्य पर भी लागू होती है। वह भी अस्थायी कारणो से परिवर्तित होता रहता है, परन्तु उसमे भी सदैव अपने केन्द्र स्वाभाविक मूल्य की ओर आने की प्रवृत्ति पाई जाती है।

स्वाभाविक मूल्य और बाजार मूल्य

यह ध्यान मे रखना चाहिये कि स्वाभाविक मूल्य बाजार मूल्यो की औसत नहीं है। कुछ निश्चित प्रभावो के पूर्ण रूप से कार्यशील होने के फलस्वरूप स्वाभाविक मूल्य निश्चित होता है। आज जो परिस्थितियाँ कुछ कारणो से स्वाभाविक या साधारण हैं कुछ समय बाद वही परिस्थितिया अन्य कारणो से असाधारण बन सकती है। इसलिये साधारण बाजार भाव की कई दिनो की औसत स्वाभाविक मूल्य नही हो सकती है।

अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य (Short-run normal value)—अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य पर विचार करते समय हम ऐसी अवधि लेते है, जिसमें परिस्थितियो के अनुकूल वस्तु की पूर्त्ति मे परिवर्तन किया जा सकता है, परन्तु उद्योग में फर्मो की सख्या और उनकी मशीने इत्यादि पूर्ववत् ही रहती है, उनमे किसी प्रकार की घट-बढ नही होती है। ऐसी परिस्थितियो मे किसी वस्तु का मूल्य निम्नलिखित सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित किया जायगा।

वास्तव मे विचारणीय प्रश्न यह है कि किसी उद्योग मे जिसमे कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति है, एक फर्म अपने उत्पादन की कीमत किस प्रकार निर्धारित करती है? उत्पादक को अब ऐसी परिस्थितियो का सामना नही करना पडता है, जिसमे कि उसे

पने उत्पादक की अपरिवर्तित मात्रा को वेचने के लिये विवश होना पड़े। वह अपने त्पादन मे एक सीमा तक परिवर्तन कर सकता है, अर्थात् वह अधिक से अधिक उतना त्पादन कर सकता है, जितनी उसके कारखाने की क्षमता है या वह जितना वर्तमान उत्पादन कर रहा है और वेच रहा है, उसमे कुछ कमी कर सकता है। उत्पादन टा कर उसे वाजार मे वेचने का निश्चय करने के लिये वह किन-किन वातो पर विचार रेगा ? सभवत एक ओर वह इस वात पर विचार करेगा कि अतिरिक्त इकाइयो का उत्पादन करने मे उसे कितना अतिरिक्त व्यय करना पडेगा। दूसरी ओर वह इस वात र विचार करेगा कि अतिरिक्त इकाइयो को वाजार मे किस कीमत पर वेचा जा सकता । जव तक अतिरिक्त इकाइयो की अनुमानित कीमत इतनी होगी कि उनके वेचने । उसकी कुल आय मे जितनी वृद्धि होगी वह अतिरिक्त इकाइयो के उत्पादन मे किये ये व्यय से अधिक है, तव तक अतिरिक्त उत्पादन करना और उसका विक्रय फर्म के लिये लाभदायक होगा। दूसरे शब्दो मे जव तक सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक है, तव तक अतिरिक्त उत्पादन कर उसको वाजार मे वेचने से उत्पादक को लाभ होगा। परन्तु जैसे-जैसे वह अतिरिक्त उत्पादन वढाता जाता है, सीमान्त लागत मे वृद्धि होती जायगी और एक ऐसी स्थिति आयगी जव वह सीमान्त आय के वरावर हो जायगी। उत्पादक इससे आगे उत्पादन वन्द कर देगा, क्योकि इसके वाद उत्पादन करने में सीमान्त लागत सीमान्त आय से अधिक होगी। इस प्रकार उस सीमा तक उत्पादन करेगा, जहाँ सीमान्त लागत सीमान्त आय के वरावर होगी।

पूर्ण प्रतियोगिता मे विक्रेता की सीमान्त आय उस समय के वाजार भाव के वरावर होगी। जव विक्रेताओ की सख्या काफी होती है, जैसा कि पूर्ण प्रतियोगिता मे होता है, तव उनमे से कोई भी कुछ कम या अधिक वेच कर कीमत पर अपना प्रभाव नही डाल सकता है। प्रत्येक विक्रेता अतिरिक्त इकाइयो को उसी कीमत पर वेचेगा जिस पर वह पहले वेचता रहा है। अर्थात् प्रत्येक विक्रेता के लिये माग रेखा असीमित (infinite) है, जिसे पडी रेखा (Horizontal line) द्वारा दिखाया जाता है। इसलिये सीमान्त आय कीमत के वरावर होती है।
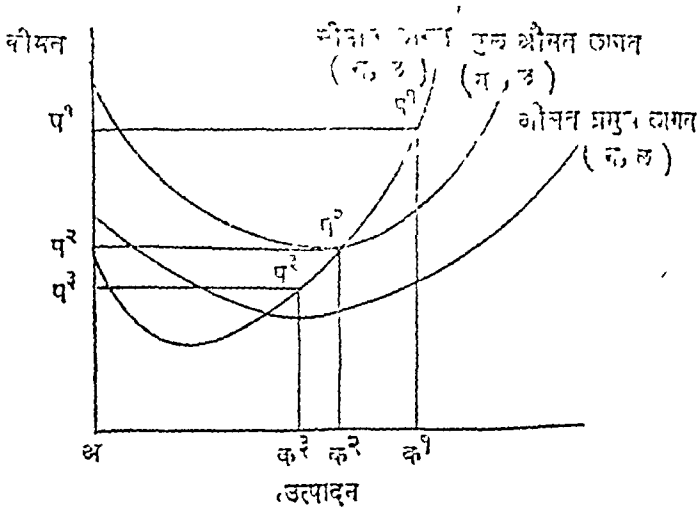
चित्र न० २६

उक्त ग्राफ मे अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य निर्धारण विधि दर्शायी गयी है। न, ल सीमान्त लागत की वक्र रेखा है, य, ल कुल औसत लागत की वक्र रेखा है और न, ल औसत प्रमुख लागत की वक्र रेखा है। हम जानते है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे प्रत्येक विक्रेता के लिये माँग-रेखा पूर्ण लोचदार होती है, अर्थात् वह पड़ी सीमा रेख होती है। अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य उस विन्दु पर निर्धारित किया जायगा, जहाँ पर माँग की वक्र-रेखा सीमान्त आय की रेखा (म, ल) को काटती है। यदि माग रेखा प¹प¹ है तो कीमत प¹क¹ होगी और इस कीमत पर विक्रेता अक¹ मात्रा का उत्पादन करेगा। यदि माँग-रेखा गिर कर प²प² हो जाती है, तो कीमत प²क² के वरावर हो जायगी और विक्रेता अक२ मात्रा का उत्पादन करेगा। जब कीमत अप² के वरावर है, तब सीमान्त लागत कुल औसत लागत के वरावर है और दोनो कीमत के वरावर है। इस स्थिति मे उत्पादक स्वाभाविक नफा कमाता है।

यदि कीमत अप³ तक गिर जाती है तो क्या उत्पादक आर्थिक उत्पादन कर वस्तु को वाजार मे वेचेगा ? इस कीमत पर उत्पादक अक³ मात्रा का उत्पादन करेगा, जिसकी कुल औसत लागत कीमत मे अधिक है। यदि वह वस्तु को इसी कीमत पर वेचेगा तो उत्पादन मे लगी कुल लागत की पूर्ति नही कर सकेगा। परन्तु यदि उसका अनुमान है कि माँग मे जो गिरावट आई है, वह अल्पकालीन है, तो उत्पादन जारी रखकर उसे अप³ कीमत पर वेचना उसके लिये लाभदायक सिद्ध होगा। वस्तु की कीमत प्रत्येक इकाई की औसत प्रमुख लागत से अधिक है, इसलिये वह विक्री से अपनी प्रमुख लागत और पूरक लागत का एक अश वसूल कर लेगा। यदि वह इस कीमत पर उत्पादन करने और उसको वेचने से इनकार कर देगा तो उसे तब तक पूरक लागत को पूर्ति करनी पडेगी, जब तक वह अपना कारखाना वन्द नही कर देता। इसलिये अल्पकालीन दृष्टि से जब तक वस्तु की कीमत औसत प्रमुख लागत मूल्य से अधिक है वह अप³ पर ही उत्पादित

ाल वेच देता है तो उसे अपेक्षाकृत लाभ होगा। परन्तु यदि कीमत इतनी है, जिससे सकी औसत प्रमुख लागत मूल्य की पूर्ति नही होती है तो वह उत्पादन वन्द कर देगा। ह ऐसी कीमत होगी जिस पर कारखाना वन्द करने के लिये विवश होना पडेगा।

उद्योग का अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य (Short-run normal value for the industry)—पूर्ण प्रतियोगिता मे किसी उद्योग मे विक्रेताओ की सख्या अधिक होती है।

उद्योग की लागत की वक्र-रेखा भी फर्मों की सीमात लागत की वक्र रेखाओ के योग के बराबर होती है। यह दाहिनी ओर को ऊपर की ओर उठी होती है, जिससे प्रकट होता है कि अतिरिक्त उत्पादन करने मे प्रति इकाई लागत अधिक है। इसी प्रकार हम उद्योग की माँग रेखा (aggregate demand curve) भी मालूम कर सकते है, जो पडी रेखा के समान नही होगी। यह रेखा दद है, जिसमे यह दिखाया गया है कि हर कीमत पर खरीदार वस्तु की कुल कितनी मात्रा खरीदेगा। दोनो वक्र रेखाएँ जहाँ पर एक दूसरे को काटती है, वह विन्दु साम्य वाजार मूल्य (Equilibrium market price) वतलाता है।

चित्र न० २६

उक्त ग्राफ मे अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य निर्धारण विधि दर्शायी गयी है। [illegible] ल सीमान्त लागत की वक्र रेखा है, य, ल कुल औसत लागत की वक्र रेखा है [illegible] न, ल औसत प्रमुख लागत की वक्र रेखा है। हम जानते है कि पूर्ण प्रतियोगिता [illegible] प्रत्येक विक्रेता के लिये माँग-रेखा पूर्ण लोचदार होती है, अर्थात् वह पडी सीमा [illegible] होती है। अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य उस विन्दु पर निर्धारित किया जायगा, [illegible] पर माग की वक्र-रेखा सीमान्त आय की रेखा (स, ल) को काटती है। यदि [illegible] रेखा प¹प¹ है तो कीमत प¹क¹ होगी और इस कीमत पर विक्रेता अक¹ मात्रा [illegible] उत्पादन करेगा। यदि माँग-रेखा गिर कर प²प² हो जाती है, तो कीमत प²क² के बराबर हो जायगी और विक्रेता अक२ मात्रा का उत्पादन करेगा। जब कीमत अप² के बराबर है, तब सीमान्त लागत कुल औसत लागत के बराबर है ओर दोनो कीमत के बराबर है। इस स्थिति मे उत्पादक स्वाभाविक नफा कमाता है।

यदि कीमत अप³ तक गिर जाती है तो क्या उत्पादक आर्थिक उत्पादन कर वस्तु को बाजार मे बेचेगा? इस कीमत पर उत्पादक अक³ मात्रा का उत्पादन करेगा, जिसकी कुल औसत लागत कीमत से अधिक है। यदि वह वस्तु को इसी कीमत पर बेचेगा तो उत्पादक [illegible] कुल लागत की पूर्ति नही कर सकेगा। परन्तु यदि उसका अनुमान [illegible] कि माग मे जो गिरावट आई है, वह अल्पकालीन है, तो उत्पादन जारी रखकर [illegible] [illegible]³ कीमत पर बेचना उनके लिये लाभदायक सिद्ध होगा। वस्तु की कीमत [illegible] [illegible] औसत प्रमुख लागत से अधिक है, इसलिये वह विक्री से अपनी प्रमुख लागत [illegible] [illegible] लागत का कुछ अंश वसूल कर लेगा। यदि वह इस कीमत पर उत्पादन [illegible] [illegible] बेचने से इनकार कर देगा तो उसे तब तक पूरक लागत की पूर्ति करनी पडेगी, [illegible] अपना कारखाना बन्द नही कर देता। इसलिये अल्पकालीन दृष्टि से [illegible] [illegible] कीमत औसत प्रमुख लागत मूल्य से अधिक है वह अप³ पर ही उत्पादन

ऽ वेच देता है तो उसे अपेक्षाकृत लाभ होगा। परन्तु यदि कीमत इतनी है, जिसमे
की ओसत प्रमुख लागत मूल्य की पूर्ति नही होती है तो वह उत्पादन वन्द कर देगा।
ऐसी कीमत होगी जिस पर कारखाना वन्द करने के लिये विवश होना पडेगा।

उद्योग का अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य (Short-run normal
alue for the industry)—पूर्ण प्रतियोगिता मे किसी उद्योग मे विक्रेताओ
सख्या अधिक होती है।

उद्योग की लागत की वक्र-रेखा भी फर्मो की सीमात लागत की वक्र रेखाओ के
ोग के वरावर होती है। यह दाहिनी ओर को ऊपर की ओर उठी होती है, जिसमे
कट होता है कि अतिरिक्त उत्पादन करने मे प्रति इकाई लागत अधिक है। इसी प्रकार
म उद्योग की माँग रेखा (aggregate demand curve) भी मालूम
र सकते है, जो पडी रेखा के समान नही होगी। यह रेखा दद है, जिसमे यह दिखाया
या है कि हर कीमत पर खरीदार वस्तु की कुल कितनी मात्रा खरीदेगा। दोनो वक्र
खाएँ जहाँ पर एक दूसरे को काटती है, वह विन्दु साम्य वाजार मूल्य (Equili-
rium market price) वतलाता है।

अध्याय २०

दीर्घकाल में मूल्य निर्धारण

(Price Determination in the Long-run)

पिछले अध्याय मे हमने उन शक्तियो का अध्ययन किया, जो अल्पकाल मे और
पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे किसी वस्तु का मूल्य निर्धारित करती है। अल्पकाल की
मुख्य विशेषताएँ ये है —पहले, उद्योग मे प्रत्येक फर्म का आकार समान रहता है, उस
मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है, दूसरे उद्योग के अन्तर्गत फर्मो की सख्या भी
निश्चित रहती है, उसमे भी किसी प्रकार की घट-वढ नही होती है। अव हमारा
अगला कार्य यह है कि इन मान्यताओ के आधार पर विचार न किया जाय। इसके लिये
हमे काफी लम्वा समय लेना पडेगा। यह अवधि इतनी होनी चाहिये कि माँग मे परि-
वर्तन होने के साथ ही उद्योग के अन्तर्गत फर्मो की सख्या मे भी अनुकूल परिवर्तन हो जाय
और नयी परिस्थितियो के अनुसार प्रत्येक फर्म अपना आकार-प्रकार मे भी वदलाव ला

सके। दीर्घकाल मे जब किसी वस्तु की माँग गिरने लगती है, तो उद्योग के अन्तर्गत फर्मो की सख्या मे भी कमी आ जाती है, यह भी सम्भव है कि फर्म अपनी कुछ मशीन बन्द कर दे और फलस्वरूप उत्पादन कम कर दे। यदि माग मे वृद्धि होती है तो मौजूदा फर्म अतिरिक्त मशीनें लगा सकते हैं या नये फर्मो की स्थापना की जा सकती है।

दीर्घकालीन स्वाभाविक मूल्य (Long-run normal value)—अल्पकालीन स्वाभाविक मूल्य पर विचार करते समय हमने देखा कि प्रत्येक फर्म उस स्थिति तक उत्पादन करते है, जब उसकी सीमान्त लागत और उसकी कीमत बराबर हो जाती है। जब तक हमारी मान्यता यह है कि उद्योग के अन्तर्गत फर्मो की सख्या मे
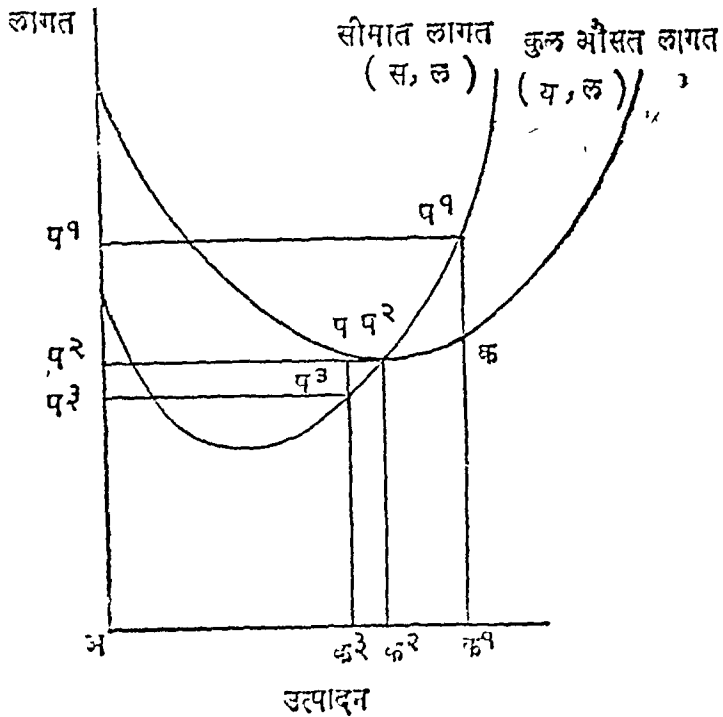
चित्र न० २७

या उनके आकार मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है, तब तक यह बात बिल्कुल [illegible] है। परन्तु विश्लेषण करने पर हमे यह मालूम नही होता है कि यदि विचाराधीन [illegible] हो तो फर्म की सख्या मे या उनके आकार-प्रकार मे वृद्धि होगी, [illegible] होगा या वह पूर्ववत् रहेंगे और उनमे कुछ परिवर्तन नही होगा। इस प्रश्न को [illegible] करने के लिये हमे कीमत तथा फर्म के उत्पादन की कुल औसत लागत का सम्बन्ध [illegible] होना चाहिये।

उक्त चित्र मे मान लो माग की स्थिति ऐसी है कि कीमत प¹क¹ हो जाती है। इस दशा मे फर्म के लिये माग की रेखा प¹प¹ है और यह रेखा सीमान्त लागत की [illegible] को प¹ बिन्दु पर काटती है और फर्म अक¹ के बराबर उत्पादन करता

है। कुल ओसत लागत को वक्र रेखा य,ल मे हमे यह मालूम होता है कि जब अक[1] मात्रा का उत्पादन होगा तब प्रति इकाई की लागत क[1]क होगी। चूँकि क[1]क में प्रबन्धको की सामान्य आय भी शामिल है, इसलिये फर्म उत्पादन की प्रति इकाई के पीछे प[1]क अतिरिक्त लाभ कमा रहा है। इसलिये फर्म अपनी मशीनो की उत्पादन क्षमता बढाकर उत्पादन बढाने की पूरी कोशिश कर सकता है। अतिरिक्त लाभ से निश्चय ही उसे इस दिशा मे प्रोत्साहन मिल सकता हे। या, उद्योग के अन्तर्गत नये फर्म स्थापित किये जा सकते है बहुत अधिक लाभ कमाने की सम्भावना इस दिशा में वृत्त कर सकती है। इस रीति से वस्तु की पूर्ति मे वृद्धि होगी ओर माँग की वही स्थिति रहने पर कीमतो मे गिरावट आने लगेगी। माना कीमत गिरकर प[2]क[2] के बराबर आ गई। यह वह विन्दु है, जहा पर सीमान्त लागत की वक्र-रेखा कुल औसत लागत की वक्र रेखा को काटती है और कुल ओसत लागत न्यूनतम है। प[2]क[2] कीमत प्रति इकाई की कुल ओसत लागत प[2]क[2] के ठीक बराबर है। इस प्रकार प[2]क[2] कीमत पर फर्म का दीर्घकालीन साम्य (Long-run equilibrium) होता है। इस स्थिति मे कीमत = सीमान्त लागत=कुल ओसत लागत। इसे और नीची माँग रेखा प[3] के आधार पर भी सिद्ध कर सकते हे। यह सीमान्त लागत-रेखा स,ल को प[3] पर काटती है और कीमत प[3]क[3] है। इस स्थिति मे फर्म अक[3] मात्रा का उत्पादन करता है। परन्तु अक[3] की कुल औसत लागत क[3]प है, यह प[3]क[3] कीमत से पप[3] अधिक है। इससे स्पष्ट है कि फर्म पर अपने पूरे पूरक लागत मूल्य की पूर्ति नही कर पाता है, इसलिये घाटा उठा रहा है। इसलिये वह अपना उत्पादन कम करेगा और कुछ कमजोर फर्म तो सभवत अपना उत्पादन वन्द कर देगे। परिणामस्वरूप कुल पूर्ति घटेगी और कीमत प[2]क[2] तक बढ जायगी।

इससे पता चलता है कि किसी वस्तु की कीमत दीर्घकाल मे सभी फर्मो के उत्पादन की न्यूनतम औसत लागत के बराबर होने का प्रयत्न करती है। इन परिस्थितियो मे उत्पादन को प्रति इकाई का न्यूनतम औसत लागत प्राय सभी फर्मो मे समान होगी। ये फर्म केवल सामान्य लाभ कमाते है, जिसमे प्रवन्धको की आय, वेतन और व्याज इत्यादि शामिल है और यह कुल औसत लागत मे शामिल है। इनमे से कोई भी फर्म अतिरिक्त लाभ नही कमाता है। चूँकि सभी फर्म अपने साधनो और सगठन की क्षमता के अनुरूप न्यूनतम लागत ओसत पर उत्पादन कर रहे है, इसलिये यही इन फर्मो का उपयुक्त आकार (optimum size) कहा जायगा।

दीर्घकालीन लागत मे परिवर्तन कीमत और निर्धारण (Long-run cost variation and pricing)—अब हमे इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि उत्पादन के पैमाने मे परिवर्तन हो जाने से उत्पादन की मात्रा मे जो परिवर्तन हो जाता है, उससे दीर्घकाल मे उत्पादन की स्थिर लागत (constant costs of produc-

tion) में वृद्धि या कमी हो सकती है। अर्थशास्त्रियों के लिये स्थिर लागत और बढ़ती या घटती लागत की समस्याएं विशेष आकर्षक होती है।

स्थिर लागत (Constant cost)—दीर्घकाल में जब कोई फर्म अपना उत्पादन बढ़ाता है, तो उत्पादन में चाहे कितनी ही वृद्धि हो, उसकी न्यूनतम औसत लागत बराबर रहती है। यह तभी होगा जब उत्पादन के सभी साधनों में एक दिये हुए उत्पादन में वृद्धि करने से उत्पादन में भी उसी अनुपात में वृद्धि हो। इस स्थिति में निश्चय ही यह माना गया है कि उद्योग में उत्पादन के साधनों की कीमत पर उत्पादन
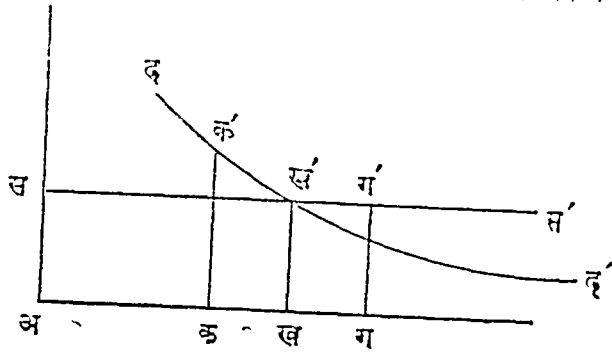
चित्र न० २८

की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता है। अर्थात् उद्योग उत्पादन के साधनों की कुल पूर्ति के बहुत छोटे अंश का उपयोग करता है।

इस स्थिति में पूर्ति की वक्र-रेखा सस' एक सीधी पड़ी रेखा है, जिसमें प्रत्येक इकाई की लागत समान दिखाई गई है। यह माँग की वक्र-रेखा दद' को ख' पर काटती है, इसलिये कीमत ग'ग के बराबर होगी और अख मात्रा का उत्पादन किया जायगा। परन्तु यदि वास्तविक कीमत मान लिया कक' है तो विक्रेता बहुत लाभ कमायेगा। इसलिये वे उत्पादन बढ़ायेंगे और इसके फलस्वरूप पूर्ति की मात्रा बढ़ेगी और कीमतों में गिरावट आयेगी। इसके विपरीत यदि वास्तविक कीमत गग' से कम है, अर्थात् ग'ग के बराबर है, तो प्रति इकाई की उत्पादन की लागत कीमत से अधिक होगी और विक्रेता अपना स्वाभाविक लाभ कमा सकने में असमर्थ रहेगा। उत्पादन में कमी आयेगी और यह कमी तब तक आती जायगी जब तक कीमत ग'ग के बराबर न हो जाय।

बढ़ती लागत (Increasing cost)—दीर्घकालीन औसत लागत की वक्र-रेखा खींचने में साधारणतया यह मान लिया जाता है कि इस अवधि में कारखाने, [illegible] साज-सामान तथा उत्पादन के अन्य साधनों में परिवर्तन होता है। किसी व्यवसाय में उत्पादन के विभिन्न साधनों का परस्पर जो अनुपात होता है, वह अलग-अलग फर्मों के लिये भिन्न हो सकता है। यद्यपि दीर्घकाल में उत्पादन के साधनों का पारस्परिक [illegible] परिवर्तित हो सकता है, परन्तु फिर भी इस प्रकार की विभिन्नता [illegible] [illegible] होती है। यह सम्भव है कि एक विशेष साधन की प्राप्ति का कुछ [illegible]

म्बन्वित साधनो की पूर्ति दीर्घकाल में भी बेलोच हो। इसका एक उदाहरण भूमि । यह उदाहरण प्रसिद्ध अर्थशास्त्री रिकार्डो ने दिया था। कृपि योग्य भूमि की मात्रा नश्चित मान ली गयी है, साथ ही यह भी मान लिया गया है कि इस सारी भूमि में ाश्त होती है या इस पर कब्जा कर लिया गया है। इसलिये जैसे-जैसे जनसख्या मे वृद्धि ोती है और अधिक फसल उगाने की आवश्यकता बढती जाती है, तब आवश्यकता पूर्ति के लिये भूमि की निश्चित मात्रा के साथ कुछ अन्य साधनो का भी उपयोग करना पडता है। यदि किसी साधन की पूर्ति लोचदार हो भी तब भी उसकी अतिरिक्त इकाइयाँ विशेप उद्योग मे काम मे लाये जाने के लिये अधिक उपयुक्त सिद्ध न हो। ये साधन इस उपयोग विशेप के लिये कम योग्य हो सकते है। चूंकि इन अतिरिक्त इकाइयो के लिये भी वही कीमत चुकानी पडती है, जो पहले की अधिक उपयुक्त इकाइयो के लिये चुकाई गई, इसलिये अतिरिक्त उत्पादन की लागत मे भी वृद्धि हो जायगी या उत्पादन के किसी एक साधन की कीमत माँग मे वृद्धि होने के फलस्वरूप बढ सकती है। यह उस साधन को अन्य उद्योगो से या अन्य उपयोगो से अलग करने के लिये भी आवश्यक समझा जा सकता है। इसलिये जैसे-जैसे इस साधन की माँग बढती जाती है, वैसे-वैसे सभी विक्रेताओ की सीमान्त और ओसत लागत भी बढती जायगी। यदि उत्पादन के अन्य साधन अपनी निश्चित लागत पर पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध भी हो तब भी एक सीमा के पश्चात लागत मे वृद्धि होने लगेगी, क्योकि एक साधन प्रबन्ध विभाग निश्चित है और उत्पादन की मात्रा बढाने के साथ ही इसमे भी वृद्धि नही की जा सकती है। बड़े पैमाने पर प्रबन्ध विभाग का सगठन आर्थिक दृष्टि से लाभकर नही हो सकता है, इससे उत्पादन की लागत मे उत्पादन की मात्रा की अपेक्षा अधिक तेजी से वृद्धि होगी।
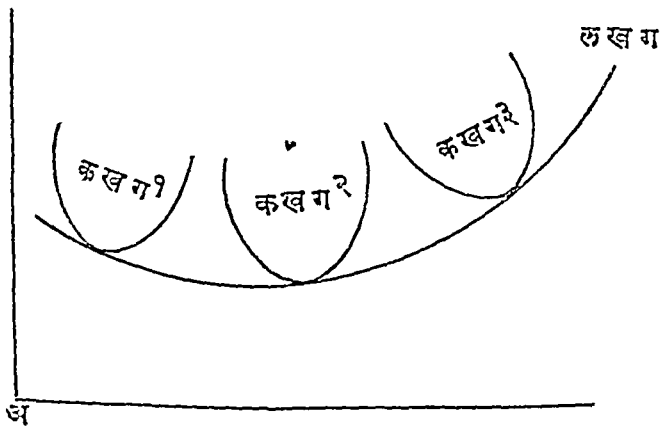
चित्र न० २९

उपरोक्त चित्र में दीर्घकालीन औसत लागत की रेखा दर्शायी गयी है। कखग¹, कखग² और कखग³ अल्पकालीन लागत की वक्र रेखाएँ है, जिनमे उत्पादन की

मात्रा में होनेवाला परिवर्तन दिखाया गया है। कखग१ रेखा उस लागत को है, जब किसी वस्तु की कुछ मात्रा का उत्पादन किया जाता है, कखग२ बड़ी में किये गये उत्पादन की लागत-रेखा है और कखग३ और अधिक मात्रा में गये उत्पादन की लागत रेखा है। पहले दीर्घकालीन न्यूनतम औसत लागत उत्‍ बढ़ने के साथ ही गिरती है और बाद में इसमें वृद्धि होने लगती है। लखग दी कालीन औसत लागत रेखा है, जो अल्पकालीन लागत रेखा की स्पर्श-रेखा (t gent) है।
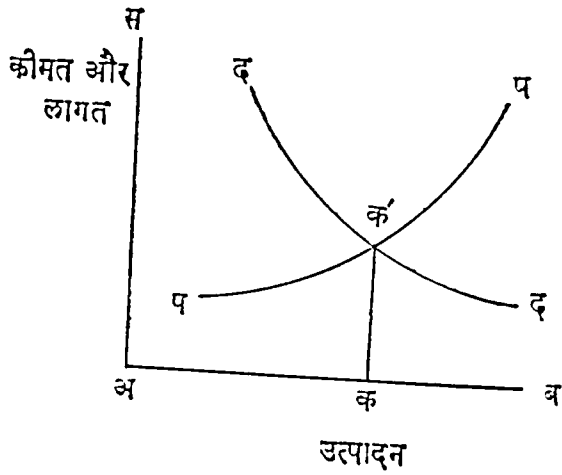
चित्र न० ३०

यदि दीर्घकालीन औसत लागत-रेखा और दीर्घकालीन मांग-रेखा दी हुई हो त बढ़ती लागत (या घटती उपज) की स्थिति में उत्पादित वस्तु का मूल्य उस बिन्दु पर निर्धारित किया जायगा, जहां पर दोनों वक्र रेखाएं एक दूसरे को काटती है।

घटती लागत (Decreasing cost)—क्या ऐसा कोई उदाहरण है, जिसमें उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने से उत्पादन की प्रति इकाई लागत घटती जाती है? निस्सन्देह यह सर्वविदित है कि जैसे-जैसे फर्म अपना उत्पादन बढ़ाता जाता है, ऐसी व्यवस्था कर लेता है, जिससे उत्पादन में कुछ आर्थिक बचत कर सकता है। यह बचत आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की हो सकती है और इसके फलस्वरूप उत्पादन लागत में गिरावट आने लगती है। यह बताया गया है कि जब उत्पादन के साधनों में एक निश्चित अनुपात में वृद्धि की जाती है, संगठन में सुधार किया जा सकता है, जिससे उत्पादन के साधनों की कार्यक्षमता में वृद्धि हो सकती है और फलस्वरूप लागत घट सकती है। इस बात को स्वीकार करने के लिये क्या प्रमाण है?

अधिक उत्पादन करने के फलस्वरूप कार्यक्षमता में जो वृद्धि होती है, उसके मुख्य कारण होते हैं। ऐसा होने का एक कारण यह हो सकता है कि प्रयुक्त साधन

ट्ती उपज के कारण

इकाइयाँ वडी है और उनको वाँटा नही जा सकता है। उत्पादन की स्थिति ऐसी है कि उत्पादन से पहले इन विभक्त न हो सकनेवाली इकाइयो पर रुपया लगाना पडेगा। उदा-रण के लिये एक मशीन ले लीजिये। मशीन की कुछ लागत होती है और उत्पादन चाहे म हो या अधिक कारखाने मे मशीन लगानी पडती है। साहसी (entrepreneur) ी इसी प्रकार की विभक्त न हो सकनेवाली इकाई है। जव किसी साधन की ऐसी वभक्त न हो सकनेवाली इकाई का उपयोग करना पडता है, तव माँग वढने के साथ ही से-जैसे उत्पादन वढता है, उस इकाई का पूरक लागत मूल्य इस सारे उत्पादन में वँट ाता है। इसका परिणाम यह होगा कि जैसे-जैसे उत्पादन की मात्रा वढायी जायगी से-वैसे प्रति इकाई लागत घटती जायगी। इसका प्रसिद्ध उदाहरण रेल-मार्ग है, जिसे ये क्षेत्र में वनाना है। यदि रेल-मार्ग वनाना है, तो रेलो, स्टेशनो, रोलिंग स्टॉक त्यादि मे कम-से-कम रुपया लगाना ही पडेगा। आरम्भ मे उस रेल-मार्ग तथा स्टेशन त्यादि के निर्माण मे जितनी पूँजी लगी है, उसका लाभ उठाने के लिये पर्याप्त यातायात ा अभाव हो सकता है। परन्तु जैसे-जैसे उस क्षेत्र का विकास होता है, यातायात भी ढता जाता है। यातायात वढने पर रेल-मार्ग मे अधिक रेलो को चलाकर आवश्यकता पूरी की जा सकती है। इसके लिये कुछ और रोलिग स्टॉक खरीदना पडेगा और कुछ अतिरिक्त कर्मचारियो को नियुक्त करना पडेगा, परन्तु रेल-मार्ग स्टेशन इत्यादि में वृद्धि करने की कुछ आवश्यकता नही पडेगी। ये उत्पादन के निश्चित साधन हैं; और चूंकि यातायात वढने पर इन निश्चित साधनो मे वृद्धि करने की आवश्यकता नही होती है, इसलिये उत्पादन की प्रति इकाई की उत्पादन-लागत गिरती जाती है। यह सिद्धान्त प्राय हर प्रकार के व्यवसाय मे लागू होता है। छोटे उत्पादक प्रत्येक मशीन की पूरी कार्यक्षमता का उपयोग कर सकने मे असमर्थ होते है और साथ ही प्रत्येक कर्मचारी की कार्यक्षमता का पूर्ण उपयोग नही कर पाते है। यह सम्भव है कि टेकनिकल विशेषज्ञों और अत्यन्त कुशल कर्मचारियो का भी उनके लिये उपयुक्त कार्य मे पूर्ण उपयोग नही हो सकता है। परन्तु यदि व्यवसाय वढाया जाय तो इनकी अधिक सेवाओ का अच्छा उपयोग किया जा सकता है और परिणामस्वरूप प्रति इकाई की कुल लागत भी घट सकती है।

विशेष योग्यता प्राप्त कर्मचारियो की नियुक्ति से भी सगठन में सुधार किया जा सकता है। किसी उद्योग के लिये वर्त्तमान मे विशेष योग्यता के अनेक मान उपलब्ध है। अधिक उत्पादन करने से विशेष योग्यता के ऊँचे मानो को ग्रहण किया जा सकता है और इसके परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर कार्यक्षमता मे वृद्धि होगी दूसरी ओर लागत में भी कमी आ जायगी। उत्पादन की प्रक्रिया मे भिन्न-भिन्न काम करने पडते है। प्रत्येक काम के लिये उत्पादन का ऐसा साधन प्रयुक्त किया जा सकता है, जिसे विशेष रूप से इसी काम की आदत हो और इसका पर्याप्त ज्ञान हो। जैसे ही फर्म द्वारा उत्पादित

मात्रा मे होनेवाला परिवर्तन दिखाया गया है। कखग^1 रेखा उस लागत की र
है, जब किसी वस्तु की कुछ मात्रा का उत्पादन किया जाता है, कखग^2 बड़ी मात्रा
में किये गये उत्पादन की लागत-रेखा है और कखग^3 और अधिक मात्रा में कि
गये उत्पादन की लागत रेखा है। पहले दीर्घकालीन न्यूनतम औसत लागत उत्पा
बढ़ने के साथ ही गिरती है और बाद में इसमें वृद्धि होने लगती है। कखग दी
कालीन औसत लागत रेखा है, जो अल्पकालीन लागत रेखा की स्पर्श-रेखा (tan
gent) है।
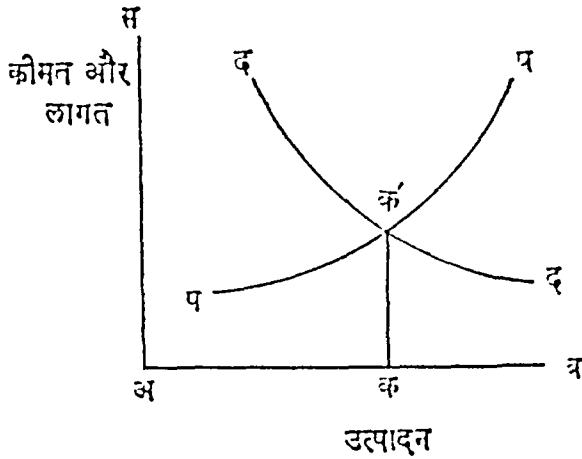
चित्र न० ३०

यदि दीर्घकालीन औसत लागत-रेखा और दीर्घकालीन माग-रेखा दी हुई हो तो चढ़ती लागत (या घटती उपज) की स्थिति में उत्पादित वस्तु का मूल्य उस विन्दु पर निर्धारित किया जायगा, जहाँ पर दोनो वक्र रेखाएं एक दूसरे को काटती है।

घटती लागत (Decreasing cost)—क्या ऐसा कोई उदाहरण है, जिसमें उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि होने से उत्पादन की प्रति इकाई लागत घटती जाती है? निस्सन्देह यह सर्वविदित है कि जैसे-जैसे फर्म अपना उत्पादन बढाता जाता है, वह ऐसी व्यवस्था कर लेता है, जिससे उत्पादन मे कुछ आर्थिक बचत कर सकता है। यह बचत अन्तरिक और वाह्य दोनो प्रकार की हो सकती है और इसके फलस्वरूप उसकी उत्पादन लागत मे गिरावट आने लगती है। यह बताया गया है कि जब उत्पादन के सभी साधनो मे एक निश्चित अनुपात से वृद्धि की जाती है, सगठन मे सुधार किया जा सकता है, जिससे उत्पादन के साधनो की कार्यक्षमता मे वृद्धि हो सकती है और फलस्वरूप लागत घट सकती है। इस बात को स्वीकार करने के लिये क्या प्रमाण है?

अधिक उत्पादन करने के फलस्वरूप कार्यक्षमता में जो वृद्धि होती है, उसके मुख्यतः दो कारण होते है। ऐसा होने का एक कारण यह हो सकता है कि प्रयुक्त साधन की

टूनी उपज के कारण इकाइयाँ वडी है और उनको बाँटा नही जा सकता है। उत्पादन की स्थिति ऐसी है कि उत्पादन से पहले इन विभक्त न हो सकनेवाली इकाइयो पर रुपया लगाना पडेगा। उदाहरण के लिये एक मशीन ले लीजिये। मशीन की कुछ लागत होती है और उत्पादन चाहे कम हो या अधिक कारखाने मे मशीन लगानी पडती है। साहसी (entrepreneur) भी इसी प्रकार की विभक्त न हो सकनेवाली इकाई है। जव किसी साधन की ऐसी विभक्त न हो सकनेवाली इकाई का उपयोग करना पडता है, तव माँग वढने के साथ ही जैसे-जैसे उत्पादन वढता है, उस इकाई का पूरक लागत मूल्य इस सारे उत्पादन में वँट जाता है। इसका परिणाम यह होगा कि जैसे-जैसे उत्पादन की मात्रा वढायी जायगी वैसे-वैसे प्रति इकाई लागत घटती जायगी। इसका प्रसिद्ध उदाहरण रेल-मार्ग है, जिसे नये क्षेत्र मे वनाना है। यदि रेल-मार्ग वनाना है, तो रेलो, स्टेशनो, रोलिंग स्टॉक इत्यादि मे कम-से-कम रुपया लगाना ही पडेगा। आरम्भ मे उस रेल-मार्ग तथा स्टेशन इत्यादि के निर्माण मे जितनी पूँजी लगी है, उसका लाभ उठाने के लिये पर्याप्त यातायात का अभाव हो सकता है। परन्तु जैसे-जैसे उस क्षेत्र का विकास होता है, यातायात भी बढता जाता है। यातायात वढने पर रेल-मार्ग मे अधिक रेलो को चलाकर आवश्यकता पूरी की जा सकती है। इसके लिये कुछ और रोलिग स्टॉक खरीदना पडेगा और कुछ अतिरिक्त कर्मचारियो को नियुक्त करना पडेगा, परन्तु रेल-मार्ग स्टेशन इत्यादि में वृद्धि करने की कुछ आवश्यकता नही पड़ेगी। ये उत्पादन के निश्चित साधन है; और चूंकि यातायात वढने पर इन निश्चित साधनो मे वृद्धि करने की आवश्यकता नही होती है, इसलिये उत्पादन की प्रति इकाई की उत्पादन-लागत गिरती जाती है। यह सिद्धान्त प्राय हर प्रकार के व्यवसाय मे लागू होता है। छोटे उत्पादक प्रत्येक मशीन की पूरी कार्यक्षमता का उपयोग कर सकने मे असमर्थ होते है और साथ ही प्रत्येक कर्मचारी की कार्यक्षमता का पूर्ण उपयोग नही कर पाते है। यह सम्भव है कि टेकनिकल विशेषज्ञों और अत्यन्त कुशल कर्मचारियो का भी उनके लिये उपयुक्त कार्य मे पूर्ण उपयोग नहीं हो सकता है। परन्तु यदि व्यवसाय वढाया जाय तो इनकी अधिक सेवाओ का अच्छा उपयोग किया जा सकता है और परिणामस्वरूप प्रति इकाई की कुल लागत भी घट सकती है।

विशेष योग्यता प्राप्त कर्मचारियो की नियुक्ति से भी सगठन में सुधार किया जा सकता है। किसी उद्योग के लिये वर्त्तमान मे विशेष योग्यता के अनेक मान उपलब्ध है। अधिक उत्पादन करने से विशेष योग्यता के ऊँचे मानो को ग्रहण किया जा सकता है और इसके परिणामस्वरूप जहाँ एक ओर कार्यक्षमता मे वृद्धि होगी दूसरी ओर लागत में भी कमी आ जायगी। उत्पादन की प्रक्रिया मे भिन्न-भिन्न काम करने पडते है। प्रत्येक काम के लिये उत्पादन का ऐसा साधन प्रयुक्त किया जा सकता है, जिसे विशेष रूप से इसी काम की आदत हो और इसका पर्याप्त ज्ञान हो। जैसे ही फर्म द्वारा उत्पादित

वस्तुकी माग बढेगी, बडी-बडी और कीमती मशीनो का उपयोग सभव हो जायगा और विशेषज्ञो तथा अत्यन्त कुशल मजदूरो को नियुक्त कर उनकी सेवाओ का लाभ उठाया जा सकेगा। इसलिये फर्म की सीमात लागत घट जायगी।

यह सब आन्तरिक बचत के उदाहरण है। यह ऐसी बचत है, जो फर्म का विकास करने पर फर्म के अन्दर ही प्राप्त हो जाती है। यह बचत या तो कारखाने और मशीन का अधिक अच्छा उपयोग करने से प्राप्त होती है या फिर विशेष योग्यता प्राप्त कर्मचारियो के होने से प्राप्त होती है।

बाह्य बचत

मार्शल के शब्दो मे बाह्य बचत (external economies) से भी लागत घट सकती है। उद्योग का आकार-प्रकार बढने पर कोई विशेष फर्म बाह्य बचत का लाभ उठाता है। उदाहरण के लिये जब किसी उद्योग के अन्तर्गत किसी फर्म की स्थापना होती है, तो सभव है कि उसके कारण अन्य फर्मो को भी कम लागत मे उत्पादन कर सकने की सुविधा प्राप्त हो जाय। चूकि उद्योग के प्रसार से मशीनो का उत्पादन करनेवाले फर्मों के लिये मशीनो की खपत का नया क्षेत्र तैयार हो जाता इसलिये उद्योग के अन्तर्गत चालू फर्मे सस्ती कीमत पर मशीने खरीद सकते है।

परन्तु फर्म के आकार-प्रकार बढने के साथ-साथ घटती उपज की प्रवृत्ति सदा रहती है। एक ऐसी स्थिति आ सकती है, जब उत्पादन के निश्चित साधनो का उपयोग होने के बाद भी उत्पादन बढाने की चेष्टा की जाय तो उपज घटने लगती। जब तक आतरिक और बाह्य आर्थिक बचत की सुविधा प्राप्त है, प्रत्येक फर्म उत्पादन बढाकर लागत घटाने मे सफल होता है। यदि पूर्ण प्रतियोगिता है तो ऐसा करना फर्म के लिये ही लाभदायक होगा।

लागत मे गिरावट और पूर्ण प्रतियोगिता (Decreasing costs and perfect competition)—जब प्रति इकाई लागत मे गिरावट आती है, तब फर्म प्रत्येक अतिरिक्त इकाई को उसी कीमत पर बेचता है, जिस कीमत पर पहली इकाइयाँ बेचता रहा है। इसलिये पूर्ण प्रतियोगिता मे प्रत्येक फर्म आदर्श बिन्दु (optimum point) तक अपना विकास करेगा। इसके बाद उसे आतरिक एव बाह्य बचतो की सुविधा नही मिलेगी। परन्तु यदि इस स्थिति तक पहुंचने के बाद भी फर्म अपना विकास करता जाय तो उत्पादन की लागत मे वृद्धि होने लगेगी। यदि पूर्ण प्रतियोगिता है तो प्रत्येक फर्म अपनी आदर्श स्थिति मे होगा और उत्पादन की औसत लागत सबसे कम होगी। यदि इस सीमा के बाद भी फर्मो का प्रसार हुआ तो लागत बढ जायगी। इसके साथ ही यह बिलकुल सम्भव है कि कुछ उद्योगो मे बडे पैमाने पर उत्पादन करने के फलस्वरूप उपलब्ध आतरिक तथा बाह्य बचत इतनी अधिक मात्रा में प्राप्त हो कि एक ही फर्म अपने आदर्श स्थिति को पार करने से पहले ही सारे बाजार की माँग पूरी कर दे। ऐसा उद्योग स्वाभाविक एकाधिकार (natural monopoly) है। अन्य उद्योगो मे फर्मों का आदर्श रूप इतना बडा हो सकता है कि बहुत कम फर्म

बाजार की आवश्यकता को पूरा कर सकेगे। ऐसी स्थिति में पूर्ण प्रतियोगिता समाप्त जायगी। उद्योग के अन्तर्गत अनेक फर्म हो सकते है और कुछ फर्मो का आदर्श रूप ा हो सकता है कि प्रत्येक फर्म कुल पूर्त्ति के काफी बडे अश का उत्पादन कर सके। ी स्थिति मे प्रत्येक फर्म अपने उत्पादन मे परिवर्त्तन करके वस्तु की कीमत पर प्रभाव ल सकने मे समर्थ होगा ओर पूर्व की ही तरह पूर्ण प्रतियोगिता समाप्त हो जायगी।

प्रतिनिधि फर्म के सिद्धान्त पर टिप्पणी
(A note on the concept of the Representative Firm)

जिन वस्तुओ का उत्पादन क्रमागत वृद्धि के नियम के अनुसार होता है, उनका र्घकालीन सामान्य मूल्य निर्धारित करने मे जो कठिनाइयाँ सामने आती है, उनको ल करने के लिये मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म के सिद्धान्त का अर्थशास्त्र मे पहली बार प्रयोग िया। मार्शल के मतानुसार 'दीर्घकाल मे जिन वस्तुओ के उत्पादन की लागत उत्पादन ी क्रमश वृद्धि के साथ कम होती जाती है, उनके लिये उत्पादन की सीमात लागत कोई हत्त्व नही रखती।' मार्शल ने यह माना कि पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे उद्योग में नेक फर्म होगे और विकास की दृष्टि से प्रत्येक की स्थिति भिन्न-भिन्न होगी। मार्शल प्रत्येक फर्म के एक निश्चित जीवन-चक्र की कल्पना की। किसी पेड की पत्तियाँ ैसे-जैसे पुप्ट होती जाती है साम्य की स्थिति तक पहुचती है और अनेक बार नष्ट हो ाती है परन्तु पेड प्रति वर्प निरन्तर वढता जाता है", ठीक इसी प्रकार फर्म भी मजवूती े साथ विकास प्राप्त करता है। नया व्यवसायी जब पहले फर्म स्थापित करता है तो नेश्चय ही घाटा सहता है। परन्तु वह घ्राटा सहकर निरन्तर सघर्प करेगा। इस सघर्प ी अवधि में यह सोचेगा कि वह ठीक कर रहा है और धीरे-धीरे उसके पॉव जमते जा हे है। धीरे-धीरे यदि वह व्यवस्था कर सका तो ऋण लेगा और तब तक अपने व्यवसाय का प्रसार करता जायगा जव तक कि वह अपनी पूरी शक्ति इसमे न लगा दे। पूरी शक्ति लगा देने के वाद जैसे-जैसे वह वृद्ध होता जाता है, उसके व्यवसाय को क्षति पहुँचने की सम्भावना रहती है, यदि उद्योग के अन्तर्गत अनेक फर्म है और प्रत्येक फर्म उत्पादन की विभिन्न स्थितियो में है तो हम किस फर्म की लागत पर विचार करेंगे? क्या सवसे कुशल फर्म की लागत के आधार पर औसत लागत निर्धारित की जायगी? वस्तु की कीमत फर्म की औसत लागत के वरावर नही हो सकती है, क्योंकि उसकी लागत सवसे कम होती है, यदि फर्म कम कुशल है और उसकी लागत अपेक्षाकृत अधिक है तो वह सामान्य लाभ नहीं कमा सकेगा यह सवसे कम कुशल फर्म की लागत भी नही हो सकती है, क्योकि ऐसे फर्म को कुछ भी मात्र लाभ नही होगा। दीर्घकालीन सामान्य मूल्य मे मार्शल के शब्दो मे 'सामान्य लाभ' भी शामिल होना चाहिये। इस कठिनाई को हल करने के लिये उन्होने प्रतिनिधि फर्म के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। प्रतिनिधि फर्म मे दीर्घकालीन सामान्य मूल्य उत्पादन की लागत के वरावर होता है।

प्रतिनिधि फर्म ऐसा फर्म नही है, जिसकी हाल ही मे स्थापना की गयी है जो व्यवसाय-क्षेत्र मे अपना स्थान बनाने के लिये सघर्षरत हो, साथ ही यह ऐसा फर्म भी नही है, जिसका व्यवसाय काफी फैला हुआ हो और जिसमे बड़े-बड़े कारखाने हो। "प्रतिनिधि फर्म वह है, जो काफी समय से चालू हो, जिसे व्यवसाय मे अच्छी सफलता मिली हो। जिसके प्रबन्धकर्त्ता साधारणत कुशल हो ओर जिसे वे सब बाह्य और आन्तरिक बचत की सामान्य सुविधाए प्राप्त हो, जो कुल उत्पादन की मात्रा पर प्राप्त होती है।"[1] ऐसे फर्म मे दीर्घकाल मे मूल्य उत्पादन की सीमान्त लागत के बराबर होने की चेष्टा करेगा। यदि बिक्री भाव उससे अधिक बढा तो फर्म ओर उसके उत्पादन का विस्तार होगा और यदि बिक्री भाव उससे कम हुआ तो फर्म ओर उसके उत्पादन का विस्तार घटेगा। जब मूल्य उस सतह पर स्थिर हो जायगा तब साम्य स्थिति हो जायगा और उस पूरे उद्योग मे उत्पादन की प्रकृति न घटने की ओर होगी, और न बढने की ओर होगी।

प्रतिनिधि फर्म क्या है?

क्या प्रतिनिधि फर्म औसत फर्म होता है? वह उपस्थित फर्मो का औसत नही होता है। वह दीर्घकालीन ओसत फर्म होता है, जब सब परिस्थितिया साम्य की स्थिति पर पहुँच जाती है। कभी-कभी यह प्रश्न किया जाता है कि क्या वह कोई प्रतिनिधि मशीन है, अथवा मशीन द्वारा उत्पादन की कोई प्रतिनिधि इकाई है, अथवा कोई प्रतिनिधि व्यावसायिक सगठन है?[2] परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यवसाय शरीर समान एक सामूहिक व्यवस्था है ओर हमे उसका उसी प्रकार विचार करना चाहिये इसलिये जब उत्पादन एक निश्चित मात्रा मे होता है, तब प्रतिनिधि फर्म उस व्यवसाय का सब फर्मो के सब अगो का प्रतिनिधि होता है। मार्शल ने जब यह कहा कि उत्पादन की कुल मात्रा पर जो बाह्य और आन्तरिक बचत होती है, वह सब साधारणत प्राप्त होती है, तब उसका अभिप्राय इसी बात से था। कभी-कभी यह प्रश्न किया जाता है कि प्रतिनिधि फर्म विस्तार (size) बतलाता है या लागत (cost)[3] दो में से वह किसका प्रतिनिधित्व करता है? यद्यपि कही-कही मार्शल ने विस्तार को महत्व देने का प्रयास किया है, परन्तु अच्छी तरह विचार करने से पता चल जाता है कि उसके दिमाग मे बराबर यही विचार था कि प्रतिनिधि फर्म उद्योग की सामान्य

क्या वह औसत फर्म है?

---

[1] *Marshall*, Principles of Economics, p 318

[2] *Robbins*, "The Representative Firm," Economic Journal Sept. 1928

[3] *Maxwell*, "Some Marshallian Concept," American Economic Review, Dec. 1929.

(normal) लागत का द्योतक है। रावर्टसन की भी यही राय है। उसने लिखा है कि "मेरे विचार से पूरे उद्योग की पूर्ति रेखा के एक छोटे प्रतिविम्ब से अधिक मानने की आवश्यकता नही है।"[1]

पीगू का विचार भी इसी प्रकार का है। उसकी राय मे पूरे उद्योग के साम्य की स्थिति में होने पर भी, अर्थात् जव उद्योग एक निश्चित माँग होने पर और सामान्य मूल्य ख पर एक निश्चित मात्रा क का उत्पादन करता है, यह सम्भव है कि उस उद्योग के सव फर्म साम्य की स्थिति मे न हो। सम्भव है कुछ की उन्नति हो रही है और कुछ फर्मों की अवनति। परन्तु फिर भी एक ऐसा फर्म हो सकता है, जो उद्योग के साम्य की स्थिति मे होने पर स्वय भी साम्य की स्थिति मे हो सकता है, जो सामान्य पूर्ति के दामो पर (normal supply price) लगातार उत्पादन करता रहता है। ऐसे फर्म को वह साम्य फर्म कहता है।[2]

साम्य फर्म

प्रतिनिधि फर्म का तात्पर्य इस प्रकार है। परन्तु इधर हाल मे इस सिद्धान्त की बडी कडी आलोचना हुई है। इनमे से कुछ आलोचनाओ पर हम विचार कर चुके है और देख चुके है कि प्रतिनिधि फर्म एक विशेप प्रकार का औसत फर्म होता है। वह दीर्घकालीन औसत फर्म होता है। वह व्यवसाय के किसी विशेप अग का प्रतिनिधित्व नही करता है। वह व्यवसाय के सव अगो को एक शरीर के समान मानकर उस शरीर का प्रतिनिधित्व करता है। परन्तु इस सम्वन्ध में जो वास्तविक कठिनाई है, वह दूसरी तरह की है। क्या यह सम्भव है कि दीर्घकाल मे जव उद्योग साम्य की स्थिति मे है, तव भी कुछ फर्म ऐसे भी हो जो वास्तव मे हानि सहकर उत्पादन कर रहे हो? यदि ऐसे फर्म है तो उनकी लागत उस उद्योग की दीर्घकालीन पूर्ति की कीमत (supply price) का प्रतिनिधित्व नही कर सकता, क्योकि दीर्घकालीन पूर्ति की कीमत मे सामान्य लाभ भी शामिल रहता है। परन्तु रॉविन्स इससे सहमत नही है, दीर्घकाल मे कोई भी साहसी जव तक कि उसकी कार्यक्षमता सामान्य स्तर से कम नही है, घाटे पर उत्पादन नही करेगा, क्योकि घाटा होने पर वह अन्य उद्योग को अपना लेगा। साम्य की स्थिति तभी आ सकती है, जव सामान्य कार्यक्षमता वाले साहसी को उस उद्योग मे उतना ही नफा हो जितना वह किसी अन्य उद्योग से आशा कर सकता है। रॉविन्स का मत है कि जिस प्रकार एक प्रतिनिधि भूमिखण्ड, अथवा प्रतिनिधि मशीन, या प्रतिनिधि मजदूर के मानने की आवश्यकता नही है, उसी प्रकार एक प्रतिनिधि फर्म अथवा प्रतिनिधि

आलोचना

---

[1] *Robertson*, "Increasing Returns and Representative Firm," Economic Journal, Mar 1930, p 89

[2] *Pigou*, Economics of Welfare, 3rd Ed, p 788

उत्पादन के मानने की आवश्यकता नही है। दीर्घकाल में उत्पादन के सब साधनों को सामान्य मुनाफा देना चाहिये। उत्पादक को भी सामान्य लाभ होना चाहिये। अन्यथा एक उद्योग छोड कर दूसरे उद्योग मे जाने की प्रवृत्ति जोर पकड़ जायगी और इस अस्थिरता से साम्य गडबड हो जायगा। परन्तु मार्शल और पीगू इस मत से सहमत नहीं है। उनका मत है कि दीर्घकाल मे भी जब पूरे उद्योग मे साम्य हो, तब भी सामान्य योग्यता या कुशलता के कुछ फर्म हो सकते है, जिनका उत्पादन हानि सहकर होता हो। साम्य स्थिर होने के लिये केवल इतनी आवश्यकता है कि जहा एक तरफ नये फर्मो में विस्तृत होने की प्रवृत्ति होगी वहा पुराने फर्मो मे सकुचित होने की प्रवृत्ति दिखाई देगी। मार्शल ने वृक्षो का जो उदाहरण दिया है, उसका वास्तविक प्रयोग नही है। किसी व्यक्ति की तरह एक फर्म का भी निश्चित जीवनकाल रहता है। व्यक्ति की तरह फर्म के जीवन की भी कई अवस्थाए रहती है। इसलिये साम्य होने के लिये यह आवश्यक नही है कि उद्योग मे साम्य होने पर किसी फर्म के उत्पादन में भी साम्य हो। इसलिये किसी उद्योग मे दीर्घकालीन पूर्ति का मूल्य अध्ययन करने के लिये प्रतिनिधि फर्म का सिद्धान्त उचित है।

सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता

कुछ लोगो ने इस सिद्धान्त की प्रत्यक्ष उपयोगिता पर सन्देह किया है। प्रतिनिधि फर्म किसी भी उद्योग मे स्थित फर्मों का औसत नही होता है। राबर्टसन का कहना है कि व्यवसाय सूचिका (business directory) में जितने फर्मों के नाम रहते है, उनमे से कोई भी फर्म प्रतिनिधि फर्म का उदाहरण नही बन सकता है। जब दीर्घकाल मे दी हुई आर्थिक परिस्थितियां साम्य की अवस्था में पहुँच जाती है, तब एक औसत फर्म को प्रतिनिधि फर्म कह सकते है। यह एक 'स्थिर-स्थिति (stationary state) का सिद्धान्त या अनुमान है। इसलिये इस सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता सीमित है। लेकिन लकाशायर की सूता मिलो का व्यावसायिक इकाइयो के विस्तार और कार्यक्षेत्रो के सम्बन्ध मे चेपमैन (Chapman) और एशटन (Ashton) ने जो अनुसन्धान किये है, उनसे सिद्ध होता है कि वास्तविक परिस्थितियो मे भी यह सिद्धान्त उपयुक्त है।[2] सयुक्तराष्ट्र अमेरिका मे प्रथम महायुद्ध में मूल्य निर्धारण कमेटी (Price Fixing Committee) के कार्य के सम्बन्ध में

---

[1] *Robbins*, "The Representative Firm," Economic Journal, Sept 1928, p 393

[2] Journal of the Royal Statistical Society, June 1914.

टॉउजिग (Taussig) के जो अनुभव हुए थे, उनसे भी इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है।[1]

परन्तु एक महत्त्वपूर्ण आलोचना जो इस सिद्धान्त की जड ही काट देती है, वह यह है कि जहाँ क्रमागत वृद्धि की परिस्थितियाँ उपस्थित होती है, वहाँ दीर्घकाल मे एकाधिकार अथवा अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितिया आ जाती है। जब हम प्रतिनिधि फर्म का अध्ययन करते है, तब यह मान लेते है कि दीर्घकाल मे पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति रहेगी, व्यवसाय मे अनेक फर्म रहते हे ओर क्रमागत वृद्धि की प्रवृत्ति रहती है। इसके साथ ही केवल प्रतिनिधि फर्म की लागत सामान्य पूर्त्ति-मूल्य के बराबर होती है ओर सामान पूर्त्ति-मूल्य का निर्धारण कुल उत्पादन को ध्यान में रखकर करना पडता है। लेकिन यदि दीर्घकाल मे लागत मे क्रमागत ह्रास (decreasing costs) की प्रवृत्ति रहती है; तो उस व्यवसाय मे अधिक फर्म नही रह सकते, केवल एक अथवा थोडे से फर्म रह जायँगे। अपना विस्तार करने मे जब तक कोई फर्म खर्च घटा सकता है, तब तक वह अपना उत्पादन बढाता जावेगा, जिससे कि उसकी लागत कम होती जावे अथवा उसे कम लागत का लाभ मिलता जावे। यदि फर्म जल्दी शुरू होता है अथवा यदि उसका मालिक साहसी है तो वह अपने उत्पादन के दाम घटाकर सब प्रतिनिधियो को मात दे देगा और अत मे सारे बाजार पर अपना अधिकार जमा लेगा। इसका परिणाम एकाधिकार होगा। अथवा वृहत् उत्पादन से जो किफायत होती है, उसे प्राप्त करने के लिये जब कोई फर्म अपना कार्यक्षेत्र विस्तृत करेगा, तब यह सम्भव है कि उस उद्योग मे जो कुछ उत्पादन होता है, उसका बहुत बडा अश इसी फर्म द्वारा होगा। तब पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति समाप्त हो जायगी और मूल्य निर्धारण अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियो के अनुसार होगा।[2] मूल्य के सिद्धान्त के अन्तर्गत किसी भी परिस्थिति मे प्रतिनिधि फर्म के सिद्धान्त के लिये स्थान नही है। यदि दीर्घकाल मे पूर्ण प्रतियोगिता पाई जाती है तो इसका मतलब यह है कि क्रमागत वृद्धि की प्रवृत्ति खतम हो चुकी है। तब प्रत्येक फर्म का रूप आदर्श अधिकतम (Optimum Size) होगा। उसमे सब से कम औसत लागत पर उत्पादन होगा और उन लागत के बराबर मूल्य भी होगा।

प्रतियोगिता की परिस्थितियो का क्रमागत वृद्धि से मेल या साम्य नही होता इसलिये यह सिद्धान्त बेकार है।

---

[1] "Price-fixing as seen by a price-fixer" Quarterly Journal of Economics, Nov 1919 Also see the comment of Mr Ragnar Frisch—'The representative firm is in other words a construction of the mind, a device by which to reason quickly and conveniently on the evolution of the market as a whole . But if there are many firms in the market, and each of them develops through a typical life cycle, several of them at some time or other in their development pass through a stage in which for a while they are similar to the representative firm "—Alfred Marshall's Theory of Value" in the Quarterly Journal of Economics, Nov 1950, p 513.

[2] *Straffa*, Economic Journal, 1928, p. 336.

अध्याय २१

परस्पर-निर्भर मूल्य

(Interdependent Prices)

अभी तक हमने अपना अध्ययन इस अनुमान के आधार पर किया है कि किसी व
की कीमत अन्य वस्तुओ की कीमत पर विचार किये बिना स्वतन्त्रतापूर्वक निर्धारित
सकती है। अर्थात् उसकी कीमत निर्धारित करने मे अन्य वस्तुओ की कीमत का कु
प्रभाव नही पडेगा। परन्तु दो अथवा अधिक वस्तुओ की कीमते इस प्रकार परस्
सम्वन्धित हो सकती है कि एक वस्तु की माग या पूर्ति में परिवर्तन होने से दूसरी वस्तु
की माँग अथवा पूर्ति अथवा कीमत पर असर पडेगा। अब हम कीमतो के इस प्रकार
पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करेंगे।

संयुक्त माँग (Joint demand)—जब किसी आवश्यकता विशेष की पू
के लिये अथवा किसी वस्तु विशेष के उत्पादन के लिये कई वस्तुओ की माग ए
साथ की जाती है, तब उस माग को सयुक्त म
कहते है। मोटरकार की सवारी के लिये मोटरकार अ

पूरक वस्तुएं।

पेट्रोल की एक साथ आवश्यकता होती है। लिखने के लिये कलम और स्याही त
चाय बनाने के लिये दूध, चाय और चीनी की सयुक्त माँग होती है। इसी प्रकार अ
कई माँगे सयुक्त रूप मे होती है। परन्तु माँग का सबसे अच्छा उदाहरण उत्पादन
उन साधनो मे पाया जाता है, जो किसी वस्तु के बनाने के लिये आवश्यक होते
उदाहरण के लिये मकान बनाने के लिये मिस्त्री, राज, बढई इत्यादि कई प्रकार
मजदूर तथा ईट, चूना, सीमेट, लकडी, लोहा इत्यादि कई प्रकार के सामानो की
साथ आवश्यकता पडती है। इन वस्तुओ को पूरक वस्तुएं (complementa
goods) भी कहते है। उत्पादन के साधनो से जो वस्तु बनती है, उसकी माग
प्रत्यक्ष माग (direct demand) कहते है। परन्तु उत्पादन के साधनो की म
मूल्य वस्तु की माँग के कारण होती है, इसलिये उसे परोक्ष माँग (indirect
derived demand) कहते है।

इन बातो का मूल्य के सिद्धान्त पर क्या प्रभाव पडता है? जिन वस्तुओ की म
सयुक्त रूप से होती है, उनकी अलग से माँग रेखा निश्चित करनी कठिन है। क
मशीनो वगैरह की उपयोगिता कमीज मे जानी जाती है। लेकिन कमीज

उपयोगिता का कितना अश कपास मे ओर कितना मशीन मे बॉटा जायगा ? यह जानने का कोई उपाय नही है। अब प्रश्न यह उठता है कि जिन वस्तुओ की सयुक्त माँग होती है, उनकी उपयोगिता किस प्रकार जानी जाय ?

इस प्रश्न का हल हम सीमान्त व्याख्या द्वारा जान सकते है। जिन वस्तुओ की माँग सयुक्त होती है, उनकी सीमान्त उपयोगिता निश्चित करने के लिये हम एक वस्तु की मात्रा वदलते रहते है ओर अन्य वस्तुओ की पूर्त्ति स्थिर रखते है। किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता जानने के लिये अन्य वस्तुओ को स्थिर रखकर किसी एक वस्तु की मात्रा मे घटा-वढी करते रहते है कि उस वस्तु की मात्रा थोडी कम लेगे अथवा अधिक। रोटी और मक्खन की माग सयुक्त होती है। मान लो रोटी की मात्रा वही रहती है, पर मक्खन की मात्रा कुछ वढा दी जाती है। इससे उपभोक्ता की उपयोगिता मे कितनी वढती होगी ? इस वढती से उपभोक्ता की मक्खन की सीमान्त उपयोगिता जानी जा सकती है। एक दूसरा उदाहरण ले लिया जाय। मान लो सूती कपडा दो तरीको से वनाया जा सकता है। एक मे प्रति मजदूर पीछे तीन करघे और दूसरे मे प्रति मजदूर पीछे चार करघे काम करेगे। दूसरे तरीके से जो अधिक कपडा वनेगा वह चोथे करघे के कारण होगा। अर्थात् पूंजी की एक अधिक इकाई के कारण। इस अधिक उत्पादन को हम सीमान्त उत्पादन अथवा पूंजी की एक इकाई की सीमान्त उपयोगिता कह सकते है। **इस प्रकार स युक्त माँग के विभिन्न साधनों के अनुपात मे परिवर्त्तन करके हम प्रत्येक की सीमाँत उपयोगिता जान सकते है।** जिस स्थान पर उत्पादन की सीमान्त लागत और सीमान्त उपयोगिता एक वरावर होगी, उसी स्थान पर मूल्य स्थिर होगा।

अब प्रश्न यह होता है कि जब उत्पादन के कई साधनो की उपभोग की कोई वस्तु वनाने के लिये सयुक्त माँग होती है, तव उनमे से एक साधन अपनी उपयोगिता के लिये अधिक मूल्य किन परिस्थितियो मे प्राप्त कर सकता है। मान लो मकानो मे तथा उनके वनाने मे जो समान लगते है, उनमे साम्य है। अव मान लो गारा वनानेवालो ने हडताल कर दी है। वे अधिक मजदूरी माँगते है। अव उन्हे किन परिस्थितियो मे अधिक मजदूरी मिल सकती है ?

ट्रेड यूनियन सदस्यो की मजदूरी कब वढ़वा सक्ता है ?

पहिली शर्त तो यह है कि गारेवाले का काम इतना आवश्यक हो कि उसके विना काम न चल सके ओर उनके वदले मे दूसरे लोग प्राप्त न हो सके। अर्थशास्त्र की भाषा मे हम यह कहेगे कि उनके श्रम की माँग अर्थात् उस साधन की माँग वेलोचदार हो। इस शर्त की आवश्यकता साफ जाहिर है। यदि छपाईवालो को आसानी से हटाया जा सकता है, तो उन्हे अधिक वेतन नही मिलेगा। दूसरी शर्त यह है कि उस वस्तु की माँग भी वेलोचदार हो, जिसके लिये वह साधन आवश्यक है। जैसे, यदि मकानो की पूर्त्ति वेलोचदार है, तो उनकी पूर्त्ति मे कमी होने पर उनकी कीमत वहुत वढ जायेगी। यदि गारेवाले हडताल कर देते है, तो मकानो का वनना वन्द हो जायगा

तथा उनकी पूर्ति और कम हो जायगी, जिससे मकानो के दाम और अधिक बढ जायेंगे। इस ऊंची कीमत के लालच से तथा भविष्य मे अधिक मुनाफे की लालच से मकान बनवानेवाले उनकी मजदूरी बढा देगे। तीसरी शर्त यह है कि उस साधन की कीमत उत्पादन की कुल लागत का बहुत थोड़ा अश हो। हमने जो उदाहरण लिया है, उसमे गारेवालो की मजदूरी, मकान बनाने की कुल कीमत का बहुत थोडा अश होना चाहिये हेडरसन के शब्दो मे 'उसमे विशेष न होने की विशेषता होनी चाहिये।' चूंकि उनकी मजदूरी की लागत कुल लागत का बहुत थोडा-सा हिस्सा है, इसलिये कुल लागत थोडी सी बढ जाने से विशेष अतर नही पडता। चौथी शर्त यह है कि जो दूसरे सहयोगी साधन है, वे ऐसे हो, जो 'दबाये' (squeezablo) जा सकें। अन्य साधनों की माँग मे थोडी-सी कमी होने पर उनकी कीमत मे काफी कमी होनी चाहिये, जिससे पहले साधन की अधिक कीमत देने के लिये काफी गुंजाइश रहे। हमने जो उदाहरण लिया है, उसमे यदि गारा बनानेवालो की हडताल के कारण मकान बनना बन्द हो जाता तो राज, बढई इत्यादि सब बेकार हो जायेगे और वे कम मजदूरी स्वीकार करने को तैयार होगे, तो इधर जो बचत होगी, उसमे से गारा बनानेवालो को अधिक मजदूरी दी जा सकती है।

यदि इनमे से कोई भी शर्त पूरी होती है, तो वह साधन विशेष अपनी उपयोगिता के लिये अधिक कीमत प्राप्त कर सकता है।

संयुक्त पूर्ति का अर्थ।

संयुक्त पूर्ति (Joint Supply)—जब दो अथवा अधिक वस्तुओ का उत्पादन सयुक्त लागत पर इस प्रकार होता है कि एक के उत्पादन से दूसरी वस्तुओं का उत्पादन अपने आप होता है, तब यह कहते है कि उनकी पूर्ति संयुक्त होती है। उनके उत्पादन को 'सयुक्त उत्पादन' अथवा 'सयुक्त लागत' का उत्पादन कहते है। कपास और बिनौला, ऊन और गोश्त तथा गैस और जलाऊ कोयला इसके अच्छे उदाहरण हैं। इनकी सबसे बडी विशेषता यह होती है कि एक के उत्पादन मे जो पूंजी और श्रम लगता है, उससे दूसरे का उत्पादन अपने आप हो जाता है। सयुक्त उत्पादन मे जो वस्तुएँ कम महत्त्व की होती है, अर्थात् जिनके दाम कम होते है, उन्हे उपोत्पाद (by-products) कहते है।

सयुक्त उत्पादन की वस्तुओ का मूल्य निर्धारण किस प्रकार होता है? हम ऊन और गोश्त के उत्पादन की कुल लागत जानते हैं। दोनो वस्तुओ के उत्पादन का अलग-अलग खर्च हम नही जान सकते। जब उनका खर्च अलग-अलग नही जाना जा सकता, तो उनका मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाय?

विश्लेषण के लिये हम सयुक्त उत्पादन की वस्तुओ को दो विभागो मे बाँटेंगे। सयुक्त उत्पादन की कुछ ऐसी वस्तुएँ होती है, जिनके पारस्परिक अनुपात बदले जा

संयुक्त उत्पादन के दो भाग ।

सकते है। ऊन और गोश्त इस विभाग मे आते है। नसल में परिवर्तन करके मान लो, एक ऐसी भेड पैदा की जाती है, जो गोश्त अधिक ओर ऊन कम देती है। इस प्रकार भेड से प्राप्त होनेवाले ऊन और गोश्त के उत्पादन का अनुपात बदला जा सकता है। कुछ वस्तुएं ऐसी होती है, जिनका पारस्परिक अनुपात मनुष्य नही बदल सकता। कपास की एक निश्चित फसल से जितना बिनोला और कपास उत्पन्न होगा, उसका अनुपात प्रकृति ने बाँध दिया है।

यदि सयुक्त उत्पादन की वस्तुएँ पहिले वर्ग मे आती है, अर्थात् यदि उनका पारस्परिक अनुपात बदला जा सकता है, तो सीमान्त विश्लेपण द्वारा प्रत्येक की कीमत जानी जा सकती है। हमे ऊन अथवा गोश्त के उत्पादन की कुल लागत जानने की आवश्यकता नही है। यदि हम दो मे से किसी एक की सीमान्त लागत निश्चित कर सकते है, अर्थात् यदि हम अतिरिक्त इकाइयो की, अथवा एक इकाई अधिक या एक इकाई कम की उत्पादन की लागत जान सकते है, तो हम ऊन और गोश्त प्रत्येक का मूल्य निश्चित कर सकते है, क्योकि हम जानते है, कि मूल्य प्राय सीमान्त उत्पादन की लागत के बराबर होता है। अब हम एक भेडो के झुंड के पालने की लागत पर विचार करेंगे जो एक निश्चित मात्रा मे ऊन और गोश्त देगी। एक दूसरे झुंड की लागत पर भी विचार करेंगे, जो ऊन तो पहिले के बराबर देता है, परन्तु गोश्त की मात्रा भिन्न है। जब पहिले और दूसरे झुंड की लागत मे जो अन्तर होगा, उसे हम दूसरे झुंड से प्राप्त होनेवाले गोश्त के कारण कह सकते है। यह अतिरिक्त लागत गोश्त की सीमान्त लागत है। और दीर्घकाल मे गोश्त की कीमत इसी के बराबर होने की प्रवृत्ति रखेगी। एक उदाहरण द्वारा इसे अच्छी तरह समझा जा सकता है।

मान लो, भेड की एक नसल है, जिसमे प्रत्येक भेड की कीमत १२ रुपया है। प्रत्येक भेड ९ इकाई ऊन और ११ इकाई गोश्त देती है। एक दूसरी नसल की भी भेड है, जिसमे प्रत्येक भेड का दाम १० रुपया है। इस नसल की प्रत्येक भेड ८ इकाई ऊन और ८ इकाई गोश्त देती है। पहिली नसल की ८ भेडे ७२ इकाई ऊन और ८८ इकाई गोश्त देगी। इन ८ भेडो की कीमत ९६ रुपया हुई। दूसरी नसल की ९ भेडो से हमे ७२ इकाई ऊन और ८१ इकाई गोश्त मिलता है। इन ९ भेडो का दाम ९० रुपया हुआ। इसलिये ६ रुपया अधिक खर्च करने से हमे ७ इकाई गोश्त अधिक मिल जाता है। गोश्त की एक इकाई की सीमान्त कीमत १३ आ० ६ पा० हुई। इसी प्रकार पहिली नसल की ९ भेडो से हमे ऊन की ८१ इकाई, गोश्त की ९९ इकाई मिलती है। भेडो के दाम १०८ रुपये हुए। दूसरी नसल की ११ भेडो से हमे ८८ इकाई ऊन और ९९ इकाई गोश्त मिलता है, जब कि उनकी कीमत ११० रुपया है। इसलिये एक इकाई ऊन की सीमान्त कीमत ४ आना ७ पाई हुई।

प्रश्न हो सकता है कि क्या इस प्रकार की नसल में परिवर्तन सम्भव है? उत्तर में कहा जा सकता है कि सम्भव है और इसके उदाहरण मिलते हैं। जब आस्ट्रेलिया के ऊन की इंग्लैंड में अच्छी माग हुई, तब आस्ट्रेलियावालों ने एक ऐसी नसल की भेड़ें तैयार की जो ऊन अधिक और गोश्त कम देती थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जब गोश्त को सड़ने से बचाकर निर्यात करना सुगम हो गया, तब एक ऐसी नसल की भेड़ पाली गई जो गोश्त अधिक और ऊन कम देती थी।

परन्तु यदि संयुक्त उत्पादन की वस्तुएँ दूसरे वर्ग की होती हैं, अर्थात् उनके अनुपात नहीं बदले जा सकते, तब उनके उत्पादन की सीमान्त लागत अलग-अलग नहीं जानी जा सकती । तब उनका मूल्य दो सिद्धान्तों द्वारा निश्चित होगा। पहिला यह कि कपास और उसके बीज उत्पादन करने का कुल खर्च उन दोनों के विक्री मूल्य द्वारा पूरा होना चाहिये। दोनों वस्तुओं में से एक का मूल्य ऐसा हो कि जब उनकी पूरी मात्रा बिक जावे तो कुल का विक्री मूल्य कुल लागत खर्च के बराबर हो।

जिनका अनुपात नहीं बदला जा सकता।

दूसरा सिद्धान्त यह है कि कपास और बीज में से प्रत्येक का मूल्य उपभोक्ता के लिये उसकी सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित होगा। मूल्य इस आधार पर निश्चित होगा कि बाजार में उस वस्तु की क्या कीमत लगेगी। परन्तु उन दोनों वस्तुओं की अलग-अलग कीमत भी ऐसी होनी चाहिये कि उससे कुल उत्पादन की लागत वसूल हो जाय।
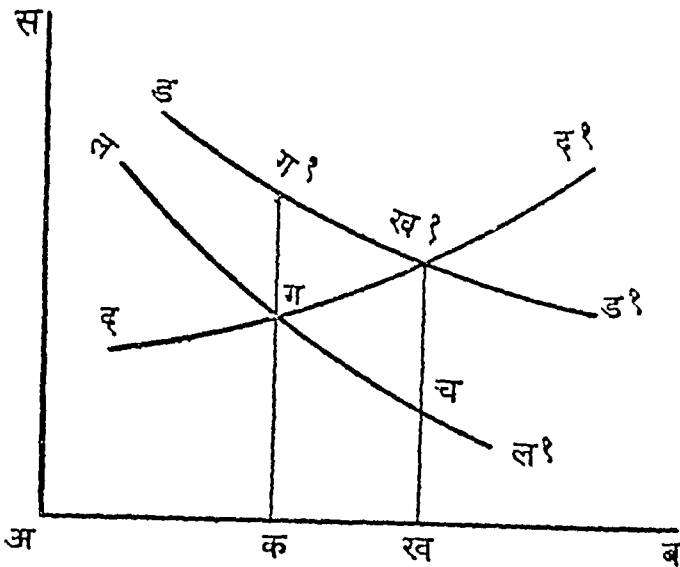
चित्र नं० ३१

दद१ पूर्त्ति रेखा कपास और उसके बीज उपजाने की कुल लागत बतलाती है। लल१ बीज की माँग और डड१ कपास की माँग बतलाती है। इसलिये गक वह कीमत

बतलाती है, जिस पर बीजो की अक इकाइयाँ बिकेंगी। अब ग से गग[1] रेखा खीची जो कपास की अक इकाइयो की माँग की कीमत बतलाती है। ग[1] का स्थान डड[1] रेखा पर होगा, जो पूर्त्ति रेखा को ख[1] विन्दु पर काटती है। साम्य की स्थिति में बीजो का दाम चख होगा और कपास का दाम चख[1] होगा।

परन्तु एक दूसरी परिस्थिति भी हो सकती है। बाजार के लिये तैयार करने में प्रत्येक वस्तु मे कुछ प्रमुख लागत (prime costs) लग सकती है। ये प्रमुख खर्च वे सीमा होते है, जिनके नीचे कीमत नही गिर सकती। जैसे, कपास के मूल्य मे उसे बेचने का प्रमुख खर्च अवश्य शामिल रहेगा। प्रत्येक वस्तु पर कितना पूरक या सयुक्त खर्च लगेगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि प्रत्येक वस्तु कितना खर्च सह सकती है, अर्थात् प्रत्येक की माँग की लोच पर निर्भर होगा।

सयुक्त उत्पादन मे यदि एक वस्तु की माग घटती या बढ़ती है, तो दूसरी वस्तु पर उसका क्या प्रभाव पडता है ? जैसा हम कह चुके है, गैस और कोयला सयुक्त उत्पादन है। जब गैस की माँग बढती है, तो कोयले की माँग पर उसका क्या प्रभाव पडता है। यह तो जाहिर है कि माँग बढने से गैस की कीमत बढ जायगी और उसके उत्पादन से उत्पादको को कुछ अधिक लाभ होगा। परन्तु अधिक गैस उत्पादन करने से जलाऊ कोयले का भी उत्पादन अधिक होगा। परन्तु उनकी माँग वही है, इसलिये कोयले के दाम गिरेंगे।

रेलो मे संयुक्त लागत (Element of Joint Cost in Railways)– क्या रेलवे यातायात को हम सयुक्त लागत का उदाहरण मान सकते है ? टाउसिग (Taussig) के मतानुसार, है। परन्तु पीगू के मत मे कुछ अपवादो को छोड़ कर वह सयुक्त लागत का उदाहरण नही हो सकता। टाउसिग का मत है कि जब एक बड़ी मशीन का उपयोग कई कामो के लिए होता है, तब हम उसे सयुक्त लागत पर उत्पादन कह सकते है।[1] उद्योग मे पूरक लागत अर्थात् सडक, डब्वे, इजिन, तथा ऐसी अन्य कई वस्तुएँ बनाने के खर्च रेलवे बनाने के कुछ खर्च का काफी बडा भाग होता है। रेलें चलाने के खर्च अर्थात् सडको की रक्षा और मरम्मत का खर्च, डब्वो की मरम्मत का खर्च, कर्मचारियो के वेतन इत्यादि सम्बन्धी खर्च भी काफी अधिक रहते है और वे लगभग बधे हुए रहते है। चाहे हम रेलवे मशीनरी का पूरा-पूरा उपयोग करें अथवा नही, ये खर्च तो करने ही पडेंगे। इसके सिवाय ऐसे साधन नही है, जिनके द्वारा किसी एक कार्य का ठीक लागत अलग से निश्चित की जा सके। जैसे कि यात्री ले जाने का अथवा माल ढोने का यथार्थ खर्च अलग निश्चित नही हो सकता। ये सामान्य

---

[1] *Taussig*, Principles of Economics, Vol. II, p, 423.

खर्च न हम केवल माल ढोने पर लगा सकते है, न केवल मुसाफिरो पर। एक यह कारण है, जिससे रेले सयुक्त उत्पादन के सब लक्षण दिखलाती है। रेले जितने प्रकार की बाजारो की आवश्यकताएं पूरी करती है, वे सब एक दूसरे से स्वतन्त्र है। रेलें यात्रियो और माल को यातायात देती है, कोयले के व्यापारियो को यातायात देती है, तावे के व्यापारियो को यातायात देती है, इत्यादि। और ये सब एक दूसरे से स्वतन्त्र है। एक कोयले के व्यापारी की यातायात की जो माग-सूची होगी, वह ताँवे के व्यापारी की यातायात की माग-सूची से भिन्न और स्वतन्त्र होगी। ये दो विशेषताएं—बहुत बडे ऊपरी या पृथक खर्च और यातायात के किसी कार्य की पृथक लागत निश्चित करने की असमर्थता तथा एक ही मशीन द्वारा विभिन्न स्वतन्त्र वाजारो की आवश्यकता पूर्ति—ये चीजे रेलवे यातायात के उद्योग को सयुक्त लागत का उद्योग वना देते है।

परन्तु पीगू का कहना है कि एक अपवाद को छोड़कर रेलो मे सयुक्त पूर्ति के कोई लक्षण नही पाये जाते। चूंकि पृथक खर्च किसी व्यवसाय की कुल लागत का बहुत वडा अश है, इससे हम उसे सयुक्त लागत का व्यवसाय नही कह सकते। कई बडे-वडे कारखानो मे, जैसे लोहे और इस्पात के उद्योग मे पृथक खर्च कुल खर्च का बहुत वडा अश होता है। दूसरे यदि एक कार्य, जैसे यातायात लोहे और तावे के व्यापारियो के समान विलकुल भिन्न और स्वतन्त्र वाजारो की आवश्यकता पूर्ति करता है, तो उससे सयुक्त लागत किसी प्रकार सिद्ध नही होती। पीगू के मत मे किसी उद्योग मे सयुक्त लागत तव सिद्ध होती है, जब उसकी पूंजी द्वारा उत्पादित एक वस्तु के वनने से अन्य वस्तुओ का उत्पादन अवश्य होता है। जैसे कि यदि कपास के उत्पादन मे पूंजी लगाई जाय तो उससे कपास के वीजो का उत्पादन अवश्य होगा। सयुक्त उत्पादन की यह सबसे वडी विशेषता है। परन्तु रेलो मे यह विशेषता नही पाई जाती। यदि आप यात्रियो के यातायात के लिये पूंजी लगाते है, तो उससे माल ढोना आवश्यक नही हो जाता। यदि आप कोयला ढोने के लिये पूंजी लगाते है, तो उससे तॉवा ढोना आपके लिये आवश्यक नही होता। केवल एक वात मे सयुक्त लागत का उदाहरण पाया जाता है—जब आप अ स्टेशन से व स्टेशन तक गाडी ले जाते है और व से फिर उसे अ तक वापिस लाते है। क्योकि रेलो का सगठन जैसा है, उसमे गाडियो का वापिस जाना आवश्यक होता है। जब आप गाडियो के एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने के लिये पूंजी लगाते है, तो उसमे वापिसी यात्रा का भी खर्च शामिल रहता है। इसलिये रेलवे यातायात के उद्योग मे सयुक्त लागत द्वारा उत्पादन सिद्ध नही होता।

रेलों का किराया कैसे निश्चित होता है ? (How are Railway Rates determined)–रेलो का किराया दो सिद्धान्तो के आधार पर निश्चित किया जाता है—पहिला कार्य की लागत का सिद्धान्त (cost of service principle) और

कार्य की लागत का सिद्धान्त।

दूसरा कार्य के मूल्य का सिद्धान्त (value of service principle)। कार्य की लागत के सिद्धान्त के अनुसार एक टन माल ढोने का प्रति मील का वही किराया होना चाहिये। यह प्रतियोगिता का सिद्धान्त है। यदि रेले यातायात के साथ-साथ कुछ अन्य सुविधाएँ भी देती है, तो किराया प्रति मील कुछ भिन्न हो सकता है। जैसे, यदि माल जल्दी से ले जाना है ओर गाडी की रफ्तार तेज है, तो किराया कुछ अधिक हो सकता है। माल को सावधानी से उतारना-चढाना इत्यादि सुविधाएँ होती है। कार्य के मूल्य के सिद्धान्त का अर्थ यह लगाया जाता है कि यातायात कितना सह सकता है ('what the traffic will bear') अर्थात् किराया उतना वसूल करना चाहिये, जितना वस्तुएँ सह सकती है। उदाहरण के लिये

यातायात कितना सह सकता है।

हीरे बहुत मूल्यवान वस्तुएँ है, इसलिये वे अधिक किराया सह सकते है, बनिस्वत कोयले के, जिसका मूल्य कम होता है। कुछ वस्तुए अधिक किराया सह सकती है, कुछ बहुत कम। कोयला लकडी इत्यादि कम कीमत की वस्तुए है। इसलिये इनका किराया कम होता है। परन्तु कपडे, धातुएं इत्यादि अधिक कीमती वस्तुएँ होती है, इससे इनका किराया अधिक होता है। किराया इस प्रकार बाँधा जाता है कि रेलो को अधिक से अधिक मुनाफा हो। इस दूसरे सिद्धान्त के अन्तर्गत कई प्रकार के किराये आते है, जो पहिले सिद्धान्त मे नही आते।

सम्मिलित अथवा प्रतिद्वन्द्वी मॉग (Composite or Rival Demand)—जब एक वस्तु की मॉग कई विभिन्न उपयोगो के लिये की जाती है, तब उसे सम्मिलित मॉग (composite demand) कहते है। जैसे कि लोहे की मॉग मकान, पुल और मशीने बनाने के लिये हो सकती है। ये विभिन्न उपयोग लोहे की मॉग को सम्मिलित मॉग कर देते है। प्राय सब कच्चे माल का तथा उत्पादन के प्राय प्रत्येक साधन का उपयोग कई प्रकार के सामान बनाने मे हो सकता है। श्रम का उपयोग उत्पादक के सामान बनाने मे हो सकता है और उपभोक्ता के सामान बनाने मे भी हो सकता है। भूमि का उपयोग कृषि मे हो सकता है और मकान बनाने में भी। उपभोग की दृष्टि से वस्तु के विभिन्न उपयोग एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी (rival) होते है। एक साथ मिलकर वे बाजार से उस वस्तु की कुल मात्रा को ले जाते है। जब उत्पादन के किसी एक साधन मे उपयोग के लिये कई वस्तुएँ प्राप्त रहती है तब उन्हे प्रतिद्वन्द्वी लागत की वस्तुएँ (competing cost goods) कहते है।

हम देख चुके है कि प्रतिस्थापन अथवा बदलने के सिद्धान्त (अथवा सम-सीमान्त उत्पत्ति के नियम) की सहायता से एक वस्तु के विभिन्न उपभोग इस प्रकार किये जा सकते है कि प्रत्येक मे उसकी सीमान्त उपयोगिता एक बराबर रहेगी। यदि किसी

उपयोग मे उसकी सीमान्त उपयोगिता कीमत से अधिक होती है, तो उस वस्तु की उस उपयोग मे अन्य उपयोगो से अधिक मात्रा खिच आवेगी। इसलिये अन्य उपयोगो मे सीमान्त उपयोगिता बढेगी और उस उपयोग मे घटेगी और अन्त में दोनो फिर बराबर हो जावेगी और इस स्थान पर मूल्य स्थिर होगा। इसलिये जिन वस्तुओं की सयुक्त माग होती है, उनका वितरण विभिन्न उपयोगो मे इस प्रकार होता है कि हर जगह उनकी सीमान्त उपयोगिता बराबर रहती है। फिर उन वस्तुओ की कीमत भी ऐसी होगी कि प्रत्येक उपयोग मे उनकी सीमान्त उपयोगिताएं बराबर रहेगी।

सम्मिलित अथवा प्रतिद्वन्द्वी पूर्त्ति (Composite or Rival Supply) जब किसी वस्तु की माग कई वस्तुओ अथवा जरियो द्वारा पूरी की जा सकती है, तब उन्हे उस वस्तु की पूर्त्ति के सयुक्त जरिये कहते है। गोश्त की मांग, हरिण, सूअर अथवा चिडिया के गोश्त से पूरी की जा सकती है। जब कुछ पीने की इच्छा होती है, तब चाय, काफी या कोको पी सकते है। जो वस्तुएँ उपयोग मे एक दूसरे के बदले काम मे आ सकती है, वे सयुक्त पूर्ति के अच्छे उदाहरण है। इसी प्रकार जिस हद तक श्रम और पूंजी एक दूसरे को बदल सकते है, उस हद तक वे सयुक्त पूर्त्ति के उदाहरण है। यद्यपि पूर्त्ति के विभिन्न जरिये एक दूसरे के साथ प्रतिद्वन्द्विता करते है, उन सबकी कुल मात्रा उस वस्तु की कुल माग पूर्त्ति करती है। इन वस्तुओ को प्रतियोगी वस्तुए (competing goods) भी कहते है, क्योकि वे एक आवश्यकता विशेष की पूर्त्ति के लिये आपस में प्रतियोगिता करते है।

प्रतियोगी वस्तुएँ।

प्रतिस्थापन सिद्धान्त की क्रिया के कारण प्रतियोगी पूर्त्तियो का उपभोग उस हद तक होगा, जहाँ तक सीमान्त उपयोगिताएँ अथवा वास्तविक सीमान्त उत्पादन उनके मूल्य के बराबर है। इसलिये प्रत्येक का मूल्य प्रत्येक की सीमान्त उपयोगिता अथवा वास्तविक उत्पादन के बराबर होगा। इसलिये जिन वस्तुओ की पूर्त्ति सयुक्त है, उनका मूल्य उनके उत्पादन की लागत तथा उनकी सीमान्त उपयोगिता अथवा वास्तविक सीमान्त उत्पादन द्वारा निश्चित होगा।

अध्याय २२

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य

(Value Under Monopoly)

पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियो के अन्तर्गत एक वस्तु के बहुत से विक्रेता और सब विक्रेता एक-सी वस्तु बेचेगे। फल यह होगा कि कोई विक्रेता मूल्य कीमत पर प्रभाव नही डाल सकेगा और प्रत्येक विक्रेता उस वस्तु के अतिरिक्त ादन को बाजार भाव पर बेच सकेगा। एकाधिकार मे परिस्थितियाँ बिलकुल ल जाती है। वे पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियो से बिलकुल उलटी हो जाती है। ाधिकार तब होता है, जब किसी वस्तु का केवल एक उत्पादक होता है। अन्य फर्मो का उस उद्योग मे प्रवेश करना असम्भव होता है और एकाधिकारी जिस वस्तु उत्पादन करता है, उस वस्तु के बदले मे अन्य किसी वस्तु का उपयोग नही हो ता।

एकाधिकार और पूर्ण प्रतियोगिता मे अन्तर (Difference between onopoly and perfect competition) किसी प्रतियोगी उत्पादक की ह एकाधिकारी उत्पादक अपना लाभ अधिक से अधिक करना चाहेगा। जिन रस्थितियो मे वह उत्पादन कार्य करेगा वह पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियो से भिन्न ी होगी। इसलिए एकाधिकारी की लागत मूल्य की रेखाये एक प्रतियोगी उत्पादक रेखाओ से मूलत भिन्न नही होगी। परन्तु एकाधिकारी और प्रतियोगी उत्पादक कुछ महत्त्वपूर्ण अन्तर होते है।

एक अन्तर तो उत्पादको के लिए माँग की रेखा की प्रकृति है। पूर्ण प्रति-ागिता की स्थिति मे उत्पादक के सामने जो माँग की रेखा होती है वह अत्यन्त ोचदार होती है, उसके लोच की सीमा नही होती। वह कुल उत्पादन का बहुत ोटा अश पैदा करता है और यदि वह एक और इकाई का उत्पादन करता है ो उसे वह बाजार मे उसी भाव बेच सकेगा जिस भाव पहली मात्रा बेची। परन्तु काधिकारी एकमात्र अकेला उत्पादक होता है। और यदि वह अतिरिक्त मात्रा ा उत्पादन करता है तो यह उसके कुल उत्पादन का स्पष्ट रूप से अतिरिक्त भाग ोगा जिसको वह बाजार मे कम कीमत पर बेच सकेगा। दूसरे शब्दो मे एका-धिकारी के सामने जो माँग रेखा होगी वह दाहिनी ओर को नीचे झुकी होगी।

दूसरा अन्तर यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत या तो सन्तुलन बिन्दु (Equilibrium Point) पर या उसके समीप बढेगी, परन्तु एकाधिकार की स्थिति मे ऐसा होना आवश्यक नही। पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति मे प्रत्येक फर्म अतिरिक्त इकाइयो का उत्पादन कर सकती है और उस कीमत पर उनको बाजार मे बेच सकती है जिस कीमत पर पहली इकाइया बेची। उनको अपने कारबार को बढाने से रोकने वाला कोई नही है। इसलिए वह तब तक अतिरिक्त इकाईयो का उत्पादन करती रहेगी जब तक कि सीमान्त लागत बढ़ने न लगे। जब तक अधिक उत्पादन के साथ ही सीमान्त लागत गिर रही है और कीमत से कम है तब तक उत्पादक को अतिरिक्त इकाइयो का उत्पादन करने मे लाभ होगा। वह उस स्थिति मे तब तक उत्पादन करता रहेगा जब तक उसकी सीमान्त लागत मे वृद्धि न होने लगे और कीमत के बराबर न हो जाय। परन्तु एकाधिकारी के साथ यह स्थिति पैदा होना आवश्यक नही है। उसकी सीमान्त लागत बढ सकती है, घट सकती है और स्थिर भी रह सकती है। वह उस बिन्दु तक उत्पादन करता रहेगा जहा पर उसकी सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर हो जाती है ओर उसकी सीमान्त आय कीमत से नीची है।

तीसरा अन्तर यह है कि पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत कोई भी उत्पादक दीर्घकाल मे सामान्य लाभ से अधिक नही कमा सकता है। परन्तु एक एकाधिकारी अधिक लाभ कमा सकता है, सामान्यतया सामान्य लाभ से अधिक लाभ कमाता है और लाभ की यह ऊँची दर दीर्घकाल मे भी कायम रह सकती है।

सीमान्त आय (Marginal Revenue)–एक साधारण सिद्धान्त है, जिसके अनुसार एकाधिकार अपना लाभ अधिक से अधिक कर सकता है वह यह है कि उत्पादन की सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होनी चाहिये। जैसा हम देख चुके है सीमान्त लागत वस्तु की अतिरिक्त इकाई उत्पादन करने की अतिरिक्त लागत है। सीमान्त आय "कुल आय के अतिरिक्त वह आय है, जो उत्पादन की अतिरिक्त या अधिक इकाइयो के बेचने से प्राप्त होती है।"[1] मान लो एक एकाधिकारी किसी वस्तु की १० इकाइयाँ २ रु० प्रति इकाई के हिसाब से बेचता है और ११ इकाइयाँ १ रु० १५ आ० प्रति इकाई के हिसाब से बेच सकता है। पहिली बिक्री मे उसे २० रु० प्राप्त होते है और दूसरो मे २१ रु० ५ आ०। इस प्रकार हम देखते है कि यदि एकाधिकारी एक इकाई अधिक बेचता है, तो उसकी कुल प्राप्ति मे १ रु० ५ आ० बढ जाता है। यह **अतिरिक्त इकाई की सीमान्त आय** है। हमने यह मान लिया है कि उत्पादक अतिरिक्त इकाइयां पहिली की

[1] *Joan Robinson*, Economics of Imperfect Competition, p 51.

पर नहीं बेच सकेगा। एकाधिकारी का यही हाल होता है। किसी भी बाजार के व्यवसाय का बहुत बडा अंश उसके हाथ मे रहता है। इसलिये बिक्री बढाने के लिये उसे दाम भी घटाने पडेगे। भाव घटाने से उसकी आय भी कम हो जायगी, जो उसे कुल इकाइयों की बिक्री से प्राप्त होती है। इस प्रकार एक अतिरिक्त इकाई बेचने से एकाधिकारी की कुल आय मे वह रकम बढ जावेगी, जो उस अतिरिक्त इकाई के मूल्य के बराबर है। साथ ही जो इकाइयाँ वह पहिले बेच रहा था, उनका मूल्य कुछ घट जावेगा और उतनी रकम उसकी कुल आय से कम हो जायगी। यही कारण है कि उसकी सीमान्त आय अतिरिक्त इकाई के बिक्री मूल्य से कम रहती है। एक अधिक इकाई बेचने से एकाधिकारी की आय मे जो वृद्धि होती है, वह जब तक उत्पादन की लागत मे होने वाली वृद्धि से अधिक रहती है, तब तक वह इस प्रकार की बिक्री से अपनी आय बढाता रहेगा। अर्थात् जब तक सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक रहती है, तब तक एकाधिकारी अपना उत्पादन बढाता रहेगा। लेकिन जैसे-जैसे वह उत्पादन बढाता है वैसे-वैसे सीमान्त आय कम होती जाती है और सीमान्त लागत बढती जाती है। जब सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर होती है, तब उसको अधिकतम लाभ प्राप्त होता है। इसके आगे उत्पादन बढाने से सीमान्त लागत अतिरिक्त आय अथवा सीमान्त आय से बढ जायगी। तब अतिरिक्त बिक्री पर उसे हानि होगी। एकाधिकार के अन्तर्गत आय अधिक से अधिक तभी हो सकती है, जब सीमान्त आय और सीमान्त लागत मूल्य एक बराबर होते हैं।

यद्यपि एकाधिकारी अकेला उत्पादक होता है, तथापि इसका अर्थ यह नही होता कि वह हमेशा अपनी वस्तु बहुत ऊँचे दाम पर बेचेगा। ऊँचे दाम से हमेशा अधिकतम लाभ नही प्राप्त होता। ऊँचे दामो से बिक्री कम होने का डर रहता है, जिससे कुल आय मे कमी हो जायगी। इसलिये एक हद के बाद दाम बढ़ाना लाभदायक नही होता।

एकाधिकारी की शक्ति की सीमा (Limits to the Power of a Monopolist)——प्राय लोगो का ऐसा खयाल रहता है कि एकाधिकारी का न केवल बाजार पर पूरा कब्जा रहता है, बल्कि उसके कार्यों पर भी किसी प्रकार का बधन नही रहता। परन्तु वास्तविक जीवन मे एकाधिकारी के कार्यो पर हमेशा कुछ न कुछ बन्धन रहते ही है। कुछ ऐसे बन्धन रहते है, जिनके कारण एकाधिकारी वस्तुओ का बहुत अधिक मूल्य नही ले सकता। उसे हमेशा यह डर लगा रहता है कि शायद कोई शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी खडा हो जाय। उसे हमेशा नये प्रतिद्वन्द्वियो से सतर्क रहना पडता है। अथवा यह हो सकता है कि अधिक मूल्य के कारण नये आविष्कार होगे और उसकी वस्तुओ के बदले उपयोग में आने वाली कोई दूसरी वस्तु आ जावे। नकली नील के रग के आविष्कार ने असली स्वाभाविक नील

को खतम कर दिया। अब जूट भी सुरक्षित नही माना जाता। ससार के कई दे मे उसके बदले मे कोई दूसरी उपयोगी वस्तु प्राप्त करने के लिये वैज्ञानिक खो हो रही है। तीसरे, यह खतरा तो हमेशा ही बना रहता है कि कोई विदे प्रतिद्वन्द्वी आकर एकाधिकार का व्यवसाय छीन ले। चौथे, यह खतरा बना रह है, कि सरकार दखल देकर उस व्यवसाय मे राज्य का नियन्त्रण लगा दे। यदि ए धिकारी बहुत अधिक दाम लेगा, तो जनता मे असन्तोष फैलेगा और वह सर को बाध्य करेगी कि या सरकार उस एकाधिकार पर नियन्त्रण लगावे या उसे अ हाथ मे ले ले।

विवेचनात्मक या भेदपूर्ण एकाधिकार (Discriminating Monopoly)—एकाधिकारी को सब ग्राहकों से एक-सा मूल्य लेने की आवश्यकता नहीं है।

एकाधिकारी कई भाव रख सकता है।

चूंकि पूर्ति के ऊपर उसका अधिकार रहता है, इसलिये वह विभिन्न खरीदारों से विभिन्न दाम ले सकता है, अथवा विभिन्न बाजारों मे विभिन्न भाव रख सकता है। वास्तव में एकाधिकार के अन्तर्गत प्रायः ऐसा ही होता है। जब एकाधिकारी एक वस्तु को कई भावो पर बेचता है, तब उसे विवेचनात्मक या भेद भाव पूर्ण एकाधिकार कहते है।

परन्तु दामो में इस प्रकार का भेद-भाव हमेशा सभव नही होता। इसमें यह सभावना रहती है कि जिस ग्राहक को वस्तु कम दाम पर मिली है, वह कुछ अधिक

भेद—भाव कब सम्भव है।

दाम मिलने पर उसे फिर बेच देगा। इसलिये एकाधिकारी के लिये विभिन्न ग्राहको से विभिन्न मूल्य लेने के लिये यह आवश्यक है कि कुछ कारण होना चाहिये, जिससे कम दाम पर पाने वाला ग्राहक उस वस्तु को फिर न बेच सकेगा। अथवा ऐसा समझौता होना चाहिये कि वह उस वस्तु को दुबारा नही बेचेगा। मूल्य में भेद-भाव करना इन दो शर्तों पर सभव है। किसी वस्तु की मात्रा या इकाई को कम भाव के बाजार से खरीद कर ऊंचे भाव के बाजार मे ले जाना सभव न होना चाहिये। जो लोग अपनी सेवाएँ दूसरे मनुष्यो को बेचते है, उनमे ऐसा ही होता है। एक डाक्टर गरीब रोगियो से कम और धनी रोगियो से अधिक फीस ले सकता है। एक धनी आदमी किसी गरीब आदमी से यह नही कह सकता कि हमारे रोग की दवा तुम अपने नाम से ले जाओ। रोग की सही परीक्षा डाक्टर रोगी को देखकर ही कर सकता है। रेलो मे कई प्रकार के माल अलग अलग भाव पर ढोना इसका दूसरा उदाहरण है। रेले कोयला ढोने का किराया कम लेती है, पर ताँबा ढोने का किराया अधिक लेती है। परन्तु इससे ताँबे के बदले कोयले का उपयोग नही किया जा सकता।

दूसरी शर्त यह है कि मूल्य मे भेद-भाव तब सम्भव हो सकता है, जब माँग की इकाई ऊँचे भाव के बाजार से कम भाव के बाजार मे न ले जाई जा सके। जिन दो बाजारो में मूल्य का भेद-भाव किया जाता है, तब उनके उपभोक्ताओ मे धन का भेद रहता है, तब इस प्रकार के मूल्य का भेद करना आसान हो जाता है। जैसे डाक्टर को गरीब आदमी के बराबर कम फीस देने के लिये कोई भी धनी मनुष्य रीब न होना चाहेगा।

तीसरी शर्त यह है कि जब एकाधिकारी वस्तु के फिर से बेचे जाने की सभा-वना देखता है, तो वह कम भाव पर खरीदने वाले ग्राहक से यह शर्त कर लेता है कि वह उस वस्तु को नही बेचेगा।

भेद-भाव या तो व्यक्तिगत हो सकता है या स्थानीय अथवा व्यावसायिक। जब विभिन्न ग्राहको से उनकी आवश्यकता की तीव्रता के अनुसार अथवा उनके धन के

व्यक्तिगत भेद-भाव। अनुसार विभिन्न दाम लिये जाते है, तब उसे व्यक्तिगत भेद-भाव (personal discrimination) कहते है। जो लोग खरीदने के लिये अधिक उत्सुक है, उनसे ऊँचे दाम वसूले जा सकते है। गरीबो की अपेक्षा धनियो से उसी वस्तु के अधिक दाम लिये जाते है। जो लोग रईसी या फैशनेबुल मुहल्लो मे रहते है, उनसे कई दूकानें अधिक दाम लेती है। इस प्रकार के भेद-भाव हमेशा सभव नहीं होता, इससे खरी-दारो मे तीव्र असन्तोष फैलने का डर रहता है।

जब एकाधिकारी एक स्थान मे कम भाव पर बेचता है और अन्य स्थानो में अधिक भाव पर, तब उसे स्थानीय भेद-भाव (local discrimination) कहते है।

स्थानीय भेद-भाव। स्थानीय भेद भाव का सबसे अच्छा उदाहरण विदेशो मे कम भाव पर माल 'पटकना' (dumping) है। इसमें एकाधिकारी विदेशी बाजार मे अपना माल देशी बाजार ी अपेक्षा बहुत सस्ता बेचता है।

जब एकाधिकारी एक व्यवसायी को अपना माल अधिक दर पर बेचता है और दूसरे को कम दर पर तो उसे व्यावसायिक भेद-भाव कहते है। इसका उदाहरण यह है

व्यावसायिक भेद-भाव। कि बिजली का वही फर्म कारखानो को बिजली बहुत सस्ती दर पर देता है, घरो मे रसोई बनाने के लिये उससे अधिक महँगे दर पर और घरो मे प्रकाश के लिये इनसे भी अधिक महँगे दर पर देता है।

जब कीमत मे विवेचनात्मक भेदभाव किया जाता है, तब मूल्य (प्रत्येक बाजारो में उन्ही सिद्धान्तो के अनुसार निश्चित होगा, जिन सिद्धान्तो

एकाधिकार के अन्तर्गत मूल्य निश्चित होता है। यदि एकाधिकारी दो विभिन्न बाजारो मे अलग-अलग भाव पर बेचता है, तो प्रत्येक मे वह वही कीमत लेगा जिनसे सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर हो। बाजारो की संख्या चाहे जितनी हो, पर सीमान्त लागत एक बराबर रहेगी। इसलिये प्रत्येक बाजार में सीमान्त आय भी वही रहेगी। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक बाजार मे कीमत भी एक-सी रहेगी। कीमत प्रत्येक बाजार मे माग की लोच पर निर्भर रहेगी। प्रत्येक बाजार मे सीमान्त आय उस बाजार मे माग की लोच पर निर्भर करेगी। यदि खरीदारो के किसी समूह के लिए माग लोचदार है तो एकाधिकारी उस समूह के लिए अपेक्षाकृत कम कीमत वसूल करेगा। परन्तु यदि किसी बाजार में माग बेलोच है तो खरीदारो के उस समूह के लिए कीमत अपेक्षाकृत अधिक होगी। इस प्रकार दो बाजारो मे जिनमे एकाधिकारी भेद-भाव पैदा करने के लिए स्वतन्त्र है, वह जिस बाजार मे मॉग अपेक्षाकृत अधिक लोचदार है कम कीमत वसूलेगा और जिस बाजार मे अपेक्षाकृत कम लोचदार माग है अधिक कीमत वसूलेगा।

क्या विवेचनात्मक कीमत से ग्राहकों को लाभ होता है।

विवेचनात्मक एकाधिकार से कभी कभी ग्राहकों तथा समाज को महत्वपूर्ण लाभ हो सकते है। यह सम्भव हो सकता है कि खरीदारो के दो वर्ग हो। एक वर्ग धनी हो और उससे अधिक कीमत वसूल की जा सकती है। पर दूसरे वर्ग की आमदनी कम हो और वह तभी खरीदेगा जब कीमत कम हो। जब ऊँची कीमत वसूल की जायगी, तब केवल धनी लोग उस वस्तु को खरीदेगे। परन्तु उससे बिक्री अधिक न होगी और कुल बिक्री से जो रकम आवेगी सम्भव है, इससे उत्पादन की लागत पूरी-पूरी न निकले। परन्तु यदि गरीबो में बिक्री करने के लिये कम कीमत रखी जावे तो बिक्री अधिक होगी, परन्तु सभव है कि कम दाम पर बिक्री उत्पादन के लिये लाभदायक न हो। इसलिये इन परिस्थितियो में उत्पादन ही न हो सकेगा। परन्तु कीमत मे विवेचनात्मक भेद-भाव करने से उत्पादक धनी वर्ग से अधिक दाम ले सकेगा और गरीब ग्राहको से कम दाम। तब कुल बिक्री से उसके उत्पादन के कुल खर्च निकल आवेगे। यह तब विशेषरूप से सभव हो सकता है, जब वृहत् उत्पादन के कारण औसत लागत कम होती जायगी। इससे ग्राहकों तथा समाज दोनो को लाभ होगा।

मूल्य में विवेचनात्मक भेद-भाव के अन्तर्गत एकाधिकारी एक वर्ग से अधिक दाम लेता है और दूसरे वर्ग से कम दाम। इससे एक वर्ग को लाभ होगा और दूसरे वर्ग को हानि। यदि अधिक कीमत देने वाला धनी वर्ग है और कम कीमत देने वाला गरीब वर्ग, तो हम कह सकते है कि गरीब का लाभ धनियो के नुकसान से कही अच्छा और वाछनीय है। इस परिस्थिति मे विवेचनात्मक एकाधिकार से पूरे समाज को [illegible]होगा।

राशिपातन (Dumping)—इसका अर्थ विभिन्न बाजारो मे कीमत या विवेचनात्मक भेद-भाव है। जब कोई एकाधिकारी अपने उत्पादन का एक अश विदेशी बाजार मे घर के बाजार की अपेक्षा कम कीमत पर वेचता है, तो कहा जाता है कि वह विदेशी बाजार मे राशिप तन कर रहा है, अथवा माल पटक रहा है, विदेशी बाजार मे वह चाहे तो लागत मूल्य से कम मे भी वेच सकता है ओर चाहे तो न वेचे। क्योकि एकाधिकार के कारण वह प्राय इस स्थिति मे रहता है कि अपने देशी बाजार मे वह ऐसी कीमत वसूल सकता है, जो प्रति इकाई की लागत से ऊँची हो इस स्थिति मे वह विदेशी बाजार मे एसी कीमत ले सकता है, जो देशी बाजार की कीमत से कम हो, पर उत्पादन की ओसत कीमत से अधिक हो।

राशिपातन के उद्देश्य। एकाधिकारी कई उद्देश्यो मे राशिपातन कर सकता है। एक कारण यह हो सकता है कि भविष्य मे माँग का उसने गलत अदाज लगाया हो, इससे उसके पास माल अधिक जमा हो गया हो। अथवा नये व्यावसायिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये वह ऐसा कर सकता है, अथवा किसी नये बाजार मे ग्राहको की सदिच्छा प्राप्त करने के लिये राशिपातन कर सकता है, अथवा किसी बाजार से प्रतिद्वन्द्वियो को भगाकर एकाधिकार प्राप्त करने के उद्देश्य से वह राशिपतन कर सकता है। एक उद्देश्य अपनी मशीनो का अधिकतम उपयोग करके बडे पैमाने के उत्पादन के वचत सवधी लाभ प्राप्त करना भी हो सकता है। यदि घर के बाजार मे माँग बेलोचदार है, तो उत्पादन बढने से दाम गिर जायँगे। तव दाम ऊँचे रखने के लिये देशी बाजार मे कम माल बेचेगा और विदेशी बाजार में राशिप तन करेगा।

चूँकि राशिपातन विदेशी उत्पादको के हितो के विरुद्ध होता है, इसलिये कई देशो मे उसकी मनाही है। राशिपातन के विरुद्ध कानून वनाये गये है, जो राशिपातन के माल पर ऊँचा आयात कर लगाते है। जापानी प्रतिद्वन्द्विता का सामना करने के लिये सन् १९३३ मे भारत मे ऐसे कानून वने थे।

अध्याय २३

मूल्य और अपूर्ण प्रतियोगिता

(Value and Imperfect Competition)

अभी तक हमने उन साधनों का अध्ययन किया है, जो मूल्य निर्धारण ऐसी परिस्थितियों मे करते है, जब किसी वस्तु के बहुत से विक्रेता रहते है (अर्थात् जब पूर्ण प्रतियोगिता रहती है) अथवा जब केवल एक विक्रेता होता है। (अर्थात् एकाधिकार होता है), परन्तु वास्तविक जीवन मे देखने में आता है कि किसी वस्तु के विक्रेता कदाचित् ही बहुत बडी सख्या मे रहते है। इसी प्रकार केवल एक विक्रेता शायद ही मिले।

अधिकतर यह देखने में आता है कि न तो एक व्यक्ति ऐसा होता है, जो किसी वस्तु की कुल पूर्त्ति पर अधिकार रखता है और न इतनी बडी सख्या में विक्रेता और ग्राहक मिलते है कि कुल पूर्त्ति के अनुपात मे उनका हिस्सा नगण्य हो। इन दोनो बातो के मध्य के उदाहरण जिनमे न पूर्ण प्रतियोगिता होती है और न पूर्ण एकाधिकार अपूर्ण प्रतियोगिता' के उदाहरण कहलाते है। किन परिस्थितियो में प्रतियोगिता अपूर्ण हो सकती है? एक तो तब, जब किसी वस्तु की पूर्त्ति करनेवालो की सख्या कम हो, जिनमे से प्रत्येक का उसकी पूर्त्ति पर काफी अधिकार हो। दूसरे जिस बाजार में उस वस्तु की बिक्री होती है, उसका बाजार अच्छे प्रकार सगठित न हो, जिस बाजार मे यातायात की कठिनाई होगी अथवा जिसमे ग्राहको को यह पता हो कि कौन विक्रेता अपना माल किस भाव पर बेच रहा है ओर सब ग्राहक सबसे कम दर पर बेचने वाले विक्रेता से न खरीदे, उस बाजार मे प्रतियोगिता अपूर्ण होगी। जब उपभोक्ता के मन मे यह विचार जम जाता है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु से प्रकार और गुण मे भिन्न है, चाहे वह भिन्नता काल्पनिक हो अथवा वास्तविक, तब प्रतियोगिता अपूर्ण हो जाती है। अन्तिम उस वस्तु के कुछ ऐसे गाहक हो, जिनमे से प्रत्येक उसकी पूर्त्ति का बहुत बडा अश खरीदता हो।

जब किसी वस्तु के बहुत कम विक्रेता होते है, तब उनमे से प्रत्येक उसकी कीमत पर प्रभाव डाल सकता है। मान लो, किसी वस्तु के केवल चार विक्रेता है और उनमे से प्रत्येक इसकी ५००० इकाइयाँ बेचता है। यदि उनमे से एक अपना उत्पादन केवल ५ प्रतिशत बढाने का निश्चय कर ले, तो उसकी पूर्त्ति क[illegible] ' २५० इकाई हो जावेगी। इसका प्रभाव उसकी बिक्री की दर पर अवश्य

पडेगा। विक्रेताओ की सख्या एक तो इस कारण कम हो सकती है कि सरकार ऐसे नियम बना दे, जिससे उत्पादको की सख्या सीमित हो जाय (जैसा रेलो, बिजली इत्यादि के सबध मे होता है) ; अथवा उस वस्तु की पूर्त्ति के साधन बहुत कम हो (जैसा कि पेट्रोलियम मे होता है) अथवा किसी उद्योग के प्रारभ मे ही मशीनो इत्यादि पर इतनी अधिक पूंजी लगती हो कि बहुत कम लोग उस उद्योग मे आने का साहस करेगे जिन उद्योगो मे बडे पैमाने के उत्पादन से विशेष कुशलता सम्बन्धी बचत (technical economies) काफी बडी मात्रा मे होती है उनमें कोई भी उत्पादक उत्पादन बढाकर लागत मूल्य कम कर सकता है। तब वह विक्री मूल्य कम करके कुछ प्रतियोगियो को बाजार से भगा सकता है। इस से उनमे भीषण प्रतियोगिता ('cut throat' competition) होगी और अन्त मे, बाजार मे बहुत कम उत्पादक रह जावेगे। इनमे से प्रत्येक का पूर्त्ति पर काफी अधिकार होगा ओर वह अपनी बिक्री पर लागत मूल्य से अधिक कीमत पर बेचेगा। फिर कम कीमत पर बेचने के लिये वे लोग अधिक मात्रा मे उत्पादन करेगे। इससे कुल उत्पादन की मात्रा काफी बढ जावेगी और मूल्य गिरेगा, यहाँ तक कि शायद वे अपनी लागत भी पूरी न कर पावे।[1]

अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण।

किसी वस्तु के बहुत से विक्रेता होने पर भी प्रतियोगिता अपूर्ण हो सकती है। यह तब हो सकता है जब ग्राहको को बाजार का पूर्ण ज्ञान न हो। अथवा यातायात की कठिनाई हो। अथवा उपभोक्ता यह सोचते हो कि विभिन्न विक्रेता जो माल बेचते है, उसके गुण और प्रकार में भेद है। बाजार की इन अपूर्णताओ का परिणाम यह होगा कि ग्राहक नियम के तौर पर उस विक्रेता से माल न खरीदेंगे, जो उसे सबसे कम मूल्य पर देगा। उदाहरण के लिये ग्राहक यह न जाने कि कौन विक्रेता किस भाव पर अपना माल बेच रहा है। यदि एक विक्रेता दूसरो की अपेक्षा अधिक दाम ले रहा है और ग्राहक इसको न जाने तो वे उस विक्रेता के प्रतिद्वन्द्वियो के पास न जायेगे। इसी प्रकार यदि यातायात का खर्च उसके मूल्य का काफी अश होता है, तो प्रत्येक विक्रेता के पास एक अर्द्धस्वतत्र बाजार रहेगा और इस बाजार के ग्राहक वे लोग होगे, जो उसके कारखाने या दूकान से पास रहते है। छोटे दूकानदार प्राय ऐसा ही करते है। वे मुनाफा थोडा अधिक लेते है। पर उनके ग्राहक उसे खुशी से दे देते है, क्योकि दूर के बाजार मे जाने मे उन्हे खर्च और तकलीफ उठानी पडेगी। इन दोनो बातो से बचने के लिये ग्राहक पास

---

[1] इस क्रिया की चरम सीमा मे केवल दो विक्रेता रह जा सकते है और ग्राहक बहुत से रहेगे। इस परिस्थिति को द्वयाधिकार (duopoly) कहते है।

के विक्रेता से थोडा अधिक दाम देना स्वीकार करते है। एक बात यह भी है। यदि कोई विक्रेता अपनी विक्री काफी वढाना चाहता है, तो उसे अपनी विक्री-दर कुछ कम करनी पडेगी। जिससे उसके वर्त्तमान ग्राहक थोड़ा अधिक खरीदेगे और जो ग्राहक कुछ दूर रहते है, वे भी उसकी दूकान पर आवे।

अपूर्ण प्रतियोगिता का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण प्रत्येक उत्पादक की वस्तुओ में गुण सम्बन्धी वास्तविक अथवा काल्पनिक भेद का होना है। लगातार विज्ञापन द्वारा अथवा एक छाप (brand) निर्धारित कर प्रत्येक उत्पादक अपने गाहको को यह विश्वास दिलाना चाहता है कि दूसरे उत्पादको की अपेक्षा उसका माल श्रेष्ठ है। यह श्रेष्ठता चाहे वास्तविक हो अथवा काल्पनिक, पर यदि ग्राहक उसमें विश्वास कर लेता है तो प्रत्येक उत्पादक का अपने माल के लिये कुछ हद तक स्वतत्र वाजार हो जायगा। वह चाहे तो थोडी अधिक कीमत वसूल सकता है। और यदि वह विक्री वढाना चाहता है, तो उसे अपने माल की कीमत काफी कम करनी पडेगी। पुराने ग्राहको को अधिक खरीदने का लालच देने के लिये तथा उन गाहको को खीचने के लिये जो उसके प्रतिद्वद्वियो का माल अच्छा समझते है, कीमत घटाना आवश्यक हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते है कि जव प्रतियोगिता अपूर्ण होती है, तव प्रत्येक उत्पादक को अपने उत्पादन की कीमत निर्धारित करने की कुछ हद तक स्वतन्त्रता रहती है। पूर्ण प्रतियोगिता में तो उसे वही कीमत स्वीकार करनी पडेगी, जो उसके सव प्रतियो-गियो के आपस की प्रतियोगिता के कारण वाजार में प्रचलित होगी। यदि वह अपने माल की कीमत थोडी सी घटा देता है, तो वह सव ग्राहको को खीच सकता है। परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता मे वह अपने प्रतियोगियो की अपेक्षा कीमत कुछ अधिक ले सकता है। उसके ग्राहक उसे छोड़कर अन्य विक्रेताओ के पास न जावेगे, चाहे इस कारण से कि वे उसके प्रतियोगियो की विक्री दर नही जानते, अथवा यातायात के खर्च के कारण अथवा यह हो सकता है कि अन्य विक्रेताओ की अपेक्षा वे उसके माल को अधिक पसन्द करते है। अधिक से अधिक यह हो सकता है कि कीमत अधिक होने से वह पहिले की अपेक्षा अपनी खरीद की मात्रा कुछ घटा देगे। इसी प्रकार यह भी सभव है कि मूल्य मे थोडी सी कमी होने के कारण विक्री की मात्रा न वढे। दाम घटने से उसके पुराने गाहक अपनी खरीद की मात्रा थोडी वढा सकते है। यदि उसे अधिक ग्राहक खीचना है, तो उसे अपनी विक्री की दर या कीमत मे काफी कमी करनी पडेगी, जिसमे कि प्रतियोगियो के ग्राहको की उनके माल के लिये जो रुचि है, उसे त्यागकर वे लोग इसके ग्राहक न वन जावे। अथवा उनका याता-यात मे जो खर्च होता है, वह पूरा हो जावे। इस प्रकार प्रत्येक उत्पादक अपने माल को कम या अधिक मात्रा में वाजार में वेचकर उसकी कीमत पर काफी प्रभाव

डाल सकता है। अर्थशास्त्र की भाषा मे हम यह कहेगे कि उसके उत्पादन की माँग की लोच इकाई (less than unity) से कम है।

अपूर्ण प्रतियोगिता मे कीमत उस विन्दु पर स्थिर होगी, जहाँ सीमान्त लागत और सीमान्त आय वरावर है। अपना लाभ अधिकतम करने के लिये प्रत्येक उत्पादक तव तक उत्पादन करता रहेगा और वेचता रहेगा, जव तक कि अतिरिक्त इकाई के उत्पादन की अतिरिक्त लागत उसकी विक्री से प्राप्त कीमत (जो कुल विक्री की रकम मे जुडती जाती है) से कम है। पूर्ण प्रतियोगिता मे सीमान्त आय वस्तु की कीमत के वरावर होती है। परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता मे सीमान्त आय वस्तु की कीमत से कम होती है। क्योकि हम जानते है कि अपनी विक्री वढाने के लिये उत्पादक को कीमत घटानी पडेगी। तव उसे अपनी सव इकाइयाँ या मात्राएँ (केवल अतिरिक्त इकाइयाँ नही) कम कीमत पर वेचनी पडेंगी। इसलिये अतिरिक्त इकाइयाँ वेचने से उसे वास्तव मे जो रकम प्राप्त होगी, वह तव मालूम होगी, जव अतिरिक्त इकाइयो का कुल मूल्य जोड कर उसमे से वह रकम घटा देगे, जो पहिले से विकनेवाली इकाइयो के मूल्य मे घटी होने वाली रकम के वरावर है। मान लो, एक उत्पादक १० इकाइयाँ २ रु० प्रति इकाई के भाव पर वेच सकता है। यदि वह अपना उत्पादन १० प्रतिशत वढा देता है और ११ इकाइयाँ वेचना चाहता है, तो उसे कीमत घटाकर १ रु० १५ आ० करनी पडेगी। इसे हम इस प्रकार रख सकते हैं--

अपूर्ण प्रतियोगिता मे सीमान्त आय कीमत से कम होती है।

कुल उत्पादन	कीमत प्रति इकाई	कुल प्राप्ति
११ इकाइयाँ	१ रु० १५ आ०	२१ रु० ५ आ०
१० इकाइयाँ	२ रु०	२० रु०
१ इकाई		१ रु० ५ आ०

यदि वह एक इकाई अधिक वेचता है, तो उसकी कुल आय मे १ रु० ५ आ० की वृद्धि हो जायगी। इसलिये प्रत्येक इकाई की सीमान्त आय १ रु० ५ आ० है। जव तक उत्पादन की सीमान्त लागत सीमान्त आय से कम रहेगी, जव तक उत्पादक अधिक उत्पादन करेगा और वेचेगा, क्योकि इससे उसकी आय मे वृद्धि होती है। जव सीमान्त आय सीमान्त लागत के वरावर होगी, तव वह उत्पादन वन्द कर देगा। परन्तु सीमान्त आय कीमत से कम होती है। इसलिये वह अपनी वस्तु की कीमत सीमान्त लागत की सतह पर आने के पहिले ही किसी स्थान पर उत्पादन और विक्री वन्द कर देगा। पूर्ण प्रतियोगिता मे सीमान्त लागत कीमत के वरावर होती है और सीमान्त आय के वरावर भी (क्योकि सीमान्त आय कीमत के

बरावर होती है।) परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में सीमान्त लागत सीमान्त आय के बरावर तो होती है, पर कीमत के बरावर नही। सीमान्त लागत मूल्य के बरावर होने के पहिले ही उत्पादन बन्द हो जायगा। अपूर्ण प्रतियोगिता मे प्रत्येक विक्रेता का उत्पादन पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा कम होगा और वस्तु की कीमत उत्पादन की सीमान्त लागत की अपेक्षा अधिक होगी।

अपूर्ण प्रतियोगिता में सम्भव है कि फर्में आदर्श अधिकतम ढंग की न हों।

हम देख चुके है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे फर्मो की सन्या इस प्रकार सगठित हो जाती है कि साम्य की अवस्था मे सब फर्में आकार और प्रकार मे आदर्श अधिकतम ढग के होगे। वे श्रेष्ठ कुशलता या दक्षता के ढग पर सगठित होगे। परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता मे ऐसा होना आवश्यक नही है। जब पूर्ण प्रतियोगिता होगी, तब जो फर्म आदर्श अधिकतम ढग के नही है, वह विस्तृत होने की प्रवृत्ति दिखलावेगे। जैसे-जैसे उसका विस्तार होगा, वैसे-वैसे उसकी लागत कम होती जायगी। साथ ही अतिरिक्त उत्पादन के लिये उसे जो कीमत मिलेगी, वह पहिले की ही रहेगी परन्तु यदि प्रतियोगिता अपूर्ण है, तो सभव है, वह फर्म नही बढे। हाँ, यह बात अवश्य है कि यदि उसने विस्तार बढाया तो उत्पादन की औसत लागत मे कमी होगी। परन्तु अपना अतिरिक्त उत्पादन बेचने के लिये उसे अपने माल की कीमत घटानी पडेगी। यह सभव है कि कम कीमत पर बेचने से घाटा होगा, वह उस लाभ से अधिक हो या उसके ठीक बरावर हो, जो प्रति इकाई उत्पादन की औसत लागत मे कमी होने से होगा। इस प्रकार हो सकता है कि फर्म के सामने विस्तार करने और अधिक उत्पादन करने का कोई प्रलोभन न हो। यदि अकुशल फर्म के ग्राहको का वहन दूर करने के लिये और उन्हे ललचाने के लिये किसी कुशल फर्म को अपने माल की कीमत काफी घटाने की आवश्यकता पडे, तो शायद वह ऐसा करना पसन्द न करे। वह शायद उस अकुशल फर्म को बाजार से भगाना पसन्द न करे। परन्तु पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियो मे कुशल फर्में कीमत मे काफी घटी किये विना भी अधिक उत्पादन और अधिक बिक्री कर सकते है। जब उनका उत्पादन बढेगा तब कुल उत्पादन की मात्रा भी बढेगी, जिससे कीमते गिरेगी। फल यह होगा कि अकुशल फर्में अपना लागत भी पूरा न कर पावेगे। इस प्रकार अपूर्ण प्रतियोगिता मे पूर्ण प्रतियोगिता की अपेक्षा किसी भी उद्योग के फर्मो की सख्या अधिक हो सकती है। इनमे से प्रत्येक फर्म का उत्पादन आदर्श अधिकतम मात्रा से कम हो सकता है। प्रत्येक फर्म के प्रवन्धकर्त्ता या मालिक को जो लाभ या पारिश्रमिक मिलता है, वह अन्य धन्धो से अधिक न होगा। उदाहरण के लिये किसी शहर मे छोटे फुटकर दूकानदारो की दूकाने अथवा हलवाइयो की दूकाने काफी बडी सख्या मे होती है। इनमे से प्रत्येक दूकान की बिक्री की मात्रा थोडी होती है और प्रत्येक दूकान का रूप आदर्श

अतिधकतम से कम होता है। इनमें से किसी भी दूकान की कमाई अन्य धन्धो में इस प्रकार की दूकानो की कमाई से अधिक न होगी। फिर भी प्रत्येक दूकान एक प्रकार से एकाधिकारी होती है, क्योकि उसका एक प्रकार का अर्द्ध-स्वतत्र वाजार होता है। यह वाजार या तो यातायात के खर्च के कारण, या ग्राहको के अज्ञान अथवा उनकी सदिच्छा से वनता है। ओर यदि किसी उद्योग का पूरा आधार इसी प्रकार की दूकाने हो, तो उससे समाज का भला होने की सभावना है।[1] यह वात विरोधात्मक लग सकती है। क्योकि इससे ऐसा लगता है कि अपूर्ण प्रतियोगिता की दवा अधिक अपूर्ण प्रतियोगिता है। परन्तु जव फर्मो की सख्या कम हो जायगी, तो प्रत्येक फर्म आदर्श अधिकतम आकार के होगे। प्रत्येक फर्म का उत्पादन अधिक होगा और औसत लागत तथा फी इकाई कीमत उत्पादन सम्वन्धी ज्ञान की मोजूदा परिस्थितियों में कम से कम रहेगी।

जव किसी वस्तु के वहुत कम खरीदार रहेगे, तव प्रतियोगिता अपूर्ण होगी।[2] तव उनमे से प्रत्येक उस वस्तु की काफी मात्रा खरीदेगा और अपनी खरीद कम या अधिक करके उसकी कीमत पर प्रभाव डाल सकता है। प्राय उपभोग के लिये विलकुल तैयार माल में ऐसी परिस्थिति वहुत कम आती है। प्राय ऐसी वस्तुओ के वहुत अधिक खरीदार रहते है परन्तु उत्पादन के साधनो की खरीद में (जैसे श्रम या कच्चे माल) वाजार अपूर्ण हो सकता है।

Monopsony

उदाहरण के लिये चीनी के धन्धे मे किसान अपना गन्ना सवसे पास के कारखाने मे वेचेगे, क्योकि दूसरा कारखाना अधिक दूर हो सकता है, दूर ले जाने मे एक तो यातायात का खर्च अधिक होगा और दूसरे गन्ने की किस्म मे खरावी आ जायगी। दूर ले जाने मे अधिक समय लगेगा, इससे उसका रस सूखेगा। इस कारणो से वे सवसे पास के कारखाने में वेचने को वाघ्य हो सकते है और कारखाने का मालिक कच्चा माल एक वाजार मे खरीदेगा। इसी प्रकार श्रम का वाजार भी अपूर्ण हो सकता है, क्योकि किसी एक स्थान मे किसी एक प्रकार के श्रम के खरीदार वहुत थोडे होते है। जव कोई उत्पादक या उद्योगपति श्रम की दर घटा देता है, तव उसके वहुत से श्रमिक उसका काम न छोडेगे, इसलिये कि उन्हे पता नही है कि अन्य स्थानों में अधिक मजदूरी मिल सकती है अथवा अन्य स्थानो मे जाने से खर्च अधिक हो

---

[1] ध्यान रहे कि यह वात हमेशा सच नही होती। उदाहरण के लिये यदि अपूर्ण वाजार और वहुत से फर्म वस्तुओ के गुणो और वनावट मे वास्तविक भेद के कारण है, तो फर्मो की सख्या कम करने से कोई लाभ न होगा।

[2] इस परिस्थिति को श्रीमती रॉविन्सन ने Monopsony कहा है। उनकी पुस्तक Economics of Imperfect Competition देखिये।

सकता है। दूर से मजदूर बुलाने के लिये उद्योगपति को भी श्रम की दर अधि करनी पडेगी। इसलिये अधिक श्रमिक लगाने के लिये उद्योगपति को श्रम की द बढानी पडेगी और कम मजदूर लगाने के लिये श्रम की दर कम करनी पडेगी। ज अधिक मजदूर लगाने के लिये वह श्रम की दर बढाता है, तब उसे सब मजदूरो व अधिक दर से मजदूरी देनी पडेगी। इसलिये जब कोई उत्पादक एक नया मजदू रखता है, तब उसकी लागत मे न केवल उस मजदूर की मजदूरी बढती है बल्कि स मजदूरो की मजदूरी मे जो बढती होती है, वह भी जुडती है। इस प्रकार एक मज दूर अधिक लगाने मे जो अधिक खर्च होता है (श्रम का सीमान्त मूल्य) वह उ मजदूर को दी जाने वाली मजदूरी (मजदूरी की सीमान्त लागत) से अधिक है। जब यह अधिक लागत खर्च, अधिक उत्पादन से प्राप्त आय के बराबर हो जायगा, तब वह अधिक मजदूर लगाना बन्द कर देगा। इस प्रकार जब वह अधिक मजदूर लेना बन्द कर देगा, तब भी मजदूरी की दर मजदूरी के असल सीमान्त उत्पादन से कम रहेगी दूसरे शब्दो मे जब श्रम के बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता होगी, तब मजदूरी की दर मजदूरी की वास्तविक सीमान्त उत्पादन से कम रहेगी। यदि उत्पादित वस्तु की बिक्री भी अपूर्ण प्रतियोगिता मे होती है, तब सीमान्त आय वस्तु की कीमत से कम होगी और मजदूरी की दर उसके असल सीमान्त उत्पादन से और कम होगी।

पूर्ण और अपूर्ण प्रतियोगिता पर टिप्पणी

(Supplementary Notes on Perfect and Imperfect Competition)

हम देख चुके है कि पूर्ण प्रतियोगिता मे यह मान लिया जाता है कि बाजार में विक्रेता बडी सख्या मे होगे। लेकिन अपूर्ण प्रतियोगिता मे भी बाजार मे विक्रेताओं की सख्या बडी हो सकती है। इस सम्बन्ध मे मिठाई की दूकानो के उदाहरण से हम परिचित है। यद्यपि बाजार मे मिठाई की दूकानो की सख्या काफी होती है, परन्तु ग्राहको के आलस्य अथवा दूर जाने मे यातायात के खर्च के कारण अथवा मिठाइयो की किस्म मे भेद होने के कारण उन दूकानो मे प्रतियोगिता अपूर्ण होती है।

सामान्यत वास्तविक जीवन मे साधारण बाजारो मे प्रतियोगिता प्राय अपूर्ण हुआ करती है। प्रत्येक विक्रेता देखता है कि उसकी वस्तु की माँग-रेखा अपेक्षाकृत बेलोच हुआ करती है। यदि उसे अपनी बिक्री बढानी है, तो अधिक ग्राहक खीचना पडेगा, क्योकि चालू भाव पर उसके मौजूदा ग्राहक जितना अधिक से अधिक खरीद सकते थे वह खरीद लेते हैं। यदि मौजूदा ग्राहको को वह अधिक बेचना चाहता है, तो उसे अपने भाव कम करने पडेगे। यदि उसे नये ग्राहक खीचना है तो भी उसे भाव कम करना पडेगा, जिससे वे लोग जिस छाप की वस्तु पसन्द करते है, उसे

छोड दें अथवा जिस दूकान से लगे है उसे छोड दे अथवा उसकी दूकान तक आने में उनका जो खर्च होता है, वह पूरा हो जाय। कुछ भी हो, वह अपनी विक्री पुराने भाव पर नही बढा सकता। उसे भाव कम करना ही पडेगा। चूंकि उसे अपने माल की अधिक मात्राएँ बेचने के लिये भाव कम करना पडता है, इसलिये उसकी सीमान्त आय विक्री के भाव से कम रहेगी। वह उस कीमत पर बेंचेगा जिस पर सीमान्त आय सीमान्त लागत के बराबर होती है।

पूर्ण प्रतियोगिता में प्रत्येक विक्रेता के माल की मांग-रेखा पूरी तरह से लोचदार होती है। चूंकि वह किसी वस्तु के कुल उत्पादन का एक बहुत बडा अश बेचता है, इसलिये उसके व्यवसाय का प्रभाव कीमत पर बिलकुल नही पडेगा। न वह बाजार भाव बढा सकता है, न घटा सकता है। यदि वह कुछ अधिक उत्पादन करता है, तो वह उस अतिरिक्त माल को पहिले भाव पर बेच सकता है। इसलिये सीमान्त आय कीमत के बराबर होती है। वह उसी हद तक उत्पादन भी करेगा, जिस हद तक सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती है, अथवा कीमत के बराबर होती है (क्योंकि यहाँ सीमान्त आय और कीमत बराबर होती है।)। इस प्रकार पूर्ण प्रतियोगिता और अपूर्ण प्रतियोगिता अथवा एकाधिकार में अन्तर साफ जाहिर हो जाता है। सब प्रकार की परिस्थितियो में प्रत्येक विक्रेता उसी हद तक बेंचेगा, जिस हद तक सीमान्त लागत सीमान्त आय के बराबर होती है। प्रतियोगिता पूर्णता के जितने निकट होगी, सीमान्त आय भी कीमत के उतनी ही निकट होगी। जब प्रतियोगिता पूर्ण हो जाती है, तब सीमान्त आय भी कीमत के बराबर हो जाती है। इसलिये यह भेद करना कि सीमान्त लागत कीमत के बराबर है अथवा सीमान्त आय के बराबर, निरर्थक है; इसके विरुद्ध किसी बाजार मे जितनी अधिक अपूर्णता होगी, अथवा किसी विक्रेता की एकाधिकारी शक्ति जितनी अधिक होगी, सीमान्त आय और कीमत में अथवा कीमत और सीमान्त लागत में उतना ही अन्तर अधिक होगा।

अध्याय २४

सट्टा या फाटका

(Speculation)

सट्टा क्या है ? (What is Speoulation ?)—सट्टा में वे सब घटनाएँ शामिल है, जिन्हे मनुष्य भविष्य मे होने वाली घटनाओ के आधार पर सोच-विचार कर करते है। इसका अर्थ यह है कि किसी वस्तु की बिक्री या खरीद इस विचार से की जाती है कि भविष्य मे जब कभी उसकी कीमत में परिवर्तन होगा तो उससे लाभ उठाया जायगा। जब कोई सट्टा करने वाला यह सोचता है कि भविष्य में वस्तुओ की कीमत बढेगी, तो वह खरीद करता है, जिससे भाव बढने पर वह उससे लाभ उठा कर बेच सके। इसी प्रकार जब वह सोचता है कि भाव गिरेगा, तब वह फौरन इस विचार से बेच देगा कि भविष्य में कम दाम पर खरीद करेगा। इस प्रकार वह कीमतो के भविष्य में होने वाले परिवर्त्तनो को जानने की और उनसे लाभ उठाने की कोशिश करता है। ध्यान रहे कि वह न तो उत्पादन करता है और न माल अपने पास रखता है। वह माल का व्यवसायी नही है। वह खतरो का व्यवसायी है।

सट्टा व्यवसाय के खतरे का भार उन्हीं लोगों पर डालता है जो उसे सह सकते हैं।

आधुनिक उत्पादन का सगठन इस प्रकार होता है कि उसमें खतरे लगे ही रहते है। मनुष्य समाज के प्रारभिक काल में खतरे प्राय· नही के बराबर थे। प्रत्येक मनुष्य अपनी आवश्यकतानुसार उत्पादन करता था और अपने उत्पादन का वह स्वय उपभोग करता था। लेकिन समाज की उन्नति के साथ-साथ उत्पादन अधिक पेंचीला हो गया है और भविष्य की माँग के आधार पर होता है। व्यवसाय सम्बन्धी खतरे या जोखिम भी बहुत बढ गये है। जिस वस्तु का उत्पादन हो रहा है, उसके बाजार में आने के पहिले ही उसकी माँग गिर सकती है। अथवा उसकी पूर्ति में ऐसा परिवर्तन हो जाय कि व्यवसायी का अंदाज ही गलत निकल जाय। इसलिये उत्पादन कार्य मे कदम-कदम पर खतरो का सामना करना पडता है और उन्हें झेलना पडता है। सट्टा इन खतरो का बोझ उन लोगो पर डालता है, जो उसे सहने के लिये सबसे अधिक समर्थ है। इस प्रकार सट्टा समाज की बहुत उपयोगी सेवाएँ करता है।

सट्टा और जुआ में अन्तर है। जुआ खेलने वाले अनावश्यक खतरे अपने सिर पर लेकर लाभ प्राप्त करना चाहते है। वहुधा वे स्वय जान-बूझकर खतरे पैदा करते है और उन्हे सहते है। उदाहरण के लिये मान लो, आस्ट्रेलिया और इग्लैण्ड की क्रिकेट टीमो मे टेस्ट मैच हो रहा है, कोई नही कह सकता कि कौन टीम जीतेगी। फल अनिश्चित है, पर इस अनिश्चितता को अपने सिर पर लेना किसी के लिये आवश्यक है। उत्पादन कार्यों के लिये इस प्रकार के खतरे अपने सिर लेना विलकुल अनावश्यक है। परन्तु जुआडी लोग टेस्ट मैचो के फल पर अक्सर जुआ खेला करते है। वे प्राय इसी वात पर शर्त लगा देते है कि अमुक दिन दो इच पानी वरसा था अथवा तीन इच। इसमे स्वय कुछ खतरा नही है। खतरा तो जुआडी पैदा करता है, जिससे वह रुपया कमाता है अथवा गँवाता है। इसके विरुद्ध एक सट्टेवाज **आवश्यक** और **स्वाभाविक** खतरा उठाता है। उदाहरण के लिये छ महीने वाद जूट का भाव कम भी हो सकता है ओर वढ भी सकता है। अर्थात् एक खतरा है ओर यदि उत्पादन को ठीक ढग पर चलाना है तो किसी न किसी को यह खतरा उठाना ही पडेगा। अन्त मे ध्यान रहे कि जुआडी उत्पादन कार्य में किसी प्रकार की सहायता नही पहुँचाता परन्तु सट्टा महत्त्वपूर्ण और आवश्यक आर्थिक कार्य करता है।

सट्टा और जुआ।

सट्टा वाजार की उन्नति के लिये उपयुक्त वातावरण (Conditions favourable to the growth of a speculative market)—सट्टा या फाटका करने वाले या तो वस्तुओ का सट्टा करते है, या ऋण-पत्रो अथवा शेयरो का। कोई वस्तु जिसका भविष्य निश्चित है, सट्टे की वस्तु बन सकती है। परन्तु कुछ ऐसी परिस्थितियाँ होती है, जिनमें सट्टा वाजार की उन्नति विशेष रूप से होती है। पहिली परिस्थिति अथवा शर्त यह है कि वस्तु से लोग सुपरिचित हो और उसकी माँग काफी वडी और नियमित हो। दूसरी शर्त यह है कि गुणो के भेद के अनुसार उसका वर्गीकरण हो सके। तीसरी शर्त है, कि उसकी माप-तौल और पहिचान आसानी से हो सके। वहुत-सी वस्तुएँ इन शर्तों को पूरी करती है। कम्पनियो के शेयर और ऋण-पत्र इन शर्तों को विशेष रूप से पूरा करते है। यही कारण है कि स्टॉक एक्सचेंज अथवा शेयर वाजार लगभग ससार भर में पाये जाते है। कुछ अन्य कारण भी है, जिनसे कुछ वस्तुओ में सट्टा होने लगता है। चौथी शर्त यह है कि जव किसी वस्तु की पूर्ति वहुत अनिश्चित होती है और मनुष्य के वश के वाहर है, उसकी मात्रा वाजार में नियमित रूप से नही आती, वल्कि अनियमित रूप से किसी विशेष मौसिम मे आती है, तव उसके भाव में काफी परिवर्तन होने की सभावना रहती है। अन्तिम कुछ वस्तुओ की माँग नियमित और लगातार हो सकती है। उद्योग में आवश्यक कच्चे माल, जैसे कपास और ऊन और खाने की महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ, जैसे गेहूँ इसके उदाहरण है। इनकी पूर्ति पर मनुष्य का वश नही होता।

मनुष्य चाहे जितनी जमीन बो दे, परन्तु फसल वर्षा इत्यादि मोसिम की परिस्थितियों पर ही निर्भर रहेगी। इतना ही नही, ऐसी वस्तुओ की कुल मात्रा फसल के बाद बाजार में आ जाती है, परन्तु उनकी मॉग साल भर लगभग एक-सी बनी रहती है। इसलिए उनके भाव मे काफी परिवर्त्तन होने की सभावना रहती है। यदि गेहूँ की फसल कम आवे तो भाव काफी चढ सकता है और यदि फसल बहुत अच्छी आ जाय तो भाव बहुत अधिक गिर भी सकता है। भाव परिवर्तन के खतरे या जोखिम को कम करने के लिये गल्ले की मडियां स्थापित की गई है।

सट्टा बाजार का संगठन।

सट्टा बाजार या स्टॉक एक्सचेज (Stock-exchange)—वह स्थान होता है, जहां हिस्से (shares) और ऋण-पत्र (securities) बेचे और खरीदे जाते है। हिस्से एक पूर्ण बाजार की सब शर्तें पूरी करते है। उन्हे आसानी से पहिचाना जा सकता है और एक शेयर दूसरे के ठीक समान होता है। शेयर बाजार में दो प्रकार के व्यवसायी रहते हैं—एक आढतिया (jobbers) और दूसरे दलाल (brokers)। वास्तव में आढतिया ही शेयरो का सट्टा करते है और कोई भी दलाल कभी भी किसी शेयर का खरीद या विक्री का भाव देने को तैयार रहता है कि अमुक शेयर वह इस भाव पर खरीदेगा ओर इस भाव पर बेचेगा। दलाल जनता के उन लोगो से अपना सम्बन्ध रखते है, जो शेयर खरीदना या बेचना चाहते है। वे आढतियो से खरीद और बिक्री के भाव को लेकर अपने ग्राहको को बतलाते है। दलाल अपनी दलाली या कमीशन पैदा करने वाले बीच के व्यवसायी है। आढतिया वास्तविक सट्टेबाज होते है। शेयर बाजार मे काम जिस तरह होता है, उसका सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है।

यदि कोई सटोरिया यह सोचता है कि किसी वस्तु का भाव अभी ऊंचा है और शीघ्र ही उसके गिरने की सम्भावना है, तो वह हलका बिक्री सोदा ('sell short') करेगा। अर्थात् भविष्य मे वह माल देने की जिम्मेदारी लेगा, जो अभी उसके पास नही है। अब इस सौदे से वह दो तरह से लाभ उठा सकता है। जिस भाव पर उसने सौदा किया है, या तो उससे कम भाव पर माल खरीदेगा, जो उसे भविष्य मे देना है। अथवा वह उसी समय 'कवरिंग कान्ट्रैक्ट' (covering contract) अथवा तेज कान्ट्रैक्ट (hedge contract) करेगा। अर्थात् वह किसी दूसरे व्यवसायी से कुछ कम भाव पर माल खरीदने का सौदा करेगा। जिस भाव पर उसे भविष्य में माल देना है, उससे यह खरीद का भाव कुछ कम रहेगा। इसके विरुद्ध यदि सटोरिया सोचता है कि अभी भाव गिरा है और भविष्य मे कीमत बढने की सभावना है, तो वह 'बड़ी खरीद का सौदा' (buy long) करेगा। अर्थात् जितने माल की अभी आवश्यकता है, उससे अधिक खरीदेगा और जब माल देने का समय आयेगा, तब वह लाभ उठाकर बेचेगा। यदि कुछ ऊँचे भाव पर बेच कर वह उसी

समय माल दे सकता है, तो भी उसे लाभ होगा, इसे 'वसूली बिक्री' (realizing or liquidating sale) कहते है। जो सटोरिये अल्प बिक्री सोदा करते है, उन्हे बीयर्स (bears) कहते है। उनका सोदा इस प्रकार का होता है, जिससे भाव गिरे, जो सटोरिये बडी खरीद का सौदा (buy long) करते है, उन्हे 'बुल' (bulls) कहते है। उनके सौदे से दाम वढते है।

जब सौदा करने और माल देने के बीच में काफी समय रहता है, तो उस सौदे को मुद्दती सौदा (future) कहते है। मुद्दती सौदा मे माल वास्तव में देने की नोबत बहुत कम आती है। इसमें वास्तव में यह होता है कि जो आदमी माल देना चाहता है और जो माल लेना चाहता है, उनमे इकरार हो जाने से सौदा पूरा हो जाता है। मुद्दती सौदे में भी दो प्रकार के खरीदार रहते है। पहिले तो वे उद्योगपति होते है, जो किसी माल की किसी खास किस्म को भविष्य की आवश्यकता पूर्ण करने के लिये खरीदते है। जब सौदे के भुगतान करने का समय आता है, तो वे अपनी आवश्यकता की किस्म खरीद लेते है और मुद्दती सौदे में जो किस्म खरीदी थी, उसे बेच देते है। यदि एक सौदे में नुकसान हुआ तो दूसरे सौदे के लाभ से वह पूरा हो जाता है। उनको सट्टे से नही, वल्कि उत्पादन से मुनाफा होता है। मुद्दती सौदे में दूसरे वर्ग के जो खरीदार होते है, वे माल नही चाहते है, वे तो कम भाव पर खरीद कर और ऊँचे भाव पर बेच कर केवल लाभ चाहते है। भाव में जो फरक होता है, उसे लेकर वे सट्टे से लाभ उठाते है।

मुद्दती सौदा।

सट्टे के आर्थिक पहलू (Economic functions of speculation)— सट्टा हमारे आर्थिक सगठन की कई प्रकार से सहायता करता है। वह खतरो की जिम्मेदारी लेता है और कुछ हद तक उन्हे कम भी कर देता है। दूसरे, वह भाव में होनेवाले परिवर्तनो को कम करने का प्रयत्न करता है। आधुनिक उत्पादन के सगठन की यह एक विशेषता है कि उत्पादन माँग के आधार पर होता है। कपास की फसल बोई जाती है, काटी जाती है, फिर कपास मिल में आता है, धुनाई होकर उसका सूत बनता है और सूत से कपडा तैयार होता है। इसी बीच में कपडे की माँग इतनी गिर सकती है कि व्यवसायी को चारो ओर अन्धकार दिखने लगे। जिस उद्योगपति ने कपास खरीदकर रखा है और खासे मुनाफा की आशा करता है, वह कपास के दाम गिर जाने के कारण अब लाभ के बदले हानि देख रहा है। इस प्रकार सब प्रकार के उत्पादन कार्यो में खतरा और अनिश्चितता रहती है। सट्टा करनेवाले इन खतरो को अपने ऊपर ले लेते है और उद्योगपतियो को अनिश्चित परिस्थिति से बचा लेते है। यदि एक उद्योगपति ने गेहूँ का मुद्दती सौदा कर लिया है, तो वह निश्चिन्त होकर आटा बनाने में लग सकता है। जब तक

उसका आटा बाजार में आवेगा। तब तक सभव है, गेहूँ के दाम गिर जावें, परन्तु मुद्दती सोदा करने से उसे जो लाभ होगा, उससे उसकी हानि पूरी हो जायगी। इसके सिवाय अनिश्चित परिस्थितियो के कारण उत्पादन कार्य कम हो जाता है। इसलिये आर्थिक सगठन की इन अनिश्चित परिस्थितियो को अपने ऊपर लेकर सटोरिया उत्पादन बढाने में सहायता करता है।

सटोरिये मॉग और पूर्ति में साम्य स्थापित करते हैं।

सट्टे का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रभाव यह पडता है कि माग और पूर्ति में एक साम्य स्थापित होने की प्रवृत्ति बढती है। जब सटोरिये सोचते है कि भविष्य में किसी वस्तु की कमी होनेवाली है, इससे कीमत बढेगी तो वे तुरन्त उसे खरीदते है। उनकी खरीद मे भाव बढता है। कीमत बढने से बिक्री कम होती है और उपभोग घटता है। वर्तमान उपभोग कम हो जाता है और कुछ माल बाजार में जाने से रुक जाता है। चूंकि यह माल भविष्य मे पूर्ति की मात्रा मे जुड जायगा, इसलिये भविष्य में कीमतें उतनी अधिक नही बढेंगी, जितनी अन्यथा बढती। इसी प्रकार जब कोई सटोरिया भाव गिरने की सभावना देखता है, तो वह तुरन्त बेचेगा। वर्तमान भाव गिरता है और उपभोग कुछ बढ जाता है। इसका फल यह होगा कि बाद में कीमते बहुत अधिक नही गिरेंगी। इस प्रकार सट्टा भाव मे एकाएक परिवर्तनो को रोकता है और भाव के चढाव-उतार को काफी समतल बनाता है। सामयिक अस्थायी घटनाओ का कीमतो पर अनुचित प्रभाव नही पडने पाता और मूल्य दीर्घकालीन मौलिक कारणो के आधार पर निश्चित होता है। इस प्रकार सट्टे की सहायता से मॉग ओर पूर्ति में एक उचित सतुलन या सम्बन्ध स्थापित होता है। बाजार का दैनिक भाव मौसमी भावो के अनुसार चलता है और मौसमी भाव इस प्रकार बँध जाता है कि उससे मौसम की पूर्ति की कुल मात्रा खप जाती है।

चूंकि सट्टा भाव परिवर्तन में कमी करता है, इसलिये वह विनिमय और उपभोग में सहायता करता है। उपभोक्ताओ को माल स्थिर मूल्य पर मिलता जाता है। इसलिये उपभोग भी स्थिर रहता है। उसमें एकाएक परिवर्तन नही होते।

जैसा कह चुके है, सट्टा उद्योगपतियो को भाव परिवर्तन सम्बन्धी चिन्ताओ से मुक्त रखता है, क्योकि उसके खतरे वह सटोरियो के ऊपर डाल देता है। एक अन्य तरीका भी है, जिसके द्वारा सट्टा उत्पादन में सहायता करता है। सटोरिया देखता है कि भविष्य मे किसी वस्तु की मॉग होगी और वह उसे एकदम खरीदना आरम्भ कर देता है। इससे उस वस्तु की मॉग बढ जाती है और उत्पादक उसका उत्पादन बढा देते है। सटोरिया सस्ता खरीद कर और महँगा बेचकर उत्पादन के साधनो के उचित वितरण में सहायता करते है।

इसी प्रकार व्यवसाय और शेयरो या ऋण-पत्रों में पूंजी लगाने में भी सट्टा सहायता करता है। शेयर बाजार में जो सट्टा होता है, उससे व्यवसाय में पूंजी खिचती है। सटोरिये विभिन्न उद्योगो और कम्पनियो के बारे में काफी छानबीन करते है, जो थोडी पूंजी वाले नही कर सकते। जब किसी शेयर का दाम स्टॉक एक्सचेज पर स्थिर रहता है, तो उसका अर्थ यह होता है कि उस कम्पनी की स्थिति मजबूत है। सट्टा करनेवाले आढतिया और दलाल बहुत पहिले जान लेते है कि अमुक उद्योग के लिये अच्छे दिन आनेवाले है और उस उद्योग-सम्बन्धी कम्पनियो के शेयरो के पहिले से अच्छे दाम देने लगते हैं इसलिये साधारण परिस्थितियों में शेयर बाजार के भाव रुपया लगानेवालो के लिये उपयुक्त मार्गप्रदर्शक होते हैं।

स्टॉक एक्सचेंज रुपया लगाने में सहायक होते हैं।

अनाज ओर माल के सट्टा बाजार (produce exchange) भी उन वस्तुओ के पैदा करनेवालो को कई प्रकार से सहायक होते हैं। मान लो, भारत में गेहूँ बाजार में, जो भाव है, उस भाव पर ब्रिटेन के एक आटा मिल-मालिक ने कुछ सौदा किया। जितना माल उसने भारत में खरीदा उतना ही उसने अपने देश के बाजार में बेच दिया। माल देने का वादा वह उस समय के लिये करता है, जब उसके माल की भारत से आने की आशा है। यदि इसी बीच में गेहूँ का भाव गिर जाता है, तो महँगी खरीद के गेहूँ का आटा उसे कम भाव पर बेचना पडेगा और उसे नुकसान सहना पडेगा। परन्तु जब मुद्दती सौदे का गेहूँ देने का समय आता है, तो वह सस्ता गेहूँ खरीद कर उस व्यापारी को दे देगा, उसने ऊँचे भाव पर सौदा किया था। इस प्रकार उसका पहिला नुकसान इस मुद्दती सौदे से पूरा हो जाता है।

अनाज के सट्टा बाजार और उनके लाभ।

पूर्ण सट्टा (perfect speculation) स्वय अपने को खतम कर देता है। यदि सटोरिये अपने काम मे पूर्णरूप से कुशल है, तो वे भाव में होनेवाले भविष्य के परिवर्तनो का बिलकुल सही अन्दाज लगावेगे। फल यह होगा कि भविष्य में परिवर्तन होना बन्द हो जायगा। अन्त में कीमतो मे कोई परिवर्तन न होगा। जब कीमतो मे परिवर्तन न होगे, तो सट्टे की भी आवश्यकता न रहेगी।

गैर कानूनी या बेईमानी का सट्टा (Illegitimate Speculation)— सट्टे के जो फायदे बतलाये गये है, उनके लिये दो बातें आवश्यक हैं, एक तो उस सम्बन्ध में अच्छी तरह जानकारी और दूसरी ईमानदारी। जब किसी वस्तु का प्रामाणिक रूप या स्टैन्डर्ड बँध जाता है, तो उसमें कोई भी मनुष्य व्यवसाय कर सकता है। सट्टे में भी यही होता है। बाहरी लोग जिन्हे सट्टा बाजार का पूरा-पूरा ज्ञान नही रहता, सटोरियों

के मुनाफे देखकर ललचा जाते है और सट्टा बाजार में लाभ उठाने की कोशिश करते है। अन्त में ये बाहरी लोग प्राय सबके सब हानि ही उठाते है, क्योकि उनमें न तो सटोरियो का विशेष ज्ञान रहता है और न उनकी तरह भविष्य का सही अन्दाज। सटोरियो का एक बेईमान वर्ग भी रहता है। ये बेईमान सटोरिये मांग और पूर्ति की परिस्थितियो के बारे में एक झूठा वातावरण और झूठा मत फैलाने का प्रयत्न करते है। जैसे सटोरियो का एक गुट्ट मिलकर बाजार में यह विश्वास जमा देता है कि वे भाव गिराने का प्रयत्न कर रहे हैं और इसी ध्येय मे बहुत बडी मात्रा मे माल बेच रहे है। परन्तु साथ ही चुपचाप अन्य तरीको से वे बिक्री से कहीं ज्यादा खरीद भी करते जा रहे है। अन्त में माल की पूरी या बहुत बडी मात्रा उनके हाथ में आ जायगी और वे उसके लिये एकाधिकार की तरह कीमत ले सकते है। ये बाजार को मुठ्ठी में करने (corner) के उदाहरण है। इस तरह के कार्यों से बाजार में मूल्य में एकदम से बडे-बडे परिवर्तन होने लगते है, जो पहिले नहीं होते थे।

सट्टा का नियन्त्रण (Regulation of Speculation)—सट्टे की जिन बुराइयो का ऊपर वर्णन कर चुके हैं, उनके कारण यह विवाद उठ खडा हुआ है कि सट्टा का नियन्त्रण होना चाहिए अथवा नही। प्रत्येक देश की सरकार नियन्त्रण की आवश्यकता स्वीकार करती है। परन्तु नियन्त्रण करने के लिये जो आवश्यक बातें बतलाई गई है, वे पर्याप्त नही है। एक तो जुआ के रूप में जो सट्टा होता है, वह कानून द्वारा रोका जा सकता है। परन्तु प्रत्येक कानून में कुछ-न-कुछ कमी या त्रुटि तो रहती ही है, फिर वकीलो की विशाल बुद्धि की सटोरिये सहायता प्राप्त कर सकते है। कई देशो में कानून बनाये गये है, जो ऐसे सौदो को अमान्य समझते है जो केवल दिखाने के लिये बिक्री के सौदे होते है। अधिकतर मुद्दती सौदे के रूप में जुआ होता है। यदि मुद्दती सौदा बन्द कर दिया जाय तो शायद जुआ रोका जा सके। परन्तु मुद्दती सौदे के लाभ भी महत्त्वपूर्ण होते है और हम उन्हे एकाएक ठुकरा नहीं सकते। इसलिये टॉउसिग कहता है कि सबसे अच्छा उपाय यही होगा कि पूरे उद्योग का नैतिक स्तर उठाया जाय और सब प्रकार के जुआ के विरुद्ध जनमत तैयार किया जाय।

स्टॉक एक्सचेंजो में सट्टे सम्बन्धी जो बुराइयाँ आ जाती हैं, उन्हे दूर करने का तरीका यह है कि वे जो व्यवसाय सम्बन्धी नियम बनाते है, उनका सख्ती के साथ पालन किया जाय और आवश्यकता पडने पर और कडे नियम बनाये जायें। यदि उत्पादन नियमित समय और नियमित ढग पर करके उद्योग-भावो में होनेवाले परिवर्त्तनो को कम कर दें तो सट्टा कम हो जायगा। साथ ही जनमत बाहरी लोगो को, जो उसका विशेष ज्ञान नही रखते, सट्टा बन्द कर सकता है। परन्तु ये ... उपाय हैं, और कार्यान्वित होने में काफी समय लेंगे।

लर्नर[1] का कहना है कि बेईमानी का जो सट्टा होता है, उसे मिटाने के लिये एक मुकाबिला या सामना करनेवाला सट्टा (counter speculation) होना चाहिए। सरकार को एक एजेंसी स्थापित करनी चाहिए, जो उचित मूल्यों की एक सूची बनावे और सब प्रकार से प्रयत्न करे कि वास्तविक मूल्य उसी सूची मूल्य के बराबर रहे।

अध्याय २५

मूल्य सम्बन्धी पुराने सिद्धान्त
(Older Theories of Value)

मूल्य का श्रम सम्बन्धी सिद्धान्त (Labour Theory of Value)—मूल्य सम्बन्धी जितने सिद्धान्त हैं, उन सबमे श्रम-सम्बन्धी सिद्धान्त सबसे पुराना है। इस सिद्धान्त के प्रधान प्रतिपादक आडम स्मिथ, रिकार्डो और कार्ल मार्क्स थे। पहिले हम आडम स्मिथ और रिकार्डो के विचारो का अध्ययन करेंगे, फिर काल मार्क्स के।

सक्षेप मे इस सिद्धान्त का आशय यह है कि किसी वस्तु का मूल्य दीर्घकाल में उसमें लगे हुए श्रम की मात्रा के अनुसार निर्धारित होता है। स्मिथ और रिकार्डो दोनों का कहना था कि किसी भी वस्तु मे उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य (value-in-use) होना चाहिए—अर्थात् उसमे उपयोगिता होनी चाहिए। परन्तु उपयोगता मूल्य का कारण नही होता। वस्तुओ के मूल्य मे जो अन्तर होता है, वह उनकी उपयोगिता में अन्तर के कारण नही होती, बल्कि उनमें जो श्रम की विभिन्न मात्रायें लगी हुई है, उनके कारण होता है। उसने इस सम्बन्ध में एक बडा अच्छा उदाहरण दिया, जो विरोधात्मक होते हुए भी सही है। उसने कहा कि कई वस्तुओं का उपयोगिता सम्बन्धी मूल्य बहुत अधिक होता है (जैसे पानी का) परन्तु उनका विनिमय मूल्य बहुत कम होता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि आडम स्मिथ मूल्य के श्रम का पक्का समर्थक नही था। उसका मत था कि यह सिद्धान्त इतिहास के आदि काल मे उपयोगी था और लागू होता था। फिर भी उसका मत था कि कुशल और दक्ष श्रम (highly esteemed labour)

[1] The Economics of Control, p. 96-7.

को अधिक मूल्य प्राप्त होगा। परन्तु आधुनिक काल में भूमि और अन्य साधनों के अलग कर देने पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। इस सिद्धान्त के बदले में उसने उत्पादन के लागत मूल्य के सिद्धान्त को अधिक उपयोगी समझा। इसके विरुद्ध रिकार्डो का विश्वास था कि आधुनिक काल में भी किसी वस्तु का मूल्य उसमें लगे हुए श्रम की मात्रा के आधार पर निश्चित होता है।

कई कारणों से यह सिद्धान्त सतोषजनक नहीं है। पहिले तो यह प्रश्न उठता है कि श्रम के यथार्थ माने क्या है? श्रम कई प्रकार का और कई वर्ग का होता है, जैसे शारीरिक, मानसिक, दक्ष और अदक्ष। हम दक्ष और अदक्ष की तुलना किस प्रकार करेंगे? यदि विभिन्न प्रकार के श्रम को हम एक मानदण्ड से नहीं माप सकते, तो हम उनकी आनुपातिक तुलना किस प्रकार करेंगे और उनका आनुपातिक मूल्य किस प्रकार निर्धारित करेंगे? इसके सिवाय श्रम की मात्रा कार्य की कुशलता या दक्षता और गहनता के अनुसार बदलती रहती है। इसलिये उनके लिये हम एक मापदण्ड कैसे पा सकते है? दूसरे, मान लो, जूते का एक जोडा और कपडे का एक टुकडा एक ही कीमत पर बेचा जाता है। क्या हम कह सकते है कि उनमें श्रम की मात्रा एक बराबर लगी? कभी नहीं। तीसरे, जो श्रम व्यर्थ जाता है, उसके सम्बन्ध में हम क्या कहेंगे? जो वस्तुएँ बिकती नहीं है, उनके उत्पादन में लगे हुए श्रम का क्या होगा? मान लो, एक दर्जी एक सूट बनाता है। जब वह तैयार हो जाता है, तो पता चलता है कि जिसके लिये वह सूट बना है, उसको वह फिट ही नहीं होता। तब तो उस सूट का मूल्य शून्य होता है, यद्यपि उसके बनाने में श्रम लगा है। चौथे, इस सिद्धान्त के अनुसार श्रम की कुछ मात्रा लगने के बाद जब वस्तु तैयार हो जाती है, तब उसका मूल्य निश्चित हो जाता है। वह बदल नहीं सकता, क्योंकि उसमें लगे हुए श्रम की मात्रा निश्चित है। परन्तु वास्तव में हम देखते है कि मूल्य में हमेशा परिवर्तन होते रहते है। इसलिये श्रम मूल्य निर्धारण नहीं कर सकता। अन्त में यह सिद्धान्त यह नहीं बतलाता कि जिन वस्तुओं का उत्पादन दुबारा नहीं हो सकता, उनका मूल्य किस प्रकार निश्चित होगा। जैसे, कोई कलाकार बडी सुन्दर मूर्ति बनाता है, कोई चित्रकार सुन्दर चित्र बनाता है, इन वस्तुओं का पुन निर्माण नहीं हो सकता। इनका मूल्य हम कैसे निश्चित करेंगे। सत्य यह है कि जो वस्तुएं पूर्ति और पूर्ति के कारण किसी वस्तु के मूल्य पर प्रभाव डालती है, उनमें से श्रम केवल एक है। अन्य बातों के समान रहते हुए भी जिस वस्तु के उत्पादन में श्रम की मात्रा अधिक लगी है, उसका मूल्य उस वस्तु से कम हो सकता है, जिसके उत्पादन में कम श्रम लगा है। यही बात वास्तव में सत्य है। लेकिन वास्तविक जीवन में अन्य बातें कभी समान नहीं रहती। इसलिये इस सिद्धान्त को बिलकुल त्याग देना ही अच्छा है।

मार्क्स का मूल्य सम्बन्धी सिद्धान्त (Marxian Theory of Value)—आधुनिन समाजवादा सिद्धान्त का कार्ल मार्क्स जनक था और उसने मूल्य के श्रम-सिद्धान्त का पूंजीवादी प्रणाली पर आक्रमण करने का उपयोग किया। उसने इग्लैड के विशाल पुस्तकालय 'ब्रिटिश म्यूजियम' में बैठकर बहुत दिनो तक अध्ययन किया, इसलिये ब्रिटिश अर्थशास्त्रियो का विशेषकर रिकार्डो का उस पर काफी प्रभाव पडा।

मार्क्स का कहना है कि किसी वस्तु के उत्पादन काल मे जो श्रम की मात्रा खर्च होती है, उसके अनुसार उस वस्तु का मूल्य निर्धारण होता है (the value of a commodity is determined by the quantity of labour expended during its production)। उसने इस बात को अस्वीकार नही किया कि उस वस्तु मे उपयोगिता भी होनी चाहिए। इस बात का सामना उसने ऑडम स्मिथ के विरोधात्मक उदाहरण से किया कि कुछ वस्तुओ की उपयोगिता बहुत अधिक होती है, पर उनका मूल्य बहुत कम होता है। **मार्क्स का मत था कि मूल्य न केवल श्रम द्वारा निर्धारित होता है, बल्कि पूर्णतया श्रम पर निर्भर होता है।**

'समाज के लिये आवश्यक श्रम' द्वारा मूल्य निश्चित होता है।

परन्तु मूल्य का कुछ भाग पूंजीपति हमेशा ब्याज, किराया, मुनाफा इत्यादि के रूप में ले लेता है। इसीलिये मार्क्स ने पूंजीवादी प्रथा की तीव्र निन्दा की है। जिस उद्देश्य के लिये उसने इस सिद्धान्त गा उपयोग किया, उस पर हमे विश्वास नही होता, परन्तु इस बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि व्यवसाय के सगठनकर्ता और वैज्ञानिक आविष्कर्ता मूल्य में जो महत्त्वपूर्ण योग देते है, मार्क्स ने उसको बिलकुल स्वीकार नही किया है।

मार्क्स के सिद्धान्त में वही सब दोष है, जो मूल्य सम्बन्धी श्रम सिद्धान्त में है। क्या विभिन्न प्रकार के श्रमो मे कोई ऐसी समानता है, जिसे हम मूल्य निर्धारण का मापदण्ड मान सके? पहिले तो मार्क्स 'श्रम सम्बन्धी समय' (labour time) और 'साधारण अदक्ष श्रम' (unskilled simple labour) का अध्ययन करता है। फिर अन्त में 'साधारण भाववाचक' 'मानुषिक श्रम' (simple abstract human labour) अथवा 'समाज के लिये आवश्यक श्रम' (socially necessary labour) को अपना मापदण्ड मान लेता है। परन्तु इससे हम किसी तात्पर्य पर नही पहुँच पाते। सामाजिक दृष्टि से आवश्यक श्रम क्या है? इसे जानने के लिये हमें बाजार जाना चाहिए और देखना चाहिए कि उसके बदले में अन्य कितनी वस्तुएँ प्राप्त हो सकती है। परन्तु ऐसा करने से हमें उपयोगिता का प्रभाव स्वीकार करना पडेगा। यदि एक जुलाहे को एक कोयला खान के मजदूर से दुगुनी मजदूरी मिलती है। तो क्या हम यह कह सकते है कि सामाजिक आवश्यकता की दृष्टि मे कोयला खान के मजदूर की और जुलाहे की मजदूरी में १ और २ का अनु-

पात है ? इस प्रकार 'सामाजिक दृष्टि से आवश्यक' शब्दो का कुछ अर्थ नही लगता। परन्तु श्रम के गलत उपयोग के प्रश्न का समाधान मार्क्स ने बड़े साहसपूर्वक किया कहना बिलकुल उचित है। परन्तु मजदूरी बाटते समय यदि किसी मजदूर से कहा जाय कि उसके श्रम का गलत उपयोग हुआ है। इसलिये उसे कोई मजदूरी नही मिलेगी, तो क्या वह मान जायगा ? इन कारणो से समाजवादियो ने भी इस सिद्धान्त को त्याग दिया है।

उत्पादन के लागत मूल्य का सिद्धान्त (Cost of Production Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु के उत्पादन के लागत मूल्य के आधार पर उसका मूल्य निश्चित होता है। इस सिद्धान्त और श्रम सिद्धान्त में यह अन्तर है कि यह सिद्धान्त किसी वस्तु के उत्पादन की लागत में श्रम के सिवाय अन्य बातो को भी स्वीकार करता है, जैसे ब्याज और साधारण मुनाफा। कुछ समय बाद मूल्य का श्रम-सिद्धान्त अपूर्ण समझा जाने लगा। श्रम-सिद्धान्त को पूर्ण बनाने या सतोष-जनक बनाने के प्रयत्न में सीनियर नामक विद्वान ने श्रम की लागत में उत्पादन के एक अन्य साधन की भी लागत जोड दी। इस साधन को उसने निषेध (abstinence) के नाम से सम्बोधित किया। बाद में मिल ने जोखिम या खतरे (risk) को भी लागत का एक अग मान लिया और मिल द्वारा लागत मूल्य के सिद्धान्त का पूर्ण विकास हुआ।

मिल के मतानुसार दीर्घकाल में मूल्य उत्पादन की लागत द्वारा निश्चित होता है और उत्पादन की लागत मे मजदूरो की मजदूरी, पूंजी पर ब्याज और उत्पादक का साधारण मुनाफा शामिल रहता है। बाजार भाव इस लागत मूल्य के आस-पास या ऊपर-नीचे घूमा करता है। यदि किसी समय बाजार भाव एक इकाई के उत्पादन के मूल्य से बढ गया तो उससे उत्पादन बढने की प्रवृत्ति होगी, जिससे माल की मात्रा बढेगी और अन्त में कीमत गिरेगी। फल यह होगा कि भाव फिर से उत्पादन के लागत मूल्य के बराबर हो जायगा। इसके विरुद्ध यदि बाजार भाव लागत मूल्य से कम हुआ तो उत्पादन घटेगा और कीमत फिर बढ जायगी। इस प्रकार दीर्घकाल में प्रतियोगिता वस्तु की कीमत को उसके उत्पादन के मूल्य के बराबर रखेगी। लगान या किराया (rent) लागत का अश नही माना जाता था, क्योकि वह भेदात्मक अतिरिक्त मुनाफा (differential surpuls) समझा जाता था।

यह सिद्धान्त भी अपूर्ण है, क्योकि इससे भी मूल्य का सिद्धान्त उचित रूप से नही समझा जा सकता। एक तो यह उपयोगिता के महत्त्वपूर्ण प्रभाव का विचार नही करता। केवल उत्पादन की लागत किसी वस्तु को मूल्य नही दे देती। मूल्य होने के लिये उपयोगिता का होना आवश्यक है। जिस वस्तु की आवश्यकता नही थी, उसके बनाने में यदि कोई मनुष्य काफी खर्च करे तो इससे उसे

यह सिद्धान्त उपयोगिता का महत्त्व नहीं समझता।

रुपया तो न मिल जायगा। "जिस देश मे हमेशा लागत मूल्य के आधार पर किसी वस्तु का मूल्य निश्चित होगा, वह देश व्यवसायियो के लिये स्वर्ग हो जायगा, क्योकि उसे अपनी गलतियो के लिये कभी सजा नही मिलेगी। यदि हम उपयोगिता पर विचार नही करते तो हम अपनी समस्या को अधूरी छोड देते है।"[1] दूसरे, इस सिद्धान्त से उन वस्तुओ का मूल्य निश्चित नही हो सकता, जिनका पुनरुत्पादन नही हो सकता। तीसरे, जब किसी वस्तु का उत्पादन हो चुकेगा, तब उसका लागत मूल्य निश्चित और अपरिवर्तनशील रहेगा। परन्तु मूल्य में अमेशा परिवर्तन होते रहते हैं। लागत मूल्य मे परिवर्तन हो या न हो, वस्तु की कीमत गिर सकती है और उठ सकती है। इसलिये इस सिद्धान्त से मूल्य की सतोषजनक व्याख्या नही होती। चौथे, इस सिद्धान्त द्वारा ऊन और गोश्त जैसी सयुक्त उत्पादन की वस्तुओ का मूल्य निर्धारित नही हो सकता, क्योकि इन वस्तुओ का उत्पादन मूल्य अलग-अलग पक्की तरह नही जाना जा सकता। पाँचवे, जिसे हम उत्पादन का लागत खर्च कहते है और जो मूल्य के बराबर है, सम्भव है कि वह केवल प्रमुख लागत (prime cost) हो। अन्त मे उत्पादन का लागत खर्च स्वय मूल्य पर निर्भर रहता है। कीमत जितनी अधिक रहेगी पूर्ति भी उतनी अधिक होगी। पूर्ति जितनी अधिक होगी, प्रति इकाई उत्पादन का लागत खर्च भी उसी के अनुसार कम या अधिक होगा। लागत खर्च, मूल्य और माँग का पारस्परिक सम्बन्ध है। इसलिये यह कहना गलत है कि उत्पादन के लागत खर्च द्वारा मूल्य निश्चित होता है।

लागत स्वय मूल्य द्वारा निश्चित होती है।

उपयोगिता सिद्धान्त (Utility Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार किसी वस्तु की उपयोगिता के आधार पर उसका मूल्य निश्चित होता है। जिन वस्तुओ की उपयोगिता अधिक है, उन्हे कम उपयोगितावाली वस्तुओ की अपेक्षा अधिक मूल्य प्राप्त होगा। इसी सिद्धान्त का अधिक सुधरा हुआ रूप **सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त** (marginal utility theory) है। इस मत के अनुसार मूल्य उपयोगिता के आधार पर नही, बल्कि सीमान्त उपयोगिता के आधार पर निश्चित होता है। सीमान्त उपयोगिता का आशय उस उपयोगिता से है, जिसे उपभोक्ता खरीदने के लिये किसी तरह राजी हो जाता है। इग्लैड मे जेवेन्स इस सिद्धान्त का बडा भारी प्रतिपादक था।

---

[1] "A country in which the cost of production invariably fixed the value of a thing would be a businessman's paradise, because he would never be punished for his mistakes, we ignore half of our problem if we take utility for granted."

—*Clay*, Economics for the General Reader, p. 268.

केवल उपयोगिता होने से मूल्य उत्पन्न नही हो सकता। पूर्ति की मात्रा में भी कुछ सीमा होनी चाहिए। नही तो उपयोगिता होते हुए भी उस वस्तु के लिये कोई कुछ दाम न देगा। इसी प्रकार कुछ ऐसी वस्तुयें होती हैं, जिनकी उपयोगिता बहुत अधिक होती है, पर उनका मूल्य बहुत कम होता है। पानी इसका उदाहरण है। सीमान्त उपयोगिता के सिद्धान्त में ये दोष नही आ पाते।

उपयोगिता स्वयं मूल्य पर निर्भर है।

अर्थशास्त्रियो ने गलती यह की कि उन्होने उपयोगिता अथवा सीमान्त उपयोगिता को मूल्य का कारण बना दिया। लेकिन सीमान्त उपयोगिता मूल्य निश्चित नही करती। वह खुद भी मूल्य द्वारा निश्चित होती है। जितनी अधिक पूर्ति होगी, उतनी कम सीमान्त उपयोगिता होगी। लेकिन किसी वस्तु की पूर्ति उसकी कीमत पर निर्भर होती है। सच तो यह है कि मूल्य, पूर्ति और माग में से किसी एक को दूसरे का कारण नही कह सकते। एक का प्रभाव बाकी दो पर पडता है और उन दो का प्रभाव उस एक पर पडता है। इसी प्रकार वे परस्पर प्रभाव डालती है और प्रभावित होती हैं।

जहाँ तक यह सिद्धान्त मूल्य को मनुष्य की आवश्यकताओ पर आधारित करता है, वहाँ तक यह सही है। सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त अर्थशास्त्र के लिये एक बडा उपयोगी काम करता है, वह मूल्य पर पडने वाले दो उपयोगी प्रभावो को— अर्थात् उपयोगिता और दुर्लभता (scarcity) को एक साथ मिश्रित कर देता है। लेकिन इस सिद्धान्त के आधार पर यह कहना कि मूल्य सीमान्त उपयोगिता द्वारा निश्चित होता है, सही नही है। मूल्य सीमान्त उपयोगिता को केवल मापता है। बस, यही सत्य है।

परिशिष्ट

उदासीनता वक्र-रेखाओं पर एक टिप्पणी

(A Note on Indifference Curves)

उपयोगिता के आधार पर मूल्य का जो सिद्धान्त बना है, उसकी इधर हाल मे आलोचना हुई है। कहा जाता है कि मार्शल ने उपयोगिता की जो व्याख्या की है, उसका मूल आधार यह है कि एक उपभोक्ता एक समय केवल एक वस्तु खरीदेगा और हमारा काम इस वस्तु की विभिन्न इकाइयो की उपयोगिता मापना है । उपभोग में यह अनुमान यथार्थवादी नही सिद्ध होता, क्योकि उपभोक्ता एक ही समय परस्पर सम्बन्धी कई वस्तुओ को चाहते है । फिर यह व्याख्या मान लेती है कि विभिन्न प्रकार की उपयोगितायें नापी जा सकती है । यदि असम्भव नही तो ऐसा करना बहुत कठिन है। इसलिये ऐसी व्याख्या करना अच्छा होगा, जिसमे ये सब कठिनाइयाँ न हो। उदासीनता वक्र-रेखायें इसी प्रकार की व्याख्या करने का प्रयत्न करती है । यह एक रेखा-गणित की रीति है। सबसे पहिले इस प्रयोग को एजवर्थ (Edgeworth) ने अपनी पुस्तक 'मैथेमेटिकल' साइकिक्स (Mathemtical Psychics) में किया था और बाद में पारेटो (Pareto) ने इस रीति में अधिक उन्नति की ।

यह व्याख्या इस अनुमान से प्रारम्भ होती है कि एक उपभोक्ता एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु का उपभोग कर सकता है। यह बात अधिकाश वस्तुओ पर लागू होती है। यदि वह एक वस्तु क (मान लो, एक जोडा धोती) के बदले दूसरी वस्तु ख (मान लो, एक कमीज) कम उपयोग कर सकता है, तो उसे ऐसी कई वस्तुएँ मिल सकती हैं, जिन्हे वह आपस में बदल सकता है। उदाहरण के लिये वह १२ इकाइयाँ धोतियो की और २ इकाइयाँ कमीजो की, ११ इकाइयाँ धोतियो की और ३ इकाइयाँ कमीजो के बदले में ले सकता है । इस प्रकार बदले की एक सूची तैयार की जा सकती है। जैसे—

१२ इकाइयाँ धोतियो की और २ इकाइयाँ कमीजो की।
११ इकाइयाँ धोतियों की और ३ इकाइयाँ कमीजो की।
१० इकाइयाँ धोतियो की और ५ इकाइयाँ कमीजो की।
९ इकाइयाँ धोतियो की और ८ इकाइयाँ कमीजो की।
इत्यादि, इत्यादि।

हम अब रेखा पर धोतियों की इकाइयां मापेंगे और अस रेखा पर कमीजों की इकाइयां। अब हम एक ऐसी वक्र-रेखा खींच सकते हैं, जो इन इकाइयों के बिन्दुओं को जोड़ेगी।
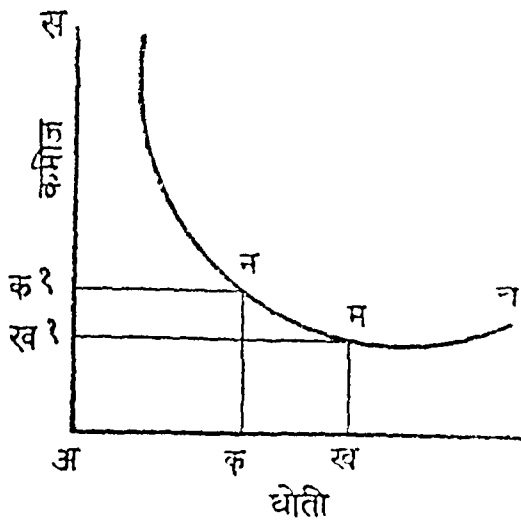
चित्र न० ३२

च वक्र रेखा उपभोक्ता की पसन्दगी बतलाती है कि वह कितनी धोतियों और कमीजों की इकाइयों का जोड़ा पसन्द करेगा। वक्र रेखा पर न और म दो बिन्दु ले लो। उपभोक्ता अख धोतियों और अख१ कमीज का जोड़ा पसन्द करेगा। उसके बदले में वह अक धोतियां और अक१ कमीज का जोड़ा भी ले सकता है। ये दो प्रकार के जोड़े उसे समान रूप से पसन्द हैं। और वह इस सम्बन्ध में उदासीन है कि उसे कौन-सा जोड़ा मिलता है। शर्त केवल यह है कि दोनों बिन्दु उसी वक्र-रेखा पर होने चाहिये। इस वक्र-रेखा को उदासीनता की वक्र-रेखा कहते हैं। वह रेखा घुमावदार (negative slope) होती है, क्योंकि जैसे-जैसे एक वस्तु की मात्रा बढ़ती है, वैसे-वैसे दूसरी वस्तु की मात्रा कम होती है। यदि ऐसा न हो तो दो जोड़े उसे एक समान पसन्द न होंगे। उपभोक्ता को १० इकाई धोतियों और ५ इकाई कमीजों का जोड़ा उतना ही पसन्द है जितना ९ इकाई धोती और ८ इकाई कमीजों का जोड़ा। लेकिन १० इकाई धोती और ५ इकाई कमीजों के जोड़े की अपेक्षा १० इकाई धोती और ६ इकाई कमीजों का जोड़ा उसे कहीं अधिक पसन्द आवेगा। वक्र-रेखा का ढाल एक वस्तु को दूसरी से बदलने की सीमान्त दर (marginal rate of substitution) द्वारा निश्चित होगा। धोती को कमीज से बदलने की सीमान्त दर कमीज की उन इकाइयों के बराबर है, जो कि धोती की सीमान्त इकाई से अधिक हो। उपभोक्ता के पास जैसे-जैसे कमीजों की संख्या

वढती है, वैसे-वैसे यह दर भी वढती जाती है। ऊपर हमने जो उदाहरण लिया है, उसमें उपभोक्ता के पास धोतियो की १२ इकाइयाँ होती है और कमीजो की २ इकाइयाँ। तव कमीज की एक इकाई धोती की एक इकाई से वदली जा सकती है। लेकिन जव उसके पास धोतियो की ११ इकाइयाँ और कमीजो की ३ इकाइयाँ
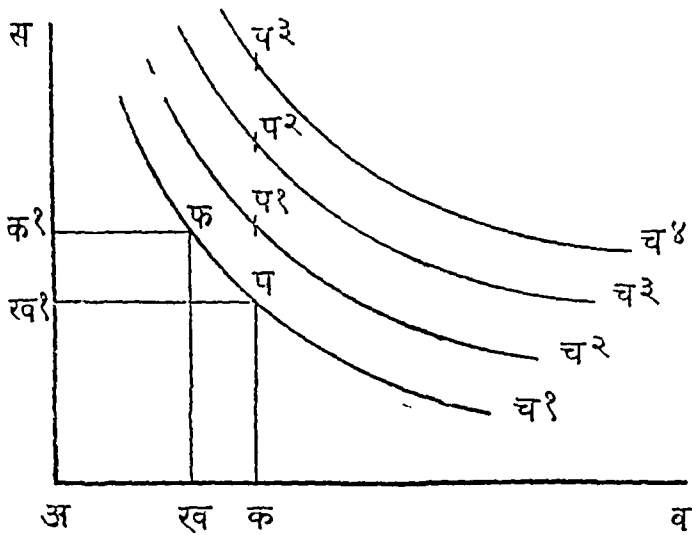
चित्र नं० ३३

होती है, तव वह धोती की एक अतिरिक्त इकाई खोने के लिये वदले मे कमीजो की ३ इकाइयाँ माँगेगा। अर्थात् किसी उपभोक्ता के पास जितनी अधिक कमीजे और जितनी कम धोतियाँ होगी, उतना कम वह धोतियो के वदले मे कमीजे लेना पसन्द करेगा। इसका कारण घटती उपयोगिता का नियम है, जिसे इस नयी व्याख्या के अनुसार घटती हुई सीमान्त का नियम (law of diminishing marginal substitutability) कहते है।

इसलिये प्रत्येक उदासीनता वक्र-रेखा जो वस्तुओ का एक जोडा वतलाती है और उपभोक्ता उस जोडे की दोनो वस्तुओ को एक समान पसन्द करता है। यदि हमें उपभोक्ता की पसन्दगी और दर मालूम हो जाय, तो हम चाहे जितनी उदासीनता वक्र-रेखायें खींच सकते है।

यदि प और फ दो विन्दु एक ही उदासीनता वक्र-रेखा पर है, तो इससे मालूम होता है कि उपभोक्ता को अक इकाइयाँ धोती + अक^{1} इकाइयाँ कमीज का जोडा उतना ही पसन्द रहेगा, जितना अख इकाइया धोती + अख^{1} इकाइयाँ कमीज का जोडा अर्थात् इन दोनो प्रकार के जोडो में से उसे कोई भी मिल जाय उसकी पसन्दगी एक-सी रहेगी। परन्तु यदि प और प^{1} विन्दु दो वक्र-रेखाओ पर होते है, तो उपभोक्ता च^{1} वक्र-रेखा की अपेक्षा च^{2} वक्र-रेखा पर कोई भी जोडा पसन्द करेगा। इसी प्रकार

च³ वक्र-रेखा पर वह च² वक्र-रेखा की अपेक्षा कोई भी जोडा पसन्द करेगा। इसी प्रकार यह क्रम बढता जायगा।

उदासीनता वक्र-रेखाओं की व्याख्या एक बडा शक्तिशाली और उपयोगी ओजार है। इस व्याख्या का एक बडा अच्छा गुण यह है कि उसे यह नही मानना पडता कि उपयोगिता को हम वज़न या मात्रा के रूप मे माप सकते है। केवल यह मान लेना
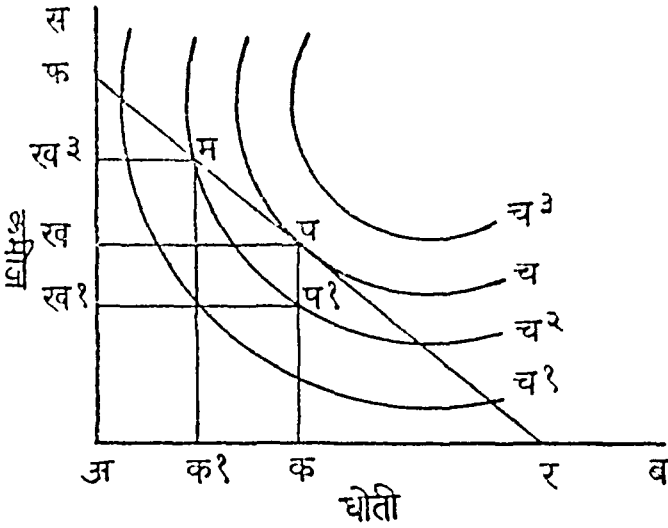
चित्र न० ३४

आवश्यक होता है कि दो वस्तुओ के दो जोडो की कुल उपयोगिता उनकी वक्र रेखा पर वही रहती है। इसलिये इस व्याख्या की सहायता से हम कई कठिनाइया हल कर सकते है। मान लो, एक व्यक्ति की कुछ आमदनी है (मान लो ५० रु०) जो वह दो वस्तुओ पर खर्च करेगा। ये दो वस्तुये धोती ओर कमीजें है। उपभोक्ता के लिये कीमते निश्चित है। उसके खरीदने से उनमे कोई परिवर्तन नही होगा (बाजार मे प्राय. ऐसा ही होता है)। चित्र न० ३४ मे अब रेखा धोतियो की इकाइया बतलाती है ओर अस रेखा कमीजो की इकाइया बतलाती है। यदि उपभोक्ता अपनी कुल आमदनी धोतियो पर खर्च करता है, तो वह धोतियो की अर इकाइयाँ खरीदेगा। कुल आमदनी (५० रु०) मे धोतियो की कीमत (प) का भाग देने से यह मालूम हो जायगा। यदि वह कुल आमदनी कमीजो पर खर्च करता है तो वह कमीजो की अफ इकाइया खरीदेगा। यदि फ ओर र को एक सीधी रेखा से जोड दे, तो फर रेखा धोतियो ओर कमीजो के वे सब जोडे बतलाती है, जो उपभोक्ता विभिन्न कीमतो पर ५० रुपयो से खरीदेगा। इस रेखा को कीमत रेखा (price line) कहते है। कीमत रेखा का ढाल

$\frac{\text{अ, फ}}{\text{अ र}}$ है। अब

$$\frac{अ, फ}{अ, र} = \frac{\dfrac{आमदनी}{कमीजो\ की\ कीमत\ प^1}}{\dfrac{आमदनी}{धोतियो\ की\ कीमत\ प}} = \frac{प}{प^1}$$

इसलिये इस रेखा का ढाल धोतियो ओर कमीजो की पारस्परिक कीमते वतलाता है।

इसके वाद जव हम $च^1$, $च^2$ ओर $च^3$ उदासीन वक्र-रेखाएँ खीचते है, जो उपभोक्ता की विभिन्न जोडो के लिये पसन्दगी वतलाती है। इनमे से दो रेखाएँ कीमत-रेखा को दो विन्दुओ पर काटती है। तीसरी वक्र-रेखा च कीमत-रेखा को प विन्दु पर छूती है और चोथी वक्र रेखा $च^3$ कीमत-रेखा के वहुत ऊपर है। प विन्दु जहाँ च वक्र-रेखा कीमत-रेखा को छुती है, उसकी पसन्दगी का सवसे अच्छा जोडा वतलाती है। अर्थात् यह जोडा उपभोक्ता को सवसे अधिक पसन्द आवेग। । चित्र न० ३४ से यह साफ जाहिर हो जाता है। नीचे की $च^1$ और $च^2$ वक्र रेखाओ पर के कोई भी जोडे ऊपर की वक्र-रेखा च के जोडो की अपेक्षा कम पसन्द आवेगे। $च^2$ वक्र-रेखा से हम समझ सकते है कि उपभोक्ता को अक इकाई धोती + $प^1$क इकाई कमीजो का जोडा उतना ही पसन्द होगा, जितना $अक^1$ धोती + $मक^1$ कमीजो का जोडा। ये दोनो जोडे उसे एक समान पसन्द होगे। परन्तु अक इकाई धोती + पक इकाई कमीजो का जोडा उसे अक इकाई धोती + $प^1$क इकाई कमीजो के जोडे की अपेक्षा अधिक पसन्द होगा। अर्थात् वह दूसरे की अपेक्षा पहिला जोडा ही चाहेगा। इसलिये ऊपर की वक्र-रेखा च पर उसे कोई भी जोडा नीचे की वक्र-रेखाओ $च^1$ और $च^2$ के जोडो से अधिक पसन्द होगा। हाँ, यह वात अवश्य है कि सवसे ऊपर की उदासीनता वक्र-रेखा $च^3$ पर कोई भी विन्दु च वक्र-रेखा के किसी जोडे से अधिक पसन्द का जोडा वतलावेगा। लेकिन चूँकि उपभोक्ता की आमदनी ५० रुपये पर वँधी है, इसलिये $च^3$ वक्र रेखा के किसी भी जोडे को खरीदने के लिये वह काफी न होगी। इसलिये जव उपभोक्ता की आमदनी वँधी हुई है, तव च वक्र-रेखा पर प विन्दु उसको सवसे अच्छा जोडा वतलाता है। अपने ५० रुपये की आमदनी से वह अक इकाइयाँ धोतियो की और पक इकाइयाँ कमीजो की खरीदेगा।

जव धोतियो की कीमत वढेगी, तो उसी आमदनी से उपभोक्ता धोतियो की कम मात्रा खरीदेगा। चूकि कमीजो की कीमत अफ अर्थात् वही रहती है, इसलिये पूरी आमदनी से खरीदी जाने वाली कमीजो की इकाइयाँ भी वही रहेगी। परन्तु धोतियो की इकाइयाँ अर से घटकर $अर^1$ हो जायँगी। अव $फर^1$ नई कीमत रेखा हो

जायगी जैसा कि चित्र न० ३५ मे मालूम होता है, इस रेखा को एक दूसरी वक्र-रेखा प[1] विन्दु पर छुएगी और अब उपभोक्ता अक[1] इकाई धोती+प[1]क[1] इकाई कमीजें, अक इकाई धोती+पक इकाई कमीजो के बदले मे खरीदेगा। यदि धोतियो के दाम गिरते है, तो उपभोक्ता धोतियो की अधिक इकाइया खरीद सकता है (अर्थात् अर से अधिक) और फर[2] नई कीमत-रेखा हो जायगी। यह रेखा ऊपर की उदासीनता वक्र-रेखा से प[2] विन्दु पर मिलती है। इसलिये अब उपभोक्ता अक[2] इकाई धोती+प[2]क[2] इकाई कमीजे खरीदेगा। धोतियो की कीमत मे परि-

चित्र न० ३५
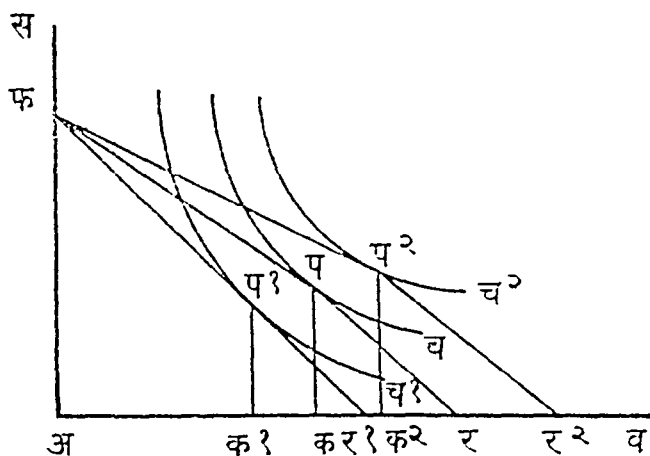
वर्तन होने के कारण यदि कीमत-रेखा की सब स्थितिया अकित की जायँ, तो इन स्थितियो के विन्दुओ को जोडने से जो रेखा वनेगी, वह धोतियो की माग-रेखा होगी और उसका पारस्परिक सम्वन्ध कमीजो की कीमत से होगा।

चित्र न० ३६ मे यह वतलाया गया है कि आमदनी मे परिवर्तन होने से उपभोक्ता दो वस्तुओ के जोडे किस-किस अनुपात मे खरीदेगा।

जब उसकी आमदनी ५० रुपया है, तो कीमत-रेखा पहिले की तरह फर है। प विन्दु जिस पर च उदासीनता वक्र-रेखा फर को छूती है, धोतियो और कमीजो का सवसे अच्छा जोडा या अनुपात वतलाता है। इसमे शर्त यही है कि आमदनी वही रहे और दोनो वस्तुओ की कीमते वही रहे। अब मान लो, आमदनी बढकर ७५ रुपया हो जाती है और कीमत वही रहती है, जो पहिले थी, तो अब उपभोक्ता अर[1] इकाइयाँ धोती की (अर की जगह) अथवा अफ[1] इकाइयाँ कमीज की (अफ की अपेक्षा) खरीद सकता है। अब नई कीमत रेखा फ[1]र[2] ऊपर की उदासीनता रेखा च[1] से प[1] विन्दु पर मिलती है। अब उपभोक्ता के लिये स्थिति प[1] विन्दु है। इस विन्दु पर वह अफ[1] इकाई धोती+प[1]क[1]

इकाई कमीजो की खरीद सकता है। प और प¹ विन्दुओ को जोडनेवाली रेखा वतलावेगी कि यदि कीमत वही रहती है और आय वदलती है तो उपभोक्ता मे किस प्रकार परिवर्तन होता है। इस वक्र-रेखा की चित्र न० ३५ की वक्र-रेखाओ से तुलना करने से यह पता चलेगा कि विक्री होने पर किसी वस्तु की कीमत पर परिवर्तनो का क्या प्रभाव पडता है। जव धोतियो की कीमत अपने पहिले स्थान से गिरती है, तो उपभोक्ता प्राय अधिक मात्रा मे धोतिया खरीदेगा। यह दो प्रकार से होता है। किसी वस्तु की कीमत गिरना एक आदमी के लिये आमदनी वढने के वरावर है। इसलिये नई कीमत रेखा अव फर चलकर फ¹र¹ हो
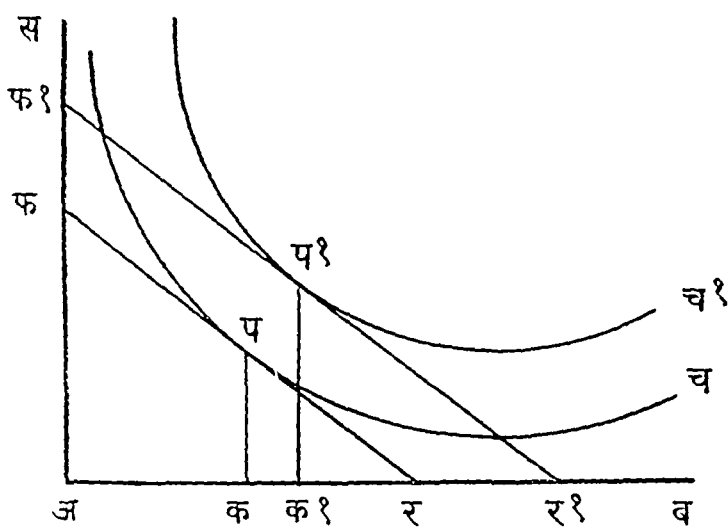
चित्र नं० ३६

जाती है। और उपभोक्ता भी एक ऊंची उदासीनता वक्र-रेखा च¹ पर पहुँचती है। यह रेखा फ¹र¹ कीमत-रेखा को प¹ विन्दु पर छूती है। इसे 'आय का प्रभाव' ('income effect') कहते है। दूसरे जव कमीजो की अपेक्षा धोतियों की कीमत गिरती है, तो उपभोक्ता कमीजो के वदले धोतियाँ खरीदेगा। इसे 'प्रतिस्थापन प्रभाव' (substitutional effect) करते है। तव उपभोक्ता प¹ से प² पर आ जायगा, जिस पर वक्र-रेखा फ र² कीमत-रेखा को छूती है।

हम कह चुके है कि जव आय वढती है, तव उपभोक्ता दोनो वस्तुओ को अधिक मात्रा मे खरीदता है। लेकिन कुछ उदाहरण ऐसे भी हो सकते है, जव उपभोक्ता आय वढने पर किसी वस्तु को कम मात्रा में खरीदेगा। अर्थात् अपनी खरीद घटा देगा। इन्हे घटित किस्म की वस्तुएँ कहते है। इनका उपयोग कम आय वाले मनुष्य करते है। जव किसी आदमी की आमदनी वढ जाती है, तो वह उनके वदले वढिया किस्म की वस्तुओ का उपयोग करने लगता है।

अभी तक हमने उदासीनता वक्र-रेखाओं का अध्ययन दो वस्तुओं का आधार लेकर किया है। यदि उपभोक्ता तीन वस्तुएं खरीदता है, तो भी हम आसानी से इस आधार पर अध्ययन कर सकते है और इस रीति का उपयोग कर सकते है। तब हमें विभिन्न पसन्दगी के पारस्परिक जोड़े दिखाने के लिये ऐसे चित्र या पदार्थ चाहिए, जिनमे तीन दिशाये हो। तब हम जो वक्र-रेखाए खीचेगे उनका आकार कुछ ऐसा होगा 'जैसे सन्दूक के कोने की तीन बाजुओं पर तश्तरियां रखी हो।' परन्तु यदि कई वस्तुओ की कीमतो मे एक ही अनुपात मे परिवर्तन होता है, तो हम उन सब वस्तुओं को एक वस्तु मान सकते है। तब हम किसी वस्तु की परिभाषा इस प्रकार कर सकते है कि कोई वस्तु वस्तुओ का वह वर्ग है, जिसमे उन वस्तुओ की कीमतो में आनु-

चित्र न० ३७
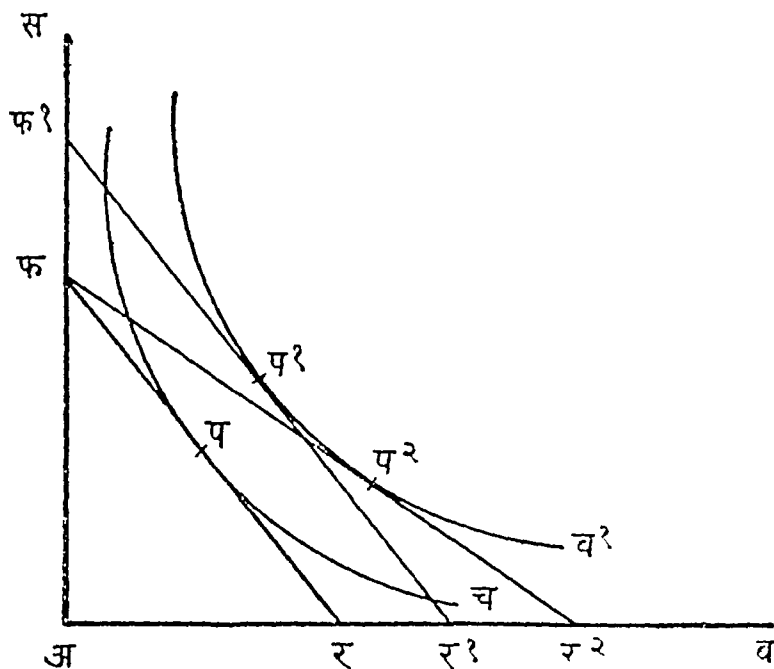
पातिक परिवर्तन होते है।'[1] इसलिये यदि श्रम के विभिन्न समूहो मे मजदूरी की दर में आनुपातिक परिवर्तन होते हैं, तो हम श्रम को एक वस्तु की तरह मान सकते है।

हम बाजार माँग की वक्र-रेखा भी खीच सकते है। बाजार मे किसी वस्तु की जो माँग होती है, वह कुछ व्यक्तियो के समूह की कुल माँग होती है। इसलिये उसमे लगभग वही विशेषताएँ रहती है, जो कि प्रत्येक व्यक्ति की माँग-रेखा मे रहती है। इनमें से कुछ विशेषताएँ ध्यान देने योग्य है। यदि किसी वस्तु की कीमत मे

1 *Hicks*, Value and Capital p. 33-4.

परिवर्तन होता है, तो उसकी माँग पर दो प्रकार के असर पडेगे—एक आय का प्रभाव और दूसरा बदलने का या प्रतिस्थापन का प्रभाव। धोतियो की कीमत गिरने पर प्रत्येक व्यक्ति कमीजो के बदले धोतियाँ खरीदने का प्रयत्न करेगा। यह प्रतिस्थापन सब व्यक्तियो पर प्रभाव डालेगा, अर्थात् सब लोग उसका अनुसरण करेंगे। इसलिये समूह की प्रतिस्थापन क्रिया भी उसी प्रकार की होगी, जैसी व्यक्तियो की होती है। लेकिन आय प्रभाव मे हम इस प्रकार का अनुमान नही लगा सकते। बाजार मे कुछ व्यक्ति एक वस्तु को घटिया समझ सकते है और दूसरे उसे साधारण किस्म की समझ सकते है। अर्थात् पहिला समूह उस वस्तु को कम मात्रा मे खरीदेगा ओर दूसरा समूह साधारणत अधिक मात्रा मे खरीदेगा। इसलिये बाजार में हम आय प्रभाव के बारे मे निश्चित नही रह सकते। परन्तु जो लोग किसी वस्तु को बाजार मे खरीदते है, यदि वे अपनी आय का बहुत कम अंश उस पर खर्च करते है तो आय प्रभाव नगण्य हो जाता है। इसलिये यदि बाजार मे कोई वस्तु अधिकाँश लोगो के लिये घटिया किस्म की नही है, तो उसकी बाजार मे माँग की रेखा हमेशा नीचे की ओर झुकेगी। साधारणत प्रतिस्थापन प्रभाव ही प्रधान रहेगा ओर यदि थोडा-सा ऋणात्मक आय प्रभाव होता है (जैसे कि घटिया माल के सम्बन्ध मे) तो वह बड़े प्रतिस्थापन प्रभाव द्वारा हटाया जा सकता है।

अध्याय २६

उत्पादन के साधनों का मूल्यांकन

(Pricing of the Factors of Production)

अब तक हमने इस बात पर विचार किया है कि बाजार की विभिन्न स्थितियों में वस्तु का मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाता है। अब हम उन सिद्धान्तो पर विचार करेगे जो उत्पादन के साधनो की सेवाओ का मूल्य निर्धारित करने मे विशेष महत्व रखते है इसे साधारणतया वितरण का सिद्धान्त (Theory of distribution) कहते है जिसके अन्तर्गत अर्थशास्त्रियो ने उत्पादन के विभिन्न साधनो मे देश की राष्ट्रीय आय के वितरण की समस्या का अध्ययन किया है। जितने उत्पादन के साधन है उतने ही वितरण के भाग भी है। भूमि से प्राप्त भाग को लगान (Rent) कहते है, श्रम के भाग को मजदूरी कहते है, पूँजी के भाग को ब्याज कहते है, और संगठन के भाग को मुनाफा या लाभ कहते है। इस प्रकार इस अध्याय मे और अगले अध्यायों में हम उन तरीको पर विचार करेगे जिनके अनुसार उत्पादन के विभिन्न साधनो

द्वारा उत्पादित देश की राष्ट्रीय आय सहयोगी साधनों में वितरित की जाती है। ध्यान रहे कि अर्थशास्त्र में वितरण का अर्थ व्यक्तिगत आय के वितरण से नहीं है जैसे किसी व्यक्ति की आय किस प्रकार निश्चित होती है। अर्थशास्त्र में इससे हमारा यह तात्पर्य होता है कि प्रत्येक साधन की आय किस प्रकार निर्धारित की जाती है।

उत्पादन के साधन का मूल्य किसी भी अन्य वस्तु के मूल्य की तरह माँग और पूर्ति के आधार पर निर्धारित किया जाता है। इससे आगे इस प्रश्न का विश्लेषण करना जरूरी प्रतीत होता है कि उत्पादन के साधनों की माँग और पूर्ति किस प्रकार निर्धारित होती है? आरम्भ मे हम किसी फर्म की उत्पादन के किसी एक साधन की माँग का अध्ययन करेंगे।

फर्म की माँग सीमान्त उत्पादन शक्ति (The demand of a firm: marginal productivity)—एक फर्म उत्पादन के किसी एक साधन का किस सीमा तक उपयोग कर सकता है? उपभोक्ता-सामग्री के सम्बन्ध मे मूल्य के सिद्धान्त (Theory of value) में हमने देखा है कि उपभोक्ता उस बिन्दु तक सामान की माँग करेगा जहाँ पर सीमान्त उपयोगिता उसकी कीमत के बराबर होगी। इसी प्रकार फर्म उत्पादन के साधन की इकाइयों का तब तक निरन्तर उपयोग करता रहेगा जब तक सीमान्त उत्पादन की लागत उसकी कीमत के बराबर नहीं हो जाती।

सीमान्त-उत्पादन शक्ति किस प्रकार निश्चित होती है।

जिस प्रकार किसी व्यक्ति के लिये किसी वस्तु की उपयोगिता उस इकाई की उपयोगिता के बराबर होती है, जिसे वह किसी प्रकार बाजार भाव पर खरीदने के लिये राजी हो जाता है, उसी प्रकार किसी साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति उत्पत्ति की उस इकाई के मूल्य के बराबर होती है, जिसे उत्पादक किसी प्रकार बाजार भाव पर उत्पादन कार्य मे लगाने को राजी हो जाता है। अन्य सब साधनों की पूर्ति स्थिर रहते हुए जब उत्पादक किसी साधन की एक अतिरिक्त मात्रा लगाकर अतिरिक्त उत्पत्ति प्राप्त करता है, तो उस अतिरिक्त उत्पत्ति के मूल्य के बराबर सीमान्त उत्पादन शक्ति होती है। इस प्रकार वास्तविक या नकद सीमान्त उत्पत्ति किसी फर्म के कुल उत्पादन के मूल्य में वृद्धि या घटी बतलाती है, जबकि उत्पादन के किसी साधन में बहुत छोटी मात्रा जोडी जाती है, या घटाई जाती है। इसमे शर्त यह है कि उस फर्म के सगठन मे भी पूर्ति मे होनेवाले परिवर्तन के अनुसार रद्दोबदल होना चाहिए। अर्थात् उसको अधिक से अधिक किफायत के आधार पर सगठित होना चाहिए, जिससे कि यदि किसी साधन की (मान लो) १०० इकाइयाँ है, तो ९९ या १०१

इकाइयाँ होने पर अन्तर मालूम हो जाय। इस तरीके से अन्य सावनो की पूर्त्ति यथावत् रखते हुए एक साधन की कुल पूर्ति मे एक मात्रा घटाकर हम प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादन शक्ति निश्चित कर सकते है। और चूँकि कम से कम सिद्धान्त के रूप मे एक सावन की सव इकाइयाँ एक दूसरे से आपस मे वदली जा सकती है, इसलिये इस अतिरिक्त इकाई की उत्पादन शक्ति उस सावन की अन्य सब इकाइयो को प्राप्त होनेवाले पारिश्रमिक की दर निश्चित कर देती है।

जिस प्रकार सीमान्त उपयोगिता का सिद्धान्त घटती हुई उपयोगिता से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार सीमान्त उत्पादन का सिद्धान्त घटती हुई उत्पत्ति के नियम से उत्पन्न होता है, जवकि उस नियम का उपयोग किसी व्यवसाय-सगठन के सम्बन्ध में किया जाता है। अन्य सहयोगी साधनो के यथावत् रहते हुए किसी व्यवसाय में जब एक सावन की मात्राएँ अधिकाधिक सख्या मे उपयोग मे लाई जाती है, तब कुछ समय के लिये उत्पत्ति अनुपात से अधिक मात्रा मे वढ सकती है। परन्तु जल्दी एक स्थिति ऐसी आ जायगी, जव उस सावन की एक अधिक मात्रा का उपयोग करने से उत्पत्ति अनुपात से कम होगी। यदि हम किसी कारखाने मे श्रमिको की सख्या वढाते जायँ तो एक स्थिति ऐसी आयगी जव मनुष्यो की सख्या वढाने से उत्पत्ति उस अनुपात में नही वढेगी। जव कोई उत्पादक अपने व्यवसाय मे किसी सावन की इकाइयाँ वढाता है, तव उस साधन मे होनेवाली अतिरिक्त उत्पत्ति घटने लगती है। फिर एक समय ऐसा आता है, जव कि अतिरिक्त इकाई की उत्पादन शक्ति ठीक उसकी कीमत के वरावर होती है। यह इकाई उस साधन की सीमान्त इकाई होती है और उसकी उत्पादन शक्ति का मूल्य उस सावन की सव इकाइयो का मूल्य निश्चित करता है। उसके वाद वह अन्य इकाई का उपयोग नही करेगा, क्योकि इस इकाई की उत्पत्ति का मूल्य इकाई के मूल्य से कम होगा।

प्रतिस्थापन का सिद्धान्त।

एक ऐसे वाजार मे जहाँ पूर्ण प्रतियोगिता स्वतत्र रूप से चलती है और जहाँ कई फर्म उत्पादन कार्य करते है, हम यह मान सकते है कि उत्पत्ति के अथवा उत्पादन के साधनो की कीमतो पर किसी एक फर्म का प्रभाव इतना कम पडेगा कि हम उसे नगण्य कह सकते है। उस फर्म के मालिक को अपनी उत्पत्ति के लिये वाजार भाव स्वीकार करना पडेगा। इसी प्रकार साधनो की किसी इकाई के लिये उसे जो कीमत देनी पडेगी, वह भी उस दर के द्वारा निश्चित हो सकती है, जो उन साधनो के लिये कोई अन्य व्यवसायी या उद्योग देता हो। जव साधनो की कीमते इस प्रकार निश्चित होती है, तव उत्पादक हमेशा विभिन्न साधनो को इस तरह मिलावेगा कि उनका उत्पादन का लागत खर्च कम से कम हो। वह अपने साधनों का अनुपात लगातार तव तक वदलता रहेगा, जब तक साधनो की प्रत्येक इकाई

के लिये वह जो कीमत देता है, वह उस इकाई की नकद सीमान्त उत्पत्ति के बराबर न हो जायगी। यदि वह सोचता है कि अधिक मजदूर लगाने से वह जो उत्पत्ति प्राप्त करेगा, वह मजदूरी के खर्च से अधिक होगी तो उत्पादक अधिक मजदूर लगावेगा। यदि अधिक पूंजी लगाने से जो उत्पत्ति होगी, वह पूंजी के व्याज से अधिक होगी तो अधिक पूंजी लगाई जावेगी। जिससे वह लागत कम करने की गुंजाइश देखेगा, उस हिसाब से वह अधिक श्रम और कम भूमि और पूंजी अथवा अधिक पूंजी और कम भूमि तथा श्रम, अथवा अधिक भूमि और कम श्रम और पूंजी का उपयोग करेगा। इस प्रकार वह हमेशा प्रतिस्थापन के सिद्धान्त पर अमल करता रहता है। वह भूमि, श्रम और पूंजी के अनुपात को इस प्रकार बदलता रहता है, जिससे उत्पादन मे होनेवाली बढती साधनो की उन अतिरिक्त इकाइयो के मूल्य के बिल्कुल बराबर होगी, जिनका वह उपयोग करता है। यदि किसी साधन की नकद उत्पत्ति कीमत से अधिक या कम होगी तो उसी के अनुसार वह उत्पादन बढाने या घटाने की बात सोचेगा। इसलिये किसी फर्म के विस्तार और उत्पादन के तरीको में साम्य रखने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पादन के प्रत्येक साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर हो। इसलिये साम्य की स्थिति मे प्रत्येक साधन का भाग उसकी सीमान्त उत्पत्ति के द्वारा निश्चित होगा।

संक्षेप में यही सीमान्त उत्पादन का सार है। जैसा कि हम देख चुके है, यह सिद्धान्त निम्नलिखित अनुमानो पर आधारित है। पहिला अनुमान यह है कि किसी साधन की सब इकाइया एक-सी होती है और हम एक इकाई के बदले किसी अन्य इकाई का उपयोग कर सकते है। दूसरा अनुमान यह है कि यद्यपि विभिन्न साधन किसी वस्तु के उत्पादन कार्य में एक दूसरे के साथ सहयोग करते है, तो भी वे एक दूसरे से बदले जा सकते है। यह बदला इस तरह का होगा कि सीमा पर हम भूमि और श्रम का अधिक उपयोग कर सकते है अथवा श्रम का अधिक, तथा भूमि और पूंजी का उपयोग कम कर सकते है। तीसरा अनुमान यह है कि उपरोक्त कारणो से साधनो के अनुपात मे सदा परिवर्तन की सभावना रहती है। अन्तिम अनुमान यह है कि यह सिद्धान्त व्यवसाय सगठन मे सगठित उपज का सिद्धान्त लागू करने के आधार पर बना हुआ है।

इस सिद्धान्त के अनुमान।

इस सिद्धान्त की सहायता से लगान, व्याज, श्रम की दर और लाभ समझाये जा सकते है। यदि कोई उत्पादक भूमि के अधिकाधिक भाग बँधे हुए श्रम और पूंजी की मात्रा से करता है अर्थात् भूमि की मात्रा बढाता जाता है, पर श्रम और पूंजी की मात्रा नही बढाता, तो उसके उत्पादन की बढती, घटती हुई दर से होगी। यदि मान ले कि भूमि के सब भाग एक समान उपजाऊ है, तो एक भूमिखड का लगान उसकी सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलायेगी। एक मात्रा जोडने से कुल

उद्योग का जो उत्पादन होगा ओर एक मात्रा घटाने से कुल उद्योग का जो उत्पादन होगा, इन दोनो का अन्तर पूंजी का नकद सीमान्त उत्पादन होगा। इसमे शर्त यह होगी कि एक मात्रा जोडते अथवा घटाते समय अन्य साधनो की पूर्ति यथावत् रहे और व्यवसाय का सगठन उत्तम हो, पूजी का व्याज इस नकद उत्पत्ति के बराबर होगा। अन्य वस्तुओ के यथास्थित रहते हुए एक मजदूर अधिक लगाने से उत्पादन मे जो वढती होगी, उसके वरावर होने की प्रवृत्ति मजदूरी की दर दिखलावेगी। अन्त मे उत्पादक की सहायता से जो उत्पादन होता है और उसकी सहायता के विना जो उत्पादन होता है, उसके अन्तर की मात्रा उत्पादक का लाभ होगा।

इस सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई है। टॉउसिग, डेवनपोर्ट, ओर एड्रियान्स की आलोचनाएँ ध्यान देने योग्य है। इनके मत मे प्रत्येक उत्पत्ति मम्मिलित उत्पत्ति होती है। उसके सम्बन्ध मे हम यह नही कह सकते कि इतना अश पूंजी द्वारा उत्पादित है, इतना श्रम द्वारा और इतना भूमि द्वारा। प्रत्येक साधन विशेष की उत्पत्ति हम अलग से नही वता सकते। जैसा कि कारवर ने कहा है 'तुम अडो का विश्लेपण नही कर सकते।' कोई भी उत्पत्ति विभिन्न साधनो का ऐसा समिश्रण होता है कि तुम उसे अलग-अलग नही कर सकते। परन्तु यह आलोचना सीमान्त उत्पादन के सिद्धान्त का गलत अर्थ लगाती है। जब हम यह कहते है कि किसी साधन की नकद सीमान्त उत्पत्ति इतनी है, तो हमारा मतलव यह नही रहता कि यह नकद उत्पत्ति केवल उस साधन के कारण है। हम केवल उसे साधन के हिस्से मे लगा देते (impute) है। इसके सिवा उत्पादन मे सयुक्त रूप मे लगे हुए साधनो की सेवाए मापने का अन्य कोई तरीका नही है। यह केवल सयुक्त मार्ग का एक उदाहरण है और इसमे वही परिस्थिति उत्पन्न होती है जैमी कि मक्खन और रोटी के समान उपभोक्ताओ की वस्तुओ मे होती है। मक्खन की मॉग अन्य वस्तुओ के साथ होने के कारण जितनी कठिनाई उसकी उपयोगिता निश्चित करने मे होती है, उतनी ही और उसी प्रकार की कठिनाई श्रम अथवा पूँजी की उत्पादन शक्ति अलग से जानने मे होती है। क्योकि वे सदा अन्य साधनो के साथ मिले रहते है।

उत्पादन संयुक्त होता है। किसी साधन का अलग उत्पादन नहीं होता।

दूसरी आलोचना वीजर ने की है और उसी से मिलती-जुलती हावसन की आलोचना है। नकद सीमान्त उत्पत्ति किसी साधन की सेवाओ का सही द्योतक नही है, क्योकि जव उत्पादन से एक इकाई घटा दी जाती है, तो उससे पूरा व्यवसाय अस्त व्यस्त हो जाता है और उसके कारण अन्य साधनो की उत्पादन-शक्ति भी काफी कम हो जाती है। इसलिये एक मात्रा घटाने से एक साधन के उत्पादन मे जितनी कमी हम सोचते है, उससे कही अधिक कमी कुल उत्पादन की मात्रा मे होती है। इस

लिये जाहिर है कि यह विचार गलत है कि सब साधनो की सीमान्त नकद उत्पत्ति का जोड, जो कि सिद्धान्त के अनुसार अलग-अलग निश्चित होगा, उत्पत्ति की वास्तविक मात्रा या जोड से अधिक होगा। इस आलोचना की गलती यह है कि इसका ध्यान व्यवसाय के छोटे सगठन और साधनो की बडी इकाइयो पर रहता है। परन्तु प्राय व्यवसाय का विस्तार इतना बडा रहता है और साधनो की साधारण इकाइया इतनी छोटी होती है कि किसी साधन की एक इकाई घटा देने से दूसरे साधनो के उत्पादन पर कोई विशेष प्रभाव नही पडेगा। हा, यह बात अवश्य है कि सिद्धान्त की दृष्टि से इकाइयाँ बहुत ही छोटी होनी चाहिए। इस प्रकार की गलती या इससे उत्पन्न होनेवाली कठिनाई को मार्शल बहुत मामूली बात समझता है और हम उसे छोड सकते है।

तीसरी प्रकार की आलोचना नकारात्मक रूप मे है और वह विकस्टीड के द्वारा की गई है। सब साधनो की नकद सीमान्त उत्पत्तिया कुल उत्पादन से कम रहेगी, कुछ भाग बचा रहेगा। विकस्टीड इस आलोचना को गलत सिद्ध करता है। वह यह अनुमान कर लेता है कि साधनो मे जो आनुपातिक बढती होगी उससे उत्पत्ति भी उसी अनुपात मे बढेगी। अर्थात् वह स्थिर उत्पत्ति (constant returns) मान लेता है। परन्तु यह अनुमान हमेशा सच नही होता और इससे भी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है।

आलोचना की चौथी दलील नकद सीमान्त उत्पत्ति मापने के सम्बन्ध में है और यह एक बडी कठिनाई मानी जाती है। वह कठिनाई यह है कि किसी साधन की एक इकाई की सीमान्त उत्पत्ति किसी फर्म के लिये पूरे उद्योग की अपेक्षा काफी कम होगी, जबकि उद्योग को वृहत् उत्पादन या लाभ सम्बन्धी लाभ या बचत उपलब्ध हो। क्योंकि उद्योग को जब एक अतिरिक्त इकाई प्राप्त हो जाती है, तो उसमे श्रम का विभाजन और अधिक हो जाती है। जब बढती का पूरा प्रभाव मालूम हो जाता है, अर्थात् जब पूरा उद्योग अपने को नयी पूर्ति के अनुसार सगठित कर लेता है, तब यह बिलकुल सभव है कि किसी साधन की सीमान्त उत्पत्ति अलग-अलग फर्मों के लिये पूरे उद्योग की अपेक्षा कम हो। इसलिये जब तक उत्पादन बढती उत्पत्ति की परिस्थितियो मे होता है, तब तक नकद सीमान्त उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कुछ सन्देह बना रहता है।[1]

पाँचवी आलोचना यह है कि हाबसन के मतानुसार विभिन्न साधनो का उपयोग करने मे उनके अनुपातो मे रद्दोबदल नही की जा सकती। उसका कहना है

---

[1] *Joan Robinson*, 'Economics of Imperfect Competition, p. 327. Also *Pigou*, 'Economics of Welfare, *Hicks*, The Theory of Wages, Appendix.

कि किसी व्यवसाय मे वास्तविक रूप मे जो विशेष कुशलता सम्बन्धी परिस्थितियाँ (technical conditions) रहती है, तथा मशीनो इत्यादि के रूप मे जो अचल पूंजी रहती है, उनके द्वारा साधनो का अनुपात निश्चित होता है। कई ऐसी मशीने रहती है, जिन्हे केवल एक मजदूर चला सकता है। उनके लिये दो मजदूर लगाना व्यर्थ है। जिस प्रकार केक बनाने के लिये विभिन्न वस्तुओ का अनुपात एक नुस्खे के रूप मे बँधा रहता है, उसी प्रकार किसी व्यवसाय मे भी उत्पादन के तरीको ओर कुशलता की परिस्थितियो के द्वारा साधनो का मिश्रण अनुपात भी पहिले से निश्चित रहता है। इसलिये जब तक हम किसी साधन का उपयोग न बदल सके, तब तक हम उसकी नकद उत्पत्ति भी निश्चित नही कर सकते। वैसे साधारणत साधनो के परस्पर अनुपात बदलने की बेहद गुँजाइश रहती है। वास्तव मे व्यवसाय मे उन्नति की सभावना तभी होती है, जब इस प्रकार का रद्दोबदल करना सभव होता है। इसके सिवा एक बात यह भी है कि यदि हम दीर्घकाल की दृष्टि से देखे तो अचल पूंजी के साधनो के उपयोग मे आनुपातिक रद्दोबदल करने में कोई बडी कठिनाई नही दिखाई देती। क्योकि दीघकाल मे पूरक लागत सम्बन्धी खर्च नही होते। या तो पुरानी मशीनो की जगह नई मशीने लगानी पडती है अथवा उनकी जगह अन्य साधनो का उपयोग होता है। इसलिये आनुपातिक रद्दोबदल की सभावना को स्वीकार नही करना चाहिये।

यह सिद्धान्त पूर्ति सम्बन्धी प्रभावो पर ध्यान नही देता।

अन्त मे इस सिद्धान्त की एक बडी कडी आलोचना यह है कि यह सिद्धान्त मान लेता है कि साधनो की पूर्ति दी हुई है। यह मान कर, तब यह समझता है कि उनकी माँगें क्यो होती है। साधनो की माँग इसलिये होती है कि वे उत्पादको को सीमान्त उत्पत्ति देते है। परन्तु केवल माँग किसी वस्तु का मूल्य नही बतला सकती, विशेषकर उत्पादन के किसी साधन का। किसी साधन की पूर्त्ति निश्चित या बँधी हुई नही रहती। वह काफी हद तक लोचदार होती है, क्योकि वह कई बातो पर निर्भर रहती है। उदाहरण के लिये साधनो की पूर्त्ति कीमत पर निर्भर रहती है। हम यह नही कह सकते कि व्याज की दर का असर पूंजी पर नही पडेगा। चूँकि उसका असर पडेगा, इसलिये व्याज की दर का असर पूंजी की वास्तविक उत्पत्ति पर भी पडेगा। इस प्रकार नकद सीमान्त उत्पत्ति स्वय भी एक परिवर्तनशील मात्रा है और वह कई बातो पर निर्भर रहती है। इस कारण से मार्शल स्वीकार करता है कि "यह सिद्धान्त मजदूरी को प्रभावित करनेवाले कई कारणो मे से एक कारण की क्रिया या गति पर पूर्ण प्रकाश डालता है।"

इस प्रकार उत्पादन के साधनो की कीमत निश्चित करने मे सीमान्त उत्पत्ति का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पडता है। यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि यह सिद्धान्त

वास्तविक जीवन में नगद उत्पादन और मूल्य में अन्तर हो सकता है।

केवल यह बतलाता है कि उत्पादक साधनों की क्या कीमत दे सकता है। परन्तु वास्तविक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं पाई जाती, जैसा कि इस सिद्धान्त में मान लिया गया है। आर्थिक संगठन में निरन्तर एक संघर्ष चला करता है, जिसके कारण ब्याज, लगान, श्रम की दर और सीमान्त नकद उत्पत्तियों में उचित सम्बन्ध नहीं हो पाता। लेकिन उचित सम्बन्ध की कमी बहुत दिनों तक रहेगी, तब कुछ ऐसी प्रवृत्तियां उठेंगी, जिनसे त्रुटियां दूर होने की सभावना बढेगी।

अन्त में ध्यान रहे कि सिद्धान्त में, कोई नैतिक औचित्य या न्याय का प्रश्न नहीं रहता। सीमान्त उत्पत्ति के सिद्धान्त से ऐसा लगता है कि चूंकि साधनों को वही मिलता है, जो वे उत्पादन करते हैं, इसलिये आय का वितरण उचित होता है। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि बाजार का मूल्य जो कि सीमान्त नकद है उत्पत्ति के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलाता है, समाज-सेवा के साथ कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये इस सिद्धान्त का उपयोग वर्तमान वितरण प्रथा को न्यायोचित ठहराने के लिये नहीं करना चाहिए।

अध्याय २७

लगान या किराया

(Rent)

लगान का अर्थ (The Meaning of Rent)—लगान या किराये का साधारण अर्थ किसी वस्तु के उपयोग के लिये एक निश्चित समय पर कुछ धन देना है। जैसे हम मकान, गाडी या बाजा इत्यादि किराये पर लेते हैं। परन्तु अर्थशास्त्र में किराया या लगान शब्द इस अर्थ में उपयोग नहीं किया जाता। प्रचलित अर्थ में लगान शब्द का अर्थ वह रकम है, जो किसान किसी खेत के मालिक को देता है या कोई किरायेदार किसी मकान-मालिक को देता है। हिंदी में 'रेन्ट' शब्द के लिये लगान, किराया या भाडा शब्द प्रचलित हैं। भूमि के उपयोग से जो आय होती है और भूमि में पूंजी लगाने से जो आय होती है, इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। पर अर्थशास्त्र में पहिले को अर्थात् भूमि के उपयोग से प्राप्त होनेवाली आय को लगान (rent) कहते हैं और दूसरे को

अर्थात् भूमि मे पूंजी लगाने से प्राप्त आय को व्याज (interest) कहते है। जो भूमि उत्पादन के काम मे आती है, उसके उपयोग के लिये दी जानेवाली रकम को अर्थशास्त्र मे लगान कहते है। सुविधा के लिये हम उसे आर्थिक लगान कहेगे।

आर्थिक लगान और वास्तविक लगान (Gross rent & rent proper)

आर्थिक लगान मे अर्थात् साधारणत जो लगान किसान देता है, उसमे तीन चीजें शामिल रहती हैं। (अ) आर्थिक लगान अर्थात् भूमि के उपयोग के लिये दी जानेवाली रकम। (ब) व्याज अर्थात् मकान तथा भूमि की उन्नति के लिये जो पूंजी लगाई जाती है, उससे होने वाली आय। (स) मकान तथा भूमि की उन्नति के लिये जो पूंजी लगाई जाती है, उसकी देख-रेख करने के लिये भूमिपति या उसके गुमाश्ता का पारिश्रमिक (wages)। इस पारिश्रमिक मे वह रकम भी जोडी जाती है, जो भूमिपति को भूमि की उन्नति करने के लिये रकम लगाने के खतरे के लिये मिलनी चाहिए, क्योंकि यह रकम लगाने मे वह कुछ खतरा तो उठाता ही हैं।

रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त (Recardian Theory of Rent)—ब्रिटेन के जितने पुराने (calssical) अर्थशास्त्रियो ने लगान के सिद्धान्तो का अध्ययन, व्याख्या और परिभाषा की है, उनमे डेविड रिकार्डो (David Ricardo) का नाम सबसे अधिक उल्लेखनीय है, यद्यपि लगान सिद्धान्त का अध्ययन उसके पहिले भी कुछ अर्थशास्त्रियो ने मोटे तौर से किया था। रिकार्डो के मतानुसार-"लगान भूमि की उपज का वह अश है, जो भूमि के मालिक को भूमि की मूल और अविनाशी शक्तियो के लिये दिया जाता है।" सब भूमिखण्ड एक समान उपजाऊ नही होते। विभिन्न भूमिखडो मे उपजाऊ शक्ति सबधी मौलिक अन्तर रहते हैं। कुछ भूमिखड अधिक उपजाऊ होते है और कुछ कम उपजाऊ होते है। अधिक उपजाऊ भूमि खड उत्पादन की दृष्टि से अधिक लाभकारी होते है। उपजाऊपन के इसी अन्तर के कारण लगान उत्पन्न होता है।

रिकार्डो की विचारधारा का अनुसरण करते हुए हम एक उदाहरण ले सकते है। मान लो, कुछ नये लोग एक देश मे जाकर बसते है और वहाँ खेती आरम्भ करते है। शुरु मे वे केवल उत्तम भूमि मे खेती करेगे। जब तक उत्तम भूमिखड या खेत प्रचुर मात्रा मे प्राप्त हो सकते है, तब तक भूमि के उपयोग के लिये कोई कुछ न देगा। उत्तम भूमि से जो उपज होती है वही वहाँ के निवासियो की आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये काफी है। किसानो को भूमि के लगान के रूप मे कुछ नहीं देना पडेगा, क्योंकि वह प्रचुर मात्रा मे प्राप्य है। जिस वस्तु की पूर्ति असीम होती है, उसके लिये कोई कुछ नही देता। अब मान लो, उस देश मे बसने के लिये लोगो का नया जत्था आता है। अब जो बची हुई उत्तम भूमि थी, उसमें भी कृषि होने लगेगी

परन्तु अब उत्तम भूमि से जो कुल उपज होती है, उससे लोगो की अन्न सम्बन्धी आवश्यकतायें पूरी नही होती। इसलिये नये बसनेवालो को अब दूसरे दर्जे के भूमिखडो पर खेती करनी पडेगी। इन खेतो की उपज उत्तम खेतो मे अर्थात् पहिले दर्जे के खेतो से कम होती है। दूसरे दर्जे के खेतो मे पहिले दर्जे के खेतो की अपेक्षा उपज कम होगी। उतनी ही पूजी और श्रम लगाने से (मान लो) उत्तम खेत मे ३५ बुशल उपज होती है, पर मध्यम दर्जे के खेत मे ३० बुशल उपज होती है। गेहू का भाव ऐसा होना चाहिए कि ३० बुशल अनाज बेचने से उतनी पूजी और श्रम का खर्च (जिसमे कृषि का सामान्य लाभ भी शामिल है) निकल आवे। नही तो लोग दूसरे दर्जे के खेतो को जोतेंगे नही। जब दूसरे दर्जे के खेत जोते जाते है, तब उत्तम दर्जे के खेतो मे ५ बुशल उपज अधिक होती है, यद्यपि दोनो प्रकार के खेतो पर उत्पादन खर्च एक प्रकार लगता है। यह अधिक मात्रा अर्थात् ५ बुशल लगान है। अब चाहे इसे किसान ले या भूमिपति ले। इसी प्रकार यदि दूसरे दर्जे के सब खेत जोतने पर भी अन्न की आवश्यकता पूरी नही होती तो लोगो को तीसरे दर्जे के खेत जोतने पडेगे। इनकी उपज दूसरे दर्जे के खेतो से भी कम रहेगी। दूसरे दर्जे के खेतो की उपज उनसे अधिक होगी और पहिले दर्जे के खेतो की तो इनसे और अधिक रहेगी। तब दूसरे दर्जे के खेत कुछ लगान देने लगेगे और पहिले दर्जे के खेतो का लगान बढ जायगा। इस प्रकार अच्छी भूमि की अधिक उपज के कारण उपज का अन्तर या लगान उत्पन्न होता है।

मान लो, एक एकड उत्तम श्रेणी की भूमि में जो पूंजी और श्रम लगेंगे उसकी रकम (जिसमे किसान का लाभ भी शामिल है) तब निकल आवेगी, जब कुल उपज ७० रुपये मे बिक जाती है (अर्थात् २ रु० प्रति बुशल के भाव से) मान लो, गेहूं का बाजार भाव भी २ रुपया प्रति बुशल है। बिक्री से प्राप्त रुपया श्रम और पूंजी का पारिश्रमिक देने मे चुक जाता है और शेष कुछ नही बचता। अब जनसख्या बढने के कारण अनाज की मॉग भी बढती है और गेहू का भाव २ रु० से २॥) रु० प्रति बुशल हो जाता है। अब पूंजी और श्रम की उसी मात्रा से दूसरे दर्जे की भूमि जोतनी भी लाभदायक हो जाती है। इस भूमि की कुल उपज ३० बुशल प्रति एकड है और उसकी कीमत ७० रु० है, जिससे केवल पूंजी और श्रम का पारिश्रमिक दिया जा सकता है। चूंकि बाजार मे केवल एक भाव रह सकता है, इसलिये पहिले दर्जे की भूमि की उपज का दाम ८१ रुपया होगा। इसमे से भूमि और श्रम सम्बन्धी खर्च ७० रु० है। इसलिये पहिले दर्जे की भूमि से ११ रुपया लगान या किराया प्राप्त होगा।

फिर जैसे-जैसे अनाज की मॉग बढेगी, वैसे-वैसे उत्तम भूमि की अधिक गहरी खेती की जावेगी। परन्तु जब श्रम और पूंजी की अधिकाधिक इकाइयाँ लगाई जावेगी, तब घटती उपज का नियम भी क्रियाशील हो जावेगा। पूजी और श्रम की दूसरी मात्रा पहिली मात्रा की अपेक्षा कम उपज देगी। इसलिये पूंजी और श्रम की प्रारम्भ की मात्राओ पर

लगान और घटती उपज का नियम।

सीमान्त मात्रा की अपेक्षा अधिक उपज होगी। इस प्रकार उत्तम भूमि की गहरी कृषि होने पर लगान बढेगा।

स्थिति और लगान।

लगान निश्चित करने मे स्थिति का भी काफी बडा हाथ रहता है। मान लो, सब भूमिखड एक समान उपजाऊ है। पर कुछ बाजार के पास स्थित है, ओर कुछ बाजार से दूर है। प्रत्येक एकड की उपज ३५ बुशल है। यदि गेहूं का भाव २ रुपया प्रति बुशल है, तो दूर स्थित भूमिखड नही जोते जावेगे। क्योकि खेती के श्रम और पूंजी के खर्च के अलावा, जो सब खेतो पर एक से है, दूर स्थित खेतो पर यातायात सम्बन्धी खर्च भी होगा। दूर के खेतो की उपज बाजार तक भेजने मे कुछ खर्च अवश्य होगा।

लगान और कीमत।

लगान के अपने सिद्धान्त के आधार पर रिकार्डो इस नतीजे पर पहुँचा। लगान कीमत का परिणाम था, इसलिये वह कीमत का अश नही हो सकता। उपज की कीमत सीमान्त भूमि के उत्पादन खर्च के बराबर होने की प्रवृत्ति रखती है। सीमान्त भूमि पर जो उपज होती है, यदि उसकी कीमत से उत्पादन का खर्च पूरा नही होता, तो स्वाभाविक है कि उस भूमि पर उस फसल की खेती नही की जावेगी। फल यह होगा कि फसल की मात्रा कम हो जावेगी। परन्तु यदि अनाज की माँग पहिले की तरह बनी रहती है, तो कीमत बढेगी और यहाँ तक बढेगी कि उस भूमिखडं मे उस फसल का बोना फिर से लाभदायक हो जायगा। इस प्रकार उस फसल का दाम सीमान्त भूमि पर खेती करने के उत्पादन खर्च के बराबर होगा। परन्तु सीमान्त भूमि अनुमान के अनुसार (ex-hypothesis) लगान न देनेवाली भूमि है। इसलिये लगान उत्पादन खर्च का अश नही है। इसीलिये वह कीमत का भी अश नही है। इस प्रकार रिकार्डो का मत है कि कीमत बढने से लगान बढता है। लगान बढने के कारण कीमत नही बढती।

रिकार्डो के लगान सम्बन्धी सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई है। सबसे पहिले तो यह कहा जाता है कि भूमि मे कोई मूल और अविनाशी शक्तियाँ नही है। कुछ दिनो की कृषि के बाद उत्तम भूमि का उपजाऊपन कम हो जाता है। क्योकि जिन रासायनिक द्रव्यो के ऊपर उपजाऊपन निर्भर रहता है, वे कुछ वर्षो की लगातार खेती के कारण क्षीण हो जाती है। यह बात सच है। परन्तु साथ ही यह भी सच है कि भूमि मे मिट्टी, नमी, जलवायु इत्यादि सम्बन्धी कुछ ऐसे गुण होते है, जो अविनाशी होते है।

दूसरी आलोचना कारे (Care) और राशर (Rocher) की है, जो रिकार्डो के कृषि-सम्बन्धी विचारो पर है। उनका कहना है कि नये देशो मे हमेशा पहिले उनन्न

भूमि पर खेती नही की जाती है। लोगो की आबादी के पास जो भूमि होती है, उस पर पहिले कृषि की जाती है, चाहे वह अच्छी हो या नही। इसलिये रिकार्डो ने कृषि का जो क्रम बतलाया है, वह गलत है। इस आलोचना का उत्तर वांकर (Walker) ने दिया है। उसने कहा है कि जब रिकार्डो ने उत्तम भूमिखडो की चर्चा की तो उसने उपजाऊपन और स्थिति दोनो बातो पर विचार करके की थी।

तीसरी आलोचना यह है कि रिकार्डो का यह कहना गलत है कि किराया कीमत का अंश नही है। लगान और कीमत मे जो सम्बन्ध है, उसका अध्ययन हम इसी अध्याय में आगे चलकर करेंगे।

भूमि से जो सेवाएँ ली जाती है, उनकी कीमत के रूप में लगान दिया जाता है। इसलिये जैसे अन्य सब कीमते माग और पूर्ति के नियम के आधार पर निश्चित की जाती है, उसी प्रकार यह कीमत भी उसी आधार पर समझाई जा सकती है। लगान भूमि की माँग पर और किसी देश मे भूमि की पूर्त्ति की मात्रा पर निर्भर होता है। उपज की मात्रा तथा मांग के अनुसार कृषि की सीमा जनसख्या पर निर्भर होती है। पूर्त्ति के अनुसार अथवा पूर्त्ति की दृष्टि से उपज की मात्रा और कृषि की सीमा भूमि की प्राप्य मात्रा और उपजाऊपन पर निर्भर होती है। इसलिये लगान का सिद्धान्त मूल्य के साधारण सिद्धान्त के आधार पर समझाया जा सकता है। दोनो में कोई विरोध नही है। लगान का सिद्धान्त केवल कुछ आगे बढ जाता है और यह समझाने की कोशिश करता है कि लगान किस क्रम स उत्पन्न होता है।

लगान का आधुनिक सिद्धान्त (The Modern Theory of Rent)—रिकार्डो का लगान का सिद्धान्त इस अनुमान पर आधारित है कि भूमि उत्पादन के अन्य साधनो से बिल्कुल भिन्न प्रकार का साधन है क्योकि उसकी पूर्ति नितान्त बेलोच है। इसलिए रिकार्डो का विचार था कि भूमि के लिए जो भुगतान किया जाता है उसके लिए उत्पादन के अन्य साधनो के लिए किये जानेवाले भुगतान से भिन्न प्रकार की व्याख्या की आवश्यकता है। परन्तु अल्पकालिक दृष्टिकोण से सभी साधनो की पूर्ति बराबर बेलोच है। यदि काफी लम्बे समय को ध्यान में रखा जाय तो भूमि की पूर्ति भी बिलकुल बेलोच हो सकती है। यद्यपि भूमि की सतह को बढाया नही जा सकता है परन्तु सिचाई, नयी जमीन को खेती योग्य बनाकर, खाद आदि के प्रयोग से फसल की मात्रा बढायी जा सकती है और इस प्रकार भूमि की प्रभावकारी पूर्ति बढायी जा सकती है।

इसलिए आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पादन के अन्य साधनो की तरह सीमान्त उत्पादन के सिद्धान्त के आधार पर लगान का सिद्धान्त समझाते है। श्रम की ही तरह भूमि भी असम साधन है। दो मजदूरो की तरह भूमि के दो प्लाटो के गुण एक दूसरे से भिन्न प्रकार के होते है। इस प्रकार लगान भी उन्ही सिद्धान्तो के आधार पर निर्धारित किया

जा सकता है जिन सिद्धान्तो के आधार पर मजदूरी निर्धारित की जाती है। किसी भूमि के एक प्लाट के लिए जो लगान दिया जाता है वह असामी के लिए सीमान्त उत्पादन के बराबर होता है। मान लो भूमि की उपजाऊ शक्ति ओर स्थिति मे कोई अतर नहीं है—सभी प्लाट समान रूप से उपजाऊ है ओर बाजार से समान दूरी पर स्थित हे। माना एक किसान पूंजी और श्रम की १०० इकाइयो की सहायता से ५० एकड भूमि को जोतता बोता है। उससे उसके उपज की एक निश्चित मात्रा मिलती है। अन्य वस्तुओ के यथास्थित रहते हुए अब वह अपनी कृषि मे एक एकड भूमि अधिक जोड़ देता है। अब वह पूंजी ओर श्रम की १०० इकाइयाँ ५१ एकड भूमि मे लगायेगा। अब प्रत्येक एकड भूमि की कृषि पहिले की अपेक्षा विस्तृत रूप से होगी। अब कुल उपज की मात्रा बढ जावेगी। ५० एकड भूमि मे पहिले कुल जितना उत्पादन हुआ था उसमें जो वृद्धि हुई वह ५१वे एकड का सीमान्त उत्पादन हुआ और इस एक एकड भूमि का लगान उसके सीमान्त उत्पादन के बराबर होगा।

भूमि के विभिन्न प्लाटो की उपजाऊ शक्ति मे जो अतर होता है उससे कोई कठिनाई उत्पन्न नही होनी चाहिये। यदि एक प्लाट दूसरे प्लाट की अपेक्षा अधिक उपजाऊ है तो श्रम और पूंजी की दी हुई मात्रा का सीमान्त उत्पादन पहले प्लाट मे दूसरे प्लाट की अपेक्षा अधिक होता है। इस प्रकार की भूमि से अधिक लगान प्राप्त होगा।

लगान और कीमत (Rent and Price)—रिकार्डो के मतानुसार लगान कीमत का परिणाम है। इसलिये कृषि की उपज की कीमत निश्चित नही करता। उत्तम भूमि मे जो उपज होती है और बेलगान अर्थात् सीमान्त भूमि मे जो उपज होती है, उनके अन्तर को लगान कहते है। अनुमान के आधार पर सीमान्त भूमि कोई लगान नही देती। और चूंकि कृषि के उपज के दाम सीमान्त भूमि के उत्पादन खर्च के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलाते है, इसलिये लगान मूल्य या कीमत निश्चित नही करता। यह कहना सही नही है कि लगान ऊँचा है, इसलिये अन्न का भाव ऊँचा है। कहने का सही तरीका यह है कि अनाज का भाव ऊँचा है, इसलिये लगान ऊँचा है। जब अन्न का भाव बढ जाता है, तब घटिया दर्जे की भूमि जोती जाती है और अच्छे दर्जे की भूमि उत्पादन खर्च से अधिक उपज देती है।

इस बात मे बहुधा लोग भ्रम में पड जाते है। यह बात अवश्य है कि कोई व्यवसायी अपने कारखाने की भूमि के लिये जो किराया देता है, वह उसके उत्पादन खर्च का अश है और उसे वह अवश्य पूरा करेगा। उस व्यवसायी की दृष्टि मे लगान उत्पादन खर्च का अश है। परन्तु अर्थशास्त्र का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष के दृष्टिकोण मे नही है। सामाजिक दृष्टिकोण से भूमि की पूरी मात्रा को ध्यान में रखते हुए जमीन के जो दाम दिये जाते है, वे उस

भूमि और बरबादी सम्बन्धी खर्च नहीं होता।

अश नही है, जो किसी वस्तु की कीमत कहलाती है। हम देख चुके है कि उत्पादन सम्बन्धी सब खर्च उत्पादन की वास्तविक लागत बतलाते है। श्रम और पूंजी की पूर्ति मे उपयोगिता की बरबादी (disutility) लगी रहती है। इस बरबादी से बचने के लिये उनका मूल्य देना पडता है। इसलिये मजदूरी और व्याज आवश्यक लागत खर्च के अश है। परन्तु भूमि की पूर्ति की कुल मात्रा मे उपयोगिता की बरबादी नही होती। वह प्रकृति की देन है, जो मनुष्य को मुफ्त मे मिलती है। भूमि की पूर्ति मे वास्तविक खर्च का अश नही है। इसलिये भूमि की सेवाओ के लिये जो मूल्य दिया जाता है, वह आवश्यक उत्पादन खर्च का अश नही है, वह खर्च जो बरबादी बचाने के लिये आवश्यक होता है।

यह बात भली-भाति समझ मे आ जायगी, यदि हम यह सोचे कि मजदूरी न देने पर क्या होगा। फल यह होगा कि श्रम की पूर्ति बहुत कम हो जायगी, क्योंकि बिना मजदूरी पाये बहुत कम लोग मुफ्त मे काम करने को तैयार होगे। फिर मजदूर अपना भरण-पोषण न कर पायेगे, तो जनसख्या कम हो जायगी। इसलिये मजदूरी की पूर्ति की मात्रा पर्याप्त रखने के लिये उसका पारिश्रमिक देना आवश्यक है। परन्तु भूमि के सम्बन्ध मे ऐसी बात नही है। यदि लगान न दिया जावे, तो भूमि की कुल मात्रा कृषि-रहित नही होगी। भूमि की पूर्ति को बार-बार नया नही करना पडता। उसको बनाये रखने के लिये खर्च नही करना पडता। यदि लगान काफी कम कर दिया जाय अथवा बिलकुल न दिया जाय, तो भी कृषि के लिये भूमि प्राप्य रहेगी। इसलिये इस दृष्टि से लगान किसी वस्तु की पूर्ति सम्बन्धी कीमत का अश नही है।

इस प्रकार यदि हम भूमि की पूर्ति की कुल मात्रा का विचार करे, तो जो कुल लगान दिया जाता है, वह उपज की पूर्ति के मूल्य का अश नही होता। परन्तु किसी फसल विशेष के लिये भूमि की पूर्ति सीमित नही है। एक भूमिखड का कई प्रकार से उपयोग हो सकता है। अधिक धान उत्पन्न करने के लिए कई खेतो का जोतना आवश्यक है। धान बोने के लिये अधिक खेत प्राप्त करने के लिये लोगो को कम से कम उतना कर देना पडेगा, जितना उन खेतो मे जूट बोने पर मिलता। इसे भूमि का परिवर्तन खर्च कहते है और यह धान के उत्पादन खर्च का अश होगा। यदि खर्च न किया जाय, तो वे खेत धान की खेती के लिये न मिलेगे। भूमि की कुल पूर्ति की दृष्टि से लगान लागत के सिवा अतिरिक्त बचत कही जा सकती है। परन्तु जब किसी विशेष उपयोग के लिये भूमि की आवश्यकता हो, तो जो लगान दिया जायगा, वह अतिरिक्त बचत नही होगी, वह उस उपज को पैदा करने के खर्च का अश होगा।

शहरों मे भूमि का किराया (Urban Site Rent)—शहरो मे भूमि का किराया उन्ही सिद्धान्तो के अनुसार होता है, जिनके अनुसार कृषि की भूमि का होता है। परन्तु शहरो की भूमि के सम्बन्ध मे उपजाऊपन का कोई महत्त्व नही होता। उनका

लगान इस बात के आधार पर होता है कि उनकी स्थिति किन महत्त्वपूर्ण और लाभदायक स्थानो पर है।

जो मकान रहने के लिये बनाये जाते है, उनका लाभ यह होता है कि वे किसी प्रधान सडक पर हो, किसी पार्क के सामने हो, इत्यादि। कुछ कारण ऐसे होते है, जिनके लिये लोग अन्य किसी बात का खयाल नही करते। 'यदि किसी स्थान मे अपने तरह के लोग रहते हो, तो वहाँ रहने का यह बडा कारण हो जाता है। मजदूर पेशा लोग शहरों की गदी, घनी और कोलाहलपूर्ण गलियाँ, पास के शान्त ग्रामीण वातावरण की अपेक्षा अधिक पसन्द करते है।' धनी लोग उस मुहल्ले मे रहना चाहते है, जहाँ उनके वर्ग के फ़ैशनवाले लोग रहते हो। कुछ मुहल्ले ऐसे होते है, जहाँ रहना सामाजिक बडप्पन का चिह्न समझा जाता है।

स्थिति सम्बन्धी लाभ के सिवाय यदि किसी भूमिखड पर बने हुए मकान पर कुछ अधिक मजिल या खड उठाये जा सकते है, तो उससे भी किराया बढ जाता है। घटती उपज का नियम कृषि की भूमि और शहरो की भूमि दोनो पर लागू होता है। किसी मकान मे कुछ खड जोडने के बाद एक सीमान्त खड आ जाता है, जिसका मरम्मत और प्रबन्ध सम्बन्धी खर्च उसके किराये के बराबर होता है। कई कारणो से नीचे के भागो का किराया बढता जाता है, विशेषकर जब वे व्यावसायिक कार्यों के लिये किराये पर उठाये जाते है। नीचे के भागो और सीमान्त भागो से जो आय होती है, उसके अन्तर को किराया कहते है।

किराये मे अनुपार्जित वृद्धि।

मकान सम्बन्धी सब भूमिखडो से अनुपार्जित बढती या बेमेहनत बढती (unearned increment) की समस्या उत्पन्न होती है। किसी शहर के बाहरी भागो या मुहल्लो से पहिले कम किराया मिलता है। परन्तु जब शहर का विस्तार बढने लगता है, तो उन्ही बाहर के मुहल्लो की भूमि का किराया भी बढने लगता है। इसी प्रकार जब किसी स्थान या मुहल्ले मे कोई नया पार्क या नई सडक बन जाती है, तो वहाँ के मकानो का किराया बढ जाता है, यद्यपि उन मकानो के मालिको ने स्थान की उन्नति करने मे उसका मूल्य बढाने के लिये कुछ भी नही किया है। कभी-कभी कृषि की भूमि के किराये मे भी अनुपार्जित वृद्धि हो जाती है। यह तब होता है जब कृषि की भूमि के पास कोई शहर बस जाता है और कृषि की भूमि उस शहर के बाहरी मुहल्लो की तरह हो जाती है। अथवा तब भी हो सकता है, जब नई रेल की लाइन बनती है और कृषि की भूमि का सम्बन्ध बाजार से जुड जाता है। शहरो में स्थानो के मूल्य और किराये मे वृद्धि कई देशो मे सामान्य अनुभव है। इन स्थानो और मकानो के मालिको को किराये मे जो अनुपार्जित वृद्धि प्राप्त होती है, उससे कई प्रकार की सामाजिक और राजनीतिक समस्याएँ उत्पन्न होती है। समाजवादी लोग कहते है कि

यह अनुपार्जित वृद्धि सरकार को मिलनी चाहिये और कई देशो मे सरकार ने किराये की अनुपार्जित वृद्धि पर ऊँचे कर लगाये है।

खानों, मछलीगाहों इत्यादि का लगान (The Rent of Mines, Quarries and Fisheries)—खानो और कृषि की भूमि मे यह फर्क है कि कुछ समय बाद खानो की सम्पत्ति खतम हो जाती है, परन्तु भूमि की उपजाऊ शक्ति कभी खतम नही होती। वह हमेशा आय का एक जरिया रहता है। खानो के ठेकेदार दो प्रकार के लगान देते है। एक माल्काना या रायल्टी (royalty) कहलाता है। यह खानो के खनिज पदार्थ खोदने के लिये दिया जाता है। दूसरा लगान उस लाभ के लिये दिया जाता है, जो किसी खान का सीमान्त खान के ऊपर रहता है। यह दूसरा लगान आर्थिक लगान कहलाता है, क्योकि यह सीमान्त इकाई के आधार पर निश्चित किया जाता है। खानो मे विस्तृत (extensive) और गहरी (intensive) दोनो प्रकार की सीमाएँ (margins) काम करती है। विस्तृत सीमा विभिन्न खानो की तुलना करके निश्चित की जाती है और गहरी सीमा एक ही खान में कृषि की ही तरह अधिकाधिक पूंजी लगाकर निश्चित की जाती है।

खानो का लगान।

किसी खान का ठेकेदार प्राय दो प्रकार के लगान देता है। एक साल्ाना लगान होता है। इसे स्थायी कर या लगान (dead rent) कहते है। खान का ठेकेदार माल निकाले या न निकाले उसे यह लगान देना ही पडता है। दूसरे को माल्काना या रायल्टी कहते है। यह प्रति दिन निकाले हुए माल पर एक निश्चित दर से दिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि क्या रायल्टी को लगान कहना उचित है। मार्शल कहता है कि रायल्टी खनिज ले जाने का मुआवजा (compensation) है। इसलिये वह लगान से भिन्न है। परन्तु टॉसिग का मत अलग है। उसको सदेह यह है कि क्या सबसे रद्दी खान का मालिक किसी भी प्रकार का लगान प्राप्त कर सकता है, चाहे वह रायल्टी हो या और कुछ? इस प्रकार के खनिज उपयोगिता की सीमा पर रहते है और सीमा पर किसी भी प्रकार की बचत या अवशेष नही रहता। उनका मत है कि जब भली-भाँति जानी हुई खानो पर रायल्टी दी जाती है, तो वह स्पष्ट रूप से लगान है। क्योकि सब से रद्दी खानो पर किसी प्रकार का लगान नही मिलता। न रायल्टी न स्थायी लगान।

अब मछलीगाहो को लीजिये। जिन स्थानो मे हमेशा मछली मिलती रहती है, उनका लगान वास्तव मे लगान कहा जा सकता है। यह लगान सीमान्त मछलीगाहो के आधार पर निश्चित किया जाता है। सीमान्त मछलीगाह या तो उनकी कम उपज से जाने जाते है या अपनी पहुँच की कठिनाई के कारण। अर्थात् उन तक पहुँचना कठिन होता है।

आर्थिक प्रगति और लगान (Economic Progress and Rent)—रिकार्डो की विचारधारा के अनुसार हम यह मान लेते है कि मशीनो की सहायता से अथवा उत्तम खाद के आविष्कार और उपयोग के कारण कृषि मे उन्नति होती है और अन्न की उपज प्रति एकड बहुत बढ जाती है। तब प्रति श्रमिक पीछे उपज भी अधिक बढ जावेगी। परन्तु इसके साथ ही यदि अन्न की माँग न बढी तो उसके दाम गिर जावेगे। तब सीमान्त भूमिखडो पर (जिन पर ऊँचे अन्न के भाव के समय खेती होती थी) खेती होना बन्द हो जायगा। इससे कुल लगान मे कमी हो जायगी। परन्तु उन्नत स्थानो का प्रभाव विभिन्न प्रकार की जमीनो के लगान पर विभिन्न प्रकार से पड सकता है। उन्नत साधनो का प्रभाव उत्तम भूमि पर मामूली भूमि की अपेक्षा अधिक अच्छा पड सकता है। ऐसी स्थिति में उत्तम भूमि का लगान गिरने की अपेक्षा बढ सकता है। परन्तु यदि उन्नत साधनो का प्रभाव केवल नीचे दर्जे की भूमि पर पडता है, तो वे उतनी उपजाऊ हो सकती है, जितनी उत्तम भूमि है। ऐसी परिस्थिति मे उत्तम भूमि का लगान गिर सकता है, यहाँ तक कि शून्य तक आ सकता है।

कृषि की उन्नति।

अब हम दूसरे प्रकार के उन्नत साधन का विचार करेगे। यातायात के साधनो में उन्नति होने से लगान पर क्या प्रभाव पडता है? यदि किसी आविष्कार के कारण किसी देश मे यातायात अथवा आवागमन सस्ता हो जाता है, तो लगान की स्थिति सम्बन्धी लाभ धीरे-धीरे कम हो जाता है। बाजार मे दूर के जिलो से माल आ जाया करेगा। तब बाजार के पास के जिलो मे लगान गिर जावेगा और बाजार के दूर के जिलो मे लगान बढ जावेगा। जब किसी पुराने देश मे किसी नये देश के उपजाऊ क्षेत्रो की उपज आने लगती है, तब भी ऐसा होता है। नये उपजाऊ क्षेत्रो का लगान बढने लगता है और पुराने देश की घटिया दर्जे की जमीन में कृषि बन्द होने लगती है। इसलिये पुराने देश मे कुल लगान घटने लगता है और नये देश मे बढने लगता है।

यातायात मे उन्नति।

लगान का जनसख्या की बढती के साथ सीधा अनुपात रहता है। जब जनसख्या बढती है, तो अन्न की माँग भी बढती है। यह बढी हुई माँग या तो अच्छी भूमि की गहरी कृषि द्वारा पूरी की जाती है या घटिया भूमि मे कृषि आरम्भ कर के की जाती है। इससे सीमा नीची या कम हो जाती है और लगान बढने लगता है। फिर जब नये शहर बसते है, तब भूमि का उपयोग कृषि को छोडकर अन्य कामो के लिये होने लगता है। इससे पहिले की अपेक्षा कृषि के लिये भूमि की अधिक कमी हो जाती है। इससे लगान और बढ जाता है।

जनसंख्या मे वृद्धि।

अन्त मे यह देखने मे आता है कि जैसे-जैसे लोगो की आय और रहन-सहन का दर्जा बढता है, वैसे-वैसे खाने के अनाजो पर उनका खर्च कम हो जाता है। मनुष्य की खाने

की शक्ति सीमित होती है। इसलिये जब किसी मनुष्य की आय दुगुनी हो जाती है, तो वह अन्य वस्तुओं का उपयोग दुगुना कर सकता है, परन्तु भोजन की मात्रा दुगुनी नहीं कर सकता। इसलिये आय का भोजन पर खर्च होने वाला अंश आनुपातिक रूप से घटता जाता है। इसलिये रहन-सहन का दर्जा बढने के साथ-साथ अन्य उद्योगों की वस्तुओं की अपेक्षा कृषि की उपज के दाम अधिक गिरते हैं, अथवा यों कह सकते हैं कि अन्न के दाम उतने नहीं बढते, जितने अन्य उद्योगों की उत्पत्ति के बढते हैं। इसलिये लगान उतनी जल्दी नहीं बढता, जितनी जल्दी अन्य उद्योगों के वस्तुओं के दाम बढते हैं।

आभास लगान या बतौर लगान (Quasi-rent)—आभास लगान का विचार अर्थशास्त्र में मार्शल ने उत्पन्न किया। मशीनों अथवा उस प्रकार के अन्य साधनों द्वारा मनुष्य उत्पादन में जो आय प्राप्त करता है, उसे मार्शल आभास लगान कहता है। मार्शल का कहना है कि भूमि अथवा प्रकृति की मुफ्त दी हुई अन्य वस्तुएं हमेशा के लिये निश्चित या बँधी हुई हैं। अल्पकाल में मनुष्य द्वारा बनाई हुई मशीनें इत्यादि जैसे साधनों का संग्रह चाहे सीमित रहे, परन्तु समय पाकर यह संग्रह बढाया जा सकता है। हम देख चुके हैं कि यदि उत्पादन के किसी साधन की पूर्ति हमेशा के लिये बँधी हो तो उससे होनेवाली आय लगान कहलावेगी। यदि पूर्ति के सीमित होने के कारण लगान उत्पन्न होता है, तो किसी भी सम्पत्ति से होनेवाली आय, चाहे वह सम्पत्ति अल्पकाल के लिये सीमित हो अथवा हमेशा के लिये, एक प्रकार का लगान कही जा सकती है। मार्शल का कहना है कि जिन वस्तुओं की पूर्ति हमेशा के लिये सीमित या स्थायी है, उनसे होनेवाली आय को लगान मानना चाहिये और जिन वस्तुओं की पूर्ति थोडे समय अर्थात् अस्थायी रूप से सीमित हो, उनसे होनेवाली आय को आभास लगान या बतौर लगान मानना चाहिये। 'लगान' इसलिये मानना चाहिये, क्योंकि उसकी पूर्ति सीमित होने के कारण उसमें लगान के गुण आ जाते हैं और साथ ही 'आभास' इसलिये क्योंकि उसकी पूर्ति स्थायी रूप से सीमित नहीं है, बल्कि लगभग अस्थायी रूप से। एक उदाहरण ले लिया जाय। मान लो, किसी समय मछली की माँग एकाएक बढ जाती है। चूंकि पूर्ति माँग के बराबर नहीं है, इसलिये मछली के दाम एकाएक बढ जायँगे। तब ऊँचे दामों से ललचाकर मछुए अधिक समय तक काम करके अधिक मछली पकडने का प्रयत्न करेंगे। जो नौकाएँ और जाल बहुत दिनों से बेकार पडे थे, उन्हें उपयोग में लावेंगे। यदि मछली की बढी हुई माँग काफी समय तक रहती है तो नई नौकाएँ और जाल बनाये जावेंगे तथा अन्य लोग भी इस व्यवसाय की ओर आकर्षित होंगे। तब संभव है कि पूर्ति का भाव अर्थात् बिक्री की दर अपनी पुरानी सतह पर आ जावे। नौकाओं और जालों से होनेवाली आय को आभास लगान कहेंगे। मार्शल ने यह उदाहरण यह दिखाने के लिये चुना था कि मनुष्य के बनाये हुए साधनों की पूर्ति कुछ समय के लिये कम पड सकती है। परन्तु आगे चलकर वह बढाई जा सकती है। इससे यह समझना चाहिये कि मनुष्य के बनाये हुए साधनों

से जो आय होती है, यदि वह बढ जाय तो वह बढी हुई आय आभास लगान हो जावेगी, चाहे वह दीर्घकाल मे हो अथवा अल्पकाल मे। फलक्स (Flux) तथा अन्य कुछ विद्वानो का मत है कि सम्पत्ति से होनेवाली सब आय आभास लगान नही है। इस मान्य आय से अधिक जो आय होती है, वही आभास लगान है। इस प्रकार की आय ओर सामान्य आय मे यदि कोई कमी रहे तो फलक्स के मत मे वह 'ऋणात्मक आभास लगान' (negative quasi-rent) होगी। परन्तु ये विचार आमतोर से स्वीकृत नही है। किसी भी काल मे मनुष्य के बनाये हुए साधनो द्वारा होनेवाली पूरी आय को आभास लगान मानना चाहिये, केवल सामान्य आय मे अधिक या कम आय को नही।

लगान और आभास लगान में समानता और असमानता।

लगान और आभास लगान मे एक बात मे समानता होती है। अल्पकाल मे साधनों की पूर्ति की मात्रा निश्चित या बँधी हुई रहती है, जिस प्रकार भूमि की मात्रा निश्चित रहती है। अल्पकाल मे इन साधनो से होनेवाली आय का कीमत के साथ वही सम्बन्ध होता है, जो लगान का भूमि के साथ होता है। परन्तु लगान ओर आभास लगान मे असमानता भी होती है। पुराने देशो मे भूमि की मात्रा करीब करीब स्थायी रूप से सीमित रहती है। परन्तु मनुष्य द्वारा बनाये हुए साधन उसकी इच्छा पर निर्भर रहते है। वे माँग के अनुसार घटाये ओर बढाये जा सकते है। भूमि की स्थायी कमी के कारण लगान उत्पन्न होता है ओर जैसा हम देख चुके है कि लगान कीमत का अश नही होता। अल्प काल मे मनुष्य के बनाये हुए साधनो की कमी के कारण सभव है कि इन साधनो से होनेवाली आय का उत्पादन खर्च के साथ हमेशा सम्बन्ध न हो। परन्तु दीर्घकाल मे आभास लगान वास्तविक अतिरिक्त बचत (real surplus) नही होता। आभास लगानो के कुल जोड की पूंजी से होनेवाले सामान्य लाभ को अवश्य पूरा करना चाहिये। इसलिये दीर्घकाल मे आभास लगान वास्तविक बचत नही होता, परन्तु वह उत्पादन खर्च का अश हो जाता है. **इसलिये अल्पकाल में वह अनावश्यक लाभ होता है। परन्तु दीर्घकाल मे सामान्य लाभ का आवश्यक अंश होता है।**

आभास लगान लाभ और मजदूरी का अश है।

मार्शल ने आभास लगान का उपयोग दूसरे अर्थ मे भी किया है। उसका कहना है कि आभास लगान मजदूरी [1] और लाभ का अश होता है। किसी व्यक्ति की जो आय उसके प्राप्त किये हुए या सीखे हुए गुणो के कारण होती है, वह आभास लगान की तरह होती है। 'एक व्यक्ति कोई गुण सीखने मे या लाभदायक पेशा सीखने में कुछ पूंजी लगाता है और **इन गुणों के सीखने से** उसे जो आय होती है, उसे हम आभास लगान कह सकते है। इसे हम पूंजी के सम्बन्ध मे नही सोचते, बल्कि लगान

[1] *Marshall*, Principles of Economics, p. 504.

की तरह सोचते है।' यह लगान असाधारण योग्यता के लगान से भिन्न होता है, क्योंकि असाधारण स्वाभाविक योग्यताएँ तो भूमि की तरह प्रकृति की देन होती है।

इस प्रकार मार्शल स्वय अपनी परिभाषा से निकल जाता है कि आभास लगान मनुष्य के बनाये हुए साधनो से होनेवाली आय है। मार्शल ने दूसरे अर्थ मे आभास लगान का जो उपयोग किया है, उस पर कनान[1] की आलोचना उचित है। मनुष्य के बनाये हुए साधनो और व्यक्ति के गुणो मे काफी फर्क होता है। यह कहना बडा कठिन है कि किसी मनुष्य की आय का कितना भाग उसके श्रम से प्राप्त हुआ है और कितना उसके गुणो से। मार्शल स्वय कहता है कि 'मनुष्य उसी सिद्धान्त के अनुसार काम नही करते या काम में नही लाये जाते, जैसे कि कोई मशीन या घोडा या गुलाम काम मे लाया जाता है।

इसलिये अच्छा यह होगा कि सब प्रकार की श्रम से प्राप्त हुई पूरी आय का विचार करना चाहिये। श्रमिको की आय मे जो भिन्नता हो, उसे स्वाभाविक और सीखे हुए गुणो के आधार पर समझना चाहिये। यह तरीका अच्छा हो, बनिस्बत इसके कि श्रम से प्राप्त आय का वर्गीकरण इस आधार पर किया जाय कि इतनी आय व्यक्तिगत श्रम से प्राप्त हुई है और इतनी स्वाभाविक अथवा सीखे हुए गुणो से प्राप्त हुई है। आभास लगान और व्याज के आपस के सम्बन्ध का अध्ययन अगले अध्याय मे किया गया है।

अध्याय २८

व्याज

(Interest)

कुल बाजार और वास्तविक बाजार।

अर्थशास्त्र में व्याज का अर्थ वह धन होता है, जो पूँजी के उपयोग करने के लिये दिया जाता है।' इसमे इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि पूंजी वापिस न मिलने का डर न होना चाहिये, किसी प्रकार की असुविधा न हो और कर्ज के साथ अन्य कोई कार्य न लगा हो। इसे विशुद्ध (pure) अथवा असल, वास्तविक (net) अथवा आर्थिक (economic) व्याज भी कहते है। परन्तु उधार लेनेवाला जो धन वापिस करता है, उसमे विशुद्ध व्याज के सिवाय अन्य कई बातो के लिये लिया जानेवाला धन भी शामिल रहता है, जैसे उधार देने मे जो खतरा रहता

---

1 A Review of Economic Theory, p. 527-29.

है, उसका व्याज, उधार देने मे साहूकार को जो कष्ट और असुविधाएँ होती है, उसका व्याज, और साहूकार को इस सम्बन्ध मे जो काम करना पडता है, उसका व्याज। इस प्रकार कुल व्याज (gross interest) मे तीन बाते शामिल होती है—(क) केवल पूँजी का उपयोग करने के लिये दिया जानेवाला व्याज, (ख) खतरा लेने के लिये दिया जानेवाला व्याज, (ग) कष्ट और असुविधाओ के लिये दिया जानेवाला व्याज। उधार देनेवाला साहूकार ये तीन प्रकार के खतरे उठाता है। मार्शल ने इन खतरो को दो वर्गो मे विभाजित किया है, एक व्यक्तिगत खतरे और दूसरे व्यावसायिक खतरे। व्यावसायिक खतरा इसलिये होता है कि उत्पादन पूरा होने के पहिले माँग बदल सकती है, अथवा कच्चे माल की कीमत गिर सकती है अथवा नये आविष्कार के कारण उत्पादन खर्च कम हो सकता है और इनके परिणामस्वरूप वस्तु की कीमत गिर सकती है। व्यावसायिक खतरा इसलिये उत्पन्न होता है कि उधार लेनेवाला वेईमान या निकम्मा हो सकता है। इन खतरों को अपने सिर पर लेने के लिये साहूकार को कुछ अतिरिक्त धन अवश्य मिलना चाहिये। जहाँ कर्ज देने में खतरा रहता है, वहाँ साहूकार को कम से कम सीमा तक घटाने के लिये काफी परेशानी उठानी पडती है। फिर यह भी सम्भव है कि कर्जदार ऐसे समय कर्ज अदा करे, जो साहूकार के लिये बहुत असुविधापूर्ण हो। सम्भव है, उस समय वह अपनी पूँजी कही लगाने की गुँजाइश नही देखता। अथवा साहूकार जो समय उचित और सुरक्षित समझता है, उससे अधिक समय के लिये उसे अपनी पूँजी लगानी पडे। साहूकार की असुविधा जितनी अधिक होगी, कुल व्याज भी उतना ही अधिक होगा। (घ) अन्त में कुल व्याज में उस काम के लिये भी पारिश्रमिक शामिल रहता है, जो साहूकार कर्ज के सम्बन्ध में करता है। प्रत्येक कर्ज के सम्बन्ध मे साहूकार को कुछ काम करना पडता है। उसे वही-खाता रखना पडता है, व्याज की जो छोटी-छोटी किस्ते आती है, उन्हे लिखना पडता है, इत्यादि। इस अतिरिक्त कार्य के लिये भी साहूकार कुछ पारिश्रमिक चाहता है।

इसलिये यह सम्भव है कि प्राय कुल व्याज बहुत अधिक हो और असल व्याज कम हो। फिर असल या विशुद्ध व्याज देश भर मे एक समान होने की प्रवृत्ति दिखलाता है। प्रतियोगिता के कारण देश भर में व्याज की एक दर स्थित हो जाती है। परन्तु एक ही देश के विभिन्न भागो मे कुल व्याज की दर होने की प्रवृत्ति नही दिखती।

ब्याज के सिद्धान्त

(Theories of Interest)

ब्याज का उत्पादन सिद्धान्त (Productivity Theory of Interest)–इस सिद्धान्त का कहना है कि पूंजी में उत्पादन शक्ति होती है, इसलिये ब्याज उत्पन्न होता है। जब मजदूर मशीनों की सहायता से उत्पादन करते हैं, तो उत्पादन की मात्रा बहुत होती है। यदि वे बिना मशीनों के उत्पादन करें, तो मात्रा उतनी अधिक नहीं होगी। जो अधिक मशीनों और औजारों का उपयोग करते हैं, उनकी आय हमेशा बढ़ जाती है। इसलिये उत्पादक उनकी माग करते रहते हैं। हम देख चुके हैं कि जब उत्पादन में पूंजी का उपयोग किया जाता है, तब उत्पादन घुमा-फिरा कर होता है। पहिले मशीन और औजार बनाने में श्रम का उपयोग किया जाता है। उसके बाद यातायात के साधन उन्नत किये जाते हैं। तब कुछ समय बाद अन्तिम उत्पादन होता है। इस तरह ज्यों-ज्यों अधिक पूंजी का उपयोग होता है, त्यों-त्यों उत्पादन के तरीके अधिक टेढ़े-मेढ़े होते जाते हैं। और यद्यपि हमेशा नहीं, पर प्रायः ऐसा होता है कि उत्पादन के तरीके जितने टेढ़े-मेढ़े होते हैं, उत्पादन की मात्रा उतनी ही अधिक होती है।

पूंजी के उत्पादक होने के कारण उस पर ब्याज दिया जाता है।

जब उत्पादन में पूंजी का उपयोग होता है, तब पूंजी पर भी घटती उपज का नियम लागू होने लगता है। जैसे-जैसे पूंजी की अधिक इकाइयों का उपयोग होता है और उत्पादन के तरीके अधिक घुमावदार होते जाते हैं, अर्थात् पूंजीवादी होते जाते हैं, वैसे-वैसे (अन्य साधनों की पूर्त्ति वही रहते हुए) उत्पत्ति बढ़ती तो है, पर घटती हुई दर से बढ़ती है। कोई उत्पादक पूंजी की इकाइयाँ बढ़ाता जायगा और तब रुकेगा जब एक इकाई का खर्च उत्पादित वस्तु के मूल्य के बराबर हो जायगा। इसी प्रकार अपने लाभ बढ़ाने की फिकर में पूंजी की इकाइयों के बदले में वह श्रम और भूमि की इकाइयाँ उपयोग में लावेगा, यदि वह सोचता है कि लागत खर्च की अपेक्षा उत्पादन की मात्रा बढ़ सकती है। अर्थात् खर्च की अपेक्षा उत्पादन का अनुपात अधिक होगा। अन्त में वह उदासीनता की उस सीमा पर पहुँच जायगा, जहाँ चाहे वह अधिक पूंजी लगावे, चाहे श्रम और चाहे भूमि, उत्पादन उसी अनुपात में बढ़ेगा। जो बात एक उत्पादन के सम्बन्ध में लागू होती है, वही पूरे समाज के लिये लागू होती है। इसलिये ब्याज की दर पूंजी की इकाई की सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखावेगी।

इधर कुछ दिनों से इस सिद्धान्त की काफी आलोचना हुई है। 'पूंजी उत्पादक है' इस सिद्धान्त के दो में से एक कोई अर्थ हो सकता है। वह यह कि या तो पूंजी अधिक

टेढ़ा-मेढ़ा तर्क।

वस्तुएँ उत्पादित करती है अथवा अधिक मूल्य उत्पादित करती है। भौतिक वस्तुओ के अधिक उत्पादन की बात तो आसानी से समझ मे आजाती है। परन्तु इससे हम यह नही कह सकते कि पूंजी अधिक मूल्य उत्पन्न करती है। इसको जानने के लिये पहिले हमे पूंजी के उन औजारो और साधनो का मूल्य जानना चाहिये, जिनका सबसे पहिले उपयोग किया गया था। पूंजी के साधनो और ओजारो का वर्त्तमान मूल्य उनकी भविष्य की आय पर निर्भर है और 'इस निर्भरता मे व्याज की दर छिपी रहती है।' मशीनो का मूल्य उनकी भविष्य की आय के आधार पर निश्चित किया जाता है और इस प्रकार का निश्चय निर्धारित करने के लिये हमे व्याज की एक दर मान लेनी पडती है। यदि २०,००० रुपये की एक मशीन से हमे प्रति वर्ष १,००० रु० आय होती है, तो हम एकदम यह नही कह सकते कि व्याज की दर ५ रु० प्रति सैकडा है। हम केवल इतना जान सकते है कि मशीन से हमे १,००० रु० वार्षिक आय होती है। इस रकम को ५ रु० सैकडा के हिसाब से पूंजीकरण करके या पूंजी मे परिवर्तन करके हम निश्चय करते है कि मशीन का मूल्य २०,००० रु० है। इसलिये जब हम कहते है कि मशीन का मूल्य २०,००० रु० है, तब हम इस बात को पहिले मान चुके है कि व्याज की दर ५ रु० सैकडा है। इसलिये जिस बात को हमने एक सख्या के रूप मे मान लिया है, उसे हम निश्चित किस प्रकार कर सकते है? इसलिये पूंजी की उत्पादन शक्ति का सिद्धान्त हमे एक टेढे-मेढे तर्क मे फँसा देता है।

उत्पादन शक्ति का व्याज पर प्रभाव।

फिर भी इसमे कुछ सन्देह नही कि व्याज की दर निश्चय करने मे उत्पादन शक्ति का कुछ प्रभाव अवश्य पडता है। इस सिद्धान्त का सबसे कडा आलोचक फिशर (Fisher) भी इस बात को अपनी पुस्तक के नाम से ही स्वीकार कर लेता है। उसकी पुस्तक का नाम है—'आय खर्च करने के उतावलेपन तथा लाभ के लिये पूँजी लगाने के मौके के आधार पर निश्चित होने वाले व्याज का सिद्धान्त (The theory of interest, as determined by the impatience to spend income and the opportunity to invest it) लाभ के लिये पूंजी लगाने का मौका और कुछ नही विभिन्न उद्योगो मे पूंजी की उत्पादन शक्ति है। यदि हम यह व्याज की दर सिद्धान्त स्वीकार कर ले कि कर्ज मे प्राप्त हो सकनेवाली रकम की मांग और पूर्त्ति पर निर्भर होती है, तो व्यवसायी वर्ग की कर्ज की मांग निश्चित करने मे पूंजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति का महत्त्वपूर्ण स्थान रहेगा। अन्य वस्तुओ के यथास्थित रहते हुए आविष्कारो, शक्ति के नये साधनो तथा इस प्रकार के अन्य परिवर्त्तनो के कारण पूंजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति मे अपने आप जो परिवर्तन होंगे, उनके कारण उत्पादन के लिये पूंजी की मांग बढ सकती है। इसलिये व्याज की दर

भी बढेगी। कीन्स (Keynes) के सिद्धान्त के अनुसार पूंजी की सीमान्त उत्पादन शक्ति मे परिवर्त्तन होने से उसका प्रभाव मुद्रा या द्रव्य की माँग पर पडता है, इसलिये व्याज की दर पर भी पडता है। पूंजी लगाने का मोका अधिक अच्छा दिखता है, अर्थात् जब पूंजी की सीमान्त उपयोगिता या योग्यता बढती है, तब नये कारखाने खडे करने के लिय व्यवसायी अधिक पूंजी की माँग करते है। अन्य वस्तुओ के यथास्थित रहते हुए इस माग के कारण व्याज की दर बढ जायगी।

त्याग और व्याज (Abstinence or Waiting and Interest)—उत्पादन शक्ति का सिद्धान्त यह बतलाता है कि पूंजी की माग क्यो होती है। अब यह देखना चाहिए कि किन कारणो से पूंजी की पूर्ति सीमित हो जाती है। सीनियर पहिला अर्थशास्त्री था, जिसने बचत, जो बाद मे मशीनो इत्यादि उत्पादन के साधनो मे सम्मिलित हो जाती है, त्याग से उत्पन्न होती है। इस त्याग को वह निग्रह या निषेध (abstinence) के नाम से कहता था। लोग अपनी सब आय उपभोग की वर्त्तमान वस्तुओ पर खर्च कर सकते है। परन्तु जब वे आय में से कुछ बचाते है, तो वे वर्त्तमान उपभोग में से कुछ उपभोग का त्याग करते है। परन्तु प्रायः त्याग करना लोगो को अच्छा नही लगता। इसलिये त्याग के लिये तैयार करने के लिये लोगो को कुछ लालच देनी चाहिए। त्याग के बदले उन्हे कुछ इनाम या मुआवजा मिलना चाहिए। व्याज उसी त्याग का इनाम या मुआवजा है।

त्याग या निषेध शब्द पर काफी आलोचना हुई, क्योकि उससे कष्ट की भावना प्रकट होती है। ऐसा लगता है कि जो पुरुष त्याग करता है, वह कष्ट सहता है। परन्तु सब बचत में कष्ट या तकलीफ नही होती। जब फोर्ड के समान धनी व्यक्ति बचत करता है, तो उसमें कष्ट का प्रश्न ही नही उठता। इसलिये इस आलोचना को शान्त करने के लिये मार्शल ने त्याग शब्द के बदले 'ठहरना' (waiting) शब्द का उपयोग किया।

बचत शब्द ठहरने या प्रतीक्षा करने का द्योतक है। जब कोई व्यक्ति अपनी आय का कुछ अंश बचाता है, तब वह हमेशा के लिये उपभोग नही त्याग देता। वह केवल कुछ समय के लिये अपना उपभोग टाल देता है। अर्थात् वह अपना उपभोग तब तक के लिये टाल देता है, जब कि उसको बचत का फल उसको अधिकाधिक मात्रा मे मिलेगा। तब तक उसे ठहरना पडेगा और प्राय. लोग ठहरना पसन्द नही करते। केवल बचत मे ही नही, सब तरह के उत्पादक कार्यो मे कुछ न कुछ ठहरने की आवश्यकता रहती है। जो किसान फसल बोता है, उसे काटने ओर गाहने के समय तब ठहरना पडता है। जब कोई मनुष्य एक वृक्ष लगाता है, तो उसे तब तक ठहरना पडता है, जब तक वह बडा होकर फल नही देने लगता। किसी वस्तु के उत्पादन कार्य में पहिले श्रम लगता है, तब कही वस्तु अपने अन्तिम रूप

में तैयार होती है। तब तक मजदूर और पूंजीपति दोनो को ठहरना पडता है। इसलिये प्रतीक्षा या ठहरना उत्पादन की एक आवश्यक शर्त है। वह उत्पादन का एक अलग अग या साधन है ओर वह उत्पादन के अन्य अगो द्वारा बदला जा सकता है।

चूंकि प्रतीक्षा उत्पादन का एक अग है, इसलिये उसकी कीमत सीमान्त विश्लेषण द्वारा निश्चित होगी। अर्थात् व्याज की दर उस इनाम के बराबर होगी, जो बचत कराने की सीमान्त मात्रा के लिये आवश्यक है। प्रतीक्षा की कुछ मात्राएँ ऐसी हो सकती है, जो व्याज की दर ऋणात्मक होने पर भी प्राप्त होगी। कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही इतने होशियार या सावधान हो सकते है अथवा भविष्य के लिये प्रबन्ध करने के लिये इतने चिन्तित हो सकते है कि चाहे भविष्य मे उन्हे थोडी ही रकम मिले, पर वे बचत अवश्य करेगे। पर यह ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार के उदाहरण सिद्धान्त के आधार पर सभव भले ही हो, पर वास्तविक जीवन में कदाचित् ही मिले। इसी प्रकार चाहे व्याज न मिले, पर लोग बचत अवश्य करेगे। इसके उदाहरण बहुत मिलेगे। धनी व्यक्ति तो बचत करने के लिये बाध्य होते है। उनके लिये अपनी बडी आय मे से सबका सब खर्च करना असम्भव होता है। इसलिये उनके सम्बन्ध मे प्रतीक्षा अपने आप हो जाती है। कुछ ऐसे सावधान व्यक्ति भी हो सकते है, जो इस आश्वासन पर बचत करेंगे कि भविष्य मे उन्हे बचायी हुई पूरी रकम मिल जायगी। इस प्रकार प्रतीक्षा की काफी बड़ी मात्रा बहुत कम व्याज पर मिल जावेगी। परन्तु इस तरह बचत की जो कुल मात्रा प्राप्त होगी, वह प्रायः माँग को पूरा नही करती। जब तक सीमान्त बचत करनेवाले अपना हिस्सा नही देते, तब तक व्याज की दर बढती जावेगी। इस स्थान पर प्रतीक्षा की मात्रा उसकी माँग के बराबर हो जाती है। यदि बारीकी से देखा जावे तो 'सीमान्त बचत करनेवाला' शब्द उपयुक्त नही है। प्रतीक्षा की सीमान्त बढती जो उत्पादन के लिये आवश्यक होती है, उपयुक्त शब्द होगे। बचत की इस बढती को आकर्षित करने के लिये व्याज की दर काफी ऊँची होनी चाहिए।

इस सिद्धान्त से यह पता चल जाता है कि बचत इतनी कम मात्रा में क्यो होती है। अथवा कर्ज मे जाने वाली रकम, जो स्वेच्छापूर्वक बचत पर निर्भर रहती है, वह कम मात्रा मे प्राप्य क्यो होती है। परन्तु जो बाते व्याज की दर निश्चित करती है, उन सब का पूर्ण स्पष्टीकरण इस सिद्धान्त से नही होता। कर्ज की रकम की कम मात्रा के लिये तो यह कहा जा सकता है कि एक तो लोग प्रतीक्षा करना पसन्द नही करते और दूसरे वे इस समय नकद रुपया रखना चाहते है।

समय का महत्व और व्याज (Time Preference or Agio and Interest)—इस सम्बन्ध मे एक सिद्धान्त है और उसके अनुसार

ब्याज एक प्रकार का मुनाफा या इनाम (premium) की किस्त है, जो वर्त्तमान वस्तुओं में उसी प्रकार और उसी कीमत की भविष्य की वस्तुओं पर होता है। यह इनाम इसलिये उत्पन्न होता है कि मनुष्य भविष्य की अपेक्षा वर्त्तमान अधिक पसन्द करता है। जिस प्रकार हमें दूर की वस्तुएं उनके वास्तविक आकार से छोटी दिखती हैं, उसी प्रकार अपनी मनोवृत्ति के कारण हमें भविष्य की वस्तुएं और भविष्य का उपभोग उनके वास्तविक आकार से छोटे दिखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि तुलना करने में वर्त्तमान की अपेक्षा भविष्य कुछ छोटा दिखने लगता है। उसमें कुछ बट्टा लग जाता है। वही बट्टा ब्याज है।

इस सिद्धान्त को सन् १८३४ में जान रे (John Rae) ने सबसे पहिले अच्छी तरह प्रतिपादित किया था। बाद में आस्ट्रिया के प्रमुख अर्थशास्त्री बाम-बावर्क (Bohm-Bowerk) और फिशर (Fisher) ने इस सिद्धान्त को पुष्ट किया। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में बॉम-बावर्क और फिशर में कुछ मतभेद है।

बॉम-बॉवर्क का सिद्धान्त।

बॉम-बावर्क के मतानुसार वर्त्तमान वस्तुओं में उसी मात्रा और उसी कीमत की भविष्य की वस्तुओं की अपेक्षा जो थोड़ी अधिक कीमत या मूल्य रहता है, उसका कारण यह है कि लोग भविष्य उपभोग की अपेक्षा वर्त्तमान उपभोग को अधिक पसन्द करते हैं। यह पसन्दगी तीन कारणों से होती है। पहिला यह है कि लोग भविष्य की अपेक्षा वर्त्तमान को अधिक साफ-साफ देख पाते हैं। अथवा यों कहे कि भविष्य का अन्दाज लोग जरा कम करके लगाते हैं। दूसरा कारण यह है कि भविष्य की जरूरतों की अपेक्षा लोग वर्त्तमान आवश्यकताओं को जोर से महसूस करते हैं। इसलिय वर्त्तमान वस्तुओं की माँग भविष्य की वस्तुओं की अपेक्षा जोरदार होती है। इसलिये भविष्य की वस्तुओं की अपेक्षा वर्त्तमान वस्तुओं की कमी माग के अनुसार ज्यादा रहती है। तीसरा कारण यह है कि उत्पादन की क्रिया जितनी टेढ़ी-मेढ़ी होती है, उतनी ही अधिक उत्पादन की मात्रा होती है। इसलिये अधिक घुमाव-दार और अधिक समय लेनेवाले अधिक उत्पादन के तरीकों के कारण वर्त्तमान वस्तुओं की भविष्य की वस्तुओं पर एक प्रकार की विशेष श्रेष्ठता होती है।

बॉम-बॉवर्क के मत को फिशर द्वारा आलोचना।

पहिले दो कारणों को तो फिशर स्वीकार कर लेता है। परन्तु तीसरे सिद्धान्त के बारे में वह कहता है कि बॉम-बॉवर्क अनुचित तरीके से उत्पादन के सिद्धान्त को घसीट लाता है। टेढे-मेढे तरीकों द्वारा उत्पादन शक्ति बढ जाती है, इसको सिद्ध करने के लिये अधिक प्रमाणों की आवश्यकता है। जो प्रमाण बॉम-बॉवर्क ने दिये हैं, वे यथेष्ट नहीं है। यदि हम तीसरे सिद्धान्त को स्वीकार कर ले, तो वह केवल उत्पादन शक्ति का सिद्धान्त है, जिसका कि बॉम-बावर्क कट्टर आलोचक था। फिर फिशर का कहना है कि यदि तीसरा कारण ब्याज पर अपना प्रभाव डालता

है, तो उससे पहिले दो कारणो का प्रभाव कम या धीमा पड जाता है। पूंजीवाद की जो उत्पादन क्रिया है, उसकी उत्पादन शक्ति अधिक होने के कारण भविष्य में वस्तुओ की प्रचुर मात्रा रहेगी। इसलिये वर्तमान की अपेक्षा भविष्य की वस्तुओं की माँग कम होनी चाहिए। इस कारण से तथा वर्तमान आवश्यकताओ के अधिक जोरदार होने से लोग भविष्य की अपेक्षा वर्तमान वस्तुओ को अधिक पसन्द करते है। इसलिये उनमे भविष्य की वस्तुओ की अपेक्षा अधिक विशेप श्रेष्ठता होती है। इसलिये तीसरा कारण स्वतत्रतरूप से ब्याज निश्चित नही करता, बल्कि पहिले दो कारणो के जरिये अपना प्रभाव डालता है।

फिशर की व्याख्या।

फिशर का कहना है कि 'समय की पसन्दगी' (time preference) ब्याज के सिद्धान्त का मूल तत्व है। समय की पसन्दगी से उसका वही तात्पर्य था, जो बॉम-बॉवर्क का तात्पर्य 'भविष्य का कम अन्दाज' लगाने से था। किसी व्यक्ति की पसन्दगी ही मुख्य वस्तु है—वह पसन्दगी जो भविष्य की उसी मात्रा की और उसी अनुपात की आय और उपभोग की अपेक्षा मनुष्य वर्त्तमान आय और उपभोग के लिये रखता है। अपनी आय को खर्च करने की मनुष्य की जो व्याकुलता या आतुरता है, उसकी दर के द्वारा वह पसन्दगी निश्चित होगी। मनुष्य की आतुरता की दर या गहराई निम्नलिखित बातो पर निर्भर होती है। पहिली उसकी आय। दूसरी, समय की लम्बाई पर उस आय का वितरण। तीसरी, वह आय कैसे होती है। चौथी, भविष्य मे उस आय के उपभोग करने का पक्का भरोसा। अन्तिम, मनुष्य के अपने स्वभाव और गुणो पर, जैसे दूरदर्शिता, आत्मसयम इत्यादि। जितनी अधिक आय होगी, वर्त्तमान आवश्यकताओ के पूरे होने की उतनी ही आशा है। इसलिये भविष्य का निरादर वह कम दर से करेगा। लेकिन गरीब लोगो के सम्बन्ध मे इनका उलटा होता है। आय के वितरण का विचार तीन प्रकार से किया जा सकता है। एक तो आय हमेशा एक सी बनी रहे। दूसरे, भविष्य मे धीरे-धीरे आय बढती चले और तीसरे, भविष्य में आय कम होती जाय। यदि आय हमेशा एक-सी रहे, तो व्याकुलता की दर आय की मात्रा और मनुष्य के गुणो पर निर्भर होगी। यदि आयु या उम्र के साथ-साथ आमदनी भी बढती है, तो उसका अर्थ यह है कि भविष्य के लिये प्रबन्ध अच्छा है, पर वर्तमान आय अपेक्षाकृत कम है। चूंकि वर्तमान आय तुलनात्मक रूप से कम है, इसलिये बट्टे की दर (rate of discount) ऊँची रहेगी। जब किसी काल मे आय घटती चलती है तब यह क्रम उलटा हो जाता है और बट्टे की दर कम हो जाती है। इसी प्रकार आय की मात्रा की बनावट (the composition of income) का प्रभाव इस प्रकार होता है। मनुष्यों की आय विभिन्न प्रकार की वस्तुओ और सेवाओ पर खर्च होती है। यदि वस्तुओ अथवा सेवाओ के समूह मे कुछ कमी हो जाय, तो उसका प्रभाव समय की पसन्दगी

अर्थात् समयानुकूलता की दर पर उसी प्रकार पड़ेगा, जिस प्रकार कि व्यक्तियों की आय मे कमी होने पर पड़ेगा। अन्तिम, यदि भविष्य अनिश्चित है, तो समय की पसन्दगी अर्थात् समयानुकूलता की दर ऊँची रहेगी। परन्तु खतरा और अनिश्चितता के प्रभावो का वाद-विवाद लाभ के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे उचित होगा, व्याज के सिद्धान्त के सम्बन्ध मे नही। यदि कोई मनुष्य बहुत खर्चीले स्वभाव का है, तो उसकी खर्च करने की अधीरता की मात्रा या दर बहुत ऊँची होगी।

जब व्यक्तियो की समय की पसन्दगी या समयानुकूलता की दरे इस प्रकार निश्चित हो जाती है, तब वे व्याज की दर के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलाती है। जब किसी व्यक्ति की समयानुकूलता की दर बाजार की व्याज दर से ऊँची होगी, तब वह रकम उधार लेगा और उसे अधिक जरूरी आवश्यकताओ की पूर्ति में लगावेगा। यह काम वह उसी प्रकार करेगा, जिस प्रकार वह किसी वस्तु की अधिक इकाइयाँ खरीदेगा, क्योकि उसके लिये इन अधिक इकाइयो की सीमान्त उपयोगिता कीमत से अधिक है। इसी तरह जब उसकी समयानुकूलता की दर व्याज की दर से कम होगी, तब वह बाजार में अपनी रकम उधार देगा और उससे लाभ उठावेगा। इस प्रकार उधार देकर अथवा लेकर एक व्यक्ति अपनी आय तब तक नियन्त्रित करेगा जब तक कि उसकी समयानुकूलता की दर व्याज की दर के बराबर न हो जायगी।

द्रवता पसन्दगी और व्याज की दर (Liquidity-Preference and the Rate of Interest) स्वर्गीय लार्ड कीन्स (Lord Keynes) ने व्याज के एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उसका मत है कि सीमान्त उत्पादन का सिद्धान्त तथा प्रतीक्षा का सिद्धान्त, ये दोनो व्याज की दर सब परिस्थितियो में अच्छी तरह से नही समझाते। यह बात अवश्य सत्य है कि पूंजी की असल सीमान्त उत्पत्ति व्याज की चालू दर के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलाती है। परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि पूंजी की असल सीमान्त उत्पत्ति ही व्याज की दर निश्चित करती है। पूंजी की असल सीमान्त उत्पत्ति दो तरह से निश्चित होती है। एक तो व्यवसाय के भविष्य की आशाओ पर और दूसरे पूंजी-उत्पादक सामानो की उत्पादन लागत पर। इन दोनो के प्रभाव व्याज की दर निश्चित नही कर सकते। व्याज की दर बचत का इनाम भी नही हो सकती। "क्योकि यदि कोई व्यक्ति नकद रुपयो में बचत जमा करता है, तो वह व्याज नही प्राप्त करता, चाहे वह पहिले के बराबर भले ही बचत करता हो।"[1] यह कहना भी सही नही है कि व्याज की दर ऐसी होनी

लार्ड कीन्स द्वारा पुराने सिद्धान्तों की आलोचना।

---

[1] *Keynes*, The General Theory of Employment Interest and Money, p. 67.

चाहिए, जिससे पूंजी की माँग बचत के बराबर हो सके। अर्थात् पूंजी की जितनी माँग हो, उसकी पूर्त्ति बचत से हो सके। हाँ, यह बात अवश्य है कि किसी भी देश में बचत की मात्रा व्यवसाय मे लगाये गये माल और पूंजी (investment goods) के मूल्य के बराबर होती है। परन्तु यह क्रिया उस तरह नही होती, जिस तरह पुराने सिद्धान्त में मान लिया गया है। जब कोई व्यक्ति अपनी आय मे से पहिले की अपेक्षा अधिक अश की बचत करता है, तो केवल इस कार्य से बचत की कुल मात्रा तथा उसकी पूर्त्ति नही बढ जाती। चूंकि अब वह व्यक्ति चालू अथवा वर्त्तमान उपभोग की वस्तुओ पर कम खर्च कर रहा है, इसलिये उपभोग की वस्तुओ के बचानेवाले उत्पादको की आय कम हो जायगी। "एक आदमी का खर्च दूसरे आदमी की आय होती है। और जब एक आदमी कम खर्च करता है, तो दूसरे कम पैदा करते है।" इसलिये जब एक व्यक्ति अपनी बचत बढाता है, तो उसका तत्काल फल यह होता है कि कुछ दूसरे आदमियो की आय कम हो जाती है। अन्त मे दूसरे व्यक्ति कम बचा पावेगे। इसलिये सभव है कि बचत की कुल मात्रा न बढे। यदि उत्पादक वस्तुओ मे पूंजी इत्यादि की नई लागत नही होती है, तो केवल एक व्यक्ति के अधिक बचत करने से दूसरो की आय कम हो जायगी। परन्तु जब व्यवसायी उत्पादक वस्तुओ का उत्पादन बढाने का निश्चय करते है, तब वे उत्पादन के साधनो पर अथवा कच्चे सामानो इत्यादि पर अधिक रुपया खर्च करते है। इससे उत्पादन के साधनो की आय बढ जाती है। और यदि बचत करने की इच्छा पहिले की तरह बनी रही, तो बचत की कुल मात्रा भी बढ जावेगी। इसलिये बचत की मात्रा उत्पादन में लगाई गई पूंजी के बराबर तो हो जाती है, परन्तु व्याज की दर के जरिये नही, बल्कि आय की सतह के जरिये होती है।

रुपया उधार लेने के लिये जो धन दिया जाता है, वह व्याज है।

व्याज की दर वह कीमत है, जो रुपया उधार लेने के लिये दी जाती है। कर्ज देने और व्याज लेने का तत्त्व यह है कि साहूकार अपना रुपया देता है अर्थात् उसके पास खरीद करने की जो शक्ति है उसे वह छोड देता है। उसके बदले में भविष्य में उसे असल या मूलधन तो मिलेगा ही साथ मे कुछ और भी मिलेगा। यदि कर्जदार रुपया वापिस देते समय केवल मूलधन ही लौटावे तो कोई भी मनुष्य अपना रुपया क्यो देगा? दान और परोपकार की भावनाओं की बात अलग है। इसलिये कर्जदार को मूलधन के सिवाय कुछ और धन भी देना चाहिए। यह 'कुछ और' धन मूलधन पर व्याज है। इसलिये व्याज की दर वह इनाम है, जो साहूकार को दिया जाता है, जिससे कि वह अपना द्रव्य या नकद रकम (liquid cash) का इच्छापूर्वक या खुशी से त्याग कर सके। दूसरे शब्दो में व्याज की दर "नकदी या द्रव्य रकम त्यागने का इनाम है।"

जिस मनुष्य के पास रुपयो के रूप में कुछ आय होती है, वह पहिले यह

निश्चय करता है कि वह कितनी बचत करेगा। कीन्स के शब्दों में यह उपभोग की प्रवृत्ति (propensity to consume) पर निर्भर होगा। बचत करने की इच्छा होने में मनुष्य अपनी आय का एक भाग बचावेगा। अब उसे एक बात और निश्चय करनी होगी। या तो वह अपने साधनों को रुपयों के रूप में रख सकता है, जिससे कि वस्तुओं और सेवाओं पर उसका अधिकार तुरन्त हो सके। अथवा वह तुरन्त अपनी मनचाही खरीद करने की शक्ति कुछ समय के लिये त्याग सकता है, जिससे भविष्य में, बदले में उसे कुछ प्राप्त हो सके। दूसरे शब्दों में या तो वह अपने रुपयों को जमा करके रख सकता है अथवा व्याज पर उठा सकता है। वह अपने धन का कितना भाग जमा करेगा (चाहे वह अपने पास जमा करे अथवा बैंक में जमा करे) और कितना भाग उधार देगा, यह उसकी रुचि पर निर्भर होगा कि विभिन्न परिस्थितियों में वह अपने साधनों का कितना भाग नकद रकम के रूप में अपने पास रखना चाहेगा। उधारी की अपेक्षा यह नकद रकम अपने पास रखने की रुचि द्रवता की पसन्दगी कहलाती है।

द्रवता पसन्दगी का अर्थ।

अब प्रश्न यह है कि जब आदमी उधार देकर आसानी से उन पर व्याज प्राप्त कर सकता है, तो उसे अपनी आय का एक भाग नकदी के रूप में अपने पास अथवा बैंक में क्यों रखना चाहिये? कुछ कारण अवश्य होना चाहिये, जिससे मनुष्य व्याज न कमा कर बेकार रुपया अपने पास रखते हैं। अपने धन को नकदी या द्रव के रूप में रखने के कई कारण होते हैं। पहिला कारण यह है कि आय प्राप्त होने और उसके खर्च होने के बीच में जो एक प्रकार की समय की खाई होती है, उसे पाटने के लिये मनुष्य कुछ नकद रकम अपने हाथ में रखता है। हम लोगों में से अधिकांश अपनी आय एक महीना बाद अथवा एक हफ्ता बाद प्राप्त करते हैं, परन्तु खर्च हमें लगभग रोज करना पड़ता है। इसलिये कुछ नकद रकम हमें अपने हाथ में रखनी पड़ती है, जिससे हम दैनिक खर्च करने में समर्थ रहें। इस दैनिक खर्च के लिये कितनी नकद रकम की आवश्यकता होगी, यह इस बात पर निर्भर होगी कि आय की सतह या मात्रा क्या है, कितने समय बाद आय प्राप्त होती है और किसी स्थान में खर्च करने के अथवा मूल्य चुकाने के तरीके क्या और कैसे हैं। दूसरे, व्यवसायियों को अपने हाथ में कुछ नकद रकम रखनी ही पड़ती है, क्योंकि उन्हें ग्राहकों को देने की आवश्यकता होती है तथा कुछ नकद रकम वस्तुओं इत्यादि का मूल्य चुकाने के लिये आवश्यक होती है। तीसरे, यदि अकस्मात् कोई खर्च आ पड़े तो उसे पूरा करने के लिये नकद रुपये की आवश्यकता पड़ती है। जब एकाएक नकद रुपये की जरूरत आ पड़ती है, तो कर्ज दिया हुआ रुपया वापिस पाना अथवा लाभ सहित ऋण-पत्र (securities) बेचना सम्भव नहीं होता। अन्त में कुछ व्यक्ति सट्टे की मनोवृत्ति से प्रेरित होकर भी नकद रकम अपने हाथ में रख सकते हैं। एक व्यक्ति

द्रवता पसन्दगी के कारण।

यह सोचता है कि भविष्य मे व्याज की दर बढेगी। इसलिये वह अपने साधनो को द्रव्य के रूप में अपने पास रख सकता है, जिससे मौका आने पर वह उसे ऊँची व्याज की दर पर उधार दे सके। इसके विरुद्ध यदि लोग यह सोचते है कि भविष्य मे व्याज की दर गिर जायगी तो वे तुरन्त चालू ऊँची दर पर अपना रुपया लगा देगे और इस प्रकार अपनी नकद रकम घटा देगे। जब तक व्याज की दर के भविष्य के बारे मे मत-भिन्नता रहेगी, तब तक कुछ लोग तो भविष्य मे ऊँची दर पर रुपया लगाने की नियत से नकदी अपने हाथो मे रखेगे और कुछ लोग भविष्य मे दर गिरने के डर से अपना रुपया लगाते जायगे। साधारण परिस्थितियो मे पहिले तीन कारणो को पूरा करने के लिये जो नकद रकम हाथ में रखी जायगी, उस पर व्याज की दर मे परिवर्तन होने से अधिक प्रभाव नही पडता। वह विभिन्न आयो की सतह और समाज के आर्थिक जीवन पर निर्भर होगी। इन कारणो से जो रकम हाथ मे रखी जायगी, उसे हम 'क्रियाशील रकम' (active balances) कह सकते है। परन्तु जो रकम सट्टे की नीयत से हाथ मे रखी जाती है, उस पर व्याज की दर का बडा जल्दी प्रभाव पडता है। इस कारण से जो रकम हाथ मे रखी जाती है, उसे हम '**अक्रियाशील रकम**' (inactive balances) कह सकते है।

प्राय ऐसा होता है कि व्याज की दर जितनी ऊँची होती है, साधारणत अपनी आय मे से उतनी कम रकम लोग नगदी के रूप मे अपने हाथ मे रखते है। क्योकि रुपया बेकार रखने से अधिक व्याज मारा जायगा। परन्तु यदि उसे कर्ज मे दिया जाय अथवा उससे ऋण-पत्र (securities) खरीदे जायँ तो व्याज के रूप मे अधिक लाभ होगा। ऐसी परिस्थिति मे लोग रुपया लगाने के लिये उत्सुक रहेगे। कुछ लोग यह सोचकर रुपया लगाने के लिये उत्सुक होगे कि भविष्य मे व्याज की दर गिर जायगी। अन्तिम व्याज की ऊँची दर व्यावसायिक कार्यो को रोकेगी, नये लगाये जाने वाले रुपयो की रकम कम हो जायगी अर्थात् लोग कम रकम व्याज पर लगावेगे, लोगो की आय की सतह कम हो जायगी और दैनिक व्यावसायिक लेन-देन के लिये आवश्यक नकद रकम की मात्रा कम हो जायगी। इसी प्रकार व्याज की दर कम होने से लोग अधिक रकम हाथ मे रखना चाहेगे, क्योकि अब व्याज के रूप मे अधिक रुपयो का नुकसान न होगा। कुछ लोग यह आशा करेगे कि भविष्य मे व्याज की दर बढेगी इससे वे नकद रकम तब तक के लिये रोके रहेगे अर्थात् वह रकम बेकार पडी रहेगी। व्याज की दर कम होने से लोगो की आय की सतह भी बढ जावेगी। इस प्रकार हम द्रवता-पसन्दगी की एक सूची तैयार कर सकते है और उसमे यह दिखा सकते है कि व्याज की विभिन्न दरो पर लोग कितनी नकद रकम अपने हाथ मे रखना पसन्द करेगे।

द्रवता की पसन्दगी की यह सूची तैयार हो जाने पर व्याज की दर किसी एक समय प्राप्त द्रव्य या रुपयो की मात्रा द्वारा निश्चित होगी। "इस प्रकार और यहाँ द्रव्य

व्याज की दर और मुद्रा की मात्रा।

मात्रा आर्थिक योजना मे प्रवेश करती है।"[1] व्याज की दर ऐसी होनी चाहिये, जिससे द्रव कार्यों के लिये धन की माग उसकी पूर्त्ति के बराबर होगी। किसी भी समय धन या मुद्रा की जो रकम प्राप्त होगी, वह कुछ व्यक्तियो के हाथ में अवश्य होनी चाहिये। अब व्याज की दर ऐसी होनी चाहिये, जिससे ये व्यक्ति सब रकम अपने हाथ मे रखे रहे। यदि व्याज की दर इस एकमात्र दर (unique rate) मे कम हुई तो रकम की कुल मात्रा जो लोग अपने पास रखना चाहेगे उसकी पूर्त्ति मे अधिक होगी। इससे व्याज की दर बढ जायगी। इसके विरुद्ध यदि व्याज की दर इस तरह से ऊँची हुई तो जितनी रकम लोग अपने पास रखना चाहेंगे, उससे अधिक प्राप्त रहेगी। इसलिये किसी दिये हुए समय मे द्रवता-पसन्दगी की सूची और प्राप्त रकम की मात्रा व्याज की दर निश्चित करते है।

कीन्स के इस सम्बन्ध मे एक कठिनाई यह है कि वह मुद्रा (money) का अर्थ साफ-साफ नही बतलाता। वह कहता है कि मुद्रा का अर्थ बैंक मे जमा की हुई रकम से है। (Money is co-extensive with bank-deposits)। लेकिन जब रावर्टसन के साथ उसका विवाद हुआ तो उसने कहा कि उसका सिद्धान्त उधारी (credit) की माँग और पूर्ति का द्योतक नहीं है। फिर व्याज पर लगाने के लिये रुपये की जो माँग होती है वह व्याज की दर मे स्वतन्त्र नही होती। परन्तु कीन्स का मत है कि वह स्वतन्त्र होती है। व्यवसायी जो नकद रकम अपने पास रखते है, उस पर पूँजी की माँग का काफी हद तक प्रभाव पडता है। यह पूँजी व्याज के लिये लगाई जाती है और व्यवसायी इससे काफी प्रभावित होते हे। इसलिये व्याज की दर पूँजी की सीमान्त योग्यता से स्वतन्त्रतापूर्वक निश्चित नही होती। फिर भी जैसा प्रो० रॉबर्टसन ने बतलाया है कि कीन्स के विचार पुराने सिद्धान्त (neo-classical theory) से बिलकुल बेमेल नही है। व्याज की दर जमा करके न रखने (जैसा कीन्स ने कहा है) तथा उपभोग पर खर्च न करने के लिये इनाम कही जा सकती है।[2]

व्याज की दर कैसे निश्चित होती है? (What Determines the Rate of Interest?)—ऊपर जिन सिद्धान्तों की विवेचना की गई है—उन्हे हम दो

---

[1] *Keynes*, The General Theory of Employment Interest and Money, p 168.

[2] Economic Journal 1937, p. 431. *Mr. Hicks* in Ch. XII of the Value and Capital and *Mr Lerner* in two articles, 'Alternate Formulations of the Theory of Interest', Economic Journal, June 1938, and 'Interest Theory , Supply and Demand for Loans or Supply and Demand for Cash', Review of Economic Statistics, 1944, have tried to reconcile Keynesian theory with neo-classical theories

वर्गों में बाँट सकते हैं। पहिला प्राचीन सिद्धान्त की नयी व्याख्या (neo-classical theory) और दूसरा कीन्स का सिद्धान्त। पहिले के मतानुसार ब्याज पर उठने वाली रकम की माँग और पूर्त्ति के आधार पर ब्याज की दर निश्चित होती है। ब्याज पर उठनेवाली रकम की माँग कई कारणो से होती है। ये रकमे जब उत्पादन के टेढे-मेढे तरीको मे लगाई जाती है, तो उत्पादको की आय अधिक बडे अनुपात मे बढती है, जिससे वे अधिक पूंजी की माँग करे। अथवा सरकार उस रकम या पूंजी पर कुछ देने को तैयार हो जाती है, जिससे उसे प्राप्त करके वह युद्ध इत्यादि अपने विभिन्न कार्य पूरे कर सके।

कर्ज के रूप मे प्राप्त होनेवाली पूंजी की पूर्ति दो बातो पर निर्भर होती है। पहिली, इच्छापूर्वक की गई बचत की मात्रा और दूसरी बैंको से प्राप्त होनेवाले कर्ज। कुल बचत की माँग और पूर्ति की मात्रा ब्याज की दर निश्चित करते है। यह दर उस बिन्दु पर स्थिर या निश्चित होगी, जहाँ कर्ज पर उठनेवाली रकम की माँग और पूर्ति एक बराबर होगी। यदि बचत की मात्रा मे बढती हुई तो रकम की पूर्ति बढ जायगी, साथ ही उसकी माँग भी घटेगी, क्योकि बचत बढने से उपभोग घटेगा। इससे ब्याज की दर गिरेगी।

पूर्ति पर पड़नेवाले प्रभाव।

कीन्स के सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर मुद्रा की माँग और पूर्ति के अनुसार निश्चित होती है। मुद्रा की पूर्ति बैंको की व्यवस्था पर निर्भर होती है। मुद्रा की माँग लोगो की द्रवता पसन्दगी पर निर्भर होती है। एक निश्चित ब्याज की दर पर मुद्रा की माँग ऐसी नही होनी चाहिये, जिसमे मुद्रा की सब पूर्ति खप जाय। यदि मुद्रा-स्फीति के कारण किसी देश मे मुद्रा की पूर्ति बढ जाती है, तो ब्याज की दर गिरेगी। इसमे शर्त यह है कि मुद्रा-स्फीति के कारण लोगो की द्रवता पसन्दगी मे परिवर्त्तन नही होना चाहिये।

इन दोनो वर्गो के सिद्धान्तो मे ऐसा सघर्ष नही है, जैसा सरसरी तोर से देखने मे लगता है। मुद्रा-स्फीति से देश मे कर्ज पर उठनेवाली रकम की मात्रा भी बढेगी ओर इससे ब्याज की दर गिरेगी। द्रवता पसन्दगी मे परिवर्तन होने से लोग बाजार मे कर्ज के रूप मे कम अथवा अधिक रकम भेजेंगे और हम यह कह सकते है कि इस रकम की पूर्ति पर प्रभाव पडने से उस परिवर्तन का प्रभाव ब्याज की दर पर भी पडेगा।

तब यह पूछा जा सकता है कि बचत की मात्रा और ब्याज की दर मे क्या सम्बन्ध है? बचत की मात्रा एक तो रुपयो के रूप मे आय पर निर्भर होती है ओर दूसरे बचत करने की इच्छा पर। अर्थात् आय की विभिन्न सतहो पर लोग किस अनुपात मे बचत करना चाहेंगे। परन्तु द्रवता-पसन्दगी की स्थिति निश्चित रहने से बचत की मात्रा बढने से बाजार मे कर्ज के लिये प्राप्य पूंजी भी बढ जायगी। इसलिये बचत की मात्रा ब्याज की दर निश्चित करनेवाले साधनो पर प्रभाव डालकर ब्याज की दर पर प्रभाव डालती है।

ब्याज का भविष्य, आविष्कारों का प्रभाव (The future of interest, Effect of invention)—ब्याज की दर का भविष्य क्या है? समाज की उन्नति का इस पर क्या प्रभाव पड़ेगा? हम जानते है कि ब्याज दो बातो पर निर्भर होता है—कर्ज के लिये प्राप्य पूंजी की माग और पूर्ति। इसलिये भविष्य मे ब्याज की दर इस बात पर निर्भर करेगी कि आविष्कारो और प्रगति के कारण कर्ज की माग बराबर बढ़ती रहेगी अथवा समाज की उन्नति के साथ-साथ पूंजी भी प्रचुर मात्रा मे प्राप्त रहेगी। टासिग के शब्दो मे ब्याज की दर 'सग्रह और उन्नति के बीच एक दाड पर निर्भर होती है।'

वह पूंजी की माँग और पूर्ति पर निर्भर है।

प्राय आशा यह की जाती है कि कर्ज पर उठने वाली पूंजी की मात्रा भविष्य में बढ़ेगी। क्योंकि मनुष्य सभ्यता की सीढ़ी पर जैसे-जैसे चढ़ता है, वह साधारणत अधिक दूरदर्शी हो जाता है। आदिम मनुष्य भविष्य के बारे में कभी नही सोचता था। परन्तु मनुष्य ने जैसे-जैसे उन्नति की, वैसे-वैसे वह भविष्य के लिये कुछ बचाने को चिन्तित होता गया। कीन्स के शब्दो में उसकी द्रवता की पसन्दगी घटती गई। इसके सिवाय उद्योगो का उत्पादन बढने के साथ-साथ लोगो की आय की सतह भी बढ़ती जाती है। इसलिये उनकी बचत करने की शक्ति भी काफी बढ जाती है। अत बचत की मात्रा बढाने की प्रवृत्ति दिखावेगी। इसलिये अन्य वस्तुओ के यथाशक्ति रहते हुए इससे कर्ज के लिये प्राप्य पूंजी की मात्रा बढ़ेगी, जिससे कि ब्याज की दर घटेगी।

आविष्कारो का ब्याज पर प्रभाव।

लेकिन उसका गिरना या न गिरना भविष्य में पूंजी की माग पर निर्भर रहेगा। और यह माँग आविष्कार तथा उन्नति पर निर्भर होगी। आविष्कारो के कारण कर्ज के लिये पूंजी की हमेशा माँग रहेगी। नये-नये तरह की मशीनें बनेगी और उन्हे कारखानो मे लगाया जायगा। इससे आगे चलकर और बड़ी मशीनो की आवश्यकता पड सकती है, जिससे उत्पादन का क्रम अधिक लम्बा हो जायगा। ऐसी परिस्थिति मे पूंजी की माँग बढेगी। परन्तु इस परिस्थिति के विरुद्ध भी एक परिस्थिति हो सकती है। बहुत पहिले जैसा रे (Rea) ने बतलाया था कि श्रम-विभाजन के कारण ठहरने अथवा प्रतीक्षा करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। जब उत्पादन मशीनो द्वारा होता है, तो उस की क्रिया सरल और सीधी भी हो सकती है और साथ ही उत्पादन का समय भी कम किया जा सकता है। इसलिये आविष्कारो का अन्तिम परिणाम इन दो प्रकार की परिस्थितियों के प्रभावो द्वारा जाना जायगा।

सब बातो का ध्यान रखते हुए सभावना यह है कि भविष्य की दर गिरेगी। दो अन्य कारण है, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि भविष्य मे ब्याज की दर गिरेगी। एक तो विशेषकर पश्चिमी देशो मे यह देखने में आया है कि जनसख्या साधारणत स्थिर होने और कही-कही कम होने की प्रवृत्ति दिखला रही है। इससे कर्ज के लिये

क्या ब्याज की दर कभी शून्य पर आ जायगी।

पूँजी की माँग कम होने की सभावना है। क्योकि उत्पादन का ढग वही रहने से
प्रति व्यक्ति पीछे वस्तुओ की वही मात्रा उत्पादन करने के लिये कम पूंजी की
आवश्यकता पडेगी। दूसरे, जैसे-जैसे कोई समाज अधिक धनी होता जाता है,
उसकी उपभोग की प्रवृत्ति कम होती जाती है। जैसे-जैसे आय बढती है, उपभोग
पर खर्च होनेवाला उत्पादन कम होता जाता है और बचत का अनुपात बढता जाता है।
फल यह होगा कि व्याज की दर घटेगी। तो क्या कभी वह शून्य पर आ सकती
है? कर्ज की माँग की दृष्टि से शून्य व्याज-दर का अर्थ यह होगा कि पूंजी का वास्तविक
सीमान्त उत्पादन शून्य है। जब वास्तविक सीमान्त उत्पादन शून्य है तो उसका अर्थ यह
कि हम अधिक पूंजी लगाकर उत्पादन अधिक नही बढा सकते। यहाँ हम ऐसी स्थिति
मे आ जाते है, जब हमारी उत्पादन शक्ति अपनी पराकाष्ठा या चरम सीमा पर पहुँच
चुकी है। अर्थात् हमारी सब आवश्यकताएँ पूरी हो चुकी है। परन्तु हम समाज की ऐसी
स्थिति की कल्पना नही कर सकते, जहाँ मनुष्यो की सब आवश्यकताएं और इच्छाएँ
पूरी हो चुकी हो। और जब तक मनुष्य की आवश्यताएँ और इच्छाएँ रहेगी, तब तक
पूंजी लगाने की असीम गुंजाइश रहेगी। इसलिये व्याज की दर शून्य पर नही आ
सकती।

इसी प्रकार पूर्ति की दृष्टि से शून्य व्याज-दर का अर्थ यह होगा कि लोग बिना व्याज के
अर्थात् बिना किसी इनाम के मुफ्त मे कर्ज देते जायगे। लोगो मे कोई द्रवता-पसन्दगी
नही होगी। परन्तु कुछ ऐसे कारण है, जिनसे द्रवता-पसन्दगी शून्य पर नही आयगी।
व्याज दर गिरने पर द्रवता-पसन्दगी अर्थात् नकद पूंजी मे ज्यादा रुपया आ जायगा और
इसका उपयोग दैनिक व्यवसाय मे होगा। साथ ही व्याज दर गिरने से वह नुकसान
कम हो जायगा जो ज्यादा नकदी हाथ मे रखने से होगा। इसलिये "संस्थाओ तथा
मनोविज्ञान के कुछ ऐसे प्रभाव मौजूद रहते है, जो कि व्याज-दर की सीमा
शून्य के बहुत ऊपर बाँध देते है।" अर्थात् व्याज दर शून्य पर कभी नही आने पाती।
इसलिये व्याज-दर की शून्य पर आने की सभावना कभी नहीं हो सकती।[1]

---

[1] प्रोफेसर शुमपीटर (Schumpeter) के मतानुसार एक प्रगति-
हीन समाज (statice state) मे व्याज दर शून्य हो सकती है। व्याज
इसलिये उत्पन्न होता है कि अस्थायी मुनाफे से ललचा कर उत्पादक पूंजी
मागते है। लेकिन प्रगतिहीन समाज मे मुनाफा भी रुक जाता है। इसलिये व्याज
दर शून्य पर आ जायगी। लेकिन यह विचार गलत है। प्रगतिहीन समाज मे
भी जमा न करने की प्रवृत्ति एक प्रकार का आत्म-त्याग या निरोध हो जायगा
आर इस प्रवृत्ति मे व्याज निहित या व्याप्त रहेगा। इस सम्बन्ध मे देखो L.
Robins, 'On some ambiguity in the conception of the sta-
tionary equilibrium,' Economic Journal, June 1930

व्याज की विभिन्न दरें (Different Rates of Interest)—अभी तक हमने आर्थिक व्याज की विवेचना की है। यदि पूर्ण प्रतियोगिता का वातावरण हो तो शुद्ध व्याज की सब जगह वही दर होनी चाहिए। परन्तु वास्तव में भिन्न-भिन्न देशो मे व्याज की दर भिन्न-भिन्न होती है। एक ही देश मे अलग-अलग साहूकार अलग-अलग दर मे व्याज लेते है और उन दरो मे काफी अन्तर रहता है। व्याज की दरो में यह अन्तर क्यो होता है?

व्याज की दर मे अन्तर का प्रधान कारण यह है कि कर्ज लेनेवाले सब लोग एक-सी अच्छी जमानत या धरोहर नही दे सकते। जब साहूकार यह जानता है कि कर्ज लेने वाला ईमानदार है, उसकी आर्थिक स्थिति अच्छी है और वह कर्ज वापिस देने मे समर्थ होगा तो वह खुशी से कम दर पर कर्ज दे देगा, जैसा कि लोग सरकार के लिये करते है। लेकिन यदि उसे उन सब बातो के बारे मे सन्देह हुआ तो वह ऊँची व्याज-दर पर कर्ज देगा, जैसा कि लोग किसानो से लेते है। व्याज-दर मे फर्क का दूसरा कारण यह है कि कर्ज अलग-अलग समय के लिये दिये जाते है। यदि कर्ज लम्बे समय के लिये चाहता है, तो साहूकार को अपनी रकम को काफी दिनो के लिये त्याग करना पड़ेगा। उसकी द्रवता कम हो जायगी और वह ऊँची व्याज दर की आशा करेगा। यदि थोड़े समय के लिये चाहता तो शायद वह इतनी ऊँची व्याज दर की आशा न करता। अन्तिम कारण यह है कि कर्ज के बाजार मे प्राय अपूर्ण प्रतियोगिता रहती है। एक बाजार मे कई छोटे-छोटे बाजार होते है और उनमे भिन्न-भिन्न प्रकार के ऋण दिये जाते है। जो बैंक लिमिटेड कम्पनियो के रूप मे चलते है, वे एक वर्ग के लोगो को कर्ज देते है और साहूकार दूसरे वर्ग के लोगो को। गामो मे जो साहूकार होते है उन्हे प्राय कोई बड़ी प्रतियोगिता का सामना नही करना पड़ता। इस तरह अलग-अलग बाजारो मे अलग-अलग व्याज दर हो सकती है और उनमे साम्यता की प्रवृत्ति होनी आवश्यक नही है। ग्राम के लोग ऊँची दर पर बड़े बैंको मे रुपया रखने की अपेक्षा पोस्ट आफिस सेविंग्स बैंक मे कम दर पर रुपया रखना अधिक पसन्द कर सकते है।

अन्तिम कारण अर्थात् बाजार की अपूर्ण प्रतियोगिता यह भी बतलाती है कि अलग-अलग देशो मे व्याज-दर अलग-अलग हो सकती है। ऊँची व्याज-दर मिलने पर भी एक देश के लोग दूसरे देश मे रुपया लगाना पसन्द न करे, क्योकि उन्हे उस देश के ऋण-पत्र पसन्द नही है, अथवा उन्हे उस देश के राजनीतिक भविष्य और आर्थिक शक्ति का पर्याप्त ज्ञान नही है।

व्याज की आवश्यकता और औचित्य (Necessity and Justification of Interest)—व्याज लेना केवल आधुनिक काल मे उचित माना जाने

लगा है। प्राचीन काल मे व्याज लेना अनुचित समझा जाता था और व्याज के सिद्धान्त को निन्दनीय समझा जाता था। प्राचीन काल मे लोग इस बात को नही समझते थे कि पूंजी से क्या-क्या सेवाये प्राप्त होती है। इसलिये अरिस्टॉटल (Aristotle) ने व्याज प्रथा की घोर निन्दा की है। अरिस्टॉटल के बाद के लेखको का मत था कि ऋण देकर न तो साहूकार कोई त्याग करता है और न कर्जदार को उससे कोई लाभ होता है। इसलिये व्याज लेना धन का अस्वाभाविक उपयोग करना था। प्राचीन काल मे पूंजी से लाभ उठाने के मौके अधिक नही थे। अधिकाँश ऋण उपभोग सम्बन्धी रहते थे, जिन्हे ऐसे धनी लोग देते थे, जिनके पास काफी रुपया रहता था और प्राय ऐसे गरीब लोग लेते थे, जिन्हे रुपये की बडी आवश्यकता होती थी। इसलिये व्याज लेना निन्दनीय समझा जाता था।

व्याज की समाजवादी आलोचना।

आधुनिक काल मे कार्ल मार्क्स तथा अन्य समाजवादियो की आलोचना के कारण व्याज के औचित्य का प्रश्न फिर उठ खडा हुआ है। मार्क्स का मत है कि उत्पादन में जितनी श्रम की मात्रा लगती है, उसी के आधार पर मूल्य निश्चित होती है। इसलिये मूल्य पर केवल श्रम का अधिकार होना चाहिए। परन्तु मजदूरो को केवल इतना दिया जाता है, जिससे वे किसी प्रकार जीवित रह सके। बाकी जो आय बचती है, उसे पूंजीपति हडप जाते है। इसलिये मार्क्स के मतानुसार व्याज एक प्रकार की चोरी अथवा ठगी है। समाजवादी व्यवस्था मे व्याज का अस्तित्व नही रहेगा।

यदि निजी सम्पत्ति की नैतिकता की विवेचना करना असगत होगा, तो केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि जब तक निजी सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता प्राप्त रहेगी, तब तक लोगो की समय की पसन्दगी और द्रवता-पसन्दगी के सिवाय भी व्याज को एक स्वतत्र आधार पर भी उचित ठहराया जा सकता है। यह सिद्ध किया जा सकता है कि एक समाजवादी सरकार को भी कम से कम हिसाब-किताब रखने की दृष्टि से दो कारणो से व्याज दर का सहारा लेना पडेगा। सरकार की पूंजी सम्बन्धी साधन सीमित रहेगे और उन साधनो को विभिन्न उद्योगो मे लगाना पडेगा। परन्तु विभिन्न उद्योगो की उत्पादन-शक्ति एक-सी नही हो सकती। यदि कुछ उद्योगो के उत्पादन से १० प्रतिशत लाभ होगा तो कुछ से केवल ३ प्रतिशत होगा। चूंकि समाजवादी सरकार भी अपनी पूंजी पर अधिक से अधिक लाभ चाहेगी, इसलिये वह भी अपनी एक सतह (standard) निश्चित कर लेगी और जिन उद्योगो मे उस आदर्श सतह से कम लाभ होगा, उसमें पूंजी न लगावेगी। यह आदर्श लाभ की दर व्याज के सिवाय और कुछ नही है। इसलिये व्याज की दर एक प्रकार की छलनी है, जिसमें से उत्पादन की योजनाये

छानी जाती है और केवल उनको ग्रहण किया जाता है, जिनमे भविष्य में अधिक लाभ होगा।'[1]

केवल इतना ही नही समाजवादी सरकार जीवन के स्तर को बढाना चाहती है तो उसे ब्याज दर का सहारा लेना ही पडेगा। मान लो, पहिले सब मजदूर उपभोग की वस्तुए बनाने मे लगे थे, जिससे पूरा उत्पादन उन मे एक बराबर बट जाता था। अब मजदूरो के रहन-सहन का दर्जा बढाने के लिये कुछ मजदूरो को उत्पादक वस्तुओ के निर्माण मे लगाना पडेगा जिससे कुछ समय बाद इन वस्तुओ की सहायता से उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा बढ जायगी। लेकिन कुछ समय के लिये उन मजदूरो का पोषण जो उत्पादक वस्तुओ के बनाने मे लगे है, अन्य मजदूरो द्वारा होगा। इसलिये बाकी मजदूर अपनी उपभोग की वस्तुओ का एक अश उन मजदूरो को देगे। यह अश प्रति सैकडा एक दर से काटा जायगा और यही ब्याज होगा। तात्पर्य यह है कि मजदूरो को कुछ समय तक ठहरना या प्रतीक्षा करना आवश्यक है और भविष्य मे अपनी आय बढाने के लिये अपनी वर्तमान आय मे कुछ अस्थायी कमी करनी भी आवश्यक है। यह अस्थायी कमी प्रतीक्षा की कीमत अर्थात् ब्याज है।

लगान, ब्याज और आभास-लगान (Rent, Interest and Quasi-Rent)—इधर कुछ दिनो मे लगान और ब्याज के भेद को लेकर एक विवाद चला है। सब प्रकार की सम्पत्ति मे जिसमें भूमि भी शामिल है, जो आय होती है, उसे लगान भी कह सकते है और ब्याज भी। जब सम्पत्ति के मूल्य का विचार किये बिना उससे पूरी आय का विचार करते है, तो उसे हम लगान मान सकते है, परन्तु जब उस आय को सम्पत्ति के मूल्य के प्रति सैकडा की दृष्टि से देखते है, तो उसे हम ब्याज मान सकते है। परन्तु अर्थशास्त्र मे यह भेद अब भी चलता है, क्योकि भूमि पूंजी से अलग समझी जाती है। इसलिये भूमि से होनेवाली आय अर्थात् लगान पूंजी से होनेवाली आय अर्थात् ब्याज से भिन्न समझी जाती है।

कुछ आलोचको[2] के मतानुसार भूमि को पूंजी से अलग मानने के लिये कोई मौलिक कारण नही है। कई वस्तुये जैसे कच्चा लोहा इत्यादि भी प्रकृति की उतनी ही स्वतत्र देन है, जितनी कि भूमि। मनुष्य इन वस्तुओ को लेता है, उनमे अपना श्रम लगाकर उनका आकार-प्रकार इत्यादि बदल देता है और उन्हे अधिक मूल्यवान बना देता है। भूमि के बारे मे भी यही बात सत्य है। मनुष्य उसे ले लेता है और उसमे श्रम लगाता है, तब वह उपज देने लायक होती है। वस्तुओ की स्वाभाविक उत्पत्ति का उनके मूल्य पर कोई प्रभाव नही पडता। दूसरे, भूमि की तरह अन्य वस्तुओ की पूर्ति भी निश्चित है। "इसमे सन्देह नही कि पृथ्वी का धरातल नही

[1] *Henderson*, Supply and Demand, p. 130.
[2] *Cannon*, A Review of Economic Theory, p. 246.

बढाया जा सकता। परन्तु यह बात अन्य प्राकृतिक वस्तुओ पर भी लागू होती है। प्रकृति की दी हुई अन्य वस्तुओ की मात्रा भी नही बढायी जा सकती।" तीसरे यह कहा जा सकता है कि भूमि मे कोई अविनाशी गुण नही होते। भूमि मे जो रासायनिक ओर भौतिक गुण रहते है, वे बराबर क्षीण होते रहते है ओर अन्य वस्तुओ की तरह उनकी भी पूर्ति करनी पडती है। अन्त मे घटती उपज का नियम केवल भूमि के सम्बन्ध मे ही लागू नही होता। मशीनो तथा पूँजी के अन्य रूपो मे भी वह उसी प्रकार लागू होता है। भूमि की पूर्ति स्थिर रखकर तथा श्रम ओर पूँजी की पूर्ति बढाकर हम यह सिद्ध कर देते है कि भूमि मे कुछ अतिरिक्त मात्रा भी रहती है। इसी प्रकार हम पूँजी में भी अतिरिक्त मात्रा दिखा सकते है। यदि हम पूँजी की पूर्ति स्थिर रखे और दूसरे सहयोगी साधनो की मात्रा मे परिवर्त्तन कर दें तो यह सिद्ध कर सकते है कि पूँजी मे भी अतिरिक्त मात्रा होती है। यदि हम भूमि की कुल पूर्ति का उसकी किस्मो के अनुसार वर्गीकरण कर दे, तो अच्छे किस्मो की भूमि मे अतिरिक्त या अधिक मात्रा दिखा सकते है। इसी तरह यदि हम भूमि की तरह मशीनो का भी वर्गीकरण कर दे तो उनमे भी हम अतिरिक्त मात्रा दिखा सकते है। जिस प्रकार लगान न देनेवाली भूमि होती है, उसी प्रकार मशीने और औजार भी होते है, जिनका मूल्य कूडा-करकट से अधिक नही होता तथा ऐसे मकान भी होते है, जिनका मरम्मत करना और सुरक्षित रखना मुश्किल से लाभदायक होता है। कुछ मशीने ऐसी होती है, जिनसे कुछ व्याज नही मिलता और कुछ ऐसी होती है, जिनसे लाभ मिलता है। व्याज की यह व्याख्या उत्पादन के दूसरे साधनो पर भी लागू की जा सकती है।

इसलिये लगान और व्याज में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नही माना जाना चाहिए। भूमि का मूल्य उसी प्रकार निश्चित किया जाता है जिस प्रकार पूँजी का। भूमि के किसी टुकडे का मूल्य उससे प्राप्त होनेवाले लगान के आधार पर निश्चित किया जाता है। इसी प्रकार मशीनो तथा अन्य उत्पादक वस्तुओ का मूल्य उनसे होनेवाली आय से निश्चित किया जाता है। इसके सिवाय जब व्यवसायीगण अपने साधन लगाने के लिये उपयुक्त क्षेत्र खोजते है, तब वे पूँजी और भूमि मे कोई मौलिक अन्तर नही मानते। यदि उनके लाभ मे वृद्धि होती हो, तो वे बिना भेद-भाव सोचे भूमि अथवा मशीन अथवा श्रम मे अपने साधन लगा देगे। इसलिये अर्थशास्त्रियो ने लगान और व्याज मे जो भेद कर रखा है, उसका प्रधान प्रमाण प्रत्यक्ष जीवन मे नही मिलता।

भूमि और पूँजी में केवल अंशों का अन्तर है।

मार्शल के समान अर्थशास्त्री भी जिन्होंने लगान और व्याज मे भेद किय है, इन आलोचकों की यह बात स्वीकार करते है कि भूमि और पूंजी में बहुत-सं समानताएं है। भूमि और पूंजी मे किस्म का भे नही है, बल्कि अंश का भेद है। यद्यपि दूसरं वस्तुएँ भी प्रकृति की देन है, परन्तु फिर भी उस प्रकार की स्वतन्त्र देन नही है जैसी की भूमि 'भूमि की माग मे किसी भी दिशा मे परिवर्तन होने से उसकं कीमत पर अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव पडेगा। किसी साधारण वस्तु कं माग मे वही परिवर्तन होने से उनकी कीमत पर उतना गहरा प्रभाव नही पडेगा।"[1] भूमि की माग मे कमी या बढती होने पर उसकी कीमत किसी भी हद तक गि या बढ सकती है। परन्तु किसी वस्तु की माग मे ऐसा परिवर्तन होने से दीर्घकाल मे उसका मूल्य उत्पादन खर्च से अधिक न होगा। भूमि की कमी हमेशा बनी रहत है, परन्तु अन्य वस्तुओ की कमी अस्थायी होती है और कभी-कभी होती है। जहाँ तक लगान की व्याख्या मशीनो मे लागू करने की बात है, उस सम्बन्ध मे यह कहा जाता है कि यदि पूर्ण प्रतियोगिता मान ली जाय तो फिर सब उत्पादक अच्छी से अच्छी मशीनो का उपयोग करेगे। फिर मशीनो मे अतिरिक्त बचत होने की गुंजा-इश नही रहेगी। परन्तु दीर्घकाल मे प्रतियोगिता से लगान का उन्मूलन नही होता।

लगान, व्याज और आभास लगान में अन्तर।

लगान, व्याज और आभास-लगान के बीच में अन्तर दो बातो पर निर्भर रहता है एक पूर्ति की लोच पर और दूसरा समय पर। जब किसी वस्तु की पूर्ति अल्प और दीर्घकाल में बेलोच रहती है, तब लगान उत्पन्न होता है। जब किसी वस्तु की पूर्ति अल्पकाल में बेलोचदार होती है और दीर्घकाल मे लोच-दार होती है, तब उससे होनेवाली आय को आभास-लगान (quasi-rent) कहते हैं। व्याज शब्द उन वस्तुओ से होनेवाली आय पर लागू होता है, जिसकी पूर्ति लोचदार होती है। अर्थात् जो दीर्घकाल और अल्पकाल मे स्वतन्त्रतापूर्वक, बढाई जा सकती है। इसलिये भूमि तथा अन्य स्वाभाविक साधनो से होनेवाली आय लगान है। मनुष्य के बनाये हुए साधनो, ओजारो तथा पुराने एव बंधे हुए उत्पादन-साधनो से होनेवाली आय आभास-लगान, है, तथा स्वतन्त्र और चालू पूंजी से होनेवाली आय व्याज है। मार्शल ने यह भेद एक बडा अच्छा उदाहरण देकर सम-झाया है।[2] मान लो, एक झाडी मे आकाश से कुछ उलका पत्थर बरसते है, जो हीरो

[1] *Henderson*, Supply and Demand, p. 85.

[2] *Marshall*, Principles, p. 415-421.

से भी अधिक कडे है। मान लो, ये पत्थर ऐसे है कि प्रत्येक पदार्थ को काट सकते है। जिन लोगो के पास ये पत्थर होगे उनके पास एक प्रकार की सम्पत्ति हो जायगी। इस सम्पत्ति का उत्पादन लागत से कोई सम्बन्ध नही है। यह सम्पत्ति लगान की तरह है। मान लो, जितने पत्थर वरसे थे वे सब उठाये नही गये है। यदि अच्छी तरह खोज की जावे तो कुछ इधर-उधर पडे हुए मिल जावेगे और उनकी पूर्ति बढ जावेगी। यदि अल्पकाल मे इन पत्थरो की माँग बढती है, तो उनकी उपयोगिता के कारण उनका मूल्य भी बढेगा और लोग उन्हे बडे परिश्रम से खोजेगे। यह तब तक जारी रहेगी, जब तक कि उनकी पूर्ति इतनी बढ जायगी कि उनसे होनेवाली आय उनकी खोज पर खर्च होने वाली पूँजी और श्रम के बराबर है। यह आय आभास-लगान के समान है। अब इसके बाद मान लो इन पत्थरो की लगातार वर्षा होती है। अब जिनके पास ये पत्थर होगे, उन्हे दीर्घकाल मे अथवा अल्पकाल मे उनसे कोई विशेप लाभ (differential surplus) न होगा, क्योकि अब उन्हे कोई भी व्यक्ति प्राप्त कर सकता है ओर रख सकता है। अब उनसे जो लाभ होगा वह व्याज के समान होगा।

इसलिये लगान, व्याज और आभास-लगान एक दूसरे से मिले-जुले रहते है। उनमें केवल मात्रा या अंशो का अन्तर रहता है। लेकिन यह अशो का अन्तर इतना महत्व-पूर्ण है कि वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृप्टि से हम इसे किस्म' या प्रकार भेद भी कह सकते है। "प्रतियोगिता की परिस्थितियो के कारण जो एक अस्वाभाविक पूंजी बनती है, उस पर प्राप्त होनेवाली व्याज से कुछ ऐसी सामाजिक समस्याये उत्पन्न होती है, जो कि स्वाभाविक साधनो पर प्राप्त होनेवाले लगानजनित समस्याओ से भिन्न होती है।"[1] यह भेद कर-सम्बन्धी बातो में विशेप महत्त्व का होता है। आर्थिक व्याज पर कर लगाने से उसके विपरीत फल होते है। कर्ज पर उठनेवाली पूँजी की मात्रा घट जावेगी। परन्तु आर्थिक लगान पर कर लगाया जा सकता है। यदि सरकार पूरा आर्थिक लगान ले ले तो भी भूमि की पूर्ति की मात्रा पर उसका कोई प्रभाव नहीं पडेगा। "इसलिये भूमि के लगान को एक स्वतत्र वस्तु की तरह नही देखा जाता। बल्कि किसी प्राणी-परिवार समूह के एक बडे जीव की तरह देखा जाता है। यह बात अवश्य है कि उसकी कुछ अपनी ऐसी विशेपताये है, जिनका सिद्धान्त तथा व्यवहार की दृप्टि से बहुत महत्त्व है।"[2]

---

[1] *Taussig*, Principles of Economics, Vol. II, Chap 47.

[2] *Marshall*, Principles, Preface to the 1st Edition, p. *i*

अध्याय २१

मजदूरी
(Wages)

मजदूरी क्या है? (Nature of Wages)—मजदूरों को उनके काम या सेवाओं के लिये जो पारिश्रमिक दिया जाता है, उसे मजदूरी कहते हैं। कुछ बातों मे मजदूरी ब्याज और लगान से भिन्न होती है।

क्या मजदूरी की एक सर्वमान्य दर होती है।

ब्याज की एक शुद्ध दर होती है जो किसी बाजार में सब जगह एक-सी रहती है। मजदूरी की ऐसी कोई शुद्ध दर नही होती। मजदूरी की दर प्रति मनुष्य और प्रति स्थान पीछे अलगअलग होती है। ब्याज एकजातीय या एक-सा (homogeneous) होता है। परन्तु मजदूरी कई तरह की (heterogeneous) होती है। मजदूरी लगान से भी भिन्न होती है। लगान की परिमिति शून्य के ऊपर एक छोटी सी सख्या से लगाकर एक बहुत बडी सख्या या मात्रा मे हो सकती है। परन्तु मजदूरी मे इतना बडा अन्तर कभी नही हो सकता। मजदूरी की एक कम से कम हद या मात्रा होती है जो मनुष्य को जिन्दा रखने और उसे काम करने के योग्य बनाये रखने के लिये आवश्यक है। इस मात्रा से कम पर मजदूरी की दर नही जा सकती। मजदूरी और लगान मे एक अन्तर और है। लगान की एक सर्वमान्य दर का कोई अर्थ नही होता। परन्तु मजदूरी की सर्वमान्य दर (general rate) का अर्थ होता है। मजदूरी की सर्वमान्य दर इस अर्थ मे होती है कि बिलकुल निम्न श्रेणी मे जो कम दर होती है, उसमे और सर्वमान्य दर मे अपेक्षाकृत कम अन्तर होता है। और उच्च श्रेणी के जो कुशल मजदूर होते है, उनकी दर से बहुत अधिक नही होते। जिस प्रकार हम वस्तुओ के सामान्य सतह (general level) की बात करते है, उसी प्रकार एक दूसरे अर्थ मे मजदूरी की सामान्य दर की चर्चा कर सकते है। जिस तरह एक व्यापक दृष्टि से हम यह कह सकते है कि वस्तुओ के दाम बहुत ऊँचे है, अथवा गिरे हुए है, उसी प्रकार अधिकाँश वर्गों की मजदूरी की दर ऊँची अथवा कम होने से हम यह कह सकते है कि अधिकाँश वर्गों की मजदूरी की दर (रुपयों मे) ऊची अथवा नीची है। इसलिये मजदूरी लगान तथा ब्याज दोनो से भिन्न होती है।

वास्तविक मजदूरी और नाममात्र की मजदूरी (Real Wages and Nominal Wages)—उत्पादक अपने मजदूरो या कार्यकर्ताओ को हर हफ्ते अथवा

हर महीने कोई काम करने के लिये कुछ रुपये देते है। रुपयो की यह मात्रा जो एक मजदूर कोई काम करने के लिये पाता है, मौद्रिक मजदूरी या नाम की मजदूरी (nominal money or wage) कहलाती है। परन्तु मुद्रा तो केवल विनिमय का साधन है। उसकी आवश्यकता इसलिये होती है कि उसके बदले वस्तुए और सेवाये प्राप्त की जा सकती है। इसलिये मजदूरी मे प्राप्त रुपयो के बदले में मजदूर अपनी आवश्यकता की जो वस्तुएँ खरीदता है, वह उसकी वास्तविक मजदूरी है। श्रम के बदले मे जो रुपया मिलता है, वह तो मौद्रिक मजदूरी हुई और उस मुद्रा के बदले मे जो वस्तुएँ मिल सकती है, वह वास्तविक मजदूरी (real wages) हुई। इसलिये वास्तविक मजदूरी का अर्थ आवश्यकताओ, आराम तथा आनन्द की उस वस्तुओ से है, जिन्हे मजदूर अपनी मजदूरी के बदले में प्राप्त कर सकता है। ये वस्तुएँ मौद्रिक मजदूरी के सिवाय अन्य कई वस्तुओ पर निर्भर होती है।

वास्तविक मजदूरी निश्चित करनेवाली बातें (Factors Determining Real Wages)—मजदूर मजदूरी और भत्ते के रूप मे कुल जितना रुपया प्राप्त करता है वास्तविक मजदूरी इस कुल रकम के साथ ही मुद्रा की विशेषता पर निर्भर करती है। (१) वास्तविक मजदूरी निश्चित करनेवाली सबसे प्रधान ओर पहिली बात मुद्रा खरीदने की शक्ति (purchasing power of money) होती है। प्रत्येक मजदूर को मजदूरी रुपया, आना ओर पाई में मिलती है। पर रुपया-पैसा तो कोई खा नही सकता। एक रुपया बाजार मे जितना खरीद सकता है, वही उसकी वास्तविक मजदूरी होगी । हो सकता है कि रुपयो की दृष्टि से किसी देश में मजदूरी की दर ऊँची हो। परन्तु यदि उस देश में किसी अन्य देश की अपेक्षा वस्तुओं के भाव ऊँचे है, तो मजदूरी में अधिक रुपया मिलने पर भी उस देश के मजदूरो को वास्तविक लाभ नही होता। नये देशो में पुराने देशो की अपेक्षा मौद्रिक मजदूरी ऊची होती है, परन्तु वास्तविक मजदूरी में कोई विशेष अन्तर नही पडता। मुद्रा की खरीद-शक्ति जानने का सबसे अच्छा तरीका सूची-अंक (index number) है।

(२) मजदूरी देने का तरीका (form of payment) भी वास्तविक मजदूरी निश्चित करने में विचारणीय होता है। यद्यपि मजदूरी प्राय मुद्रा में दी जाती है, परन्तु उसके सिवाय वह कभी-कभी कुछ अन्य वस्तुएँ भी मजदूरी के रूप में पा सकते है।

(३) वास्तविक मजदूरी निश्चित करने मे कार्य काल की लम्बाई (the length of the working period) का भी विचार करना चाहिए। हफ्ते में कितने दिन काम होता है तथा पूरे वर्ष मे कुल कितने दिन काम हुआ, इन सबका

विचार करना चाहिए। रुपयो की दृष्टि से दो मजदूर वर्ष में एक बराबर पैदा करते है, परन्तु उनमे से एक कई महीनो तक बेकार रह सकता है। तब दूसरे मजदूर की वास्तविक मजदूरी पहिले मजदूर की अपेक्षा कम होगी।

(४) चौथी महत्वपूर्ण बात काम की किस्म (nature of employment) है। कई काम ऐसे होते है, जिनसे मजदूर का जीवन कम हो जाता है। काम का उसकी उम्र पर असर पडता है। जैसे रेलवे ड्राइवर और लोहा गलाने की भट्टी मे काम करनेवाले मजदूरो का काम उसी प्रकार का होता है। ऐसे लोगो की मौद्रिक मजदूरी ऊंची रहते हुए भी वास्तविक मजदूरी कम रहती है। परन्तु जिस काम में आराम और आनन्द मिलता है तथा सामाजिक सम्मान मिलता है, उसमें वेतन कम रहते हुए भी लोग उसे स्वीकार करना पसन्द करते है। वास्तविक मजदूरी का हिसाब लगाते समय हमे इन बातो का विचार करना पडता है।

(५) कुछ अतिरिक्त उपार्जन (extra earnings) करने की सभावना का भी विचार करना पडता है। यदि किसी पेशा में काम करने के घंटे कम है, तो मजदूर अपने बाकी समय में उसी धंधे से लगे हुए किसी अन्य काम में कुछ घंटे काम करके कुछ कमा सकता है। जैसे, शिक्षक समाचार पत्रो मे लेख लिखकर अपनी आय बढा सकते हैं।

(६) काम का स्थायीपन अथवा नियमितता (regularity of employment) किसी मजदूर की वास्तविक मजदूरी निश्चित करने मे महत्वपूर्ण होती है। यदि काम पूरे वर्ष भर के लिये मिलता है, तो उसमें मौद्रिक मजदूरी कम होने पर भी वह उस काम से अच्छा है, जिसमें मौद्रिक मजदूरी तो अधिक है, पर काम केवल कुछ महीनो के लिये है।

सफलता की सभावना, भविष्य मे तरक्की पाने की आशा तथा मालिक का अच्छा बरताव ऐसी बाते है, जिनसे प्रभावित होकर मजदूर कम मजदूरी पर भी काम करने को तैयार हो जायगा और अन्य स्थान पर ऊँची मजदूरी पर काम नही करेगा। जब हम विभिन्न कालो और स्थानो में मजदूरो की आय की तुलना करते है, तब मौद्रिक मजदूरी और वास्तविक मजदूरी में अन्तर जानना आवश्यक हो जाता है। जब मौद्रिक मजदूरी की अपेक्षा वास्तविक मजदूरी ऊँची रहती है, तभी मजदूर सुखी और उन्नतिशील होते है।

मजदूरी कैसे निश्चित होती है

(How Wages are Determined)

जीवन-निर्वाह सिद्धान्त (The Subsistence Theory)—मजदूरी के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहिले फ्रान्स के कुछ अर्थशास्त्रियो ने किया था। इन अर्थशास्त्रियो को भूमि प्रधानतावादी (physiocratic) कहते थे, क्योंकि ये लोग भूमि को ही सम्पत्ति का आधार मानते थे। अठारहवी शताब्दी में इस मत का फ्रास मे बडा जोर था। लेसल (Lassalle) नामक जर्मन अर्थ-शास्त्री ने इस सिद्धान्त को 'मजदूरी का लोह नियम' (The Iron Law of Wages or the Brazen Law of Wages) का नाम दिया।

इस सिद्धान्त का कहना है कि मजदूरी मालिको और मजदूरो के बीच मोल-भाव के आधार पर निश्चित होती है। चूंकि मालिक थोडे से होते है, इसलिये वे आपस में मिल जाते है और अपने मनचाही दर से मजदूरी देते है। मजदूरो के पास पहिले से कोई सचित धन नही रहता। इसलिये मालिक अथवा उत्पादक जो भी मजदूरी देते है, वह मजदूरो को स्वीकार करनी पडती है। परन्तु मजदूरी की दर जीवन-निर्वाह की सतह से नीचे नही आ सकती। जीवन-निर्वाह की सतह वह है, जिससे मजदूर तथा उसका कुटुम्ब काम करने के लिये केवल जीवित रह सकते है। एक पीढी के बाद मृत्यु सख्या मजदूरो की सख्या कम कर देगी। मृत्यु दर से जो कमी होगी वह नई जन्म दर से पूरी नही होगी। मजदूरो की जितनी मॉग होगी, उतनी पूर्ति नही होगी। इसमे मजदूरी की दर बढेगी। परन्तु वह दर जीवन-निर्वाह की सतह से ऊपर नही उठेगी। यदि उठती है, तो मजदूर जल्दी शादी करेगा और मजदूरो की सख्या फिर बढेगी। अब मजदूरो की पूर्ति मॉग से अधिक हो जायगी और मजदूरी की दर फिर गिरकर जीवन-निर्वाह की सतह पर आ जायगी।

जाहिर है कि यह सिद्धान्त मॉल्थस के जनसख्या के आधार पर बना हुआ है। परन्तु इस सिद्धान्त में गलती यह है कि यह कहता है कि मजदूरी बढने से जन-सख्या अवश्य बढेगी। जैसा पहिले बतला चुके है, यह अनुमान गलत है। मजदूरी बढने से मजदूरो के रहन-सहन का दर्जा बढ सकता है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध दूसरी आलोचना यह हो सकती है कि कुछ अपवादो को छोडकर जीवन-निर्वाह की सतह सब वर्गों के मजदूरो में प्राय एक-सा होता है। इसलिये विभिन्न वर्गों के मजदूरो में मजदूरी की दर का जो अन्तर होता है वह इस सिद्धान्त से नही समझाया जा सकता। अन्त में यह सिद्धान्त श्रम की पूर्ति पर अधिक जोर देता है। मजदूरी निश्चित करने में मॉग भी एक महत्त्वपूर्ण बात होती है। परन्तु मॉग की ओर यह सिद्धान्त ध्यान नही देता।

यह सिद्धान्त मॉल्थस के जनसख्या के सिद्धान्त के आधार पर बना है।

जीवन-स्तर और मजदूरी (The standard of living and wages)—उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे जीवन-निर्वाह के विचार की मान्यता खतम हो गई और उसके स्थान मे जीवन-स्तर के विचार को मान्यता प्राप्त हुई। इस विचार का तत्त्व यह था कि मजदूरी जीवन-निर्वाह के सतह तक नही बल्कि जीवन-स्तर के सतह के बराबर स्थिर होती है। किसी वर्ग के मजदूरो के जीवन के रहन-सहन का जो दर्जा होता है, उसी के बराबर प्राय उनकी मजदूरी भी होती है। मजदूरी निश्चित होने मे रहन-सहन का दर्जा प्रधान कारण होता है। मजदूरो के किसी समूह को केवल जीवन-निर्वाह योग्य मजदूरी मिलनी पर्याप्त नही है, जिससे वे कुटुम्बियो सहित जीवन-निर्वाह कर सके। बल्कि उन्हे इतनी मजदूरी मिलनी चाहिए कि जिस ढंग से रहने की उनकी आदत है, उस ढग से रहने मे समर्थ हो सकें। वास्तव मे यह सिद्धान्त जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त का एक सशोधित रूप है। जीवन-स्तर का अर्थ जीवन-निर्वाह के स्तर से कही अधिक व्यापक होता है। उसका अर्थ केवल जीवन की आवश्यकाताओ से नही है। उसमे कुछ शिक्षा पाने की सभावना तथा कुछ आराम एव नियमित रूप से विश्राम पाने की सभावना भी शामिल है।

एक दृष्टि से यह सिद्धान्त सत्य कहा जा सकता है। मजदूरी की सतह पर जीवन-स्तर दो प्रकार से प्रभाव डाल सकता है। पहिला यह कि "यदि मजदूरो का एक निश्चित जीवन-स्तर है, तो वे दृढतापूर्वक उसी के अनुसार उपयुक्त मजदूरी भी माँगेगे।' लेकिन यह ध्यान रहे कि इन तरीको से मजदूरी मजदूरो के सीमान्त मूल्य (marginal worth) के ऊपर नही रखी जा सकती। दूसरा यह कि जीवन-स्तर मजदूरो की सीमान्त उत्पादन-शक्ति पर प्रभाव डाल कर उनकी मजदूरी पर भी प्रभाव डाल सकता है। यह दो प्रकार से सभव है। यह तो सभी जानते है कि मजदूरो के जीवन-स्तर और कार्य-क्षमता अर्थात् योग्यता मे घना सबध होता है। यदि रहन-सहन का दर्जा ऊंचा है, जिससे मजदूर अच्छा भोजन पाते है, अच्छे मकानो मे रहते है, चिन्ताओ से मुक्त रहते है, इत्यादि तो उनकी काम करने की योग्यता बहुत बढ जाती है। तीसरे, जनसख्या सीमित करके जीवन-स्तर सीमान्त उत्पादन शक्ति पर प्रभाव डाल सकता है। यदि मजदूरी जीवन-स्तर से कम है, तो मजदूर शादी करना और बच्चे उत्पन्न करना पसन्द नही करेगे। तब उस समूह मे मजदूरो की पूर्ति कम हो जायगी और मजदूरी की दर बढ जायगी।

परन्तु जैसा कुछ लोगो का मत है, यदि इस सिद्धान्त का यह अर्थ है कि जीवन-स्तर प्रत्यक्ष रूप से (directly) मजदूरी निश्चित करता है, तो इस सिद्धान्त की कई दृष्टियो से आलोचना की जा सकती है। पहिली आलोचना यह है कि मजदूरी की ऊची दर निश्चित करने वाली कई शर्तों में से जीवन-स्तर केवल एक है। उद्योग की उच्च उत्पादन शक्ति, उत्पादन कला मे सुधार, पूँजी की वृद्धि इत्यादि

अन्य शर्तें हैं। दूसरे जीवन का उच्च स्तर और मजदूरी की उच्च दर हमेशा एक दूसरे पर निर्भर रहती है। जिस प्रकार उच्च जीवन-स्तर के कारण मजदूरी बढ सकती है, उसी प्रकार उच्च स्तर बनाये रखने के लिये मजदूरी की ऊँची दर भी पहिले आवश्यक होती है। तभी तो जीवन-स्तर ऊँचा हो सकेगा। इस प्रकार यह एक चक्रमय तर्क है। दोनो एक दूसरे के कार्य और कारण हैं। तीसरे, कनान (Cannan) का मत है कि मानव सभ्यता का इतिहास यह बतलाता है, कि जैसे-जैसे सभ्यता का विकास हुआ है, वैसे-वैसे मनुष्य की आय भी बढती गई है। इस सिद्धान्त के समर्थक यह नही कह सकते कि जीवन का स्तर ऊँचा बढ़ने से मजदूरी बढती है, क्योंकि जीवन स्तर के विचार का सार यह है कि वह एक ऐसी वस्तु है कि उसके अनुसार रहने की मजदूरो को आदत पड गई है। अन्त में यह सिद्धान्त श्रम की माँग पर विचार नही करता और न इस बात का विचार करता है कि मजदूरी की दर पर माँग का क्या प्रभाव पड़ता है। यह केवल पूर्ति का सिद्धान्त है और इस कारण एकाँगी है।

कुछ शर्तो के साथ हम इस सिद्धान्त को स्वीकार कर सकते है कि मजदूरी पर जीवन स्तर का प्रभाव प्रधानत अप्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष वह केवल उस हद तक है, जिस हद तक कि जीवन-स्तर मजदूरो की कार्य-सम्बन्धी योग्यता बढाता है और इस कारण से पूरे उद्योग की उत्पादन शक्ति भी बढाता है और साथ ही जहाँ तक वह मजदूरो की मजदूरी की दर के सबध में मोल-भाव करने की शक्ति बढाता है।

अवशिष्ट अधिकार का सिद्धान्त (Residual Claimant Theory)—वाकर (Walker) का मत है कि मजदूर किसी उद्योग के उत्पादन के अवशिष्ट का अधिकारी है। उत्पादन में से लगान, व्याज और लाभ घटाने के बाद जो कुछ बच रहता है, वह मजदूरी के बराबर है। लगान, व्याज और लाभ अपने-अपने नियमो के अनुसार निश्चित होते हैं। परन्तु मजदूरी निश्चित करने का कोई विशेष नियम नहीं है। इसलिये लगान, व्याज और मुनाफा काटने के बाद जो कुछ बच रहता है, वह मजदूर को मिलना चाहिए। यदि मजदूरो की योग्यता के कारण उत्पादन बढता है, तो उन्हे मजदूरी का रूप अधिक मिलेगा। इस सिद्धान्त में अच्छी बात यह है कि वह मजदूरो के भविष्य के बारे मे उतना निराशापूर्ण नहीं है, जितना जीवन-निर्वाह का सिद्धान्त है। वास्तव मे यह उत्पादन शक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त है, क्योंकि उसका कहना है कि मजदूर अपने उत्पादन से मजदूरी पाते हैं। अर्थात् राष्ट्रीय आय मे वे जो कुछ जोडते है, उसी में से अपनी मजदूरी प्राप्त करते है। मजदूर जितना अधिक उत्पन्न करेगा उतना अधिक उसे मिलेगा।

परन्तु इस सिद्धान्त में निम्नलिखित त्रुटियाँ है। (अ) यह सिद्धान्त इस बात को नही समझा पाता कि समय-समय पर ट्रेड यूनियन या मजदूर सघ किस प्रकार मजदूरो

को सगठित करके मजदूरी बढवा लेते है। (ब) मजदूरो की माँग और पूर्ति के सबंध मे यह सिद्धान्त उनकी कमी या बहुतायत का विचार नही करता। साथ ही मजदूरी की दर निश्चित करने मे वह श्रम की पूर्ति का विचार नही करता।(स) यदि तुम लगान, व्याज और लाभ को माँग तथा पूर्ति के सिद्धान्त की सहायता से अथवा सीमान्त उत्पादन के सिद्धान्त के आधार पर समझा सकते हो तो मजदूरी को भी उसी प्रकार समझा सकते हो और निश्चित कर सकते हो।

मजदूरी-कोष का सिद्धान्त (Wages-Fund Theory)–ऑडम स्मिथ इस सिद्धान्त का जन्मदाता था, परन्तु इसका पूर्ण विकास मिल के द्वारा हुआ। मिल का मत था कि "मजदूरी श्रम की माग और पूर्ति पर निर्भर करती है। अथवा जैसा कहा जाता है, वह जनसख्या और मजदूर सख्या के अनुपात पर निर्भर करती है। यहाँ जन-सख्या से तात्पर्य केवल मजदूर वर्ग से है। अर्थात् केवल वही लोग जो किराये पर काम करते है। पूंजी से तात्पर्य सचल पूंजी से है। वह भी कुल सचल पूंजी नही वल्कि उसका भाग जो कि श्रम खरीदने मे प्रत्यक्ष रूप से खर्च किया जाता है।" मजदूर कोष अथवा पूंजी का वह भाग जो प्रत्यक्ष रूप से मजदूरी खरीदने में खर्च किया जाता है बँधा हुआ या निश्चित रहता है और वह भूतकाल में बचत करने से सचित होता है। यह कोष श्रम की माग बतलाता है, यदि इस कोष मे श्रमिको की सख्या का भाग दे दिया जाय तो मजदूरी की औसत दर निकल आवेगी। इससे यह तात्पर्य भी निकलता है कि यदि मजदूरी की दर में आम वृद्धि होनी है, तो दो में से एक चीज अवश्य होनी चाहिए। या तो कोष की वृद्धि होनी चाहिए अथवा श्रमिको की सख्या या पूर्ति मे कमी होनी चाहिए। परन्तु कोष की वृद्धि धीरे-धीरे होती है, क्योंकि बचत भी तो धीरे-धीरे होती है। इसलिये दूसरी बात स्वयसिद्ध-सी हो जाती है कि यदि मजदूरो को अपनी उन्नति करनी है, तो उन्हे अपने बच्चो की सख्या सीमित करनी चाहिए।

इस सिद्धान्त की आलोचना लॉगे (Longe) और थार्नटन (Thornton) ने की, और थार्नटन की कडी आलोचना के ही कारण मिल ने अपना सिद्धान्त गलत मान लिया। बाद मे सन् १८७४ मे केर्न्स (Camres) ने इस सिद्धान्त को समर्थन करने का प्रयत्न किया। मिल का मत था कि श्रम की माग सचल पूँजी (circulating capital) की मात्रा के आधार पर निश्चित होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुओ की माँग श्रम की माँग नही है। अर्थात् जब लोग वस्तु खरीदते है तो वे रुपया खर्च करते है। परन्तु श्रम की माँग उनकी बचत के एक अश से होती है, जो कि सचल पूँजी मे सम्मिलित होती है। अर्थात् उनकी बचत सचल पूँजी का एक अश होती है। यह मत भी यथार्थ नही है। श्रम की माँग निर्भर माँग (derived demand) होती है, अर्थात् वह अन्त में वस्तुओ की माँग से उत्पन्न होती है। जब वस्तुओ की माँग बढी हुई रहती है,

तो व्यवसायी अच्छी बिक्री की आशा करते हैं और मजदूरो को अधिक काम देने को तैयार रहते हैं। जब व्यवसाय में मन्दी रहती है, तब इसके विरुद्ध होता है। फिर जब लोग अपनी सब आय खर्च कर देते है, तब श्रम का उपयोग उपभोग की पूर्ति ओर तैयार वस्तुएँ बनाने में होता है। जब लोग बचत करते है ओर अपनी बचत व्याज या लाभ पर लगाते है, तब श्रम का उपभोग उत्पादन की वस्तुएं बनाने मे होता है। इसलिये खर्च ओर बचत में जो अन्तर होता है, उससे मालूम होता है कि श्रम का उपयोग किस दिशा मे किया जायगा। हाँ, यह बात अवश्य है कि यदि लोगो ने अधिक बचत की होती ओर उसे व्याज पर लगाया होता तो मशीनो, ओजारो ओर कारखानो की संख्या अधिक होती और उन्नति होती। इससे उत्पादन-शक्ति बढती और मजदूरो की भी उन्नति होती। इस सिद्धान्त को घुमा-फिराकर की गई व्याख्या मे शायद यही एक सत्य है।

मजदूरी पर दिया जाने-वाला कोष निश्चित नही रहता।

परन्तु इस सिद्धान्त की सबसे महत्वपूर्ण आलोचना यह है कि बहुत थोडे अल्पकाल को छोडकर मजदूरी-कोष पहिले से निश्चित ओर बँधा हुआ नही रहता। कोष को हम रुपयो की मात्रा के रूप मे भी मान सकते है ओर वस्तुओ की मात्रा के रूप मे भी। किसी भी देश के कोष की मुद्रा की मात्रा बहुत ही लोचदार होती है, क्योंकि वह हानि और लाभ की आशा तथा बैक की नीति पर निर्भर रहती है। जब व्यवसाय अच्छा चलता है और उत्पादक अधिक लाभ की आशा करते है, तब वे अधिक मजदूर काम पर लगाने के लिये अधिक रुपया कोष में रखेंगे। परन्तु जब व्यवसाय में मंदी रहती है, तब यह काम धीमा हो जाता है। इसी प्रकार मजदूरो के लिये वस्तुओं की मात्रा अथवा सचल पूंजी की मात्रा निश्चित रूप से बँधी नहीं हुई रहती। कुछ समय के लिये वस्तुओ की मात्रा निश्चित या बँधी हुई रह सकती है। वह इस प्रकार की मजदूरो के जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक अन्न की मात्रा एक ऋतु के लिये बँधी हुई रहती है। परन्तु वह हमेशा के लिये निश्चित नहीं रहती। इसी प्रकार सचल पूंजी की मात्रा बहुत ही लोचदार होती है। वह बचत करनेवाले तथा व्याज पर लगानेवाले लोगो के कार्यों के अनुसार जल्दी-जल्दी बदलती रहती है। कभी लोग अपनी आय को व्याज पर लगाना अधिक लाभदायक समझते है, और आय का अधिकांश पूंजी के रूप में लगा देते हैं। कभी वे अपनी आय को एक कीमती मोटरकार अथवा सैर-सपाटे मे खर्च करना पसन्द करते है। इसलिये मजदूरी कोष बहुत अधिक लोचदार कोष है। उसकी वास्तविक मात्रा लाभ की आशा से मजदूरो को काम देने पर निर्भर करती है। सच तो यह है कि कोष से मजदूर जो कुछ प्राप्त करते है, वह इस बात पर निर्भर करता है कि वे स्वय अपने श्रम द्वारा उसमे कितना देगे। अर्थात् उसकी कितनी वृद्धि करेंगे। साथ ही मजदूरो का अंश उत्पादको की आपस की प्रतिद्वन्द्विता पर भी निर्भर करता है।

यदि मजदूरों की कार्य सम्बन्धी योग्यता बहुत अच्छी है, तो राष्ट्रीय आय भी अधिक होगी और मजदूरो को मिलनेवाला भाग भी अधिक होगा।

सीमान्त उत्पादन शक्ति और मजदूरी[1] (Marginal Productivity and Wages)—मजदूरी का आधुनिक सिद्धान्त मूल्य के मूल तत्वो के आधार पर मजदूरी के अध्ययन द्वारा बना है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति के लिये किसी वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उपयोगिता के बराबर होता है, उसी प्रकार श्रम की पूर्ति की मात्रा दी हुई हो तो किसी उत्पादक के लिये मजदूरी की दर श्रम की एक इकाई की उत्पादन शक्ति के बराबर होगी। श्रम की एक इकाई की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति उस उत्पत्ति के मूल्य के बराबर होती है, जो व्यवसाय मे श्रम की एक इकाई जोड़ने या घटाने से प्राप्त होती है। यह मान लिया जाता है कि उत्पादन के दूसरे सहयोगी साधनो की पूर्ति वही रहती है और व्यवसाय का सगठन सब परिस्थितियो मे पूर्ण किफायत के साथ किया जाता है। यदि यह मान लिया जाय कि उत्पादन के अन्य सहयोगी साधनो की पूर्ति में कोई परिवर्तन न होगा और श्रम के उत्पादन के मूल्य मे भी कोई परिवर्तन न होगा तो किसी फर्म मे श्रम की इकाइया अधिकाधिक सख्या मे लगाने से उत्पादन घटती हुई दर से होगा। उत्पादक श्रम की अधिकाधिक इकाइया लगाता जायगा। प्रति मजदूर पीछे उत्पादन घटता जाता है। तब एक बिन्दु ऐसा आयेगा, जहा श्रम की एक अधिक इकाई द्वारा प्राप्त उत्पत्ति का मूल्य उस मजदूर को दी जानेवाली मजदूरी की दर के बराबर होगा। श्रम की वह इकाई सीमान्त इकाई होगी। और चूंकि अनुमान के अनुसार सब इकाइयो की कार्यक्षमता एक बराबर होती है, इसलिये उस सीमान्त इकाई की मजदूरी की दर अन्य सब इकाइयो की मजदूरी की दर निश्चित कर देगी। यदि मजदूरी की दर श्रम की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति से अधिक है, तो उत्पादक मजदूरो की सख्या में छटनी कर देंगे, अर्थात् वे कम मजदूर काम पर रखेगे। इसी प्रकार यदि मजदूरी वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति के ऊपर है, तो उत्पादक अधिक मजदूरो को काम पर लेंगे। इसलिये साम्य स्थापित करने के लिये जिससे व्यवसाय न बढे ओर न घटे मजदूरी का श्रम की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति के बराबर रहना आवश्यक है।

इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि यह आवश्यक नही है कि सीमान्त मजदूर कार्य मे अयोग्य होता है, वह "सामान्य योग्यता का मजदूर होता है। उसके अतिरिक्त उत्पादन से उत्पादक को (मजदूरी देने के बाद) सामान्य लाभ भी बच रहता है। इससे अधिक नही।" वह सीमान्त इस अर्थ मे होता है कि उसके लेने से मजदूरो की सख्या इतनी हो जाती है, जितनी वर्तमान दर पर उत्पादक काम पर रखना उचित समझता है।

इस सिद्धान्त की कई आलोचनाएँ की गई है।[2] इनमें प्रमुख आलोचना यह है कि पूर्ति के पक्ष में जो प्रभाव काम करते है, उनका यह सिद्धान्त विचार नही करता।

1–2 अध्याय अट्ठाईस देखो।

मजदूरी केवल किसी साधन के लिये दी जानेवाली कीमत नही है। वह एक मजदूर की आय भी है और इस कारण मजदूर की योग्यता पर उसका प्रभाव पडता है। मजदूरी का केवल मजदूर के वास्तविक सीमान्त उत्पादन के बराबर होना आवश्यक नही है, बल्कि उसे इतना होना चाहिये कि वह अपनी रहन-सहन का स्तर बनाये रखे। यदि मजदूरी मजदूरो का जीवन-स्तर बनाये रखने मे समर्थ नही होती तो रहन-सहन का दर्जा गिर जायगा ओर उसके कार्य की योग्यता कम हो जायगी, जिससे उसकी वास्तविक सीमान्त उपज घट जायगी। अथवा जन्म-सख्या कम हो जायगी, जिससे मजदूरो की सख्या घटेगी ओर श्रम की पूर्ति घटेगी। इससे वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति बढेगी। इसलिये पूर्ति के पक्ष मे मजदूरो के प्रभावो का विचार हमे करना ही पडेगा।

मजदूरी और अपूर्ण प्रतियोगिता।

ध्यान रहे कि यह सिद्धान्त इस बात को मान लेता है कि श्रम के बाजार मे पूर्ण प्रतियोगिता है। परन्तु वास्तविक जीवन मे श्रम के बाजार मे प्रतियोगिता शायद ही कभी पूर्ण होती हो। सब जगह श्रमिको के विरुद्ध मालिको मे एक प्रकार का आपस मे समझौता-सा रहता है। परन्तु इसके विरुद्ध यदि मजदूर आपस मे मिलकर एक मजबूत ट्रेड यूनियन अर्थात् मजदूर सभा का सगठन कर ले तो श्रम की पूर्ति मे वे एकाधिकार प्राप्त कर सकते है। चूँकि श्रम के बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता रहती है, इसलिये मजदूरी की वास्तविक दर वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति से भिन्न रहेगी। साथ ही उद्योग मे, उत्पादन कला मे आविष्कारो इत्यादि के कारण जो उन्नति होती है, उसका भी हमें ध्यान रखना पडेगा, क्योकि मुख्यत. इन्ही के कारण मजदूरी की दरो मे उन्नति हुई है। साथ ही हमे उत्पादन के अन्य साधनो की पूर्ति में जो उन्नति हुई है, उसकी ओर भी ध्यान देना चाहिये। पूंजी की ओर विशेपरूप से ध्यान देना चाहिये, क्योकि उद्योगो मे पूंजी की बढती अवश्य होती है। इसलिये यह सिद्धान्त कई चीजो को यथास्थित मान लेता है। इसीलिये यह सिद्धान्त मजदूरी को पूर्णरूप से नही समझाता। "मजदूरी पर प्रभाव डालनेवाले कई कारणो में से केवल एक पर वह अच्छी तरह प्रकाश डालता है।"

मजदूरी के सिद्धान्त पर कुछ हाल के विचार (Recent Advances in Wage Theory)—अब लोग अधिकाधिक रूप मे स्वीकार करने लगे है कि श्रम के बाजार मे अपूर्ण प्रतियोगिता रहती है। उद्योगो के केन्द्रीभूत होने के कारण श्रम के खरीदारो की कुल सख्या कभी बडी नही होती। साथ ही श्रम-बाजार कई छोटे-छोटे अथवा उप-बाजारो मे बट जाते है। इनमे से प्रत्येक में श्रम के खरीदारो की सख्या बहुत छोटी रहती है। पश्चिमी दुनिया के सभ्य देशो में मजदूरो ने अपने बडे मजबूत और सुसगठित मजदूर सगठन बना लिये है। इसलिये श्रम की बिक्री एकाधिकार के रूप मे हो गई है। मजदूर सगठन सामूहिक रूप से उत्पादको के साथ अथवा उत्पादको के सगठनो के साथ मजदूरी की दर तय करने के लिये सौदा करते है। इसलिये श्रम बाजार

मे एकाधिकार के साथ-साथ प्रतियोगिता देखने में आती है। कही-कही एक मजदूर-सघ उत्पादको के एक सघ के साथ सोदा कर सकता है। कही-कही कुछ उत्पादक कुछ मजदूर सघो के साथ सोदा कर सकते है। मजदूरी की वास्तविक दरे प्राय इन प्रभावो के परिणामस्वरूप निश्चित होती है।

जब किसी वस्तु के अथवा किसी श्रम के खरीदार थोडे ओर विक्रेता अधिक रहते है, तब उसका जो फल होता है, उसे हम पहिले से देख चुके है। मान लो, एक कोयला क्षेत्र मे एक एकाधिकारी उत्पादक है और वह कुछ मजदूरो को काम पर लेना चाहता है। हम देख चुके है कि किसी प्रतियोगितावादी उत्पादक की अपेक्षा एक एकाधिकारी उत्पादक कम उत्पादन करेगा, थोडे से मजदूर काम पर लगावेगा ओर उन्हे कम मजदूरी देगा। ऐसा वह इसलिये करेगा कि यदि वह अधिक मजदूर लगाकर अधिक उत्पादन करना चाहे तो उसे ऊची मजदूरी देनी पडेगी, जिससे अधिक मजदूर काम पर आ सके। मजदूरी की दर बढाने से उसके उत्पादन की सीमान्त लागत बढती जायगी। जब सीमान्त लगात सीमान्त आय के बराबर एक ऊची सतह पर होगी, तब मजदूरी की दर श्रम की वास्तविक सीमान्त उत्पादक शक्ति से कही अधिक कम होगी, क्योकि उस बाजार मे श्रम की गतिशीलता (mobility) कम हो जायगी।

जब श्रम के थोडे से खरीदार होगे तो मजदूरी पर उनका प्रभाव इस बात द्वारा पडेगा कि उनके कामो मे अथवा नीति मे एकता कहां तक है। यदि उनमें आपस में पूर्ण एकता है, तब मजदूरी की दर पर एकाधिकार के समान प्रभाव पडेगा। यदि उनमें एकता नही है, तो मजदूरी एकाधिकार की सतह से ऊंची रहेगी। परन्तु वास्तविक दर अनिश्चित रहेगी।

मजदूरी और सामूहिक सौदा (Wages and collective bargaining).—ट्रेड यूनियनो द्वारा मजदूर अब सगठित हो गये है ओर उत्पादको से अब वे सामूहिक रूप मे सौदा करते है। इन विक्रेताओ का एकाधिकार हो सकता है या नही, यह बात इन मजदूर सघो की नीति पर निर्भर होगी। यदि मजदूर सघ 'बन्द दूकान' की नीति (method of 'closed shop') सफलतापूर्वक बरत सकते है, तो मजदूरी की दर प्रतियोगिता की सतह के ऊपर उठाई जा सकती है। यहाँ हम केवल दो स्थितियो पर विचार करेगे, यद्यपि यह स्मरणीय है कि अन्य अवसरो पर अन्य सम्भावनाएँ भी उपस्थित हो सकती है। हम सबसे पहिले श्रम के बाजार मे एकाधिकारी विक्रेता के मामले पर विचार करेगे जिसमें खरीदारो में कोई प्रतियोगिता नही है। दूसरी स्थिति मे श्रम के विक्रेताओ को एकाधिकार प्राप्त हो सकता है ओर खरीदार भी एकाधिकारी हो सकता है।

पहली स्थिति तब सभव है जब अनेक छोटी फर्मोवाले बडे उद्योग मे सामूहिक सौदे की प्रणाली लागू कर दी जाय। सामूहिक सोदे का आमतोर पर स्वाभाविक परिणाम

मजदूरी की दर मे वृद्धि होता है क्योकि यदि मजदूरी की दर मे वृद्धि करने का प्रश्न न हो तो मजदूरो का ट्रेड यूनियनो मे सगठित होना सभव नही होता। मजदूरी मे इस का क्या प्रभाव पडेगा यह आशिक रूप से इस बात पर निर्भर करता है कि वृद्धि कितनी हुई है और पहिले जो मजदूरी दी जाती थी वह श्रम के सीमान्त उत्पादन के बराबर थी या उससे कम थी। यदि पहिले मालिक जो मजदूरी देते थे वह श्रम के सीमान्त उत्पादन से कम थी और ट्रेड यूनियनो ने इस दर को श्रम के सीमान्त उत्पादन की सतह बढाने के लिए विवश किया तो इसका प्रभाव लाभदायक होगा। यदि सामूहिक सौदे के बल पर मजदूरी की दर श्रम के सीमान्त उत्पादन की सतह से अधिक हो जाती है तो इसके फलस्वरूप प्रत्येक फर्म मे नियुक्त किये जाने वाले मजदूरो की सख्या मे कमी हो जायगी। रोजगार मे किस हद तक कमी आयेगी यह इस बात पर निर्भर करेगा कि श्रम का सीमान्त उत्पादन किस दर से गिरता है। यदि उत्पादित वस्तु की माँग बेलोच है तो रोजगार मे घटती को कुछ हद तक कम किया जा सकता है। रोजगार की मात्रा मे गिरावट आने से उत्पादन की मात्रा गिर जाती है और यदि माँग बेलोच होती है तो उत्पादित वस्तु की कीमत मे वृद्धि हो जायगी। इससे श्रम के सीमान्त उत्पादन का मूल्य बढ जायगा। ऐसी स्थिति मे रोजगार की मात्रा उस हद तक नही गिरेगी जहाँ तक पूर्ति की मात्रा मे गिरावट के साथ ही वस्तु की कीमत न बढने पर गिर सकती थी।

दूसरी स्थिति तब पैदा हो सकती है जब मालिक भी सघबद्ध हो ट्रेड यूनियनो के साथ सामूहिक सौदा करने लगे। यदि मजदूरो से सौदा करने के लिये उत्पादक भी अपना सगठन करे तो फिर दोतरफा एकाधिकार (bilateral monopoly) की कडी परिस्थिति आ जायगी। तब मजदूरी की वास्तविक दर एकाधिकारी विक्रेता की ऊँची हद और एकाधिकारी खरीदार द्वारा रखी हुई वस्तु बहुत नीची हद के बीच मे कही होगी।[1]

प्रो० टॉसिग का सिद्धान्त–प्रो० टॉसिग का मत है कि श्रम के सीमान्त उत्पादन मे बट्टा, दस्तूरी अथवा उपहार देने के बाद जो कुछ बच रहता है, वही मजदूरी है, (wages stand for the marginal discounted product of labour) वह सीमान्त उत्पादन शक्ति का सिद्धान्त स्वीकार नही करते। क्योकि उनकी राय मे ऐसी कोई वस्तु नही है, जिसे श्रम की अथवा पूँजी की उत्पत्ति कही जा सके। प्रत्येक वस्तु सयुक्त उत्पत्ति होती है और वह श्रम और पूँजी के सहयोग से बनती है। इस सयुक्त उत्पादन मे यह बतलाना असभव है कि इतना उत्पादन पूँजी द्वारा हुआ है और इतना श्रम के द्वारा। वह तो एक कदम आगे बढ जाते है और कहते है कि स्वय पूँजी उत्पादन

---

[1] *Stigler*, The Theory of Price, p 291-301 *A N. Ross*, "The Trade Union as a Wage-Fixing Institution," American Economic Review, Sept 1947, p. 566-86

का स्वतन्त्र साधन नही है, पूंजी भूतकाल के श्रम का रूप है। भूतकाल के श्रम के ये फल अर्थात् उत्पादन के साधन (capital goods) कुछ लोगों के अधिकार में आ गये है। इन्हे वह पूंजीपति-उत्पादक (capitalist-employer) कहते है। इस प्रकार पूंजी गत श्रम का एक रूप है। यद्यपि सगठन एक अलग साधन है, परन्तु उसका लाभ अथवा पारिश्रमिक 'केवल एक प्रकार की मजदूरी है'।[1] इसलिये चाहे मजदूरी भूतकाल की हो, चाहे वर्त्तमानकाल की, चाहे वह किराये की हो, अथवा स्वतन्त्र, उनकी दर एक ही प्रकार के सिद्धान्तो द्वारा निश्चित होगी।

सीमान्त उत्पादन का अर्थ।

भूत और वर्तमान तथा किराये की और स्वतन्त्र सब प्रकार के श्रम सहयोग से सीमान्त भूमि पर अर्थात् जिस पर लगान नही देना पडता, सयुक्त उत्पादन होता है। आर्थिक दृष्टि से चूकि सीमान्त भूमि उत्पादन मे किसी प्रकार का योग या वृद्धि नही करती, इसलिये टॉसिग इस उत्पादन को सब प्रकार के श्रम का सीमान्त उत्पादन कहते है। सीमान्त उत्पादन दो प्रकार से मापा जा सकता है। एक तो वह श्रम की एक विशिष्ट इकाई का उत्पादन हो सकता है, तब वह निश्चित रूप से मापा जा सकता है—"आप उस पर अपनी उंगली रखकर बतला सकते है कि यह इतना है।" इसे विशिष्ट सीमा (discrete margin) कहते है, दूसरे प्रकार के सीमान्त उत्पादन को 'विचारात्मक' (conceptual) उत्पादन कहते है, यह कुल मात्रा में की गई वृद्धि होती है, यह वृद्धि 'कई इकाइयो मे से किसी भी इकाई द्वारा हो सकती है, फिर भी किसी एक विशिष्ट इकाई द्वारा नही होती' (by 'any one of a number of units, yet from no particular one') जब किसी कारखाने में मजदूरो का एक समूह काम पर लगाया जाता है, तो कुल उत्पादन की मात्रा बढ जाती है। परन्तु हम प्रत्येक मजदूर की उत्पादन की मात्रा विशिष्ट रूप मे नही बतला सकते। हम किसी वस्तु पर उँगली रखकर यह नहीं कह सकते कि यह वस्तु इस मजदूर ने बनाई है।

उत्पादन मे बट्टा क्यों लगाते है।

परन्तु हम उसका सीमान्त उत्पादन माप सकते है। अर्थात् एक मजदूर के काम करने से कुल उत्पादन मे कितनी वृद्धि हुई यह हम जान सकते है। मजदूरो को सीमान्त उत्पादन की कुल मात्रा नही मिल सकती। क्योकि उत्पादन में समय लगता है। श्रम का एक अच्छा पहलू यह है कि श्रम को काम पर लगाने से अन्तिम रूप मे उत्पादन तत्काल नही मिल सकता। केवल कुछ समय बाद मिल सकता है। परन्तु इसी बीच में मजदूरी का भरण-पोषण आवश्यक होता है। पूंजीपति-उत्पादको का काम

---

[1] Principles 3rd. Edn. p 164 Also see p. 131 "The theory of wages should consider the remuneration of every sort of labour...... of such independent workmen as well as.... of a hired labour"

यह है कि मजदूरो को कुछ अग्रिम रुपया देकर उनका पोषण और निर्वाह करे। इसलिये वे उत्पादन की पूरी मात्रा मजदूरो को नही दे सकते। चूँकि उन्होने कुछ रुपया अग्रिम (advance) मजदूरो को दे दिया था, इसलिये वे अन्तिम उत्पादन मे से एक निश्चित रकम प्रति सैकडा के हिसाब से काट लेगे और जो बाकी बचेगा वह सब मजदूरो को दे देगे। यह कटौती अथवा बट्टा व्याज की चालू दर से होनी चाहिये। इसलिये मजदूरी सीमान्त भूमि पर श्रम के कुल उत्पादन के बराबर है। उसमे से केवल अग्रिम दिया हुआ रुपया काट लिया जाता है।

यह टॉसिग का मजदूरी का सिद्धान्त है। उसने स्वय इस सिद्धान्त मे दो कठिनाइयो का अनुभव किया है। पहली कठिनाई यह है कि यह सिद्धान्त धुँधला, भावप्रधान तथा वास्तविक जीवन की समस्याओ से बहुत दूर है। लेकिन साथ ही वह कहता है कि इस सिद्धान्त मे कोई विशेष दोष या त्रुटि नही कही जा सकती। केवल मजदूरी ही नही अर्थशास्त्र के सब सिद्धान्तो मे इस प्रकार के दोष पाये जाते है। दूसरी ओर अधिक बडी कठिनाई यह है कि सयुक्त उत्पादन मे व्याज की चालू दर से बट्टा लगाया जाता है। लेकिन उसका मत है कि मजदूरो को वर्त्तमान मे जो पेशगी या अग्रिम धन मिलता है, उससे जो अधिक उत्पादन वे भविष्य मे उत्पन्न करेगे, उस पर व्याज निर्भर रहता है। इसलिये व्याज की दर तो मजदूरो को दी जानेवाली पेशगी से उत्पन्न होगी। परन्तु व्याज की दर तथा मजदूरी की दर दोनो उसी पेशगी के आधार पर निश्चित होती है। इसलिये यदि हम व्याज दर मान लेते है तो मजदूरी की दर भी हमे उसी समय मालूम हो जाती है। व्याज की चालू दर पर बट्टा देकर मजदूरी निश्चित करना एक चक्करदार तर्क होगा, जिसका आदि-अन्त का कुछ पता न चलेगा। इस कठिनाई का समाधन वह यह कहकर करता है कि व्याज की दर सीमान्त उत्पादन शक्ति से स्वतन्त्रतापूर्वक अर्थात् उसको छोडकर समय की पसन्दगी की दर के आधार पर निश्चित की जा सकती है। और समय की पसन्दगी के आधार पर व्याज-दर निश्चित करके हम श्रम की सीमान्त उत्पत्ति मे से बट्टा काट सकते है। परन्तु इस कठिनाई का यह हल केवल कठिनाई को टाल देता है, वास्तव मे उसका समाधान नही करता।

टासिग की आलोचना मे यह कहा जाता है कि एकमत वह नही है। उसके विचार परस्पर विरोधी है। जब वह स्वय कहता है कि हम श्रम की सीमान्त उत्पत्ति निश्चित नही कर सकते, तब हम किस चीज मे से बट्टा काटेगे और कैसे काटेगे। लेकिन यह कहना उसके सिद्धान्त का गलत अर्थ लगाना है। यद्यपि उसने 'श्रम की सीमान्त उत्पत्ति' शब्दो का उपयोग किया है, परन्तु इससे उसका अर्थ श्रम द्वारा उत्पादित किसी विशेष वस्तु से नही था। उसका मतलब श्रम के सयुक्त उत्पादन से था, इस श्रम मे भूत और वर्तमान दोनो श्रम शामिल है। यह सयुक्त उत्पादन सीमान्त भूमि पर होता है अर्थात् उस भूमि का कोई लगान नही होता। सीमान्त शब्द का उसने। उसने केवल इसलिये लिया, जिससे उसने किसी भी प्रकार के लगान के अंश अथवा ऊँचे लाभ अथवा एका-

धिकार सम्बन्धी लाभ का समावेश न होने पावे। उसका सिद्धान्त अवशिष्ट अधिकार का सिद्धान्त है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि कुल उत्पादन में से लगान, व्याज और लाभ काट लेने के बाद जो कुछ बच रहता है, वह सब मजदूरों को मजदूरी के रूप में मिलता है। इस दृष्टि से इस सिद्धान्त में वे सब त्रुटियां हैं, जो अवशिष्ट-अधिकार के सिद्धान्त में हैं।

परन्तु उसके सिद्धान्त में एक बहुत बड़ी त्रुटि यह है कि पूर्ति के पक्ष को जो प्रभाव निश्चित करते हैं, उनकी ओर वह ध्यान नहीं देता। वह श्रम की पूर्ति को निश्चित या बंधी हुई मान लेता है और तब उसका सीमान्त उत्पादन निश्चित करता है। इस हिसाब से यह सिद्धान्त मजदूरों के सीमान्त उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त से आगे नहीं बढ़ता।[1]

मजदूरी की दरों में अन्तर (Differences in Wages)—मजदूरी सम्बन्धी जितने सिद्धान्त हैं, वे सब प्राय उन बातों पर विचार करते हैं, जो मजदूरी की सामान्य दरें निश्चित करती हैं। वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि मजदूरी की दरें अलग-अलग पेशों में अलग-अलग होती हैं और उनमें काफी अन्तर होता है। यह अन्तर क्यों होता है?

हम यहाँ कुछ अनुमान ले लेते हैं और उनके आधार पर विवेचना करेंगे। सब मजदूर एक समान योग्य हैं। उनको किसी भी धन्धे में जाने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। कोई भी मजदूर चाहे जिस पेशे में जा सकता है। क्या इन अनुमानों के अन्तर्गत भी मजदूरी की दरों में अन्तर रहेगा? अवश्य रहेगा और इसके कारण आडम स्मिथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में निम्नलिखित दिये थे।

---

[1] मि० हिक्स के मतानुसार यदि हम यह मान लें कि उत्पादन काल परिवर्तनशील है, तो यह सिद्धान्त मान्य हो सकता है। उत्पादन का एक साधन जिसका श्रम के साथ सहयोग आवश्यक है, सचल पूंजी है। टॉसिग की कठिनाई इसलिये उत्पन्न होती है कि वह मान लेता है कि उत्पादन का समय एक-सा या स्थिर रहता है। तब यदि श्रम की मात्रा मे थोडी-सी भी बढती होती है, तो सचल पूंजी की मात्रा में भी कुछ बढती होनी चाहिये, चाहे दूसरे साधन स्थिर रहे। इसलिये इस अतिरिक्त या बढी हुई पूंजी की लागत मूल्य भी सीमान्त उत्पादन में से काटा जाना चाहिये, अर्थात् बट्टा दिया जाना चाहिये। परन्तु ऐसा कोई कारण नही है, जिससे हम यह मान ले कि उत्पादन का काल एक-सा या स्थिर रहता है। यदि सचल पूंजी की उसी मात्रा के साथ श्रम की अधिक मात्रा जोड दी जाय तो उत्पादन-काल कम हो जायगा और जो अतिरिक्त या अधिक उत्पत्ति होगी, उसमें बट्टा देने की आवश्यकता नही है, क्योंकि अतिरिक्त सचल पूंजी की आवश्यकता नहीं हुई है। इस प्रकार बट्टा देकर सीमान्त उत्पादन शक्ति के सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी समझाना बिलकुल सही है। See *Hicks*, The Theory of Wages, p. 17, footnote.

(१) पेशे की तरफ रुचि या अरुचि। जो पेशा अरुचिकर हो, जिसे लोग पसन्द नही करते, उसमे मजदूरी की दर किसी रुचिकर पेशे की अपेक्षा ऊँची होनी चाहिये। नही तो अरुचिकर पेशे मे लोग जावेंगे नही। "सबसे घृणित काम या नोकरी अपराधियो को फाँसी लगाने का है। काम की मात्रा को देखते हुए उसके अनुपात से जो तनख्वाह उसमें मिलती है, वह कई पेशो से कही अच्छी रहती है।"

(२) किसी काम को सीखने की सरलता, कमखर्ची ओर कम समय। कुछ कामो को सीखने में काफी समय लगता है और काफी खर्च होता है। जिन कामो को सीखने मे इतना समय और खर्च नही लगता, उनकी अपेक्षा इन खर्चीले पेशो मे वेतन भी अधिक मिलना चाहिये।

(३) काम की नियमितता और अनियमितता। यदि किसी पेशे मे काम लगातार साल भर के लिये नही मिलता, केवल कुछ समय के लिये मिलता है अथवा वीच-वीच में छूट जाता है, तो उसमे ऐसे पेशे की अपेक्षा मजदूरी की दर अवश्य ऊँची होनी चाहिये, जिनमे काम साल भर लगा रहता है। क्योकि वीच-वीच मे छूटनेवाले कामो मे मजदूरो को कुछ समय तक वेकार रहना पडता है। इसलिये उनकी मजदूरी की दर ऊँची रहनी आवश्यक है, जिससे वे वेकारी के समय अपना उदर-पोषण कर सके।

(४) काम मे कम अथवा अधिक विश्वास की मात्रा अर्थात् मजदूर जो काम करता है, वह कितनी जिम्मेदारी और विश्वास का है। "सब जगह सुनारो और जोहरियो की मजदूरी अन्य कई प्रकार के मजदूरो से कही ऊँची रहती है। क्योकि वे कीमती वस्तुओ पर काम करते है और उन पर विश्वास किया जाता है। वडी-वडी कम्पनियो के मैनेजरो की तनख्वाहे वहुत ऊँची रहती है, क्योकि उनकी जिम्मेदारी अधिक ऊँची होती है"।

(५) सफलता अथवा असफलता की सभावना। जिस काम में पूर्ण असफलता का डर रहता है, उसमें वेतन या पारिश्रमिक इतना अधिक होना चाहिये कि पूर्ण अस-फलता का खतरा उठाया जा सके। परन्तु जिस काम में सफलता की आशा रहती है, कोई अच्छा पद मिलने की अथवा इसी प्रकार का कोई इनाम मिलने की आशा रहती है, समाज या ससार की दृष्टि में आदर पाने का मौका रहता है, उस काम मे वेतन कम होते हुए भी उसकी ओर लोग वहुत वडी सख्या में आकृष्ट होगे। अथवा उसकी ओर इतने अधिक लोग आकर्षित होगे कि उसमे वेतन कम रहेगा। वकालत का पेशा इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

मजदूरी की दर मे विभिन्नता के ये कारण है। यदि सब मजदूरो में एक-सी योग्यता हो और श्रम मे पूर्ण गतिशीलता हो तो भी यह विभिन्नता रहेगी। परन्तु सब मजदूर एक समान योग्य नही होते। कुछ लोगो मे स्वभावत वहुत अधिक योग्यता होती है और कुछ

लोग बिल्कुल मूर्ख होते है। इसलिये लोगो की योग्यता के अनुसार मजदूरी की दर में हमेशा अन्तर रहेगा।

श्रम की गतिशीलता।

श्रम की पूर्ण गतिशीलता का अनुमान कि मजदूर चाहे जिस पेशे मे प्रवेश कर सकते है, वास्तविक जीवन मे बिल्कुल नही पाया जाता। विभिन्न धन्धो या पेशो के बीच गतिशीलता बहुत अपूर्ण होती है। एक तो यह मजदूरो की अज्ञानता के कारण होता है, क्योकि वे प्राय विभिन्न पेशो मे वेतन सम्बन्धी तथा अन्य प्रकार के हानि और लाभ नही जानते। श्रम मे गतिशीलता की कमी का एक कारण यह भी होता है, कि मजदूर अपना घर या स्थान छोडकर ऊँची मजदूरी की तलाश में या तो जा नही सकते या जाना पसन्द नही करते। अपूर्ण गतिशीलता का तीसरा कारण विशिष्टता (specificity) होती है। जब कोई आदमी एक काम सीखता है, उसमें दक्षता प्राप्त करता है, तो वह उसे एकाएक छोडकर किसी दूसरे धन्धे मे नही जा सकता। जिस आदमी ने बिजली के इजीनियर होने की शिक्षा पाई हो, वह कम्बल बुनने का काम हाथ मे नही ले सकता।

प्रतियोगितारहित समूह और मजदूरी।

मजदूरो की एक पेशे से दूसरे पेशे मे स्वतन्त्रतापूर्वक जाने के सबध मे जो कठिनाइयाँ होती है, उनसे मजदूरो के ऐसे समूह बन जाते है, जिनमें आपस में प्रतियोगिता नही होती। समाज ऐसे कई समूहो मे बटा रहता है, जो एक दूसरे से बिलकुल अलग रहते है। मोटे तौर से हम समाज को इस प्रकार के पाच समूहो मे बाट सकते है। इनमे सबसे नीचे की श्रेणी मे रोजमर्रा काम करनेवाले साधारण मजदूर रहते है। इनमे न तो किसी प्रकार की दक्षता रहती है, न किसी प्रकार की कुशलता। दूसरी श्रेणी में वे मजदूर होते है, जिन्हे हम अर्द्धकुशल कह सकते है। उनका काम ऐसा होता है, जिसमे विशेष शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता नही होती। फिर भी उनमे एक प्रकार की जिम्मेदारी रहती है, जिसके लिये कुछ बुद्धि और चतुराई आवश्यक होती है। तीसरी श्रेणी मे कुशल और शिक्षित मजदूर, उच्च वर्ग के क्लर्कों के काम करनेवाले तथा बिक्री बढानेवाले (salesmen) दलाल इत्यादि रहते है। बढई और बिजली के कामो मे जो लोग शिक्षा पाते है तथा इसी तरह के अन्य लोग भी इसी वर्ग मे आते है। चौथी श्रेणी में मध्यम वर्ग के लोग आते है। पाँचवी तथा सबसे उच्च श्रेणी मे वे लोग रहते है, जो कोई पेशा अथवा व्यवसाय करते है। इजीनियर, वकील तथा एकाउन्टेन्ट इसी श्रेणी में आते है। इन विभिन्न श्रेणियो मे आपस मे प्रतियोगिता नही होती। जो मनुष्य जिस श्रेणी में उत्पन्न होता है, वह प्राय उसी मे रहता है और अन्य श्रेणियो के साथ प्रतियोगिता नही करता। इन श्रेणियो के बीच मे ऐसी कठिनाइयाँ या अडगे नही रहते, जो पार न किये जा सके, परन्तु फिर भी उन्हे केवल बहुत योग्य व्यक्ति ही पार कर सकते है। अपने आसपास के वातावरण का प्रभाव, अपने कुटुम्ब के वातावरण का

प्रभाव, प्रतिदिन जो उदाहरण देखने में मिलते हैं और जिन कमियो तथा बाधाओ का अनुभव करते हैं—इन सबके कारण प्राय एक नवयुवक अपने बाप-दादो के पेशे द्वारा ही अपनी जीविका चलाने की बात सोचेगा। मजदूरो के बच्चो को न अधिक शिक्षा मिलती है और न अधिक दीक्षा मिलती है, इसलिये उनके सामने जीवन मे उन्नति के मौके भी बहुत कम रहते हैं। परन्तु इसके विरुद्ध अधिक आय की श्रेणी के जो लोग रहते हैं, उनके बच्चे अधिक खर्चीली और उच्च शिक्षा पाते है। इसलिये जीवन में उन्हे अधिक मौके प्राप्त रहते हैं। यदि किसी निम्न श्रेणी के किसी व्यक्ति मे असाधारण योग्यता हो तो वह उच्च श्रेणी प्राप्त कर सकता है। परन्तु यह अपवाद के रूप में नही पाया जाता है। इसलिये कोई सामाजिक श्रेणी जितनी उच्च होती है, उसमे उतने ही कम आदमी भी होते है और उनकी आय उतनी ही अधिक भी होती है।[1]

स्त्रियों की मजदूरी की दर कम क्यों होती है? (Why wages of women are lower?)—पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो की मजदूरी की दर कम रहती है। इसका कारण क्या है?

मजदूरी की दर का एक कारण यह है, कि स्त्रियो मे पुरुषो की अपेक्षा प्राय शारीरिक शक्ति और सहनशीलता कम होती है। दूसरा कारण यह है कि अधिकाश अविवाहित लडकियाँ स्थायीरूप से काम करनेवाली नही होती। वे किसी पेशे को स्थायी रूप मे नही अपनाती। केवल थोडे समय के लिये उसे ग्रहण करती है और विवाह होने पर छोड देती है। इसलिये वे केवल ऐसे काम करती है, जिन्हे वे थोडे समय मे सीख सकें।

परन्तु मजदूरी की कम दर का प्रधान कारण यह है कि स्त्रियो के लिये पेशे बहुत सीमित है। उनके लिये पेशा चुनने की स्वतन्त्रता बहुत कम है। प्रथा तथा शिक्षा-दीक्षा की कमी ने भी कई पेशो के दरवाजे उनके लिये बन्द कर दिये है। फल यह हुआ है कि थोडे बहुत पेशे जो खुले है, उनमें स्त्री मजदूरो की सख्या अधिक हो गई है। पूर्ति अधिक होने से मजदूरी कम है।

अन्त में यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि स्त्रियो की सौदा करने की शक्ति कमजोर होती है। अधिकाश मे अस्थायी काम करनेवाली होती है, आश्रितो को पालने का भार भी उन पर अधिक नही रहता, क्योकि बहुत कम स्त्रियो पर कुटुम्ब के पालने का भार पडता है। इसलिये मजदूर सघो मे उनका सगठन आसानी से नही हो पाता। इसलिये उन्हे पुरुषो की अपेक्षा कम मजदूरी मिलती है।

[1] For a discussion of this topic, see *Boulding*, Economic Analysis, p. 196-203.

अध्याय ३०

श्रम की कुछ समस्याएं
(Some Labour Problems)

मजदूर-संघ (Trade Unions)—हम श्रम की पूर्ति की विशेषताओं की चर्चा कर चुके हैं। श्रम को संग्रह करके नहीं रखा जा सकता। जिस प्रकार समय का संग्रह नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार श्रम को भी सुरक्षित संग्रह के रूप में नहीं रखा जा सकता। यदि मजदूर काम नहीं करता तो वह हमेशा के लिये नष्ट हो जाता है, अर्थात् उसके समय का श्रम बरबाद हो जाता है। उसके सामने हमेशा काम करो अथवा भूखो मरो का सवाल रहता है। यदि वह सोचे कि कुछ दिन काम न करने से मालिक उसे अधिक मजदूरी देकर काम पर बुलावेगा तो वह गलत सोचता है। वह हड़ताल करने की स्थिति मे नहीं रहता। फिर बाजार की परिस्थिति के बारे में तथा व्यवसाय की परिस्थितियों और भविष्य के बारे में भी उसका ज्ञान कम रहता है। इसलिये पूंजीपति के साथ सौदा करने मे उसकी परिस्थिति कमजोर होती है। मजदूर संघ वह संगठन है, जो मजदूर को पूंजीपति के साथ सौदा करने में बराबरी की हैसियत पर रख देता है।

सिडनी ओर बीट्रिस वेब (Sydney and Beatrice Webb) की प्रसिद्ध परिभाषा में मजदूर संघ "मजदूरी करने वालों का वह निरन्तर संगठन अथवा सहयोग है, जिसका ध्येय उनकी कार्य सम्बन्धी परिस्थितियों में उन्नति करना और उन्हे उन्नत दशा मे रखना है।" इसलिये मजदूर संघों का काम एक तो मजदूरों की स्थिति बनाये रखना तथा वे जो सुविधाएँ प्राप्त करे उनको सुरक्षित रखना एवं ठोस बनाना है और दूसरे अपने सदस्यों का हित साधन करना है। मजदूरों के हितों की रक्षा के लिये वह एक लड़नेवाला संगठन होता है। साथ ही वह सेवाकार्य करनेवाला संगठन भी होता है। मजदूरों की वह कई प्रकार से भलाई करता है। बीमारी, दुर्घटना तथा अस्थायी बेकारी के समय वह उनकी सहायता करता है।

मजदूर संघ और मजदूरी (Trade Union and Wages)—मजदूर संघों का प्रधान सम्बन्ध मजदूरी के प्रश्न से ही है। प्रारम्भ मे ऐसा सोचा जाता था, विशेषकर मजदूर नेता ऐसा सोचते थे कि मजदूर संघ मजदूरों को ऊँची मजदूरी प्राप्त करने मे सहायता करते हैं। पूंजीपतियों के साथ सौदा करने मे मजदूर जिस कमजोरी का अनुभव करते हैं उसे मजदूर संघ खतम कर देते हैं और वे मालिकों से अधिक ऊँची मजदूरी झटक सकते हैं। परन्तु इसके विरुद्ध पुराने (classical) अर्थशास्त्री यह

कहते थे कि मजदूर सघ मजदूरी की दर अथवा सतह बढ़ाने में किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते। यदि मजदूरी की सतह जबर्दस्ती या बनावटी तौर से ऊँची रखी गई तो मुनाफे कम होंगे, बचत भी कम होती जायगी और व्यवसायी व्यवसाय चलाना पसन्द न करेंगे। फल यह होगा कि मजदूरी की दर गिर जायगी।

मजदूर सघ मजदूरी की सतह पर दो प्रकार से प्रभाव डाल सकते है। एक तो यह कि वे मजदूरो को पूँजीपतियो से अपनी वास्तविक सीमान्त उत्पादन शक्ति का पूर्ण मूल्य प्राप्त करने मे सहायता करते है। पूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियो में मजदूरी की दर मजदूरो की वास्तविक सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर होगी। परन्तु श्रम के बाजार मे प्रतियोगिता कदाचित् ही पूर्ण होती हो। मजदूर की सौदा करने की जो कमजोर शक्ति होती है, उसके कारण उसे अपना वास्तविक सीमान्त मूल्य मिलना बहुत कम सम्भव होता है। मजदूर सघ उसकी इस सौदा करने की शक्ति को सुधार देते है और उसे मजदूरी की दर अपनी वास्तविक सीमान्त उत्पादन शक्ति के बराबर उठाने मे समर्थ कर देते है। दूसरे मजदूर सघ मजदूरो को अपनी सीमान्त उत्पादन शक्ति बढाने मे सहायता कर सकते है। ध्यान रहे कि मजदूरो की सीमान्त उत्पादन शक्ति उत्पादन की योग्यता पर भी निर्भर रहती है, अर्थात् इस बात पर भी निर्भर करती है कि उत्पादक श्रम का मिश्रण उत्पादन के अन्य साधनो, जैसे पूँजी इत्यादि के साथ अनुपात मे करते है। विभिन्न उत्पादको की योग्यता भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। इसलिये यदि कम योग्यता के उत्पादको को अधिक योग्यतावाले उत्पादकों की सतह पर लाया जा सके तो श्रम की सीमान्त उत्पादन शक्ति बढानी सभव हो सकती है। इस प्रकार वे मजदूरी की दर को ऊँचा उठा सकते है। व्यवसाय में जो पूंजी लगी हुई है, उस पर मुनाफा की दर कम होने से व्यवसायी कुछ अधिक समय तक व्यवसाय जारी रखने का निश्चय कर सकते है। अथवा वे व्यवसाय में अधिक प्रयत्न और योग्यता लगा सकते है, जिससे पूरे उद्योग के सगठन में तथा प्रबन्ध में उन्नति हो सकती है। मजदूरो की कार्य-सम्बन्धी योग्यता पर प्रभाव डालकर अप्रत्यक्ष रूप मे मजदूर सघ उनकी सीमान्त उत्पादन शक्ति बदल सकते है। वे मजदूरो के बच्चो को अच्छी आदते तथा उत्तम गुण सिखाकर आगे चलकर उन्हे व्यावसायिक शिक्षा दे सकते है। योग्यता बढने से मजदूरो की सीमान्त उत्पादन शक्ति और मजदूरी भी बढेगी।

क्या वे मजदूरी की सतह उठा सकते है?

अन्त मे एक मजदूर सघ मजदूरो के किसी समूह विशेष की सीमान्त उत्पादन शक्ति की पूर्ति एक हद तक सीमित करके बढा सकता है। जिन परिस्थितियो में वह ऐसा कर सकता है, उनकी चर्चा हम सयुक्त माग के सम्बन्ध मे कर चुके है। पहली यह है कि उस समूह विशेष के लिये माग बेलोचदार होनी चाहिये। अर्थात् मजदूर सघ की सफलता अथवा असफलता बदले की वस्तु की लोच पर निर्भर रहेगी। जितनी सरलतापूर्वक उत्पादक उस प्रकार के मजदूरो के बदले अन्य साधनो (जैसे मशीनो) का

कर सकते है, मजदूर सघ की अपनी माग पूरी कराने की ताकत उतनी ही कम रहेगी। दूसरी बात यह है कि वह समूह विशेष जिस वस्तु के उत्पादन मे सहायक होता है, उस वस्तु की माग भी बेलोचदार होनी चाहिये। तीसरे, उस समूह की कुल मजदूरी कुल लागत-खर्च का बहुत थोडा अश होना चाहिये। चौथे, अन्य साधन ऐसे हो, जो दबाये जा सके ('squeezable')। यदि इनमे से एक कोई शर्त भी पूरी होती है, तो एक समूह विशेष के लिये अपनी मजदूरी की दर बढाना सभव हो सकता है। परन्तु दीर्घकाल मे इसकी सफलता के बारे मे सन्देह होता है। चूकि उत्पादक मजदूरो को ऊंची मजदूरी देगे, इसलिये वे लगातार इस प्रयत्न मे लगे रहेगे कि उन मजदूरो के बदले मे वे अन्य किसी वस्तु का उपयोग कर सकते है। सभव है, वे कोई ऐसी मशीन का आविष्कार कर डाले, जो उस समूह विशेष का काम करे। तब मजदूरो की माग कम हो जायगी, इसलिये मजदूरी की दर भी गिर जायगी।

हड़ताल का अधिकार (Right to Strike)—मजदूर सघो का लडने का प्रधान हथियार हडताल है। जिस प्रकार उत्पादक काम मे निकाल देने की धमकी देकर मजदूरो को हमेशा डरा सकते है, उसी प्रकार हडताल की धमकी देकर मजदूर सघ उत्पादको पर दबाव डाल सकते है। इसलिये हडताल करने का अधिकार बरखास्त करने का अधिकार का जवाब है।

क्या हड़ताल के अधिकार पर कुछ शर्ते है ?

"जब मजदूर सगठित रूप मे इस मशा से काम रोक देते है कि बाद मे उत्पादक उन्हे उसी काम पर अधिक अच्छी परिस्थितियो मे काम करने के लिये बुलावेगे, तब उसे हडताल कहते है।" हडताल करने वालो का उद्देश्य अपनी कुछ मागे पूरी कराकर उसी काम पर वापिस जाने का रहता है। हडताल करने के अधिकार पर अभी भी बडा विवाद चल रहा है। इसे तो सभी स्वीकार करेगे कि जब पूंजीपतियो के कारखानो मे परिस्थितियाँ असहनीय हो जाती है और पूंजीपति उनकी मागो पर विचार करने के लिये तैयार नही होते तो मजदूरो को हडताल करने का पूरा अधिकार होता है। परन्तु जो कारखाने सार्वजनिक होते है, अथवा जिनकी उपयोगिता और आभास सार्वजनिक होते है, क्या उन कारखानो मे भी मजदूरो को हडताल करने का अधिकार रहता है ? प्राय कहा जाता है कि रेले और पानी देने के कारखाने इत्यादि कितने ऐसे कारखाने होते है, जो समाज के लिये आवश्यक है और इनमे काम बन्द होना समाज सहन नही कर सकता। इसमें सन्देह नही कि यह कहने का समाज का अधिकार है कि समाज के लिये आवश्यक उद्योगो में हड़ताल नही होनी चाहिये। परन्तु साथ ही उसकी यह भी जिम्मेदारी होनी चाहिये कि मजदूरो की काम करने की परिस्थितियां सतोषजनक होगी। इतनी गारटी समाज मजदूरो को दे। उसको कुछ ऐसे उपाय और तरीके निकालने चाहिये कि मजदूरो की तकलीफे सुनी जावे, उन पर विचार हो और वे दूर हो। समाज को मजदूरो और पूंजीपतियो के प्रतिनिधियो की सयुक्त समितियां बनानी चाहिये, जिस

से काम की परिस्थितियाँ निश्चित करने मे मजदूरो की भी कुछ आवाज रह सके। हडताल का अधिकार कोई जन्मजात अधिकार नही है। वह अधिकार अवश्य है, पर उससे भी बडा समाज का अधिकार है।

औद्योगिक शान्ति के साधन (Agencies for Industrial Peace)—हडताल के जो दुष्परिणाम होते है तथा मजदूरो और मालिको दोनो को जो हानि होती है, उसे सभी जानते है। इसलिये सबसे अच्छा यह होगा कि मालिक-मजदूर सम्बन्ध ऐसे हो कि हडताल करने की परिस्थितियाँ कम से कम हो जावे। रोग की दवा करने से यह कही अच्छा होगा कि उसे उत्पन्न ही न होने दिया जाय। इस प्रकार के कई सुझाव रखे गये है, जिनमे लाभ-बॉट, आनुपातिक मजदूरी तथा कार्यसमितियाँ प्रधान है।

(क) **लाभ-बॉट** (Profit-sharing)—इस तरीके के अन्तर्गत किसी कारखाने मे काम करनेवाले मजदूर अथवा कार्यकर्त्ता कारखाने के लाभ का एक अश प्राप्त करते है। कारखाने का पूरा खर्च काट लेने के बाद जो लाभ बच रहता है, वह मालिको और मजदूरो मे या तो आधा-आधा बॉट लिया जाता है अथवा कुल मजदूरी पर जो कुल व्याज होता है (in proportion which the total interest bears to the total wages) उस अनुपात मे बॉट लिया जाता है। कभी-कभी मजदूरो का हिस्सा उन्हे रुपये के रूप मे नही दिया जाता, बल्कि उनके नाम पर उस उद्योग मे लगा दिया जाता है, जिससे वे उस पर भी लाभ प्राप्त करें।

पहले इस योजना से बहुत बडी-बडी आशाएँ की जाती थी। यह सोचा जाता था कि मजदूर अपने कारखाने का भक्त और ईमानदार कार्यकर्त्ता हो जायगा। मालिकों और मजदूरो के सम्बन्ध अच्छे हो जायँगे और औद्योगिक झगडो की सख्या बहुत कम हो जायगी। मजदूरो को उत्पादन बढाने का प्रोत्साहन मिलेगा, वे लोग कच्चा माल बरबाद न करेंगे और मशीनो को लापरवाही के साथ उपयोग न करेंगे। इस प्रकार उत्पादन बढेगा और उससे मजदूर, मालिक और समाज सबका भला होगा। परन्तु ये आशाएं पूरी नही हुई है। हडताले होनी बन्द नही हुई है। ट्रेड यूनियन अथवा मजदूर सघ इसे पसन्द नही करते, क्योंकि इसका उपयोग प्राय मजदूर सघो को कमजोर करने के लिये तथा मजदूरो को उन सघो से फोडने के लिये किया जाता है। फिर भी यह कहा जाता है कि जब मजदूर लाभ बटाते है, तो उन्हे हानि भी बॅटानी चाहिये। लाभ हमेशा केवल मालिको और मजदूरो की योग्यता पर तो निर्भर नही करता। उनके आर भी कई कारण होते है। उदाहरण के लिये यदि कीमत थोडी भी गिर जाय तो पूरा लाभ खतम हो सकता है। चूंकि मजदूर लाभ मे हिस्सा लेते है, इसलिये उन्हे हानि में भी हिस्सा लेना चाहिये। इसलिये लाभ-बाट की योजना पर बडे पैमाने पर अमल होने की आशा नही है।

(ख) **आनुपातिक-मजदूरी** (Sliding Scales)—इस योजना का सार यह है कि किसी वस्तु की कीमत में जो परिवर्तन हो, उन्ही के अनुसार एक पहले से

निश्चित अनुपात के आधार पर मजदूरी की दर भी बदलनी चाहिये। मजदूरी की प्रायः एक मूल दर होती है और उसका सम्बन्ध एक मूल कीमत के साथ होता है। यदि कीमत बढती है, तो मजदूरी भी एक निश्चित अनुपात मे बढ जायगी। इस प्रकार मजदूर व्यवसाय की अच्छी और बुरी दोनो दशाओ मे भाग लेते है। प्राय एक मूल दर होती है और मजदूरी उसके नीचे कभी नही जाती। कभी-कभी यह आनुपातिक दर केवल लाभ के आधार पर बनाई जाती है। यदि लाभ एक निश्चित प्रतिशत दर से अधिक बढता है, तो मजदूरी की दर भी एक निश्चित दर से बढनी चाहिये। वह जीवन-खर्च की अक-सूची (cost of living index number) के आधार पर भी बनाई जा सकती है। यदि रहन-सहन का खर्च बढता है, तो मजदूरी की दर भी उसी हिसाब मे अपने आप बढ जाती है।

आनुपातिक मजदूरी की आलोचना मे सबसे बडी बात यह कही जाती है कि मजदूर अपने को ऐसी स्थिति मे क्यो रखे कि किसी अन्य कारण से तो कीमत घटे, पर उसे अपनी मजदूरी की दर घटानी पडे। कीमत गिरने के कई कारण हो सकते है। यदि उत्पादन के तरीको मे उन्नति होती है, यदि यातायात का खर्च कम हो जाता है, यदि व्यवसाय के सगठन मे सुधार होता है, व्यवसाय के खतरे कम हो जाते है, व्यवसाय पर कर का बोझ कम हो जाता है, ब्याज की दर कम हो जाती है आदि कितने ऐसे कारण है, जिनसे कीमत गिर सकती है और तब मजदूर की मजदूरी भी घट जायगी। इससे मालूम होता है कि आवश्यकता इस बात की है कि जब व्यवसाय की परिस्थितियो में कोई मौलिक परिवर्तन हो तो मजदूरी की मूल दर मे भी परिवर्तन होना चाहिये। यदि आनुपातिक मजदूरी ग्रहण की जाय तो मजदूरी समस्या की कठिनाइया दूर हो सकती है।

(ग) कार्य-समितियाँ (Works Councils)—इस योजना का सार यह बात स्वीकार करने में है कि काम की परिस्थितियाँ निश्चित करने मे मजदूरो का भी हाथ रहना चाहिये। यह बात सबसे पहिले सन १९१७ ई० मे इग्लैड मे ह्विटले कमेटी की रिपोर्ट में कही गई थी। पहले कार्य-समितियाँ प्रत्येक कारखाने मे सगठित की जाती है।

ह्विटले कमेटी।

इनमे मालिको और मजदूरो के प्रतिनिधि बराबर सख्या मे रहते है। कभी-कभी उनमे केवल मजदूरो के प्रतिनिधि रहते है और वे अपनी सलाह और शिकायते कारखाने के प्रधान प्रवन्धक के सामने रखते है। दोनो एक साथ बैठकर उन पर विचार करते है। दूसरे इसी प्रकार की जिला समितियाँ भी बनाई जाती है, जिनमे किसी उद्योग के मजदूर सघ के प्रतिनिधि तथा मालिको के प्रतिनिधि होते है।

इन कार्य समितियो ने जिन्हे ह्विटले समितियाँ भी कहते है, मालिको और मजदूरों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने में काफी सफलता प्राप्त की है। मजदूरो को ।र ने के प्रवन्ध मे किसी न किसी प्रकार की आवाज मिल जाती है, थोडा-सा उनका

हाथ भी हो जाता है। इससे उनमे जिम्मेदारी की भावना उत्पन्न हो जाती है। परन्तु किसी न किसी प्रकार झगडे तय हो ही जाते है। बातचीत टूटने की नौबत नही आती है। वाद-विवाद द्वारा समझौता हो ही जाता है। जो कुछ

झगड़ों का निबटारा (Settlement of Disputes)—परन्तु हज. कोशिश करने पर भी कभी-कभी तो झगडे होगे ही। इसलिये किसी ऐसे साधन या तरीके की आवश्यकता है, जो इन झगडो का निबटारा कर सके। इस तरह के दो मुख्य तरीके है—एक समझौता और दूसरा पच-फैसला।

(अ) **समझौता (Conciliation)**—समझोते के तरीके का सार यह है कि जिन दो पार्टियो मे झगडा है, वे एक साथ बैठकर झगडे की बातो पर विचार करे और एक दूसरे को सतुष्ट करके अन्त मे विवाद-ग्रस्त बातो पर समझोता कर ले। जब एक बार झगडा शुरू हो जाता है, तब एक सयुक्त समझोता बोर्ड नियुक्त करने के लिये दोनो दलो की स्वीकृति प्राप्त करना मुश्किल होता है, इसलिये स्थायी समझोता समितियॉ (Permanent Boards of Conciliation) रखना ज्यादा अच्छा होता है। भारत मे सन् १९४७ ई० मे इडस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट बना था। उसके अनुसार मालिक अथवा मजदूर दो मे से यदि कोई एक पार्टी झगडे के सम्बन्ध मे सरकार को दरख्वास्त दे तो सरकार एक समझौता समिति (Conciliation Board) नियुक्त कर सकती है, जो उस झगडे की जॉच करेगी। यदि दोनो मे सद्भावना की मात्रा काफी है, तो ये समितियॉ उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं।

(ब) **पच-निर्णय (Arbitration)**—इस योजना का प्रधान तत्त्व यह है कि जिन दो दलो मे झगडा होता है, वे एक तीसरे व्यक्ति को जिसका झगडे मे कोई सम्बन्ध नही होता निर्णयक बना देते है। वह उस पर अपना निर्णय या फैसला देता है। यह निर्णय आपसी भी हो सकता है, अर्थात् दोनो दल आपस मे तय करके एक निर्णायक नियुक्त कर दे और सरकारी भी, अर्थात् वे सरकार से निर्णायक नियुक्त करने को कहे। वह इच्छापूर्वक (voluntary) भी हो सकता है और अनिवार्य (compulsory) भी। जब ऐच्छिक होगा, तब दोनो दलो पर कानून का दबाव नही रहेगा कि उन्हे अपना झगडा पच-निर्णय के लिये देना ही चाहिये। परन्तु जब अनिवार्य होगा, तब कानून के दबाव के अन्तर्गत उन्हे अपना झगडा पच-निर्णय के लिये मानना ही पडेगा। अन्त मे पचो का निर्णय भी दो प्रकार का होता है। एक वह जिसे मानने के लिये दोनों दल बाध्य हो और दूसरा वह जिसे मानने के लिये वे बाध्य न हो।

यदि दोनो दल आपस मे तय कर ले कि वे अपना झगडा पच निर्णायक समिति अथवा मध्यस्थ समिति के हाथ मे सौप देगे और उनका निर्णय उन्हे मान्य होगा तो इससे यह लाभ होता है। इससे एक तो उनमे मानहानि अथवा अपमान की भावना नही पैदा

निश्चित अनुपात ... ड़कता। दोनों दल विना क्रोध और अपमान की भावना
एक मूल दर ... निकलकर समझौते के वातावरण में आ जाते हैं।
बढती है ... र अथवा कानून के अन्तर्गत होता है, तब दो में से किसी
व्यवस ... कार एक मध्यस्थ समिति (arbitration board)
क्षे ... प्रकार का कानून बन सकता है कि मजदूर हड़ताल
... मालिक कारखाना बन्द करने के पहले अपने झगड़े को मध्यस्थ समिति के सामने रखेंगे। पहले समिति दोनों दलों में समझौता कराने का प्रयत्न करती है। यदि समझौता न हो सका तो वह उस झगड़े की पूरी जाँच करती है और अपनी सिफारिशों के समेत उसकी रिपोर्ट प्रकाशित करती है। ये सिफारिशें दोनों दलों के लिये बाध्य नहीं होतीं। परन्तु ऐसा सोचा जाता है कि जनमत के प्रभाव द्वारा वे उन्हें स्वीकार कर लेंगे। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड में ये सिफारिशें दोनों दलों के लिये बाध्य होती हैं। वहाँ मजदूरों द्वारा हड़ताल तथा मालिकों द्वारा कारखाने में ताला लगाना जुर्म है और उसके लिये जुरमाना और कैद हो सकती है। लेकिन यदि कोई दल पंचों के निर्णय को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है, तो उसका स्वीकार कराना मुश्किल हो सकता है।

अध्याय ३१

लाभ

(Profits)

किसी व्यवसायी की कुल विक्री की रकम और कुल उत्पादन खर्च की रकम में जो अन्तर होता है, उससे प्राय लाभ का अर्थ लगाया जाता है। लगान, मजदूरी तथा उधार ली हुई पूँजी पर व्याज इत्यादि देने के बाद व्यवसायी के पास जो कुछ बच रहता है, वह लाभ है। अर्थशास्त्री इसे कुल लाभ (gross profit) कहते हैं। इसमें कई ऐसी बातें शामिल रहती हैं, जो अर्थशास्त्रियों के मतानुसार लाभ नहीं कही जा सकतीं। कुल लाभ अर्थात् विक्री की कुल रकम और कुल उत्पादन खर्च के अन्तर में निम्नलिखित चीजें शामिल रहती हैं—(१) उस भूमि का लगान जिसका मालिक स्वयं उत्पादक होता है तथा अन्य भूमि पर दिये जानेवाले आर्थिक लगान और वास्तविक लगान का अंतर। संभव है कि किसी व्यक्ति के पास जो जमीन होती है, उसका वह पूरा आर्थिक लगान न देता हो। तब उसके लाभ की मात्रा इस बचत से बढ़ जायगी। (२) **पूँजी पर व्याज।** उत्पादक उधार ली हुई पूँजी पर जो व्याज देता है, उसे अपना

कुल लाभ निश्चित करने के पहले बिक्री की कुल रकम मे से काट लेता है। परन्तु व्यवसाय मे जो वह स्वय अपनी पूँजी लगाता है, उस पर व्याज हमेशा नही काटता। (३) **उत्पादक का पारिश्रमिक।** पहले और दूसरे मदो को काट लेने के वाद जो कुछ वच रहता है, वह उत्पादक की आय होती है।

प्रवन्धकर्ता की श्राय श्रौर लाभ।

पहले दो मदो को काट लेने के वाद जो आय वच रहती है, उसे भी अर्थशास्त्री लाभ के रूप मे स्वीकार नही करते। उनका मत है कि उस आय मे प्रवन्धकर्ता की कमाई भी शामिल रहती है। उत्पादक अपने सगठन का प्रवन्ध तथा सगठन करता है। इसके लिये भी उसे कुछ पारिश्रमिक मिलना चाहिये। यह पारिश्रमिक उस रकम के वरावर है, जो उत्पादक को किसी और के यहाँ उपयुक्त नोकरी करने पर वेतन के रूप मे मिलती। इसलिये इस आय को लाभ न मानकर उसकी मजदूरी माननी चाहिये। सवसे अच्छा तो यह होगा कि प्रवन्धकर्ता की इस कमाई को सावारण उत्पादन खर्च का अश मान लिया जाय। कीमत और सामान्य उत्पादन खर्च का जो अन्तर होता है, उसे लाभ कहते है। सम्मिलित पूँजी की कम्पनियो के लाभो का अध्ययन करने मे यह वात आसानी से समझ मे आ जायगी। ऐसी कम्पनियो मे व्यवसाय के प्रवन्ध करने और देख-रेख करने का काम वेतनभोगी मैनेजरो के हाथ मे रहता है। इन मैनेजरो के वेतन उत्पादन खर्च मे शामिल किये जाते है। इसलिये जो लाभ हिस्सेदारो मे वाँटा जाता है, उसमे प्रवन्धकर्ता की कमाई शामिल नही रहती।

लाभ कैसे वनता है?

इसलिये लाभ हम उस आय को कहेगे, जो उत्पादक निम्नलिखित कारणो से प्राप्त करता है। पहला, लाभ मे खतरा उठाने तथा अनिश्चितता सहन करने के लिये पारितोषिक शामिल रहता है। उत्पादनकर्ता के कामो मे एक मुख्य काम उत्पादन के सम्वन्ध मे खतरा उठाना है। खतरा उठाने के लिये उसे कुछ आय प्राप्त होती है। दूसरे, लाभ मे वह आय शामिल रहती है, जो व्यवसायी को पूर्ति के ऊपर एकाधिकार होने के कारण अथवा अपूर्ण वाजार होने के कारण प्राप्त होती है। वास्तविक जीवन मे प्रत्येक व्यवसायी वाजारो के ऊपर एक प्रकार का एकाधिकार अथवा अर्द्धएकाधिकारी नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है। इसलिये पूर्ण प्रतियोगिता के वाजार मे वह जो कीमत वसूल कर सकता, उससे कुछ अधिक वसूल करने मे प्राय समर्थ हो जाता है। इसलिये उसे अतिरिक्त [illegible] प्राप्त हो जाती है। अपूर्ण वाजारो के कारण एक अन्य रीति से भी लाभ वट [illegible] वाजार मे श्रम के लिये अथवा उत्पादन के किसी अन्य साधन के लिये प्राप्त [illegible] है, अथवा हो सकता है। उत्पादक प्राय इस परिस्थिति से लाभ उठा [illegible] साधनो के लिये वह कीमत देता है, जो उनकी वास्तविक सीमान्त [illegible] कम होती है। तीसरे, लाभ मे अचानक प्राप्त हो जानेवाली अन्य

ये अचानक और मुफ्त में प्राप्त होनेवाले लाभ भाग्य से मिलते है। मान लो, मॉग में अचानक ऐसा परिवर्तन होता है कि कीमत एकदम से बढ जाती है, तब व्यवसायी को एकाएक लाभ हो जायगा।

लाभ के सिद्धान्त (Theories of Profit)—पूरे अर्थशास्त्र मे लाभ सम्बन्धी सिद्धान्त सबसे अधिक लचर और असन्तोषजनक है। आय ऐसी अनिश्चित आय है कि उसकी उचित ढग से परिभाषा करनी कठिन है। लाभ की प्रकृति समझाने के लिये कई सिद्धान्त गढे गये है और उनका हम एक-एक करके अध्ययन करेंगे।

लाभ का लगानजनित सिद्धान्त (Rent-theory of Profit)—इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे पहले फ्रासिस ए० वाकर (Francis A Walker) ने किया था। अगरेजी अर्थशास्त्र मे उसने सबसे पहले पूँजीपति (capitalist) और साहसी उत्पादक (entrepreneur) के बीच मे जो श्रेष्ठ योग्यता के कारण अन्तर होता है, उसे समझाया। वाकर के मत मे लाभ लगान उत्पन्न होता है। योग्यता का लगान है। जिस प्रकार विभिन्न प्रकार की भूमि की उत्पादन-शक्ति अलग-अलग प्रकार की होती है, उसी प्रकार विभिन्न व्यवसायियो की योग्यता भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। फोर्ड के समान साहसी उत्पादक योग्यतम श्रेणी के उत्पादको मे आते है। जिस प्रकार उपजाऊपन अथवा स्थिति के गुण और लाभ के कारण भूमि के किसी टुकडे मे लगान उत्पन्न होता है उसी प्रकार किसी साहसी उत्पादक की विशेष योग्यता अथवा कोई मौका हाथ लगने के कारण लाभ उत्पन्न होता है। जिस प्रकार बेलगान अथवा सीमान्त भूमि होती है, उसी प्रकार लाभरहित अथवा सीमान्त उत्पादक भी होता है, जो अपना उत्पादन चालू बाजार भाव पर बेचकर किसी प्रकार अपना उत्पादन खर्च पूरा करता है। उसकी योग्यता सीमान्त योग्यता होती है। योग्य उत्पादक लाभ पैदा करते है और यह लाभ लाभरहित सीमा से नापा जाता है। इसलिये लगान के समान लाभ भी उत्पादन की कीमत का अश नही होता।

यह ध्यान मे रखना चाहिये कि वाकर के मतानुसार प्रबन्धकर्त्ता का वेतन अथवा मजदूरी जो वह वेतनभोगी मैनेजर की हैसियत से प्रतियोगितापूर्ण बाजार मे कमाता है, लाभ मे शामिल नही किया जाना चाहिये। "हमने यह मान लिया है कि जो लाभ मजदूरी से अधिक नही होता, उसे हम लाभ कह ही नही सकते।" इसलिये वाकर के सिद्धान्त की जो आलोचना की जाती है कि लाभरहित उत्पादन नही हो सकता, क्योकि दीर्घकाल मे सभी को सामान्य लाभ होना चाहिये, उपयुक्त नही है।

इस सिद्धान्त द्वारा यह तो जाना जा सकता है कि लाभ प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु वह लाभ किस प्रकार का होगा यह नही कहा जा सकता। सिद्धान्त लाभ की त को नही समझाता। इस सिद्धान्त की प्रधान आलोचना यह है कि साहसी उत्पादक

का खतरा उठाने का जो प्रधान काम होता है, उसका यह सिद्धान्त विचार नही करता। उत्पादको के लाभो मे से हमे उन लोगो की हानियाँ अवश्य घटानी चाहिये, जो दिवालिया हो चुके है। ऐसा करने पर लाभ के रूप मे कुछ भी अतिरिक्त नही बचेगा। इसलिये लाभ की लगान से तुलना खतम हो जाती है। फिर सम्मिलित पूंजीवाली कम्पनी के एक साधारण हिस्सेदार के मुनाफे को यह सिद्धान्त नही समझाता। इस सिद्धान्त की एक मूल आलोचना यह है कि वह लाभो की विभिन्न मात्राओ और आकारो के कारण भी नही समझाता। भूमि अथवा उत्पादको मे श्रेष्ठ इकाइयो की कमी के कारण आय में अन्तर होता है, जो अत मे लाभ का कारण होता है। भूमि के लगान के सम्बन्ध मे यह बात उतनी महत्त्वपूर्ण नही है, क्योंकि उसमे लाभ की सीमा प्रकृति के कारण होती है। परन्तु जिन कारणो से श्रेष्ठ व्यवसायियो की इकाइयो की कमी होती है, उनकी छानबीन करने से लाभ की समस्या का हल समझ मे आ जायगा। 'इसलिये लाभ का लगानजनित सिद्धान्त मौलिक प्रश्नो पर प्रकाश नही डालता।'

फिर यह भी नही कहा जा सकता कि लाभ मूल्य मे प्रवेश नही करता। खतरा लेने का जो पारितोषिक होगा, वह दीर्घकाल मे होनेवाले उत्पादन का अग अवश्य होगा। परन्तु चूकि साहसी उत्पादको की पूर्ति प्रकृति द्वारा निश्चित नही रहती, इसलिये दीर्घ-काल मे सामान्य लाभ उत्पादन की लागत का अश अवश्य होगा।

लाभ और मजदूरी (Profit and Wages)—अर्थशास्त्रियो की काफी बडी सख्या लाभ को व्यावसायिक योग्यता के उपयोग का पारितोषिक समझते है। टॉसिग और डेवनपोर्ट इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक है।

मजदूरी की तरह लाभ भी निश्चित होता है।

टासिग का मत है कि लाभ को एक प्रकार की मजदूरी मानना ही सबसे अच्छा होगा। व्यवसायी की आय बहुत ही अनियमित होती है। कुल खर्च पूरा करने के बाद उसके पास जो कुछ बच रहता है, वही अतिरिक्त रकम उसकी आय होती है। फिर भी वह केवल किसी मौके के कारण नही होती, लगातार सफलता के कुछ गुणो के ही कारण होती है, जैसे कुशलता, सगठन की योग्यता, खतरो का सामना करने की दूरदर्शिता इत्यादि। इन गुणो के लिये जो पारितोषिक मिलता है, वही लाभ है। पारितोषिक मजदूरी के ही समान है। इसके दो कारण है। एक तो उत्पादक का काम जब भी एक प्रकार की मजदूरी ही है। वह एक प्रकार की मानसिक मजदूरी है, जिसमे कई विशेषताए रहती है। ये विशेषताएँ खतरे उठाने और अनिश्चित परिस्थितियो का सामना करने मे प्रकट होती है। एक डाक्टर और वकील की आय भी तो मजदूरी की श्रेणी मे आती है, यद्यपि उनके कामो मे भी प्रधान गुण मानसिक ही होते है, जैसे दूरदर्शिता चतुराई, निर्णय शक्ति इत्यादि। साहसी उत्पादक और व्यवसायी के काम भी लगभग इस प्रकार के होते है। इसलिये लाभ को भी हमे मजदूरी मानना चाहिये। दूसरे 'व्यवसाय प्रबन्ध के सम्बन्ध मे जो वैतनिक पद होते है, उनकी सख्या, श्रेणी और किस्म बहुत

होती है, जैसे फोरमैन, सुपरिन्टेन्डेन्ट, जेनरल मैनेजर, प्रेसिडेन्ट इत्यादि। ये वेतन-भोगी कर्मचारी हमेशा स्वतन्त्र व्यवसायी होने का प्रयत्न करते रहते हैं। यह क्रम लगा ही रहता है। परिस्थितियों के वश में आकर स्वतन्त्र व्यवसाय-प्रबन्धक वेतनभोगी मैनेजर हो जाते हैं। यह अदला-बदली होती ही रहती है। दोनों पर एक से कारणों का प्रभाव पडता है।" इसलिये मजदूरी के सिद्धान्त को "प्रत्येक प्रकार की मजदूरी के पारितोषिक पर विचार करना चाहिये। ऊपर बतलाये हुए स्वतन्त्र कार्यकर्ताओं का भी तथा किराये पर काम करनेवाले मजदूरों का भी।"

यह सिद्धान्त लाभ की प्रकृति समझाता है, तथा उसका औचित्य बतलाता है। परन्तु लाभ और मजदूरी में जो वास्तविक भेद है, उस पर विचार नहीं करता। मजदूरी बंधी हुई और पहले से निश्चित की हुई आय होती है। पर लाभ एक अनियमित और अनिश्चित आय होती है।

कम से कम तीन ऐसे कारण है, जिनके आधार पर लाभ को मजदूरी से भिन्न मानना चाहिये। पहला, उत्पादक का सबसे महत्त्वपूर्ण काम खतरा उठाना और अनिश्चित परिस्थितियों का सामना करना है। मजदूरी या वेतन प्राप्त करनेवालों को भी थोडा बहुत खतरा लेना पडता है। जैसे कि जिस व्यवसाय के लिये उन्होंने शिक्षा पाई है, उसकी अवनति हो रही हो और सभव है कि उनका काम छूट जाय। परन्तु वेतनभोगियों की अपेक्षा व्यवसायियों के खतरे बहुत अधिक और बहुत बडे होते है। दूसरा, मजदूरी अथवा वेतन की अपेक्षा लाभ में मौके और भाग्य से प्राप्त होनेवाली आय का अंश अधिक होता है। अर्थात् दूसरे शब्दो मे मजदूरी मे उद्योग से प्राप्त होनेवाली आय का अंश बहुत अधिक होता है और लाभ मे प्राय बहुत कम। अन्तिम, अपूर्ण प्रतियोगिता की परिस्थितियो के कारण लाभ प्राय बढते है, परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता के कारण मजदूरी वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति से कम होने की प्रवृत्ति दिखलाती है। व्यवसायी जब अपूर्ण बाजार मे माल बेचता है तो वह कुछ अधिक दाम लेने मे समर्थ हो जाता है, जो कि पूर्ण प्रतियोगिता मे सभव नही होगा। जब हम सम्मिलित पूंजीवाली कम्पनियो की वास्तविक आय की छानबीन करते है, तो साफ मालूम हो जाता है कि लाभ की मजदूरी के साथ तुलना करना गलत है। इन कम्पनियो के लाभो मे और उनके प्रबन्धको की कमाई मे मौलिक भेद होता है। जो साधारण हिस्सेदार होते है, उनका व्यवसाय के प्रबन्ध मे न कोई हाथ रहता है और न उस पर कोई प्रभाव पडता है। वे मुख्यत खतरा उठानेवाले होते है। इन कारणो से "लाभ और मजदूरो को अलग-अलग मानने की वैज्ञानिक आवश्यकता है।"

खतरा लेना और लाभ (Risk-bearing and Profits)—लगभग प्रत्येक „ इस बात को स्वीकार करता है कि उत्पादन सम्बन्धी सगठन में जो खतरे निहित

लाभ खतरा लेने का इनाम है।

होते है, उनके कारण लाभ उत्पन्न होते है। इस सिद्धान्त के माननेवालो मे हाले (Hawley) का नाम प्रधान है। उसका मत है कि साहसी व्यवसायी अथवा उत्पादक का सब से महत्त्वपूर्ण काम खतरा लेना है। सब प्रकार के व्यवसायो मे खतरे तो लगे ही रहते है। और यदि उत्पादन जारी रखना है तो खतरा लेना आवश्यक होता है। लेकिन खतरा लेना एक कष्टदायक और आनन्दरहित काम होता है। इसलिये बिना इनाम या पारितोषिक की आशा से कोई आदमी खतरा नही उठावेगा। उत्पादक जो खतरा उठाता है, लाभ उसी का इनाम होता है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि खतरे में डाली हुई पूंजी पर जो सामान्य औसत आय होती, इनाम उससे कुछ अधिक ही होना चाहिये। क्योकि यदि किसी व्यक्ति को औसतन केवल उतना ही इनाम मिलता है, जितनी कि उसे किसी सुरक्षित व्यवसाय मे पूंजी लगाने से आय होती, तो वह ऐसा काम क्यो करेगा, जिसमे खतरा हो? इसलिये जो खतरा लिया है, उसके औसत मूल्य से इनाम कुछ अधिक ही होना चाहिये।

फिर, खतरा होने के कारण लोग व्यवसायो मे आने से घबडावेगे। इस प्रकार खतरापूर्ण व्यवसायो मे आनेवाले साहसी व्यवसायियो की संख्या कम हो जाती है। पर जो लोग क्षेत्र मे आते है और आकर बचे रह जाते है, उनकी आय अधिक हो जाती है, क्योकि प्रतियोगिता भी तो सीमित हो जाती है।

बहुत कम अर्थशास्त्री इस बात को अस्वीकार करेंगे कि लाभ मे खतरा लेने का इनाम शामिल रहता है। लेकिन इसका मतलब यह नही है कि लाभ केवल खतरे लेने का इनाम होता है। खतरे के सिवा और भी कई बाते होती है, जिनके कारण लाभ होते है। यह अवश्य है कि जो खतरा लेता है, उसी को लाभ भी प्राप्त होता है। लेकिन वह खतरे की मात्रा के अनुसार केवल उसी अनुपात मे इनाम नही होता। जैसा कारवर ने[1] कहा है कि खतरा लेने से लाभ उत्पन्न नही होता, बल्कि श्रेष्ठ व्यवसायी खतरो को घटा देते है, इसलिये उन्हे लाभ प्राप्त होता है। यद्यपि, विरोधात्मक अवश्य लगेगा, पर हम यह भी कह सकते है कि व्यवसायियो को खतरा उठाने के लिये नही, बल्कि खतरा न उठाने के लिये लाभ मिलते है। फिर नाइट (Knight) का यह भी कहना है कि सब प्रकार के खतरो से लाभ प्राप्त नही होते। कुछ खतरे ऐसे होते है, जो पहले से ज्ञात रहते है। आंकड़ो की सहायता (statistical methods) से उनकी राशि का औसत ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिये आंकड़ो की सहायता से किसी समाज मे खतरो द्वारा मृत्यु का औसत जाना जा सकता है और उन खतरो को पूरा करने के लिये उसी हिसाब से किश्त या इनाम (premium) बांधी जा सकती है। कुछ खतरे ऐसे भी होते है, जिनकी राशि या व्यापकता नही जानी जा सकती। आंकड़ो की सहायता से वह निश्चित नही की जा सकती। ज्ञात खतरो के लिये [illegible]

[1] Carver, Distribution of Wealth, p. 27[illegible]

इनाम या किश्त होती है, उसे हम लाभ नहीं कह सकते। वह व्यवसाय के लागत-खर्च मे शामिल होती है, जब कि लाभ लागत-खर्च के अतिरिक्त अधिक आय होती है। जो अज्ञात खतरे होते है, उन्हे उठाने के कारण लाभ प्राप्त होते है। अन्त मे यह कहने में भी सन्देह है कि खतरा लेने का वास्तविक मूल्य होता है या नही। यह दिखाने के लिये बहुत कम प्रमाण मिलते है कि खतरापूर्ण व्यवसाय आरम्भ करने के लिये व्यवसायियो को अधिक इनाम लालच के रूप मे मिलना चाहिये। इनके लिये केवल इतना जानना आवश्यक है कि अमुक व्यवसाय मे वे लोग बहुत लाभ प्राप्त कर सकते है। बहुत से लोग इसलिये व्यवसाय के क्षेत्र मे रहना पसन्द करते है कि उसमे उन्हे स्वतन्त्रता रहती है। वे आज्ञा देना चाहते है, दूसरो की आज्ञा लेना नहीं चाहते। यह जानते हुए भी कि उस स्थिति मे उन्हे खतरो का सामना करना पड़ेगा, वे अपना व्यवसाय चलाना ही पसन्द करेगे।

अनिश्चित और लाभ (Uncertainty bearing and Profit)—लाभ के सम्बन्ध मे जितने आधुनिक सिद्धान्त है, वे लाभ और अनिश्चितता सहने में सम्बन्ध अवश्य बतलाते हैं। प्रतीक्षा के समान अनिश्चित-परिस्थिति का सहना भी उपयोगिता का अभाव है और उसके लिये इनाम मिलना आवश्यक है। जिस प्रकार पूंजीपति का काम प्रतीक्षा देना है, उसी प्रकार उत्पादक का एक विचित्र काम उत्पादन सम्बन्धी सभी अनिश्चितताओ को सहना है। इसलिये लाभ अर्थात् उत्पादक की आय अनिश्चितता सहने का इनाम है।

खतरा और अनिश्चितता मे भेद।

अनिश्चतता की परिभाषा करते हुए एक लेखक ने कहा है कि वह "अनियमित आय की आशा" है। नाइट ने खतरा और अनिश्चितता में भेद इस प्रकार समझाया है। सब प्रकार के खतरो से अनिश्चितता उत्पन्न नही होती। मृत्यु के खतरे के समान कुछ खतरे ऐसे होते है, जिनकी व्यापकता किसी समाज मे आंकडो की सहायता से नापी जा सकती है। और उसे पूरा करने के लिये एक किश्त या इनाम बाँधा जा सकता है। इन्हे हम उपयुक्त खतरे कह सकते है। इनसे अनिश्चितता की भावना उत्पन्न नही होती। परन्तु कुछ ऐसे खतरे भी होते है, जो पहले से जाने नही जा सकते, इसलिये वे अको की सहायता से नापे नही जा सकते। इन खतरो से अनिश्चितताएँ उत्पन्न होती है। इन खतरो को उठाने का लालच देने के लिये लोगो को ऐसा इनाम देना चाहिये जो अनिश्चिततारहित उद्योगो मे प्राप्त होनेवाले इनाम से अधिक हो। वही इनाम लाभ होता है।

प्रतीक्षा करने के समान अनिश्चितता उठाना भी उत्पादन मे एक साधन माना जाता है। अनिश्चितता की इकाई की परिभाषा पिगू ने इस प्रकार की है—"एक पौड को किसी ऐसे काम की अनिश्चित योजना मे लगाना जिसके उपभोग मे एक वर्ष लग जाता है।" (the exposure of one pound to a given scheme of

uncertainty in an act the consumption of which occupies a year.) अनिश्चितता की कई इकाइयो की माँग इसलिये होती है कि वे उत्पादक होती है। अनिश्चितता-सहन मे उत्पादन को पिगू ने घडे टूटने के उदाहरण द्वारा सबसे अच्छी तरह समझाया है। अनिश्चितता-सहन अर्थात् लोगो की अनिश्चितता सहने की स्वेच्छा का एक पूर्ति-मूल्य होता है और वह इन बातो पर निर्भर होता है---(क) साहसी उत्पादको के चरित्र पर। जो बहुत सावधान प्रकृति के लोग है, वे केवल बहुत ऊँचे इनाम के लिये आकर्षित होगे। जहाँ बुद्धिमान लोग कदम रखने मे डरेगे, वहाँ जुआडी प्रकृति के लोग दौडे हुए चले जायँगे। (ख) पूंजी लगानेवालो (investors) के कुल साधनो की मात्रा पर। (ग) इन साधनो का कितना अनुपात खतरे मे डाला जा सकता है। धनी व्यक्ति खतरापूर्ण कामो मे रुपया लगाने के लिये जल्दी तैयार हो जाते है। जब किसी व्यवसाय मे कुल साधनो के एक छोटे अनुपात के लगाने से काम चल सकता है, तो कोई व्यक्ति छोटे से इनाम पर भी उतना रुपया लगाने को तैयार हो जायगा। परन्तु यदि उसमे उसकी पूंजी का अधिक अनुपात लगेगा तो वह अधिक बडे लाभ की आशा करेगा।

फिर साधन के रूप मे अनिश्चितता अकेली नही रहती। जब एक व्यक्ति खतरा लेता है, तो उसके पास कुछ खोने के लिये भी होना चाहिये। ऐसी चीज प्राय पूंजी होती है। अनिश्चितता और पूंजी का यह साथ लाभ का एक अन्य जरिया हो जाता है। अधिकाश उदाहरणो मे इन दोनो चीजो का सयोग पाना मुश्किल होता है। जो लोग खतरा उठाने को तैयार रहते है, उनके पास पूंजी नही रहती और जिनके पास पूंजी है सभव है कि वे सुरक्षापूर्ण कामो में अपना रुपया लगाना पसन्द करे। जिन लोगो मे ये दोनो गुण होते है, उनकी कुछ ऐसी लाभप्रद स्थिति होती है कि वे आभास लगान के समान कुछ आय प्राप्त कर सकते है।

इस सिद्धान्त की पहली आलोचना यह की जाती है कि अनिश्चितता-सहन उत्पादन मे एक अलग अग अथवा साधन नही होता। यदि हम वास्तविक लागत का सिद्धान्त स्वीकार कर ले कि अन्त मे सब लागत कष्ट अथवा अनुपयोगिता मे परिणत हो सकती है, तब हम अनिश्चितता को एक अलग साधन मान सकते है। परन्तु आधुनिक मत वास्तविक लागत के सिद्धान्त को स्वीकार करने के लिये तैयार नही है। यदि मजदूर खराब परिस्थितियो और वातावरण मे काम करके ऊँची मजदूरी पाते है तो इसका मतलब यह नही है कि खराब परिस्थितियाँ एक अलग अग हो जाती है? इसी प्रकार यदि उत्पादको को अनिश्चित परिस्थितियो मे उत्पादन करना पडता है, तो अनिश्चित परिस्थितियो का उठाना उत्पादन का एक अलग अग नही हो जाता। अनिश्चितता तो उत्पादक के काम की केवल एक विशेषता है और यह ऐसी विशेषता है कि उसमे पूंजी और साहस जैसा व्यवसाय की पूर्ति सम्बन्धी लागत बढ जाती है। जितने खतरापूर्ण व्यवसाय मे लोग अधिक इनाम की आशा करते है। यही इस सिद्धान्त का सार है।

फिर केवल अनिश्चितता लाभ का एकमात्र कारण नही हो सकती। अनिश्चितता उठाना उत्पादक का सबसे महत्वपूर्ण काम हो सकता है, परन्तु वह उसका एकमात्र काम नही होता। उत्पादक के और भी काम होते हे। सगठन, नये तरीके ग्रहण करना इत्यादि और भी ऐसे काम रहते है, जिनके लिये इनाम की आशा की जाती है। अन्त में अनिश्चितता कई कारणो मे से केवल एक है, जो उत्पादक वर्ग की पूर्ति को सीमित करते है। उसके सिवा अन्य कारण अथवा प्रभाव भी होते है, जैसे समाज के विभिन्न वर्गों की सतहे और वातावरण जिनके कारण अनिश्चितता उठानेवाले उत्पादको की पूर्ति सीमित हो जाती है।

सीमान्त उत्पादन शक्ति और लाभ (Marginal Productivity and Profit)—उत्पादन के प्रत्येक साधन का पारितोषिक सीमान्त उत्पादन के सिद्धान्त के अनुसार निश्चित होता है। उत्पादक का पारितोषिक या वेतन उसकी व्यावसायिक योग्यता के कारण मिलता है। लाभ सगठन नामक साधन की एक इकाई की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखलायेगा। वास्तविक सीमान्त उत्पादन वह अधिक मात्रा है, जो समाज उत्पादक की सहायता से उत्पन्न करता है। एक उत्पादन वह होता है, जो बिना साहसी उत्पादक की सहायता के होता है और दूसरा वह है, जो उसकी सहायता से होता है। यह पहले की अपेक्षा कुछ अधिक होता है और यही अधिक मात्रा वास्तविक सीमान्त उत्पादन होता है। 'इकॉनामिक जरनल' नामक पत्र में लिखकर चेपमेन[1] ने यह तात्पर्य निकाला कि लाभ उत्पादक के सीमान्त सामाजिक मूल्य के बराबर होने की प्रवृत्ति दिखाता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मजदूर उत्पादक के लिये अपनी वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति देता है। अन्तर केवल इतना है कि मजदूर की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति सीधे अथवा प्रत्यक्ष तरीके से निश्चित होती है, परन्तु "उत्पादक के पारितोषिक पर प्रभाव डालनेवाले कारण अपनी क्रिया अप्रत्यक्ष रूप से और धीरे-धीरे करते है।" एजवर्थ (Edgeworth) भी एक दूसरी रीति से इसी नतीजे पर पहुँचा। "सामान्यत. यह माना जा सकता है कि एक स्वतन्त्र उत्पादक अपने समान योग्यतावाले किसी वेतनभोगी मैनेजर से कम पैदा नही करता और सम्भवत उससे बहुत अधिक भी नही पैदा करता .... यदि मैनेजर का वेतन उसी मात्रा के बराबर है, जो वह पैदा करता है, तो उत्पादक का वेतन अथवा पारितोषिक भी उसके द्वारा उत्पादित मात्रा से अधिक नही है।[2]

1 'Remuneration of Employers' Economic Journal, Dec 1906

2 "Normally it may be presumed that an independent entrepreneur does not make less than a manager of like abilities, and perhaps he does not make more.......... If the remuneration of the manager is just equal to the amount which he produces, then the remuneration of the entrepreneur is not very different from the amount he produces"

—Papers relating to Political Economy, Vol. I, p 30.

लाभ का गतिशील सिद्धान्त (The Dynamic Theory of Profit)—प्रसिद्ध अमेरिकन अर्थशास्त्री जे० बी० क्लार्क का कहना है कि लाभ गत्यात्मक परिवर्तनों के कारण होता है। उसका मत है कि उत्पादक का काम श्रमिकों के प्रबन्ध करने से, अथवा देख-रेख के काम से, अथवा खतरा लेने के काम से बिलकुल भिन्न है। उसका काम मार्ग-दर्शक का काम है। वह एक प्रकार से उत्पादन का जरिया होता है, जिसके कारण आर्थिक सगठन मे परिवर्तन होते है।

लाभ केवल गतिशील परिवर्तनों के कारण होते है।

विक्री मूल्य और लागत में जो अन्तर होता है, वही लाभ है। यदि प्रतियोगिता का पूरा प्रभाव पडे और आर्थिक सगठन में कोई नये परिवर्तन न हो तो प्रत्येक साधन को केवल उतना मिलेगा, जितना वह उत्पादन करेगा और विक्री मूल्य लागत के बराबर होगा। इसलिये देख-रेख की मजदूरी से अधिक कोई लाभ न होगा। **इसलिये गतिहीन समाज (static state) मे लाभ गायब होने की प्रवृति दिखते है।** क्लार्क के मत मे गतिहीन समाज या स्थिति मे पाँच प्रकार के परिवर्तनो की कमी रहती है। पहला, जनसख्या की बढती नही होती। दूसरा, पूंजी की पूर्ति मे भी बढती नही होती। तीसरा, उत्पादन के तरीको मे परिवर्तन नही होता। चौथा, व्यवसाय के सगठन के तरीको मे कोई परिवर्तन नही होता। पाँचवाँ, उपभोक्ताओ की आवश्यकताओ में कोई कमी नही होती। ऐसे गतिहीन समाज मे प्रत्येक वस्तु की कीमत उत्पादन की लागत के बराबर होती है। चूकि लागत के सिवा जो आय होती है, वही लाभ होता है, इसलिये ऐसी स्थिति मे लाभ गायब हो जायगा।

गतिहीन समाज मे लाभ गायब हो जाते है।

लेकिन उत्पादक का विशेष काम साम्य मे उलट-पलट करना है। अपनी सगठन सम्बन्धी श्रेष्ठ योग्यता के कारण वह लागत-खर्च कम करके लाभ प्राप्त करता है। आविष्कार गतिशील परिवर्तन का बडा अच्छा उदाहरण है। किसी नये आविष्कार को ग्रहण करके उत्पादक उत्पादन का लागत खर्च कम कर सकता है। कम लागत पर उत्पादन करने से उसे लाभ होगा। परन्तु जल्दी अथवा देर मे प्रतियोगिता अवश्य होगी। दूसरे उत्पादक उस आविष्कार को ग्रहण करेंगे, उत्पादन भी बढेगा और कीमत गिरेगी। इसके सिवा उत्पादकों की आपस की प्रतियोगिता के कारण मजदूरी और ब्याज की दर भी बढेगी। इसका फल यह होगा कि उत्पादन खर्च भी बढ जायगा और धीरे-धीरे लागत-खर्च और कीमत फिर बराबर हो जायगे। तब लाभ गायब हो जायगा। इस प्रकार लाभ अस्थायी अस्थिर होते हैं। वे परिवर्तनो के कारण होते है तथा स्वय भी परिवर्तनो के कारण होते है। जो मार्गदर्शक उत्पादक साहसपूर्वक खतरा लेकर नया रास्ता ग्रहण करता है वह कुछ समय के लिये लाभ अथवा अतिरिक्त आय प्राप्त करता है। परन्तु अन्य प्रभावों की प्रतियोगिता के कारण उसे जल्दी अपना लाभ ऊँची मजदूरी, अथवा ऊँची ब्याज दर अथवा कम कीमत के रूप मे समाज को दे देना पडता है। [illegible]

गतिशील परिवर्तन की पूरी क्रिया का अन्तिम ध्येय लाभरहित स्थिति होती है।" इसलिये गतिहीन स्थिति मे जहा संघर्षहीन प्रतियोगिता होती है, लाभ की मात्रा न्यूनतम होगी। परन्तु वास्तविक जीवन मे परिवर्तन बराबर होते रहते है और लगातार संघर्ष के कारण प्रतियोगिता का प्रभाव भी कम होता रहता है। इसलिये उत्पादक हमेशा लाभ प्राप्त करने मे समर्थ होते रहते है।

इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए एफ० ए० नाइट ने कहा है कि सब प्रकार के गतिशील परिवर्तनो से लाभ उत्पन्न नही होता। जो परिवर्तन नियमित रूप से होते हैं और इस कारण पहले से ज्ञात रहते है, उनका हिसाब और प्रबन्ध पहले से कर लिया जायगा। यह उसी प्रकार होगा जिस प्रकार किसी समाज मे मृत्युसख्या की औसत अकों की सहायता से निश्चित कर ली जाती है और उस खतरे के लिये किस्त बाध दी जाती है। पहले से ज्ञात परिवर्तनो के जो आर्थिक परिणाम होगे, वे निश्चित कर लिये जायंगे और उत्पादन खर्च में शामिल कर दिये जायगे। लेकिन कुछ ऐसे परिवर्तन भी होते है, जो पहले से नही जाने जा सकते और उनके सम्बन्ध में पहले से कुछ नही कहा जा सकता। ऐसे परिवर्तनो के कारण लाभ उत्पन्न होता है। टासिग इस सिद्धान्त की आलोचना यह कहकर करता है कि वह लाभ और प्रबन्धकर्ता की आय के बीच में एक बनावटी या अवास्तविक भेद खडा करता है। 'जो जमे हुए व्यवसाय है, उनके दैनिक प्रबन्ध मे भी निर्णय-शक्ति और प्रबन्ध कुशलता की आवश्यकता होती है। वर्तमान प्रगतिशील और शीघ्रगामी युग में इन गुणो के लाभपूर्ण उपयोग की आर्थिक आवश्यकता होती है।"[1] एक गतिहीन स्थिति में उत्पादको को प्रबन्धकर्ताओ की मजदूरी मिलेगी। यदि ऐसी स्थिति मे खतरे नही है, तो खतरे लेने के इनाम भी नही रहेगे। अधिकाश खतरे रहेगे ही नही। थोडे से खतरे रहेगे, जैसे आग द्वारा नुकसान होने का खतरा, उत्पादको की लापरवाही, मजदूरो का काम टालने अथवा न करने का खतरा (जिसे मार्शल ने व्यक्तिगत खतरे कहा है) रहेगे और इन्हे लेने के लिये इनाम अवश्य मिलना चाहिये।

तात्पर्य (Conclusion)—इन सब सिद्धान्तो में त्रुटि यह है कि ये उत्पादक के कार्यो के किसी एक पहलू पर जोर देते है और अन्य पहलुओ को छोड़ देते है। लेकिन लाभ एकजातीय अथवा एक ही प्रकार की आय नही होती। उत्पादक केवल एक ही काम नही करता। उसके काम के कई पहलू होते है, जैसे—खतरा लेना, अनिश्चितता लेना, योजना बनाना, चुनना, निर्णय करना इत्यादि। इसलिये लाभ की वास्तविक प्रकृति समझाने के लिये कोई एक सिद्धान्त काफी नही हो सकता। फिर अधिकाश सिद्धान्तो में उत्पादक के कार्यो की केवल व्याख्या की गई है। लेकिन इस प्रकार की व्याख्या से लाभ की उत्पत्ति नही समझाई जा सकती। लाभ के वास्तविक सिद्धान्त को

---

[1] *Taussig*, Principles, Vol. II, p. 129.

यह भी बतलाना चाहिये कि उत्पादकों की पूर्ति इतनी सीमित नही है। क्योंकि यदि योग्य उत्पादकों की संख्या उतनी अधिक होती, जितनी शारीरिक श्रम करनेवाले मजदूरों की है, तो उनका पारितोषिक भी एक साधारण मजदूर की दैनिक मजदूरी से अधिक न होता, चाहे वे अनेक प्रकार के काम भले ही करते। परन्तु उत्पादकों की सीमित पूर्ति समझाने के लिये वर्तमान समाज के संगठन और उसके अन्तर्गत वर्गीकरण को समझाना पडेगा। उसमे यह समझाना पडेगा कि उत्पादक के काम के सम्बन्ध में आवश्यक गुण, जैसे—कल्पना, निर्णय शक्ति, संगठन सम्बन्धी योग्यता और कुशलता, खतरा लेने मे दूरदर्शिता, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास इत्यादि सीमित होते है, अर्थात् बहुत कम व्यक्तियों मे पाये जाते है। तब यह जानना चाहिये कि यह सीमा कहाँ तक स्वाभाविक कारणों से होती है और कहाँ तक परिस्थितियों और वातावरण के कारण। इस सिद्धान्त को यह भी समझाना चाहिये कि कभी-कभी कीमत लागत खर्च से अधिक क्यो बढ़ जाती है, जिससे लाभ मे एकाएक वृद्धि हो जाती है। क्लार्क ने गतिशील परिवर्त्तनों पर जो जोर दिया है, वह इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण है। मुद्रा सम्बन्धी जो उथल-पुथल होते रहते हैं, जिनके कारण लाभ और नुकसान हुआ करते है, उनकी तरफ भी ध्यान देना आवश्यक है। इसलिये लाभ के सिद्धान्त को एक ओर समाज के वर्गीकरणजनित समस्याओं की ओर ध्यान देना चाहिये और दूसरी ओर मुद्रा के सिद्धांत मे जो समस्याएं निहित होती है उनकी ओर।

लाभ का औचित्य (Justification of Profit)—समाजवादी लाभ की बड़ी कटी आलोचना करते हैं। मार्क्स का कहना है कि सब मूल्य श्रम से उत्पन्न होते हैं, इसलिये वह मजदूरों को ही मिलने चाहिये। अतिरिक्त मूल्य (surpuls value) जो लाभ कहलाता है, मजदूरों के हिस्से से छीन लिया जाता है। इसलिये लाभ 'कानूनी चोरी' है।

लाभ से कुछ बातें अनुचित होती हैं।

इसमें सन्देह नही कि वास्तविक लाभ में कई ऐसी बाते रहती है, जिन्हे उचित नही कहा जा सकता। असहाय मजदूरों का शोषण करके और उनकी सीमान्त योग्यता से कम मजदूरी देकर उत्पादक अपना लाभ बहुत बड़ा सकता है। बेईमानी के तरीको से ऐसी सुविधाएँ प्राप्त की जा सकती है, जिनसे काफी आर्थिक लाभ होगा। उद्योगपति कानून बनानेवाले विधानमंडलों के सदस्यों को रिश्वत देकर संरक्षण सम्बन्धी कानून बनवा सकते है। स्टॉक एक्सचेंज पर जुआ, सट्टा तथा अन्य अनुचित तरीकों द्वारा लोग धनी हो सकते है। कुछ लोग एकाधिकार द्वारा लाभ उठाते हैं, जो कई दृष्टियों से अनुचित होते है। ऐसे अनेक अनुचित तरीके होते है, जिनके द्वारा बड़े-बड़े लाभ बटोरे जा सकते है। इस प्रकार के लाभों को कोई उचित नही कह सकता। इस प्रकार के लाभ लोगों की व्यावसायिक चरित्रहीनता से उत्पन्न

होते है। इन अनुचित तरीको से बचने के लिये अच्छा यह होगा कि प्रतियोगिता की पूर्ण स्वतन्त्रता रहे और जनता के चरित्र को उन्नततर स्तर पर लाया जाय।

लेकिन जहाँ अनुचित लाभो की निन्दा करनी उचित है, वहा ईमानदार व्यक्तियो द्वारा उपार्जित सामान्य लाभो की निन्दा नही करनी चाहिये। जहा निजी सम्पत्ति की व्यवस्था होगी, वहा उसके परिणामस्वरूप लाभ अवश्य होगे। जिस प्रकार आप प्रतीक्षा करने के लिये लोगो को कुछ देते है, उसी प्रकार खतरा लेने और अनिश्चितता सहने के लिये भी लोगो को कुछ मिलना चाहिये। उत्पादक खतरा लेकर उत्पादन के सगठन को चलाता है और इस प्रकार वह समाज की सेवा करता है। इसके लिये उसे अवश्य कुछ मिलना चाहिये। व्यवसायियो की सेवाएँ मजदूरो की सेवाओ से कम उपयोगी नही होती। अपनी सगठन की श्रेष्ठ योग्यता से, अपने साहस और दूरदर्शिता के बल पर खतरा उठाकर उत्पादक आर्थिक सगठन की उत्पादन शक्ति काफी बढा देता है, जो शायद उसके बिना सभव न होता। समाज के वर्तमान सगठन मे लाभ के द्वारा उन्नति काफी हुई है और लाभ खतम कर देने से समाज की उन्नति भी खतम हो जायगी। हाँ, यदि हम निजी सम्पत्ति खतम कर दे तो फिर लाभ देने की भी आवश्यकता न रहेगी। परन्तु निजी सम्पत्ति खतम करने से अन्य कई समस्याएं उठ खडी होती है, जिनका विवेचन आगे किया जायगा।

अध्याय ३२

राष्ट्रीय आय

(The National Income)

'तेते पाँव पसारिये जेती लाबी सौर' एक ऐसी कहावत है जो कई बातो पर लागू होती है। अपने विषय का अध्ययन करते समय अर्थशास्त्री को भी इस कहावत पर ध्यान देना चाहिये और पहिले यह मालूम कर लेना चाहिये कि 'चादर की लम्बाई-चोडाई' कितनी है। तात्पर्य यह है कि अर्थशास्त्र के अध्ययन के आरभ मे इस बात की जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये कि समाज की राष्ट्रीय आय कितनी है। व्यक्ति सबसे पहिले यह देखता है कि उसकी कुल आय कितना रुपया है और तब वह इस बात पर विचार करता है कि उसे किस प्रकार बढाया जा सकता है और उसे वह खर्चे की विविध मदो पर किस प्रकार बाँटे कि उससे अपने और अपने परिवार के लिए अधिकतम लाभ प्राप्त कर सके। इसी प्रकार अर्थशास्त्री भी सामाजिक-विज्ञान के विशेषज्ञ के रूप मे इस बात से अपना अध्ययन आरभ करता है कि राष्ट्रीय आय कितनी है और उसका वितरण किस प्रकार होना चाहिये। उसके विभिन्न तर्कों और विश्लेषणो की यही पृष्ठ भूमि होती है।

राष्ट्रीय आय की परिभाषा क्या है ? इसकी परिभाषा दो प्रकार से की जा सकती है। हम यह कह सकते है कि एक निश्चित अवधि में या सामान्य तौर पर एक वर्ष में किसी देश के नागरिको द्वारा उत्पादित सामग्री और उनकी सेवाओ के कुल जोड को राष्ट्रीय आय कहते है। इसकी परिभाषा करने का दूसरा तरीका यह है कि एक निश्चित अवधि मे उत्पादन के साधनो द्वारा अर्जित कुल आय राष्ट्रीय आय है अर्थात् भूमिपतियो, मजदूरो, पूंजीपतियो और व्यापारियो द्वारा अर्जित कुल आय राष्ट्रीय आय है। इसे 'साधन की आय का योग' (factor-payment total) भी कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि यह कुल वेतन, लगान और रायल्टी, कुल ब्याज और सामूहिक (corporate) या स्वतन्त्र (unincorporate) व्यापार के कुल नफे का योग है। आगे इन दोनो परिभाषाओ पर विचार किया जायगा।

कुल राष्ट्रीय उत्पादन (Gross National Product)—बताया गया [illegible] सामग्री और सेवाओं [illegible] मुद्रा में कुल [illegible] देश के प्राकृतिक साधनों से [illegible] सेवाओं का उत्पादन किया जाता

हैं। इन कुल उत्पादन की मुद्रा मे जो कुल कीमत होती है उसे "कुल राष्ट्रीय उत्पादन" कहते है।

"कुल राष्ट्रीय उत्पादन" का पता लगाने मे हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि इसमे केवल वही मदे शामिल की जायं जो उत्पादन या सेवाओ के अंतिम रूप हो अथवा जिन्हे पक्का माल कहा जा सके जिससे एक ही वस्तु को उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान मे दो विभिन्न रूपो मे अलग-अलग मदो के रूप मे जोड़ने से बचाया जा सके। उदाहरण के लिए १ रुपया कीमत की पुस्तक छापने के लिए दो रुपये का कागज इस्तेमाल किया जाता है। चूंकि पुस्तक की कुल कीमत कुल राष्ट्रीय उत्पादन के अन्तर्गत शामिल कर ली गई है इसलिए कागज की कीमत को पृथक मद के रूप मे शामिल नहीं किया जाना चाहिये। कागज का मूल्य पुस्तक के कुल मूल्य मे शामिल किया जा चुका है। पुस्तक के मूल्य के साथ ही कागज के मूल्य को भी पृथक मद के रूप मे जोडना एक ही वस्तु की कीमत को दो बार जोडना होगा। कागज उत्पादन की प्रक्रिया में प्रयुक्त वस्तुओ मे से एक है, वही अंतिम उत्पादन नही है। परन्तु हम अपने बच्चों की शिक्षा के लिए जो कागज इस्तेमाल करते है उसे कुल राष्ट्रीय उत्पादन के अन्तर्गत समझना चाहिए क्योंकि यह कागज अंतिम उत्पादित वस्तु होती है। हमे इस बात की सावधानी रखनी होगी कि गणना करते समय रोटी के लिए आटे, मोटरकार बनाने के लिए प्रयुक्त इस्पात, या लोहा पिघलानेवाली भट्टी में प्रयुक्त कोयले को कुल राष्ट्रीय उत्पादन के अन्तर्गत शामिल नही करना चाहिये क्योंकि यह अंतिम उत्पादन या पक्के माल के लिए प्रयुक्त सहायक वस्तुएँ है। हमे केवल अंतिम उत्पादन या पक्के माल को ही कुल राष्ट्रीय उत्पादन के अन्तर्गत शामिल करना चाहिये। अर्थात् हमें उन वस्तुओं को इस श्रेणी में रखना चाहिये जिनको उपभोक्ता खरीदते है। इस प्रकार हमें किसी फर्म के कुल उत्पादन के मूल्य में से उस फर्म द्वारा अन्य फर्मों से खरीदे कच्चे माल और अन्य सामान का मूल्य घटा देना चाहिये जिनका उत्पादन मे इस्तेमाल किया गया। इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि हम देश मे उत्पादित अनेक प्रकार की वस्तुओ के कुल योग को निर्धारित करने के लिए उन वस्तुओ की रुपये मे कीमत को अपनी गणना का आधार बनाते है। उत्पादित वस्तुओ का मूल्य उस वर्ष बिक जाने पर उनकी बाजार कीमतो के आधार पर निर्धारित किया जाता है। यदि वह उत्पादित वस्तुएँ नही बिक पाती तो उनके उत्पादन की कुल लागत के आधार पर उनकी कीमते निर्धारित की जाती है। इसमे सन्देह नही कि रुपया राष्ट्रीय आय को नापने का उपयुक्त साधन नही है परन्तु यह भी सच है कि हमारे पास जितने भी साधन है उनमे रुपया सबसे उत्तम साधन है।

शुद्ध या वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन (Net National Product)—जैसे कुल राष्ट्रीय उत्पादन का सिद्धान्त कुछ स्थितियो के लिए लाभदायक है उसी प्रकार शुद्ध या वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन का सिद्धान्त भी कुछ अन्य स्थितियो पर लागू होता

उदाहरणार्थ कुछ अल्पकालीन कार्यो के लिए कुल राष्ट्रीय उत्पादन का सिद्धान्त

सबमे अधिक उपयुक्त साधन है। युद्ध के समय कुल उत्पादित सामान तथा सेवाओ का
कुल योग अत्यन्त महत्व का है। इस कुल योग का कुछ अश टूट-फूट या घिसाई की
पूर्ति के लिए अलग रखने पर इस अवधि मे आशिक ध्यान रखा जा सकता है या इसकी
बिल्कुल उपेक्षा की जा सकती है। हमारे मकानो की समय-समय पर मरम्मत की जानी
चाहिए परन्तु युद्धकाल मे भी ऐसा करना जरूरी नही है। इसके साथ ही घिसाई या
टूट-फूट का ठीक अनुमान लगा सकना आसान बात नही है। कुल राष्ट्रीय उत्पादन
का पता लगाना शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन को निर्धारित करने से सरल है।[1] शुद्ध या वास्त-
विक राष्ट्रीय उत्पादन एक वर्ष मे उत्पादित कुल सामान और सेवाओ की मुद्रा मे आँकी
गई शुद्ध कीमत है। शुद्ध (net) शब्द से तात्पर्य यह है कि शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन की
गणना करते समय हम कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे से व्यापार मे होने वाली विभिन्न प्रकार
की क्षति-पूर्ति या मशीनो की घिसाई की क्षति-पूर्ति के लिए मुआवजे के रूप मे कुछ रकम
अलग कर देनी चाहिये। उत्पादन के साथ-साथ इमारत और मशीने धीरे-धीरे घिसती
रहती है, उनमे जग लग जाता है और धीरे-धीरे नाकाम होती जाती है। यदि एक वर्ष
के उत्पादन कार्य मे मशीन का एक पुर्जा घिस जाता है तो हमे कुल राष्ट्रीय उत्पादन मे
से इस घिसे पुर्जे की क्षति पूर्ति करने के लिए कुछ रकम अलग रख लेनी चाहिए। इसी
प्रकार किसी कारखाने के पास १ जनवरी १९५२ को कच्ची रुई का एक निश्चित मात्रा
में स्टाक जमा है और वह उस वर्ष कपडे का उत्पादन करने के लिए इस स्टाक का एक
अश और उस वर्ष खरीदी अन्य प्रकार की कच्ची रुई का प्रयोग करता है। इसके फल-
स्वरूप ३१ दिसम्बर १९५२ को उसका कच्ची रुई का स्टाक १ जनवरी १९५२ के
स्टाक से कम होगा। इसलिए इससे पहिले कि हम शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन का पता
लगाये हमे कुल राष्ट्रीय उत्पादन में से स्टाक की इस कमी को घटा देना चाहिये।

शुद्ध या वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन मे (१) उपभोक्ताओ द्वारा खरीदी वस्तुएँ
और सेवाएँ, (२) सरकार द्वारा खरीदी वस्तुएँ और सेवाएँ और (३) निजी विनि-
योग मे शुद्ध वृद्धि शामिल है।

साधनों की आय का योग (The Factor-Payment Total)—सामान और सेवाओं के इस कुल योग का उत्पादन, उत्पादन के विभिन्न साधनों के सयोग से हुआ और मुद्रा में उनका मूल्य उत्पादन के साधनों ने विभिन्न प्रकार से बंटा हुआ है। इसलिए राष्ट्रीय आय को उत्पादन में प्रयुक्त सेवाओं तथा साधनों की पूर्ति करनेवाले व्यक्तियों द्वारा प्राप्त आय का कुल योग भी कहा जा सकता है। सेवाओं और उत्पादन के साधनों के लिए किये गये भुगतान को चार हिस्सों में बांटा जा सकता है—वेतन (Wages), लगान (Rent), ब्याज (Interest), और लाभ (Profits)। इस आधार पर राष्ट्रीय आय की गणना करने में कुछ विशेष प्रकार के भुगतानों (Payments) और गैर-भुगतानों (non-payments) पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिये। कुल राष्ट्रीय आय में व्यक्तियों द्वारा प्राप्त सभी प्रकार की आय शामिल नहीं है। राष्ट्रीय आय उत्पादन की माप है इसलिए इसमें वह आय शामिल नहीं की जानी चाहिये जिनके लिए बदले में कोई उत्पादक-सेवा नहीं की गई है। ऐसे भुगतान जो सामानों और सेवाओं के उत्पादन के बदले नहीं किये जाते हैं बदले में किये गये भुगतान (Transfer Payment) कहे जाते है। उदाहरण के लिए सरकार द्वारा विस्थापितों को सहायता के लिए दी गई आर्थिक या माली सहायता बदले में किया गया भुगतान है क्योंकि इस प्रकार की सहायता प्राप्त करने वाले बदले में सरकार की कोई सेवा नहीं करते। इसलिए उत्पादन के साधनों द्वारा प्राप्त कुल आय के जोड के आधार पर निर्धारित राष्ट्रीय आय में से इस प्रकार के बदले में किये गये भुगतानों को निकाल देना चाहिए।

दूसरी ओर कुछ रकम ऐसी भी होती है जो किसी व्यक्ति को नहीं दी जाती। उदाहरण के लिए ज्वाइट-स्टाक कम्पनियों में यह रिवाज है कि वह कुल अर्जित आय अपने हिस्सेदारों में नहीं बाँटते। इसलिए बाँटे न गये लाभांश को पृथक रूप से राष्ट्रीय आय में शामिल करना चाहिये। या, ज्वाइट स्टाक कम्पनियों को हुए लाभ पर सरकार काफी मात्रा में कर वसूलती है और लाभ का यह अंश आय का भुगतान नहीं होता। इसलिए हमें सभी लाभों को शामिल कर लेना चाहिये चाहे उसका मालिक या हिस्सेदार को वास्तव में भुगतान कर दिया गया हो या व्यापार के लिए अलग रख दिया हो। हमें कुछ विशेष प्रकार के भुगतानों को भी शामिल करना चाहिये जैसे उस मकान का वार्षिक किराया जिसमें मालिक रहता है, आदि।

इस प्रकार राष्ट्रीय आय (१) सभी कर्मचारियों द्वारा अर्जित मजदूरी, वेतन और अन्य पूरक आय, (२) सभी व्यक्तियों के करों का शुद्ध किराया जिसमें स्वयं अपने मकान का अनुमानित किराया भी शामिल है, (३) शुद्ध ब्याज के भुगतान की रकम, (४) सभी प्रकार के व्यापारों में हुए शुद्ध लाभ की रकम जिसमें (अ) किसानों, साझेदारी और पेशेवर व्यक्तियों जैसे डाक्टर आदि की आय और (व) ।इट-स्टाक कम्पनी की शुद्ध आय जिसमें हिस्सेदारों को भुगतान किये गये लाभांश,

वितरित किये गये लाभांश और संयुक्त कर की रकम शामिल है, कुल योग के बराबर है।

सभी प्रकार की आय (उत्पादन के साधनों की कुल आय) के रूप में राष्ट्रीय आय और बाजार-कीमत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन के रूप में राष्ट्रीय आय का क्या सम्बन्ध है? देश में उत्पादित माल बाजार कीमत पर बिकता है जिसमें सरकार द्वारा लगाये अप्रत्यक्ष कर भी शामिल है। इस प्रकार राष्ट्रीय उत्पादन की बाजार-कीमत उत्पादन के साधनों को दी गई आय से अप्रत्यक्ष-करों की रकम के बराबर अधिक होती है। मान लिया कि कुछ उत्पादन करने की वास्तविक लागत एक लाख रुपया है जो उत्पादन के विभिन्न साधनों को मजदूरी, लगान या किराया, व्याज और लाभ के रूप में चुकायी जाती है। सरकार इस उत्पादित मात्रा पर १० हजार रुपया कर लगा देती है जिससे यह मात्रा बाजार में १ लाख १० हजार में बिकती है। यह उत्पादन की बाजार कीमत है जब कि वस्तुओं के उत्पादन की लागत के रूप में केवल एक लाख रुपया दिया गया। इस प्रकार शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन की बाजार-कीमत में से अप्रत्यक्ष-करों की रकम को घटाकर ही हम साधनों की आय के आधार पर निर्धारित राष्ट्रीय आय का पता लगा सकते है।

कुल राष्ट्रीय उत्पादन की बाजार कीमत—घिसाई और टूट-फूट की क्षतिपूर्ति की रकम = शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन की बाजार कीमत। शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन की बाजार कीमत + अप्रत्यक्ष करों की रकम = राष्ट्रीय आय (या साधनों की लागत के आधार पर निर्धारित राष्ट्रीय आय)।

करो को राष्ट्रीय-आय मे शामिल किया जाय या नही, इस सवाल पर कम से कम दो मत है।[1] पहिले मत के अनुसार जिसको कुजनेत्स (Kuznets) और संयुक्त राज्य अमेरिका का व्यवसाय विभाग मानता है, करो को दो भागो मे बाटना चाहिये —अप्रत्यक्ष कर (या अमेरिकी शब्दो मे व्यापार कर), और अन्य कर (व्यक्तिगत या प्रत्यक्ष कर)। अप्रत्यक्ष कर जैसे बिक्री कर, उत्पादन कर आदि, किसी साधन विशेष को नही देना पडता है जब कि व्यक्तिगत कर, जैसे आय-कर, साधन की आय मे से चुकाये जाते है, अर्थात् व्यक्ति की आय मे से दिये जाते है। इसलिए साधनो की आय को कुल योग के रूप मे राष्ट्रीय आय की गणना करते समय उन लोगो की राय के अनुसार अप्रत्यक्ष करो को शामिल नही किया जाना चाहिये (क्योंकि वह आय मे से नही चुकाये जाते है, बल्कि कीमत मे जुड भर जाते है), और अन्य करो को शामिल किया जाना चाहिये (क्योंकि वह आय मे से चुकाये जाते है)। दूसरी विचारधारा के माननेवालो के अनुसार जिनमे सी० एस० शूप (C. S. Shoup)[2] भी शामिल है राष्ट्रीय आय की गणना करने मे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो मे कोई अन्तर नही है। उनके अनुसार पहले मत के माननेवालो के अनुसार उन बात का ज्ञान होना चाहिये कि कौन कर साधनो की आय मे से दिये जाते है और कौन कर नही दिये जाते और कर-भार के स्थानान्तरण के सम्बन्ध मे हमारा वर्तमान ज्ञान इतना अपर्याप्त है कि हम यह अन्तर नही कर सकते। इसलिए साधनो की कुल आय की गणना करने मे या तो सभी करो को निकाल दिया जाय या सभी को शामिल कर दिया जाय। यदि सभी कर निकाल दिये जाते है तो हमे सरकार द्वारा निकासी किये गये सामान का मूल्य जोड लेना चाहिये। या, यदि कोई कर नही निकाले जाते तो हमे कुल योग मे से सरकार द्वारा खरीदी वस्तुओ का मूल्य घटा देना चाहिये जो अतिम उत्पादन या पक्के माल नही है बल्कि अर्द्ध पक्के माल (intermedate products) है।

पक्के माल और सरकार द्वारा खरीदे अर्द्ध पक्के माल के भेद से राष्ट्रीय उत्पादन के कुल योग के आधार पर राष्ट्रीय आय की गणना करने मे दूसरी कठिनाई पैदा हो जाती है। पहिले कहा जा चुका है कि इस बात का ध्यान रखा जाय कि केवल उन्ही वस्तुओ की गणना की जाय जो अतिम रूप से उत्पादित वस्तुएँ या पक्का माल है और एक ही वस्तु की दो-बार गणना करने के भय को दूर करने के लिए अर्ध उत्पादित

---

[1] For a good discussion of these views, see an article by Bowman and Easterlin,—"An Interpretation of the Kuznets and Department of Commerce Income Concepts" in the Review of Economics and Statistics, Feb 1953, p. 41—50.

[2] *Shoup*, Principles of National Income Analysis, 1947, p. 231—33. Also his article, "Development and Use of National Income Data" in rvey of Contemporary Economics.

वस्तुओं को या अर्द्ध-पक्के माल को इसमें शामिल न किया जाय। तो क्या यह मान लिया जाय कि सरकार सामानों और सेवाओं पर जो व्यय करती है वह पक्के माल और सेवाओं पर किया गया? अवश्य। अमेरिका के वाणिज्य विभाग और ब्रिटेन के राजकीय अधिकारी राष्ट्रीय आय के वितरण का नियमित रूप से प्रकाशन इसी सिद्धान्त के अनुसार करते हैं। यह अधिकारी सरकार के कुल व्यय में से उन मदों को निकाल देते हैं जो बदले में किए गये भुगतान (transfer payment) हैं (जैसे, सहायता के लिए दी गई रकम, सरकारी ऋण पर ब्याज आदि)। व्यय की अन्य सभी मदें राष्ट्रीय आय के कुल योग में शामिल होती हैं। परन्तु कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि सरकार द्वारा खरीदी गयी और निकासी की गयी सभी वस्तुओं को पक्का माल नहीं कह सकते हैं। इनमें से कुछ अर्द्ध-पक्का माल हो सकता है इसलिए राष्ट्रीय आय की गणना करते समय उनको शामिल नहीं किया जाना चाहिये। उदाहरणार्थ सरकार दूर-दूर के गावों को मुख्य विक्रय केन्द्र से जोडने वाली सडक का निर्माण करती है। इस सडक के बन जाने से किसानों के लिए अपनी वस्तुओं को मुख्य विक्रय केन्द्र तक ले जा सकना सम्भव हो गया। इसे अर्द्ध-पक्का उत्पादन कहा जा सकता है जिसका निजी व्यापारी फसल के शीघ्र यातायात के लिए प्रयोग करते हैं। यदि हम सडक के निर्माण और उसकी मरम्मत तथा देख-भाल पर किये जाने वाले व्यय को राष्ट्रीय आय में शामिल कर दें और उसे अन्तिम रूप में उत्पादित वस्तु मान लें तो हम एक वस्तु की दो बार गणना करने के दोषी होंगे। जिस कीमत पर फसल बाजार में बिकती है उसमें यातायात का मूल्य शामिल है। कुजनेट्स ने पक्के माल और सरकार द्वारा निकासी किये गये अर्द्ध-पक्के माल के बीच के इस अन्तर को माना है। परन्तु उसने यह भी माना कि सरकारी माल की वह मात्रा जिसका मूल्य प्रत्यक्ष कर की रकम के बराबर है पक्का माल समझा जाय। अप्रत्यक्ष कर के बराबर सरकारी माल की मात्रा को कच्चा माल समझा जाता है और

विदेशियो के हाथ मे हो और देश के कुछ लोगो को विदेशो मे भी आय प्राप्त हो सकती है। इसलिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय आय की गणना करते समय विदेशी व्यापार और विदेशी विनियोग पर भी विचार किया जाय। यदि भारत मे चालू कारखानो से ब्रिटिश उद्योगपतियो को लाभाश मिलता है तो यह ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय का हिस्सा है न कि भारत की राष्ट्रीय आय का। हमारा निर्यात व्यापार हमारे राष्ट्रीय उत्पादन का हिस्सा है जबकि हमारे द्वारा किया गया आयात उस देश के राष्ट्रीय उत्पादन का हिस्सा है जिससे हमने यह माल मॅगाया है। इसलिये राष्ट्रीय आय की गणना करते समय हमे निर्यात, आयात और देश में तथा विदेश को चुकाये जाने वाले लाभाश एव व्याज आदि पर भी विचार करना चाहिए। व्यवहार में किसी माल का या कारखाने आदि का स्वामित्व किसी विदेशी को सोप देने मे ही राष्ट्रीय आय पर प्रभाव नही पड जाता। राष्ट्रीय आय की गणना में इस तथ्य को तभी महत्व दिया जायगा जबकि उसकी आय का या उत्पादित माल का निर्यात किया जाता हो। उदाहरणार्थ, यदि कोई विदेशी दिल्ली में एक मकान खरीदता है और भारत के किसी बैंक से जिसमें उसका रुपया जमा हो, मकान की कीमत चुका देता है। इस लेन-देन का राष्ट्रीय आय पर प्रभाव नही पडेगा। सिद्धान्तत निश्चय ही ऐसा नही होना चाहिए। परन्तु जब तक माल का वास्तव में निर्यात या आयात न किया गया हो[1] उसको राष्ट्रीय आय की गणना में शामिल नही किया जाता है। अधिकारियो ने विदेशियो द्वारा हमारे देश को दिये गये सामान और सेवाओ के बदले हमारे देश द्वारा इससे 'अतिरिक्त मात्रा' मे दिये गये माल और सेवाओ की गणना की है और उस अतिरिक्त मात्रा को राष्ट्रीय आय की गणना में शामिल किया है। यदि हमारे देश ने आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक किया है तो यह अतिरिक्त निर्यात विदेश मे हमारा विनियोग है। यदि निर्यात आयात से कम है तो इस अन्तर को राष्ट्रीय आय मे से घटा देना चाहिए।

राष्ट्रीय आय की परिभाषा में और भी अनेक समस्याएँ निहित है और अर्थशास्त्रियो मे इन समास्याओ पर चलने वाली बहस कभी नतीजे पर नही पहुच सकी है। फिर भी यदि प्रत्येक मद पर समान दृष्टि से विचार किया जायगा तो राष्ट्रीय आय के तखमीने में बहुत अन्तर नही प्रतीत होगा।

व्यक्तिगत आय और वास्तविक आय (Personal income and disposable income)—राष्ट्रीय आय पर बहस के दौरान मे दो और सिद्धान्तो पर विचार कर लेना अनुचित न होगा। एक सिद्धान्त व्यक्तिगत आय

---

[1] Some services purchased by foreigners, for example, by tourists, re assumed to be exported

(personal income) का सिद्धान्त है। यह देश के सभी व्यक्तियों को मुद्रा के रूप मे प्राप्त होनेवाली आय के बराबर है। साधनों की आय के रूप मे राष्ट्रीय आय से यह भिन्न है। यह अन्तर दो प्रकार का है। प्रथम, इसमे सरकार द्वारा किये गये बदले के सभी भुगतान शामिल होते है, अर्थात, ऐसे भुगतान शामिल होते है जिनके बदले कोई सेवा नही की जाती। द्वितीय, इसमे आय की वह मदे शामिल नही की जाती है जैसे ज्वाइट स्टाक कम्पनी का वितरित न किया गया लाभ या संयुक्त लाभ करो की रकम जो कि व्यक्तियो को नही दी जाती है।

वास्तविक आय (disposable income) का तात्पर्य निजी आय के उस अंग से है जो प्रत्यक्ष करो के चुकाने के बाद उस व्यक्ति के पास शेष रहती है। यह निजी आय प्रत्यक्ष कर के बराबर है। इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि निजी आय मे अप्रत्यक्ष कर भी शामिल नही होते। वास्तविक आय वह रकम है जो व्यक्ति के पास बच जाती है और जिसको वह अपनी इच्छा से खर्च कर सकता है या जमा कर सकता है। जब हम आय और उपयोग मे व्यय तथा बचत के सम्बन्धो का अध्ययन करते है तब यह अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। इस वास्तविक आय का अधिकांश उपभोग की वस्तुओ मे खर्च किया जाता है और कुछ बचा लिया जाता है। इसलिये यह उपभोग मे व्यय और बचत के योग के बराबर है। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि

वास्तविक आय (I) = उपभोग मे व्यय (C) + बचत (S)

इन सिद्धान्तो का आपसी सम्बन्ध (Relation between these concepts)—अब हम राष्ट्रीय आय के पांचो सिद्धान्तो के आपसी सम्बन्ध का पता लगा सकते है। यह पांचो सिद्धान्त इस प्रकार है—कुल राष्ट्रीय उत्पादन (G.N.P.), शुद्ध या वास्तविक राष्ट्रीय उत्पादन (N.N.P.) साधनों की लागत पर निर्धारित शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन, व्यक्तिगत आय और वास्तविक आय।

कुल राष्ट्रीय उत्पादन=लगान+ब्याज+मजदूरी और अन्य आय+स्वतन्त्र व्यावसायिक व्यापारियों का लाभ+हिस्सेदारो को दिया जाने वाला लाभांश+वितरित न किया गया लाभ+संयुक्त कर (corporate taxes)+अप्रत्यक्ष कर व प्रत्यक्ष कर और+टूट-फूट तथा घिसाई—बदले मे किया गया भुगतान।

बाजार कीमत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन=कुल राष्ट्रीय उत्पादन—टूट-फूट तथा घिसाई।

उत्पादन+बदले में किया गया भुगतान—(टूट-फूट तथा घिसाई+अप्रत्यक्ष कर+संयुक्त कर+वितरित न किया गया लाभ)।

वास्तविक आय=साधनों की लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन+बदले में किया गया भुगतान—(वितरित न किया गया लाभ+संयुक्त कर+प्रत्यक्ष कर)=कुल राष्ट्रीय उत्पादन+बदले में किया गया भुगतान—(टूट-फूट तथा घिसाई)+वितरित न किया गया लाभांश+संयुक्त कर+अप्रत्यक्ष कर+प्रत्यक्ष कर)

राष्ट्रीय आय के अध्ययन की उपयोगिता (Utility of National Income Studies)—राष्ट्रीय आय कितनी है और उसका वितरण किस प्रकार होता है इसकी जानकारी आर्थिक बहसों की पृष्ठिभूमि का काम करती है। राष्ट्रीय आय के आकडे देश की आर्थिक क्षेत्र की सक्रियता के सूचनांक हैं। उनसे हम यह जान सकते हैं कि आय का अर्जन किस प्रकार किया जाता है और उसे किस प्रकार व्यय किया जाता है। इन आकडो के अध्ययन से हम देश की अर्थ व्यवस्था के विषय में सही राय कायम कर सकते हैं, अर्थात् हम यह जान सकते हैं कि उपयोग में कितना खर्च किया जा रहा है और कितनी बचत की जा रही है, आदि। उनसे हम यह पता लगा सकते हैं कि आर्थिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों में उपयुक्त सन्तुलन बना हुआ है या सन्तुलन का अभाव है या कोई गडबडी पैदा करने की विशेष बात तो नहीं है। इनसे हम यह भी पता लगा सकते हैं कि कुल पूंजीगत-व्यय (expenditure on capital equipment) राष्ट्रीय आय के उस स्तर के लिये आवश्यक बचत के स्तर से अधिक है या नीचे गिर रहा है। राष्ट्रीय आय के आँकडे सरकार के लिये विशेषरूप से लाभदायक होते हैं। इनसे सरकार मुद्रास्फीति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सकती है, वह यह पता लगा सकती है कि मुद्रास्फीति को रोकने के लिये खर्च की जा सकने वाली वास्तविक आय का कितना अंश बचाया जाना या कितना कर लगाना आवश्यक है। इसके विपरीत वह मुद्रासकुचन (deflation) की स्थिति का भी पता लगा सकती है। वह यह जान सकती है कि यदि कीमतों की गिरावट और आय की ह्रासोन्मुख प्रवृत्ति को रोकना है तो कितना रुपया और लगाने की आवश्यकता है। सरकारों के बजट राष्ट्रीय आय के आँकडों के आधार पर ही तैयार किये जाने लगे हैं और सरकार जहाँ तक सभव हो सकता है राष्ट्रीय आय और उसके साधनों में होने वाली व्यापक घट-बढ को प्रभावहीन बनाने के लिये अपनी कर लगाने और ऋण लेने की नीति निर्धारित करती है। उन्नत देशों में जहाँ राष्ट्रीय आय के आँकडे शीघ्र ही उपलब्ध हो जाते हैं। सरकारों ने इस सम्बन्ध का वार्षिक विवरण प्रकाशित करना आरम्भ कर दिया है। इस विवरण में राष्ट्रीय आय का तखमीना, उपभोग, बचत और अगले वर्ष में विनियोग के आँकडे दिये जाते हैं जिनसे जनता को अर्थव्यवस्था के इन परिवर्तनों की पृष्ठिभूमि में बजट के प्रस्तावों को समझने में सहायता मिलती है। देश के साधनों के विकास की आर्थिक योजनाये तैयार करने में

भी इन आँकडो से बहुत सहायता मिलती है। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी विभिन्न देशो की राष्ट्रीय आय के उपलब्ध आकडो का लाभ उठाया जा रहा है। इन आँकडो का कुछ अन्तर राष्ट्रीय भुगतानो के भार को विभिन्न राष्ट्रो में बाँटने मे उपयोग किया जाता है भारत जैसे सघीय देश मे विभिन्न राज्यो के राष्ट्रीय आय के आँकडो से भारत सरकार को विभिन्न राज्यो को दिये जानेवाले सहायता अनुदान निर्धारित करने में सहायता मिल सकती है।

सामाजिक लेखा (Social Accounting)—राष्ट्रीय आय के आँकडे सामाजिक लेखे का आधार प्रस्तुत करते है। यह लेखा कई रूपो मे प्रस्तुत किया जाता है, जैसे कुल व्यक्तिगत आय का ब्योरा, उपयोग की सामग्री जैसे, खाद्यान्न कपडे, घर, फर्नीचर आदि मे कुल व्यक्तिगत व्यय का ब्योरा और कुल बचत का ब्योरा चालू खाते मे या पूंजीगत व्यय के खाते मे, अन्तर-राष्ट्रीय लेनदेन के हिसाब का ब्योरा इत्यादि।

सामाजिक लेखे के इन विविध ब्योरो का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि इन से आँकडा-विशेषज्ञ विभिन्न-क्षेत्रो (sectors) मे लगाये गये हिसाब की जाँच कर सकता है। एक लेखे मे प्रयुक्त आकडो को उन आँकडो की जाँच-पडताल करने मे प्रयुक्त किया जा सकता है जिनका अन्य लेखो के ब्योरो मे इस्तेमाल किया गया है और इस प्रकार गलती की सभावना को कम से कम किया जा सकता है। आकडे की दृष्टि से होनेवाले लाभ के अलावा सामाजिक लेखे का तरीका अनेक दिशाओ मे बहुत लाभदायक है। सामाजिक लेखे के विभिन्न ब्योरे, जैसे व्यक्तिगत आय और बचत के ब्योरे, सरकारी लेखे के ब्योरे या अन्तर-राष्ट्रीय लेन-देन के ब्योरो से राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था मे होनेवाले परिवर्तनो का अध्ययन करने मे बहुत सहायता मिल सकती है और यह इस दिशा में पथ-प्रदर्शन कर सकते है। यह देश मे उत्पादन की स्थिति, उत्पादन के विभिन्न रूपो में लगे हुए लोगो की सख्या और मशीन आदि की मात्रा तथा उनके प्रयोग की दिशा आदि के विषय मे सही ज्ञान कराने मे विशेष सहायक होते है। यह कुल और राष्ट्रीय आय के अनुपात को और [illegible] आवर्तित दर या किसी भी वर्ष शुद्ध राष्ट्रीय उत्पादन मे सरकार द्वारा किये गये व्यय के प्रतिशत की ओर सकेत करके यह भी बताते है कि राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के सचालन मे सरकार कितना और किस प्रकार का योगदान कर रही है।

तालिका १

१९५०–५१ में भारत की राष्ट्रीय आय ('००० करोड़ रुपयों में)

कृषि	४८ ९
खदान, उत्पादन और हाथ का कारोबार	१५ ३
वाणिज्य, यातायात और सञ्चार	१६ ९
पेशे और कला आदि	४ ७
सरकारी सेवाएं	४ ३
स्वदेशी सेवाएँ	१ ३
घर आदि सम्पत्ति	४ १
साधनों की लागत पर शुद्ध स्वदेशी उत्पादन	९५ ५
विदेशों से प्राप्त शुद्ध अर्जित आय	० २
साधनों की लागत पर शुद्ध राष्ट्रीय आय	९५ ३

१९४८ में भारत की कुल जनसंख्या ३४ करोड़ १० लाख आंकी गई। इस आधार पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय २६५ २ रुपया हुई।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि यह आंकड़े अनुमानित हैं क्योंकि आंकड़े उपलब्ध न होने से समिति को बहुत से तात्विक अनुमान पर ही आधारित करने पड़े। इसके साथ ही जैसा कि स्वयं समिति ने स्वीकार किया है, उत्पादन का एक बड़ा अंश बाजार में जाता ही नहीं, वह या तो उत्पादकों द्वारा ही खपा लिया जाता है या अन्य वस्तुओं या सेवाओं के बदले विनिमय के लिये प्रयुक्त कर लिया जाता है। इससे मूल्य निर्धारण की समस्या पैदा होती है।[1] चूंकि उत्पादक और उपभोक्ता दोनों की बहुत बड़ी संख्या निरक्षर है और वह प्रायः कोई हिसाब नहीं रखते। इस अभाव से विविध मदों के आंकड़े जमा करने का कार्य और भी जटिल हो जाता है। इसलिये इस गणना में बहुत कुछ कार्य केवल अनुमान के आधार पर किया जाता है।

[1] First Report of the National Income Committee, 1951, p. 12.

अध्याय ३३

आय का वितरण

(The Distribution of Income)

अभी तक हम इस बात की विवेचना करते रहे हैं कि उत्पादन के प्रत्येक साधन का हिस्सा अर्थात् पारितोषिक का हिस्सा कैसे निश्चित होता है। व्यक्तिगत वितरण एक चीज होती है और कार्यगत वितरण दूसरी चीज।

व्यक्तिगत वितरण।

इन दोनो का अध्ययन अलग-अलग होता है। एक व्यक्ति की आय कई जरियो से हो सकती है। उसकी आय का एक भाग लगान हो सकता है, एक भाग व्याज और एक भाग मजदूरी अथवा लाभ। इसलिये कुछ कामो के लिये किसी देश की राष्ट्रीय आय का प्रति व्यक्ति पीछे का अध्ययन बडा महत्वपूर्ण होता है। उससे हम जनता की आर्थिक परिस्थितियो का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और तत्सबधी प्रश्नो का उत्तर दे सकते है।

व्यक्तिगत आयो के वितरण के सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात आमदनी की अत्यधिक असमानता मालूम होती है। विभिन्न देशो में राष्ट्रीय आय के वितरण का अध्ययन करने से भी यह बात प्रमाणित हो जाती है। लॉर्ड स्टाम्प ने

आय की असमानता।

अपनी 'वेल्थ एन्ड टैक्सेबिल केपेसिटी' (Wealth and Taxable Capacity) नामक पुस्तक में इग्लैण्ड की राष्ट्रीय आय के वितरण सम्बन्धी आंकडे इकट्ठे किये थे। उनसे मालूम होता है कि सन् १९२० में सबसे अधिक धनी वर्ग के १ ३ प्रतिशत लोगों ने देश की आय का २८ २ प्रतिशत भाग पाया जबकि ७१ ३ प्रतिशत लोगों ने देश की कुल आय का केवल २९ प्रतिशत पाया। कुल मिलाकर आय प्राप्त करने वालों के ९५ प्रतिशत ने कुल राष्ट्रीय आय का केवल ६० प्रतिशत भाग पाया और शेष ४० प्रतिशत भाग

३५ प्रतिशत लोगो के पास जाता है। ६० प्रतिशत लोग देश की कुल आय का केवल ३० प्रतिशत भाग पाते थे।

इस सम्बन्ध में एक और बात ध्यान मे रखने योग्य है। स्टाम्प और बाउले की गवेषणा के अनुसार इग्लैड मे गत सौ वर्षों में राष्ट्रीय आय का वितरण वही रहा है। अर्थात् उसमे कुछ परिवर्तन नही हुआ। इस काल में आय मे प्रति व्यक्ति पीछे जो वृद्धि हुई, उसका वितरण सब वर्गों मे एक समान हुआ। इसका अर्थ यह है कि धनी लोग अधिक धनी और गरीब लोग गरीब होते जा रहे है।

सम्पत्ति का वितरण भी बहुत असमान है। डब्ल्यू० जे० किंग (W. J King)[1] ने जो आकडे इकट्ठे किये थे, उनके अनुसार अमरिका में सन् १९१२ और १९२३ मे जितने वयस्क पुरुषो की मृत्यु हुई उनमे से ५ प्रतिशत ने उत्तराधिकार के लिये कोई सम्पत्ति नही छोडी। २४ ७९ ने प्रति व्यक्ति पीछे १,००० डालर से कम की सम्पत्ति छोडी। ३७ ६ प्रतिशत व्यक्ति पीछे १,००० से ५,००० डालर की सम्पत्ति छोडकर मरे और २ २ प्रतिशत व्यक्ति पीछे १००,००० डालर की सम्पत्ति छोडकर मरे। इग्लैण्ड मे ९४ प्रतिशत लोगो के पास १,००० पौंड से कम की सम्पत्ति रहती है। धनिक वर्ग के २ प्रतिशत लोगो के पास कुल सम्पत्ति का ६७ प्रतिशत भाग है।

आय की आसमानता का कारण और आधार सम्पत्ति-वितरण की असमानता कही जा सकती है। परन्तु इसके अपवाद भी हो सकते है। बहुत से पेशेवर लोग ऊची आय पैदा कर सकते है, परन्तु साथ ही सभव है कि उनके पास बडी सम्पत्ति न हो। किसानो के पास भूमि और पशुओ के रूप में कुछ सम्पत्ति हो सकती है। परन्तु उनकी आय प्राय बहुत कम होती है, ध्यान रहे कि आय के वितरण में जो इतनी बडी विषमता पाई जाती है, उसका अर्थ यह नही है कि उपभोग में भी उतनी ही विषमता रहेगी। उच्च और मध्यम श्रेणी के लोग अपनी आय का बहुत-सा हिस्सा खर्च करते है और काफी बडा भाग बचा लेते है। इसलिये उपभोग की तराजू में उतना बडा अन्तर देखने में नही आता, जितना बड़ा आय की तराजू में देखने मे आता है। फिर भी यह बात जरूर है कि आय की असमानता के कारण सम्पत्ति के वितरण में भी असमानता बढती है।

आय की इस असमानता अथवा विषमता से समाज की शांति और उन्नति के लिये बड़ा खतरा उत्पन्न हो जाता है। बडी-बडी आय वाले लोग उत्पादन की गति पर अपना कब्जा कर लेते है। वे कारखानो आदि के मालिक बन बैठते है। इस प्रकार मुठ्ठी भर लोग लाखो सम्पत्तिहीन लोगो के भाग्य के मालिक बन जाते है और इन गरीबो को थोडे से धनिको की इच्छानुसार काम करना पडता है। यह परिस्थिति

[1] Journal of the American Statistical Association, 1927, p. 145.

प्रजातन्त्र के सिद्धान्तो के विरुद्ध है, जिनका मौलिक आधार मनुष्य-मात्र की समानता है। इस भीषण विषमता के कारण समाज व्यवस्था का आधार कमजोर पड जाता है। अरिस्टॉटल बहुत पहले कह चुका है कि क्रान्ति का सबसे प्रबल कारण अत्यधिक असमानता होती है।

असमानता के कारण।

इस प्रकार की असमानता के तीन प्रधान कारण होते है। एक तो मनुष्यो की स्वाभाविक योग्यताओ मे अन्तर हुआ करता है। जो मनुष्य स्वभाव से ही अधिक बुद्धिमान और अधिक योग्य होते है, उन्हे ऊची आय पैदा करने मे सफलता मिलती है। दूसरे उत्तराधिकार प्रथा के कारण आय की असमानता बनी रहती है। जब कोई सफल व्यवसायी मरता है, तो वह अपने पीछे बहुत बडी सम्पत्ति छोड जाता है, जो उनके उत्तराधिकारियो को मिलती है। तीसरे वातावरण, परिस्थिति तथा मोको के कारण भी यह असमानता बनी रहती है। जिन लोगो को उत्तराधिकार मे सम्पत्ति मिलती है, उन्हे जीवन मे अधिक अच्छे और नये-नये मोके भी मिलते है। उनके लिये अधिक ऊँची आय प्राप्त करना ज्यादा आसान होता है।

असमानता कम करने के उपाय।

अधिकाश लेखक इस प्रकार की असमानता के हानिकारक परिणामो को स्वीकार करते है। सब प्रगतिशील देशो मे इस असमानता को दूर करने के प्रयत्न किये जाते है। कर इस प्रकार लगाये जाते है कि जैसे-जैसे आय बढती जाती है, वैसे-वैसे कर की दर भी बढती जाती है जिससे बडी आय का अधिक भाग कर के रूप मे राज्यकोष मे चला जाता है। इसी विचार से मृत्यु-कर भी लगाया जाता है। जब कोई धनी व्यक्ति मरता है, तो मृत्यु-कर के रूप में उसकी सम्पत्ति का काफी बडा भाग राज्य ले लेता है और उसके उत्तराधिकारी को उस सम्पत्ति का काफी कम भाग मिलता है। सरकार जो धन करो के रूप में धनिक वर्गो से लेती है, उसे गरीब वर्गो के लाभ के लिये खर्च किया जाता है। प्रजा-

जाता है और वह एक संस्था के रूप में रहती है, तब तक उत्तराधिकार-प्रथा के मिटा देने का अर्थ केवल यह होगा कि लोग बचत करना एकदम कम कर देंगे। यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद सरकार उसकी पूरी सम्पत्ति ले लेती है, तो वह सोचेगा कि जीवन-काल में ही अपनी सब सम्पत्ति खर्च कर देना अच्छा है।

रिगमानो की मृत्यु-कर की योजना।

इस त्रुटि को दूर करने के लिये रिगनानो नामक एक इटालियन लेखक ने एक सुझाव रखा है। उसका सुझाव यह है कि किसी व्यक्ति की मृत्यु के बाद सरकार उसकी सम्पत्ति थोड़ा-थोड़ा करके कई बरसों में लेगी। मालिक के मृत्यु के बाद सरकार उसकी सम्पत्ति का (मानलो) एक तिहाई भाग लेगी। जब मालिक का उत्तराधिकारी मरेगा तो एक तिहाई भाग फिर ले लिया जायगा और जब उस उत्तराधिकारी का उत्तराधिकारी मरेगा तो बाकी एक तिहाई भाग भी ले लिया जायगा। इस लेखक का कहना है कि इस योजना से संचित धन की मात्रा में वृद्धि होगी, यद्यपि पूरी सम्पत्ति एक या दो पीढ़ी में करों के रूप में सरकार के हाथ में चली जायगी। इस योजना के सम्बन्ध में कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं।[1] किसी भी देश द्वारा इसके ग्रहण किये जाने की बहुत कम आशा है।

अध्याय ३४

मुद्रा की प्रकृति और कार्य

(The Nature and Functions of Money)

मुद्रा की परिभाषा (Definition of Money)—मुद्रा का जो अर्थ होता है, उसे हम सब समझते हैं, परन्तु शब्दों में उसकी उपयुक्त परिभाषा करना कठिन है। अधिकतर परिभाषाएँ मुद्रा के अर्थ से न होकर उसके कार्यों से प्रारम्भ होती हैं। "मुद्रा जो कुछ करती है, वही मुद्रा है।' ('Money is that which money does') कोई भी वस्तु विशेष जो मुद्रा का प्रधान काम करती है, अर्थात् जो विनिमय का माध्यम बन सकती है, मुद्रा कहला सकती है। इसलिये यदि किसी वस्तु को सर्वमान्यता प्राप्त रहती है, यदि कर्ज और लेन-देन में लोग उसे स्वीकार करते हैं, तो वह मुद्रा हो जाती है।

---

[1] For a further discussion see the Chapter on Particular Taxes.

वस्तु-विनिमय की असुविधाएं (Inconveniences of Barter)—मुद्रा के लाभ अथवा उसकी उपयोगिता तब समझ मे आती है, जब हम उस प्रणाली का विचार करे, जिसमे मुद्रा का उपयोग नही होता। इस प्रणाली को वस्तु विनिमय की प्रणाली कहते है। इसमे वस्तुओ के बदले वस्तुएँ दी और ली जाती है। इस प्रणाली में कौन-कौन-सी कठिनाइयाँ रहती है? पहिली कठिनाई यह होती है कि बेचनेवाले और खरीदनेवालो की आवश्यकताये एक-सी नही रहती। जो आदमी जूट पैदा करता है, वह उसके बदले मे जूता चाहता है। लेकिन उसको एक ऐसा जूता बनाने वाला खोजना कठिन होगा, जो उसके जूट के बदले अपना जूता देने को तैयार होगा। वस्तु विनिमय में दूसरी कठिनाई यह होती है कि वस्तुओ को छोटे-छोटे भागो में नही बाँटा जा सकता। असमान मूल्य की वस्तुओ का विनिमय किस प्रकार किया जाय? जूतावाला अपने जूते के बदले मे एक रोटी चाहता है। परन्तु एक रोटी का मूल्य जूते के मूल्य का एक छोटा-सा अंश होगा। यदि जूते के टुकडे करके उसे छोटे-छोटे भागो मे बाँटते है, तो उसका मूल्य ही खतम हो जायगा। तीसरे, वस्तु-विनिमय मे मूल्य की माप का अभाव रहता है। प्रत्येक वस्तु के उतने ही विभिन्न मूल्य होगे, जितनी वस्तुए उसमे विनिमय साध्य होगी। हजारो वस्तुओ का उत्पादन और विनिमय होगा तो विनिमय के अनुपात भी असंख्य होगे। ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक व्यक्ति इन विनिमय अनुपातो के एक सर्वमान्य चिह्न या प्रतीक की आवश्यकता महसूस करता है। मुद्रा इन सब कठिनाइयो को दूर कर देती है।

मुद्रा के उपयोग से लाभ।

मुद्रा के कार्य (Functions of Money)—मुद्रा के बहुत से उपयोग होते है। अंगरेजी मे एक दो पंक्ति के पद्य में मुद्रा के काम बड़ी अच्छी तरह बतलाये गये है। वे ये पंक्तियाँ है—

> "Money is a matter of functions four
> A medium, a measure, a standard, a store."

अर्थात् मुद्रा के चार काम होते है। वह विनिमय का माध्यम होती है, मूल्य का माप होती है, लेन-देन का मान, प्रमाण या इकाई होती है और संचय या संग्रह का साधन होती है।

देता है और उस मुद्रा से अपनी आवश्यकता की विभिन्न वस्तुएँ खरीदता है और इस प्रकार अपनी आय से अधिक से अधिक उपभोग प्राप्त करता है। मुद्रा उत्पादक और उपभोक्ता दोनों की सहायता करती है। मुद्रा के कारण उत्पादक को विनिमय सम्बन्धी चिन्ता नहीं रहती और वह अपना ध्यान पूर्णरूप से अपने पेशे की ओर दे सकता है, जिससे वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा बढ़ती है और समाज की वास्तविक आय होती है।

(२) मुद्रा का मान।

मुद्रा का दूसरा काम यह है कि वह **मूल्य का मान** (measure of standard of value) होती है। प्रत्येक वस्तु का मूल्य मुद्रा द्वारा बतलाया जाता है इसके लिये एक प्रमाणिक सिक्का (common denominator) निश्चित कर लिया जाता है। इस प्रकार सब वस्तुओं के विनिमय में सुविधा हो जाती है। मुद्रा वह मापदण्ड है, जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु का मूल्य मापा जाता है। माप का आदर्श वह मान होता है, जो हमेशा के लिये स्थिर होता है। जैसे, एक फुट एक निश्चित लम्बाई बतलाता है, एक पौंड हमेशा के लिये एक निश्चित वजन बतलाता है, उसी तरह मुद्रा की एक इकाई एक निश्चित मूल्य बतलाती है। परन्तु अन्य मापों की तुलना में मुद्रा में एक बड़ी भारी त्रुटि यह पाई जाती है कि मुद्रा की एक इकाई का मूल्य समय-समय पर बदलता रहता है। इसलिये वह माप का आदर्श मान नहीं रहता।

(३) ऋण के लेन-देन का साधन।

मुद्रा का तीसरा काम यह है कि वह विलम्बित भुगतान अथवा भविष्य में धन देने की (deferred payments) भी माप होती है। प्रत्येक व्यावसायिक समाज में ऋण का लेन-देन होता रहता है। ऋण एक निश्चित समय के लिये तय किये जाते हैं, चाहे वह अल्पकाल हो अथवा दीर्घकाल। परन्तु ऋणों का हिसाब करने की एक इकाई अवश्य होनी चाहिए। यह इकाई मुद्रा से प्राप्त हो जाती है और इससे लेन-देन में बहुत सुविधा होती है। इस तरह आधुनिक काल में जो इतना बड़ा आर्थिक संगठन देखने में आता है, उसका एक सहायक कारण मुद्रा भी है।

(४) संचय का साधन।

मुद्रा का चौथा काम यह है कि वह **मूल्य संचय** (store of value) का सुलभ साधन होती है। प्रायः सोना और चाँदी से मुद्रा बनती है। अन्य वस्तुओं की अपेक्षा ये दोनों धातुएँ अधिक टिकाऊ होती हैं। मूल्य तो गेहूँ तथा अन्य अनाजों का भी होता है, परन्तु ये वस्तुएँ ज्यादा समय तक संग्रह नहीं रखी जा सकती। मुद्रा इस कठिनाई को दूर कर देती है। कोई भी मनुष्य अपने खरीदने की शक्ति मुद्रा के रूप में चाहे जितने समय के लिये संचय करके रख सकता है। इस प्रकार मुद्रा को संग्रह करके रखने से मूल्य का संग्रह किया जा सकता है। भविष्य में अपने मुद्रा सम्बन्धी भुगतान चुकाने के लिये हम प्रायः कुछ मुद्रा सुरक्षित रखते हैं।

आधुनिक अर्थशास्त्री मुद्रा के एक अन्य गुण (liquidity) पर भी जोर देते हैं। चूंकि परिभाषा के अनुसार मुद्रा सबसे अधिक सर्वमान्य वस्तु होती है, इसलिये वह सब साधनों में अधिक द्रव भी होती है। यदि मनुष्य के पास मुद्रा हो, तो उसे प्रत्येक स्थान में प्रत्येक वस्तु मिल सकती है। मुद्रा के लिये खरीदारों की कमी कभी नहीं रहती। लोग अन्य वस्तुओं को स्वीकार नहीं कर सकते हैं, परन्तु वे मुद्रा को कभी अस्वीकार नहीं करेंगे, अर्थात् मुद्रा के बदले शायद ही वस्तुएँ देने में इनकार करें। इसलिये मुद्रा सबसे अधिक द्रव साधन है। मुद्रा की यह विशेषता अन्य किसी वस्तु में नहीं पाई जाती। द्रवता-पसन्दगी का अर्थ मुद्रा की पसन्दगी होना है। मुद्रा की इसी विशेषता पर कीन्स ने अपने ब्याज के सिद्धान्त की विवेचना की है।

अच्छी मुद्रा की विशेषताएं (Qualities of good money)–यदि हम मुद्रा के इतिहास का अध्ययन करें तो देखेंगे कि समय-समय पर तम्बाकू, चाय, गाय, कौड़ी इत्यादि वस्तुओं का उपयोग मुद्रा के रूप में हुआ है, परन्तु अन्त में सोना और चाँदी ही मुद्रा के लिये उपयुक्त समझे गये। अब प्रश्न यह है कि सोना और चाँदी में ऐसी कौन सी विशेषताएँ हैं, जिससे कि प्रायः सब देशों ने उन्हें मुद्रा के लिये उपयुक्त समझकर ग्रहण किया है। प्रधान कारण यह है कि अच्छी मुद्रा में जो गुण होना चाहिए, वे सब इन दोनों धातुओं में पाये जाते हैं।

अच्छी मुद्रा का प्रधान और पहला गुण यह होता है कि उसमें यातायात सम्बन्धी सुविधा (portability or ease of transport) होती है। वस्तु की मात्रा थोड़ी होती है, पर उसका मूल्य अधिक होता है। इसलिये एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाने का खर्च अधिक नहीं होता। यह गुण चांदी में और विशेषकर सोने में विशेषरूप से पाया जाता है।

को चुनने और छानने की जरूरत न रहेगी। लोग यह न कह सकेंगे कि हम यह सिक्का लेंगे और वह न लेंगे। फिर वह वस्तु या धातु ऐसी हो कि उसका कई भागों में आसानी से बँटवारा हो सके और साथ ही बाटने से उसके मूल्य में ह्रास भी न हो। इससे छोटे-छोटे सिक्के बन सकते हैं और उनके वजन के अनुसार उनका मूल्य निश्चित कर दिया जायगा। साथ ही धातु को इतना नरम भी होना चाहिए कि मुद्रा पर कलापूर्ण चित्र तथा निशान इत्यादि आसानी से छापे जा सके।

पाचवे, मुद्रा की धातु ऐसी हो कि वह आसानी से पहचान (cognizable) में आ सके, तथा अन्य धातुओं तथा वस्तुओं से उसकी भिन्नता आसानी से जानी जा सके। देखने, छूने अथवा आवाज से वे जल्दी पहिचान में आ जावे। ऐसा न होने से नकली सिक्के काफी मात्रा में प्रचलित हो जायँगे।

अन्तिम, मुद्रा की जो सामग्री अथवा धातु हो, उसके मूल्य में एक दीर्घकालीन स्थिरता होनी चाहिए। चूंकि मुद्रा एक ऐसा मान है, जिसके द्वारा हम अन्य वस्तुओं का मूल्य मापते है, इसलिये स्वय मान के मूल्य में स्थायी स्थिरता रहनी आवश्यक है।

मुद्रा का वर्गीकरण (Classification of money)—मुद्रा का पहला वर्गीकरण वह होता है, जिसमें वास्तविक मुद्रा (actual money) और हिसाब की इकाई (unit of account) मे भेद किया जाता है। वास्तविक मुद्रा वह होती है, जिसको देखकर सब भुगतान चुकाये जाते है और जिसके रूप में खरीदने की शक्ति सुरक्षित रखी जाती है। पौंड, शिलिंग, पेंस और हमारे देश में रुपया वास्तविक मुद्रा है। हिसाव की मुद्रा (money of account) के द्वारा, कर्ज, मूल्य अथवा खरीदने की शक्ति व्यक्त की जाती है। हिसाब की मुद्रा से मुद्रा का वर्णन या नाम जाहिर होता है और वास्तविक मुद्रा स्वय वह वस्तु होती है, जिसका वर्णन किया जाता है। वर्णन वही रह सकता है, अर्थात् सिद्धान्त के रूप में मुद्रा की वही इकाई रह सकती है, परन्तु वास्तविक मुद्रा जिसका वर्णन किया जाता है, बदल सकती है। हमारे देश में हिसाव की इकाई रुपया है। परन्तु वास्तविक रुपये का वजन कई बार बदल चुका है। सन् १९४१ के पहले रुपये में १६० ग्रेन चांदी रहती थी। परन्तु अब रुपया प्रधानत· निकिल धातु का रहता है और उसका दूसरा रूप एक रुपये का नोट होता है। हिसाब की मुद्रा के विना मुद्रा के सब काम पूरे नही हो सकते। सब कर्ज और ठेके हिसाव की मुद्रा में प्रकट या निश्चित किये जाते हैं, परन्तु उनका भुगतान वास्तविक मुद्रा में किया जाता है।

वास्तविक मुद्रा को भी दो वर्गों में बांटा जाता है—पूर्ण मुद्रा या वस्तु मुद्रा (commodity money or full-bodied money) और प्रतिनिधि मुद्रा (representative money)। जिस मुद्रा में सिक्के की धातु का मूल्य उस पर अंकित

मूल्य के बराबर होता है, उस मुद्रा को पूर्ण मुद्रा कहते है। पूर्ण मुद्रा विनिमय का साधन भी होती है और मूल्य का सचय भी। परन्तु अन्य कई प्रकार की मुद्राएँ भी होती है, जिनका प्रचलन तो स्वतन्त्रतापूर्वक होता है, परन्तु वे मूल्य-सग्रह के साधन नही होती। वे मूल्य-सचय की प्रतिनिधि होती है, अर्थात् वे पूर्ण मुद्रा मे बदली जा सकती है और पूर्ण मुद्रा मूल्य-सचय होती है। इन मुद्राओ को प्रतिनिधि मुद्रा कहते है। नोट प्रतिनिधि मुद्रा के सबसे अच्छे उदाहरण होते है। प्रतिनिधि मुद्रा या तो सरकार नोटो के रूप मे चला सकती है या बैंक अपने बैंक नोटो के रूप मे चला सकते है।

प्रतिनिधि मुद्रा के भी दो भेद होते है, एक विनिमय-साध्य मुद्रा (convertible money) और दूसरी अविनिमय-साध्य मुद्रा (inconvertible money) विनिमय-साध्य प्रतिनिधि मुद्रा माग करने पर एक निश्चित दर पर सिक्को मे बदली जा सकती है। परन्तु अविनिमय-साध्य प्रतिनिधि मुद्रा के बदले सिक्के नही प्राप्त किये जा सकते।

एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार मुद्रा के तीन भेद होते है—कानून-ग्राह्य मुद्रा (legal tender money), ऐच्छिक मुद्रा (optional money) तथा सहायक मुद्रा (subsidiary money)।

कानून-ग्राह्य मुद्रा वह मुद्रा होती है, जिसे कानून स्वीकार करता है। अर्थात् आप अपने सब हिसाब उस मुद्रा मे दे सकेंगे, लेनदार को वह स्वीकार करनी पड़ेगी। वह असीमित कानून-ग्राह्य (unlimited legal tendar) भी हो सकती है और सीमित कानून-ग्राह्य (limited legal tender) भी। जो मुद्रा किसी भी मात्रा मे चुकाई जा सकती है और लेनेवाले को स्वीकार करनी पड़ेगी, उसे असीमित कानून-ग्राह्य मुद्रा कहते है। परन्तु किसी मुद्रा की एक सीमा बाध दी जा सकती है कि अमुक मात्रा तक वह कानून-ग्राह्य मुद्रा होगी, उससे आगे नही। रुपया असीमित कानून-ग्राह्य मुद्रा है। इंग्लैण्ड मे नोट असीमित कानून-ग्राह्य मुद्रा है, परन्तु शिलिंग केवल २ पौंड तक कानून-ग्राह्य है।

एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार मुद्रा **प्रामाणिक मुद्रा** (standard money) और **सांकेतिक मुद्रा** (token money) में विभाजित होता है। प्रामाणिक मुद्रा वास्तव में हिसाब की मुद्रा होती है। उस इकाई को जिसमें कि विनिमय के सब सौदों का मूल्य मापा जाता है, प्रामाणिक मुद्रा कहते हैं। वह सोना अथवा चाँदी या किसी प्रामाणिक धातु का बना हुआ सिक्का होता है और उसका अंकित मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से अधिक नहीं होता है। साथ ही वह असीमित कानून-ग्राह्य मुद्रा भी होती है। सांकेतिक मुद्रा वह मुद्रा होती है, जिसका अंकित मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक होता है। उसमें वजन भी कम होता है और उसमें जो धातु होती है, उसका मूल्य बहुत कम होता है। उसका प्रचलन सरकार द्वारा होता है और उसका मूल्य बनाये रखने के लिये वह सीमित मात्रा में चलायी जाती है। वह प्रायः सीमित कानून-ग्राह्य मुद्रा हुआ करती है।

सिक्के और उनका निर्माण (Coins and Coinage)—जब कीमती धातुओं का उपयोग मुद्रा के रूप में होने लगा तो पहले वे टेढ़े-मेढ़े टुकड़ों के रूप में चलती थीं और जब भी उनके द्वारा लेन-देन या विनिमय होता था, तब उन्हें प्रत्येक बार तोला जाता था। इस तरीके से कई प्रकार की बाधायें होती थीं। परन्तु जब सिक्के बनाने की प्रथा चल पड़ी, तब शुद्धता और वजन में सिक्के एक सार्वतीय होने लगे और पहले की-सी बाधाएँ मिट गई। सिक्के बनाने की जो आधुनिक प्रथा है, उसमें सिक्कों के घेरे अथवा परिधि में लकीरें बनी रहती हैं, जिससे उन्हें कोई घिस या छील न सके, साथ ही उन पर बारीक कलापूर्ण चित्र भी बने रहते हैं, जिससे उनकी कोई नकल न बना सके।

जिस किसी देश में प्रामाणिक मुद्रा होती थी, उसमें मुद्रा बनाना भी स्वतन्त्र होता था। स्वतन्त्र इस प्रकार होती थी कि कोई भी मनुष्य टकसाल में धातु ले जाकर किसी भी मात्रा में सिक्के बनवा ला सकता था। इसे बनवाई के रूप में कोई खर्च नहीं देना पड़ता था।

यदि धातु को सिक्कों में ढालने की फीस या खर्च लिया जाता है, तो उसे 'मिन्टेज, अथवा ब्रासेज' (mintage or brassage) कहते हैं। यदि वास्तविक खर्च से अधिक खर्च लिया जाता है, तो उसे 'सीनियोरेज' (seigniorage) कहते हैं। 'सीनियोरेज' दो प्रकार से ली जा सकती है। एक तो इस प्रकार कि जिस कीमती धातु का सिक्का बना है, उसमें से थोड़ी-सी धातु कम करके उसके बदले उतनी कोई कम कीमती धातु मिला दी जाय और दूसरे सिक्के बनाने का जो वास्तविक खर्च होता है, उससे अधिक फीस ली जावे।

किसी देश में सरकारी टकसाल सोने का सिक्का जिस दर पर सोने की धातु के बदले में देती है, उसे **टकसाल की कीमत** (mint price) कहते हैं। लड़ाई के पहले इंगलैण्ड की टकसाल सोने के सिक्कों के बदले सोना १० पौंड, १७ शि०, १०½

पें० प्रति औंस की दर से लेना था। साथ ही वह सोना ११/१२ अंश शुद्ध होना चाहिये। चूंकि सिक्के बनाने की कोई फीस नहीं ली जाती थी, इसलिये सोने की टकसाल की कीमत और बाजार की कीमत में कोई अन्तर नहीं होता था।

ग्रेशाम का नियम (Greshams Law)—रानी एलिजाबेथ के राज्यकाल में इंगलैण्ड में सिक्कों की प्रणाली में सुधार करने के प्रयत्न किये गये। एलिजाबेथ के पहले ट्यूडर राजाओं ने बहुत बड़ी मात्रा में खोटे सिक्के चला दिये थे। एलिजाबेथ ने नये सिक्के चलाकर इन खोटे सिक्कों को बन्द करने की कोशिश की। लेकिन ये नये सिक्के बहुत जल्दी बाजार में अर्थात् चलन में गायब हो गये। रानी को आश्चर्य हुआ और उसने सर टॉमस ग्रेशाम से इसका कारण पूछा। तब ग्रेशाम ने समझाया कि अच्छे सिक्के बाजार में क्यों गायब हो जाते है। इसी से इस विवेचना को ग्रेशाम के नियम के नाम से पुकारते है। यद्यपि इस नियम को ग्रेशाम के पहले और कई लोग भी समझा चुके थे, पर किसी तरह इसका नाम ग्रेशाम का नियम हो गया। मेकल्यूड (Mc-Leod) ने इसे ग्रेशाम के नियम के नाम से प्रचलित किया।

ग्रेशाम का नियम इस प्रकार है—"जब अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की मुद्राएँ पूर्ण कानून-ग्राह्य मुद्राएँ होती है तब बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को प्रचलन से भगा देती है, अर्थात् उसका चलन खतम कर देती है।" 'बुरी' मुद्रा का अर्थ जाली, खोटे अथवा कटे हुए सिक्के से नहीं है। बुरी मुद्रा का मतलब उन मुद्राओं से है जिन का धातु मूल्य (substance value) हलका और सस्ता होता है। इसलिये इस नियम को हम दूसरे प्रकार से भी कह सकते हैं। "जो मुद्रा विनिमय की दृष्टि से अथवा धातु के मूल्य की दृष्टि से घटिया होती है वह उस बढ़िया मुद्रा को अपना प्रचलन

एक अन्य वर्गीकरण के अनुसार मुद्रा **प्रामाणिक मुद्रा** (standard money) और **सांकेतिक मुद्रा** (token money) मे विभाजित होता है। प्रामाणिक मुद्रा वास्तव मे हिसाब की मुद्रा होती है। उस इकाई को जिसमे कि विनिमय के सब माध्यमों का मूल्य मापा जाता है, प्रामाणिक मुद्रा कहते है। वह सोना अथवा चाँदी या किसी प्रामाणिक धातु का बना हुआ सिक्का होता है और उसका अंकित मूल्य उसके वास्तविक मूल्य से अधिक नही होता है। साथ ही वह असीमित कानून-ग्राह्य मुद्रा भी होती है। सांकेतिक मुद्रा वह मुद्रा होती है, जिसका अंकित मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक होता है। उसमे वजन भी कम होता है और उसमे जो धातु होती है, उसका मूल्य बहुत कम होता है। उसका प्रचलन सरकार द्वारा होता है और उसका मूल्य बनाये रखने के लिये वह सीमित मात्रा मे चलायी जाती है। वह प्रायः सीमित कानून-ग्राह्य मुद्रा हुआ करती है।

सिक्के और उनका निर्माण (Coins and Coinage)—जब कीमती धातुओ का उपयोग मुद्रा के रूप मे होने लगा तो पहले वे टेढे-मेढे टुकडो के रूप मे चलती थी और जब भी उनके द्वारा लेन-देन या विनिमय होता था, तब उन्हे प्रत्येक बार तौला जाता था। इस तरीके से कई प्रकार की बाधाये होती थी। परन्तु जब सिक्के बनाने की प्रथा चल पडी, तब शुद्धता और वजन मे सिक्के एक जातीय होने लगे और पहले की-सी बाधाएँ मिट गई। सिक्के बनाने की जो आधुनिक प्रथा है, उसमें सिक्को के घेरे अथवा परिधि में लकीरें बनी रहती है, जिससे उन्हे कोई घिस या छील न सके, साथ ही उन पर बारीक कलापूर्ण चित्र भी बने रहते है, जिससे उनकी कोई नकल न बना सके।

जिस किसी देश मे प्रामाणिक मुद्रा होती थी, उसमे मुद्रा बनाना भी स्वतन्त्र होता था। स्वतत्र इस प्रकार होती थी कि कोई भी मनुष्य टकसाल मे धातु ले जाकर किसी भी मात्रा में सिक्के बनवा ला सकता था। उसे बनवाई के रूप मे कोई खर्च नही देना पडता था।

यदि धातु को सिक्को में ढालने की फीस या खर्च लिया जाता है, तो उसे **मिन्टेज** अथवा **ब्रासेज**' (mintage or brassage) कहते है। यदि वास्तविक खर्च से अधिक खर्च लिया जाता है, तो उसे 'सीनियोरेज' (seigniorage) कहते है। 'सीनियोरेज' दो प्रकार से ली जा सकती है। एक तो इस प्रकार कि जिस कीमती धातु का सिक्का बना है, उसमें से थोडी-सी धातु कम करके उसके बदले उतनी कोई कम कीमती धातु मिला दी जाय और दूसरे सिक्के बनाने का जो वास्तविक खर्च होता है, उससे अधिक फीस ली जावे।

किसी देश में सरकारी टकसाल सोने का सिक्का जिस दर पर सोने की धातु के बदले मे देती है, उसे **टकसाल की कीमत** (mint price) कहते है। लडाई के पहले इग्लैण्ड की टकसाल सोने के सिक्को के बदले सोना १० पाउ, १७ शि०, १०½

पें० प्रति औंस की दर से लेता था। साथ ही वह सोना ११/१२ अंश शुद्ध होना चाहिये। चूँकि सिक्के बनाने की कोई फीस नही ली जाती थी, इसलिये सोने की टकसाल की कीमत और बाजार की कीमत मे कोई अन्तर नही होता था।

ग्रेशाम का नियम (Greshams Law)—रानी एलिजावेथ के राज्यकाल में इंग्लैण्ड मे सिक्को की प्रणाली मे सुधार करने के प्रयत्न किये गये। एलिजावेथ के पहले ट्यूडर राजाओ ने बहुत बड़ी मात्रा मे खोटे सिक्के चला दिये थे। एलिजावेथ ने नये सिक्के चलाकर इन खोटे सिक्को को बन्द करने की कोशिश की। लेकिन ये नये सिक्के बहुत जल्दी बाजार मे अर्थात् चलन से गायब हो गये। रानी को आश्चर्य हुआ और उसने सर टॉमस ग्रेशाम से इसका कारण पूछा। तब ग्रेशाम ने समझाया कि अच्छे सिक्के बाजार से क्यो गायब हो जाते है। इसी से इस विवेचना को ग्रेशाम के नियम के नाम से पुकारते है। यद्यपि इस नियम को ग्रेशाम के पहले और कई लोग भी समझा चुके थे, पर किसी तरह इसका नाम ग्रेशाम का नियम हो गया। मेकल्यूड (Mc-Leod) ने इसे ग्रेशाम के नियम के नाम से प्रचलित किया।

ग्रेशाम का नियम इस प्रकार है—"जब अच्छी और बुरी दोनो प्रकार की मुद्राएँ पूर्ण कानून-ग्राह्य मुद्राएँ होती है, तब बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को प्रचलन से भगा देती है, अर्थात् उसका चलन खतम कर देती है।" 'बुरी' **मुद्रा का अर्थ जाली, खोटे अथवा कटे हुए सिक्के से नहीं है। बुरी मुद्रा का मतलब उन मुद्राओ से है, जिन का धातु मूल्य** (substance value) **हलका और सस्ता होता है।** इसलिये इस नियम को हम दूसरे प्रकार से भी कह सकते है। "जो मुद्रा विनिमय की दृष्टि से अथवा धातु के मूल्य की दृष्टि से घटिया होती है, वह इन बढ़िया मुद्रा की अपेक्षा प्रचलन में अधिक समय तक रहती है।"[1] उदाहरण के लिये जब केवल सोने और चाँदी के सिक्के चलन में रहते है, तब पुराने घिसे हुए और हलके वजन के सिक्के की बुरी मुद्रा होती है। जब धातु मुद्रा और कागजी मुद्रा दोनो एक साथ चलन मे रहते है, तब कागजी मुद्रा बुरी मुद्रा हो जाती है, क्योकि उसकी पदार्थ-कीमत कुछ नहीं रहती। अब प्रश्न यह उठता है कि अच्छी मुद्रा प्रचलन के बाहर कैसे हो जाती है? जब अच्छी और बुरी दोनो मुद्राएँ एक साथ चलती है, तब लोग अच्छी मुद्राओ को प्रायः पिघला डालते है और केवल बुरी मुद्राएँ प्रचलन मे रह जाती है। यदि किसी सुनार को जेवर बनाने के लिये एक सोने का सिक्का पिघलाना है, तो वह पूरे वजन का नया सिक्का पिघलावेगा न कि पुराना। क्योंकि पुराने सिक्के का वजन घिसने इत्यादि के कारण कुछ कम हो

---

1 "Moneys which are inferior in respect to exchange or substance value commonly show greater tenacity in circulation than those which are superior in these respects."

—*Taylor*, Principles of Economics, p. 407.

सकता है। यही बात उस विनिमय व्यवसायी पर भी लागू होती है, जो हिसाब चुकाने के लिये विदेशो को सोना भेजता है। एक देश के सोने के सिक्के दूसरे देश में कानून द्वारा ग्राह्य नही होते। इसलिये उन्हे पिघलाकर धातु के रूप मे विदेशो में बेचा जाता है। चूंकि विदेशी केवल तौलकर सिक्के लेगे, इसलिये केवल पूरे वजन के सिक्के बाहर भेजे जावेगे। इस प्रकार विदेशियो को देने मे अच्छी मुद्रा गायब हो जायगी। फिर जब लोग धन अथवा मुद्रा सग्रह करना चाहते है, तब स्वाभाविक है कि वे अच्छी मुद्रा का सग्रह करेगे।

इसका प्रधान कारण यह है कि वास्तविक विनिमय अथवा लेन-देन में विभिन्न प्रकार की मुद्राओ का बढियापन अथवा घटियापन कोई महत्त्व नही रखता। जिन सिक्को का वजन बहुत थोडा-सा कम होता है, उनके प्रचलन में कोई कठिनाई नही होती। जो लोग बहुत ही अधिक होशियार होते है, केवल उनका ध्यान इस ओर जायगा कि इन सिक्को का वजन थोडा कम है और व्यावसायिक लेन-देन तथा काम की जल्दी मे बहुत कम लोगो को इस तरफ ध्यान देने का समय रहता है। यदि किसी आदमी का ध्यान इस तरफ गया भी तो वह उसे बिना सकोच के स्वीकार कर लेता है, क्योकि वह जानता है कि वह किसी अन्य को दे देगा। बहुधा व्यवसायी उसे अस्वीकार नही कर सकते, क्यो कि ऐसा करने से उनके ग्राहक नाराज हो जायँगे। इसलिए वास्तव मे अच्छी और बुरी दोनो प्रकार की मुद्राओ का चलन होता है। परन्तु अन्य उपयोगो में सिक्को की शुद्धता अथवा अशुद्धता का कुछ महत्व होता है। जैसे कि सुनार केवल उत्तम सिक्को को पिघलावेगा।

इस नियम की क्रिया से बचाव करने के लिए आधुनिक सरकारें निरन्तर पुराने और हल्के सिक्के प्रचलन से हटाती रहती है और उनके बदले नये सिक्को का प्रचलन करती रहती है। इस नियम के क्रियाशील होने के लिये यह आवश्यक नही है कि केवल एक ही धातु के सिक्को का प्रचलन हो। अन्य प्रकार की परिस्थितियो में भी यह नियम क्रियाशील हो सकता है। जहाँ द्विधातु मुद्रा प्रणाली (bimetallic standard) मे जहाँ सोना और चाँदी के सिक्के स्वतत्रतापूर्वक बनाए जा सकते है और असीमित कानून ग्राह्य होते है, वहाँ अधिक मूल्यवाली धातु (जिसका अकित मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक है) कम मूल्यवाली धातु को प्रचलन के बाहर भगा देती है। जब सोना और चाँदी के मूल्य के बाजार का अनुपात टकसाल के अनुपात से भिन्न होता है, तब दो मे से एक कोई धातु प्रचलन के बाहर हो जाती है। महायुद्ध के पहले भारत में एक बार ऐसा ही हुआ था। सावरेन (sovereign) और साकेतिक रुपया (token rupee) दोनो कानून-ग्राह्य थे। लेकिन जितने सावरेन प्रचलन मे लाये गये थे, वे तुरन्त गायब होते गये। भारत सरकार ने यह सोचा कि देश सोने के सिक्के नही चाहता। परन्तु उनके गायब होने का वास्तविक कारण यह था कि ग्रेशाम का नियम अपना काम कर रहा था। रुपया एक साकेतिक मुद्रा था, इसलिए स्वाभाविक था कि लोग लेन-देन

रुपया में करते थे और सोने का संग्रह करते थे। यदि धातु मुद्रा के साथ-साथ कागजी मुद्रा का भी काफी मात्रा मे प्रचलन हो, तो भी ग्रेशाम का नियम क्रियाशील हो सकता है। यदि अधिक मात्रा मे होने के कारण (by over issue) अथवा अन्य किसी कारण से कागजी मुद्रा का मूल्य कम हो जाता है, तब धातु मुद्रा प्रचलन से गायब हो जाती है। युद्धकाल मे तथा उसके बाद बहुत से देशो की सरकारो को अधिनियम-साध्य कागजी मुद्रा (inconvertible paper money) चलानी पडती है। फल यह हुआ कि धातु की मुद्रा प्रचलन से बिलकुल गायब हो गई। इस प्रकार ग्रेशाम का नियम कई परिस्थितियो मे क्रियाशील हो सकता है।

नियम की सीमायें। निम्नलिखित परिस्थितियो मे यह नियम काम नही करेगा। प्रचलन मे अच्छी और बुरी मुद्रा मिलाकर जो कुछ मुद्रा है, यदि वह समाज की आवश्यकता से कम है, तो ग्रेशाम का नियम क्रियाशील न होगा। दूसरे यदि पूरा समाज बुरी मुद्रा लेने से इनकार करने लगे तो भी यह नियम क्रियाशील नही होगा। इन दो परिस्थितियो मे ग्रेशाम का नियम क्रियाशील नही होगा।

अध्याय ३५

परिमाण सिद्धान्त तथा मुद्रा का मूल्य

(The Quantity Theory and the Value of Money)

मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन होने के क्या कारण है? प्राय यह देखा गया है कि एक समय वस्तुओ के मूल्यो मे वृद्धि होती है और किसी दूसरे समय उनमे गिरावट आ जाती है, ऐसा क्यो होता है? अनेक शताब्दि पहले लेखको ने यह बताया था कि सामान्य मूल्यो के परिवर्तन और मुद्रा के परिमाण मे परिवर्तन के बीच घनिष्ट सम्बन्ध है। अनुभव के आधार पर यह विचार जड पकडता गया और बाद मे मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के नाम मे प्रसिद्ध हो गया।

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के अनुसार मूल्यो का सामान्य स्तर मुख्य रूप से देश मे मुद्रा के कुल परिमाण पर निर्भर करता है। मान लिया जाय कि देश की सरकार अकस्मान उदार हो जाती है और प्रत्येक नागरिक को ५० रुपया दान देती है। इस दान ने लोगो के पास व्यय करने के लिए मुद्रा बढ जायगी। लोग इस रुपये से विभिन्न वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदने लगेंगे, परन्तु मुद्रा के परिमाण मे यह परिवर्तन हो जाने से

उपलब्ध वस्तुओ और सेवाओ में किसी प्रकार की वृद्धि नही होगी। यदि वस्तुओ औ सेवाओ के निश्चित परिमाण पर अधिक मुद्रा व्यय की जायगी तो उनके मूल्य में वृ होना अवश्यम्भावी है। जितना ही अधिक मुद्रा व्यय होगा मूल्यो मे भी उतनी ह वृद्धि होगी।

मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन मुद्रा के परिमाण पर निर्भर करता है, इस सिद्धान्त व परिमाण सिद्धान्तवादियो ने निम्नलिखित रीति से सिद्ध किया मुद्रा का मूल्य भी उस प्रकार निश्चित होता है, जिस प्रकार किसी भी अन्य वस्तु का। अर्थात् मुद्रा क मूल्य उसकी माँग और पूर्ति के आधार पर निश्चित होता है। मुद्रा विनिमय का माध्य है और लोगो को जब कभी विनिमय की आवश्यकता पडती है, तब वे मुद्रा की माँग कर है। वस्तुओ की जो मात्रा बिक्री के लिए आती है उसी के आधार पर मुद्रा की माँ की जाती है और बिक्री के लिये आयी हुई वस्तुओ की मात्रा एक निश्चित अवधि मे कि गये उनके कुल उत्पादन पर निर्भर करती है। उत्पादन की कुल मात्रा उत्पादन साधनो की पूर्ति और उनकी कार्यक्षमता पर और उत्पादन के सगठन इत्यादि पर निर्भर करती है। उत्पादन की कुल मात्रा मुद्रा के मूल्य पर निर्भर नही करती। इसलिए एक निश्चित अवधि मे जब मुद्रा के परिमाण मे परिवर्तन होता है तो उत्पादन की कुल मात्रा मे किसी प्रकार का प्रभाव नही पडता, उसकी मात्रा अपरिवर्तित रहती है, इसलिए बिक्री के लिये आई हुई कुल वस्तुओ की मात्रा भी अपरिवर्तित रहती है। अर्थात् एक निश्चित अवधि में, जब कि मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होता है, मुद्रा की माँग पूर्ववत् स्थायी रहती है, उसमें परिवर्तन नही होता है, परन्तु सारी स्थिति में इस अवधि में और कोई बदलाव नही आना चाहिए। चूंकि मुद्रा की माँग में कोई परिवर्तन नही होता है, इसलिए मुद्रा का मूल्य उसकी पूर्ति पर निर्भर करेगा, अर्थात् यह मूल्य मुद्रा के परिमाण के आधार पर निश्चित किया जायगा। यदि चलन में आई हुई मुद्रा की मात्रा दुगुनी बढा दी जाय तो इसके परिणामस्वरूप मूल्य की सतह मे भी दुगुनी वृद्धि हो जायगी।

एक निश्चित अवधि में मुद्रा की पूर्ति को कैसे जाना जा सकता है? मुद्रा की पूर्ति वास्तव मे मुद्रा के उस परिमाण के बराबर होती है, जिससे बिक्री के लिए आई हुई वस्तुओ को खरीदा गया हो। मुद्रा की पूर्ति सिक्को, कागज के नोटो तथा बैंको की जमा से भिन्न होती है। मुद्रा के प्रत्येक टुकडे अथवा इकाई का एक निश्चित काल मे वस्तुओ के खरीदने मे कई बार उपयोग किया जा सकता है। वस्तुओ को खरीदने में प्रत्येक सिक्के का जितनी बार उपयोग किया जाता है, उसमे से प्रत्येक बार वह मुद्रा की पूर्ति बढाता है। यदि एक सप्ताह मे एक रुपये का वस्तुओ को खरीदने मे तीन बार उपयोग किया जाय तो मुद्रा की कुल पूर्ति एक का तिगुना अर्थात् तीन रुपये के बराबर होगी। एक निश्चित अवधि मे औसत रूप से सिक्के जितनी बार उपयोग मे लाये जाते है, उन्हें मुद्रा के चलन का वेग (Velocity of circulation of money) कहते है। इसलिए चलन में आई हुई मुद्रा की कुल मात्रा मे उसके औसत का चलन का

गुणा करने से जो गुणनफल प्राप्त होगा, वह मुद्रा की पूर्ति होगा। मुद्रा की पूर्ति में परिवर्तन होने से उसी अनुपात में मूल्य की सतह में भी परिवर्त्तन होगा।

मिल और फिशर का सिद्धान्त।

यही मुद्रा का प्रसिद्ध सिद्धान्त है। मूल रूप मे इस सिद्धान्त को इस प्रकार कहेगे कि यदि विक्री के लिए आए हुए माल की मात्रा स्थिर रहे अर्थात् यदि मुद्रा की माग स्थिर रहे तो मूल्य-सतह मे चलन के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा के सीधे अनुपात मे परिवर्तन होता है। अर्थात् जैसा परिवर्तन मुद्रा की मात्रा मे होगा, वैसा मूल्य-सतह मे भी होगा। मुद्रा का अर्थ केवल सिक्के और कागजी नोट है। इस सिद्धान्त के बनाने मे मुद्रा-चलन के वेग का भी ध्यान रखा गया था, अर्थात् इस बात का ध्यान रखा गया था कि एक निश्चित काल मे एक सिक्के की लेन-देन मे कितनी बार उपयोग होता है। इसे हम बीजगणित के समीकरण के रूप मे भी प्रस्तुत कर सकते है। यदि मूल्य-सतह प है, मुद्रा की मात्रा म है, उसके चलन का वेग व है ओर व्यवसाय की मात्रा ट है तो मुद्रा की मात्रा म तथा उसके चलन के वेग व मे व्यवसाय की मात्रा ट का भाग देने से मूल्य सतह प मालूम हो जायगा। अर्थात्—

$$प = \frac{म\ व}{ट} \text{ होगा।}$$

परन्तु जब यह सिद्धान्त बना तब यह भी देखा गया कि उन्नतिशील देशो में माल की खरीद में साख (credit) का उपयोग किया जाता है। तब इस सिद्धान्त में अनुकूल सुधार किया गया और उसमें जमा की मात्रा तथा उसके चलन के वेग का भी समावेश किया गया। फिशर[1] ने इस सिद्धान्त को बीजगणित के समीकरण के रूप में इस प्रकार रखा —

$$प = \frac{म\ व + म^1 व^1}{ट}$$

प मूल्य-सतह बतलाता है। म चलन के अन्तर्गत मुद्रा बतलाता है। इसमें सिक्के और कागजी नोट शामिल है। परन्तु बैंको के सुरक्षित कोष तथा अन्य प्रकार की सचित मुद्रा शामिल नही है। व मुद्रा के चलन का वेग बतलाता है। $म^1$ बैंक-जमा की वह मात्रा है, जो चेक द्वारा निकाली जा सकती है। $व^1$ बैंक-जमा के चलन का वेग है। एक निश्चित काल में चेको द्वारा निकाली जानेवाली कुल जमा की मात्रा मे चेको द्वारा दी गई कुल मात्रा का भाग देने से व प्राप्त होता है। ट से सब प्रकार की वस्तुओ और सेवाओ के व्यवसाय की उस कुल मात्रा का बोध होता है, जो मुद्रा द्वारा बेची गई।

[1] *Fisher*, The Purchasing Power of Money, p. 142-155.

फिशर के मतानुसार एक निश्चित अवधि में जब मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होता है, सामान्यत समीकरण के तीन तत्व ट, व और व¹ स्थिर रहते है। मुद्रा की मात्रा में होनेवाले परिवर्तन का इन पर प्रभाव नही पडता है। ट अर्थात् व्यवसाय की कुल मात्रा देश में कुल उत्पादन की मात्रा पर निर्भर है। देश में कुल उत्पादन की मात्रा उत्पादन के साधनो की पूर्ति ओर उनकी कार्यक्षमता इत्यादि पर निर्भर करती है। मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन होने से इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है। इसलिए यह स्पष्ट है कि एक निश्चित अवधि मे जब म मे परिवर्तन होता है ट स्थिर रहता है। इसी प्रकार चलन का वेग व भी लोगो के स्वभाव पर निर्भर करता है, साथ ही व्यवसाय के तरीको से भी प्रभावित होता है। इसलिए एक निश्चित अवधि मे व और व¹ प्राय स्थिर रहते है।

इस समीकरण में दो बाते प्रधान है। पहला यह कि प अर्थात् मूल्य-सतह मे तब परिवर्तन होता है, जब मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होता है, नही तो नही होता। दूसरी यह कि मूल्य सतह ठीक उसी अनुपात मे बदलती है, जिसमे कि मुद्रा की मात्रा बदलती है। फिशर का मत है कि मुद्रा की जमा-रकम की मात्रा का सुरक्षित नकद जमा की मात्रा से लगभग एक अस्थायी अनुपात मे सम्बन्ध रहता है। चूंकि जमा को किसी भी समय नकद में परिवर्तित किया जा सकता है, इसलिए जमा बनाना इस बात पर निर्भर रहता है कि बैंको के पास सुरक्षित नकद कितनी है। सुरक्षित नकद रकम का जमा के साथ अनुपात लगभग एक-सा या स्थायी होता है। म¹ का म अर्थात् कानून-ग्राह्य मुद्रा के साथ स्थायी सम्बन्ध होता है। हम देख चुके है कि एक निश्चित अवधि मे व और ट लगभग स्थायी रहते है। इसलिये म में परिवर्तन होने से मूल्य-सतह मे भी सीधे उसी अनुपात मे परिवर्तन होगे। फिशर इस बात को अस्वीकार नही करता कि मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होने से मुद्रा के चलन के वेग में अथवा खरीद और बिक्री की मात्रा मे भी परिवर्तन होगे। परन्तु ऐसी परिस्थितियाँ या तो अस्थायी होती है या असाधारण। साधारण परिस्थितियो मे दीर्घकाल मे मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होने से मूल्य सतह मे भी उसी अनुपात मे परिवर्तन होगे।

इस सिद्धान्त की एक प्रधान आलोचना यह है कि यह सिद्धान्त यह मान लेता है कि अन्य वस्तुएँ स्थायी या एक-सी रहती है। परन्तु अन्य वस्तुएँ एक-सी नही रहती।

आलोचना

लेकिन केवल इस तर्क के आधार पर इस सिद्धान्त को अस्वीकार करना उचित नही है कि अन्य वस्तुएँ भी बदल सकती है। जितने वैज्ञानिक सिद्धान्त है, वे सब इस अनुमान पर आधारित है कि अन्य सब बातें यथावत् रहती है। यदि हम यह सिद्ध कर दे कि मुद्रा की मात्रा अथवा मूल्य-सतह में परिवर्तन होने से (समीकरण मे केवल इन्हो दो बातो में परिवर्तन होता है) अन्य वस्तुओ मे अवश्य परिवर्तन होगा तो हम परिमाण सिद्धान्त को त्रुटिपर्ण कह सकते है। इसलिए यह देखना आवश्यक है कि क्या वास्तव मे ऐसा

होता है। फिशर के समीकरण में यह माना गया है कि मुद्रा के चलन के वेग मे और व्यवसाय की मात्रा पर मुद्रा की मात्रा तथा मूल्य-सतह मे परिवर्तन होने से कोई प्रभाव नही पडता है। परन्तु वास्तविक जीवन में व और ट दोनो म और प से स्वतत्र नही हैं। मुद्रा के चलन के वेग का मूल्य-सतह में होने वाले परिवर्तनो से निकट सम्बन्ध है। जिस काल में व्यवसाय तेजी मे होता है और कीमते वढती है, उस काल मे चलन का वेग वढ जाता है और व्यावसायिक मन्दी तथा गिरते मूल्यो के समय चलन का वेग कम हो जाता है। इसके साथ ही मुद्रा की मात्रा मे होनेवाले परिवर्तनो का प्रभाव व पर भी पड़ता है। ट अर्थात् व्यवसाय की मात्रा पर भी मूल्य-सतह के परिवर्तनो का प्रभाव पडता है। हाल मे व्यवसाय-चक्रों का जो अध्ययन किया गया है, उससे यह निश्चित रूप से पता चल जाता है कि उत्पादन की मात्रा निश्चित करने मे कीमतो का वहुत वडा प्रभाव पडता है। मुद्रा की मात्रा भी समीकरण के अन्य अशो से स्वतत्र नही है। व्यवसाय की मात्रा तथा मूल्य-सतह में जो परिवर्तन होते है, कुछ हद तक उसका प्रभाव भी उन पर पडता है। फिशर का यह अनुमान कि म[1] का म से हमेशा एक-सा सम्वन्व रहता है, आँकडो के आधार पर सत्य नही ठहरता है। म और म[1] मे हमेशा एक-सा सम्वन्ध नही रहता है। फिशर निस्सदेह इन सव वातो को मानता है। लेकिन इन सव के लिए उसका जवाव यह है कि अन्य वातो अथवा अशो मे यह सव परिवर्तन अल्पकालों मे अथवा परिवर्तन के कालो मे होते है, जो कि अस्थायी होते है। दीर्घकाल में वे सव लगभग एक-से अथवा यथावत् रहते हैं। लेकिन जैसा कि कीन्स ने कहा है, दीर्घकाल मे तो हम सब मर भी सकते हैं। व्यवसाय-चक्रो पर विचार न करनेवाले मुद्रा के सिद्धान्त की उपयोगिता के विषय मे हम सहज ही कल्पना कर सकते है।

दूसरे, यह कहा गया है कि मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन का परिणाम केवल मूल्य-सतह में आनुपातिक परिवर्तन नही होता, जैसा कि फिशर के समीकरण में वतलाया गया है। केवल कुछ विशिष्ट परिस्थितियो में मुद्रा की मात्रा दुगुनी होने से मूल्य-सतह दुगुना होगा। साधारणत. मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन का प्रभाव कई प्रकार की धाराओं के रूप में होता है, जिनका असर मूल्यों और उत्पादन पर पडता है। इसके साथ ही इन धाराओ का प्रभाव वास्तविक साधनों को अपने हाथ मे रखने की समाज की इच्छा पर भी पडता है।" जब तक कुछ साधन वेकार रहते है, तव तक यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि की जायगी, तो यह साधन उत्पादन में आ जायँगे और सभव हैं कि कीमतें विलकुल न वढें। इसलिए मुद्रा की मात्रा और मूल्य-सतह में जो परिवर्तन होते हैं, उन में हमेशा आनुपातिक सम्वन्ध नही होता।

तीसरे, मुद्रा की मात्रा में परिवर्तनों का प्रभाव मूल्य-सतह पर किन विधियो से पडता है, इस वात को अर्थात् उन विधियो को यह सिद्धान्त अच्छी तरह नही समझाता है। जिन वातो के द्वारा मूल्य-सतह निश्चित होती है, उनको पृथक् रूप से जानने में यह हमारी सहायता नही करता। "मुद्रा सिद्धान्त की मूल समस्या केवल ऐसे समीकरण

बनाना नही है, जो मौद्रिक वस्तुओ की मात्रा का सम्बन्ध उन व्यावसायिक वस्तुओं से बतलावे, जिनका व्यवसाय मुद्रा द्वारा होता है। उस सिद्धान्त का वास्तविक कार्य समस्या पर सब प्रकार से विचार करना है।"[1] मुद्रा की मात्रा में होनेवाले परिवर्तनों का मूल्यो पर सीधा या प्रत्यक्ष प्रभाव नही पडता है। पहिले उनका प्रभाव व्याज की दर पर पडता है और मूल्यो तथा उत्पादन पर व्याज-दर द्वारा प्रभाव पड़ता है।

वह मुद्रा की खरीदने की शक्ति नहीं मापता।

परन्तु सबसे बडी आलोचना यह है कि फिशर का समीकरण मुद्रा की खरीदने की शक्ति नही मापता है। वह मुद्रा द्वारा होनेवाले सब प्रकार के सौदो का औसत मूल्य निश्चित करता है। ट में जितने प्रकार के व्यावसायिक लेन-देन शामिल है, उनमें से अधिकाश उद्योग, व्यवसाय और पूंजी सम्बन्धी है। मुद्रा की खरीदने की शक्ति से हमारा तात्पर्य राष्ट्रीय उपभोग में खरीदे जानेवाले सामानो और सेवाओ से है। इस प्रकार के सौदे फिशर के समीकरण मे सम्मिलित कुल सौदो के बहुत थोड़े अश होते है। इसलिये यह समीकरण मुद्रा की खरीदने की शक्ति नही मापता, बल्कि नकद सौदो का प्रमाण (cash transactions standard) मापता है।

केम्ब्रिज समीकरण (Cambridge equation)

कुछ अन्य लेखको ने इस सिद्धान्त को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है। इन लेखको के मतानुसार मुद्रा की माँग वस्तुओ की उस मात्रा पर निर्भर नही करती है, जिनकी बिक्री मुद्रा में होगी। इनका मत है कि मुद्रा की माँग, 'लोगो की मुद्रा रखने की इच्छा और योग्यता पर निर्भर करती है। यह उसी तरह होता है, जिस तरह कि मकानो की माँग के सम्बन्ध में हम उन लोगो पर विचार नही करते हैं जो मकान खरीदते है, फिर बेंच देते हैं अथवा उन्हे किराए पर उठाते है या स्वयं किराए पर लेकर उसे फिर किराये पर उठा देते हैं। वास्तव में हम उन लोगो का विचार करते है जो स्वय मकानो मे रहते है।" एक व्यक्ति अपनी आय का एक अश या अनुपात या तो नकदी के रूप मे अपने पास रखना चाहता है, या बैंक-जमा के रूप मे रखना चाहता है, जिससे वह अपना खर्च चला सके और आवश्यकता पडने पर उसका उपयोग कर सके। इसी प्रकार एक व्यवसायी और उद्योगपति चालू खर्च के लिए अपने हाथ में कुछ रकम रखना चाहते है। इस प्रकार के कामो के लिए जो रकम रखी जाती है उसकी

[1] "The fundamental problem of monetary theory is not merely to establish identities or statistical equations relating the turnover of monetary instruments to the turnover of things traded for money. The real task of such a theory is to treat the problem dynamically."

—*Keynes*, A Treatise on Money, Volume 1, p. 133.

कुल मात्रा, मुद्रा की माँग होती है। मुद्रा की पूर्ति सिक्को की मात्रा कागज के नोटो और बैंकों की जमा से बनती है। यह उस मात्रा से नही बनती जो वास्तव में चलन में है। यह विचार नया नही है। मार्शल ने बताया है कि मुद्रा की माँग का यह विचार, पैंटी, लाक और केन्टीलन के लेखो और ग्रन्थो मे पाया जाता है।

सन् १९२६ मे कीन्स[1] का 'ट्रेक्ट ऑन मानिटरी रिफार्म' प्रकाशित हुआ। उसमें कीन्स ने इस सिद्धान्त के आधार पर एक समीकरण दिया। उसने अपने सिद्धान्त का प्रारम्भ इस प्रकार किया कि लोग खरीदने की शक्ति की कुछ मात्रा अपने हाथ मे रखना चाहते है, जिससे वह कुछ 'उपभोग की इकाइयाँ' खरीद सकें। इन इकाइयो मे उनकी (उपभोक्ता की) निश्चित मात्रा की उपभोग की कई वस्तुएँ शामिल होती है अथवा "कई ऐसी वस्तुएँ जिन पर खर्च किया जाता है" शामिल रहती हैं। मान लो क उपभोग की इकाइयो की वह सख्या है, जिसे लोग नकद रूप में अपने पास रखना चाहते हैं। $क^1$ ऐसी इकाइयो की वह सख्या है, जिसे लोग बैंक मे रखते हैं। इसलिये प $क^1$ वह कुल बैंक जमा है, जो चेक द्वारा निकाली जा सकती है। मान लो, र सुरक्षित नकद जमा का वह अनुपात है, जिसे बैंक अपनी जमा के बदले में रखते हैं। न चलन में जितनी मुद्रा है, उसकी कुल मात्रा बतलाता है और प उपभोग की एक इकाई या मूल्य बतलाता है। इसलिए—

$$न = प(क + रक^1) \text{ या } प = \frac{न}{क + रक^1}$$

इस विचार शैली का सबसे बडा गुण यह है कि इसमें उस भद्दे तर्क की आवश्यकता नही पडती है कि मुद्रा की माँग वस्तुओ की मात्रा पर निर्भर करती है। यह सिद्धान्त चलन के वेग पर अपना ध्यान केन्द्रित नही करता। चलन का वेग एक गढा हुआ विचार-सा लगता है। यह सिद्धान्त कहता है कि मूल्य-सतह लोगो की आदतो पर निर्भर करता है और इन आदतो की विशेषता यह है कि लोग अपनी आय का एक अनुपात खरीदने की शक्ति के रूप में अपने हाथ में रखना चाहते है जिससे वह जब चाहे उसका उपयोग कर सके। इन आदतो के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि बैंक अपने सुरक्षित कोषों की रकम के सम्बन्ध में जो निर्णय करते है उसका और बैंको मे रुपया जमा करनेवालो के इस निर्णय का कि आय का कितना अश नकदी के रूप मे रखा जाय और कितना बैंक-जमा के रूप मे, मूल्य निर्धारित करने में कितना प्रभाव पडता है। परन्तु इस विचार शैली का सबसे बडा दोष यह है कि कीन्स के समीकरण में क और $क^1$ की परिमित आँकडो के आधार पर निश्चित रूप से नही जानी जा सकती है।

---

[1] See 'Tract on Monetary Reform', p. 84-88.

फिशर और केम्ब्रिज समीकरणों मे सम्बन्ध—ध्यान रहे कि फिशर के समीकर और केम्ब्रिज अर्थात् कीन्स के समीकरण में इतना मौलिक भेद नही है, जितना साध रणत माना जाता है। ये दो प्रकार के समीकरण वास्तव में एक ही वस्तु के दो अल अलग दृष्टिकोण अथवा मत प्रस्तुत करते है। केम्ब्रिज समीकरण मुद्रा की उस मा पर ध्यान देता है, जो एक निश्चित समय मे भविष्य के लेन-देन के लिए व्यक्तियो हाथ मे रहती है। (राबर्टसन इसे बैठी हुई मुद्रा कहता है)। फिशर का समीकरण मु की इस मात्रा पर ध्यान देता है, जो किसी निश्चित समय में समाज के लेन-देन के लि आवश्यक समझी जाती है। (राबर्टसन इसे 'उडती हुई मुद्रा' कहता है)। पह समीकरण समय का एक बिंदु (a point of time) है और दूसरा समीकर समय की एक लम्बाई (a period of time) है।

परिमाण का सिद्धान्त और व्यवसाय-चक्र

परिमाण के सिद्धान्त की सबसे अधिक महत्वपूर्ण आलोचना यह है कि एक व्यवसा चक्र (trade cycle) के काल मे मूल्य-सतहो पर जो परिवर्तन होते है, उन्हे वे सन्तोषपूर्वक नही समझाती। इस सिद्धान्त के अनुसार मूल्य-सतह मे जितने परिवर्तन होते है, वह सब मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तनो के कारण होते है। इसलिए गिरती हुई कीमतो के काल मे स्थिति संभालने का एकमात्र उपाय यह है कि मुद्रा की मात्रा बढा दी जाय। सन् १९२९ के पश्चात् जब ससार-भर मे एकदम मे कीमते गिरने लगी, तब प्राय सब सरकारो ने मुद्रा की मात्रा बढाकर इस गिरावट को रोकने के प्रयत्न किये। परन्तु मुद्रा की मात्रा बहुत अधिक बढा देने पर भी कीमतें गिरती गई। मुद्रा की मात्रा बहुत बढने पर भी कीमते नही बढी।

दूसरे, जब तेजी का समय समाप्त होता है और मदी शुरू होती है, तो वह मुद्रा की कमी के कारण शुरू नही होती। देश मे खरीदने की शक्ति की कमी होने के बहुत पहले कीमतो का बढना रुक सकता है। प्राय यह देखा जाता है कि मदी तथा गिरती हुई कीमतो के समय मे लोगो के पास खरीदने की शक्ति बहुत होती है और बैंको मे भी जमा रकम काफी होती है। परन्तु इनके होते हुए भी मदी तथा गिरती कीमतो का समय बना रहता है। यह नही कहा जा सकता है कि मदी का अन्त तथा कीमतो का उठना मुद्रा के पक्ष मे काम करनेवाले कारणो से होता है। अन्त मे हम यह नही कह सकते है कि मुद्रा की मात्रा हमेशा मूल्य-सतह निश्चित करती है। बल्कि स्वय मुद्रा की माँग मूल्य-सतह की ऊँचाई तथा उसके परिवर्तनो की प्रवृत्तियो पर निर्भर करती है। मूल्य सतह में परिवर्तन तथा चलन के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा दोनो ही एक साथ अन्य बातो द्वारा निश्चित होती है। इन सब बातो की विवेचना परिमाण-सिद्धान्त के आधार पर भली-भाँति नही की जा सकती है।

कीमतो मे अल्पकालीन परिवर्तन किन कारणो से होते है (Factors governing short-period changes in prices)—यह अन्य बाते कौन-

सी है ? आधुनिक अर्थशास्त्री कीमतो मे होनेवाले परिवर्तन बचत (Saving) तथा लाभ पर लगने वाली पूंजी (Investment) के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर समझते है। एक निश्चित काल मे उपभोग की वस्तुओ पर खर्च करने के बाद मुद्रा आय का जो अश बच रहता है, उसे बचत कहते है। एक व्यक्ति एक निश्चित समय में एक निश्चित मुद्रा आय प्राप्त करता है। वह इस पूरी आय को या तो उपभोग की वस्तुएँ खरीदने मे व्यय कर सकता है या इन वस्तुओ पर वह अपनी आय का केवल एक अश खर्च करेगा और बाकी बचा लेगा। पूरे देश के लोगों के द्वारा इस प्रकार की जो बचत की जाती है, वह बचत की कुल मात्रा होती है। जब पूरा देश पहले की अपेक्षा अपनी आय का अधिक अश बचाने का निश्चय कर लेता है, तब उपभोग की वस्तुओं पर उसका खर्च कम हो जाता है। मान लो लोगो की कुल मुद्रा आय १,००० करोड़ रुपया है, जिसमे से लोग २०० करोड रुपया बचाते थे और ८०० करोड रुपया उपभोग की वस्तुओ पर खर्च करते थे। अब लोगो की अधिक बचत करने की इच्छा बढती है और वह ३०० करोड रुपया बचाने लगते है। अर्थात् अब वह ८०० करोड रुपयो के बदले केवल ७०० करोड रुपया उपभोग की वस्तुओ पर खर्च करते है। चूंकि अभी ऐसी कोई बात नही हुई है, जिससे इन वस्तुओं की मात्रा मे परिवर्तन हो, इसलिए उनकी कीमते अवश्य गिरेगी। इसलिए प अर्थात् उपभोग की वस्तुओ का मूल्य सतह इ — स = प समीकरण द्वारा निश्चित होता है। इसमे इ लोगो की आय की कुल मात्रा बतलाती है और स बचत की मात्रा बतलाती है। यहाँ हमे एक बात पर ध्यान देना चाहिये। जब कोई व्यक्ति अपनी आय का अधिकाश भाग बचाने का निश्चय करता है, तो उसकी बचत की मात्रा बढ सकती है। परन्तु इससे कुल बचत की कुल मात्रा नही बढेगी। जब एक व्यक्ति बचत करता है, तो किसी अन्य व्यक्ति की आय कम होती है, सम्भवत किसी वस्तु अथवा सेवा के विक्रेता की आय कम होती है । एक आदमी का खर्च दूसरे आदमी की आय होती है। जब एक आदमी वस्तुएँ खरीदने पर मुद्रा खर्च करता है, तो उसमे वस्तु विक्रेताओ की आय बढ जाती है। वह अपने नौकर अथवा रसोइया को जो वेतन देता है, वह उसका खर्च है, परन्तु उन लोगों की आय है। इसलिए एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियो का एक समूह जब पहले की अपेक्षा कम खर्च करता है, तब उससे अन्य व्यक्तियो की आय कम हो जाती है। तब इन लोगो को लाचार होकर अपनी बचत की मात्रा घटानी पडेगी। यदि किसी व्यक्ति की आय ४०० रुपये से घटकर २०० रुपया रह जाती है, तो उसकी बचत अवश्य घट जायगी।

इस प्रकार पहले समूह के लोगो की अधिक बचत दूसरे समूह के लोगो की कम बचत से सतुलित हो जावेगी। अर्थात् देश मे कुल बचत की मात्रा बढेगी नही। जो व्यक्ति अधिक बचत करने लगता है, वह तो अवश्य अपनी बचत की मात्रा बढा लेगा। उसके इस कार्य से देश की कुल बचत की मात्रा में वद्धि नही होगी, बल्कि अन्य कुल लोगो की

आय घट जायगी और उपभोग की वस्तुओं की कीमत गिरेगी। इसलिए बचत करने की प्रवृत्ति मे बढती या घटी होने से आय मे घटी या बढती होगी और कीमतो मे परिवर्तन होगा।

अब हम दूसरे पक्ष पर ध्यान दे। सामान्यत लाभ पर पूंजी लगाने का अर्थ सरकारी ऋण-पत्रो अथवा कम्पनियो के हिस्सो को खरीदना या सम्पत्ति खरीदना होता है। लेकिन

लाभ पर पूँजी लगाने के परिणाम।

हम यहा पूंजी लगाने का उपयोग विशेष अर्थ मे करेंगे। लाभ पर पूंजी लगाने का अर्थ उत्पादन के सब प्रकार के भौतिक साधनो की वृद्धि करना होता है। जब कोई व्यक्ति किसी चालू कारखाने या उद्योग के हिस्से खरीदता है, तब वह साधारण अर्थ मे अपनी पूंजी लाभ के लिये लगाता है। परन्तु उसकी खरीद से उत्पादन के भौतिक साधनो की मात्रा मे वृद्धि नही होती है। इसलिए उसकी खरीद को हम पूंजी लगाना नही कहेगे। परन्तु यदि वह ऐसे कारखानो के हिस्से खरीदता है जिसे अपना उत्पादन बढ़ाना है और उसके लिये अधिक मशीने इत्यादि खरीदनी है, तो उसकी खरीद से पूंजी की मात्रा बढेगी। देश मे जब विनियोग[1] की मात्रा बढती है, तब क्या होता है? मान लो देश मे कुछ ऐसे साधन है, जिनका उपयोग नही हो रहा है (यह अनुमान एकदम काल्पनिक नही है)। जब व्यवसायी उत्पादन का अधिक सामान बनाने का निश्चय करेगे, तब वह निश्चय ही उत्पादन के इन बेकार साधनो का उपयोग आरभ कर देगे। तब जो नये आदमी काम पर लगाये जायँगे उनकी मुद्रा-आय बढेगी। जब ये लोग अपनी आय खर्च करेगे तो उपयोग की वस्तुओ पर खर्च बढेगा। इससे कीमतें बढ भी सकती है और नही भी बढ़ सकती है। जब तक बेकार साधन उत्पादन मे आते रहेगे तब तक उत्पादन की मात्रा बढती रहेगी, साथ ही सभव है कि कीमते न बढें। परन्तु साधारणत. कुछ हद तक कीमते अवश्य बढेगी, क्योकि एक साथ सब प्रकार की वस्तुओ का उत्पादन बढाना सरल नही है। जब ऐसी स्थिति आ जायगी कि उत्पादन के सब साधन उत्पादन के उपयोग मे लग जायँगे, तब उसके बाद जो विनियोग होगा, उससे कीमतें बढ सकती है। इस प्रकार कीमतो मे जो वृद्धि हुई है वह विनियोग मे वृद्धि होने का परिणाम है। यदि विनियोग की मात्रा घटेगी तो क्रिया इसके विपरीत होगी। अर्थात् बेकारी बढेगी, लोगो की मुद्रा-आय घटेगी और उपभोग की वस्तुओ पर खर्च घटेगा। इससे विनियोग मे और कमी होगी क्योकि उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन करनेवाले इन वस्तुओ का उत्पादन करनेवाली मशीनो, औजारो तथा अन्य उत्पादक साधन कम मात्रा मे खरीदेगे। इस प्रकार एक कुचक्र आरम्भ होता है। रोजगार अर्थात् कार्यशीलता और मुद्रा-आयो में और अधिक कमी होती है और फलत कीमते गिरने लगती है।

---

[1]लाभ पर लगाई जानेवाली पूंजी (investment) के लिये कुछ लेखक 'विनियोग' शब्द का उपयोग करते है।

इसलिये एक निश्चित अवधि मे कीमतें बचत करने की प्रवृत्ति और विनियोग की मात्रा पर निर्भर करती हैं। परन्तु पहली चीज बचत करने की प्रवृत्ति प्राय अधिक दृढ तथा स्थिर होती है, क्योंकि यह लोगो की आदतो पर निर्भर करती है। इसलिए मूल्य-सतह निश्चित करने मे सबसे महत्वपूर्ण चीज विनियोग की मात्रा होती है। वह साधनो के उपयोग अर्थात् क्रियाशीलता और मुद्रा-आय के कीमतो पर प्रभाव डालती है।

ध्यान रहे कि इसका अर्थ यह नही है कि कीमतो मे परिवर्तन बचत मे विनियोग की अपेक्षा कमी या वेशी के कारण होते हैं। बचत की कुल मात्रा हमेशा विनियोग की मात्रा के बराबर होती है। यह परिणाम निश्चित है, आप इसे नही टाल सकते हैं।

वास्तविक बचत और विनियोग सदा बराबर होते हैं।

मान लो इ उत्पादन की वह कुल मात्रा बतलाती है, जो उपभोग की वस्तुओ तथा उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन से प्राप्त होती है। अर्थात् इ=च (उपभोग की वस्तुओ से आय) +ह (उत्पादक वस्तुओ से आय)। च अर्थात् उपभोग की वस्तुओ से आय उस खर्च के बराबर होनी चाहिये, जो कि लोग उन वस्तुओ पर करते है और यह खर्च इ—स के बराबर है, जब कि स बचत की मात्रा बतलाता है।

अब	इ=च+ह
अथवा	इ—च=ह
चूंकि	च=इ—स
इसलिये	इ—(इ—स)=ह
अथवा	स=ह

दूसरे शब्दो में बचत हमेशा विनियोग के बराबर होगी। यह बात परस्पर विरोधी सी लग सकती है। यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि कोई मनुष्य जैसी बचत करता है, उसी अनुपात मे विनियोग भी बढेगा। इसलिये साधारण मनुष्य यह समझता है कि बचत और विनियोग बराबर नही होगे। परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। मान लो, व्यक्तियो का एक समूह पहले की अपेक्षा अब अधिक बचत करता है तो स्पष्ट है कि वह पहले की अपेक्षा उपभोग की वस्तुएँ भी अब कम खरीदेगा। इन वस्तुओ के विक्रेताओ के पास माल जमा होता जाता है। दूसरे शब्दो मे माल मे उनका विनियोग उसी मात्रा मे बढता है, जितनी बचत होती है। फिर जैसा कि हम पहले कह चुके है कि एक समूह की बचत बढने से उपभोग की वस्तुओं की बिक्री घटेगी, इन वस्तुओ के उत्पादको की मुद्रा आय घटेगी और इस कारण से बचत की मात्रा भी घटेगी। पहले समूह द्वारा की गई अधिक बचत उपभोग की वस्तुओं के उत्पादक की घटी हुई बचत से सन्तुलि हो जायगी। इसलिए बचत की कुल मात्रा में किसी प्रकार की वृद्धि

विनियोग की मात्रा मे वृद्धि हो तो उससे कार्यशीलता भी बढेगी और मुद्रा आय भी बढ़ेगी। बचत की प्रवृत्ति पहले के समान ही बने रहने से उसकी मात्रा भी बढ़ेगी। इसलिये बचत हमेशा विनियोग के बराबर होगी।

इच्छित बचत की मात्रा तथा इच्छित विनियोग की मात्रा का हमेशा बराबर होना आवश्यक नहीं है।

परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि लोग जो मात्रा बचाना चाहते थे, वह हमेशा विनियोग के बराबर रहेगी। अथवा व्यवसायी जो मात्रा विनियोग में लगाना चाहते थे, वह बचत के बराबर होगी। जब लोग पहले की अपेक्षा अधिक बचाते है, तब उपभोग की वस्तुओ की बिक्री कम हो जाती है और विक्रेताओ के पास माल जमा होने लगता है। माल मे अर्थात् वस्तुओ पर विनियोग की मात्रा बढ जाती है और इस प्रकार विनियोग तथा बचत परस्पर बराबर रहते है। परन्तु विक्रेताओ की यह इच्छा नही थी कि वस्तुओ पर उन्हे विनियोग बढाना पडे। इसलिये विनियोग की जो मात्रा बढी वह अनिच्छित थी। इसी प्रकार पूर्ण कार्यशीलता की परिस्थिति में यदि विनियोग की मात्रा बढती है तो कीमते बढेगी। कीमतो के बढने से उपभोक्ता पहले की अपेक्षा कम उपभोग करेगे। तब वह बाध्य होकर बचत करेगे और उस स्थिति में बचत की मात्रा बढकर उतनी हो जायगी जितनी कि विनियोग में बढती हुई है। परन्तु इस प्रकार की बचत करने की उपभोक्ताओ की इच्छा नही थी। उन्होने बाध्य होकर जो बचत की है, वह अनिच्छित बचत है।

अध्याय ३६

मुद्रा का विस्तार, संकुचन और स्फीति-निवारण
(Inflation, Deflation and Disinflation)

मुद्रा का विस्तार या स्थिति (Inflation)—मुद्रा-विस्तार के ठीक अर्थ के सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। कुछ लोगो का मत है कि मुद्रा-विस्तार या मुद्रा स्फीति तब होती है "जब कभी मुद्रा की पूर्ति तथा बैंको द्वारा प्रचलित बैंक-जमा, जिसे जमा मुद्रा भी कहते हैं, विनियोग के साधन की माग से अधिक बढ जाती है, जिससे आम वस्तुओ का मूल्य-सतह बढ जाता है।"[1] परन्तु हम

मुद्रा-विस्तार का अर्थ।

विनिमय के साधन की माँग कितनी है, यह कैसे जानेगे? यह परिभाषा तथा 'व्यापार की आवश्यकताएँ' जैसी अभिव्यक्ति हमारे लिये विशेष सहायक सिद्ध नही होते। व्यापार की आवश्यकताओ के सम्बन्ध मे विभिन्न व्यक्तियो की विभिन्न राये है। यह मालूम करने का कि मुद्रा की पूर्ति 'व्यापार की आवश्यकता' से अधिक बढ गई है, केवल एक ही तरीका है, अर्थात् इसको मालूम करने के लिये हमे पता लगाना पडेगा कि मूल्य सतह मे वृद्धि है या नही। परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि मूल्य-सतह मे वृद्धि सदा मुद्रा-विस्तार के कारण ही नही होती है। यदि उत्पादन की औसत लागत बढ जाने के फलस्वरूप मूल्य मे वृद्धि होती है तो उसे मुद्रा-विस्तार के कारण हुई वृद्धि नही कह सकते है। इसके अलावा कुछ लेखको का यह भी मत है कि मूल्य मे किसी प्रकार की वृद्धि हुए बिना भी मुद्रा-विस्तार हो सकता है। जब वस्तु की लागत मे गिरावट आ रही है, परन्तु कीमत स्थिर रखी गई है (जैसा कि १९२४-२९ मे अमेरिका मे किया गया) तो देश में मुद्रा-विस्तार के सभी लक्षण विकसित हो जायँगे। इस स्थिति को कीन्स (Keynes) लाभ स्फीति (Profit inflation) कहते है। कीन्स का इसे लाभ स्फीति कहने का अभिप्राय इसमें तथा वस्तु स्फीति (Commodity inflation) या मूल्य में वृद्धि में भेद करना है।

प्रोफेसर पीगू ने 'युद्धजनित स्फीति के प्रकार' नामक लेख मे लिखा था कि "जब मुद्रा की आय का अनुपात उपार्जन सम्बन्धी कार्यो से कही अधिक बढ जाता है, तब मुद्रा स्फीति की स्थिति पैदा हो जाती है।"[2] जब मुद्रा की पूर्ति बढेगी तो ब्याज की दर

[1] Kemmerer on Money, p 46.
[2] Economic Journal, Dec. 1941, p. 439.

घटेगी, जिससे विनियोग (investment) को प्रोत्साहन मिलेगा और पूंजी का उपयोग अधिक होगा। जब देश मे पूंजी का उपयोग बढेगा तब उत्पादन के साधनों का उपयोग भी अधिक मात्रा मे होगा। यह उपयोग तब तक बढ़ता रहेगा, जब तक बेकार पडे हुए साधन भी काम मे न लग जायंगे। जब काम बढेगा अर्थात् उपार्जन सम्बन्धी कार्यों मे वृद्धि होगी, तब वस्तुओ और सेवाओ की मात्रा मे वृद्धि होगी। इसलिए मुद्रा की आय मे जो वृद्धि होगी, उसका सन्तुलन वस्तुओं ओर सेवाओ मे होनेवाली वृद्धि मे हो जायगा। जब पूर्ण कार्यशीलता (full employment) की स्थिति आ जायगी, तब मुद्रा की पूर्ति मे वृद्धि होने से भी मुद्रा की आय तो बढेगी, परन्तु न तो कार्यशीलता में अब कोई वृद्धि होगी, न उपार्जन सम्बन्धी कामो मे ओर न वस्तुओं के उत्पादन में। तब उत्पादित वस्तुओ की मूल्य-सतह ऊपर बढने लगेगी और सच्ची मुद्रा-स्फीति आरम्भ हो जायगी।

इससे प्रकट होता है कि जब उत्पादन के साधनो का पूर्ण उपयोग होता है अर्थात् पूर्ण कार्यशीलता की स्थिति आ जाती है, तब इसके बाद सच्ची मुद्रा-स्फीति आरम्भ होती है। किसी समय ऐसा हो सकता है कि कुछ साधन पर्याप्त नही है या उनकी पूर्ति कम है तो अन्य ऐसे साधनो से जिनकी पूर्ति अधिक मात्रा मे है इनका पूर्ण उपयोग पहले ही हो जाता है। ऐसी स्थिति मे उन वस्तुओ अथवा सेवाओ का उत्पादन बढाया नही जा सकता है, जिनके लिये कम मात्रा में उपलब्ध साधनो का उपयोग आवश्यक है, यद्यपि इनकी खरीद मे लगायी जानेवाली आय मे काफी वृद्धि होती है। इसलिये इन वस्तुओ की कीमतो में वृद्धि होगी और धीरे-धीरे इसका प्रभाव अन्य वस्तुओ की कीमतो पर भी पडेगा और यदि आर्थिक क्षेत्र मे ये वस्तुएँ विशेष महत्त्व की हुई तो यह प्रभाव और भी शीघ्र पडेगा। इन बाधाओ के होने से ऐसी स्थिति मे भी मुद्रा-विस्तार होगा, जब कि उत्पादन के कुछ साधन अभी अप्रयुक्त हो। इसे आंशिक मुद्रा-विस्तार (Partial inflation) कहते है।

मुद्रा स्फीति के प्रकार (Types of Inflation)—जब किसी बडे युद्ध का खर्च जुटाना पडता है, तब इस प्रकार की मुद्रा-स्फीति उत्पन्न होती है। बिना कुछ मुद्रा-स्फीति हुए प्रथम श्रेणी के युद्ध को नही चलाया जा सकता है। युद्धकाल मे जनसख्या का बहुत अधिक हिस्सा सेना मे भरती हो जाता है और उत्पादन के प्राय सभी साधनो को उत्पादन मे लगा दिया जाता है। इस रीति से पूर्ण कार्यशीलता की स्थिति आ जाती है और मुद्रा की आय बढती जाती है। इसके साथ ही कुल उत्पादन का बहुत बडा हिस्सा सरकार सेना के उपयोग के लिये ले लेती है और नागरिकों के उपभोग के लिए वस्तुएँ कम मात्रा में उपलब्ध होने लगती है। इसलिये युद्धकाल मे और युद्ध के पश्चात् मुद्रा विस्तार होता है, यह मुद्रा-विस्तार दो प्रकार से हो सकता है। पहले, जनता की मुद्रा की आय उपलब्ध उत्पादित माल के अनुपात मे अधिक बढ जाती है। यदि मुद्रा विस्तार को रोकना है तो सरकार को कर लगाकर या ऋण के रूप मे जनता से यह अति-

रिक्त आय ले लेनी चाहिये। यदि युद्ध के व्यय की पूर्ति के लिए जनता करों या ऋण के रूप मे पर्याप्त रकम नही दे तो सरकार को अपने वजट के घाटे की पूर्ति के लिये नयी मुद्रा का निर्माण करना पड़ेगा। इसे 'घाटे से प्रेरित मुद्रा-विस्तार' (deficit-induced inflation) कहते है।

दूसरे, कीमतो मे और रहन-सहन के व्यय मे वृद्धि होने के कारण मजदूरी करने-वाले अपने मालिको को मजदूरी की दर वढ़ाने के लिये विवश कर सकते हैं। मजदूरी मे वृद्धि का अर्थ है अधिक आय, जब कि माल का उत्पादन नही वढ़ाया जा सकता है। इसका परिणाम भी मुद्रा-विस्तार होगा। इसे 'मजदूरी से प्रेरित मुद्रा विस्तार' (Wage-induced inflation) कहते हैं।

मुद्रा-विस्तार दो प्रकार का होता है—(१) प्रत्यक्ष मुद्रा-विस्तार (Open inflation) और (२) अप्रत्यक्ष मुद्रा-विस्तार (Suppresed inflation)। जव मुद्रा-आय मे वृद्धि होने दी जाती है तो परिणामस्वरूप वस्तु की मॉग भी बढ जाती है। इससे वस्तु की कीमत मे अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। यही प्रत्यक्ष मुद्रा-विस्तार की स्थिति है। यदि वस्तुओ की कीमतो मे होनेवाली वृद्धि को उचित सीमा के अन्तर्गत नही रखा जाता है तो प्रत्यक्ष मुद्रा-विस्तार की गति तेज हो जाती है और उसे वेगवान मुद्रा-विस्तार (Galloping inflation) कहते हैं। यह ऐसी स्थिति होती है जब कीमतो में तेजी से वृद्धि होने लगती है, जो या तो सरकार द्वारा बडे पैमाने पर नयी मुद्रा के निर्माण के कारण होती है या मजदूरो के बढती हुई कीमतो के अनुसार मजदूरी मे भी वृद्धि कराने के प्रयत्नो से होती है। १९२० से २३ के बीच जर्मनी में और चीन के कोमिन्तागी शासन काल में इस प्रकार के वेगवान मुद्रा-विस्तार का जोर रहा।

वेगवान मुद्रा-विस्तार।

अनेक कारणो से सरकार यह चाह सकती है कि कीमतो मे एक सीमा से अधिक वृद्धि न हो। इसीलिये गत महायुद्ध मे प्राय प्रत्येक देश की सरकारो ने जनता द्वारा किये जानेवाले खर्च को सीमित करने की चेष्टा की। इसके लिये सरकारो ने अनेक तरीके अपनाये, जैसे, वस्तुओ की अधिकतम कीमते निर्धारित कर दी, आवश्यक वस्तुओ के वितरण के लिये राशनिग प्रणाली लागू कर दी और विनियोग पर नियत्रण लगाये, इत्यादि। यदि इस प्रकार के कडे प्रतिवन्ध लगाने से जनता को अपनी मुद्रा-आय को खर्च करने से रोका जा सकता है और ऐसी स्थिति में "मुद्रा-विस्तार वस्तुओ की वढती कीमतो मे प्रकट नही होगा, वलिक व्यक्तियो के पास नकद रुपयो के सग्रह, वैक के जमा-धन, और भुनाई जा सकनेवाली निजी सम्पत्ति के

अप्रत्यक्ष मुद्रा-विस्तार।

प्रकट होगा।"[1] इस प्रकार के मुद्रा-विस्तार को अप्रत्यक्ष मुद्रा विस्तार कहते है।

मुद्रा-संकुचन (Deflation)—मुद्रा-सकुचन का अर्थ है कि एक निश्चित अवधि मे मुद्रा-आय की सतह उत्पादन की मात्रा के अनुपात मे घट रही है। जब मुद्रा-सकुचन की स्थिति होती है, उस समय क्रियाशीलता अथवा रोजगार में कमी आ जाती हैं और साथ ही कीमतो मे भी गिरावट आ जाती है।

कृत्रिम स्फीति या कृत्रिम मूल्य वृद्धि (Reflatian)—सन् १९२९ के बाद के वर्षों मे कृत्रिम स्फीति (Reflation) की चर्चा एक प्रकार से फैशन सी हो गई थी। इस अवधि मे भयकर मदी छा गई थी और कीमतो तथा उत्पादन में भारी गिरावट आ गई, साथ ही बेरोजगारी भी बहुत बढ गई थी। इस विपदा को दूर करने के लिये यह उपाय सोचा गया कि कीमतो को इतना बढाया जाय जिससे वह लागत के बराबर आ जायँ। कीमत तथा लागत मे साम्य स्थापित करने के उद्देश्य से कीमतो में इस प्रकार की गई वृद्धि को कृत्रिम स्फीति (Reflation) कहा जाता है।

स्फीति निवारण (Disinflation)—हाल मे स्फीति निवारण (disinflation) शब्द बहुत लोकप्रिय हो गया है। युद्धकाल मे और युद्ध समाप्ति के बाद विश्व के प्राय सभी देशो मे वस्तुओं की कीमतो मे काफी वृद्धि हुई है। बराबर यह अनुभव किया जाता रहा है कि सरकार को ऐसी नीति का अनुसरण करना चाहिये जिस से वस्तुओ की कीमतें ओर लागतें न्यायोचित स्तर तक घट जाय। इस नीति को स्फीति निवारण कहते है। मुद्रा सकुचन की स्थिति मे कीमते गिरती है ओर स्फीति निवारण का अर्थ भी कीमतो मे कमी करना होता है। परन्तु मुद्रा-सकुचन की स्थिति मे कीमते घटने के साथ ही उत्पादन भी गिरता जाता है ओर बेरोजगारी तथा निष्क्रियता बढती जाती है जब कि स्फीति निवारण की नीति को बिना इन अवाछित लक्षणो के लागू किया जा सकता है। स्फीति निवारण की नीति का अर्थ यह है कि सरकार अपनी वित्तीय तथा मुद्रा सम्बन्धी नीति मे इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करे जिससे कीमतो मे ओर लागत में नियमित रूप से गिरावट आये और साथ ही बेरोजगारी भी न फैले।

मूल्य-सतह मे परिवर्तनों के परिणाम[2] (Effects of changes in the price-level)—मुद्रा के मूल्य मे होनेवाले परिवर्तनो का यदि प्रत्येक व्यक्ति

---

[1] "The inflation may show itself not in rising prices but in the accumulation of cash, bank balances, and other forms of encashable wealth in the hand of the people"

—*J. K. Horsefield*, "The Measurement Inflation" in the IMF Staff Papers, Vol. 1, No. 1, p 18

[2] इस विषय पर कीन्स ने अपने 'A Tract on Modetary Reform' chapter 1 में बहुत सुन्दर विवेचना की है।

पर एक-सा प्रभाव पडता, तो उससे बहुत बडी कठिनाई न होती। परन्तु वास्तव मे मूल्यो के परिवर्तन का विभिन्न वर्गों पर अलग-अलग प्रभाव पडता है। कीमतो मे होनेवाले परिवर्तनो का प्रभाव मनुष्य पर मजदूर, व्यवसायी, हिस्सो और ऋण-पत्रो के स्वामी, कर्जदार, साहूकार, करदाता इत्यादि के रूप मे पडता है और प्रत्येक रूप मे उस पर भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रभाव पड सकता है। फिर कीमतो की घटी-बढी का प्रभाव सम्पत्ति के उत्पादन और वितरण पर कई प्रकार से पडता है तथा उत्पादन और वितरण पर प्राय परस्पर विरोधी प्रभाव पडता है।

मूल्यों मे परिवर्तन और सम्पत्ति का वितरण (Changes in prices and distribution of wealth)—आज की दुनिया मे प्राय: प्रत्येक मनुष्य या तो साहूकार है, या कर्जदार और प्रत्येक रूप मे उस पर अलग-अलग प्रभाव पडते है। जब कीमते बढती है, तब कर्जदार को लाभ होता है और साहूकारो को हानि होती है। जब कीमते बढती है, तब मुद्रा की खरीदने की शक्ति कम हो जाती है। इसलिये यद्यपि साहूकारो को कर्जदार उतनी ही रकम लौटाते है, पर वस्तुओ के रूप में वे कम लौटाते है। इसके विरुद्ध जब कीमते गिरती है, तब कर्जदार नुकसान में रहते है और साहूकार लाभ मे। कर्जदार साहूकार को तो उतनी ही रकम लौटाते है, परन्तु वस्तुओ के रूप मे वे अधिक लौटाते है, क्योकि अब मुद्रा अधिक वस्तुएँ खरीद सकती है। इसलिये जिस काल मे कीमतें बढती है, उस काल मे बचत करनेवाला और लाभ पर पूंजी लगानेवाला वर्ग हानि मे रहता है। परन्तु जब कीमते गिरती है, तब यह वर्ग लाभ मे रहता है। बढती हुई कीमतो के काल मे न केवल लोगो की बचत का मूल्य कम हो जाता है, वल्कि वह विश्वसनीय वातावरण नष्ट हो जाता है, जिसके रहने से लोगो में बचत करने की इच्छा होती है।

इसी प्रकार कोई आदमी मजदूर-पेशा हो सकता है अथवा व्यवसायी। यह तो सभी लोगो का अनुभव है कि जिस काल मे कीमते बढने लगती है, उस काल मे मजदूरी की दर कीमतो के बराबर नही बढती। इसलिये मूल्य वृद्धि के काल मे मजदूरी की खरीदने की शक्ति कम हो जाती है और वह समय मजदूर वर्ग के लिये बडा कठिन समय होता है। इसके विरुद्ध जब कीमते गिरती है, तब मजदूरी की दर उतनी नही गिरती और मजदूर वर्ग उसका लाभ उठाता है।

परन्तु इस तस्वीर का दूसरा पहलू भी है। मूल्य वृद्धि के काल मे उत्पादक अच्छा मुनाफा उठाते है। और अधिक लोगो को काम पर लगाते है। इसलिए ऐसे समय मे यद्यपि मजदूरी की खरीदने की शक्ति कम हो जाती है, परन्तु मजदूर वर्ग को काम अधिक मिलता है। परन्तु जब कीमते गिरती है, तब उत्पादको को हानि होती है और वे उत्पादन कम कर देते है तथा कम लोगो को काम देते है। इससे बहुत से मजदूर बेकार हो जाते है। इस प्रकार यद्यपि

बढ़ती हुई मजदूरी तथा अधिक काम के काल।

वास्तविक मजदूरी की दर बढती है, परन्तु बेकारी बढने के कारण मजदूरी से प्राप्त मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है।

परन्तु उत्पादक को बढती हुई कीमतो के काल में लाभ होता है और गिरती हुई कीमतो के काल मे उन्हे हानि होती है। उनके लाभ के तीन कारण होते है – एक तो वे अधिकतर कर्जदार होते है और मूल्य वृद्धि के समय कर्जदारो को लाभ होता है। दूसरे, वे कच्चे माल तथा अन्य सामान पुरानी और कम कीमतो पर खरीदते है और बाद में कीमत बढने पर उसे बेचते है। तीसरे, उनके लागत खर्च में मजदूरी तथा अन्य बंधे हुए खर्च उतने नही बढ़ते, जितनी कीमतें बढती है। फल यह होता है कि उनके लाभ की मात्रा बढ जाती है, वे अपना उत्पादन कार्य अधिक बढाते है तथा अधिक लोगो को काम देते है। जब कीमतें गिरती है, तब इसका उल्टा होता है। तब उन्हे लाभ की जगह हानि होती है। वे उत्पादन कम कर देते है जिससे बेकारी फैलती है। इस प्रकार मूल्य वृद्धि के काल में उन लोगो को लाभ होता है, जिनकी आय व्यवसायियो के समान परिवर्तनशील होती है। परन्तु जिन लोगो की आय बंधी हुई रहती है, उनको हानि होती है। वेतन अथवा मजदूरी पानेवाले लोग, व्याज कमानेवाले, तथा लाभ के लिये पूंजी लगानेवाले इस श्रेणी में आते है।

उत्पादन पर मूल्य परिवर्तन का प्रभाव (Effect of price changes on production)—मूल्य-वृद्धि काल में कीमतो में जो परिवर्तन होते है, उनसे व्यवसाय जगत में खतरे और अनिश्चितता बढ जाती है। इससे उत्पादन कार्यों में बाधा पड़ती है। खतरे बढने का अर्थ यह होता है कि जो लोग खतरा उठाते है, वे समाज से मुनाफ़े के रूप मे अधिक कर या लाभ वसूल करेंगे। परन्तु यदि कीमतें स्थिर रहती है, तो खतरे भी कम रहेगें और तब खतरा उठाने की कीमत या फीस भी कम रहेगी। फिर मूल्य वृद्धि काल में व्यवसाय को अनावश्यक उत्तेजना मिलती है। व्यवसायी बहुत अधिक लाभ पैदा करते है। वे उत्पादन में अधिक पूंजी लगाते है और उत्पादन के साधन भी अधिक मात्रा में बनाते हैं। अत में बाजार मे माल की मात्रा इतनी अधिक बढ जाती है कि उसे लाभ पर बेचना संभव नही होता। तब व्यवसायियो को नुकसान होने लगता है और वे उत्पादन कम करने लगते है। इससे कीमते गिरने लगती है और बेकारी फैलती है। इस प्रकार मूल्य-वृद्धि काल में उत्पादन को अनावश्यक उत्तेजना मिलती है और गिरते हुए मूल्यो के काल में व्यवसायो को अनावश्यक मदी का सामना करना पडता है।

मूल्य परिवर्तन, कर और सार्वजनिक ऋण (Price changes, Taxation and Public Debt)—मूल्य-वृद्धि काल में कर दाताओ को लाभ होता है, क्योंकि चाहे कर के रूप में उन्हे कुछ अधिक रुपया भले ही देना पडे, परन्तु वस्तुओ के रूप में उन्हे पहले की अपेक्षा कम देना पडता है। आय-करदाताओं को भी लाभ होता

है, क्योंकि कर में वह जो रुपया देते है, उसका मूल्य उस आय से कम है, जो उन्होंने पहले कमाई थी। भूमिकर मे भी कमी होती है, क्योकि जो लोग कर देते है, वे अब वस्तुओ के मूल्य में कम देते है। कर के क्षेत्र मे इस प्रकार की असमानताओ के कई उदाहरण दिये जा सकते है। इसके सिवा बढती हुई कीमतें देशी और विदेशी दोनो प्रकार के सार्वजनिक ऋणो का वास्तविक भार कम कर देती है ओर गिरती हुई कीमतें उनका भार बढा देती है।

मूल्य परिवर्तन के समाजिक परिणाम (Social consequences of Price-Changes)—अभी तक हम आर्थिक परिणामो पर विचार करते रहे हैं। परन्तु सामाजिक परिणाम कम महत्वपूर्ण नही है। अस्थिर मूल्यो के समय काफी सामाजिक उथल-पुथल होती है। वह सकट का समय होता है। जब कीमते बढती है, तब मजदूर पेशा अपनी मजदूरी बढाने का प्रयत्न करते है, क्योकि उनका रहन-सहन का खर्च बढ जाता है। इसके फलस्वरूप मूल्य-वृद्धि के काल मे प्राय हडतालें होती रहती हैं। जब कीमते गिरती हैं, तब उत्पादक मजदूरी की सतह को नीचे गिराना चाहते हैं। यह मजदूरो और उद्योगपतियो के बीच सघर्ष का दूसरा कारण होता है। प्राय. मजदूरो और मालिको मे खुला सघर्ष होता है। बेकारी बढती है और उससे समाज में सकट और सघर्ष उत्पन्न होता और बढता है। बढती हुई कीमतो के समय मजदूर हड़ताल करते हैं और घटती हुई कीमतो के समय उत्पादक हड़ताल करते है।

अन्त में हम यह कह सकते है कि घटती हुई कीमतो तथा बढती हुई कीमतो दोनों के समय हानिकारक है। मुद्रास्फीति से पूंजी लगानेवालो तथा मजदूर दोनो की वास्तविक आय घटती है। और ये दोनो समाज के प्रधान वर्ग है। वह उत्पादन कार्यों को अस्वास्थ्यकर रूपो में बढाता है, जिससे सकट जल्द उत्पन्न होता है। मुद्रा सकुचन से उत्पादको को हानि होती है और उत्पादन कार्यों पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है: उससे बेकारी बढती है और उसके सामाजिक और आर्थिक प्रभाव बहुत हानिकारक तथा दुखप्रद होते है।

मुद्रा-विस्तार पर नियन्त्रण (Control of Inflation)—मुद्रा-विस्तार का कारण यह है कि कुल व्यय वस्तु की कुल मात्रा से अधिक है। इस पर नियत्रण रखने का केवल यही तरीका है कि कुल व्यय की रकम उपलब्ध वस्तु की मात्रा तक ही सीमित रखी जाय। यह निम्नलिखित तरीके से किया जा सकता है —

कुल व्यय म ५ बात शामिल है—(१) उपभोग मे निजी खर्च, (२) व्यक्तिगत विनियोग, (३) सरकारी व्यय, (४) सरकारी विनियोग और (५) विदेशी विनियोग या अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की स्थिति। यदि सरकार मुद्रा विस्तार को रोकना चाहती है तो उसे पाँचवी मद को छोड़ अन्य चार पर होनेवाले व्यय को सीमित करना पडेगा। जहाँ तक उपभोग सम्बन्धी सरकारी माँग का प्रश्न है, शाति के समय उसमें

कटौती करने की अधिक गुंजायश नही हो सकती, क्योंकि न चिकित्सा सम्बन्धी व्यय मे अधिक कटौती की जा सकती है और न शिक्षा सम्बन्धी व्यय मे। इसका यह अभिप्राय नही है कि सरकारी व्यय कम करने की कोई सभावना ही नही है। वास्तव मे व्यय की इस राष्ट्रीय मद मे अधिक कटौती कर सकने की सभावना नही है।

चूंकि कुल व्यय मे निजी उपभोग और व्यक्तिगत विनियोग विशेष महत्वपूर्ण है, इसलिये सर्वोत्तम उपाय यह है कि इन दो मदो पर नियत्रण रखने के लिए आवश्यक कार्रवाई की जाय। यह तीन तरीको से किया जा सकता है।

वित्तीय नीति (Fiscal Policy)—मुद्रा प्रसार के दवाव के समय सरकार को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार के करो की दर बढा देनी चाहिये, जिससे व्यक्तियों की आय पहले की अपेक्षा कम हो जायगी। आय कम होने से वस्तुओ की माँग भी पहले की अपेक्षा गिर जायगी। यद्यपि यह इस समस्या का अच्छा हल है, फिर भी इसमें यह खतरा है कि यदि दर की कर वहुत अधिक हो गई तो इमसे पूंजी निर्माण को धक्का लगेगा।

मुद्रा-नीति (Monetary Policy)—दूसरा तरीका मुद्रा नीति का उपयोग है। मुद्रा-नीति को स्वतत्र रूप से भी उपभोग मे लाया जा सकता है और वित्तीय नीति के साथ उचित सम्वन्ध स्थापित करके भी। अर्थात् सरकार निजी व्यय को और व्यक्तिगत वि नियोग को सीमित करने के लिये व्याज की दर बढायेगी। यद्यपि पहले यह माना जाता था कि व्याज की दर का निजी विनियोग की मात्रा पर कुछ प्रभाव नही पडता है। परन्तु इधर हाल से इसके महत्व को स्वीकार किया जाने लगा है। अनेक देशो मे मुद्रा-विस्तार के दवाव को नियत्रित करने के लिये केन्द्रीय बैंको ने व्याज की दरों का वढाया है। व्याज की ऊंची दर होने से ऋण-पत्रो की कीमत गिर जाती है और इससे ऋण-पत्रो के मालिको की उपभोग मे रुपया खर्च करने की इच्छा कम हो जाती है। ऊंची व्याज दर से व्यक्तिगत विनियोग मे भी गिरावट आती है। इस प्रकार यदि व्याज की दर वढ़ायी जाय, तो इससे उपभोग मे और विनियोग मे होनेवाला कुल व्यय घटाकर सीमित किया जा सकता है।

परन्तु मुद्रा नीति के उपयोग में सबसे बडी कठिनाई यह होती है कि इसका सरकार के वजट पर अवांछित प्रभाव पडता है। प्रत्येक देश के वजट मे राष्ट्रीय ऋण मे व्याज एक महत्वपूर्ण अग होता है। कुल व्यय पर नियत्रण रखने के लिये यदि व्याज की दर में अधिक वृद्धि की गयी तो इससे व्याज के भुगतान का भार वढ जायगा। दूसरे, व्याज की दर में अक्सर परिवर्तन करने से ऋण-पत्रो की कीमतो में भी वहुत घट-वढ होती रहेगी। इससे विनियोगकर्त्ता की कठिनाइया वढ जायगी।

नक़द मुद्रा के व्यय पर नियंत्रण (Blocking liquid assets)—गत महायुद्ध मे सरकार ने निजी ऊंची आय के व्यय को रोकने के लिये अनेक

तरीके अपनाये। सरकार ने वस्तुओ की अधिकतम कीमतें निर्धारित कर दी और राशनिंग की व्यवस्था की तथा इसी प्रकार के अन्य उपायो को लागू किया। इसके फलस्वरूप उपभोक्ताओ के पास काफी नकद रकम जमा हो गयी, जिससे वह उन वस्तुओ की खरीदारी में खर्च करना चाहते थे, जिनको युद्धकाल में नही खरीदा जा सकता था।

इतनी अधिक नकद रकम जमा हो जाने और उपभोक्ताओ की बहुत-सी वस्तुओ की माँग पूरी न होने से यह आवश्यक हो गया कि इस सम्पत्ति पर नियत्रण रखने के लिये विशेप उपाय काम में लाया जाय। इसीलिये बहुत से यूरोपीय देशो की सरकारो को इस नकद-सम्पत्ति पर नियत्रण रखने के लिये और इनका व्यय रोकने के लिये विशेप कार्रवाई करनी पडी। जिन देशो में युद्ध के समय और युद्ध के बाद बहुत मात्रा मे नोट जारी किये गये वहाँ एक नयी मद्रा चालू की गयी ओर कई पुराने नोटो के बदले एक नया नोट देने की व्यवस्था की गई। अन्य नोटो को या तो रद्द कर दिया या उनका विनिमय इस प्रकार किया कि विनिमय में प्राप्त रकम खर्च नही की जा सकती थी। बैंक के जमा-धन में भी प्रतिवन्ध लगा दिया गया और बैंक मे रुपया जमा करनेवाले लोग अपने खाते में से केवल उतना ही रुपया निकाल सकते थे, जितने के लिये सरकार की स्वीकृति प्राप्त होती थी। इस प्रकार वेल्जियम फ्रास, डेनमार्क, नार्वे, चेकोस्लोवाकिया और सोवियत रूस मे व्यक्तियो की अतिरिक्त मुद्रा क्रय-शक्ति का बहुत बडा हिस्सा खत्म कर दिया गया।

इस प्रकार की नीति प्रभावशाली सिद्ध हो सकती है। परन्तु इससे भी अनेक कठिनाइयाँ पैदा होती है और यह अनुचित भी सिद्ध हो सकती है। कुछ ऐसे भी उदाहरण हो सकते है, जिनमें नोटो तथा बैंको में जमा-धन पर प्रतिवन्ध लगाने से बहुत बडा अन्याय हो सकता है। इस नियंत्रण नीति से उन माता-पिताओ को भी गैरकानूनी और भ्रष्ट तरीको से अर्जित नोट तथा जमा धन सचित करनवाले चोर-बाजारी के सामान ही नुकसान उठाना पडगा जिन्होने अपने बच्चो की शिक्षा के लिये या अपनी लडकी के विवाह के लिये अतीत में अपनी बहुत-सी जरूरतो का त्याग कर कुछ धन जोड रखा है। हम पहले और दूसरे उदाहरण में किस प्रकार भेद करेंगे जबकि पहले उदाहरण में कुछ सुविधा देने की आवश्यकता है और दूसरे उदाहरण में और भी कडे उपायो का उपयोग करने की आवश्यकता है? इसलिये यह एक ऐसा उपाय है जिसे केवल सकट काल में ही उपयोग में लाया जाना चाहिए।

यह ध्यान देने योग्य वात है कि सरकार द्वारा अधिकतम मूल्य निर्धारित कर देने से और कम पूर्ति में आवश्यक वस्तुओ के वितरण के लिये राशनिंग प्रणाली लागू कर देने से या इसी प्रकार के अन्य उपायो को लागू करने से मुद्रा-विस्तार को नही रोका जा सकता है। इससे केवल मुद्रा-विस्तार के प्रभाव को उभडने से रोका जा

सकता है और इस प्रकार केवल मुद्रा-विस्तार के भयंकर परिणाम को कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया जा सकता है। यह उपाय मुद्रा-विस्तार के भयकर परिणामो पर नियत्रण रखने के लिये आवश्यक हो सकते है।

विनियोग पर नियंत्रण (Control of Investment)—अन्त में, जब सरकार को यह अनुभव हो कि मुद्रा-विस्तार की स्थिति विकसित हो रही है, तो उस समय उसे विनियोग की गति पर नियत्रण रखने के लिये, चाहे विनियोग व्यक्तिगत हो या सरकारी, उपयुक्त उपायो का इस्तेमाल करना चाहिए। मुद्रा-विस्तार की अवधि वास्तव में बडे पैमाने पर सरकारी विनियोग के लिये उपयुक्त नही है। इस प्रकार के विनियोग से मुद्रा-विस्तार में वृद्धि ही होगी। यह आग में घी का काम करेगा। व्यक्तिगत विनियोग पर नियत्रण करने के लिये साधारणतः ब्याज की दर मे वृद्धि करने का उपाय काम में लाया जाता है। परन्तु नियत्रण रखने के इस तरीके का प्रमुख दोष यह है कि यह आवश्यक और अनावश्यक विनियोग मे भेद नही करता है। यदि ब्याज की दर बढा दी जाय तो उसका सभी प्रकार के विनियोगो पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। इसका आरामदायक मोटरो का निर्माण करनेवाले कारखानो की स्थापना में और निर्धनो के लिये आवश्यक कपडो का उत्पादन करनेवाले कारखानो में समान प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। इसलिये इस प्रकार के प्रतिवन्ध के साथ ही विनियोग के लिये लाइसेंस की भी व्यवस्था की जानी चाहिए। नये कारखानो के लिये शेयर बेचने और कच्चा माल खरीदने के लिये केवल उन्हीं उद्योगो को अनुमति दी जानी चाहिए जो आवश्यक हो और जिन्हे प्राथमिकता दी गई हो। इसके साथ ही ऐसे कार्यों में जिन्हे आवश्यक नही समझा गया है या तो विनियोग वन्द कर देना चाहिए या उसमें पर्याप्त कटौती की जानी चाहिए।

मुद्रा-विस्तार एक भयंकर दैत्य के समान है, जिसका अनेक हथियारो से सामना करना चाहिए। नियत्रण के केवल एक उपाय पर भरोसा करके मुद्रा-विस्तार के भयकर परिणामो को नही रोका जा सकता है।

अध्याय ३७

मुद्रा प्रणालियाँ

(The Monetary Systems)

कोई भी देश मूल्य के मान के लिये एक अथवा दो धातुओ को ग्रहण कर सकता है। जब सोना अथवा चाँदी मे से एक कोई धातु मूल्य के मान के रूप में ग्रहण की जाती है तो उस प्रणाली को एक-धातु मान (monometallism) कहते हैं। यदि मान की धातु सोना है, तो उसे सुवर्ण मान(gold standard) कहते है। यदि मान की धातु चाँदी है, तो उसे रौप्य मान (silver standard) कहते हैं।

मूल्य के मान के रूप मे दोनो धातुओ का एक साथ चलन कई प्रकार से किया जा सकता है। जब सोना और चाँदी दोनो साथ-साथ कानून-ग्रह्य होकर चलन में रहते है और दोनो के विनिमय का अनुपात निश्चित रहता है तथा उनके सिक्के स्वतन्त्रतापूर्वक अथवा मुफ्त मे ढल सकते है, जब उस प्रणाली को द्विधातुवाद अथवा दो धाती मान (bimetallism) कहते है। जब दोनो धातुए पूर्णतया कानून ग्राह्य होती है, पर एक-धातु, ज्यादातर चाँदी के सिक्के स्वतत्रतापूर्वक नही ढाले जाते तब उसे "लगडी प्रणाली' (limping standard) कहते हैं। उसे लगडी इसलिये कहते है कि उसके सिक्को की ढलाई स्वतत्रतापूर्वक नही होती, अर्थात् उसके कार्य मे वाधा आती है। फ्रास मे इस प्रकार का मान प्रचलित था। यदि मार्शल का सुझाव माना जाय तो दोनो धातुओ का एक साथ चलन एक अन्य तरीके से भी किया जा मकता है,। मूल्य का मान सोने और चाँदी की एक निश्चित मात्रा होगी। इस निश्चित धातु को एक निश्चित मूल्य पर खरीदने के लिये सरकार को हमेशा तैयार रहना चाहिये। परतु सोना और चाँदी के वीच में विनिमय की सम मूल्य दर (par of exchange) वधी हुई नही होनी चाहिए। इस प्रणाली को सम धातुवाद (symmetallism) कहते हैं। मार्शल ने इसका समर्थन इसलिये किया था कि यह प्रणाली एक प्रकार से स्वर्णमान और द्विधातु मान के वीच का मान होती है।

द्विधातुमान (Bimetallism)---द्विधातुमान मुद्रा के उस मान को कहते है, जब सोना और चाँदी दोनो धातुओ के सिक्के टकसाल द्वारा निश्चित अनुपात मे स्वतत्रतापूर्वक ढाले जा सकते है और दोनो धातुओ के सिक्के कर्ज अथवा भुगतान

देने के लिये किसी भी हद तक कानून-ग्राह्य होते है। सन् १८१६ में इग्लैण्ड में द्विधातुमान का अन्त हो गया, यद्यपि १८ वी शताब्दी मे वास्तव मे केवल स्वर्णमान का ही प्रचलन था। सन् १८०३ मे फ्रास ने द्विधातुमान स्वीकार किया और सन् १८६५ मे फ्रास, वेलजियम, स्विटजरलैण्ड ओर इटली मे इसका प्रचार था। इन दोनो देशो ने आपस मे मिलकर मुद्रा सम्बन्धी एकता स्थापित की थी। अमेरिका के सयुक्त-राष्ट्र मे सन् १७९२ मे द्विधातुमान ग्रहण किया गया। परन्तु बहुत विवाद के बाद सन् १९०० मे द्विधातुमान का अन्त हो गया।

द्विधातुमान के लाभ।

द्विधातुमान के निम्नलिखित लाभ बतलाये जाते है। पहला, यह कहा जाता था कि स्वर्णमान द्वारा कीमतो की जितनी स्थिरता सभव हो सकती है, उससे कही अधिक द्विधातुमान के अन्तर्गत सभव हो सकती है। सम्भव है कि एक धातु की अपेक्षा दो धातुओ की उत्पादन की दर अधिक स्थिर हो। केवल एक धातु के उत्पादन मे उतनी स्थिरता की सभावना नही रह सकती। यदि सोने का उत्पादन कम होता है, तो चाँदी का बढ सकता है ओर यदि चाँदी का उत्पादन कम होता है तो सोने का उत्पादन बढ सकता है। इस प्रकार एक धातु के उत्पादन मे जो कमी या बढती होगी, वह दूसरी द्वारा बराबर की जा सकती है। दूसरी धातु की क्रिया पहली के विरुद्ध रहेगी। इस प्रकार दोनो धातुओ का कुल उत्पादन स्थिर रहेगा और इस कारण कीमतो का स्तर भी अधिक स्थिर रहेगा। यदि शराब के नशे मे दो मनुष्य एक दूसरे का सहारा लेकर चलें, तो वे अकेले की अपेक्षा अधिक स्थिरतापूर्वक चलेगे। यही हाल द्विधातुमान का है। एक धातुमान की अपेक्षा दो धातुओ से बना हुआ मान अधिक स्थिर होगा। दूसरे, यह कहा जाता था कि यदि सब देश स्वर्णमान ग्रहण कर ले तो स्वर्ण मुद्रा बनाने के लिये आवश्यक सोना ही न मिलेगा। फल यह होगा कि किसी समय कीमतें गिर जायगी और व्यवसाय में मदी आ जायगी। परन्तु यदि द्विधातु-मान ग्रहण किया जाय तो और चाँदी को भी मुद्रा-बनाने के काम मे लाया जाय तो फिर मुद्रा की कमी के कारण कीमते नही गिरेगी। तीसरे, द्विधातुमान ग्रहण करने से चाँदी की कीमत नही गिर जावेगी। उन्नीसवी शताब्दी मे सन् १८७० के आसपास और प्रथम महायुद्ध के बाद चाँदी की कीमत काफी गिरती जा रही थी। ससार के पूर्वी देश चाँदी का ही अधिक उपयोग करते है और चाँदी की कीमत गिर जाने से उनकी खरीदने की शक्ति कम हो गई। ऐसी दशा मे यदि चाँदी को मूल्य के मान के रूप में अर्थात् मुद्रा के रूप मे ग्रहण कर लिया जाय, तो उसकी माँग बढ जायगी और माँग बढने से मूल्य भी बढ जायगा। कीमत बढने से चादी का उप-योग करनेवाले देशो की खरीदने की शक्ति बढ जायगी और वस्तुओ की माग बढेगी। फल यह होगा कि व्यावसायिक मन्दी भी न रहेगी। अन्तिम, यह कहा जाता था कि द्विधातुमान ग्रहण करने से सोना और चाँदी उपयोग करनेवाले देशो के बीच

में विनिमय की एक निश्चित दर प्राप्त हो जायगी। यह दर चाँदी के स्वर्ण मूल्य द्वारा निश्चित होगी। यदि चाँदी के मूल्य मे परिवर्तन होते है, तो विनिमय की दर भी हमेशा बदलती रहेगी और इस कारण से दो देशो के बीच में होनेवाले व्यवसाय में हमेशा एक प्रकार की अनिश्चितता बनी रहेगी। परन्तु द्विधातुमान में सोना और चाँदी में विनिमय की दर हमेशा बधी रहेगी और दो देशो के बीच व्यवसाय बिना उथल-पुथल के होता रहेगा।

ये तर्क काफी प्रबल है। कीमतो की स्थिरता के सम्बन्ध में जो तर्क है, उसके सम्बन्ध मे टॉसिग का मत है कि सन् १८५० के बाद द्विधातुमान ने कीमतो में स्थिरता लाने में सहायता की थी। परन्तु इससे यह नही कहा जा सकता कि यह प्रवृत्ति हमेशा बनी रहेगी। इसका क्या प्रमाण है कि सोने का उत्पादन कम होने पर चाँदी का उत्पादन अवश्य बढेगा। यदि दोनो धातुओ के उत्पादन की प्रवृत्ति एक-सी रही तो? वास्तविकता यह है कि कीमतो की सतह की स्थिरता का प्रबन्ध केन्द्रीय बैंकों को करना पडेगा। द्विधातुमान की एक बडी भारी त्रुटि यह है कि दोनों धातुओं के अनुपात मे बाजार मे जो परिवर्तन होगे, उनके सामने टकसाल का अनुपात कायम रखना मुश्किल हो जायगा। मान लो टकसाल का अनुपात १६ १ है, अर्थात् १६ औंस चाँदी के जो सिक्के बनेगे, उनका मूल्य १ औंस सोने के सिक्के के बराबर होगा अब मान लो बाजार में १५½ औंस चाँदी के मूल्य के बराबर १ औंस सोने का मूल्य होता है। तब सिक्के बनवाने के लिये कोई आदमी चाँदी टकसाल मे नही ले जायगा लोग सिक्के बनवाने के लिये केवल सोना टकसाल ले जायँगे। तब यह कहा जायगा कि सोने का मूल्य अधिक (over valued) है और वह चाँदी को चलन के बाहर कर देगा। तब ग्रेशाम के नियम के अनुसार केवल सोना विनिमय का साधन रह जायगा। इस तरह सोने की कीमत बाजार मे जैसे-जैसे घटेगी या बढेगी उसी के अनुसार वह या तो चलन मे रहेगा या उससे बाहर हो जायगा और देश मे या तो चाँदी अथवा सोना केवल एक धातु एक समय मल्य के मान के रूप में रहेगी।

द्विधातुमान के पक्ष में।

लेकिन कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ भी है, जिन्हे स्वीकार किया जा सकता है। मान लो सोने की कीमत टकसाल में अधिक है और प्रत्येक आदमी सिक्के बनवाने के लिये केवल सोना ही लाते है। तब बाजार में सोने की पूर्ति धातु के रूप में कम हो जायगी और चाँदी की पूर्ति धातु के रूप में बढ जायगी। फलत सोने की कीमत गिरेगी और टकसाल तथा बाजार के अनुपात एक दूसरे के निकट आ जावेंगे, अर्थात् उनमें बहुत कम अन्तर रहेगा। इस प्रकार द्विधातुमान में यह प्रवृत्ति देखने में आती है कि सोने और चाँदी का अनुपात स्थिर हो जाता है। परन्तु यदि किसी धातु का उत्पादन लगातार बढता जाता है और यह बढने की प्रवृत्ति जोर पर रहती है, जिसके परिणाम-

स्वरूप उसके मूल्य में कमी होगी तो वह धातु दूसरी धातु को चलन से बाहर भगा देगी।

यदि कई देश द्विधातुमान को ग्रहण कर ले तो दो धातुओं के बीच अनुपात स्थिर रखने की अधिक सभावना है। यदि सब देश वही अनुपात स्वीकार कर ले, तब सोना और चाँदी का निर्यात बहुत कम हो जायगा। क्योंकि फिर उसमें लाभ की गुंजाइश बहुत कम रह जायगी। तब ग्रेशाम का नियम क्रियाशील नही होगा। इस प्रकार यदि द्विधातुमान अन्तर्राष्ट्रीय हो जाय तो एक निश्चित अनुपात पर दोनो धातुओं का चलन हो सकता है।

इसलिये व्यवाहारिक रूप मे द्विधातुमान तभी सफल हो सकता है, जब वह अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर हो। इसी मे द्विधातुमान को सफलतापूर्वक चलाने मे सबसे बडी बाधा है। १९ वी शताब्दी के अन्त मे द्विधातुमान को चलाने के लिये दो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुए। परन्तु वे दोनो असफल रहे। "ग्रेट ब्रिटेन कभी भी इसे स्वीकार करने को तैयार नही था. . और ग्रेट ब्रिटेन के बिना जर्मनी स्वीकार करने को तैयार नही था। और इन दोनो मे से कम से कम एक देश के बिना अमेरिका उसमें आने को तैयार नही था। सयुक्त द्विधातुमान की काल्पनिक सभावनाएँ चाहे जो हो, इस योजना की प्रत्यक्ष रूप मे क्रियाशील होने की सभावना कभी नही हुई।"[1]

मुद्रा मान के चलन मे गड़बड़ी होगी।

द्विधातुमान की अन्य कठिनाइयाँ भी है। व्यवसाय मे वह काफी अस्त-व्यस्तता अथवा गड़बडी पैदा कर देगा। यदि बाजार मे एक धातु की कीमत स्वीकृत अनुपात से कम (under-valued) हो जाती है, तो कर्जदार उसी धातु में भुगतान करना चाहेगे, परन्तु साहूकार दूसरी धातु अर्थात् अधिक मूल्य वाली धातु (over-valued metal) में अपनी रकम लेना चाहेगे। फल यह होगा कि लेन-देन में काफी गडबडी पैदा हो जायगी। यद्यपि अन्त मे टकसाल और बाजार के अनुपात एक बराबर होगे, परन्तु बीच-बीच मे ऐसे समय आ सकते है, जब दोनो अनुपात एक बराबर न हों। तब जुआखोर सटोरिये इस उम्मीद मे कम मूल्य की धातु का सग्रह करेगे कि उसकी कीमत बढने पर लाभ उठाया जायगा। इस प्रकार

---

[1] "Great Britain at no time was willing to accede . .. without Great Britain, Germany would not come in , without at least one of those countries, the United States would not. Whatever the abstract possibilities of united bimetalism, the project never had a working prospect of realization."

—*Tassig*, Principles, Vol. I, 3rd Edition, p. 282-83.

सोना-चाँदी के बाजार मे हमेशा सट्टा होता रहेगा। यह तो सच है कि मुद्रा का मान चाहे सोना हो, चाहे चाँदी, उसका प्रबन्ध सदा केन्द्रीय बैंको के हाथ में रखना पडगा, जिससे उसके मूल्य मे स्थिरता आवे। केवल एक धातु से सम्बन्ध रखने के कारण हमे मुद्रा के सम्बन्ध मे काफी कठिनाइयाँ हुई है। अब दो धातुओ को स्वीकार करने मे कोई लाभ नही है। उससे हमारी मुद्रा प्रणाली और गहन होगी और उसके प्रबन्ध की समस्या अधिक जटिल हो जायगी।

स्वर्णमान

(Gold Standard)

स्वर्णमान का सार यह है कि सरकार अथवा मुद्रा सम्बन्धी जो भी अधिकारी हो, वह अपनी मुद्रा में एक निश्चित दर पर सोना बेचने और खरीदन के लिये तैयार रहे। किसी देश में जब तक ऐसा किया जायगा, तब तक उस देश में मुद्रा का मूल्य और सोने का मूल्य एक-सा रहेगा ? स्वर्णमान की विशेषताएँ भिन्न-भिन्न देशो में भिन्न-भिन्न थी। फिर सन् १९२० के बाद स्वर्णमान के सिद्धान्त और व्यवहार मे काफी परिवर्तन हुए हैं। कुछ परिवर्तनो का फल तो अच्छा रहा और कुछ का बुरा। पहले हम सन् १९१४ के पहले प्रचलित स्वर्णमान की विशेषताओ पर विचार करेंगे।

मुद्रा के स्वर्णमान का आधार यह था कि टकसाल बिना कुछ लिये लोगो के सोने को सिक्को में ढाल देती थी। अर्थात् स्वर्ण सिक्के स्वतत्रतापूर्वक बनते थे। साधारणत इस मान में निम्नलिखित विशषतायें होती थी---(१) प्रामाणिक सिक्का वह होता था, जिसमें एक निश्चित मात्रा का सोना रहता था और इस सिक्के का चलन पूर्ण कानून-ग्राह्य सिक्के के रूप में होता था। इग्लैण्ड में सावरेन में १२३.२७४४ ग्रेन सोना होता था, अर्थात् वह ११/१२ शुद्ध होता था। फ्रास के सिक्के में ४९ ७८०६ ग्रेन सोना होता था, अर्थात् वह ९/१० शुद्ध होता था। मुद्रा के अन्य जितने माध्यम थे, जैसे नोट इत्यादि वे स्वतत्रतापर्वक बिना किसी बाधा के सोने के सिक्को मे परिवर्तित थे। अर्थात् उनके बदले सोने के सिक्के मिल सकते थे। फलत सोने के सिक्को की कुल मात्रा सोने की उस मात्रा पर निर्भर थी, जो देश में प्राप्त थी। (२) यह कानून था कि टकसाल को सिक्के बनाने के लिये एक निश्चित दर पर सोना खरीदना और बेचना पडेगा। खरीदने और बेचने की कीमत में कुछ अन्तर हो सकता था। उदाहरण के लिये एक प्रामाणिक औस सोने की खरीद की दर स्टर्लिग मे ३ पौं० १७ शि० ९पें० थी, और बेचने की कीमत ३ पौं० ७ शि० १०१/२पें० थी इसका फल यह होता था कि धातु के रूप में सोने की कीमत इन दरो से भिन्न नही हो सकती थी। (३) सोने का आयात और निर्यात स्वतत्रतापूर्वक होता था।

इससे सब देशों में सोने की कीमत एक-सी होने की प्रवृत्ति बढती थी। यदि किसी देश में सोने का भाव बढता था, तो उसमें अन्य देशो से सोने का आयात होने लगता था। पहले देश में सोने की पूर्ति बढने से देश में सोने की कीमत बढेगी और दूसरे देश में निर्यात होने के कारण सोने की कीमत घटेगी। विभिन्न देशो में सोने के इस आवागमन के कारण कीमतो में एक साम्य स्थापित होने की प्रवृत्ति रहती थी।

सन् १९२४ के बाद स्वर्णमान के चलन में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। एक तो सब देशो मे सोने के सिक्के चलन से हटा लिये गये। टकसाल के अधिकारियो से कहा गया कि वे अपनी मुद्रा को सोने के सिक्को के बदले सोने की धातु मे बदल दे। इसे स्वर्ण धातु मान (gold bullion standard) कहा जाता है। इससे सोने के उपयोग में बहुत किफायत हुई। दूसरे, कई देशों के केन्द्रीय बैंक अपने सुरक्षित (reserves) का कुछ भाग अथवा अश विदेशो मे बिल, ड्राफ्ट अथवा जमा के रूप मे रखने लगे। इस तरह के मान को स्वर्ण विनिमय मान (gold exchange standard) कहते है। इससे भी सोने के उपयोग मे काफी बचत हुई।

प्रथम महायुद्ध के बाद स्वर्णमान मे परिवर्तन।

स्वर्णमान की किसमे (Varieties of Gold Standard)—इस प्रकार तीन तरह के स्वर्णमान थे। पहली किस्म सन् १९१४ के पहले चालू थी और इसे स्वर्ण मुद्रा का मान (gold circulation or gold currency standard) कहते थे। इस प्रणाली के अन्तर्गत देश मे जो सोने के सिक्के चलते थे, उनमें निश्चित मात्रा का सोना रहता था। अन्य सब मुद्राये जैसे अन्य किसी धातु के सिक्के, कागज के नोट इत्यादि मॉग करने पर एक निश्चित दर पर इन सोने के सिक्को में बदले जा सकते थे। सोने के सिक्के स्वतत्रतापूर्वक बनवाये जा सकते थे और सोने के आयात और निर्यात की भी पूर्ण स्वतत्रता थी।

स्वर्ण मुद्रा मान।

परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद इस प्रकार का स्वर्णमान त्याग दिया गया और उसके स्थान पर दूसरी प्रणाली ग्रहण की गई। इस प्रणाली को स्वर्ण धातु मान (gold bullion standard) कहते थे। इसमें देश में सोने के सिक्के नही चलते। वास्तविक मुद्रा कागज के नोटो और किसी अन्य धातु के सिक्को की होती थी और इनको एक निश्चित दर पर निश्चित वजन के सोने के टुकडो मे बदला जा सकता था। इगलैण्ड मे बैंक नोट सोने की छडो में बदले जा सकते थे। प्रत्येक छड का वजन ४०० औस होता था और ११/१२ शुद्ध एक औस की दर पर ३ पौ० १७ शि० १० पें० होती थी। सन् १९२७ में भारत ने इस प्रणाली को ग्रहण किया और करेंसी

स्वर्ण धातु मान।

कण्ट्रोलर की यह जिम्मेदारी थी कि वह माँग होने पर रुपयो के बदले ४० तोला वजन के छड २१ रु० ७ आ० प्रति तोला के हिसाब से देता।

तीसरे प्रकार के मान को स्वर्ण विनिमय मान (gold exchange standard) कहते है। इसका चलन प्रथम महायुद्ध के पहले भारत तथा अन्य पूर्वी देशो में हुआ। युद्ध के बाद इसका प्रचार काफी बढा, क्योकि गरीबी के कारण बहुत से देश स्वर्णमान को पूर्ण रूप से ग्रहण नही कर सकते थे।

स्वर्ण विनियम मान। इस प्रणाली में देश में सोने के सिक्के नही चलते। देश की मुद्रा जिसमें कागज के नोट तथा साँकेतिक सिक्के (token coins) होते थे, एक निश्चित दर पर स्वर्ण पर आधारित विदेशी विनिमय (foreign exchange based on gold) में बदली जा सकती थी। सन् १९१७ के पहले भारत मे यही मान प्रचलित था और इसके लिये उसे लडन में काफी मात्रा मे सुरक्षित कोप रखना पडता था। भारत का रुपया १ शि० ४ पें० की दर से स्टरलिग (जो सोने का सिक्का होता था) मे बदला जा सकता था।

स्वर्णमान किस तरह चलता है (How the Gold Standard worked) स्वर्णमान की कार्य-प्रणाली इस प्रकार समझाई जा सकती है। मान लो देश मे विनिमय का एकमात्र माध्यम सोने के सिक्के है। इसलिये वस्तुओ की एक निश्चित मात्रा मालूम रहने पर चलन मे रहनेवाले सोने के सिक्को की मात्रा द्वारा कीमत निश्चित होगी। और सोने के सिक्को की मात्रा देश मे प्राप्त होनेवाले सोने की मात्रा पर निर्भर रहेगी। वास्तव में व्यावहारिक जीवन में नोटो और बैंक में जमा रकम के रूप में विनिमय के अन्य माध्यम भी रहते है। परन्तु इनसे मुद्रा सम्बन्धी मौलिक क्रियाओ और तत्वो मे भेद नही होता। नोटो की मात्रा प्राय सुरक्षित स्वर्ण के एक निश्चित अनुपात में रखी जाती थी और बैंको की जमा का भी कानून अथवा प्रथा द्वारा प्राय. सुरक्षित स्वर्ण से निश्चित अनुपात रहता था। परन्तु इसमें दोनों का सम्बन्ध उतनी अच्छी तरह जाहिर नही था, जितना कि नोटो का जाहिर था। इसलिये किसी देश की मुद्रा की कुल मात्रा का सुरक्षित स्वर्ण के साथ काफी घनिष्ट सम्वन्ध रहता था। जब देश में स्वर्ण का आयात बढ़ता था तो मुद्रा की मात्रा बढ जाती थी जिससे वस्तुओ की कीमत बढ जाती थी। और जब स्वर्ण का निर्यात होता था, तब उसका उलटा होता था। परन्तु स्वर्ण के आवागमन की क्रिया का कीमतो पर यह प्रभाव पूर्णत: अपने आप नही होता था, जैसा कि ऊपर की पक्तियो से लगता है। बैंको की, विशेषकर केन्द्रीय बैंको की उधार देने की नीति तथा बैंक दर सम्बन्धी नीति का उस पर काफी प्रभाव पडता था। जब बैंक दर ऊँची रहती थी, तब लोग बैंको से उधार कम लेते थे और कीमतें गिर जाती थीं। परन्तु जब बैंक दर कम होती थी, तब कीमते बढ जाती थी। प्रथम महायुद्ध के पहले केन्द्रीय बैंक अपने सुरक्षित स्वर्ण कोप की मात्रा के अनुसार अपनी

सोने के आवागमन का प्रभाव।

बैंक दर में भी परिवर्तन करते रहते थे। जब निर्यात के कारण सुरक्षित निधि में सोने की कमी हो जाती थी, तब बैंक-दर बढा दी जाती थी। फलत कीमतें गिरने लगती थी। इसी प्रकार जब किसी देश में सोने की मात्रा बढ जाती थी, तब उसमें बैंक-दर कम हो जाती थी। और कीमते बढ जाती थी। सोने के आवागमन और कीमतों की सतह में जो यह परस्पर सम्बन्ध होता है, उसमे मान का स्वत चालन (automaticity of the standard) निहित होता है।[1]

वाह्य व्यवसाय की दृष्टि से जिन देशो मे स्वर्णमान होता है, उनकी विनिमय की दर स्थायी होती है। यह दर सिक्कों मे सोने की मात्रा अथवा वजन पर निर्भर रहती है। जब किसी देश का व्यवसाय विपक्ष मे होता था और विनिमय की दर इस सम मूल्य दर (par of exchange) से इतनी वढ जाती थी कि वह सोना वाहर भेजने के खर्च से भी अधिक होती थी, तब सोना देश के वाहर जाने लगता था और उसकी कीमत गिरने लगती थी। चूँकि हर एक आदमी वहाँ खरीदना पसन्द करेगा, जहाँ कीमत कम होगी, इसलिये सोने का निर्यात वढेगा। और चूँकि प्रत्येक आदमी वहाँ वेचेगा, जहाँ कीमत अधिक होगी, इसलिये सोने का आयात काम होगा। फल यह होगा कि व्यवसाय फिर उस देश के पक्ष मे वढेगा और विनिमय की दर समता (par) की तरफ वढेगी।

स्वर्णमान अपने आप कहाँ तक चलता है ?

साधारण परिस्थितियो मे स्वर्णमान इस तरह काम करता था। कई लेखकों का मत है कि स्वर्णमान स्वत क्रियाशील होता रहता था। उसे चलाने के लिये किसी अन्य एजेन्सी द्वारा प्रवन्ध की आवश्यकता नही होती थी। परन्तु स्वर्णमान वास्तव में जिस प्रकार काम करता था उसके अध्ययन से पता चलता है कि वास्तव मे ऐसा नही था। अर्थात् वह अपने आप नही चलता था। यह बात सही नही है। ऐसा कहना स्वर्णमान की कार्य-प्रणाली का गलत अर्थ लगाना है। प्रथम महायुद्ध के पहले भी स्वर्णमान की कार्य-प्रणाली मे काफी हद तक प्रबन्ध रहता था। बैंको की जमा की मात्रा मे और स्वर्ण की सुरक्षित निधि मे कोई स्वत सम्बन्ध नही था। विभिन्न देशो के बीच स्वर्ण का यातायात केन्द्रीय बैंको की नीति के कारण कुछ हद तक सीमित हो जाता था। बल्कि अब यह स्वीकार किया जाता है कि प्रथम महायुद्ध के पहले इग्लैण्ड मे स्वर्णमान की सफलता का कारण यह था कि ससार के मुद्रा बाजारो में इग्लैण्ड का स्थान प्रमुख था और बैंक ऑफ इग्लैण्ड ने अपने इस प्रतिष्ठापूर्ण स्थान का काफी बुद्धिमानी से उपयोग किय।।

---

[1] *Dr. F. Mlynarski,* The Functioning of the Gold Standard, p. 15.

गत महायुद्ध के पहले प्रवन्ध का अश काफी वढ गया था। प्रथम महायुद्ध के पहले खुले वाजार की नीति (open market policy) का विकास हुआ था। अव उसका और अधिक उपयोग होने लगा। फिर यह भी आवश्यक समझा जाने लगा कि जहाँ तक सभव हो, केन्द्रीय वैंको की सहायता से कीमतो को स्थिर और मजबूत रखने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। दोनो महायुद्धो के वीच के वर्षो मे प्रवन्ध की आवश्यकता काफी वढी। स्वर्ण के यातायात का खर्च कम हो गया, जिससे सोने के दो प्रकार के विनिमयो का अन्तर भी कम हो गया। इसलिये मुद्रा-प्रणालियो पर अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ का प्रभाव अधिक शीघ्रता से पडने लगा। किसी देश मे थोडा-सा भी परिवर्तन हुआ अथवा व्याज की दर मे यदि थोडा-सा भी परिवर्तन हुआ तो सोने का यातायात शुरू हो जाता था। अव वडी मात्रा मे एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय रकम या निधि तैयार हो गई जिससे आर्थिक प्रणालियो के सामने एक वडा खतरा उपस्थित हो गया। योरोप में जो व्याज के लिये पूंजी लगानेवाले थे, उनके मन मे मुद्रास्फीति (inflation) का सन्देह होने लगा और वे अपनी पूंजी को लम्वे समय के लिये लगाने में हिचकिचाने लगे। यदि एक पूंजीपति के मन मे किसी तरह का जरा भी सन्देह हुआ तो वह अपनी पूंजी एक देश से समेटकर दूसरे देश मे भेज देगा, जिसे वह अधिक सुरक्षित समझता था। जव पूंजी का इस प्रकार का परिवर्तन एक स्थान से दूसरे स्थान में लगातार होने लगा तो केन्द्रीय वैंको का काम काफी कठिन हो गया। अपने देश का मुद्रा वाजार सुरक्षित रखने के लिये तथा उसमे स्थिरता वनाये रखने के लिये केन्द्रीय वैंक अनचाहे स्वर्ण आयात को सरकारी ऋण-पत्र वेचकर खपाने लगे। यदि स्वर्ण निर्यात द्वारा कीमतो पर प्रभाव पडता था तो इस प्रभाव को नष्ट करने के लिये खुले वाजार मे ऋण-पत्र खरीदे जाते थे। इन तरीको से स्वर्ण के यातायात का प्रभाव कीमतों पर पडना वन्द हो गया। इस प्रकार स्वर्णमान पूर्णरूप से प्रवन्धित मान हो गया।

स्वर्णमान प्रवन्धित मान है।

इस सम्वन्ध मे एक मुहवरा-सा प्रचलित हो गया था, जिसे 'स्वर्ण-मान खेल के नियम' (rules of the gold stadard game) कहते थे। यहाँ इसकी कुछ चर्चा करनी आवश्यक है। स्वर्णमान को सफल वनाने के लिये दो नियमो का पालन करना आवश्यक है। पहला यह है कि स्वर्ण के यातायात को कीमतो पर प्रभाव डालने की पूर्ण सुविधा मिलनी चाहिए। जव स्वर्ण का आयात होता है तो उधार साख (credit) को विस्तृत करना चाहिए और जव सोना वाहर जाता है तो देश मे साख को कम करना चाहिए। दूसरे प्रत्येक देश की आर्थिक व्यावसायिक नीति ऐसी हो कि अन्य देशो को व्यावसायिक कार्यो के सम्वन्ध मे जो रकम देनी पडती है और उसके लिये जो नकद मुद्रा देनी पडती है, उसका भुगतान आसानी से किया जा

स्वर्णमान खेल का नियम

सके। जो साहूकार देश है, उनको निर्यात से अधिक आयात स्वीकार करना चाहिए और सरक्षक करो अथवा ऐसे ही अन्य तरीको द्वारा आयात कम नही करना चाहिए। क्योकि इन्ही आयातो द्वारा तो कर्जदार देश साहूकार देशो का ऋण चुकाते है।

स्वर्णमान का टूटना (Break-down of the Gold Standard)—दो महायुद्धो के वीच के वर्षों में स्वर्णमान के सम्वन्ध मे इन नियमो का पालन किसी भी देश ने नही किया। पहले नियम को प्राय सव देशो ने भग किया। सोने के यातायात का कीमतो पर स्वाभाविक प्रभाव नही पडने दिया गया। इस काल में सोना लगातार इग्लैण्ड के बाहर जा रहा था। इसके प्रभाव से अपनी आन्तरिक कीमतो को वचाने के लिये उसने ऋण-पत्र खरीदना शुरू किया। इस काल में अमेरिका में सोने का आयात वडी मात्रा मे हो रहा था। उसने भी इसके प्रभाव से अपनी कीमतो को बचाने के लिये उपयुक्त उपाय किये। दूसरे नियम का भी तीन प्रधान देशो अर्थात् इग्लैण्ड, फ्रास, और अमेरिका ने उल्लघन किया। इसे सव लोग स्वीकार करते है कि जब इग्लैण्ड ने सोने के विनिमय की पुरानी दर स्थापित की तव स्टर्लिग का मूल्य डालर की दर मे लगभग १० प्रतिशत अधिक था। यद्यपि विनिमय की दर ऊची बाँधी गई थी, परन्तु इग्लैण्ड में मजदूरी की दर तथा अन्य वस्तुओ के लागत खर्च मे विशेष कमी नही हुई थी। यह आवश्यक था कि इग्लैण्ड कुछ ऐसे उपाय करे जिससे मजदूरी तथा अन्य खर्चों और कीमतो मे कमी हो। परन्तु इस प्रकार के उपाय नही किये गये। उस देश का आर्थिक सगठन ऐसा था कि उसमे परिवर्तन की गुंजाइश कम थी। और मजदूरी कम करने की सरकार की हिम्मत नही हुई। फल यह हुआ कि ऊची कीमतो के कारण उसका माल ससार के बाजारो में प्रतियोगिता का सामना नही कर सका। इससे निर्यात व्यवसाय मे कमी हुई और व्यवसाय देश के विपक्ष में जाने लगा, जिससे सोने का निर्यात बढने लगा। स्वर्णमान मे लोचदार आर्थिक सगठन आवश्यक है, जिससे कीमतें भी सोने के यातायात के अनुसार घटती वढती रहे। इसलिये जव कीमतो और लागत खर्चों में परिवर्तन नही हुआ तो इग्लैण्ड को स्वर्णमान छोडना पडा। स्वर्णमान छोडनेवाला इग्लैण्ड पहला देश था और इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है।

इग्लैण्ड के विपरीत जव फ्रास ने स्वर्णमान फिर से ग्रहण किया तो उसने अपनी मुद्रा की कीमत घटा दी। इससे उसका निर्यात व्यवसाय और विदेशो मे पूजी बढी। साम्य बनाये रखने के लिये इस पूँजी को विदेशो मे ही लगाना चाहिए था। परन्तु फ्रास के पूँजीपति अपनी पूँजी को विदेशो मे लगाने के लिये तैयार नही थे। विदेशो में कमाई गई पूँजी का केवल थोडा-सा अश अल्पकालीन जमा के रूप मे विदेशो मे छोडी गई। वाकी को सोने के रूप मे फ्रास लाया गया। इस काल में फ्रास ने काफी सोना इकठ्ठा किया। परन्तु इस सोने के आयात के साथ-साथ कीमतो की सतह को नही

ठने दिया गया। प्रथम महायुद्ध के बाद अमेरिका का सयुक्तराज्य साहूकार देश हो
या। साहूकार देश को अपना कर्ज माल के आयात के रूप मे लेने को तैयार रहना
ाहिए। परन्तु इस काल में अमेरिका ने बडी कडी सरक्षण की नीति ग्रहण की।
चे-ऊँचे कर लगाकर आयात बन्द कर दिये गये इसलिये उसके कर्जदार ऋण
काने के लिये सोना देने के लिये बाध्य हुए। परन्तु सोने के इस आयात का प्रभाव
ीमतो पर नही पडने दिया गया।

सन् १९३१ के बाद स्वर्णमान के टूटने के ये दो प्रधान कारण थे। जब ससार
स्वर्णमान के खेल के नियमो का पालन नही किया, तब वह यह आशा नही कर सकता
क स्वर्णमान सरलतापूर्वक चलता रहेगा। उसके असफल होने के अन्य कारण भी
। जो उतने ही महत्वपूर्ण हैं। इस काल मे स्वर्णमान कायम रखना काफी पेचीदा
ाम हो गया। सोने के दो अनुपातो मे अन्तर कम हो जाने के कारण प्रत्येक
श की मुद्रा-प्रणाली पर छोटी-छोटी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का प्रभाव पड़ने लगा।
ाथ ही इसी काल में तरह-तरह की नई-नई कठिनाइयाँ पैदा हुई। अन्तर्राष्ट्रीय अल्प-
ालीन पूंजी (जिसे 'खराब' मुद्रा कहा जाता था और ऐसा कहना ठीक भी था) लगा-
ार एक देश से दूसरे देश मे घूमती रहती थी। इससे स्वर्णमान की नाजुक प्रणाली
र काफी जोर पडता था। सन् १९३१ मे इग्लैण्ड को जो स्वर्णमान त्यागना पडा,
ास्तव में उसका तत्काल कारण यह था कि बैंको सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय सकट के
य से इग्लैण्ड से अल्पकालीन पूंजी काफी मात्रा मे घटा ली गई। इनके सिवा ससार
ा आर्थिक सगठन मे कुछ ऐसे परिवर्तन हुए, जिनके कारण स्वर्णमान का सरलता-
र्वक चलना कठिन हो गया। महायुद्ध के बाद कई देशों पर कर्ज और युद्ध-क्षति पूर्ण
रने का भार आ पडा। इनको चुकाने की समस्याओ ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय और
विनिमय पर बड़ा विषम प्रभाव डाला। कर्जदार देश अपना सोना खोने लगे। इस-
लये उन्होने अपनी आर्थिक रक्षा के उपाय किये। आर्थिक कठिनाइयाँ तो गम्भीर थी
ी, साथ ही राजनीतिक वातावरण भी विषम और सकटपूर्ण होता गया। और युद्ध-
ति की पूर्ति के रूप में दबाव डालकर जो लम्बी रकमें हारे हुए देशो से ली गई,
ससे ससार का आर्थिक ढाँचा लचर हो गया और उसका आसानी से चलाना असम्भव
ो गया। एक अन्य महत्वपूर्ण कारण यह था कि प्राय. सब देशो ने सरक्षण की कड़ी
ीति ग्रहण की। ऊंचे सरक्षक करो के कारण युद्ध सम्बन्धी करो और क्षति-पूर्ति
ी रकमें अदा करना असभव हो गया।

इन सब का इकठ्ठा फल यह हुआ कि ससार के सब देशो में स्वर्णमान टूट
या। जब ससार के राष्ट्रो में घोर राष्ट्रीयता का वातावरण फैला हो, तब कोई
ी अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली सफल नही हो सकती।

स्वर्णमान के गुण और दोष (Merits and Demerits of Gold Standard)—स्वर्णमान का सबसे बडा लाभ यह होता है कि उसे ग्रहण करने

वाले देश में एक ऐसी मुद्रा-प्रणाली हो जाती है, जो सब

स्वर्णमान मुद्रा स्फीति को रोकता है।

जगह मान्य होती है। अभी तक संसार में स्वर्णमान ही अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा मान के रूप में चल सका है। स्वर्णमान के और भी कई लाभ बतलाये जाते है। जब यह मालूम हो जाता है कि किसी देश की मुद्रा सोने में परिवर्तित हो सकती है, तब उस देश की सरकार एक सीमित मात्रा में ही मुद्रा चलाती है। सरकार उतने ही कागजी नोट चलावेगी, जितना उसकी सुरक्षित निधि मे उनके बदले मे देने के लिये सोना होगा। वह सुरक्षित सोने से अधिक नोट नही चलावेगी। ससार के सब देश केवल उतनी ही मात्रा मे मुद्रा चलावेगे, जितना ससार में सोने का उत्पादन होगा। इसलिये जिस देश की मुद्रा दृढता के साथ सोने पर आधारित है, उसमें सोने से अधिक कागजी मुद्रा नही चल सकती। इस दृष्टि से स्वर्णमान त्रुटिरहित माना जाता था। यह भी कहा जाता था कि उससे एक अपने आप चलनेवाली मुद्रा प्रणाली प्राप्त हो जाती थी। यह देखा गया है कि जब किसी देश ने स्वर्णमान छोडा है, तो उसकी मुद्रा प्रणाली का ऐसा कुप्रबन्ध हुआ है कि देश के आर्थिक सगठन में काफी गडबडी उत्पन्न हो जाती है।

तीसरे, उससे कीमतो मे अपेक्षाकृत स्थिरता आ जाती है। स्वर्ण मुद्रा प्रणाली सोने के उत्पादन पर निर्भर होती है और सोने के उत्पादन में मोसिमी अथवा अल्पकालीन परिवर्तन नही होते। यदि गेहूँ मुद्रा का मान

उससे मूल्यों में काफी स्थिरता रहती है।

होता तो किसी वर्ष फसल खराब होने पर बैको का सुरक्षित कोष एकदम कम हो जाता तथा कीमतो की सतह में उथल-पुथल मच जाती। सोने के अत्यधिक खटाऊ होने के कारण उसकी वर्तमान पूर्ति इतनी अधिक है कि उसका वार्षिक उत्पादन कुल पूर्ति का बहुत थोड़ा अश होता है। इस कारण से अन्य वस्तुओं की अपेक्षा उसकी पूर्ति अपेक्षाकृत स्थिर और मजबूत होती है। कहा जाता है कि सोने की कीमत में अधिक स्थिरता रहती है।

एक लाभ यह भी है कि स्वर्णमान से विदेशी विनिमय की दर मे स्थिरता बनी रहती है। जब हम देखते है कि गत कुछ वर्षो से

विनिमय की मजबूत दर।

स्वर्णमान के न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की उन्नति में कितनी अधिक बाधा हुई है, तब हमें इस स्थिरता के लाभो का पता चलता है। विनिमय की दरो की दृढता के कारण कई देशो की कीमतो की सतहो मे भी काफी समता आ गई थी।

यदि इन लाभो की हम बारीकी के साथ छानबीन करे तो कुछ की सत्यता के बारे में सन्देह होने लगता है। हम देख चुके है कि स्वर्णमान अपने आप चलनेवाला मान

उससे मुद्रास्फीति कम नहीं होती।

नही है। मुद्रा प्रणाली को स्वर्णमान पर चलाने के लिये उसका प्रबन्ध केन्द्रीय बैंक द्वारा कराना होता है, और जैसा सन् १९३४–३६ मे फ्रास ने अनुभव किया, स्वर्णमान रखना आसान काम नही है। सन् १९२९ के बाद जो ससार व्यापी व्यावसायिक मदी आई उसका एक बडा भारी कारण यह था कि कई देशो ने स्वर्ण-मान बनाये रखने के प्रयत्न किये। इसलिये त्रुटिरहित मान की कल्पना नही की जा सकती। फिर यह भी नही कहा जा सकता कि स्वर्णमान से मुद्रास्फीति नही होगी। वह मुद्रा का मूल्य सोने की कीमत से बाँध देता है। यदि सोने का उत्पादन बढता है और उसकी कीमत घटती है, तो अन्य वस्तुओ की कीमतें बढेंगी।

उससे समय और स्थान के सम्बन्ध मे कीमतों मे स्थिरता नही आती।

दूसरे स्वर्णमान ने कीमतो की दृढता न तो समय के सम्बन्ध मे न स्थान के सम्बन्ध में स्थापित की। यदि लगातार कई वर्षो तक सोने का उत्पादन बढता या घटता रहे, तो दीर्घकाल मे वस्तुओ की कीमते या तो घटेंगी या बढेंगी। वास्तव मे पूरी उन्नीसवी शताब्दी मे ससार का अनुभव यही रहा। सन् १८७४ और १८९६ के बीच में आस्ट्रेलिया और केलीफोर्निया की खदानो ने सोने का उत्पादन बढाकर उसकी पूर्ति बढाई, जिससे ससार में वस्तुओ की कीमत बढी। इसी प्रकार विभिन्न देशो की आन्तरिक कीमते यद्यपि सोने के आवागमन के कारण एक दूसरे से सम्बन्धित थी, फिर भी व्यवसाय और पूंजी की परिस्थितियो के कारण उनमें काफी घटी-बढी हुई।

स्वर्णमान में कीमतो का भविष्य भी बड़ा अनिश्चित रहता है। क़ीमतो में कई कारणो से उथल-पुथल हो सकती है। "यदि सोने की नई खदानो का पता चलता है, अथवा खोदने के तरीको में परिवर्तन होते है, यदि कुछ देश स्वर्णमान ग्रहण करने का निश्चय करते है अथवा कुछ देश उसे छोडने का निश्चय करते है; यदि भारतवासी किसी प्रथा को छोड देते है अथवा यदि लन्दन के सर्राफ कोई निश्चय करते है," तो उसका प्रभाव कीमतो पर पडना लगभग निश्चित है।

राष्ट्रीय शक्ति को सीमित करता है।

स्वर्णमान की एक असुविधा यह है कि वह सरकार की निर्णय-शक्ति सकुचित कर देना है। स्वर्णमान पर चलनेवाले देश के लिये एकता आवश्यक है। उनके कुछ कार्य एक समान होने चाहिये। इसलिये जो देश स्वर्णमान ग्रहण करता है, उसे अन्य देशो के साथ सहयोग करना पड़ता है, वह मनचाही नहीं कर सकता। अर्थात् उसे कुछ हद तक अपनी सत्ता छोडनी पड़ती है। उसे एक औसत-नीति का पालन करना पडता है। अर्थात् मुद्रा के विस्तार और सकुचन के सम्बन्ध में एक औसत दर का पालन करना पडता है। यदि मदी के बाद कोई देश सब लोगो को काम देने के विचार से

उत्पादन बढाने के लिये पूंजी का विस्तार करना चाहता है, तो संभव है कि स्वर्णमान पालन करने के कारण वह ऐसा न कर सके।

प्रबन्धित मुद्रा (Managed Money)—जिस मुद्रा का मूल्य निश्चित योजना के अनुसार केन्द्रीय बैंक द्वारा नियन्त्रित किया जाता है, उस मुद्रा प्रणाली को नियंत्रित या प्रबन्धित मुद्रा-प्रणाली कहते है। इस अर्थ मे आजकल सब मुद्रा-प्रणालियाँ नियंत्रित होती है। लेकिन प्राय नियंत्रण शब्द उस मुद्रा प्रणाली के सम्बन्ध में उपयोग किया जाता है, जहाँ अपरिवर्त्तनशील कागजी मुद्रा का चलन होता है और जहा मुद्रा को मजबूत रखने के लिये उसका परिचालन एक निश्चित योजना के अनुसार केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है। इस तरीके के समर्थको का कहना है कि इस रीति से स्वर्णमान संबधी सब त्रुटियाँ दूर हो जाती है। केन्द्रीय बैंक कीमतो की घटी-बढी पर नियंत्रण रख सकता है और इसके लिये उसे सोने का सुरक्षित कोष रखने की आवश्यकता नही पडेगी यदि आवश्यक समझा जाय तो केन्द्रीय बैंक कीमतो को दृढ रख सकता है। इस प्रणाली से प्रत्येक देश को अपनी मुद्रा का प्रबन्ध अपनी इच्छानुसार करने की काफी स्वतंत्रता रहती है। उसे अन्य देशो के साथ चलने की अथवा उनका अनुकरण करने की आवश्यकता नही रहती। इस प्रणाली से प्रत्येक देश मुद्रा के संबध मे स्वतंत्र रह सकता है।

स्वर्णमान की सफलता के लिये लोचदार और परिवर्तनशील आर्थिक सगठन आवश्यक है। परन्तु हमारे आर्थिक सगठन काफी बेलोचदार अर्थात अपरिवर्तनशील हो गये है। इसलिये अब स्वर्णमान का ठीक ढग से चलना असम्भव हो गया है। यदि हम करो अथवा कीमतो की तरह मजदूरी की दर भी घटा और बढ़ा सके तो स्वर्णमान पर जाना सभव है। परन्तु ऐसा करना अब संभव नही है। फिर आजकल ससार मे सोने का उत्पादन कम हो रहा है। इससे यह कहा जा सकता है कि सोने की कीमत गिरेगी, जिससे व्यावसायिक मदी और बढ़ेगी। इसलिये अच्छा यही होगा कि कागज की मुद्रा प्रणाली रखी जाय और आन्तरिक कीमतो को मजबूत तथा स्थिर रखने की कोशिश की जाय।

कागजी मान के विरुद्ध तर्क

सोने के सम्बन्ध में जो अनुभव कर रहे है, उनको देखते हुए कागजी मुद्रा-प्रणाली का तर्क काफी आकर्षक मालूम होता है। परन्तु यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो कागजी मुद्रा से होनेवाली असुविधाएँ और हानियाँ और भी भयानक लगती है। कागजी मुद्रा के प्रणाली के समर्थक यह भूल जाते है कि प्रजातन्त्र के समान स्वर्णमान भी राष्ट्रीय जीवन का एक आवश्यक अग समझा जाता है। जब १९३० के बाद स्वर्णमान छोडा गया तो लोगो ने काफी सख्या मे स्वर्ण-सचय करना शुरू किया। जब तक लोगो के मन में सोने के लिये मोह है, तब तक उसका मुद्रा के साथ किसी-न-किसी रूप मे सम्बन्ध रखना चाहिये। इस भावुकतापूर्ण तर्क को छोडकर, स्वय कागजी मुद्रा में कुछ दोष

ते है। मुद्रा-स्फीति के समय कागजी मुद्रा किसी प्रकार की सुरक्षा नही देती। जिन गो को युद्धकालीन मुद्रास्फीति की याद है, उनके मन मे स्थायी कागजी मान के ति श्रद्धा होना असम्भव है। और जब तक जनता का उसमे विश्वास नही होगा, तब क उसकी सफलता में सन्देह ही रहेगा। दूसरे कागजी-मान से विनिमय की दर सदा दलती रहेगी। हमारा ध्येय यह होगा कि आन्तरिक कीमते स्थिर रहे और विनिमय की दर व्यावसायिक परिस्थितियो के अनुसार बदलती रहे। इससे विदेशी व्यवसाय में काफी अनिश्चितता आ जायगी और पूंजी के स्वतत्रतापूर्वक अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन में बाधा पड़ेगी। पिछली बार जो व्यावसायिक मदी हुई थी उसका एक बड़ा कारण यह था कि पूंजी का स्वतत्र अन्तर्राष्ट्रीय आवागमन बन्द हो गया था। चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर पूंजी लगाये बिना व्यावसायिक मदी दूर नही हो सकती, इसलिये कागजी मान इस सम्बन्ध में होनेवाली कठिनाइयो को और बढावेगा। तीसरे, इन परिस्थितियों मे पूंजी सम्बन्धी स्थिरता बनाये रखना असम्भव होगा। विनिमय सम्बन्धी कुछ परिवर्तनों के कारण यदि मुद्रा की कीमत कम हो जाती है, तो उससे दूसरे देशो के प्रति ऋण में काफी गडबडी होगी। तब वे देश सरक्षक कर, विनिमय सम्बन्धी बन्धन इत्यादि खडे करे। कुछ देश अपना निर्यात बढाने के लिये विनिमय सम्बन्धी प्रतियोगिता करेगे और अपनी दर घटावेंगे। यद्यपि उन्हे इनमे सफलता नही मिलेगी, तथापि इससे अन्य देशो की कीमतो की मजबूती खतम हो जायगी।

इन मुद्रा मानो के गुण और दोष तथा हानि और लाभ चाहे जो हो, अब यह निश्चित है कि पुराना स्वर्णमान कभी नही लौटेगा। जिस आर्थिक सगठन मे सब लोगो को काम देने की योजना हो, उसमे स्वर्णमान सफलतापूर्वक नही चल सकता। पूर्ण बाकारी (full employment) अर्थात् सब लोगो को काम देने की योजना मे प्रधान उद्देश्य यह रहता है कि उत्पादन को अधिक से अधिक बढ़ाया जाय, जिससे बेकारी खतम हो जाय। परन्तु जैसा श्रीमती रॉबिन्सन ने कहा है,[1] स्वर्णमान की प्रवृत्ति सदा मुद्रा संकुचन (deflation) की ओर रहती है। जिस देश का सोना निर्यात मे जा रहा होगा, वह अपना उधार खाता अवश्य कम करेगा जिससे भुगतान सम्बन्धी साम्य बना रहे। परन्तु जो देश सोना पा रहा है, उसे अपनी साख अथवा उधार खाता कम करने की आवश्यकता नही है और प्राय: वह कम नही करेगा। उसका फल यह होगा कि जो देश सोना खो रहा है, उसमें मुद्रा की कमी अथवा सकुचन और अधिक होगा, जिससे बेकारी और अधिक बढेगी। इसलिये अब कोई देश स्वर्णमान ग्रहण करने को तैयार नही है।

---

[1] "The International Currency Proposals", Economics Journal. 1913, p. 161.

परन्तु इसका मतलब यह नही कि सोने का कोई उपयोग ही न रहेगा। अमेरि के पास ससार भर में सबसे अधिक सोना है और ब्रिटिश कॉमनवेल्थ सोने का बहुत ब उत्पादक है। इन दोनो देशो का स्वार्थ इसी में है कि सोने की कीमत दृढ रहे। फ यह हुआ है कि अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (International Monetary Fund सम्बन्धी जो समझौता हुआ है, उसमें इन दोनो देशो के स्वार्थों की रक्षा करने की कोशि की गई है। अब अन्तर्राष्ट्रीय ऋण सोने के आधार पर चुकेंगे और विनिमय की दर सोने के आधार पर निश्चित की जायगी। परन्तु कुछ निश्चित सीमाओं के भीतर इन विनिमय की दरो मे परिवर्तन किये जा सकते है।

अध्याय ३८

साख, उधार

(Credit)

साख क्या है? साख का अर्थ होता है, विश्वास करना अथवा विश्वास पर देना। यदि हम नकद लेन-देन पर विचार करें तो साख या विश्वास पर लेन-देन या विनिमय जल्दी समझ में आ जायगा। नगद लेन-देन में माल बिक्री किया जाता है और उसके दाम भी उसी समय चुका दिये जाते हैं। लेकिन जब साख पर अथवा उधार सौदा होता है तो माल तो बिक्री हो जाता है, पर उसका मूल्य उसी समय नही मिलता। उस समय भविष्य में किसी समय मूल्य देने का वादा किया जाता है। चूंकि उधार लेन-देन में भविष्य मे नकद दाम देने का वादा किया जाता है, इसलिये यह आवश्यक है कि जो आदमी उधार देता है, वह उधार लेनेवाले का विश्वास करे। उधार का आधार विश्वास है। देनेवाले को उधार लेनेवाले पर इतना विश्वास होना चाहिये कि उसकी मशा मूल्य चुकाने की है और वह अपने वादे के अनुसार दाम देने में समर्थ होगा।

साख का आधार विश्वास है।

नकद विनिमय की अपेक्षा उधार विनिमय में कुछ सुविधायें रहती है। वस्तु विनिमय में जो त्रुटियाँ थी, वे मुद्रा द्वारा काफी हद तक दूर हो गईं। लेकिन मुद्रा द्वारा जो विनि-

साख की उपयोगिता। मय होता है, उसमें कुछ कठिनाइयाँ होती है। हम सब मुद्रा स्वीकार करने को तैयार रहते है। परन्तु मान लो हम ५०,००० रुपये का माल बेचते है, तो बदले में ५०,००० रुपया नकद (अर्थात् सिक्के) स्वीकार करने को तैयार न होगे। इतनी बडी रकम बहुत असुविधाजनक होगी। उसकी रक्षा करना भी एक समस्या होगी। फिर मान लो एक दूर स्थान मे कई हजार रुपये का सोदा करते है। तब उतने लम्बे सफ़र मे बड़ी रकम ले जाना और उसे व्यवसायी को देना काफी खतरनाक है, और साथ ही उसमें खर्च भी अधिक होगा। साख या उधार की सहायता से ये सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती है।

साख की जो अन्तिम उपयोगिता होती है, उसके हिसाब से हम उसे उपयोग-साख और उत्पादन-साख मे बॉट सकते है। जो साख हम उधार लेते है, उसका उपभोग तुरन्त किया जा सकता है। इसे हम उपभोग साख या उपभोक्ता की साख कह सकते है। कई दूकानदार अपने ग्राहको को उधार देते है, क्योकि वे तुरन्त नकद दाम नही दे सकते। किश्तबन्दी पर उधार देने की प्रथा भी साख का एक उदाहरण है। साख का उपयोग इस प्रकार भी किया जा सकता है कि उधार लेनेवाले से जितनी रकम लेनी है, उसके सिवा भी कुछ अधिक प्राप्ति हो सकती है। तब साख पंजी का काम करती है और हम उसे पूंजी के समान मान सकते है। इस प्रकार की साख को उत्पादन कहते है।

साख का दूसरा वर्गीकरण व्यावसायिक साख और बैंक-साख है। माल के उत्पादन और बिक्री के सम्बन्ध में जिस साख का उपयोग होता है, उसे व्यावसायिक साख कहते है। यदि एक थोक व्यापारी एक फुटकर व्यापारी को इस शर्त पर माल देता है कि वह तीन माह के भीतर उसकी रकम चुका देगा तो वह व्यावसायिक साख कहलायेगी। हुण्डी व्यावसायिक साख का एक साधन है। बैंक की साख समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि उधार देने के लिये बैक रुपया कहाँ से पाते है। यदि किसी बैंक के पास दस हजार रुपया सुरक्षित कोष है, तो वह कम से कम उससे पाँच-छ गुनी अधिक रकम उधार दे सकता है। यह इसलिये सभव होता है कि लोगो को और बैक में रुपया जमा करनेवालो को उस बैक में विश्वास होता है। इस प्रकार बैंक अपनी साख उधार देता है। बैक-नोट इस प्रकार की साख के अच्छे उदाहरण है।

साख के साधनो के प्रकार (Types of Credit Instrument)—आजकल साख के साधन कई प्रकार के होते है, जैसे—(१) चेक, (२) बैंक-नोट, (३) सरकारी नोट, (४) हुंडी (bills of exchange), (५) रुक्का (promissory notes), (६) बैक की हुडी (banker's draft), (७) वही की साख (book credit) इत्यादि।

(१) चेक बैक को आदेश होता है। बैक में जमा करनेवाला उसे यह आदेश देता है कि जिसके नाम यह चेक है, उसे हमारे हिसाब में से चेक में लिखी हुई रकम दे दो।

जब तक चेक भुनाया नही जाता, तब तक वह साख का एक साधन रहता है। चेक यह भी बतलाता है कि लेनेवाले को चेक देनेवाले पर और उस बैंक पर विश्वास है। अर्थात् चेक लेनेवाले के विश्वास पर निर्भर है। (२) बैंक-नोट बैंको द्वारा दिये जाते है। बैंक-नोट बैंक का एक वादा है कि माग होने पर बैंक उसके बदले कानूनग्राह्य मुद्रा देगा। बैंक-नोटो को वे लोग स्वीकार करते है जिन्हे बैंक की दृढ़ता अर्थात् उसकी साख मे विश्वास होता है। बड़े-बड़े ओर मजबूत बैंको के नोटो का काफी चलन होता है ओर बहुधा वे कानून-ग्राह्य होते हैं। आजकल बैंको के नोटो पर कानून का नियत्रण होता है। और अधिकतर देशो मे केवल केन्द्रीय बैंको को नोट चलाने का एकाधिकार प्राप्त रहता है। (३) सरकारी नोट भी बैंक नोटो की तरह होते है। अन्तर केवल इतना होता है कि सरकारी नोट सर्वमान्य ओर कानून-ग्राह्य होते है। जब तक सरकारी नोट मुद्रा मे परिवर्तनशील होते है, तब तक वे प्रामाणिक मुद्रा अथवा सोने की तरह माने जाते है। उनका चलन इसलिये होता है कि जनता का सरकार मे विश्वास होता है। लोग जानते है कि माँग करने पर सरकार उसके बदले मे प्रामाणिक मुद्रा दे देगी। (४) हुडी अथवा बिल ऑफ ऐक्सचेज बेचनेवाले के द्वारा खरीदार के नाम एक आदेश रहता है कि खरीदार एक निश्चित समय के भीतर सोदा की रकम चुका दे। हुडी ओर चेक मे यह फरक होता है कि चेक मे माँग करते ही नकद रकम देनी पडती है, लेकिन हुडी की रकम एक निश्चित समय के बाद चुकानी पडती है। यह समय हुडी मे लिखा रहता है। कहा जाता है, कि चेक वह हुडी है, जो माँग करते ही भनानी पडती है। (५) रुक्का एक लिखित वादा होता है, जिसे उधार लेने वाला साहूकार के प्रति करता है। इसमे प्रायः एक तीसरे आदमी की जमानत होती है और यह आदमी ऐसा होता है, जिसमे साहूकार को विश्वास होता है। बहुधा साहूकार अथवा बैंक व्याज काटकर बाकी रकम उधार लेने वाले को देता है। (६) जब एक बैंक दूसरे बैंक के नाम चेक देता है, तो उसे बैंकर की हुडी या ड्राफ्ट कहते है। जब एक बैंक दूसरे बैंक से कर्ज लेता है अथवा सकट मे होता है और किसी बैंक से सहायता चाहता है, तब इस प्रकार के चेक का उपयोग होता है। (७) जब कोई व्यवसायी अथवा बैंक माल उधार बेचता है ओर रकम अपनी बही खाता मे लिख लेता है, तब उसे उधार खाता अथवा बही की साख कहते है। खाते मे लिखी हुई यह रकम कानून ऋण के रूप मे स्वीकार करता है, चाहे उस पर कर्जदार के दस्तखत भले ही न हो, और चाहे वह उसे झूठ क्यो न बतलावे। व्यवसायी बही-खाते की उधारी आपस में एक दूसरे को देते है और समय-समय पर लेन-देन का हिसाब करके बाकी रकम एक दूसरे को चुका देते है। आपसी लेन-देन के निबटारे की ये प्रथाएँ बैंको के क्लियरिंग हाउस (clearing houses) अर्थात् निबटारा-घरो मे सबसे अधिक देखने मे आती है। साख के अन्य कई प्रकार के साधन होते है। जैसे सम्मिलित पूँजीवाली कम्पनियो के बान्ड और डिबेचर एक प्रकार के साख-पत्र है। आवश्यकता पडने पर ये साख-पत्र तुरन्त बेचे जा सकते है।

कागजी मुद्रा (Paper Money)—कागजी मुद्रा में बैंक-नोट और सरकारी नोट शामिल है, जिनका चलन आसानी से होता है। उसमे चेक अथवा हुडियाँ शामिल नही रहती, क्योकि उनका चलन बहुत सीमित होता है। कागजी मुद्रा प्रायः केन्द्रीय बैंको द्वारा चलाई जाती है, परन्तु कुछ देशो मे सरकार कागजी मुद्रा जारी करती है।

कागजी मुद्रा विनिमय साध्य होती है, और अविनिमय साध्य भी। विनिमय साध्य कागजी मुद्रा को मांग करने पर प्रामाणिक धातु मुद्रा अथवा धातु अर्थात् सोना या चाँदी मे बदला जा सकता है। यह देखा गया है कि जितने नोट चलन मे होते है, उनका बहुत थोडा भाग किसी एक समय मुद्रा अथवा धातु मे परिवर्तन के लिये लाया जाता है। इसलिये सरकार जितने नोट चलाती है, उसके लिये बहुत थोडा अश नकद मुद्रा या धातु के रूप मे भुनाने के लिये रखती है। एक दूसरे प्रकार की विनिमय साध्य कागजी मुद्रा जमा करने का सर्टिफिकेट (certificate of deposit) होता है। इसमें सुरक्षित धातु नोटो के अकित मूल्य के बराबर होती है। अमेरिका मे इस तरह के सोना और चाँदी सम्बन्धी सर्टिफिकेट चलते है।

अविनिमय साध्य कागजी मुद्रा मे जो नोट चलते है, उनके बदले में माँग होने पर सरकार प्रामाणिक धातु की मुद्रा अथवा धातु देने के लिये बाध्य नही रहती। अविनिमय साध्य कागजी मुद्रा साधारणत सरकार द्वारा चलाई जाती है। कभी-कभी सकट के समय केन्द्रीय बैंक भी ऐसी मुद्रा चला सकते है। इसके लिये वह कानून स्थगित कर दिया जाता है, जिसके द्वारा बैंक कागजी नोटो के बदले प्रामाणिक धातु अथवा उसकी मुद्रा देने के लिये बाध्य रहते है। अविनिमय साध्य कागजी मुद्रा को 'हुक्मी मुद्रा' (fiat money) भी कहते है। क्योंकि उसका उपयोग और मूल्य केवल सरकार की आज्ञा या हुक्म पर निर्भर करता रहता है। उसका चलन इसलिये होता है कि जनता को यह विश्वास होता है कि सरकार उसका मूल्य बनाये रखेगी।

कागजी मुद्रा के लाभ और हानियाँ (Advantages and Disadvantages of Paper Money)—कागजी मुद्रा के उपयोग से कई प्रकार के लाभ होते है। पहला, धातु मुद्रा के उपयोग मे काफी बचत हो जाती है। किसी भी देश मे सरकार अथवा नोट चलानेवाली संस्था नोटो के मूल्य के बराबर सोना अथवा प्रामाणिक धातु की मुद्रा सुरक्षित निधि के रूप मे नही रखती। हमेशा नोटो की कुछ मात्रा ऐसी होती है, जिनके विरुद्ध कोई सुरक्षित निधि नही रहती और उस हद तक देश सोना और चाँदी खरीदने की बचत कर सकता है। यदि कोई देश अविनिमय साध्य कागजी मुद्रा का उपयोग करता है, तो वह अन्य देशो की तुलना मे काफी लाभ में रहता है क्योकि कागजी मुद्रा चलाने का खर्च प्रायः नही के बराबर होता है। दूसरे, कागजी मुद्रा यदि पूर्णतया विनिमय साध्य हो तो भी उसके द्वारा देश और सरकार को काफी बचत होती है। क्योकि धातु मुद्रा चलन मे घिसती है तथा उसमें अन्य कई प्रकार से क्षति होती है।

तीसरे, आप कागजी मुद्रा में काफी बडी रकम बिना कठिनाई के इधर-उधर ले जा सकते है। उसके द्वारा बडी-बडी रकमे आसानी से चुकाई जा सकती है और उसे आसानी से काफी दूर ले जाया जा सकता है। साथ ही कागजी मुद्रा की असुविधाएं भी कम नही होती। संकट के समय सरकार के सामने मनचाही मात्रा मे चलाने का लालच रहता है। यदि कागजी मुद्रा अत्यधिक मात्रा मे चलाई जाय तो वह अविनियम साध्य हो जाती है और प्रामाणिक मुद्रा धातु के रूप में उसका मूल्य गिर जाता है। दूसरे, कागजी मुद्रा से विदेशी व्यवसाय के सम्बन्ध में कुछ कठिनाई होती है। एक देश के लोग दूसरे देश की कागजी मुद्रा स्वीकार नही करते। विदेशियों की रकम चुकाने के लिये प्रामाणिक धातु मुद्रा का उपयोग किया जा सकता है, परन्तु कागजी मुद्रा का नही। जहाँ कागजी मुद्रा का उपयोग होता है, वहाँ यह लाभ नही होता। अन्तिम, धातु मुद्रा की अपेक्षा कागजी मुद्रा का मूल्य बहुत कम स्थिर होता है। धातु मुद्रा के मूल्य मे धातु के मूल्य मे होनेवाले परिवर्तनो के अनुसार ही परिवर्तन होते है। परन्तु कागजी मुद्रा का मूल्य इस बात पर निर्भर होता है कि वह कितनी मात्रा मे चलाया जाता है। चूंकि अविनियम साध्य कागजी मुद्रा का मूल्य प्राय. अस्थिर होता है, इसीलिये विदेशी विनिमय की दरें भी अस्थिर हो जाती है। इससे देश के विदेशी व्यवसाय को धक्का लगने का डर रहता है।

नोट चलाने के सिद्धान्त (Principles of Note Issue)—नोट किन सिद्धान्तो के आधार पर चलाये जाने चाहिये, इस सम्बन्ध मे दो प्रकार के विचार है।

मुद्रा सिद्धान्त।

एक को मुद्रा सिद्धान्त (currency theory), और दूसरे को बैंकिग का सिद्धान्त (banking theory) कहते है। इगलैण्ड मे सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट बनने के पहले नोट चलाने के सम्बन्ध मे दो विचारधाराएँ थी। मुद्रा सिद्धान्त के समर्थको का कहना था कि नोट इसलिये चलाये जाते है कि सोने के सिक्को की अपेक्षा वे सस्ते होते है। परन्तु इन नोटो का विनिमय निश्चित रखने के लिये यह आवश्यक है कि सरकार जितने नोट चलावे, उतने मूल्य का सोना भी सुरक्षित रखे। यदि पूरे मूल्य का सोना सुरक्षित नही रखा गया तो सभव है कि कभी उनके विनिमय मे कठिनाई हो और तब लोग उन नोटो मे विश्वास खो बैठेंगे। इस विचारधारा के समर्थको का कहना था कि सरकार के पास अथवा नोट चलानेवाली सत्ता के पास जितना सोना हो, उससे केवल उतने मूल्य के नोट चलाने चाहिये। फल यह होगा कि देश मे सोने की मात्रा आयात और निर्यात के साथ जैसी घटेगी या बढेगी, उसी के अनुसार नोटो की मात्रा भी अपने आप घटेगी या बढेगी। इससे यह लाभ होगा कि मुद्रा का प्रसार अपने आप अथवा स्वयं चालित रहेगा। वह सरकार की इच्छा पर निर्भर नही रहेगा। इस सिद्धान्त ने साख का अर्थ भली-भाँति नही समझाया। धातु की मुद्रा के बदले साख का उपयोग बडी अच्छी तरह किया जा सकता है। उसकी सहायता से देश में चलनेवाली कुल मुद्रा का

प्रसार आवश्यकता पडने पर किया जा सकता है। अच्छी मुद्रा प्रणाली मे एक गुण यह होता है कि वह लोचदार होती है। यदि नोट चलाने के सम्बन्ध में मुद्रा-सिद्धान्तों-का पालन किया जाय तो यह लोच बनाये रखना कठिन होगा।

बैंकिग सिद्धान्त के समर्थको का कहना है कि यह अनुभव की बात है कि सरकार जितने नोट चलाती है, उन सबके मूल्य के बराबर सोना सुरक्षित नही रखना पडता। केवल थोडे से मूल्य का सोना सुरक्षित रखना पडता है। यदि नोट बहुत अधिक मात्रा में चलाये जाते है, तो वे भुनने के लिये बैंक मे वापस आवेंगे और यदि उचित मात्रा में सुरक्षित निधि है, तो उसके भुनने मे कोई कठिनाई नही होगी। इस सिद्धान्त में एक गुण यह भी होता है कि वह लोचदार होता है। व्यवसाय की आवश्यकता के अनुसार चलन में कुल मुद्रा की मात्रा घटाई और बढाई जा सकती है। इस आवश्यकता का अदाज व्यवसायी पूंजीपति और साहूकार ही लगा सकते है।

बैंकिग सिद्धान्त ।

सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट मे मुद्रा सिद्धान्त ग्रहण किया गया। परन्तु बाद की घटनाओ ने यह सिद्ध कर दिया कि बैंकिंग का सिद्धान्त कही अधिक अच्छा और लाभकारी है। उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में इगलैण्ड के व्यवसाय में बहुत वृद्धि हुई। इस वृद्धि में चेक प्रथा बहुत सहायक हुई। चेक प्रथा के कारण बैंक चार्टर एक्ट मे स्वीकृत मुद्रा सिद्धान्त के द्वारा होनेवाली असुविधाएँ काफी हद तक दूर हो गई। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि नोटो के सम्बन्ध मे जिन लोगो ने मुद्रा सिद्धान्त का समर्थन किया था, उसका कारण यह था कि उन्नीसवी शताब्दी में सम्मिलित पूँजीवाले कई बैंको ने बहुत बडी मात्रा में नोट चलाये। और उपयुक्त मात्रा में सुरक्षित निधि नही रखी, जिससे वे या तो फेल हो गये या मुसीबतों मे फँस गये। इन समर्थकों को इन बातो का ध्यान था।

नोट चलाने की रीतिया (System of Note-Issue)—मुद्रा सिद्धान्त के अनुसार नोट चलाने के अधिकार पर कई प्रकार के बन्धन लग जाते है। इन बन्धनो पर हम एक-एक करके विचार करेंगे।

(१) निश्चित तथा विश्वसनीय रीति (Fixed Fiduciary System)—इस रीति के अन्तर्गत सेंट्रल बैंक सुरक्षित निधि रखे बिना एक निश्चित मात्रा मे नोट चला सकता है। यह मात्रा निश्चित मात्रा कहलाती है। इसे सरकारी ऋण-पत्रो का समर्थन प्राप्त होता है। यदि इस मात्रा से अधिक नोट चलाये जायँ तो उनके लिये शत-प्रतिशत सोना सुरक्षित रखा जाना चाहिये। इगलैण्ड में यही प्रथा चालू है। सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट के अनुसार बैंक ऑफ इगलैण्ड को १,४०,००,००० पौंड के नोट बिना

इस प्रथा की त्रुटियाँ।

सुरक्षित निधि रखे चलाने की आज्ञा मिली थी। सन् १९२८ में यह मात्रा बढ़ाकर २६ करोड पौंड कर दी गई और सन् १९३९ मे ३० करोड पौंड कर दी गई। इस प्रणाली या रीति का उद्देश्य यह है कि नोटो के विनिमय अथवा भुनाने के लिये काफी मात्रा में सुरक्षित निधि रखी जाय। परन्तु इस प्रथा मे मुद्रा प्रणाली बेलोचदार हो जाती है। इस प्रथा मे मुद्रा व्यवसाय की आवश्यकताओ के अनुसार विस्तृत नही हो सकती। उसका विस्तार तभी हो सकता है, जब सुरक्षित निधि में सोने की मात्रा बढ़ाई जाय। संकट अथवा भय के समय जब लोगो के भय के कारण नोटों की मात्रा बढ़ानी आवश्यक हो जाती है, तब बेंक चार्टर एक्ट की धाराओ को स्थगित करना पडता है, जिससे बैंक चाहे जितनी मात्रा मे नोट चला सके। फिर इस प्रथा द्वारा सोने की बहुत बडी मात्रा बेकार बँध जाती है और बिना काम पडी रहती है। इन कारणो से मेकमिलन कमेटी ने इस रीति का अन्त करने की सिफारिश की।

(२) अधिकतम निश्चित मात्रा की रीति (Maximum Fiduciary System)—इस रीति के अनुसार बैंक के लिये एक अधिकतम मात्रा बाँध दी जाती है और बैंक बिना सुरक्षित निधि रखे इस मात्रा तक नोट चला सकता है। साल भर मे नोटो का जितना औसत चलन होता है, यह अधिकतम मात्रा उस औसत से अधिक ही रखी जाती है। जब व्यवसाय का विस्तार फैलता है और मुद्रा की आवश्यकता बढती है तब इस अधिकतम मात्रा मे वृद्धि कर दी जाती है। सन् १९२८ के पहले फ्रान्स में यह प्रणाली चालू थी और मेकमिलन कमेटी ने इगलैण्ड में भी यही प्रथा ग्रहण करने की सिफारिश की। इस प्रणाली मे बडा गुण यह है कि वह सोने को बेकार बाँधकर नहीं रखती और सुरक्षित निधि का प्रश्न बैंक की इच्छा पर छोड देती है।

(३) आनुपातिक सुरक्षित निधि की प्रथा (Proportional Reserve System)—इस प्रणाली के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंक जितनी मात्रा मे नोट चलाता है, उसके मूल्य का कुछ प्रतिशत सोना सुरक्षित निधि में रखना पडता है। प्रतिशत का यह अनुपात २५ और ४० के बीच मे रहता है। प्रथम महायुद्ध के बाद यह प्रथा काफी लोकप्रिय हुई। फ्रान्स ने इसे सन् १९२८ मे ग्रहण किया। हिल्टन-यग कमीशन ने भारत के लिये भी इस प्रणाली की सिफारिश की और जो नया रिजर्व बैंक एक्ट बना उसमे इसे ग्रहण भी कर लिया गया। इस प्रणाली मे केवल एक गुण है और वह यह है कि यह लोचदार प्रणाली होती है। यदि स्वीकृत अनुपात एक और तीन है तो सुरक्षित निधि मे एक सोने के सिक्के के बदले उतने मूल्य के तीन सिक्के चलाये जा सकते है। परन्तु यदि मुद्रा संकुचित करनी पडे तो मुद्रा प्रणाली को बडा धक्का लगता है। जब सुरक्षित निधि से एक सोने का सिक्का निकाला जाता है, तो चलन से तीन नोट अलग करने पडेंगे। परन्तु अन्य प्रणाली में केवल एक नोट अलग करना पडेगा। फिर इस प्रणाली मे सोने की काफी बडी मात्रा फँस जाती है। वह एक प्रकार से बेकार हो जाती है और

प्रथा की त्रुटियाँ।

विनिमय के काम मे नही आ सकती। मान लो बैंक ने सिर्फ एक तिहाई मूल्य का सोना सुरक्षित निधि मे रखा है। अब यदि एक नोट भुनाने के लिये आता है ओर उसके बदले एक सोने का सिक्का दिया जाता है, तो कानून द्वारा जितना सोने का अनुपात आवश्यक है, उससे तो अनुपात की मात्रा कम पड गई। इसलिये कानून भग किये विना बैंक नोट नही भुना सकता। यह कानून उस नियम के माफिक है, जो यह कहता है कि स्टेशन पर हमेशा कम से कम एक मोटर अवश्य रहनी चाहिये, जिससे मुसाफिरो को हमेशा सवारी मिलने का भरोसा रहे। जब मान लो वहाँ केवल एक ही मोटर है ओर सवारियाँ आती है। परन्तु मोटर स्टेशन नही छोड सकती, क्योकि कानून के माफिक वहां एक मोटर हमेशा रहनी चाहिये। तो सवारियो के लिये मोटर का होना न होना बराबर हो गया। इस प्रकार मुद्रा की इस प्रणाली मे कोई तुक नही है। इसे न्यायोचित नही कहा जा सकता।

(४) चोथी प्रणाली तीसरी का परिवर्तन मात्र है। केन्द्रीय बैंक अपनी सुरक्षित निधि का एक अश 'विदेशी विनिमय' मे रखता है। इसमे विदेशी मुद्रा विदेशी बैंकों मे जमा, हुडी इत्यादि शामिल रहती है। विदेशी मुद्रा स्वर्णमान पर रहनी चाहिये। जैसे कि भारतीय रिजर्व बैंक अपने सुरक्षित कोप का एक अश स्टरलिग हुडियो के रूप मे रख सकता है। सोने की बचत करने के लिये इस प्रणाली को ग्रहण किया जाता है। जहाँ तक यह प्रणाली तीसरी प्रणाली का परिवर्तन मात्र है, जहाँ तक तीसरी प्रथा में जो दोप है, वे इसमे भी लागू होते है। सकट के समय अधिक नोट चलाने की आवश्यकता पड सकती है। इगलेण्ड मे जब सकट-काल आता है और बहुत बडी मात्रा मे नोट चलाने की आवश्यकता पडती है, तब बैंक एक्ट स्थगित कर दिया जाता है ओर बैंक ऑफ इगलैण्ड को यह अधिकार दे दिया जाता है कि वह जितने आवश्यक समझे, उतने नोट चला सकता है, जिससे लोगो का मुद्रा मे विश्वास बना रहे। जर्मनी मे तीसरी और चोथी प्रणालियाँ चलती है ओर यदि कमी (deficit) पर कर दिया जाय तो केन्द्रीय बैंक का सुरक्षित कोप कानून द्वारा आवश्यक अनुपात से कम हो जायगा।

नियन्त्रण का सही सिद्धान्त (The right principle of regulation)—इस समस्या को हम दो भागो मे बॉट सकते है। पहला प्रश्न यह है कि क्या ऐसा कानून आवश्यक है, जिससे चलन मे आनेवाले नोटो की मात्रा सुरक्षित कोप की धातु की मात्रा से सम्बन्धित रहे? दूसरा प्रश्न यह है कि अपने कर्त्तव्यो को पूरा करने के लिये केन्द्रीय बैंक को सोने की कितनी मात्रा रखनी आवश्यक है? पहले प्रश्न के सम्बन्ध मे सबसे अच्छी बात यह होगी कि नोटो की मात्रा चलाने से केन्द्रीय बैंको पर किसी प्रकार का बधन न लगाया जाय। चूंकि अब सोने के सिक्के चलन से हटा लिये गये है, इसलिये बाहर भेजने के लिये लोग नोटो के बदले सोना लेगे। जब व्यवसाय के सम्बन्ध मे विदेशो मे भुगतान करना पडेगा, तब लोग

और नोटो की मात्रा मे कोई सम्बन्ध न रहना चाहिये।

नोटो को सोने में बदलेंगे। इसलिये अच्छा यह होगा कि सुरक्षित कोष का चलन के नोटो की मात्रा से कोई सम्बन्ध न रहे और जब साख की मात्रा के सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंक की इच्छा पर बन्धन लगाना उचित नही समझा जाता, तब नोटो की मात्रा पर भी किसी प्रकार का कड़ा बन्धन लगाना उचित नही है। कीमते दृढ रखने के लिये यह भी वाछनीय है कि सेंट्रल बैंक को सुरक्षित सोने का प्रबन्ध करने की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाय। उसे किसी प्रकार के नोटो की चलन के साथ न बाँधा जाय। अर्थात् सुरक्षित सोने का नोटो की मात्रा के साथ गठबन्धन न किया जाय। जब हम केन्द्रीय बैंक पर साख की मात्रा और कीमतो की सतह पर नियत्रण रखने की ऊँची जिम्मेदारी डालते है तो क्या हम उस पर नोटो की मात्रा के सम्बन्ध मे उपयुक्त सोने की मात्रा रखने का विश्वास नही कर सकते ? अर्थात् क्या हम यह विश्वास नही कर सकते कि बैंक नोट चलावेगा तो उसके लिये उपयुक्त सोना भी रखेगा। इसलिये उपयुक्त सिद्धान्त यही होगा कि सुरक्षित सोने की मात्रा का नोटो की मात्रा से कोई सम्बन्ध न रहे। हाँ, एक खतरा यह हो सकता है कि नोट अत्यधिक मात्रा मे चलन मे न आ जावे। इस खतरे से बचने के लिये सबसे अच्छा यह होगा कि एक अधिकतम सीमा बाँध दी जाय कि इस मात्रा से अधिक नोट न चलाये जायेगे। सन् १९२८ के पहले फ्रास में यही प्रणाली प्रचलित थी। यह अधिकतम सीमा चलन मे होनेवाले नोटो की ओसत मात्रा से काफी ऊँची होनी चाहिये और उसे समय-समय पर बदलते रहना चाहिये। इसके सिवा यह कानून बनाना अथवा आज्ञा देनी आवश्यक हो सकती है कि बैंक को एक निश्चित न्यूनतम मात्रा में सोना रखना चाहिये, जिससे जनता का मुद्रा मे विश्वास बना रहे और यदि कोई भयानक राष्ट्रीय सकट आ पडे तो उस समय उसका उपयोग किया जा सके। इन दो शर्तो को छोडकर सेंट्रल बैंक को नोट चलाने के सम्बन्ध मे पूर्ण स्वतन्त्रता रहनी चाहिये।

दूसरे प्रश्न का उत्तर अच्छी तरह समझने के लिये मुद्रा प्रणाली मे सुरक्षित सोना तथा उसके कार्यों को समझना चाहिये। पहले नोटो को सोने के सिक्को मे बदलने के लिये सुरक्षित सोना रखा जाता था। परन्तु सोने के सिक्के चलन से हटा लिये गये है, इसलिये अब इस काम के लिये सुरक्षित सोना रखना आवश्यक नही है। यदि मुद्रा का मान स्वर्ण हो तो सोने का उपयोग विदेशो को रकम देने के लिये विनिमय के माध्यम के रूप में हो सकता है। इसलिये सुरक्षित सोने की मात्रा नोटो की मात्रा पर निर्भर न होकर विदेशी भुगतान की मात्रा पर निर्भर होनी चाहिये। सुरक्षित कोष मे इतना सोना रहे कि केन्द्रीय बैंक अल्पकाल में उत्पन्न होनवाले भुगतान तुरन्त चुका सके। बाद मे तो वह उपयुक्त उपाय ग्रहण कर ही लेगा। परन्तु उपाय करने के पहले उसे अल्पकालीन भुग-

तान तुरन्त चुकाने में समर्थ होना चाहिये। इस हिसाब से सुरक्षित सोने की मात्रा भिन्न-भिन्न देशो मे भिन्न-भिन्न होगी। जो देश बैंक व्यवसाय के अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र है, अथवा जो बडे कर्ज मे फँसे है, अथवा जिन देशो का निर्यात व्यवसाय बडा नही है, उन देशो को अन्य देशो की अपेक्षा अधिक बडे सुरक्षित कोप की आवश्यकता होती है। इसलिए सोने के सुरक्षित कोप की मात्रा का सम्बन्ध जारी किये गये नोटो से नही जोडना चाहिए, बल्कि देश के भुगतान की स्थिति से जोडना चाहिए।

अध्याय ३१

बैंक और उनके कार्य

(Banking)

बैंक की परिभाषा (Definition of Bank)—जिस प्रकार मुद्रा की परिभाषा हम उसके कार्यो के वर्णन द्वारा करते है, उसी प्रकार बैंक की उत्तम परिभाषा भी उसके कार्यो के वर्णन द्वारा होगी। बैंकर अथवा साहूकार साख का व्यवसायी होता है। वह जनता से धन उधार लेता है और उसे व्यवसायियो और उत्पादको को उधार देता है। वह जमा के रूप मे जनता से उधार लेता है। अर्थात् जनता बैंक में जो रकम जमा करती है, वही साहूकार की उधार ली हुई रकम है और माल अथवा ऋण-पत्रो की जमानत पर वह जो रुपया देता है तथा बट्टे पर जो हुडियाँ भुनाता है, वही रकम वह उधार देता है। इसलिये बैंक एक व्यक्ति अथवा एक सस्था होती है, जो साख का व्यवसाय करती है। अर्थात् वह जनता से जमा के रूप में रकम लेती है। यह रकम चेक द्वारा जमा करने वाला वापिस ले सकता है। इसी रकम को बैंक कई प्रकार के कर्जो के रूप मे देता है।

बैंक प्रणाली और बैंक व्यवसाय बहुत प्राचीन है। प्राचीन काल मे भारत, ग्रीस, और रोम मे बैंक अर्थात् साहूकारी की प्रथा प्रचलित थी। यह प्रथा इस प्रकार उत्पन्न हुई। जिन लोगो के पास कुछ अधिक रुपया रहता था, अर्थात् जो लोग कुछ धन बचा पाते थे, वे उसे सुरक्षा के लिये विश्वसनीय लोगो के पास इस शर्त पर जमा कर देते थे कि आवश्यकता पड़ने पर अथवा एक निश्चित समय के बाद वे उसे वापिस ले लेंगे। जिन लोगो के पास रुपया जमा रहता था, उन्होने देखा कि यदि समय पर वापिस मिल जाय तो उस रुपये को कर्ज के रूप में देना लाभदायक था। अर्थात् जमा करनेवाले को अवधि के पहले यदि मिल जाय तो उस बीच में उस रुपये को अन्य लोगो को कर्ज के रूप

मे दिया जा सकता है। शायद साहूकार जमा करनेवालो को लिखित रसीद देते थे, जिसमे जमा-रकम लिखी रहती थी। चूंकि लोगो को साहूकारो की ईमानदारी और साख मे विश्वास होता था, इसलिये ये रसीदें व्यावसायिक-भुगतान मे स्वीकार की जाती थी। ये रसीदे बडी मात्रा मे भुनने के लिये साहूकारो के पास बहुत कम आती थी। ये कागज अथवा रसीदे अपने असली रूप मे रहते थे, इनकी नकल नही होती थी। चूंकि लोगो को साहूकारो की साख मे विश्वास होता था, इसलिये मियाद के पहले ये कागज बहुत कम भुनाये जाते थे। इसलिये साहूकार निश्चिन्त होकर जमा का अधिकाश भाग कर्ज मे दे सकते थे। इस प्रकार वे जनता के रुपये से अच्छा खासा लाभ पैदा करते थे। जब यह कर्ज देने का व्यवसाय अधिक लाभप्रद हो गया तो साहूकार जमा की हुई रकम पर व्याज भी देने लगे। जमा की ब्याज दर कर्ज की व्याज दर से कम होती थी और दोनों दरों में जो अन्तर होता था, वही साहूकार का मुनाफा होता था। कुछ काल के बाद चेक प्रचलित हो गये और चेको मे साहूकारी प्रथा में काफी लोच आ गई।

इस प्रकार व्यावसायिक जमा अथवा साहूकारी या बैंकिंग का प्रचार हुआ। ध्यान रहे कि जब हम बैंक शब्द का उपयोग करेंगे तो उनका अर्थ व्यावसायिक बैंक होगा अर्थात् वे बैंक जो अल्पकाल के लिये उधार देते है। इनके सिवा अन्य प्रकार के बैंक भी होते है, जैसे बचत बैंक (Savings Banks), लागत बैंक (Investment Bank) इत्यादि।

बैंक के कार्य (Functions of Bank)—व्यावसायिक बैंक अल्पकालीन साख का व्यवसाय करता है। व्यक्तियो के पास बचत के रूप मे जो अधिक धन होता है, उसे वह जमा करता है और उससे व्यावसायिक लेन-देन की अल्पकालीन आवश्यकताएं पूरी करता है। इसलिए उसका पहला काम लोगो की बचत को इकट्ठा करना है। यह काम वह लोगो की जमा स्वीकार करके करता है। जमा दो प्रकार का होता है। एक तो लोग बैंक मे कानून-ग्राह्य प्रामाणिक मुद्रा जमा करने को लाते है। बैंक उसे उनके नाम अपने से खाते मे जमा कर लेता है। इस जमा को लोग चेक द्वारा निकाल सकते है अथवा बैंक अपने गाहको को कर्ज देकर जमा उत्पन्न कर सकता है। यह कर्ज ग्राहक के नाम मे जमा हो जाता है और इस जमा को वह अपनी आवश्यकतानुसार उपयोग कर सकता है।

(१) जनता की बचत इकट्ठी करता है।

बैंक का दूसरा काम कर्ज देना है। यह काम बैंक कई प्रकार से करता है, जैसे विनिमय के बिल अथवा हुडी (bills of exchange) भुनाना, माल अथवा ऋण-पत्रो की जमानत पर कर्ज देना, अधिविकर्ष अर्थात् जमा की गई रकम से अधिक रकम देना (over-draft) आदि प्रत्येक बैंक यह जानता है कि जमा की रकम किसी भी समय मॉगी जा सकती है, परन्तु किसी एक समय कुल जमा

(२) वह कर्ज और पेशगी देता है।

का बहुत थोडा अश माँगा जायगा। वह अनुभव द्वारा यह जान सकता है कि किसी एक समय की माँग कितनी होगी और उसे पूरी करने के लिये उसे कितना नकद जमा हाथ में रखना चाहिये। बाकी रकम को वह व्यवसायियो और उत्पादको को कर्ज और पेशगी इत्यादि के रूप मे दे सकता है। कर्ज जमानत पर दिया जाता है जो कि सोना या कम्पनियो के हिस्सो अथवा उस माल की हो सकती है, जो बन रहा है अथवा जो एक स्थान से दूसरे स्थान को जा रहा है। या बिना जमानत के भी कर्ज दिया जा सकता है, यदि वैंक को अपने ग्राहक की ईमानदारी और सामर्थ्य मे विश्वास है, तो वह ग्राहक से केवल एक रुक्का लिखाकर भी उसे कर्ज दे सकता है।

(३) वह नोट चलाता है और विनिमय के साधन उत्पन्न करता है।

वैंक का तीसरा काम विनिमय का सस्ता माध्यम देना है, जैसे नोट अथवा चेक। जमा रकम के लिये वैंक जो रसीदे देते थे, उन्ही रसीदो ने आगे चलकर नोटो का रूप धारण कर लिया। ये नोट लेन-देन मे स्वीकृत होने लगे। लोग इन्हे पसन्द भी करते थे, क्योकि ये सुविधाजनक और सुरक्षित होते थे और इन्हे लेकर आने-जाने मे सुविधा होती थी। आधुनिक काल मे नोट चलाने का अधिकार केवल एक वैंक को अर्थात् केन्द्रीय वैंक को दिया जाता है। अधिक उन्नतिशील देशो मे नोटो का स्थान चेको ने ले लिया है। चेको का देना और भुनाना नोटो के समान ही होता है।

(४) विविध कार्य।

इनके सिवा वैंक और भी कई प्रकार के काम करते हैं। ये काम तीन प्रकार के होते है—विदेशी व्यवसाय को पूंजी सम्बन्धी सहायता देना, एजेंसी का काम करना तथा अन्य उपयोगी काम करना। वैंक विदेशी विनिमय सम्बन्धी व्यवसाय करते है। अपने ग्राहको की विदेशी विनिमय की हुडियाँ स्वीकार करके उन्हे भुनाते है। इस प्रकार विदेशी व्यवसाय मे पूंजी द्वारा सहायता करते है। दूसरे, वे अपने ग्राहको के एजेन्टो का काम करते है। वे अपने ग्राहको को चेक, बिल, मुनाफा, चन्दा, बीमा की किश्ते लेते और देते रहते है। ग्राहक के लिये स्वय वैंक यह काम करते है। अन्तिम, वे अपने ग्राहको के लिये अन्य कई उपयोगी और लाभप्रद काम करते रहते है। वे अपने ग्राहको की कीमती चीजे सुरक्षित रखते हैं। उनके ऋण-पत्रो, हिस्सा-पत्रो (shares), सपत्ति सवधी कागज-पत्रो तथा बहुमूल्य वस्तुओं की देख-रेख करते है। उनका व्याज और डिविडेन्ट अर्थात् लाभ इकट्ठा करते है। ग्राहको के ट्रस्टी का काम करते है। कुटुम्बो के ट्रस्टो का प्रबन्ध करते है, वसीयतो का प्रबन्ध करते है। कई ग्राहक वैंक के पते से अपना काम करते है। वैंक कई प्रकार के साख-पत्र भी देते है। ये साख-पत्र, जैसे यात्रियो के चेक जल्दी भुन जाते है और इससे ग्राहको को बड़ी सुभीता होती है।

ये काम वैंको के विशिष्ट काम होते है। इन्ही बातो को यदि हम दूसरी तरह से कहना चाहे, तो यह कहेगे कि आधुनिक वैंको का प्रधान काम आर्थिक सगठन को द्रवता

प्रदान करता है। बैंक द्रवता प्रतिस्थापन का बहुत बडा केन्द्र होता है। वह जनता जमा लेता है और देश के आर्थिक सगठन को द्रवता प्रदान करता है।

बैंक की स्थिति विवरण या चिट्ठा (Balance-Sheet of a Bank)—बैं के कामो को समझने का एक अन्य तरीका उसके स्थिति विवरण अथवा चिट्ठा अध्ययन करना है। उसमे उसकी लेनी-देनी अर्थात् आदेय और दायित्व (Assets and Liabilities) का विवरण रहता है। साधारणत बैंक का चिट्ठा इस प्रक होता है —

दायित्व (Liabilities)	आदेय (Assets)
प्राप्त पूंजी (Paid-up-Capital)	केंद्रीय बैंक के पास नकद और बाकी ज (Cash and Balance) दूसरे बैंको पास बाकी जमा और चेक जो भुननेवाले है।
सुरक्षित कोष (Reserve Fund)	मॉगने पर तुरन्त मिलनेवाला द्रव्य (Money at call and short notice) भुनाये हुए बिल (Bills discounted) लाभ पर लगी हुई पूंजी (Investment) ग्राहको को दी हुई पेशगी (advances)
चालू खाता तथा अन्य हिसाब (Current deposits and other accounts)	ग्राहको की सकार के दायित्व इत्यादि (Liabilities of customers for acceptances etc)
ग्राहको के खाते मे सकार इत्यादि (Acceptance etc. for account of customers)	मकान इत्यादि (premises)

दायित्व के अन्तर्गत प्राप्त पूंजी (paid-up capital) बैंक की पूंजी बतलाती है और सुरक्षित कोष वे सब एकत्रित साधन होते है, जो सकट अथवा मौके पर काम आते है। ये दोनो चीजें हिस्सेदारो के प्रति बैंक का दायित्व बतलाती है। जमा दो प्रकार की होती है, चालू अथवा मॉग जमा (current or demand deposit) और मियादी जमा (fixed or time deposit) चालू खाते की जमा मे रखी हुई रकम मॉग करने पर चेक के द्वारा निकाली जा सकती है। अमेरिका में इसे माग जमा (demand deposit) कहते है। मियादी जमा में रखी हुई रकम बैंक को एक हफ्ता, एक महीना अथवा अधिक समय की नोटिस देकर निकाली जा सकती है। अमेरिका में इसे समय-जमा (time deposit) कहते है। प्राय चालू खाते पर कोई ब्याज नही मिलता और मियादी जमा पर थोड़ा-सा ब्याज मिलता है। भारत में

चालू खाते पर भी थोडा-सा व्याज मिलता है, परन्तु इसमें शर्त्त यह रहती है कि ग्राहक को बैंक में हर समय कम से कम एक निर्धारित रकम रखे रहनी पडती है। अन्तिम चीज आकस्मिक दायित्व (contingent liabilities) होते है, अर्थात् इन्हे विशेप परिस्थितियो मे पूरा करना पडता है। मान लो, बैंक एक ग्राहक की तरफ से एक बिल स्वीकार कर लेता है। तब उस बिल की रकम चुकानी वैंक की जिम्मेदारी हो जाती है। यदि ग्राहक वह रकम न दे तो वैंक को देना पडेगा। इसलिये इस चीज को आदेय के खाने मे रखा जाता है, क्योकि इसमे ग्राहक की सकार का दायित्व रहता है।

आदेय के खाने से वैंक के विविध प्रकार के कार्य अधिक अच्छी तरह से समझ में आते है। इस खाने मे बैंक सुरक्षित कोप की जमा रहती है, जिससे वैंक अपने ग्राहकों की माँगे पूरी करता है। इसलिये इसे हम बैंक की सुरक्षा की पहली लाइन कह सकते है। वैंक का अपने ग्राहको के प्रति जो कुल दायित्व होता है, सुरक्षित कोप की नकद जमा उसका केवल एक आशिक अनुपात होती है। अनुभव द्वारा प्रत्येक वैंक यह जान लेता है कि सुरक्षित कोप मे कितनी नकद जमा रखनी चाहिये। इगलेण्ड के वैंक साधारणत कुल जमा का १० या ११ प्रतिशत सुरक्षित कोष में रखते है। भारत मे प्रामाणिक वैंक (scheduled banks) कुल जमा का १४ से १६ प्रतिशत तक सुरक्षित कोष में रखते है। आदेय के खाने में दूसरी चीज 'बकाया तथा चेको की वह रकम है, जो जमा हो रही है।' इसका अर्थ सरल है और अपने आप समझ में आ जाता है।

तत्कालदेय द्रव्य (Money at call and short notice) का अर्थ बहुत थोडे समय के लिये दिये जाने वाले कर्ज होते है। इसमें वे ऋण शामिल होते है, जो बिलो या हुडियो के दलालो को दिये जाते है और माँग होने पर तत्काल अथवा ७ दिन की नोटिस पर चुकाना चाहिये। स्टॉक एक्सचेंज को दिये जानेवाले ऋण भी इसमें शामिल होते है। इन ऋणो के पीछे ऊँचे दर्जे की हुडियो इत्यादि के रूप में ठोस जमानत रहती है। इनको वैंक की सुरक्षा की दूसरी लाइन या पक्ति कह सकते है। इन ऋणो का सार या महत्त्व इस बात में रहता है कि ये तुरन्त वापिस दिये जा सकते है। इस प्रकार का तत्काल धन का एक कोप प्रत्येक वैंक के लिये आवश्यक है। क्योकि उसके सुरक्षित कोप पर कभी भी रिक्तीकरण की माँग हो सकती है। जब कभी वैंक का सुरक्षित कोप एकाएक खाली हो जायगा, तब वह तत्काल ऋणो का कुछ अश वापिस ले लेगा अथवा उन्हे फिर से नही देगा। परन्तु साधारणत ये ऋण फिर से दे दिये जाते है। इगलैण्ड के वैंक प्राय अपनी जमा को ७ प्रतिशत इस तरह के ऋणो में लगाते है।

तत्काल ऋण।

प्राय तीन महीने की हुडियाँ अल्पकालीन लागत के लिये बडी अच्छी होती है। चूंकि उनका भुगतान बहुत थोड़े काल में हो जाता है, इसलिये उनका मूल्य अधिक गिरने

हुंडियों का भुनना। का डर नही रहता। और जहा हुंडी का बाजार अच्छा होत है, वहाँ वे बहुत कम बट्टे की दर पर भुन जाती है। वे अपनी हुडियो या बिलो का प्रबन्ध ऐसा करते है कि अधिक हुंडिया उस समय भुनती है, जब बैंक पर नकद जमा की काफी माँग रहती है। इध कुछ समय से व्यावसायिक हुडियो का महत्व कम हो रहा है, विशेषकर इसलिये कि उ की सख्या अब अधिक नही रहती। अब मुद्रा बाजार मे सरकारी बिलो (Treasur Bills) का महत्व बढता जा रहा है। ये भी तीन महीने की हुडिया रहती है जो इन्हे सरकार चलाती है। यह बात ध्यान मे रखनी चाहिये कि बैंक जो रकम हुडि. में लगाते है, उसका अनुपात उनकी नकद जमा का उल्टा होता है। जब हुडियो मे लागत कम होती है, तब बैंक सुरक्षित कोष मे अधिक नकदी रखने का प्रयत्न करते है। और जब हुडियो मे अधिक रुपया लगा रहता है, तब नकद जमा कम रहती है। प्राय यह देखा जाता है कि बैंक अपने आदेय का ३० प्रतिशत नकद जमा, तत्काल ऋण और हुडियो के रूप मे रखते है।

लाभ पर लागत। लाभ पर लागत (Investment)—अधिकतर सरकारी ऋण-पत्रो, म्युनिसिपल बाड तथा औद्योगिक हिस्सो इत्यादि मे की जाती है। इनसे निश्चित आय होती है और बैंक को बराबर कुछ आय होती रहती है। जब ग्राहक मुद्रा की माँग करते है, तब ये लागते काम आती है। जब ऋणो की माँग बढ जाती है, तब बैंक अपने ऋण-पत्र बेच कर ग्राहको को ऋण या पेशगी देते है। जब ग्राहको की माँग घट जाती है, तब वे फिर उस द्रव्य को ऋण इत्यादि मे लगा देते है। परन्तु पुराने सिद्धान्त के अनुसार ये लागते हुडियो की अपेक्षा कम द्रव समझी जाती है। क्योंकि साधारण समय मे तो ये लागते आसानी से बिक जाती है, परन्तु किसी सकट के समय इनके खरीदार मिलने मुश्किल हो जाते है और इनकी कीमते इतनी गिर जाती है कि इन्हे बेचने मे भी हानि होती है। इस प्रकार ये 'जम' (freeze) सकते है।

ग्राहको को पेशगी (advances to customers) मे वे ऋण शामिल होते है, जिन्हे बैंक अपने ग्राहको को जमानत पर अथवा बिना जमानत के देता है। ये प्राय अल्पकाल के लिये दिये जाते है और इनकी अवधि छ महीने से अधिक नही रहती। पेशगी कई प्रकार के कामो के लिये दी जाती है, जैसे किसी ठोस व्यवसाय की अल्पकालीन आवश्यकता के लिये। यदि कोई कम्पनी अपनी अचल पूंजी बढाना चाहती है, तो नये हिस्से बेचने मे तो उसे समय लगेगा। तब तक वह बैंक से पेशगी ले सकती है। बैंको के आदेय मे पेशगी सबसे अधिक लाभप्रद होती है। इस पर बैंक अपनी दर से १ प्रतिशत अधिक व्याज देता है और यह दर कम से कम ५ प्रतिशत रहती है।

इसके बाद वह दायित्व आता है, जो बैंक अपने गाहको के नाम पर हुडियो इत्यादि के द्वारा स्वीकार करता है। इसे उतनी ही रकम के द्वारा दायित्व के खाने मे रखा जाता है।

इसके बाद वह दायित्व आता है, जो बैंक अपने ग्राहकों के नाम पर हुडियों इत्यादि के द्वारा स्वीकार करता है। इसे उतनी ही रकम के द्वारा दायित्व के खाने में रखा जाता है।

इसके बाद आदेय के खाने में बैंक के मकान (premises) जायदाद इत्यादि रहते है। इसका अर्थ तो प्रकट ही है।

व्यावसायिक बैंकिंग के सिद्धान्त (Principles of Commercial Banking)—बैंक व्यवसाय के मौलिक सिद्धात वही है, जिनका वर्णन गिलबर्ट (Glibert) ने अपनी पुस्तक "हिस्ट्री एन्ड प्रिन्सिपल ऑफ बैंकिग" (History and Principles of Banking) मे किया है। पहला, बैंक का काम यह नही है कि वह अपने ग्राहकों को व्यवसाय करने के लिये पूंजी दे। दूसरा, बैंक को मरी हुई जमानत पर स्थायी ऋण के रूप मे रकम नही देनी चाहिये। कोयले की खदानें, मिलें इत्यादि मरी हुई जमानत के उदाहरण है। यदि बैंक किसी एक ग्राहक को बडी मात्रा में स्थायी ऋण देता है, तो उसकी यह नीति ठीक नही है। बैंको की अधिकाश जमा ऐसी होती है कि वह थोडे समय की नोटिस अथवा तत्काल निकाली जा सकती है। इसलिये उसके ऋण भी अल्पकालीन होने चाहिये। उसकी लाभ पर लागत भी 'द्रव' रूप में होने चाहिये। उसकी नीति अपने ग्राहकों की केवल अल्पकालीन आवश्यकताएँ पूरी करने की होनी चाहिये, मशीनें इत्यादि खरीदने की अपेक्षा, उसे कच्चा माल खरीदने तथा बने हुए माल वेचने में अपनी पूंजी का उपयोग करना चाहिये। अर्थात् बैंक को अचल पूंजी की अपेक्षा सचल पूंजी देने का प्रयत्न करना चाहिये। "ऋण मांगे जाने पर एक दूरदर्शी बैंक अथवा साहूकार पहले यह पूछेगा कि ऋण कितने समय के लिये चाहिये और उतना समय बीतने पर उसके वापिस मिलने की आशा क्या होगी। यदि इन प्रश्नो के सम्बन्ध में उसे सतोष नही होता तो उसे जमानत के मूल्य अथवा व्याज-दर की लालच में नही आना चाहिये। उसके मन में प्रधान बात यह रहनी चाहिये कि उसका ऋण द्रव रूप में रहे।" फिर बैंक को किसी एक उद्योग में अथवा किसी एक व्यक्ति के व्यवसाय में अत्यधिक नही घुसना चाहिये। यदि किसी प्रकार वह उद्योग अथवा वह व्यक्ति मुसीबत में फँस जाता है, तब सभव है कि बैंक का धन भी फँस जावे और वापिस न मिल सके। इसलिये बैंको के ऋण और लाभ पर लगनेवाली पूंजी विभिन्न उद्योगो में लगनी चाहिये और वे उद्योग भी अलग-अलग स्थानो में होने चाहिये। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि बैंको को अपने सब अडे एक ही टोकरी में नही रखने चाहिये। **होशियार और चतुर बैंक हुंडी अर्थात् बिल और बन्धन** (mortgage) **में अन्तर जानता है।** तीन महीने अथवा उससे कम समय की हुडी जो माल की जमानत पर चलाई जाती है, एक प्रकार से अपना भुगतान स्वय कर लेती है। क्योंकि उक्त समय के अन्त तक हुडी चलानेवाला माल वेचकर धन प्राप्त कर लेगा और ऋण चुकाने मे समर्थ हो जायगा। परन्तु बन्धक इस अर्थ में अपना भुगतान स्वयं नही

कर सकता। यह कहा नही जा सकता कि मकान अथवा भूमि के मालिक के पास ऋण चुकाने के लिये समय पर काफी धन रहेगा अथवा नही।

सुरक्षित कोष (Reserves)—कहा जाता है कि "सफल बैंक व्यवसाय सुरक्षित कोष के प्रबन्ध पर निर्भर करता है।" सुरक्षित कोष में नकदी रहती है और कुछ जमा केन्द्रीय बैंक के पास रहती है। इस जमा से बैंक ग्राहको का रुपया निकालने की माँग पूरी करते है। सुरक्षित कोष बहुत अधिक नही होना चाहिये पर काफी होना चाहिये। यदि वह काफी नही होता तो बैंक के दिवालिया होने का डर रहता है और यदि वह बहुत अधिक होता है तो रुपया बेकार पडा रहता है, अर्थात् बैंक को नुकसान होता है। इसलिय बैंक मैनेजर को इन दोनो बातो के बीच में सतुलन रखना चाहिये। इसी में उसके प्रबन्ध की कुशलता जाहिर होती है।

सुरक्षित कोष की वास्तविक मात्रा निर्धारित करने के लिए बैंकर को अनेक बातों पर विचार करना पडेगा। सुरक्षित कोष में कितनी मात्रा रहनी चाहिये, इसके सम्बन्ध में कोई खास और कडे नियम नही है। यह इस बात पर निर्भर करता है कि बैंक के ग्राहको का व्यवसाय किस प्रकार का है। यदि वे उद्योगपति है, तो वेतन बाँटने के दिन अथवा उससे एक दिन पहले वे काफी नकद रुपया बैंक से निकालेंगे। यदि बैंक के ग्राहक अधिकतर किसान है, तो वे कभी-कभी और कम मात्रा में रुपया निकालेंगे। इसलिए सुरक्षित कोष भी थोडी मात्रा में रखना अच्छा होगा। सुरक्षित कोष की मात्रा वर्ष के मौसिम पर भी निर्भर होगी। यदि फसल कटने की ऋतु है, तो देहातों में किसानों के पास काफी रुपया जायगा, क्योकि वे अपना अनाज बेचेंगे। तब सुरक्षित कोष काफी मात्रा में रखना पडेगा। फिर रुपये की एकाएक माँग होने की सभावना तो चाहे जब बनी रहती है। जैसे कि कोई ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय घटना घटती है, जिससे माँग एकाएक बढ़ जाय। इसमें संदेह नही कि सुरक्षित कोष मे यथोचित् मात्रा रखना एक कुशल मैनेजर का ही काम है।

लेकिन अन्त में सुरक्षित कोष की समस्या आदेय की द्रवता की समस्या हो जाती है। उसके ऋण ऐसे हो, जो तुरन्त वसूल किये जा सकें। साधारण समय में माँग-ऋण[1] (call loans) तुरन्त नकदी के रूप में वसूल हो सकते हैं। इसलिये उन्हें सुरक्षा की दूसरी पक्ति कहा जाता है। हुडियो और सरकारी ऋण-पत्रो को नकदी के समान ठोस समझा जाता है। क्योकि असाधारण समय को छोडकर हुडियाँ उचित दर पर भुनाई जा सकती है और सरकारी ऋण-पत्र बाजार में बिक सकते हैं। हाँ, साधारण समय में जब बाजार बिलकुल अस्त-व्यस्त हो जाता है, तब उनका बेचना असम्भव हो जाता है। उस समय यह हो सकता है कि अच्छी हुडियाँ केन्द्रीय बैंक से फिर से भुनाई

[1] *Hayek* 'Monetary Theory and the Trade Cycle'. pp, 150-167 में इस सम्बन्ध में अच्छी विवेचना की गई है।

सकती है और ऋण-पत्रों की जमानत पर केन्द्रीय बैंक से ऋण भी प्राप्त किया जा सकता है। किसी भी बैंक-मैनेजर के लिये बिल अथवा हुडियो के सम्बन्ध में ऐसा प्रबन्ध करना उचित होगा कि कुछ बिल हमेशा पकते रहे और जब अधिक नकदी बैंक से निकलने की आशा हो, तो उस समय के बिल पके अर्थात् उनकी भुगतान की तिथि पूरी हो।

क्या बैंक साख उत्पन्न कर सकते हैं ? (Do banks create credit ?)– यह बतलाया जा चुका है कि आधुनिक बैंक की जमा दो प्रकार से उत्पन्न होती है। एक तो लोग अपना रुपया बैंक मे जमा करने ले जाते है और बैंक उनके नाम से अपने खाते में रुपया जमा कर लेता है। पोस्ट आफिस के सेविंग्स बैंको मे इस तरह जमा उत्पन्न होती है। दूसरे, बैंक अपने ग्राहको की हुडियाँ भुनाता है और उन्हे ऋण देता है। जब बैंक किसी व्यक्ति को ऋण देता है, तो वह ऋण की पूरी रकम एक बार में नही देता। वह ग्राहक के नाम एक खाता खोल देता है और उसमे वह रकम लिख दी जाती है। ग्राहक अपनी आवश्यकता के अनुसार उसमे से रुपया निकालता रहता है। इसलिये बैंक का प्रत्येक ऋण एक जमा भी उत्पन्न कर देता है।

ऋणों से जमा बनती है।

मि० हार्टले विदर्स (Hartley Withers) का कहना है कि ऋण जमा उत्पन्न करते है। अर्थात् बैंक ही साख उत्पन्न करता है। हाँ, यह जरूर है कि ऋण लेनेवाले अपने खाते का जमा दूसरो को देने के लिये निकाल सकते हैं। परन्तु ये दूसरे लोग भी तो बैंक के ग्राहक हो सकते है और सभव है कि रुपया पाने पर वे फिर उस बैंक में जमा कर देंगे। यदि वे दूसरे बैंको के ग्राहक है, तो उन बैंको में उस रुपया को जमा कर देगे। कुछ भी हो, जब तक ऋण रहता है, तब तक उतनी रकम की जमा किसी-न-किसी बैंक के खाते में बनी रहेगी।

डाक्टर वाल्टर लीफ[1] (Dr. Walter Leaf) तथा कैनन[2] ने इस सिद्धान्त का बडा गहरा विरोध किया है कि बैंक साख उत्पन्न करते है। इन दोनो विद्वानो का मत है कि साख की उत्पत्ति का आरम्भ बैंको द्वारा नही, बल्कि जमा करनेवाले ग्राहको द्वारा होता है। वास्तव में होता यह है कि जमा करनेवाले अपने जमा का अधिकाश निकालते नही है, इसलिए बैंक ऋण में देने में समर्थ होता है। इन सिद्धातो में त्रुटि यह है कि वे इन समस्याओ की ओर गलत दृष्टि से देखते है। ऋणो से जमा नही बनता, बल्कि जो जमा निकाली नही जाती, वह ऋण के रूप मे दी जाती है। इस तरह एक बैंक और कपड़े रखने के कमरे (cloak room) में कोई खास अन्तर नही है। मान लो, एक दावत मे सौ मेहमान आए है। प्रत्येक के पास बरसाती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी बरसाती

---

[1] *Leaf*, Banking, p 101-104 Also p. 126.

[2] *Cannan*, "The Difference between a Bank and a Cloak Room" in An Economist's Protest.

एक कमरे मे रखता जाता है और उस कमरे में एक नौकर पहरेदार है। अब मान लो दावत १० बजे रात के पहले खतम न होगी। वह पहरेदार दस बरसाती तो बचा लेता है कि शायद कुछ मेहमान जल्दी चले जायँ। पर बाकी ९० बरसाती वह इस शर्त्त पर किराये पर दे देता है कि वे उसे साढे नौ बजे तक वापिस मिल जाना चाहिए। तो बरसातियाँ किराये पर देकर क्या उस पहरेदार ने ९० बरसातियाँ उत्पन्न कर दी? यह कहना गलत होगा। इसी प्रकार यह कहना भी गलत होगा कि वैक साख उत्पन्न करते है। लीफ ने इगलैण्ड के पाँच बडे वैको के चिट्ठो का विश्लेपण करके यह बतला दिया है कि यद्यपि सन् १९२६ के प्रारम्भ के महीनो मे बैको द्वारा दिये गये ऋणो की मात्रा बहुत बढ गई थी, तथापि उनका जमा वास्तव मे घट गया था। तब यदि हम यह कहे कि ऋणो से जमा बनती है, तो इस परिस्थिति को कैसे समझावेंगे?

मूल्य की स्थिरता की दृष्टि से इस वाद-विवाद का महत्व बहुत अधिक है। यदि वैक व्यवस्था का साख की मात्रा पर कोई नियन्त्रण नही रहता, यदि जमा करने वाले साख 'उत्पन्न' करते है, तब वैक-व्यवस्था के लिए साख की मात्रा पर नियत्रण रखना मुश्किल हो जायगा। तब फिर वह मूल्यो पर भी कोई नियत्रण नही रख सकेगा। इस सम्वन्ध मे पूरी-पूरी व्याख्या की आवश्यकता है।

मान लो, एक ऐसा समाज है, जो बिलकुल अलग रहता है और उसका विदेशी व्यवसाय बिलकुल नही है। अब मान लो उस देश अथवा समाज मे केवल एक बैंक है और प्रत्येक आदमी उस बैंक मे अपना जमा खाता रखता है। फिर मान लो कि उस समाज मे नकदी बिलकुल नही चलती। सब काम चेको द्वारा होता है। इन अनुमानो के अन्तर्गत वैक मे जमा की मात्रा उसके ऋणो द्वारा निश्चित होगी। वह निश्चय ही साख उत्पन्न करेगा। अब हमे एक-एक करके इन अनुमानो को हटाना चाहिये, जिससे हम वास्तविक परिस्थितियो को भी समझ सके। पहला, थोडे-बहुत नकद रुपये का उपयोग हमेशा होता है और चेको को नकदी मे भुनाने का आभार वैको पर रहता है। इसलिये ग्राहको की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिये बैको को सुरक्षित कोप मे कुछ नकद जमा रखना आवश्यक है। दूसरा, वैक केवल एक नही होता, कई होते है। एक बैंक के नाम दिया गया चेक दूसरे बैंक के जरिये भुनाया जा सकता है। फिर एक बैंक मे दूसरे बैंको के चेक भी रहेगे। इसलिये प्रत्येक बैंक मे हमेशा कुछ चेक जमा होने के लिये अथवा भुनने के लिये रहेगे और इस प्रकार के चेक एक बराबर रकम के नही रहेगे। इसलिये अन्य बैको से आये हुए चेको को भुनाने के लिये कुछ नकद जमा रखना आवश्यक है। प्रायः सुरक्षित कोप की कुल मात्रा कुल जमा की मात्रा का एक निश्चित अनुपात होती है। प्रत्येक वैक अनुभव से यह जानता है कि अपने दायित्व को पूरा करने के लिये उसे सुरक्षित कोष कितनी मात्रा में रखना चाहिये। जब उसका सुरक्षित कोष इस मात्रा से अधिक होगा, तब वह अधिक ऋण दे सकेगा। जब सुरक्षित कोप इस मात्रा से कम

होगा, तब वह कम ऋण देगा। बैंक-व्यवस्था की ऋण-नीति सुरक्षित कोष की कुल मात्रा पर निर्भर होती है।

इस प्रकार बैंको की साख उत्पन्न करने की शक्ति पर दो बन्धन या शर्तें रहती हैं। कोई भी बैंक अपने साधनो के बाहर ऋण नही दे सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो उसका सुरक्षित कोष बहुत कम हो जायगा। क्योंकि जितने चेको का रुपया वह अन्य बैंको से प्राप्त करेगा, उससे अधिक उसे अन्य बैंको के चेक भुनाने मे देना पडेगा। दूसरे, सब बैंको के कुल सुरक्षित कोष की मात्रा के अनुपात में साख की उत्पत्ति घटेगी और बढेगी।

साख उत्पादन करने में बैंक की शक्ति की सीमाएं

बैंको के सुरक्षित कोष की कुल मात्रा केन्द्रीय बैंक की नीति पर निर्भर करेगी। यदि केन्द्रीय बैंक बाजार मे ऋण-पत्र खरीदता है, तो बैंको का सुरक्षित कोष बढेगा।[1] जब वह ऋण-पत्र बेचता है, तब बैंको का सुरक्षित कोष घट जाता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक की नीति पूरी बैंक व्यवस्था की नकद सुरक्षित जमा निश्चित करती है और बैंको के कुल सुरक्षित कोष पर उनकी ऋण की मात्रा निर्भर होती है। कैनन की त्रुटि यह थी कि उसने केवल जमा पर ध्यान दिया। वास्तव मे बैंक अपना जमा उधार नहीं देते, वे अपनी साख उधार देते है। उधार देने के काम का प्रारम्भ उन्ही के द्वारा होता है।

हाँ, एक महत्त्वपूर्ण शर्त अवश्य है। उधार देने के काम में दो व्यक्तियो में सौदा होता है—एक उधार देनेवाला और दूसरा उधार लेनेवाला। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आ जाती है, जब कीमतें गिरने लगती है और बाजार तथा व्यवसाय में विश्वास गिरने लगता है। ऐसे समय में उधार लेनेवालो का मिलना मुश्किल हो जाता है। तब बैंको को अपने ऋणो की मात्रा मे होती हुई कमी को रोकना मुश्किल हो जाता है। इसलिये साख उत्पन्न करने की शक्ति अपूर्ण होती है।

निकास-गृह (Clearing Houses)—इस शब्द के पर्यायवाची निबटारा-घर, चेक चुकाई-गृह इत्यादि भी है। "निकास-गृह किसी एक स्थान पर बैंको का एक सगठन होता है, जिसका उद्देश्य चेको द्वारा होनेवाले आपसी लेन-देन का हिसाब और भुगतान करना होता है।" जब एक देश मे कई बैंक होते है, तो प्रत्येक बैंक के पास के अन्य बैंको के नाम काटे गये कई चेक जमा होने अथवा भुनने के लिये आवेंगे। प्रत्येक बैंक ये सब चेक निकास-गृह मे लाते हैं और वहाँ यह हिसाब किया जाता है कि प्रत्येक बैंक को किससे कितना लेना है और कितना देना है। चेको की रकम जोड-घटाने के बाद जो बाकी रकम बच रहती है—देकर हिसाब पूरा कर दिया जाता है। सब बैंक आपस मे एक दूसरे के साथ इस प्रकार का हिसाब कर लेते है। मान लो, अ और ब दो

---

[1] See next chapter for 'Open Market Policy'.

वैक है। एक दिन मे अ को कुछ चेक मिलेगे जो व के नाम काटे गये है। अ उन्हे व के पास भुनने के लिये भेजेगा। इसी प्रकार व के पास भी कुछ चेक आवेगे जो अ के नाम काटे गये है। दिन भर के वाद अथवा दिन मे कई वार अ और व के प्रतिनिधि निकास-गृह में मिलेंगे और जहाँ तक होगा एक दूसरे का भुगतान कर देगे। मान लो अ को व से १०,०००रु० प्राप्त करना है और व को अ से १२,००० रुपया लेना है। तव अ २,००० रुपये की वाकी रकम व को दे देगा और हिसाव पूरा हो जायगा। व्यवहार में सव वैंक किसी वडे वैंक के पास—प्राय केन्द्रीय वैंक के पास—एक खाता रखते है और अ, व को केन्द्रीय वैंक के नाम एक चेक दे देगा। इस तरीके से नकद के उपयोग मे वहुत वडी वचत हो जाती है। और इस प्रकार के लेन-देन के हिसाव केन्द्रीय वैंक द्वारा तय किये जाते है। केन्द्रीय वैंक मे प्रत्येक वैंक का जो जमा रहता है, केवल वह एक दूसरे के हिसाव में वदलता रहता है। इस प्रकार एक दिन मे लाखो का हिसाव चुकता हो जाता है।

अध्याय ४०

केन्द्रीय वैंक और उनके कार्य

(Central Banks)

प्रथम महायुद्ध के वाद मुद्रा-सिद्धान्त के सम्वन्ध में सवसे महत्वपूर्ण वात यह हुई है कि केन्द्रीय वैंको की स्थिति वहुत ऊँची हो गई है और उनकी शक्ति वहुत वढ गई है।

केन्द्रीय वैंक की आवश्यकता

दो महायुद्धो के वीच मे जो समय वीता उसमे होनेवाले आर्थिक पुनर्सगठन मे केन्द्रीय वैंको को स्थगित करने तथा उनके पुनर्सगठन पर काफी जोर का ध्यान दिया गया। आज ससार में शायद ही कोई सभ्य देश हो, जिसमें कि एक केन्द्रीय वैंक न हो।

केन्द्रीय वैंकों का संगठन (Constitution of Central Banks)—विभिन्न केन्द्रीय वैंको के संगठन की महत्वपूर्ण वातो मे इतनी विभिन्नता होती है कि उनका कोई एक किस्म या प्रकार नही होता।

सरकार और केन्द्रीय वैंक।

कुछ केन्द्रीय वैंक ऐसे होते है, जिनका प्रवन्ध सरकार करती है; और सरकार ही उनकी मालिक होती है। कुछ ऐसे होते है, जिनके मालिक हिस्सेदार होते है और ये हिस्सेदार या तो जनता के लोग होते है अथवा व्यावसायिक वैंक। अमेरिका मे यही प्रणाली प्रचलित है। प्रथम

महायुद्ध के बाद जो केन्द्रीय बैंक स्थापित हुए उनके स्वामी जनता के लोग होते हैं। लोगो के पास बैंक के हिस्से रहते हैं। उस समय यह कहा जाता था कि केन्द्रीय बैंको को सरकार के प्रभाव और नियत्रण से स्वतत्र रहना चाहिये। परन्तु इधर कुछ वर्षों मे व्यावसायिक मदी, शस्त्रीकरण के भारी खर्च तथा समाजवादी विचारो के प्रचार के कारण केन्द्रीय बैंको पर सरकारों का प्रभाव बहुत अधिक पड गया है। अब कोई ऐसा केन्द्रीय बैंक नही है, जो सरकार के नियत्रण से बिलकुल स्वतन्त्र हो। यदि हम महत्वपूर्ण बैंकों के गवर्नरो और डायरेक्टरो की सूची की ओर ध्यान दे तो यह बात प्रकट हो जाती है। डायरेक्टरो के बोर्ड का गवर्नर तथा उसके सहायक प्राय: सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते है और इन दो व्यक्तियो के हाथ मे काफी शक्ति और अधिकार रहते है। यदि सरकार स्वय उन्हे नियुक्त नही करती तो उनकी नियुक्ति मे सरकार की स्वीकृति आवश्यक रहती है। सयुक्तराज्य अमेरिका के बोर्ड में सात सदस्य होते है और इन सातो सदस्यो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है। फ्रान्स मे बैंक का गवर्नर तथा उसके सहायक राष्ट्रपति द्वारा चुने जाते हैं। इगलैण्ड में गवर्नर, उसका सहायक तथा डायरेक्टर सरकार द्वारा नियुक्त होते है।

डायरेक्टरो के बोर्ड की नियुक्ति कई प्रकार से होती है। अमेरिका और इगलैण्ड में प्रधान बोर्ड के सब डायरेक्टर सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते है। अमेरिका में बारह रिजर्व बैंक अर्थात् केन्द्रीय बैंक है, जिनके हिस्सेदार व्यावसायिक बैंक है। ये हिस्सेदार बैंक रिजर्व बैंको के केवल कुछ डायरेक्टर चुन सकते है। कुछ देशो में अधिकाश डायरेक्टर हिस्सेदारो द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। कभी-कभी ऐसे नियम बना दिये जाते है कि सब अथवा कुछ डायरेक्टर व्यवसाय, कृषि अथवा अन्य उद्योगो के प्रतिनिधियो में से चुने जाने चाहिये। इनके साथ ही प्राय: यह नियम बना दिया जाता है कि अर्थ-मन्त्री अथवा अर्थ-विभाग का एक उच्च अधिकारी भी एक डायरेक्टर होगा और वह सरकारी नीति के अनुसार बैंक के कामो का देख-रेख करेगा।

अन्य बातो पर भी सरकार का नियत्रण रहता है। उदाहरण के लिये बैंक के लाभ के वितरण में सरकार का हाथ रहता है। एक निश्चित अथवा उचित दर पर लाभ बाँटने के बाद सरकार भी बैंक के लाभ में से एक हिस्सा लेती है।

केन्द्रीय बैंकों के कार्य (Functions of Central Banks)—केन्द्रीय बैंक साख की पूरी मशीन के चालक अथवा ड्राइवर का काम करता है, जिससे कि कीमतो मे दृढता बनी रहे। यही उसका प्रधान कार्य है। यह मुद्रा और साख की पूरी मात्रा का नियंत्रण करता है और उसे चलाता है। जब बाजार मे मुद्रा और ऋण की कमी होती है तो वह उन्हे अधिक मात्रा में लाता है और जब साख अधिक हो जाती है, तो वह मुद्रा को समेट लेता है। उसका उद्देश्य कीमतो की दृढता के साथ-साथ विनिमय की भी दृढ़ता स्थापित करना होता है और जहाँ तक हो सके, वह इन दोनो के बीच में सामजस्य

स्थापित करता है। वह कीमतों की अल्पकालीन और दीर्घकालीन दोनो प्रकारों की चालो पर नियत्रण रखने का प्रयत्न करता है।

इस कार्य को भली-भाँति करने के लिये केन्द्रीय वैक को कुछ अन्य कार्य करना आवश्यक है। सन् १९२६ मे वैक ऑफ इगलैण्ड के गवर्नर ने इन कामो का वर्णन बड़े सुन्दर ढग से किया था।[1] "केन्द्रीय वैक को नोट चलाने का एकाधिकार प्राप्त होना चाहिये। कानून-ग्राह्य प्रामाणिक मुद्रा केवल उसी से प्राप्त होनी चाहिये और अन्त मे उसी के पास वापिस भी जानी चाहिये। अर्थात् उसके लेने और देने का वही अन्तिम साधन रहे। सरकारी कोष का केवल वही एक खजाची रहे। देश के अन्य जितने वैक हो और उनकी जितनी शाखाएँ हो, उन सबके सुरक्षित कोष का वह एकमात्र खजाची अथवा कोषाध्यक्ष हो। वह सरकार का एक प्रकार का गुमाश्ता होगा और देश में तथा विदेश मे सरकार के मुद्रा सम्बन्धी जितने कार्य होगे वे सब उसी के जरिये होगे। देश में तथा विदेश मे वह मुद्रा, साख, विनिमय और कीमतो को दृढ बनाने का प्रयत्न करेगा और इसके लिये आवश्यकतानुसार मुद्रा और साख मे घटी-बढी करेगा। आवश्यकता होने पर केवल उसी से आकस्मिक साख प्राप्त हो सकेगी। यह साख-स्वीकृत हुडियो को फिर से भुनाकर, अल्पकालीन ऋण-पत्रो या हिस्सो पर ऋण देकर अथवा सरकारी ऋण-पत्रो पर ऋण देकर प्राप्त की जा सकती है।"

कीमत की दृढता स्थापित करना।

इसलिये सबसे पहले केन्द्रीय वैक को नोट चलाने का एकाधिकार प्राप्त होना चाहिए, जिससे वह मुद्रा पर नियत्रण रख सके। हम देख चुके है कि वैको के ऋणो की कुल मात्रा का उनके सुरक्षित कोष से एक आनुपातिक सम्बन्ध होता है। नकद सुरक्षित कोष में नोट तथा सहायक मुद्रा होती है। सहायक मुद्रा बहुत कम मात्रा में होती है। इसलिये साख की मात्रा पर नियत्रण रखने के लिये उसे नोट चलाने का अधिकार अवश्य प्राप्त होना चाहिए। साथ ही सहायक मुद्रा भी केन्द्रीय वैक द्वारा ही चलनी चाहिए।

नोट चलन का प्रबन्ध

दूसरे, केन्द्रीय वैक वैको के वैक का काम करता है। देश के अन्य सब बैंक, कानून अथवा प्रथा के अनुसार केन्द्रीय वैक में अपनी जमा का एक अश रखते है। अमेरिका में यह कानून है कि अन्य वैक अपने कुल दायित्व का ३ से लेकर १३ प्रतिशत तक रिजर्व वैको के साथ जमा के रूप में रखेंगे। इगलैण्ड मे सम्मिलित पूंजी के वैक प्रथा और

वैंकों का वैंक होता है

---

1 Evidence before the Royal Commission on Indian Currency and Finance, 1926.

सुविधा के अनुसार बैंक ऑफ इग्लैण्ड के पास अपनी रकम रखते है। भारत मे सन् १९३४ के रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार सब प्रमाणिक बैंक (जो रिजर्व बैंक के सदस्य है) अपने जमा दायित्व का एक अनुपात (५ से २ प्रतिशत तक) रिजर्व बैंक मे रखते है। रिजर्व बैंक सम्पूर्ण बैंक व्यवस्था के सुरक्षित कोष का अन्तिम कोषाध्यक्ष होता है और अस्थायी आवश्यकताओ को पूरा करने के लिये अथवा एकदम ठोस हुडियों को फिर से भुनाने के सम्बन्ध मे कोई कठिनाई आ पडे तो कोई बैंक इस कोष से अस्थायी सहायता ले सकता है।

सरकारी बैंक होता है

तीसरे, केन्द्रीय बैंक सरकार का भी बैंक सम्बन्धी सब काम करता है। करो के सम्बन्ध मे तथा विभिन्न प्रकार के खर्चों पर सरकार वड़ी-वडी रकमे प्राप्त करती है तथा वाटती है। यदि इस आय और व्यय मे सामजस्य न रहे तो मुद्रा-वाजार में गडवडी मच जाय। इसलिये सरकार के आर्थिक तथा मुद्रा कार्य केन्द्रीय बैंको द्वारा इस प्रकार होने चाहिए, तथा आय और व्यय में ऐसा सतुलन रहे कि मुद्रा वाजार में गड़वडी न पैदा हो। इसलिये केन्द्रीय बैंक सरकारी ऋणो और सरकार के आय-व्यय पर नियत्रण रखता है और विना व्याज दिये सरकार की पूंजी भी रखता है।

स्वर्णमान का प्रवन्ध करता है।

चौथे, जव कोई देश स्वर्णमान पर होता है, तव उस मान का प्रवन्ध केन्द्रीय बैंक करता है, जिससे विनिमय मे दृढ़ता बनी रहे। इस काम के लिये कानून द्वारा केन्द्रीय बैंक पर यह आभार दे दिया जाता है कि वह निश्चित मूल्य पर सोना खरीदेगा और बेचेगा। कुछ देशो मे केन्द्रीय बैंक को यह अधिकार दे दिया जाता है कि वह स्वर्णमानवाले देशो को सोना अथवा विदेशी विनिमय बेच सकता है। इस सम्बन्ध में केन्द्रीय बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य यह होता है कि वह सोने के आवागमन पर नियत्रण रखता है। जव सोने का आयात होता है, तव साख का विस्तार करता है अथवा बाजार में ऋण-पत्र बेचता है, जिससे सोना खप जाता है और जव सोने का निर्यात होता है, तव वह इसका उलटा करता है।

पाँचवाँ, ऋण का अन्तिम साधन केन्द्रीय बैंक होता है। उत्तम तथा ठोस हुडियों को पुन चलाकर अथवा मान्यता प्राप्त अल्पकालीन ऋण-पत्रो की जमानत पर ऋण लेकर अन्य बैंक थोडे ही समय मे अपना नकद सुरक्षित कोष वढा सकते है। जव कभी सकट अथवा भय के कारण लोग एकदम बैंको से रुपया खीचने लगते है, तव थोडे से नोटिस पर अपने ठोस आदेश को नकद जमा में परिवर्तन करने की यह सुविधा बैंको को वहुत वडी सहायता देती है। इसलिये केन्द्रीय बैंक वह अन्तिम जरिया होता है, जहाँ से वाजार सकट-काल मे ऋण या साख प्राप्त कर सकता है और भयग्रस्त लोगो की मुद्रा की माँग अथवा अतिरिक्त साख की अस्थायी माँग पूरी कर सकता है।

अन्तिम, केन्द्रीय बैंक कुछ छोटे-मोटे काम भी करता है। जैसे कि वह व्यावसायिक बैंकों के चेकों और ड्राफ्टों (drafts) के हिसाब चुकाने में निकास-गृह का काम करता है।

साख नियन्त्रण के तरीके (Methods of Credit Control)—केन्द्रीय बैंक साख की मात्रा को तीन तरह से नियन्त्रित करता है। एक तो बैंक दर (bank rate) ऊँची या नीची करके, दूसरे खुले बाजार में लेन-देन करके और तीसरे, अपने सदस्य बैंकों के सुरक्षित कोषों के अनुपातों में परिवर्तन करके। हम इन तीनों तरीकों का एक-एक करके वर्णन करेंगे।

बैंक रेट का प्रभाव (Influence of Bank Rate)—बैंक दर वह न्यूनतम दर है, जिस पर केन्द्रीय बैंक पहले दर्जे के विनिमय बिलों अर्थात् हुंडियों को भुनाता है, अथवा मान्यता प्राप्त ऋण-पत्रों की जमानत पर ऋण देता है। कुछ देशों में बैंक दर को बट्टे की दर (discount rate) भी कहते हैं।

मान लो, किसी देश के आयात-निर्यात का अन्तर या तिजारती बाकी (balance of trade) उसके विपक्ष में हो जाता है। इस प्रतिकूल अन्तर के कारण देश से सोने का निर्यात होगा। चूंकि इससे केन्द्रीय बैंक का सुरक्षित कोष कम होगा, इसलिये वह बैंक दर बढ़ा देगा। बैंक दर बढ़ाने का फल क्या होगा?

विदेशी विनिमय का प्रभाव (Effect on the foreign exchanges)—विदेशी विनिमय पर इसका तत्काल प्रभाव पड़ेगा। बैंक दर ऊँची होने का अर्थ यह होगा कि लोग, विशेषकर विदेशी लोग, उस देश में व्याज की दर प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये उन्हें जो रुपया उस देश से लेना है, उसे वे नहीं लेंगे, अथवा जो हुंडी उन्होंने भुनाई है, उसका रुपया भी पड़ा रहने देंगे। फल यह होगा कि उस देश में बाहर से रुपया आने लगेगा, अथवा देश का रुपया बाहर जाना बन्द हो जायगा विदेशी लोग उस देश की मुद्रा की अधिक माग करेंगे। इसलिये विदेशी विनिमय की दर में उसका मूल्य बढ़ जायगा। अर्थात् विनिमय की दरें उस देश के पक्ष में हो जायेंगी और सम्भव है कि उस देश में सोने का भी आयात होने लगे। फिर बैंक दर ऊँची होने के कारण लोग ऋण कम लेंगे और देश में खरीदने की शक्ति घटेगी। आयात की मात्रा भी घटेगी, क्योंकि खरीदने की शक्ति कम होने के कारण लोग विदेशी वस्तुयें भी कम खरीदेंगे। इसलिये विदेशी व्यवसाय का अन्तर देश के पक्ष में होने की प्रवृत्ति दिखावेगा।

कीमतों और लागतों पर प्रभाव (Effect on Prices and Costs)—चूंकि अब ऋण लेने की कीमत अधिक हो जायगी, इसलिये वे व्यवसायी जो पुरानी दर

पर ऋण लेकर उसे व्यवसाय में लगाने में हिचकिचाते थे, अब इस नई ऊंची दर पर ऋण नही लेंगे। फिर जो लोग कारखाने, मकान, डाक इत्यादि बनवाने के लिये दीर्घ-काल के लिये ऋण लेते है, वे अब ये काम कम कर देगे, क्योकि बैंक दर ऊँची होने के कारण ऋण महँगा पडता है। इसलिये जिन सामानो के उत्पादन में लम्बे समय के लिये पूंजी लगती है, उनका उत्पादन भी कम हो जायगा ओर उत्पादन के काम मे लगे हुए कारखानो मे वेकारी बढ़ेगी। बेकार लोगो की शक्ति घटेगी, इसलिये कीमतें भी घटेंगी। इसी बीच में व्यवसायी और थोक विक्रेता, जो उधार रकम लेकर माल रखते है, अपने माल की मात्रा घटावेगे, क्योकि एक तो ऋण की दर ऊंची है और दूसरे कीमतें गिरने का डर है। वे अपनी खरीद भी कम कर देंगे। जब उत्पादको की विक्री घटेगी तब पहले तो वे कारखाने बन्द नही करेंगे, क्योकि एक बार बन्द करने पर फिर माँग बढने पर चालू करना मुश्किल होगा। पहले वे अपने माल की कीमत कम करेंगे। इसलिये थोक कीमतो की सतह में कमी होगी। परन्तु उत्पादन की लागत तथा मजदूरी की दर में तो कमी हुई नही है, इसलिये उत्पादको को हानि होगी। परन्तु इस तरह वे अधिक समय तक नही चला सकते और उन्हे उत्पादन कम करना पडेगा। इससे चारो तरफ काफी बड़े पैमाने पर बेकारी फैलेगी। अन्त में बढती हुई बेकारी के कारण कमाई की दर भी घटेगी। तब लागत में भी कमी होने लगेगी और तब तक होती जायगी, जब तक कि कम दामो पर बेचने पर भी लाभ न होने लगेगा। इस प्रकार ऊँचे बैंक दर का पहला प्रभाव यह होता है कि देश में अल्प-कालीन द्रव्य की मात्रा आती है तथा विनिमय की दर और व्यवसाय का अन्तर देश के अनुकूल हो जाता है। परन्तु यदि यह दशा अधिक समय तक रही तो जिन वस्तुओ के उत्पादन में दीर्घकालीन पूंजी लगती है, उनका उत्पादन कम होगा, वस्तुओ की थोक कीमतो में कमी होगी, बेकारी बढेगी और अन्त में लागत तथा लोगो की आय घटेगी। जब बैंक दर कम होगी, तब इसका ठीक उलटा होगा।

(२) **खुले बाजार की नीति (Open Market Operations)**—खुले बाजार की नीति का यह अर्थ होता है कि देश में साख की मात्रा पर नियत्रण रखने के लिये केन्द्रीय बैंक ऋण-पत्र बेचना अथवा खरीदना प्रारम्भ करता है। यदि किसी समय सम्मिलित पूंजीवाले बैंको के सुरक्षित कोष में अधिक मुद्रा होती है और वे उसे उदारता-पूर्वक देते है जिसे कि केन्द्रीय बैंक पसन्द नही करता तो वह बाजार मे ऋण-पत्र बेचेगा। इन ऋण-पत्रो को खरीदनेवाले केन्द्रीय बैंक को अन्य बैंको के नाम चेक देते है। जब ये चेक भुनाये जायँगे, तब इन बैंको का सुरक्षित कोष कम हो जायगा और वे ऋण कम देंगे। उनके ऋणो की व्याज दर भी बढेगी और देश मे साख की मात्रा कम हो जायगी। इसी प्रकार जब केन्द्रीय बैंक देखेगा कि मुद्रा की दर बहुत ऊँची है और बाजार में मुद्रा की कमी है, तब वह ऋण-पत्र खरीदेगा

खुले बाजार की नीति किस प्रकार चलती है।

और बेचनेवालो को अपनी नोट देगा। इन नोटो को लोग अपने बैंको में जमा करें इस तरह बैंको के सुरक्षित कोष बढ जायँगे और वे कम दर पर ऋण देने लगेंगे। इस प्रकार बाजार में ऋण-पत्र बेचकर और खरीद कर केन्द्रीय बैंक के सुरक्षित कोष में उनके ऋणो की ब्याज दर मे तथा साख की मात्रा में परिवर्तन कर सकता है।

खुले बाजार की नीति का प्रभाव मुद्रा-बाजारो पर सब देशो में एक-सा नहीं पडता। खुले बाजार की नीति इंगलैण्ड मे सबसे अधिक सफल हुई है। इंगलैण्ड के मुद्रा बाजार में यह प्रथा है कि सम्मिलित पूंजीवाले व्यावसायिक बैंक, केन्द्रीय बैंक अर्थात् बैंक आफ इंग्लैण्ड से फिर से हुंडियां भुनाकर अथवा ऋण-पत्र की जमानत पर सीधे ऋण नही लेते। इसलिये जब बैंक ऑफ इंग्लैण्ड बाजार मे ऋण-पत्र बेचता है तब अन्य बैंको के सुरक्षित कोष कम हो जाते है। और ये बैंक बैंक ऑफ इंग्लैण्ड से उधार लेकर अपना सुरक्षित कोष नही बढाते। वे या तो ऋण देना बन्द कर देते हैं या हुंडियो के दलालो को दिये गये ऋण, जो उनकी सुरक्षा की दूसरी पंक्ति होती है, वापिस ले लेते है। संघीय सुरक्षित कोष-प्रणाली (federal reserve system) में यह प्रथा है कि उसके सदस्य बैंक रिजर्व बैंको से फिर हुंडियां भुनाकर ऋण लेते है। इसलिये फेडरल रिजर्व बोर्ड जब बाजार मे ऋण-पत्र बेचता है और इस प्रकार अपने सदस्य बैंको के सुरक्षित कोषो का एक अंश ले लेता है, तब ये बैंक रिजर्व बैंको के पास अपनी कुछ हुंडियाँ ले जा सकते है और उन्हे फिर से भुनाकर अपने सुरक्षित कोष बढा सकते है। तब साख मे कमी न पडेगी और खुले बाजार की नीति का कोई प्रभाव नही पड़ेगा। हाल मे एक प्रथा बँध गई है कि रिजर्व बैंक से बडी मात्रा मे और लगातार ऋण नही लेना चाहिए। साथ ही एक सीमा भी बाँध दी गई है और प्रत्येक सदस्य बैंक उसी सीमा तक ऋण ले सकता है। जब फेडरल रिजर्व बैंक बाजार में ऋण-पत्र बेचता है, तब सदस्य बैंक यदि अपनी सीमा तक ऋण लिये है, तो वे उन ऋण-पत्रो को एकदम नही भुना सकते। वे अपने ऋण वापिस लेंगे और हुंडियाँ भी कम मात्रा मे खरीदेंगे, जिससे मुद्रा की दर ऊँची उठ जायगी। इसी प्रकार जब ऋण-पत्र खरीदे जाते है और खरीद का रुपया सदस्य बैंको के पास होता है और वे अपना कर्ज चुकाने मे उसे रिजर्व बैंको को देते है तब इस प्रकार सदस्य बैंको का ऋण कम हो जाता है और ग्राहको को ऋण देने मे वे अधिक उदार नीति ग्रहण कर सकते है। तब मुद्रा की दर अर्थात् ब्याज की दर कम हो जाती है। इस प्रकार संघीय सुरक्षित प्रणाली में खुले बाजार की नीति की उपयोगिता अधिक अच्छी तरह मालूम होने लगती है, यद्यपि वह उतनी पूर्ण और प्रभावकारी नही है जितनी कि इंग्लैण्ड मे। योरोप मे खुले बाजार की नीति प्रचलित नही है। कुछ दिनो से बैंक ऑफ़ फ्रांस ने खुले बाजार की नीति ग्रहण की

इंगलैन्ड में खुले बाजार की नीति।

अमेरिका में खुले बाजार की नीति।

। द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने के थोडे दिन पहले जर्मनी के रीश वैक अर्थात्
न्द्रीय वैंक को सरकारी ऋण-पत्रो के खरीदने और वेचने के सम्बन्ध मे कुछ
धिक अधिकार प्राप्त हुए थे।

इस प्रकार खुले वाजार की नीति द्वारा केन्द्रीय वैंक मुद्रा वाजार मे दृढता
स्थापित करने का एक साधन प्राप्त कर लेते है। जव अधिक मुद्रा की माँग होती
है, उदाहरण के लिये वडे दिन, होली या दिवाली पर, तव केन्द्रीय वैंक ऋण-पत्र
खरीदकर मुद्रा वाजार को रुपयो से भर सकता है। फिर, ऋण-पत्र खरीदकर अथवा
वेचकर केन्द्रीय वैंक सोने के आवागमनजनित परिणामो को प्रभावहीन वना सकता
है। जव देश मे सोने का आयात होता है, तव वैंको के सुरक्षित कोष वढ जाते है और
और वे चाहे तो अधिक मात्रा मे ऋण दे सकते है। परन्तु यदि केन्द्रीय वैंक को
यह ऋण फैलाने की नीति पसन्द नही है, तो वह वाजार मे ऋण-पत्र वेचेगा, वैंको के
सुरक्षित कोष कम कर देगा और इस प्रकार उन्हे ऋणो का विस्तार नही वढाने
देगा। यह सोने के आयात को 'प्रभावहीन' वनाना (sterilising) कहलाता
है। इसके विरुद्ध जव सोने का निर्यात होता है और वैंको के सुरक्षित कोष कम
हो जाते है, तव वे ऋणो को सकुचित करने की नीति ग्रहण कर सकते है। यदि वैंक
ऋणो में कमी नही चाहता, तो वह वाजार मे ऋण-पत्र खरीदेगा। इसे सोने को
ढकेलना (offsetting) कहते है। अन्त मे सकट काल मे और अकस्मात्
जव भय-ग्रस्त लोग अपना रुपया निकालने के लिये वैंको पर दौडते है और रुपये की
माँग एकाएक वढ जाती है, तव वैंको की हुडियाँ भुनाकर और ऋण-पत्र अधिक
मात्रा मे खरीदकर केन्द्रीय वैंक अन्य वैंको की सहायता कर सकता है। सन् १९३१-
—३२ मे जव अमेरिका के वैंको पर सकट आया तव फेडरल रिजर्व सिस्टम ने इस
तरीके का वहुत अधिक उपयोग किया और वैंको की सहायता की।

वैंक दर और खुले वाजार की नीति मे सम्बन्ध (Relation between Bank Rate and Open Market Policy)—यह प्रकट है कि वैंक दर और खुले
वाजार की नीति का प्रयोग पृथक-पृथक नही किया जा सकता।
एक का प्रभाव दूसरे के विना उतना अच्छा नही होगा,
जितना होना चाहिए। उदाहरण के लिये सभव है कि ऊँची
वैंक दर के परिणामस्वरूप साख में हमेशा कमी न हो।

वैंक दर और खुले वाजार की दर।

यदि अन्य सम्मिलित पूंजीवाले वैंको के पास अधिक रुपया है, तो वैंक दर ऊँची होने
पर भी वे कम दर पर ऋण देते जायँगे। इस प्रकार वैंक दर प्रभावहीन हो जायगा।
इस परिस्थिति में केन्द्रीय वैंक वाजार मे ऋण-पत्र वेचकर उनका अधिक रुपया खीच
लेगा। तव उन वैंको को ऋणो की मात्रा कम करनी पडेगी। इसी प्रकार यदि खुले
वाजार की नीति के साथ-साथ वैंक दर मे ही उपयुक्त परिवर्तन नही होते तो वह
प्रभावहीन हो सकती है। मान लो, साख नियत्रित करने के लिए केन्द्रीय वैंक ऋण-पत्र

बेचता है, परन्तु वह अपने बट्टे की दर नही बढ़ाता। तब सदस्य बैंक उन्हे फिर से भुना कर अपना सुरक्षित कोष भर सकते हैं। चूंकि केन्द्रीय बैंक ने बट्टे की दर नही बढ़ाई है और वह कम है, इससे वे उन ऋण-पत्र को तुरन्त भुना लेंगे। तब साख को सीमित करने की नीति असफल रहेगी। परन्तु ऋण-पत्र बेचने के साथ ही यदि बट्टा अथवा भुनाने की दर भी बढा दी जाय तो अन्य बैंक उन्हे भुनाने में कोई लाभ न देखेंगे, बल्कि वे अपने ऋण वापिस लेगे। इसलिये यदि बैंक दर और खुले बाजार की नीति का एक साथ प्रयोग न किया जाय और दोनो पर अलग-अलग अमल किया जाय तो उनकी सफलता मे सदेह है।

खुले बाजार की नीति का प्रयोग आजकल दो उद्देश्यो से किया जाता है। एक तो बैंक दर में होनेवाले परिवर्तनो को सहने के लिये मुद्रा बाजार को तैयार करने के उद्देश से और दूसरे बैंक दर को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये। बैंक दर बढाने के लिये ऋण-पत्र बेचे जाते हैं, जिससे कि ऊँची बैंक दर की घोषणा होने पर मुद्रा बाजार केन्द्रीय बैंक का अनुसरण करे। इसी प्रकार जब बैंक दर प्रभावहीन हो जाती है, तब खुले बाजार की नीति ग्रहण की जाती है, जिससे बैंक दर फिर प्रभावयुक्त हो जाय। आजकल यह अधिकाधिक माना जाता है कि मुद्रा बाजार में अस्थायी गड़बड़ी करने के लिये बैंक दर की नीति का उपयोग करना उचित नही है। बैंक दर के परिवर्तन के प्रभाव बहुत गंभीर और व्यापक होते है। इसलिये उसका उपयोग तभी करना चाहिये जब देश के आर्थिक जीवन में कोई स्थायी असामजस्य उत्पन्न हो जाय। इसलिये केन्द्रीय बैंक नियन्त्रण का सबसे अच्छी तरीका ऋण-पत्र बेचने और खरीदने की नीति समझते है।

(३) **सुरक्षित कोष के अनुपातों मे परिवर्तन** (Variation of Bank Reserve Rations)—'ट्रीटाइज ऑन मनी' ('Treatise on Money') नामक ग्रन्थ में लॉर्ड कीन्स (Lord Keynes) ने एक सुझाव रक्खा था कि केन्द्रीय बैंको को नियन्त्रण के सम्बन्ध में एक अधिकार और मिलना चाहिये। वह यह कि वे अपने सदस्य बैंको के सुरक्षित कोषो के अनुपातो में परिवर्तन कर सकें। ऐसे मौके आ सकते है, जब केन्द्रीय बैंको के लिये खुले बाजार की नीति ग्रहण करना सम्भव न हो। जब केन्द्रीय बैंक ऋण-पत्र बेचने या खरीदने का निश्चय करें तब सम्भव है कि उनकी कमी हो। फिर केन्द्रीय बैंकों के लिये हमेशा ऊँची कीमत पर ऋण-पत्र खरीदना और कम कीमत पर बेचना लाभकारी नहीं हो सकता। इसलिये अधिक अच्छा यह होगा कि केन्द्रीय बैंको को यह अधिकार मिल जाय कि कभी-कभी वे अपने सदस्य बैंको को यह आदेश दे सकें कि अपनी जमा रकम के अनुपात में उन्हे अधिक या कम सुरक्षित-कोष रखना चाहिये। उदाहरण के लिये भारत में रिजर्व बैंक के अन्तर्गत प्रामाणिक बैंको (scheduled banks) को कानून के अनुसार अपनी जमा का ५ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास रखना चाहिये। यदि रिजर्व बैंक कभी यह देखे कि उसके सदस्य बैंको के पास अधिक रुपया है और उसके द्वारा वे अपने ऋणो का विस्तार करनेवाले है, पर इस बात को

रिजर्व बैंक पसन्द नही करता तो उसे यह अधिकार होना चाहिये कि वह उनकी प्रतिशत जमा की दर बढा सके। मान लो, ५ प्रतिशत से बढाकर उसे ७ प्रतिशत कर सके। तव उनकी अधिक रकम का एक बडा अश जम जायगा और शायद वे अपनी जमा रकम भी अधिक न वढा सकेगे। अमेरिका मे सन् १९३५ के बैंकिग एक्ट के अनसार फेडरल रिजर्व सिस्टम के गवर्नरो का बोर्ड अपने सदस्य बैंको के सुरक्षित कोप की प्रतिशत जमा का अनुपात निश्चित हद तक बढ़ा सकता है। दो मौको पर अर्थात् अगस्त सन् १९३६ और मार्च सन् १९३७ मे ऋणो मे बहुत अधिक विस्तार होने लगा और उस पर नियन्त्रण रखने के लिये बोर्ड को सदस्य बैंको की जमा का अनुपात बढाना पडा। सन् १९३६ में न्युजीलैड के रिजर्व बैंक को भी व्यावसायिक बैंको के सुरक्षित अनुपातो को बढाने का अधिकार मिला। मेक्सिको, बेल्जियम इत्यादि के केन्द्रीय बैंको को भी इस प्रकार के अधिकार प्राप्त है।

साख का राशन (Rationing of Credit)—ऊपर बतलाये हुए तीन तरीको से केन्द्रीय बैंक बाजार मे साख की कुल मात्रा पर नियत्रण प्राप्त कर सकता है। परन्तु साख के कितने उपयोग हो सकते हैं, उन पर नियत्रण नही रख सकता। साख का राशन करके अर्थात् उसका वितरण सीमित करके वह स्टॉक एक्सचेंजो को दिये जाने वाले ऋणो को कम कर सकता है। जो बैंक सटोरियो को उदारतापूर्वक ऋण देता है, वह उनकी हुडियाँ नही भुनावेगा। अमेरिका मे सन् १९३४ के सिक्योरिटीज एक्सचेंज एक्ट के अनुसार फेडरल रिजर्व सिस्टम के बोर्ड ऑफ गवर्नर्स को यह अधिकार है कि वह स्टॉक एक्सचेज पर सट्टे के लिये दिये जानेवाले ऋणो को सीमित कर सकता है, जिससे साख का दुरुपयोग न हो। परन्तु केन्द्रीय बैंक इस नीति अथवा अधिकार का अधिक उपयोग नही करते।

नैतिक प्रभाव।

फिर "नैतिक प्रभाव" (moral persuation) द्वारा केन्द्रीय बैंक अपने सदस्य बैंको की ऋण नीति पर अप्रत्यक्ष रूप से काफी प्रभाव डालते हैं। केन्द्रीय बैंक और सदस्य बैंको मे बहुत घनिष्ठ सहयोग रहता है और सदस्य बैंक केन्द्रीय बैंक का अनुसरण करते है।

नियन्त्रण की सीमाएँ (Limits of Control)—अभी तक हमने उन तरीको पर विचार किया है, जिनके द्वारा केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार पर नियत्रण रख सकते है।

बैंक दर का प्रभाव कहाँ तक होता है।

परन्तु प्रत्येक तरीके में कुछ भयानक त्रुटियाँ है। बैंक दर मे परिवर्तन करने से हमेशा इच्छानुकूल परिवर्तन नही होगे। केन्द्रीय बैंक, बैंक दर में तो परिवर्तन कर सकता है। बैंक दर में परिवर्तन करने के फलस्वरूप बाजार की अन्य दरो में परिवर्तन नही होते, तो बैंको की ऋणो की मात्रा में परिवर्तन नही होगे।

प्रायः मुद्रा बाजार मे प्रचलित मुद्रा की दरो मे उचित सहयोग और समानता नही होती। लदन के मुद्रा बाजार मे यह प्रथा है कि बैंक जो मुद्रा दर लेते है, वह बैंक दर से २ प्रतिशत अधिक होती है और बैंको की मुद्रा दर कम से कम ५ प्रतिशत अवश्य होती है। इसलिये जब बैंक दर बढती है तो बैंको की मुद्रा दर भी बढ जाती है। परन्तु यदि बैंक दर ३ प्रतिशत से कम की जाय तो अन्य मुद्रा दरो मे उससे अधिक कमी न होगी। इसलिये केन्द्रीय बैंक मुद्रा दरो मे बढती तो करा सकता है, परन्तु उसकी कमी कराने की शक्ति बहुत सीमित है। इसका अर्थ यह होता है कि केन्द्रीय बैंक मुद्रा-स्फीति की प्रगति को तो रोक सकता है, पर मुद्रा की दर में कमी करके उसके सकुचन (deflation) को नहीं रोक सकता। इसमे यह शर्त अवश्य है कि बैंको द्वारा दिये जानेवाले ऋणो पर व्याज की दरो का प्रभाव पडता रहे। परन्तु ऐसा बहुधा नही होता। व्यवसायी जो ऋण लेते है, उन पर व्याज दर मे होनेवाले परिवर्तन का प्रभाव अवश्य पडता है, परन्तु ऋण का खर्च अर्थात् लागत अधिकतर व्यवसायी की कुल लागत का बहुत छोटा अश होता है। व्यवसायी की प्रधान चिन्ता तो आगे होनेवाले लाभ की दर पर रहती है। यदि वह देखता है कि कीमते बढ रही है, तो वह ऋण का खर्च कुछ अधिक होने के कारण ऋण लेना बन्द नही करेगा। यदि लाभ का भविष्य अच्छा नही है, तो बैंक दर मे कमी होने पर भी वह ऋण लेने को नही ललचावेगा। मदी के समय मे खासकर ऐसा होता है, क्योकि उस समय लाभ के बजाय हानि का ही डर अधिक रहता है। ऐसे समय मे व्याज की कोई भी दर उसे ऋण लेने को नही ललचावेगी।

खुले बाजार की नीति मे भी बडी-बडी कमजोरियाँ है। हम देख चुके है कि यदि इगलैण्ड मे बैंक ऑफ इगलैण्ड ऋण-पत्र खरीदता अथवा बेचता है, तो बैंको का सुरक्षित कोष बढेगा अथवा घटेगा। परन्तु सम्भव है कि अमरीका मे ऐसा न हो, क्योकि इगलैंड से वहाँ की प्रथा भिन्न है। अमेरिका मे बैंक फेडरल रिजर्व बैंको से उधार ले सकते है। यदि रिजर्व बैंक ऋण-पत्र खरीदते है, तो सदस्य बैंको को कुछ अतिरिक्त नकद रकम अवश्य मिलेगी। परन्तु उस रकम को वे रिजर्व बैंक का कर्ज चुकाने मे खर्च कर सकते है। तब उन बैंको के सुरक्षित कोष तो नही बढेंगे। फिर यह भी सभव है कि जब फेडरल रिजर्व बैंक ऋण-पत्र खरीदकर अन्य बैंको की नकद जमा बढाने का प्रयत्न कर रहे है, उसी समय डर के मारे जनता बैंको से रुपया निकालने लगे और अपने पास ही रखने लगे। तब भी बैंको के सुरक्षित कोष नही बढेंगे। सन् १९३२ मे अमेरिका मे ऐसा ही हुआ। लोग डर रहे थे कि बैंक फेल हो जायँगे और बडी मात्रा मे बैंको से अपना रुपया निकाल रहे थे। फेडरल रिजर्व बोर्ड ने उनकी नकद जमा बढाने के जो प्रयत्न किए, उनमें जनता के रुपये निकालने के कारण काफी बाधा पहुँची। यदि केन्द्रीय बैंक अन्य बैंको के सुरक्षित कोष बढा भी सके, तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि उन बैंको के ऋणो का भी विस्तार होगा। एक तो यह सम्भव है कि सकट का सामना करने के लिये बैंक अपनी नकद जमा बढाते जायँ। तब ऋणो मे बढ़ती नही होगी। दूसरे, यह सम्भव है

कि बैंक उधार देने को तैयार भी हो, पर व्यवसायी ऋण लेने को तैयार न हो। आप घोडे के सामने पानी रख सकते है, पर उसे जबर्दस्ती पिला नही सकते। इसी प्रकार यदि जनता ऋण लेने से डरती है, तो आप उसे जबर्दस्ती ऋण नही दे सकते। मंदी के समय में ऐसा ही होता है, जब लोगो को लाभ की आशा नही रहती। ऐसे समय में बैंको को ऋण फैलाना और लाभ पर अधिक पूंजी लगाना कठिन हो जाता है। परन्तु विना इस प्रकार के विस्तार के मदी भी दूर नहीं की जा सकती। इस प्रकार हम पहले के नतीजे पर पहुँचते है। केन्द्रीय बैंक मदी दूर नही कर सकते।

यदि हम सुरक्षित अनुपातो के परिवर्तनो की नीति की व्याख्या करें, तो इसी नतीजे पर पहुँचते है। यदि बैंको के पास नकद जमा अधिक है, तो सुरक्षित अनुपात बढाकर केन्द्रीय बैंक नकद जमा को प्रभावहीन बनाकर अर्थात् जमाकर बैंको की उदार ऋण-नीति को खतम कर सकता है। परन्तु जब सुरक्षित कोप कम होते है, तब केन्द्रीय बैंक सुरक्षित अनुपात को कम करके बैंको की सहायता कर सकता है। परन्तु इतना होने पर भी यदि व्यवसायी वर्ग को लाभ की आशा नही है अथवा मदी का डर है, तो वह ऋण नही लेगा।

ऊपर दिये गये कथन में काफी सत्य है। परन्तु यह कहा जाता है कि अत्यधिक मदी तभी होती है, जब पहले अत्यधिक लाभ का समय रहा हो। आखिर अत्यधिक विलास के ही कारण तो शरीर रोगी होता है। यदि अत्यधिक लाभ-काल के शुरू होते ही केन्द्रीय बैंक उस पर नियत्रण कर सकता है, तो वह मदी को भी वन्द कर सकता है। "यदि एक मोटरकार गड्ढे में गिर जाती है और आसानी से बाहर नही निकल सकती तो इसका अर्थ यह नही है कि होशियारी से चलाने पर उसे बीच सडक पर नही रखा जा सकता।"[1] परन्तु क्या प्रारम्भिक अवस्था में केन्द्रीय बैंक उपाय करे तो वे सफल हो सकते है। परन्तु यह हमेशा सम्भव नही होगा। आर्थिक परिस्थिति में जो परिवर्तन होते रहते है, उनके उपयुक्त आँकड़े प्राप्त करने में समय लगता है और केन्द्रीय बैंक जो उपाय करेगा, उनके प्रभावशील होने में भी समय लगेगा। परन्तु जब तक आँकडे इकट्ठे किये जायँ, उनके अध्ययन किये जायँ और उपयुक्त उपाय किये जायँ तब तक रोग जड पकड सकता है। आर्थिक अध्ययन और व्याख्या सरल काम नहीं है। यदि कीमतें गिरने की प्रवृत्ति दिखलाती है, तो उसका अर्थ यह नही होता कि मदी शुरू हो गई है। हो सकता है कि उत्पादन सम्बन्धी योग्यता बढने से कीमतें गिर रही है। यदि ऐसे समय में केन्द्रीय बैंक कीमतो को गिरने से रोकने का उपाय करे, तो वह अत्यधिक-लाभ-काल को उत्साह प्रदान करेगा। सन् १९२४-२९ में अमेरिका में ऐसा ही हुआ।

इसलिये कई अर्थशास्त्री अन्य तरीके ग्रहण करने की सलाह दे रहे है। यदि केन्द्रीय बैंक तथा अन्य बैंको में परस्पर सहयोग हो, तो काफी लाभ हो सकता है। यदि अन्य

---

[1] Report of the MacMillian Committee, p. 95.

नियन्त्रण के अन्य तरीके।

बैंक केन्द्रीय बैंक का नेतृत्व स्वीकार करके उसका अनुसरण करे तो साख नियत्रण सम्बन्धी बहुत-सी कठिनाइयां हल हो जायंगी। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति आ सकती है, जब बैंको के ऋण पर एक प्रकार का नियत्रण (qualitative control) आवश्यक हो जाय। कुछ देशो में केन्द्रीय बैंको को ऐसे अधिकार मिले है, जिनके अनुसार वे उन बैंको के खिलाफ उपाय कर सकते है, जो सट्टे के लिये अपने साधनो का बडा भाग ऋण के रूप मे देते है। कुछ लोग और भी कडी नीति चाहते हैं। उनका कहना है कि आर्थिक व्यवस्था में जो परिवर्तन होते है, उनका प्रधान कारण लाभ के लिए लगी हुई पूंजी की मात्रा में होनेवाले परिवर्तन होते हैं। इसलिये इस पूंजी की मात्रा पर सरकार का प्रत्यक्ष नियत्रण होना चाहिये।

परिशिष्ट

बैंक दर परिवर्त्तन के कारण होनेवाले प्रभावों पर टिप्पणी

(A Note on the Effect of Bank Rate Changes)

बैंक दर में होनेवाले परिवर्तनो का कीमतो और उत्पादन पर जो प्रभाव पडता है, उनके सम्बन्ध में कम से कम दो प्रकार की विचारधाराएँ हैं। पहला मत मि० हाटरे (Mr. Hawtrey) का है। वे इस बात पर विचार करते है कि अल्पकाल में ब्याज-दर में जो परिवर्तन होते है, उनका प्रभाव उन व्यवसायियो पर क्या होगा, जो बना हुआ अथवा अधबना हुआ माल रखे है। दूसरी विचारधारा के प्रवर्त्तक लार्ड कीन्स (Lord Keynes) है। उनका कहना है कि दीर्घकालीन ब्याज-दर में जो परिवर्तन होते है और उनका अचल पूंजी पर जो प्रभाव पडता है, वही प्रभाव अन्त में सब परिणामो का कारण होता है।

मि० हाटरे का मत है कि इस सम्बन्ध में तत्त्व की बात यह है कि इस परिस्थिति में 'व्यवसायियो' ('dealers') को चालू अथवा अधबने उत्पादक सामानो को रखने को तैयार रहना चाहिये। ये सामान प्राय अल्पकालीन ऋणो की सहायता से रखे जाते हैं। अल्पकालीन ब्याज-दर में जो परिवर्तन होगे, उनके कारण व्यवसायियो के पास इन मालो की मात्रा में भी परिवर्तन होगे। उससे कीमतो और उत्पादन में भी परिवर्तन होगे। यदि अल्पकालीन ब्याज-दर बढती है, तो ऋण लेने का खर्च भी बढेगा और ऋण की सहायता से जो माल रखा जाता है, उसका खर्च भी बढेगा। तब व्यव-

सायी अपने माल की मात्रा घटावेगे। वे उत्पादको से कम खरीद करेगे। जब उत्पादक देखेंगे कि बिक्री कम हो रही है, तो वे या तो कीमतें घटावेगे, जिससे व्यवसायी अधिक खरीदें या उत्पादन कम कर देगे। वे दाम कहाँ तक कम करेगे अथवा उत्पादन कितना कम करेगे यह बात उनकी लागत-रेखाओ के घुमाव पर निर्भर करेगी। उत्पादन कम करने से उत्पादन के कुछ साधन बेकार हो जाते है। इसलिये मुद्रा के रूप मे लोगो की आय कम हो जाती है, क्योकि या तो रूपया कमानेवालो की सख्या कम हो जाती है अथवा उनकी आय की दर घट जाती है। इससे माल की फुटकर बिक्री कम हो जायगी। जब बिक्री कम होती है तो व्यवसायी उत्पादको से और कम खरीदते है। इस प्रकार यह चक्र चलता है। जब माल की माँग कम होती है, तो उत्पादक भी अपनी अचल पूँजी की मात्रा नही बढाते। इसलिये लाभ पर लगनेवाली पूँजी के बाजार मे मदी आ जाती है। इस प्रकार कीमतो और उत्पादन मे मदी आती है।

कीन्स का मत है कि अल्पकालीन व्याज-दर में परिवर्तन होने से तथा अचल-पूँजी की चालू अथवा कार्यशील मात्रा मे परिवर्त्तन होने से आर्थिक व्यवस्था पर कोई प्रभाव नही पडता। बल्कि दीर्घकालीन व्याज-दर और अचल पूँजी की मात्रा में जो परिवर्तन होते है, केवल उनका प्रभाव आर्थिक-व्यवस्था पर पडता है। चालू पूँजी की माँग पर अल्पकालीन व्याज-दर के परिवर्तनो का प्रभाव जल्दी नही पडता। वह तो व्यापक सामान्य परिस्थिति का प्रभाव होता है और यह परिस्थिति उत्पादको की अचल पूँजी की माँग पर निर्भर होती है। इसलिये वह अपना ध्यान दीर्घकालीन दरो पर ही देता है। जब बैंक-दर में किसी प्रकार का परिवर्तन होता है, तब व्याज की दीर्घकालीन दरो में भी उसी प्रकार का परिवर्तन होता है। उसका कारण यह है कि जब अल्पकालीन दर बढती है, तब दीर्घकालीन दर तो स्थिर रहती है, पर अल्पकालीन ऋण-पत्र आकर्षक हो जाते है और लोग तथा बैंक उनमें रुपया लगाने को तैयार रहते है। ऐसे लोग दीर्घकालीन ऋण-पत्र बेचकर अल्पकालीन ऋण-पत्र खरीदें गे। इससे दीर्घकालीन ऋण-पत्र की कीमत गिरेगी और दीर्घकालीन दरें बढेंगी। इसके सिवा लोगो की व्याज-दर बढने का डर होगा और वे दीर्घकालीन ऋण-पत्र इस डर से बेचेंगे क्योकि उनकी कीमत अधिक गिरने का डर है। परन्तु अल्पकालीन ऋण-पत्रो का मूल्य गिरने का डर नही है, क्योकि वे अपने असली मूल्य पर शीघ्र चुका दिये जायँगे। इससे लोग उन्हे खरीदेंगे। इसका फल यह होगा कि दीर्घकालीन व्याज की दर बढेगी।

दीर्घकालीन-दरो मे परिवर्तन का प्रभाव पूँजी-बाजार पर पडता है। अचल पूँजी सम्बन्धी साधनो (fixed capital goods) के लिये प्राप्त होनेवाली रकम की मात्रा उन साधनो से प्राप्त होनेवाले लाभ तथा दीर्घकालीन व्याज दर पर निर्भर होगी। यदि लाभ की दर वही रहती है, तो दीर्घकालीन व्याज-दर जितनी ऊँची रहेगी, उतना ही कम आकर्षक नई पूँजी लगाना अथवा वर्त्तमान अचल पूँजी का बदलना हो जाता है। फल यह होगा कि उत्पादक अचल पूँजी पर कम खर्च करेंगे।

अचल पूंजी का अर्थात् उत्पादक मशीनो आदि का व्यवसाय भी कम हो जायगा अ
मुद्रा की कुल आय में कमी होगी। तब लोग अपने खर्च मे कमी करेगे। तब दैि
खर्च के वस्तुओं के व्यवसाय में मन्दी होगी और बेकारी बढेगी। चारो तरफ की
गिरेगी और उत्पादन कम होगा। पर जब व्याज दर कम होगी, तब इसका उ
होगा।

ध्यान रहे कि इन मतो को घटनाओ की तराजू पर तोलकर उन्हे सत्य सि
करना सभव नही हैं। इन दोनों विचारधाराओं की सत्यता इस बात पर नि
करती है कि विभिन्न आर्थिक परिस्थितियों में उत्पादक किस प्रकार काम करें
इन भविष्य मे आनेवाली आर्थिक परिस्थितियो का हमें ज्ञान नही रहता। फिर व्या
दर मे परिवर्तनो के साथ-साथ कीमतो और व्यवसाय में वैसा परिवर्तन नही होत
जैसा कि दोनो सिद्धान्तो में मान लिया गया है। फिर व्याज कई साधनो से केव
एक है, जो नई पूंजी पर प्रभाव डालता है, चाहे वह पूंजी चालू हो या अचल। फिर य
भी ध्यान रखना चाहिए कि ये दोनो साधन एक दूसरे से स्वतत्र नही है। बैंक-द
मे परिवर्त्तन होने से विक्रेता जो माल अपने पास रखते है। उसकी मात्रा पर तथ
अचल-पूंजी की मात्रा दोनो पर प्रभाव पड सकता है। दोनो मतो में केवल इतन
अन्तर है कि कभी यह मत जोर पकड़ता है, कभी वह अधिक प्रभावशाली होता है

अध्याय ४१

कुछ केन्द्रीय बैंक

(Some Central Banks)

(क) बैंक आफ इंग्लैन्ड—इस बैंक की स्थापना सन् १६९४ मे हुई थी। इसक
विधान सन् १८४४ के बैंक चार्टर एक्ट के अनुसार बना था। सन् १९४६ के पहले
केन्द्रीय बैंको में केवल यही एक बैंक था, जिसकी सब पूंजी हिस्सेदारो की थी और
इसके हिस्सेदार ही सब डायरेक्टरो को चुनते थे। जब सन् १९४५ में इग्लैण्ड मे
मजदूर सरकार की स्थापना हुई तो उसने महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि बैंक
ऑफ इग्लैण्ड का 'राष्ट्रीय-करण' एक कानून द्वारा किया। इस कानून के अनुसार
बैंक राष्ट्रीय सस्था हो गई और उसके हिस्सेदारो को ३ प्रतिशत व्याज के सरकारी
ऋण-पत्र मिले, जो अपने मूल्य पर (at par) ५ अप्रैल सन् १९६६ को अथवा

उसके वाद चुकाये जायँगे। चूंकि वैंक १२ प्रतिशत की दर से हिस्सेदारों को मुनाफा दे रहा था, इसलिये उन्हे प्रति १०० पौड के हिस्से के लिये ४०० पौंड के ऋण-पत्र दिये गये है। अब वैंक के गवर्नर और डायरेक्टर सरकार द्वारा नियुक्त होते है। गवर्नर ५ वर्ष के लिये नियुक्त होता है ओर डायरेक्टर ४ वर्ष के लिये नियुक्त होते है। वैंक दो भागो मे विभाजित है—नोट अथवा चलन विभाग (Issue Department) और व्यवसाय अथवा वैंकिग विभाग (Banking Department) मुद्रा विभाग निश्चित प्रणाली (fixed fiduciary system) से नोट चलता है। प्रारम्भ मे वैंक को यह अधिकार था कि एक करोड १४ लाख पौड तक के नोट वह विना सुरक्षित सोना रखे चला सकता था। परन्तु यदि इस सख्या से अधिक के नोट चलाता, तो उस अधिक सख्या के मूल्य के बराबर सोना भी रखना पडता था अर्थात् शत-प्रतिशत सोना सुरक्षित कोप मे रखना पडता था। एक अधिकार यह भी था कि यदि किसी वैंक को नोट चलाने का अधिकार प्राप्त है ओर वह नोट चलाना या तो बन्द कर देता है अथवा उससे यह अधिकार छीन लिया जाता है, तो जितनी मात्रा मे नोट बन्द होगे, उसकी दो-तिहाई मात्रा मे वैंक ऑफ इग्लैण्ड अपने विश्वसनीय नोटो (fiduciary eortion) की मात्रा वढा सकता था। इस अधिकार के वल पर सन् १९२३ मे विश्वसनीय नोटो की मात्रा २७,५०,००,-००० पौड कर दी गई। सन् १९२८ के करेन्सी एक्ट के अनुसार विश्वसनीय मुद्रा की मात्रा वढाकर २६,००,००,००० पौड कर दी गई। उस कानून में एक शर्त यह भी लगा दी गई कि सरकार की अनुमति से यह मात्रा वढाई जा सकती है और सन् १९३१ में वढाकर वह २७,५०,००,००० पौड कर दी गई। इस समय विश्वसनीय मुद्रा (fiduciary issue) की मात्रा सन् १९३९ के कानून के अनुसार १४,५०,००० पौंड है। पहले वैंक ५ पौड से कम के नोट नही चला सकता था। परन्तु सन् १९२८ के कानून के अनुसार उसे १ पौं० तथा १० शि० के नोट चलाने की भी आज्ञा मिल गई। नोटो के चलाने से जो फायदा होता है, वह खर्च काटने के वाद सरकार को दे दिया जाता है।

वैंकिग या व्यवस्था विभाग वैंक सम्वन्धी सव काम करता है। वह सरकार की, अन्य वैंको की तथा जनता की रकम जमा करता है, देश का सुरक्षित कोप अन्तिम रूप में रखता है, वैंक दर निश्चित करता है और प्रति हफ्ता अपनी आय-व्यय सम्वन्धी स्थिति का विवरण प्रकाशित करता है। वैंक का कार्य 'डायरेक्टरो की समिति' (Board of directors) चलाती है। इस समिति में एक गवर्नर, एक सहायक गवर्नर तथा २६ सदस्य होते है। इन सवको सरकार नियुक्त करती है और उसी के आदेश के अनुसार ये लोग काम करते है। गवर्नर तथा सहायक अथवा उप-गवर्नर की नियुक्ति पाँच वर्ष के लिये होती है। परन्तु कार्यकाल समाप्त होने पर उनकी नियुक्ति फिर से हो सकती है। वैंक के पिछले गवर्नर जिनका नाम

सर मांटेग्यू नारमन था, अपने पद पर १७ वर्ष तक रहे। यह एक अलिखित नियम सा था कि बडी-बडी निजी बैंकिग फर्मों को छोडकर किसी बैंक का सदस्य डा रेक्टर नही हो सकता था। डायरेक्टर समिति की बैठक प्रति बृहस्पतिवार को होती है। बैठक मे समिति बैंक दर निश्चित करती है, अर्थात् बैंक प्रथम श्रेणी के बिलो को किस निम्नमत दर पर भुनावेगा ओर साप्ताहिक विवरण तैयार करत है। बैंक की आठ प्रान्तीय शाखाएं है।

बैंक विवरण (Bank Return)—बैंक विवरण प्रति गुरुवार को प्रकाशित होता है और वह मुद्रा बाजार की स्थिति का महत्वपूर्ण सूचक होता है। उसे लन्दन के मुद्रा बाजार का मापक-यंत्र (Barometer) कहा जाता है।

१७ सितम्बर १९४७

चलन या मुद्रा विभाग (Issue Department)

दिये गये नोट		सरकारी ऋण	११,०१५,१०० पा०
चलन में	१३८२,७६०,१६१	अन्य सरकारी ऋण-पत्र	१४३८,२६१,७२२
वैंकिंग विभाग में	६७,४८७,६७२	अन्य ऋण-पत्र .	७१२,०२१
		चाँदी के सिक्के .	११,१५७
		चलाई हुई विश्वसनीय नोट रकम की मात्रा	१४५०,०००,०००
		सोने के सिक्के ओर धातु	२४७,८३३
	१४५०,२४७,८३३		१४५०,२४७,८३३

व्यवसाय या वैंकिंग विभाग (Banking Department)

हिस्सेदारो की पूंजी	१४,५५३,००० पा०	सरकारी ऋण-पत्र	३१२,४२४,७०५
शेष	३,९५१,१२१	अन्य ऋण-पत्र बट्टा ओर ऋण	१२,३८३,५५०
सार्वजनिक जमा . .	९,६०७,०९०	ऋण-पत्र	१७,७२९,३६२
			३०,११२,९१२
अन्य जमा			
वैंको की जमा . . .	२९०,६२९,९४९	नोट	६७,४८७,६७२
अन्य खाते . . .	९३,६४४,५८९	सोने ओर चांदी के सिक्के	२,३६०,४६०
	३८४,२७४,५३८		
	४१२,३८५,७४९		४१२,३८५,७४९

चलन विभाग का प्रधान काम नोट चलाना है। बाई ओर के खाने से मालूम होता है कि विभाग ने कुल कितनी मात्रा मे नोट चलाये। 'चलन मे' नोटो से उन नोटो की मात्रा मालूम होती है, जो या तो जनता के हाथ मे है या बैंको के सुरक्षित कोष में है। बैंकिग विभाग मे जो नोट है, वे इस विभाग की सुरक्षित नकद जमा है। उस विभाग के विवरण की दाहिनी ओर वह जमा दिखाई गई है। इन दायित्वो के बदले दाहिनी ओर बैंक के आदेय दिखाये गये है। "सरकारी ऋण" के नाम से जो रकम दिखाई गई है, वह बहुत पुराना ऋण है। विलियम तृतीय के राज्यकाल मे जब बैंक स्थापित हुआ था, तब उसकी सारी पूंजी सरकार को ऋण के रूप मे दे दी गई थी। उसके बाद का खाना "अन्यसरकारी ऋण-पत्रो" का है। उसमे प्रधानत. सरकारी बिल रहते है। यदि बैंक किसी अन्य सरकारी ऋण-पत्र को रखना चाहता है, तो वह भी इसी मे शामिल रहेगा। उसके बाद 'अन्य ऋण-पत्र' आते है। इनमे देशी और विदेशी बिल शामिल रहते हैं। युद्ध के बाद बैंक के पास कुछ चाँदी जमा करके रखी गई है। परन्तु चाँदी की यह मात्रा कम हो रही है, क्योकि इसका उपयोग सहायक अथवा पूरक सिक्को के बनाने मे हो रहा है। इन सबको मिलाकर विश्वसनीय मुद्रा बनती है, जिसकी मात्रा १,४५,००,००,००० पोण्ड थी। इस ऊँची सख्या का कारण यह है कि युद्ध आरम्भ होने के बाद सोने के सब सिक्के चलन से हटा दिये गये और उनके स्थान पर बैंक ने एक पौंड और १० शिलिंग के नोट चलाये।

बैंकिग विभाग में दायित्व के खाने में पहला नाम "हिस्सेदारी की पूंजी" है। इसमें वह पूंजी शामिल है, जो हिस्सेदारो ने दी है और जो अब सरकार के हाथ में है। 'शेष' में अविभाजित लाभ आता है। इसकी रकम कभी ३०,७०,००० पौ० से कम नही हो पाती। इसके बाद 'सार्वजनिक जमा' आती है। इसमे वह रकम शामिल रहती है, जो विभिन्न सरकारी विभागो के नाम जमा रहती है।" "बैंको की जमा" में सम्मिलित पूंजीवाले बैंको की जमा रकम शामिल रहती है। 'बैंको की जमा मे' जो परिवर्तन होते रहते है, उनसे व्यवसायिक बैंको के सुरक्षित कोषो का पता चलता है। इस प्रकार वह मुद्रा बाजार की स्थिति महत्वपूर्ण सूचक है। उससे यह पता चलता है कि बैंको के पास कम रुपया है अथवा अधिक। 'अन्य जमा' में विदेशी केन्द्रीय बैंको की जमा, हुडियाँ स्वीकार करनेवाली और भुनानेवाली गद्दियो की जमा तथा भारतीय और औपनिवेशिक सरकारो की जमा शामिल रहती है।

आदेय के खाने में पहली सूची 'सरकारी ऋण-पत्र' है। इनमें सरकारी बिल, सरकार को दिये गये ऋण तथा वे ऋण-पत्र शामिल रहते है, जिन्हे बैंक खरीदता है, 'बट्टा' में वे बिल अथवा हुडियाँ शामिल रहती है, जिन्हे हुडियो के दलाल बैंक में भुनाने के लिये ले जाते हैं। 'ऋण' अथवा पेशगी (Advances) में वे ऋण शामिल

रहते है, जो श्रेष्ठ ऋण-पत्रों की जमानत पर हुंडियों के दलालो अथवा स्थायी ग्राहको को दिये जाते है। इन ऋणो पर बैंक दर से ½ प्रतिशत अधिक व्याज लेता है। जब मुद्रा बाजार में नकद रुपयो की कमी होती है तथा हुडियो के दलालो के पास भी रुपया नही रहता, तब वे बैंक के पास अस्थायी ऋणो के लिये जाते है। उस समय 'बट्टा' और पेशगी सम्बन्धी रकम बढ जाती है। उसके बाद 'ऋण-पत्र' में एक तो वे हुडियाँ होती है, जो बैंक खुद खरीदता है और दूसरे भारतीय, औपनिवेशिक तथा अन्य सरकारो के ऋण शामिल रहते है। 'नोट' बैंक की नकद रोकड होते है और नोट तथा 'सोने और चाँदी के सिक्को' को मिलाकर बैंक का सुरक्षित कोष का कुल जमा (सार्वजनिक तथा अन्य प्रकार की) के साथ जो प्रतिशत अनुपात होता है, उसे 'अनुपात' कहते है और उससे बैंक की दृढ स्थिति का पता चलता है। जब अनुपात ऊँचा रहता है, तब हमे बैंक दर के गिरने की आशा करनी चाहिए। जब वह नीचा या कम रहता है, तब बैंक दर के बढने की आशा रहती है।

बैंक ऑफ इगलैण्ड मुद्रा-बाजार पर बैंक दर तथा खुले बाजार की नीति के द्वार नियत्रण रखता है। बैंक दर वह न्यूनतम दर होती है, जिस पर विनिमय की पहले दर्जे की हुडियाँ भुनाता है। वह प्रति गुरुवार को डायरेक्टर समिति की बैठक के बाद प्रकाशित होती है। इस नियम अथवा प्रथा मे केवल एक अपवाद १९ सितम्बर सन् १९३१ में हुआ था, जब कि स्वर्णमान त्यागने के बाद बैंक दर शनिवार को बढाई गई थी यद्यपि बैंक दर न्यूनतम दर होती है, तथापि अपने विशेष ग्राहको का काम बैंक उससे भी कम दर पर कर सकता है अथवा उसकी हुंडी को दूसरी बार भुनाने के लिये अधिक दर ले सकता है, जिससे इस प्रथा को प्रोत्साहन न मिले। बैंक दर के सिवा एक दर और होती है। इसे 'लॉमबर्ड-दर' कहते है। यह बैंक दर से प्राय १ प्रतिशत अधिक होती है और वह स्टॉक एक्सचेंज पर बिकनेवाली तथा उस प्रकार की अन्य सिक्योरिटीज की जमानत पर दिये गये ऋणो पर ली जाती है तथा उसकी मियाद सात दिन से लगाकर तीन महीने तक रहती है। बट्टे की जो बाजार दर रहती है, बैंक दर उससे हमेशा अधिक रहती है, इसलिये बाजार प्राय बैंक दर फिर से भुनाने नही जाता। जब हुडियो के दलालो के पास रुपया नही रहता और उन्हे बैंको का तत्काल ऋण चुकाना होता है, केवल तभी वे केन्द्रीय बैंको से ऋण लेते है।

(ख) संघीय सुरक्षित कोष की प्रणाली (Federal Reserve System)—कई दृष्टियो से फेडरल रिजर्व सिस्टम अपने ढग का निराला सगठन है। यह एक विकेन्द्रित प्रणाली अथवा सस्था है। इसमें एक केन्द्रीय बैंक के स्थान में बारह बैंक है, पर वे एक सगठन के नियत्रण में है। ससार के महत्वपूर्ण देशो ने बैंको के सम्बन्ध में वर्षो जो अनुभव प्राप्त किये है, उन्ही के आधार पर इस प्रणाली का विकास हुआ है। इसलिये केन्द्रीय बैंको के सम्बन्ध में हाल में जो अनुभव प्राप्त हुए है, वे सब इस प्रणाली में निहित है।

फेडरल रिजर्व सिस्टम का प्रारम्भ समझने के लिये अमेरिका में सन् १९१३ के पहले जो वैंकिग सम्वन्धी परिस्थितियाँ थी, उनका समझना आवश्यक है। वैंको का सगठन तथा नियत्रण कई प्रकार के कानूनो के आधार पर था। वैंको मे आपस मे सहयोग नही था और मनमाने तरीको से काम होता था। यदि एकाएक मुद्रा सम्वन्धी कोई सकट आ जाय तो उसका सामना करने के लिये कोई सगठित तरीका और एजेंसी न थी। प्रत्येक वैंक को सुरक्षित कोष मे काफी रुपया रखना पडता था। अथवा ऐसा माना जाता था कि प्रत्येक वैंक के सुरक्षित कोष मे काफी रुपया है। परतु सकटकाल मे वह अप्राप्य रहता था। सबसे बडी बात तो यह थी कि मुद्रा प्रणाली बिलकुल वेलोचदार थी। केवल राष्ट्रीय वैंक नोट चला सकते थे और उसमे शर्त यह रहती थी कि उन्हे काम्पट्रोलर ऑफ करेंसी अर्थात् प्रधान मुद्रा आफीसर के पास सरकारी वाड जमा करने पडते थे। इसलिये नोटो के चलन की मात्रा मे घटी या वढी व्यवसाय की माँग के अनुसार न होकर सरकारी ऋणो की कीमतो मे होनेवाले परिवर्तनो के अनुसार होती थी। इसलिये देश की वैंकिग व्यवस्था मे प्राय: सकट आते रहते थे। सन् १९०७-८ मे जो इस प्रकार सकट आया था, वह काफी महत्वपूर्ण था। इस प्रकार की परिस्थितियो मे सुधार करने के लिये सन् १९१३ मे फेडरल रिजर्व सिस्टम का सगठन किया गया। इस सगठन के कार्य वतलाते हुए उसकी भूमिका मे लिखा गया है कि उसका नाम "लोचदार मुद्रा प्रणाली की व्यवस्था करना, व्यावसायिक विलों को फिर से भुनाने की सुविधाएँ देना, अमेरिका में वैंकिग व्यवस्था पर दृढ नियन्त्रण रखना तथा अन्य कार्य करना है।"

फेडरल रिजर्व सिस्टम मे वारह रिजर्व वैंक तथा एक फेडरल रिजर्व वोर्ड है। पूरे सयुक्तराज्य को वारह जिलो[1] में वाँट दिया गया है। प्रत्येक जिले में एक वैंक है। प्रत्येक रिजर्व वैंक के अन्तर्गत जिले भर के वैंक है, जिन्हे 'सदस्य वैंक' कहते है। जो वैंक सघ के कानूनो के अनुसार वने है, उन्हे राष्ट्रीय वैंक कहते है। उनका सदस्य वैंक होना आवश्यक है। राज्यो के वैंक और ट्रस्ट भी सदस्य हो सकते है, पर उनका फेडरल रिजर्व एक्ट के अनुसार सगठित होना आवश्यक है। प्रत्येक सदस्य वैंक ने अपनी प्राप्त पूंजी तथा सुरक्षित कोष का ६ प्रतिशत भाग दिया। इस प्रकार रिजर्व वैंको की पूंजी वनी। सदस्य वैंको की सख्या लगभग ९,००० है। प्रत्येक रिजर्व वैंक के ९ डायरेक्टर होते है। इनमें से तीन फेडरल रिजर्व वोर्ड द्वारा नियुक्त किये जाते है। इन तीन में से एक डायरेक्टर समिति का अध्यक्ष होता है। वाकी छ डायरेक्टर सदस्य वैंको द्वारा चुने जाते है। छ. मे से एक डायरेक्टर का प्रत्यक्ष सम्वन्ध उद्योग, व्यवसाय अथवा कृषि के साथ होना चाहिये।

---

[1] वारह जिलो के नाम ये है—वोस्टन, न्यूयार्क, फिलाडेल्फिया, क्लीवलैंड, रिचमाड, अटलाटा, चिकागो, सेंटलुई, मिनिपोलिस, कासस सिटी, डालास और सान फ्रासिसको।

रिजर्व बैंक के हिस्से खरीदने के साथ-साथ प्रत्येक सदस्य बैंक को यदि वह केन्द्रीय रिजर्व शहर[1] मे है, अपनी चालू जमा (demand deposit) का १३ प्रतिशत और समय जमा (time deposit) का ३ प्रतिशत रिजर्व बैंक मे जमा रखना पड़ता है। यदि वह रिजर्व शहर मे है, तो चालू जमा का १० प्रतिशत और समय जमा का ३ प्रतिशत रखना पड़ेगा। और यदि मुफस्सिल बैंक है, तो चालू अर्थात् मांग जमा का ७ प्रतिशत और समय जमा का ३ प्रतिशत रिजर्व बैंक मे रखना पड़ेगा। फेडरल रिजर्व बोर्ड का यह अधिकार है कि सकट काल मे कुछ समय के लिये इन शर्तों को स्थगित कर सकता है। इसमे शर्त यह रहती है कि कानून द्वारा आवश्यक सुरक्षित कोष मे जितनी कमी आगई हो, उसी हिसाब से बोर्ड एक क्रमश बढ़ता हुआ कर लगावेगा। प्रत्येक रिजर्व बैंक को जमा के अनुपात मे ३५ प्रतिशत सुरक्षित कोष सोने अथवा कानूनग्राह्य मुद्रा के रूप मे रखना पड़ता है।

फेडरल रिजर्व बैंक दो प्रकार के नोट चला सकते है। एक फेडरल रिजर्व बैंक नोट और दूसरे फेडरल रिजर्व नोट। फेडरल रिजर्व बैंक सरकारी ऋण-पत्र सरकारी खजाने में जमा कर देते है। तब उन ऋण-पत्रो के मूल्य के बराबर फेडरल रिजर्व नोट चला सकते है। ये नोट राष्ट्रीय बैंक नोटो[2] के बदले मे चलाये गये थे। इनके साथ-साथ रिजर्व बैंक फेडरल रिजर्व नोट चला सकते है। पर उन्हे इन नोटों के मूल्य के ४० प्रतिशत मूल्य के बराबर सोना सुरक्षित रखना पड़ता है। फेडरल रिजर्व बोर्ड की अनुमति से यह अनुपात कम किया जा सकता है। परन्तु जितना कम किया जायगा, उसी हिसाब से एक क्रमश बढ़ता हुआ कर भी लगाया जायगा।

फेडरल रिजर्व बोर्ड का काम पूरी व्यवस्था पर नियन्त्रण रखना और उसकी देख-रेख करना था। इसमें आठ व्यक्ति होते थे। इनमे से एक सरकारी खजाने का सेक्रेटरी होता था और दूसरा मुद्रा का आफिसर (Comptroller of Currency)। ये दोनो व्यक्ति अपने पद के कारण बोर्ड के सदस्य होते थे। शेष छ सदस्यो को राष्ट्रपति दस वर्ष के लिये सीनेट की अनुमति से नियुक्त करता था। बोर्ड की पूरी बैंकिंग व्यवस्था पर नियन्त्रण रहता था। वह प्रत्येक रिजर्व बैंक अथवा सदस्य बैंक के हिसाब की जाच कर सकता था, किसी भी रिजर्व बैंक का कार्य स्थगित कर सकता था, प्रत्येक रिजर्व बैंक की बट्टे की दर परिवर्तित और निश्चित कर सकता था, खुले बाजार की नीति पर नियन्त्रण लगा सकता था और आवश्यकता पड़ने पर कानून द्वारा आवश्यक सुरक्षित कोष की मात्रा स्थगित कर सकता था। बोर्ड की सहायता के लिये एक फेडरल एडवाइजरी

---

[1] न्यूयार्क तथा शिकागो शहर केन्द्रीय रिजर्व शहर है। बाकी दस शहर केवल रिजर्व शहर है।

[2] मार्च सन् १९३३ में सकट के समय फेडरल रिजर्व बैंक के नोट चलाने का अधिकार बढ़ा दिया गया था।

कौंसिल होती थी, जिसमें बारह सदस्य होते थे। प्रत्येक रिजर्व बैंक के लिये एक सदस्य होता था। ये सदस्य बोर्ड को बट्टे की दर, नोट, ऋण इत्यादि के सम्बन्ध मे सलाह देते थे।

यह विधान सन् १९१३ के फेडरल रिजर्व एक्ट के अनुसार था। परन्तु सन् १९३५ के बैंकिग एक्ट ने फेडरल सिस्टम मे कुछ परिवर्तन किये है। फेडरल रिजर्व बोर्ड का नाम अब फेडरल रिजर्व सिस्टम के गवर्नरो का बोर्ड (Board of Governors of the Federal Reserve System) हो गया है। गवर्नर और उप-गवर्नर को अध्यक्ष (Chairman) ओर उपाध्यक्ष (Vice-chairman) कहते है। उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति चार वर्ष के लिये करता है। अब गवर्नरो के बोर्ड मे ९ सदस्य होते है। उनको राष्ट्रपति सीनेट की अनुमति से चौदह वर्ष के लिये नियुक्त करता है। अब सरकारी खजाने का सेक्रेटरी तथा मुद्रा-आफीसर बोर्ड के सदस्य नही होते हैं। उक्त कानून के अनुसार एक खुले-बाजार-नीति सम्बन्धी कमेटी (Open Market Committee) भी नियुक्त होती है। इसमें गवर्नर बोर्ड के ७ सदस्य तथा रिजर्व बैंको के ५ प्रतिनिधि होते हैं। रिजर्व बैंक अपने प्रतिनिधि चुनते हैं। यह कमेटी खुले-बाजार-नीति सम्बन्धी कार्यो पर नियन्त्रण रखती है।

१९३५ के बैंकिग एक्ट के अनुसार प्रत्येक बैंक का एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष होता है। ये दोनो बैंक के प्रधान कार्यकर्त्ता होते हैं और इनकी नियुक्ति पॉच वर्ष के लिये होती है। इसकी नियुक्ति फेडरल रिजर्व सिस्टम के बोर्ड ऑफ गवर्नरो की स्वीकृति से होती है। इस प्रकार रिजर्व बैंको के ऊपर गवर्नर-बोर्ड का नियन्त्रण काफी बढ गया है।

४० प्रतिशत मूल्य के बराबर सोना सुरक्षित रखकर फेडरल रिजर्व नोट चलाये जा सकते हैं। जून सन् १९४५ में काग्रेस ने एक कानून पास किया, जिसके अनुसार अब यह अनुपात घटाकर २५ प्रतिशत कर दिया गया है। सदस्य बैंको के सुरक्षित कोषो की मात्रा मे बोर्ड ऑफ गवर्नर परिवर्तन कर सकता है। परन्तु वह उन्हे कम नही कर सकता ओर न दुगुने से अधिक बढा सकता है। अब रिजर्व बैंक स्थावर सम्पत्ति (real estates) की जमानत पर कर्ज दे सकता है, परन्तु वह ऋण स्थावर सम्पत्ति के मूल्य से आधे से अधिक न हो और पॉच वर्ष मे अदा हो जाना चाहिये। ऐसे ऋणो की कुल मात्रा किसी भी परिस्थिति मे बैंक की पूंजी तथा शेष धन के जोड मे अथवा समय तथा बजट जमा के जोड से (इनमे जो भी अधिक हो उससे) अधिक नही होना चाहिये। अब रिजर्व बैंक चार महीने के लिये रुक्का या दस्तावेज पर भी ऋण दे सकते हैं और उस के ब्याज में १ प्रतिशत का ½ जुरमाने के रूप में जोड सकते है। इन परिवर्तनो के कारण अब नियत्रण अधिक केन्द्रीभूत हो गया है और अर्थव्यवस्था में अधिक लोच आ गई है।

(ग) **बैंक ऑफ फ्रान्स (The Bank of France)**—बैंक ऑफ फास की स्थापना सन् १८०० में नेपोलियन बोनापार्ट द्वारा हुई थी। सब केंद्रीय बैंको में शायद इसका सगठन तथा व्यवस्था सबसे सरल है। यह बैंक पहले एक गैर-सरकारी सस्था थी। इसकी पूंजी गैर-सरकारी हिस्सेदारो द्वारा दी गई थी। सन् १९४५ में ब्रिटिश सरकार के समान फ्रास की सरकार ने भी एक कानून बनाया, जिसके द्वारा बैंक ऑफ फ्रास तथा चार अन्य व्यावसायिक बैंको का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। बैंक का प्रबन्ध एक जनरल कौसिल को सौप दिया गया। कौसिल मे एक गवर्नर तथा दो उप-गवर्नर होते है। इनकी नियुक्ति राष्ट्र के प्रेसिडेन्ट द्वारा होती है।

जनरल कौसिल मे बीस सदस्य होते है। इनमे से वित्त मत्री, अर्थमत्री तथा औप-निवेशिक मत्री प्रत्येक एक-एक सदस्य की नियुक्ति करते है। प्रत्येक छ व्यावसायिक कृषि, औद्योगिक और मजदूर सगठन तीन-तीन नामो की एक सूची वित्त मत्री के पास भेजते है और इन सूचियो में से वह छ सदस्य नियुक्त करता है। नेशनल इकॉनामिक कौसिल, सेविंग्स बैंको की केन्द्रीय कमेटी तथा बैंक ऑफ फ्रास के कार्यकर्त्तागण तीन सदस्यो का निर्वाचन करते है। दो सदस्यो का निर्वाचन बैंक के हिस्सेदार एक साधारण सभा में करते है और छ सदस्य सरकार की विभिन्न आर्थिक और वैत्तिक सस्थाओ के पदाधिकारियो मे से चुने जाते है। हिस्सेदारो की आम सभा ओद्योगिक ओर व्याव-सायिक हिस्सेदारो में से तीन निरीक्षक चुनती है। ये निरीक्षक जनरल कौसिल के चुनाव सलाहकार होते है और बैंक के कार्यो का देख-रेख करते है।

बैंक को नोट चलाने का एकाधिकार प्राप्त है। सन् १९२८ के पहले नोट चलाने के लिये बैंक को कानून के अनुसार सुरक्षित सोना रखने की आवश्यकता नही थी। अर्थात् कानून बैंक को सुरक्षित सोना रखने के लिये वाध्य नही करता था। परन्तु कानून एक अधिकतम मात्रा निश्चित कर देता था और उस मात्रा तक बैंक नोट चला सकता था। परन्तु सन् १९२८ से ऐसा हो गया कि बैंक जितने मूल्य के नोट चलाता है तथा जितनी उसकी चालू जमा होती है, उसका ३५ प्रतिशत सुरक्षित सोना रखना पडता है। बैंक को प्रति फ्रेंक ६५ ५ मिलीग्राम की दर से[1] सोना ($\frac{9}{10}$ शुद्ध) खरीदना और वेचना पडता है। नोट चलाने के साथ-साथ हुडी भुनाने का काम भी बैंक बहुत बड़े पैमाने पर करता है। हुडियो पर तीन हस्ताक्षर अवश्य होने चाहिये। यदि हुडी काफी सुरक्षित है तो दो ही से काम चल जायगा। हुडी का भुगतान ९० दिन मे अवश्य हो जाना चाहिये। बैंक व्यवसायियो की हुडिया भी भुनाता है, जो कि फेडरल रिजर्व सिस्टम में नही होता। बैंक की देश भर में कई शाखाएँ फैली हुई है।

बैंक का सरकार के साथ हमेशा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वह सरकार का साहूकार है तथा हमेशा सरकार को विना व्याज अथवा नाममात्र के व्याज पर बडी-बडी रकमें

[1] कुछ दिनो पहले इस दर में परिवर्तन हुआ है।

दिया करता है। बैंक अपने सुरक्षित कोष मे काफी बडे मात्रा में सोना रखता है और उसके बट्टे की दर में क्रमश परिवर्तन हुआ करते हैं। मुद्रा बाजार पर उसका नियत्रण उतना पूर्ण और प्रभावशाली नही हैं, जितना कि बैंक ऑफ इगलैण्ड ओर फेडरल रिजर्व बोर्ड का है। पेरिस का मुद्रा बाजार काफी व्यवस्थित है और बडे-बडे व्यावसायिक बैंक स्वतत्रतापूर्वक कार्य करते हैं। इसलिये उसकी नियत्रण शक्ति में काफी बाधा पहुँचती है। सन् १९३८ मे उसके खुले बाजार मे काम करने के अधिकार बढा दिये गये थे। वह सदस्य बैंको के कामो पर पूर्ण नियत्रण नही रख सकता।

सन् १९४५ में बैंक ऑफ इगलैण्ड के समान बैंक ऑफ फ्रास भी राष्ट्रीय सम्पत्ति हो गया है। उसके हिस्सेदारो को हिस्सो के बाजार-मूल्य के बराबर मूल्य दे दिया गया है।

(घ) **रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया (The Reserve Bank of India)**—रिजर्व बैंक की स्थापना सन् १९३५ में हुई थी। इसका उद्देश्य यह था कि वह सरकार मुद्रा का प्रबन्ध अपने हाथ में ले ले। वह हिस्सेदारो का बैंक था। केवल डायरेक्टरो की नियुक्ति में सरकार का कुछ हाथ था। १ जनवरी सन् १९४९ को बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया। सरकार ने हिस्सेदारो को १०० रुपया प्रति हिस्से पर ११८ रु० १० आना के ऋण-पत्र दिये। बैंक का प्रबन्ध एक बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स के हाथ मे आ गया। बोर्ड में एक गर्वर्नर, दो डिपुटी-गवर्नर तथा दस डायरेक्टर होते हैं। इन सबकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है। दस में से चार डायरेक्टरो की नियुक्ति चार स्थानीय बोर्डों (local boards) द्वारा होती है। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड एक डायरेक्टर की नियुक्ति करता है। डायरेक्टरो का कार्यकाल चार वर्ष का होता है, परन्तु उनकी नियुक्ति फिर से हो सकती है। बैंक के कार्य की दृष्टि से देश को चार क्षेत्रो में बाँट दिया गया है। प्रत्येक क्षेत्र के लिये एक स्थानीय बोर्ड होता है। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड में पांच सदस्य होते है और उनकी नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करती है।

बैंक ऑफ इगलैण्ड की तरह रिजर्व बैंक को भी दो विभागो में विभक्त कर दिया गया है। एक मुद्रा अथवा चलन विभाग और दूसरा बैंकिंग अथवा व्यावसायिक विभाग। चलन विभाग को नोट चलाने का एकाधिकार प्राप्त है। नोटो के लिये सोने ओर स्टरलिंग ऋण-पत्रो के रूप में ४० प्रतिशत सुरक्षित कोष रखना पडता है। इस कोष मे सोने की मात्रा ४० करोड रुपये से कम की न होनी चाहिये। बाकी ऋण-पत्रो और व्यावसायिक बिलो के रूप में रह सकता है। बाद में बैंक को यह अधिकार मिल गया कि वह सरकार की अनुमति से सुरक्षित कोष में स्वर्ण तथा स्वर्ण-सम्बन्धी ऋण-पत्र स्थगित कर सकता है। व्यवसाय विभाग बिना ब्याज के रुपया जमा खाते में ले सकता है, व्यावसायिक हुडिया तथा सरकारी ऋण-पत्रो की जमानत पर चली हुई हुडिया जो ९० दिन के भीतर चुक जायेंगी, खरीद, बेच और भुना सकता है, फसलो पर

चलाई हुई हुडियाँ जिनका भुगतान नौ महीने के भीतर होगा, खरीद और बेच सकता है। स्वीकृत ऋण-पत्रो (eligible securities) की जमानत पर ९० दिन के लिये अथवा माँग पर तत्काल मिलनेवाला ऋण दे सकता है। भारत और इगलैण्ड के सरकारी ऋण-पत्र खरीद और बेच सकता है। सदस्य बैको को स्टर्लिग बेच और खरीद सकता है। इसमें स्टर्लिग की मात्रा एक लाख रुपये से कम की न होगी। उद्योग और व्यवसाय के हितो की रक्षा के लिए खुले-बाजार नीति के कार्यों द्वारा साख पर नियत्रण रख सकता है। बैंक केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो का एजेंट है। वह इन सरकारो की रकम जमा कर लेता है तथा बैक सम्बन्धी उनके सब काम करता है, जिनमें सार्वजनिक ऋणो का प्रबन्ध भी शामिल है। रुपये का विनिमय मूल्य स्थिर रखने के लिये बैंक मुद्रा खरीदता और बेचता है। परन्तु बैंक स्थावर सम्पत्ति की जमानत पर ऋण नही दे सकता। वह किसी प्रकार के उद्योग और व्यवसायो मे भाग नही ले सकता। बैंक का एक कृषि-ऋण विभाग (Agriculture Credit Department) भी है, जो कृषि सम्बन्धी ऋणो की समस्याओ का अध्ययन करता है।

भारत का मुद्रा बाजार अभी काफी ढीला और असगठित है और बैंक का उस पर कितना नियत्रण है, यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। देश में साहूकारो की सख्या काफी है और ये लोग अभी रिजर्व बैंक व्यवस्था के सदस्य नही हैं।

अध्याय ४२

विविध देशों के मुद्रा बाजार

(Money Markets in Various Countries)

मोटे तौर से मुद्रा बाजार का अर्थ बैंक, हुंडी भुनानेवाली गद्दियाँ, दलाल, स्टॉक एक्सचेंज इत्यादि जैसी पूंजी का व्यवसाय करनेवाली सस्थाओ से है। इन सस्थाओ में आपस मे पूंजी के लेन-देन मे प्रतिद्वन्द्विता होती है। सुविधा के लिये मुद्रा बाजार को हम पॉच भागो मे बॉट सकते है।

केन्द्रीय बैंक।

पहला केन्द्रीय बैंक होता है। केन्द्रीय बैंक वह धुरी है, जिस पर सारा मुद्रा बाजार घूमता है। वह बाजार के अभिभावक का काम करता है। देश की आन्तरिक दृढता बनाये रखने के लिए वह आवश्यकतानुसार मुद्रा तथा साख का विस्तार फैलाता तथा काम करता है। साधारणत केन्द्रीय बैंक मुद्रा बाजार के कामो में प्रत्यक्ष दखल नही देता। वह केवल आवश्यक प्रोत्साहन देता है और जब बाजार किसी प्रकार की कमजोरी दिखाता है, तब उसे आवश्यक सहायता देता है।

माँग या तत्काल ऋण का बाजार।

दूसरा, माँग या तत्काल ऋण का बाजार होता है। यह बाजार उस रकम का होता है, जो थोडे समय के लिये बेकार रहती है अथवा जिसका कुछ अल्पकालीन उपयोग नही हो सकता। ऐसी रकम को सीमान्त रकम कहते हैं। जैसा कि नाम से जाहिर होता है। ये रकमें बहुत थोडे समय के लिये ऋण के रूप में दी जाती है—अधिकतर एक हफ्ते के लिये और कभी-कभी एक रात के लिये। इस बाजार के अगवा व्यावसायिक बैंक अथवा इसी प्रकार के कारपोरेशन होते हैं। जैसा कह चुके है, बैंक अपनी रकम का एक अंश अल्पकालीन ऋण बाजार मे लगाते है और उसे अपनी सुरक्षा की दूसरी पक्ति समझते है। जब कभी वे अपना सुरक्षित कोष बढाना चाहते है, तब इन ऋणो को वापिस ले लेते है। बडी-बडी कम्पनियाँ अपनी अतिरिक्त और बेकार पडी रकम भी इस बाजार में देती है। उदाहरण के लिये मुनाफा बाँटने के पहले उसे तत्काल ऋणो में लगाया जाता है। इस बाजार मे केन्द्रीय बैंक रुपया उधार नही देता। पर सकट काल में आवश्यकता पडने पर उससे काफी रकम प्राप्त की जा सकती है। इस बाजार में उधार लेनेवाले हुडियो और शेयरो अर्थात् कम्पनियो के हिस्सो के दलाल होते है। इगलैण्ड में हुडी के दलाल अधिकतर ऋण लेते है और न्यूयार्क में स्टॉक एक्सचेंज पर सट्टा करनेवाले। इगलैण्ड में दलाल व्यावसायिक बैंको से रुपया लेकर हुडियाँ भुनाते हैं अथवा खरीदते हैं

और उनकी अवधि पूरी होने तक उन्हे अपने पास रखते है। जिस दर पर उन्हे यह मॉग या तत्काल ऋण मिलता है, उसे मॉग-दर या तत्काल-दर (call rate) कहते है। और वह प्राय बैंक दर से एक प्रतिशत कम हुआ करता है। यह दर बैंको की जमा रकम की मात्रा पर निर्भर होती है और बहुत अधिक परिवर्तनशील होती है। प्राय. बैंक अपने तत्काल अर्थात् मॉग-ऋणो को बढा (re-new) देते है, परन्तु कई अवसर ऐसे आते है, जब बैंक अपने सुरक्षित कोष बढाना चाहते है और दलालो से मॉग-ऋग का रुपया चुका देने को कहते है। अर्द्ध-वार्षिक हिसाब बडे दिन की छुट्टियाँ इत्यादि इस प्रकार के अवसर पर होते है। उस समय कहा जाता है कि दलाल नकद रुपयो के लिये 'पिसे' जा रहे है और वे कुछ समय के लिये बैंक ऑफ इग्लैण्ड से ऋण लेने के लिय बाध्य होते है। चूंकि बैंक दर बाजार दर से ऊँची होती है, इसलिए बैंक से ऋण लेना लाभकारी नही होता, तब कहा जाता है कि बाजार बैंक में समा गया।

न्यूयार्क में मॉग-ऋण या तत्काल-ऋण अधिकतर वे दलाल लेते है, जो स्टॉक एक्सचेंज पर हिस्सो या शेयरो का सट्टा या दलाली करते है। जब अमेरिका में कोई सटोरिया कोई हिस्सा खरीदता है, तो उसके मूल्य का केवल एक अश (मान लो) २५ प्रतिशत जमा करता है, बाकी ७५ प्रतिशत वह अपने दलाल से ऋण के रूप में लेता है और दलाल उसे तत्काल-ऋण के रूप मे अपने बैंक से लेता है। बैंक को वह उन हिस्सो की जमानत पर देता है। इस प्रकार तत्काल दर का सट्टा से इतना निकट सम्बन्ध होने के कारण वह बहुत अस्थिर होती है। असल में वह न्यूयार्क के सटोरियो के कार्यो की सूचक होती है, और कभी-कभी बहुत ऊँची उठ जाती है। बैंक ऑफ इग्लैण्ड मॉग-दर पर सफलता-पूर्वक नियत्रण रख सकता है, परन्तु सन् १९२९ के वाल स्ट्रीट की लहर ने यह बतला दिया कि फेडरल रिजर्व बोर्ड बहुधा न्यूयार्क की मॉग दर पर नियत्रण रखने में असफल होता है।

तीसरा, अल्पकालीन ऋणो का बाजार होता है। इसमें ऋण कुछ अधिक समय के लिये, प्राय. तीन महीने के लिये मिल जाते है। यह व्यावसायिक बैंको का क्षेत्र है। बैंक जनता की बचत बटोरते है और उसे हुडियो और ऋणो के रूप मे उधार देते है। इस बाजार के उधार लेनवालो मे सरकार मुख्य होती है, जो ट्रेजरी बिल्स (Treasury Bills) के रूप में उधार लेती है। बडे-बडे व्यवसायी और उद्योगपति भी इस बाजार से हुडियो द्वारा रुक्का लिख कर अथवा पेशगी इत्यादि के रूप में ऋण लेते है।

अल्पकालीन ऋण का बाजार।

चौथा, दीर्घकालीन ऋणो का बाजार होता है। इसमें एक ओर तो नई पूंजी लगाने के लिये एक सगठन होता है और दूसरी ओर पुरानी पूंजी को बदलने और

दीर्घकालीन ऋण का बाजार। स्थानान्तर करने के लिये सगठन होता है। पहला काम व्यावसायिक बैंक अथवा वे विशेषज्ञ करते है, जो कम्पनिया स्थापित करते है और उनके हिस्से बेचते है। दूसरा काम स्टॉक एक्सचेजो पर किया जाता है। पहले प्रकार के काम मे जनता को शेयर सिक्योरिटीज इत्यादि बेचना शामिल है। इस बाजार में प्रधान उधार लेनेवाले, सरकार, म्युनिसिपैलिटियाँ तथा अन्य सार्वजनिक सस्थाये और औद्योगिक सगठन रहते है। हिस्से तथा ऋण-पत्र जनता को वे लोग खरीदते है, जो कुछ बचत कर लेते है। स्टॉक एक्सचेज इन खरीदारो की सहायता करते है और सिक्योरिटीज हिस्सो इत्यादि की बिक्री के लिये एक बाजार बनाते है, जहाँ हमेशा इसी खरीद और बिक्री का काम होता रहता है।

अन्तिम, कुछ विशेष प्रकार के सगठन होते है। ये सगठन विशेष प्रकार के बाजारों का काम करते है और विशेष प्रकार की साख देते है। बचत बैंक (Saving Banks), भूमिबन्धक बैंके (Agricultural Land Mortgage Banks), घर-निर्माण समितियाँ (Building societies) इत्यादि इसी वर्ग मे आते है।

कम से कम सिद्धान्त रूप मे इन विभिन्न बाजारो के काम केन्द्रीय बैंक के अन्तर्गत एक दूसरे के निकट सहयोग से चलना चाहिए। एक दर का सम्बन्ध दूसरी दर से होना चाहिए, और विभिन्न दरो को एक साथ घटना या बढना चाहिए। उदाहरण के लिये जब केन्द्रीय बैंक ऋण-पत्र खरीदकर अथवा बैंक-दर कम करके मुद्रा की प्रचुरता की नीति ग्रहण कर रहा है, उस समय अन्य सब मुद्रा दरो को गिरना चाहिए। आदर्श मुद्रा बाजार में बैंक-दर के उतार-चढाव का प्रभाव अन्य दरों पर उसी प्रकार पडेगा। दरो के उतार-चढाव में जो अतिक्रमण या खटकनेवाली बात दिखे, उसे तुरन्त रोका जाना चाहिए। मान लो, दीर्घकालीन दर के अनुपात मे अल्पकालीन दर बहुत कम है। तब सटोरिये अल्पकालीन दर पर ऋण लेकर उसे दीर्घकालीन ऋण-पत्रो में लगा देंगे। तब बैंको तथा अन्य अल्पकालीन ऋण-दाताओ के साधन दीर्घकालीन लाभप्रद कार्यों में लग जावेंगे। इस प्रकार अल्पकालीन ऋणो की माँग बढेगी, परन्तु बैंको के कारण उनकी पूर्ति कम होती जायगी। तब अल्पकालीन दर बढेगी और दीर्घकालीन ऋण-पत्रो तथा हिस्सो की कीमत गिरेगी। यह क्रम तब तक चलेगा, जबतक कि अल्पकालीन और दीर्घकालीन दरो के अनुपात मे उचित सन्तुलन स्थापित न हो जायगा। परन्तु वास्तव में सघर्षरहित मुद्रा बाजार कही नही होता। प्रथम और द्वितीय महायुद्धो के बीच के वर्षों में मुद्रा की अल्पकालीन और दीर्घकालीन दरो में जो भारी अन्तर था, उनसे पता चलता है कि मुद्रा की विभिन्न दरो की गति एक-सी नही होती। विशेषकर माग-दर पर सट्टा बाजार का बहुत ज्यादा प्रभाव पडता है और वह अन्य दरो से कभी भी निकट नहीं है। केन्द्रीय बैंकिंग की व्यवस्थाओं मे विभिन्न मुद्रा दरो मे सामजस्य या सहयोग स्थापित करना बहुत बडी समस्या है।

अध्याय ४३

आय और रोजगार का सिद्धान्त

(The Theory of Income and Employment)

पिछले अध्यायो में हमने आधारभूत आर्थिक साधनो का अध्ययन किया। हमने राष्ट्रीय आय के सिद्धान्त, इस आय की प्राप्ति के लिये विभिन्न साधनो के आपस में सहयोग करने की विधियो ओर राष्ट्रीय आय की विभिन्न इकाइयो तथा उत्पादन के साधनो की सेवाओ की कीमत निर्धारित करने की समस्याओ पर विस्तार से विचार किया है। तत्पश्चात् हमने मुद्रा तथा बैंक व्यवस्था का अध्ययन किया। अब हम रोजगार अथवा कार्यशीलता के आधुनिक सिद्धान्त का अध्ययन कर सकते है। इस विषय का अध्ययन करने का महत्व स्पष्ट है। यह निश्चित करने के लिये कि हममें से प्रत्येक रोजगार मे लगा है या नही और हमारा रहन-सहन का स्तर अच्छा है या नही। रोजगार की स्थिति और राष्ट्रीय आय की सतह की जानकारी अत्यन्त विषय का अध्ययन करने का महत्व स्पष्ट है। यह निश्चित करने के लिये कि हममें से प्रत्येक रोजगार मे लगा है या नही ओर हमारा रहन-सहन का स्तर अच्छा है या नही। रोजगार की स्थिति ओर राष्ट्रीय आय की सतह की जानकारी अत्यन्त महत्व की है। जब रोजगार की मात्रा कम होती है, राष्ट्रीय आय कम होती है और इससे प्रकट है कि जनसख्या का अधिकाश कष्टमय जीवन व्यतीत कर रहा है। जब रोजगार की मात्रा अधिक होती है, हममे से अधिकाश रोजगार मे लगे होते है और अपेक्षाकृत अच्छी तरह जीवन व्यतीत करते है। रोजगार के सिद्धान्त के द्वारा क्रम मे आने वाली समृद्धि ओर विपत्तियो की उन स्थितियो को समझाया गया है, जिनमे होकर हमारी आर्थिक व्यवस्था आगे बढती रहती है।

आय और रोजगार किन बातो पर निर्भर करते है?—रोजगार की मात्रा किन बातो पर निर्भर करती है? एक व्यवसायी फर्म जब यह देखता है कि उसकी वस्तुओ की माँग बढनेवाली है, तब वह अधिक मजदूरो को नियुक्त करता है ओर उत्पादन के अन्य साधनो का भी अधिक मात्रा मे उपयोग करता है। यदि वस्तु की माग बहुत अधिक हो तो उसका उत्पादन करनेवाला फर्म अपना उत्पादन बढाने की कोशिश करेगा, इसलिये उत्पादन के साधनो को पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे प्रयुक्त करेगा। इसी प्रकार जब सब प्रकार की वस्तुओ की ओर सेवाओ की कुल माग अधिक होती है, तब प्रयुक्त होने वाले साधनो की कार्यशीलता की स्थिति भी ऊँची होती है। इससे स्पष्ट है कि सभी वस्तुओ ओर सेवाओ की माग में वृद्धि हो

जाने का कारण वास्तव में कुल व्यय की ऊंची दर है। यदि उपभोक्ता उपभोग के सामान को खरीदने मे अधिक रुपया खर्च करे तो इस प्रकार की वस्तु की माँग भी बढ जायगी और फलस्वरूप इस वस्तु का उत्पादन करने वाला फर्म उत्पादन बढाने के लिये उत्पादन के साधनो का अधिक मात्रा में उपयोग करेगा। या, यदि व्यवसायी फर्मे और सरकार विनियोग मे अधिक व्यय करते है तो विनियोग की वस्तुओ की माँग बढेगी और इस प्रकार की वस्तुओ का उत्पादन करने के लिये अधिक सख्या मे मजदूरो की नियुक्ति होगी। इस प्रकार रोजगार की मात्रा एक निश्चित अवधि मे किये जानेवाले कुल व्यय की मात्रा पर निर्भर करती है।

आगे हम इस बात पर विचार करेगे कि समाज मे कुल व्यय की मात्रा को कौन-सी शक्तियाँ निर्धारित करती है? किस समय कुल व्यय की मात्रा में ऐसी वृद्धि होती है कि प्राय पूर्ण कार्यशीलता अथवा पूर्ण रोजगार की स्थिति पैदा हो जाती है, परन्तु कभी इसमे इतनी गिरावट आ जाती है कि लाखो व्यक्ति बेरोजगार हो जाते है। ऐसा क्यो होता है? इसको समझने के लिये पहले हमे यह समझना चाहिए कि 'व्यय' क्या है। इसके लिये 'व्यय' (spending) का विश्लेषण करना आवश्यक है। रुपया कौन व्यय करता है और क्यो व्यय करता है? साधारण उपभोक्ता दाँत साफ करने के ब्रुश, पालिश, कपडे, खाद्यान्न, बस के या सिनेमा के टिकट इत्यादि में अधिकतर व्यय करता है। यह उपभोग की वस्तुए है और इनकी खरीद मे किया जाने वाला व्यय उपभोग का खर्च है या सरल भाषा मे केवल उपभोग (consumption) है। एक और प्रकार का व्यय होता है, जो विनियोग की वस्तुओ अर्थात् मशीनो, यत्रो कारखानो इत्यादि मे व्यय किया जाता है। इस प्रकार के व्यय को सरल भाषा मे विनियोग (investment) कहा जाता है। विनियोग व्यवसायी फर्मो द्वारा किया जा सकता है, इसे व्यक्तिगत विनियोग (private investment) कहते है, जब सरकार भी विनियोग करती है, तब उसे सरकारी विनियोग (public investment) कहते है। जिन वस्तुओ का हम विदेशो को निर्यात करते है, उन्हे विदेशी विनियोग वस्तु (foreign investment goods) कहते है। इस प्रकार व्यय की कुल मात्रा उपभोग और विनियोग के कुल जोड के बराबर होती है। कुल व्यय को निर्धारित करनेवाली शक्तियो का पता लगाने के लिये हमे उन शक्तियो का विश्लेषण करना पडेगा, जो उपभोग पर तथा विनियोग पर व्यय निर्धारित करती है।

उपभोग (Consumption)—कुल व्यय का अधिकाश उपभोग की सामग्री मे खर्च किया जाता है। इस प्रकार के व्यय की कुल मात्रा अनेक बातो पर निर्भर करती है। परन्तु इन सब मे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो द्वारा अर्जित मुद्रा-आय का स्तर होता है। अर्थात् यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है कि प्रत्येक व्यक्ति की मुद्रा आय कितनी है। यदि एक व्यक्ति की मुद्रा आय अधिक है तो स्वाभाविक ही वह उपभोग मे अधिक मात्रा मे व्यय करेगा। अर्थात् जितनी ही अधिक आमदनी होगी

उतनी ही अधिक उपभोग की वस्तुओ मे खर्च भी होगा। दूसरी महत्वपूर्ण बात य है कि यद्यपि आय के बढने के साथ ही उपभोग की मात्रा भी बढती है, परन्तु उसकी मात्रा आय के अनुपात मे कम बढती है। यदि एक व्यक्ति की आय मे १०० रु० की वृद्धि हो जाय तो स्वाभाविक ही वह उपभोग मे अधिक व्यय करेगा, परन्तु यह सभव नही है कि वह पूरी १०० रुपये की अतिरिक्त आय को उपभोग मे खर्च कर दे। सभवत. वह बढी हुई आय के एक अश को उपभोग मे खर्च करेगा और बाकी की बचत करेगा। आय ओर उपभोग के इस सम्बन्ध को उपभोग की प्रवृद्धि (propensity to consume) कहते है। यह

$$\frac{\text{कुल उपभोग}}{\text{कुल आय}}$$ के बराबर होती ह।

इसे उपभोग क्रिया (consumption function) भी कहते है। हम एक ग्राफ द्वारा यह दर्शा सकते है कि विभिन्न आय-सतहो पर उपभोग की वस्तुओ की खरीद मे कितनी रकम खर्च की गयी।
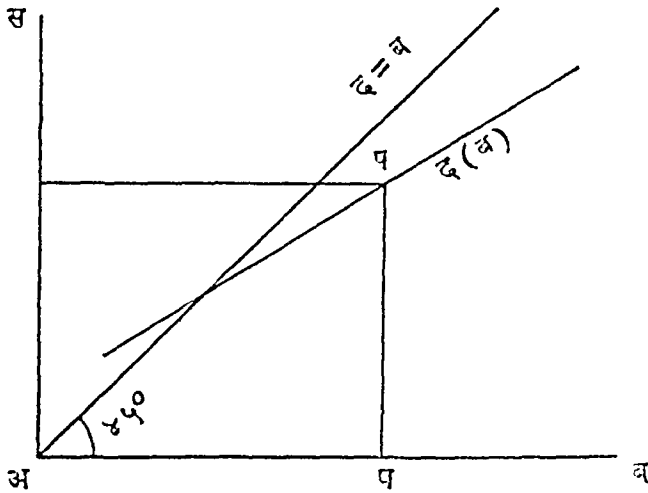
चित्र न० ३८

उक्त चित्र न० ३८ में पडी रेखा अब मे आय की माप ओर आडी रेखा अस मे उपभोग की माप दी हुई है। अ से अब पर ४५° का कोण बनाती हुई एक रेखा खीचो। इस रेखा के किसी भी विन्दु पर आय बिलकुल उपभोग के बराबर होगी। अर्थात्, पूरी आय को उपभोग में व्यय कर दिया गया। रेखा द (ब) उपभोग-आय की सूची है, जो विभिन्न आय-सतहो पर उपभोग की प्रवृत्ति मापती है। इस रेखा के किसी बिन्दु से हम यह पता लगा सकते है कि विभिन्न आय-सतहो पर उपभोग की कुल कितनी मात्रा है या कुल कितना उपभोग किया गया। द (ब)

रेखा में कोई बिन्दु प ले लो। इससे प्रकट होता है कि अप आय में से पप मात्रा का उपभोग मे व्यय हो जायगा। यदि हम देश की राष्ट्रीय आय जानते है, तो उपभोग की प्रवृत्ति की रेखा से यह पता चला सकते हैं कि उस आय के आधार पर कुल कितना उपभोग होगा। इसलिये कुल व्यय उपभोग की प्रवृत्ति पर और विनियोग पर निर्भर करता है। अब चूंकि कुल व्यय कुल आय के बराबर होना चाहिए। एक व्यक्ति का व्यय वास्तव मे दूसरे व्यक्ति की आय होती है। उपभोग पर किया जानेवाला व्यय उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन मे अर्जित आय के बराबर होगा जब कि विनियोग पर किया जानेवाला व्यय उस आय के बराबर होगा जो इन वस्तुओ के बनाने मे अर्जित की जाती है। इस प्रकार उपभोग और विनियोग मे किया जानेवाला कुल व्यय कुल आय के बराबर होना चाहिए।

उपभोग-क्रिया (Consumption function)—एक व्यक्ति उपभोग की वस्तुओ की खरीद मे कितना खर्च करेगा इसको जानने के लिये उस व्यक्ति की आय जानना अत्यन्त आवश्यक है। जितनी अधिक आय होगी उपभोग मे उतना ही अधिक खर्च होगा। उपभोग पर व्यय निर्धारण मे जिन अन्य सभी साधनो का प्रभाव पडता है, वह उपभोग की प्रवृत्ति या उपभोग क्रिया के अन्तर्गत निहित है। उपभोग की प्रवृत्ति वास्तव मे आनुपातिक सम्बन्ध है जो आय और उपभोग के सम्बन्ध को नापती है। यह बताती है कि आय का कितना हिस्सा कुल आय के बराबर होता है।

उपभोग की प्रवृत्ति निर्धारित करनेवाले साधन कौन से हैं?—पहले, कुछ सीमा तक यह आय के वितरण पर निर्भर करती है। जिन व्यक्तियो की आय अधिक नही होती है या कम होती है, उनकी उपभोग की प्रवृत्ति अधिक होती है, परन्तु धनवानो की उपभोग की प्रवृत्ति कम होती है। यदि आय का वितरण वर्तमान की अपेक्षा अधिक समान होता अर्थात् विभिन्न व्यक्तियो की आय मे अधिक अतर नही होता तो उपभोग की प्रवृत्ति अधिक होगी, आय-वितरण में जितनी ही असमानता होगी, उपभोग की प्रवृत्ति भी उतनी ही कम होगी। दूसरे, यह व्यक्ति की खर्च करने की आदत पर भी निर्भर करती है। एक कजूस और एक बहुत खर्चीले व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति में बहुत अतर होता है। इसके अलावा कीमतो मे भविष्य मे होनेवाले परिवर्तनो की आशा भी इसकी निर्धारण-शक्तियो मे से एक है। यदि उपभोक्ता समझता है कि भविष्य में वस्तु की कीमत बढनेवाली है तो वह पहले की अपेक्षा वर्तमान मे उस वस्तु की खरीद में काफी खर्च कर सकते है। ऐसा प्राय अति मुद्रा-विस्तार की स्थिति में होता है। उपभोग की प्रवृत्ति पर करो की दर भी काफी प्रभाव डालती है। करो से आय घट जाती है और परिणामस्वरूप उपभोग की मात्रा भी कम हो जाती है। निश्चित रूप से कितनी कमी हुई है यह इस बात पर निर्भर करता है कि कर किस प्रकार का है। बिक्री कर (Sales Tax) या उत्पादन कर (Excise duties) और करो

का आम तौर पर उन लोगो पर अधिक प्रभाव पडता है, जिनकी आय कम होती है आ
इससे आयकर की अपेक्षा उपभोग की मात्रा मे अधिक कमी हो जाती है, क्योंकि आ
कर से धनवानो की बचत मे कमी आती है न कि उनके उपभोग मे।

क्या व्याज की दर का उपभोग की प्रवृत्ति पर कुछ प्रभाव पड़ता है?–अतीत
यह कहा जाता था कि व्याज की दर ऊँची होने से उपभोग की प्रवृत्ति पर प्रभाव प
है और उसमे गिरावट आ जाती है, अर्थात् इससे बचत की मात्रा बढ जाती है।
समझा जाता था कि व्याज की दर मे गिरावट आने से उपभोग पर अनुकूल प्रभाव पडे
और उपभोग की मात्रा बढेगी। परन्तु व्याज की दर का प्रभाव पता लगाना इत
साधारण नही है। व्याज की ऊँची दर का उपभोग पर विपरीत प्रभाव भी पड सक
है। जो लोग यह चाहते है कि वृद्धावस्था मे उनको खाली हाथ न रहना पडे और उन
कुछ आय होती रहे, उन्हे व्याज की ऊँची दर होने पर कम बचत करनी पडेगी अ
व्याज की दर नीची होने पर अपेक्षाकृत अधिक बचत करनी पडेगी। सक्षेप मे यह
जा सकता है कि व्याज की दर मे परिवर्तन होने से उपभोग की प्रवृत्ति घट भी सक
है और बढ भी सकती है। फिर भी व्याज की दर में होनेवाले साधारण परिवर्तन से
जैसे एक या दो प्रतिशत परिवर्तन से, उपभोग की प्रवृत्ति पर विशेष प्रभाव पड
की सभावना नही है। साधनो की जिस सूची पर भी विचार किया गया है
वह पूर्ण नही कही जा सकती। इनके अलावा अन्य अनेक साधन भी, जैसे, उपभोक्त
की नकद सम्पत्ति, आय में सम्भावित परिवर्तन, इत्यादि, उपभोग की प्रवृत्ति प
अपना प्रभाव डालते है।

यद्यपि उपभोग की प्रवृत्ति मे परिवर्तन हो सकता है और उक्त लिखित कि
एक साधन में परिवर्तन होने के साथ ही आमतोर पर उस मे भी परिवर्तन हो जा
है, फिर भी यदि इसके सभी पहलुओ पर विचार किया जाय तो पता चलेगा
इसका आय से प्राय स्थायी और स्थिर आनुपातिक सम्बन्ध रहता है। निश्चय
इसमे अपवाद भी है। उदाहरण के लिये, गत युद्ध मे चूंकि उपभोग की अनेक
वस्तुएँ उपलब्ध नही थी, इसलिये उपभोग की प्रवृत्ति मे गिरावट आयी, इसके साथ
ही अनेक उपभोक्ताओ ने देशभक्ति की भावना मे अधिक बचत करने का निश्चय
किया। अर्थशास्त्रियो की राय है कि जिस अवधि मे आय मे गिरावट आती है,
उस समय उपभोग का आय से सम्बन्ध वृद्धि की ओर होता है, परन्तु जिस अवधि
मे आय में वृद्धि होती है, इस सम्बन्ध मे गिरावट आ जाती है। यह बात सही
हो सकती है। हमारी उपभोग की आदत मे धीरे-धीरे परिवर्तन होता है। जब हमारी
आय गिरती है, हम पहले अपने उपभोग की वस्तुओ मे कटोती नही करना चाहते
और तब तक पर्ववत उपभोग करते जाते है, जब तक कटोती के लिये मजबूर न
हो जायँ। जब हमारी आय बढ़ती है, हम अपने उपभोग तथा व्यय के सम्बन्ध

को धीरे-धीरे सुनियोजित करते है और क्रमश: अपने रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाते हैं।

जब आय में परिवर्तन होता है, तब उपभोग मे भी परिवर्तन होगा। उपभोग में हुए परिवर्तन का आय मे हुए परिवर्तन से जो आनुपातिक सम्बन्ध है, उसे उपभोग की सीमात प्रवृत्ति (marginal propensity to consume) कहते है। यह

$$\frac{\text{उपभोग मे परिवर्तन}}{\text{आय मे परिवर्तन}} \text{ के बराबर होती है।}$$

यदि उपभोग की सीमाँत प्रवृत्ति $\frac{3}{4}$ है, तो इसका तात्पर्य यह है कि उपभोक्ता अपनी आय में हुए परिवर्तन का $\frac{3}{4}$ अश उपभोग मे खर्च करेगा और शेष की बचत करेगा। यह आय में हुए परिवर्तन के प्रति उपभोक्ता की प्रतिक्रिया को एक सूत्र रूप में बतलाता है। गुणक (multiplier) के सिद्धान्त मे उपभोग की सीमाँत प्रवृत्ति के प्रभावो का आगे अध्ययन किया जायगा।

विनियोग (Investment)—आगे हम विनियोग की मात्रा निर्धारित करने वाले साधनो का विश्लेषण करेंगे। हमें यह मालूम होगा कि विनियोग की मात्रा पहले भी बहुत परिवर्तनशील रही हैं और वर्तमान मे भी है। विनियोग की मात्रा की यह अस्थिरता ही आय तथा क्रियाशीलता या रोजगार मे होनेवाले अनेक परिवर्तनो के लिये उत्तरदायी है। यही अस्थिरता कभी आर्थिक सम्पन्नता एवम् पूर्ण कार्यशीलता के लिये और तत्पश्चात् आर्थिक मन्दी के लिये भी उत्तरदायी है। इसलिये विनियोग में होनेवाले परिवर्तनो के कारणो की जाँच करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सरकारी विनियोग की मात्रा सरकार की तथा स्थानीय सस्थाओ की नीति पर निर्भर करती है। फिलहाल हम सरकारी विनियोग पर विचार नहीं करेंगे और केवल उन साधनो पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करेंगे जो व्यक्तिगत विनियोग की मात्रा निर्धारित करते है। अधिकतर विनियोग-कार्य व्यवसायी फर्म करते है और यह निश्चय करने के लिये कि किसी विशेष विनियोग योजना को कार्यान्वित किया जाय या नहीं, फर्म प्राय दो बातो पर विचार करते है—(१) विनियोग योजना की पूरी अवधि में कुल कितनी आमदनी होगी और (२) योजना को चलाने के लिये ऋण मे लिये आवश्यक धन की व्याज की दर क्या होगी। योजना से प्राप्त होनेवाली कुल अनुमानित आय पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता (marginal efficiency of capital) कहलाती है। इस प्रकार व्यक्तिगत विनियोग की मात्रा पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता और व्याज की दर पर निर्भर करती है। एक फर्म प्रस्तावित विनियोग योजना से ६ प्रतिशत आमदनी की आशा करता है। यदि वह इस योजना को कार्यान्वित करने के

लिये ४ प्रतिशत की दर से पूंजी ऋण लेता है तो पूंजी ऋण लेना तथा विनियोग की वस्तुओ का उत्पादन फर्म के लिये लाभदायक सिद्ध होगा। यदि फर्म को योजना लागू करने के लिये पूंजी उधार लेने की आवश्यकता न हो और वह अपने साधनो से ही योजना की वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति कर सकता हो तो उसे व्याज की वर्तमान दर पर विचार करना पडेगा। यदि वह अपना धन योजना मे लगाने के बजाय उधार दे तो वर्तमान व्याज की दर से उसे उस धन से आमदनी हो सकती है। एक ऐसा फर्म जो अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहता है पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता व्याज की वर्तमान दर से कम होने पर विनियोग मे पूंजी नही लगायेगा। इस प्रकार जब तक पूंजी की सीमात कार्यक्षमता व्याज की दर से अधिक है, तब तक फर्म अपनी पूंजी विनियोग मे लगाते रहेगे। परन्तु जैसे-जैसे विनियोग की वस्तुओ का स्टॉक बढता जाता है, पूंजी की सीमात कार्यक्षमता में गिरावट आती है ओर क्रमश यह कार्यक्षमता गिरकर बाजार मे वर्तमान व्याज की दर के बराबर हो जाती है। अन्य सभी बातें यथास्थिति रहने पर पूंजी की सीमात कार्यक्षमता जितनी ही अधिक होगी, विनियोग की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी और यदि पूंजी की कार्यक्षमता कम है तो विनियोग की मात्रा भी कम हो जायगी। व्याज की दर जितनी ही अधिक होगी विनियोग की मात्रा उतनी ही कम होगी और इसके विपरीत व्याज की दर कम होने पर विनियोग की मात्रा बढेगी। अर्थात् विनियोग की मात्रा उस विन्दु तक बढती जायगी जहां पर पूंजी की सीमांत कार्यक्षमता व्याज की दर के बराबर होगी। इस प्रकार हमने विश्लेषण मे कुछ ओर प्रगति की है। अब हम पूंजी की सीमात कार्यक्षमता पर विचार करेंगे।

पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता (Marginal efficiency of capital)— पूंजी की सीमात कार्यक्षमता किन बातो पर निर्भर करती है? मान लो एक व्यवसायी सूती कपडे का उत्पादन करने के लिये एक कारखाना स्थापित करने का विचार कर रहा है। इस विनियोग से होनेवाली आमदनी का अनुमान लगाने के लिये वह किन-किन साधनो पर विचार करेगा?

एक महत्वपूर्ण साधन कारखाने के उत्पादन की वर्तमान में तथा भविष्य में सभावित मॉग मे निहित है। सूती कपडो की अधिक मांग ओर विशेपकर निरन्तर बढती हुई मॉग पूंजी की सीमात कार्यक्षमता के लिये अनुकूल सिद्ध होगी और इससे निश्चय ही विनियोग की मात्रा भी बढेगी। इस कारण विनियोग से होनेवाली कुल आमदनी का अनुमान लगाने में वर्तमान की मॉग का नही बल्कि कारखाने के जीवनकाल मे भविष्य की सभावित माग का प्रभाव पडता है। फिर भी अनेक बार यह देखा गया है कि भविष्य की सभावित माग के अनुमान मे वर्तमान के अनुभव का प्रचुर प्रभाव रहता है आर इस सीमा तक वर्तमान की माग भी विनियोग की कुल आमदनी निर्धारित करने के लिये आवश्यक साधन होगी।

इस सिलसिले मे जनसख्या की वृद्धि की दर की चर्चा करनी भी आवश्यक है। यह माना गया है कि जनसख्या मे तेजी से वृद्धि होने से पूँजी की सीमात कार्य-क्षमता बढती है। जनसख्या मे वृद्धि का अर्थ है कि माँग बढने से अनेक प्रकार के सामानो के बाजार का विकास, जब कि जनसख्या मे कमी होने से बाजार मे वस्तुओं की माँग भी कम हो जाती है।

दूसरा साधन आविष्कारो और टेकनिकल सुधारो के विकास की गति है। आवि-ष्कारो और टेकनिकल सुधारो से पूँजी की सीमांत कार्यक्षमता मे वृद्धि होती है। इसका सबसे उत्तम उदाहरण मोटर निर्माण उद्योग के विकास का इतिहास है। जब मोटर तथा कारो का उपयोग बढने लगा तो उससे काँच-उद्योग को प्रोत्साहन मिला। साथ ही रबर-उद्योग, लोहा और इस्पात उद्योग इत्यादि को भी काफी प्रोत्सा-हन मिला। मोटर के विभिन्न कल-पुर्जो तथा अन्य सामानो का उत्पादन करने के लिये अनेक कारखाने स्थापित किये गये, मरम्मत करने के भी सैकडो छोटे कारखाने खुल गये और सभी शहरो मे पेट्रोल स्टेशनो की स्थापना कर दी गई।

तीन साधन और है जो किसी प्रकार भी कम महत्वपूर्ण नही है। ये तीन साधन है—इस प्रकार की मशीनो इत्यादि का मौजूदा स्टॉक, उद्योग के इस क्षेत्र मे वर्तमान मे विनियोग की स्थिति; और व्यवसाय पर विश्वास। यदि अन्य सभी बाते समान रहे तो इस प्रकार की मशीनो इत्यादि का वर्तमान में जितना अधिक स्टॉक रहेगा, पूँजी की सीमांत कार्यक्षमता भी उतनी ही कम होगी। किसी भी वस्तु की माँग के समान ही यदि उद्योग मे मशीनो इत्यादि का काफी बडा स्टॉक मौजूद है तो इससे इन वस्तुओ का उत्पादन करने के लिये भविष्य मे विनियोग करनेवाले व्यवसायियो को निराशा होगी। क्योंकि इतना अधिक स्टॉक मौजूद रहते हुए भी भावी-उत्पादन की खपत उनके लिये समस्या बन जायगी। इसी प्रकार यदि किसी एक जगह अनेक घरो का निर्माण किया जा रहा है तो लोग यह नही चाहेगे कि वहाँ घरो के निर्माण में और पूंजी लगायी जाय। इस प्रकार किसी भी उद्योग मे वर्त-मान समय में किया जानेवाला विनियोग पूँजी की सीमात कार्यक्षमता को प्रभा-वित करने के लिये निश्चय ही महत्वपूर्ण साधन है। यदि यह मालूम हो कि अनेक सूती मिले स्थापित की जा रही है तो नये विनियोगकर्त्ता इस दिशा मे पूंजी लगाने मे हिचकिचायेगे। वह इस दिशा मे पूँजी लगाने को तैयार हो सकते है, जब वस्तु की भावी माग की स्थिति अनुकूल होने की सभावना हो।

निश्चय ही इस दिशा मे बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि विनियोग-कर्त्ताओ का इस व्यवसाय मे कितना विश्वास है। किसी भी उद्योग मे पूंजी लगा कर अगले दस या पन्द्रह वर्ष मे उससे होनेवाली आमदनी का सही अनुमान लगा लेना आसान नही है। यदि व्यवसायी आशावादी है तो तो उसका अनुमान भी आशावादी या अनुकूल ही होगा परन्तु यदि व्यवसायी को निराशा ने आ घेरा है तो

वह जो कुछ अनुमान लगायेगा वह पहले व्यवसायी के अनुमान के प्रतिकूल अथवा निराशाजनक ही होगा। इस स्थिति मे वह सन्तोपजनक आमदनी का अनुमान नही लगायेगा। इसलिये पूंजी की सीमात कार्यक्षमता को निर्धारित करने के लिये व्यवसायी समुदाय की मनोवृत्ति भी एक महत्वपूर्ण साधन है।

अन्त मे, पूंजी की सीमात कार्यक्षमता पर कर की दर का भी प्रभाव पड़ता है। सरकार द्वारा लगाये गये विभिन्न करो से लागत बढ जाती है और लाभ कम हो जाता है। करो की दर अधिक ऊँची होने से विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है, इससे विनियोग रुक सकता है, विशेपकर जब व्यवसायी समुदाय का दृष्टिकोण निराशावादी हो तो विनियोग की गति बिलकुल मन्द पड सकती है।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचे कि पूंजी की सीमात कार्यक्षमता पर इन बातो का प्रभाव पडता है—(१) भावी माँग की स्थिति, (२) जनसख्या मे वृद्धि की दर, (३) आविष्कार और टेकनिकल सुधार, (४) उद्योग से सम्बन्धित मशीनो इत्यादि का मौजूदा स्टॉक, (५) सम्बन्धित उद्योग मे वर्तमान समय मे विनियोग की स्थिति; (६) व्यवसाय के भविष्य पर विश्वास और (७) करो की दर।

ब्याज की दर और विनियोग—हम यह बता चुके है कि विनियोग की मात्रा निर्धारित करनेवाले दो साधनो मे से एक ब्याज की दर है। यदि पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता मालूम हो, तो ब्याज की दर जितनी अधिक होगी विनियोग की उतनी ही कम होगी; ओर ब्याज की दर जितनी कम होगी विनियोग की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। यह सिद्ध किया जा सकता है कि हम ब्याज की दर को लागत का साधन मानते है या पूंजी-निर्माण का साधन। ब्याज की दर जितनी अधिक होगी, उत्पादन की लागत भी उसी के अनुपात मे अधिक होगी। ब्याज वास्तव में वह लागत है, जिसे व्यवसायी को विनियोग के समय चुकता करना पडता है। जब उधार लेने की लागत बढती है, तो व्यवसायी पहले की अपेक्षा कम रुपया उधार लेंगे और इसी कारण उनके विनियोग की मात्रा भी, चाहे वह वस्तुओ के स्टॉक पर हो या मशीनो तथा ओजारो इत्यादि पर हो, घट जायगी। यदि ब्याज की दर मे गिरावट आती है तो फल इसके विपरीत होगा। आमतौर पर जो ब्याज चुकाया जाता है, वह उत्पादन की कुल लागत का एक छोटा अंग बन जाता है, यद्यपि उत्पादन मे इसके अपवाद भी है। यदि ब्याज की दर मे १ या २ प्रतिशत की वृद्धि हो, तो इसमे व्यवसायियो के निर्णयो पर विशेप प्रभाव नही पड़ेगा। फिर भी ब्याज की दर का विनियोग की वस्तुओ के पूंजीकरण (capitalization) मे प्रभाव पडता है। जब ब्याज की दर बढती है, तब मशीनो इत्यादि का मूल्य गिर जाता है। यदि ३ प्रतिशत के सरकारी ऋण-पत्र मे ३ प्रतिशत की आमदनी हो तो उसका मूल्य १०० रुपया हुआ, परन्तु यदि ब्याज की दर ४ प्रतिशत

है तो उसका मूल्य केवल ७५ रुपया हुआ, यदि व्याज की दर ५ प्रतिशत है तो उसका मूल्य केवल ६० रुपया हुआ। अर्थात् जब व्याज की दर में वृद्धि होती है, तब ऋण-पत्र के मूल्य मे गिरावट आती है। इससे व्यवसायियो का विनियोग का उत्साह ढीला पड जायगा। यदि व्याज की दर गिरा दी जाय तो ऋण-पत्रो की कीमत बढेगी और साधारण शेयरो की कीमत मे भी वृद्धि होगी, क्योकि व्याज की दर कम होने पर ही लाभ कमाया जा सकता है। ऐसी परिस्थितियो मे व्यवसायी स्वाभाविक ही यह चाहेगे कि अधिक शेयरो की बिक्री की जाय ओर रुपया विनियोग की वस्तुओ में लगा दिया जाय। इसलिये विनियोग की मात्रा को व्याज के लिये लोचदार (interest-elastic) माना जाता सकता है।

अनेक अर्थशास्त्री इस मत से सहमत नही है। उनका मत है कि यदि व्याज की दर मे माना २ से ४ प्रतिशत वृद्धि हो जाती है, तो उसका व्यवसायी के निश्चय पर किसी प्रकार का प्रभाव नही पडेगा। १९३८ मे आक्सफोर्ड के अर्थशास्त्रियो के एक दल ने इस सम्बन्ध मे जॉच की और इस मत का समर्थन किया। कई प्रकार के औद्योगिक उत्पादनो मे व्यवसायी को बडे खतरो का सामना करना पडता है ओर और इसके परिणाम-स्वरूप पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता के सम्बन्ध मे उनके अनुमान भी भिन्न-भिन्न होते है। इसलिये व्याज की दर मे २ से ४ प्रतिशत तक की वृद्धि या कमी का महत्व गौण समझा जायगा। निराशावादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता शून्य हो जाती है और उत्तम विनियोग के बावजूद भी व्यवसायी को हानि की आशका रहती है। ऐसी परिस्थितियो मे यदि व्याज की दर मे २ से ४ प्रतिशत तक कमी भी हो जाय या व्याज बिलकुल चुकाना भी न पडे तव भी इस दिशा मे विनियोग को प्रोत्साहन नही मिलेगा। इसलिये ये अर्थशास्त्री इस परिणाम पर पहुँचे कि विनियोग की मात्रा वास्तव मे व्याज के लिये लोचदार नही होती है।

निस्सदेह इसमें बहुत कुछ सत्य है। परन्तु इसको स्वीकार करने का अर्थ यह नही है कि व्याज की दर का विनियोग की मात्रा पर कुछ प्रभाव नही पडता है। यह सभव है कि ऐसे उत्पादन मे जिसमे पर्याप्त खतरा हो व्यवसायी के विनियोग के निश्चय पर व्याज की दर मे हुए परिवर्तन का प्रभाव पडे, परन्तु ऐसे बहुत से अन्य व्यवसाय भी है, जिनमें खतरा अपेक्षाकृत कम रहता है, जैसे, गृह-निर्माण, सडक तथा पुल-निर्माण, रेलवे का निर्माण और उसमे बिजली लगाना, लोहे और इस्पात के से आधारभूत उद्योगो मे मशीनो इत्यादि का पुनर्संगठन इत्यादि, इनमें पूंजी लगाने मे कम खतरा रहता है। ऐसे उद्योगो मे व्याज की दर मे होने वाले परिवर्तन का विनियोग की मात्रा पर काफी प्रभाव पडता है, यहा तक कि इस परिवर्तन के आधार पर व्यवसायी विनियोग के निश्चय को रद्द भी कर सकता है। यदि व्यवसायी को यह मालूम हो कि विनियोग के लिये उपलब्ध पूंजी का

वह जो कुछ अनुमान लगायेगा वह पहले व्यवसायी के अनुमान के प्रतिकूल अथवा निराशाजनक ही होगा। इस स्थिति मे वह सन्तोपजनक आमदनी का अनुमान नहीं लगायेगा। इसलिये पूंजी की सीमात कार्यक्षमता को निर्धारित करने के लिये व्यवसायी समुदाय की मनोवृत्ति भी एक महत्वपूर्ण साधन है।

अन्त मे, पूंजी की सीमात कार्यक्षमता पर कर की दर का भी प्रभाव पड़ता है। सरकार द्वारा लगाये गये विभिन्न करो मे लागत बढ जाती है और लाभ कम हो जाता है। करो की दर अधिक ऊंची होने से विनियोग पर प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है, इससे विनियोग रुक सकता है, विशेषकर जब व्यवसायी समुदाय का दृष्टिकोण निराशावादी हो तो विनियोग की गति बिलकुल मन्द पड सकती है।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुंचे कि पूंजी की सीमात कार्यक्षमता पर इन बातो का प्रभाव पडता है—(१) भावी मांग की स्थिति, (२) जनसख्या में वृद्धि की दर, (३) आविष्कार ओर टेकनिकल सुधार, (४) उद्योग मे सम्बन्धित मशीनों इत्यादि का मौजूदा स्टॉक; (५) सम्बन्धित उद्योग मे वर्तमान समय में विनियोग की स्थिति, (६) व्यवसाय के भविष्य पर विश्वास और (७) करो की दर।

ब्याज की दर और विनियोग—हम यह बता चुके है कि विनियोग की मात्रा निर्धारित करनेवाले दो साधनो मे से एक ब्याज की दर है। यदि पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता मालूम हो, तो ब्याज की दर जितनी अधिक होगी विनियोग की उतनी ही कम होगी, और ब्याज की दर जितनी कम होगी विनियोग की मात्रा भी उतनी ही अधिक होगी। यह सिद्ध किया जा सकता है कि हम ब्याज की दर को लागत का साधन मानते है या पूंजी-निर्माण का साधन। ब्याज की दर जितनी अधिक होगी, उत्पादन की लागत भी उसी के अनुपात में अधिक होगी। ब्याज वास्तव मे वह लागत है, जिसे व्यवसायी को विनियोग के समय चुकता करना पडता है। जब उधार लेने की लागत बढती है, तो व्यवसायी पहले की अपेक्षा कम रुपया उधार लेगे और इसी कारण उनके विनियोग की मात्रा भी, चाहे वह वस्तुओ के स्टॉक पर हो या मशीनो तथा औजारो इत्यादि पर हो, घट जायगी। यदि ब्याज की दर मे गिरावट आती है तो फल इसके विपरीत होगा। आमतौर पर जो ब्याज चुकाया जाता है, वह उत्पादन की कुल लागत का एक छोटा अश बन जाता है, यद्यपि उत्पादन मे इसके अपवाद भी है। यदि ब्याज की दर मे १ या २ प्रतिशत की वृद्धि हो, तो इससे व्यवसायियो के निर्णयो पर विशेष प्रभाव नहीं पडेगा। फिर भी ब्याज की दर का विनियोग की वस्तुओ के पूंजीकरण (capitalization) मे प्रभाव पडता है। जब ब्याज की दर बढती है, तब मशीनो इत्यादि का मूल्य गिर जाता है। यदि ३ प्रतिशत के सरकारी ऋण-पत्र से ३ प्रतिशत की आमदनी हो तो उसका मूल्य १०० पया हुआ, परन्तु यदि ब्याज की दर ४ प्रतिशत

है तो उसका मूल्य केवल ७५ रुपया हुआ, यदि व्याज की दर ५ प्रतिशत है तो उसका मूल्य केवल ६० रुपया हुआ। अर्थात् जब व्याज की दर में वृद्धि होती है, तब ऋण-पत्र के मूल्य मे गिरावट आती है। इससे व्यवसायियो का विनियोग का उत्साह ढीला पड जायगा। यदि व्याज की दर गिरा दी जाय तो ऋण-पत्रो की कीमत बढेगी और साधारण शेयरो की कीमत मे भी वृद्धि होगी, क्योकि व्याज की दर कम होने पर ही लाभ कमाया जा सकता है। ऐसी परिस्थितियो मे व्यवसायी स्वाभाविक ही यह चाहेगे कि अधिक शेयरो की बिक्री की जाय और रुपया विनियोग की वस्तुओ में लगा दिया जाय। इसलिये विनियोग की मात्रा को व्याज के लिये लोचदार (interest-elastic) माना जाता सकता है।

अनेक अर्थशास्त्री इस मत से सहमत नही है। उनका मत है कि यदि व्याज की दर मे माना २ से ४ प्रतिशत वृद्धि हो जाती है, तो उसका व्यवसायी के निश्चय पर किसी प्रकार का प्रभाव नही पडेगा। १९३८ मे आक्सफोर्ड के अर्थशास्त्रियो के एक दल ने इस सम्बन्ध में जॉच की ओर इस मत का समर्थन किया। कई प्रकार के औद्योगिक उत्पादनो मे व्यवसायी को बडे खतरो का सामना करना पडता है और ओर इसके परिणाम-स्वरूप पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता के सम्बन्ध में उनके अनुमान भी भिन्न-भिन्न होते है। इसलिये व्याज की दर मे २ से ४ प्रतिशत तक की वृद्धि या कमी का महत्व गौण समझा जायगा। निराशावादी दृष्टिकोण के फलस्वरूप पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता शून्य हो जाती है और उत्तम विनियोग के बावजूद भी व्यवसायी को हानि की आशका रहती है। ऐसी परिस्थितियो मे यदि व्याज की दर मे २ से ४ प्रतिशत तक कमी भी हो जाय या व्याज बिलकुल चुकाना भी न पडे तब भी इस दिशा मे विनियोग को प्रोत्साहन नही मिलेगा। इसलिये ये अर्थशास्त्री इस परिणाम पर पहुँचे कि विनियोग की मात्रा वास्तव मे व्याज के लिये लोचदार नही होती है।

निस्सदेह इसमें बहुत कुछ सत्य है। परन्तु इसको स्वीकार करने का अर्थ यह नही है कि व्याज की दर का विनियोग की मात्रा पर कुछ प्रभाव नही पडता है। यह सभव है कि ऐसे उत्पादन मे जिसमे पर्याप्त खतरा हो व्यवसायी के विनियोग के निश्चय पर व्याज की दर मे हुए परिवर्तन का प्रभाव पडे, परन्तु ऐसे बहुत से अन्य व्यवसाय भी है, जिनमें खतरा अपेक्षाकृत कम रहता है, जैसे, गृह-निर्माण, सडक तथा पुल-निर्माण, रेलवे का निर्माण ओर उसमे बिजली लगाना, लोहे और इस्पात के से आधारभूत उद्योगो में मशीनो इत्यादि का पुनर्स्संगठन इत्यादि; इनमें पूंजी लगाने मे कम खतरा रहता है। ऐसे उद्योगो मे व्याज की दर मे होने वाले परिवर्तन का विनियोग की मात्रा पर काफी प्रभाव पडता है, यहाँ तक कि इस परिवर्तन के आधार पर व्यवसायी विनियोग के निश्चय को रद्द भी कर सकता है। यदि व्यवसायी को यह मालूम हो कि विनियोग के लिये उपलब्ध पूंजी को

एक या दो वर्ष के लिये सरकारी ऋण-पत्रो में लगाकर १० प्रतिशत की वार्षिक आमदनी की जा सकती है और बाद मे इन ऋण-पत्रो से वापस ली गई पूंजी पर उसे २½ प्रतिशत की हानि होने की सभावना हो सकती है। इसका उसकी उन योजनाओं पर प्रभाव पडना निश्चित है, जिनमे पूंजी लगाना अपेक्षाकृत अधिक खतरनाक है। वह इस आमदनी के कारण योजना को कार्यान्वित करने का कार्यक्रम स्थगित कर सकता है।[1] पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता के विषय मे चाहे कुछ भी अनुमान लगाया जाय, उन व्यवसायियो पर व्याज की दर मे गिरावट आ जाने से विनियोग की ओर अनुकल आकर्षण पैदा होगा, जो पहले पूंजी लगाने मे हिचक रहे थे, परन्तु वह व्यवसायी जो अनिश्चितता तथा सन्देह की स्थिति मे होंगे, व्याज मे बढती होने पर भी विनियोग की ओर प्रवृत्त नही होगे अर्थात् पूंजी नही लगायेंग।

व्याज की दर निश्चित करनेवाले तत्व (Determinants of the rate of interest)—व्याज की दर कैसे निश्चित की जाती है? व्याज मुद्रा के उपयोग की कीमत है। एक ओर तो व्याज दी गयी मुद्रा की मात्रा के आधार पर निश्चित किया जाता है और दूसरी ओर मुद्रा की मॉग के आधार पर। मुद्रा की मॉग से हमारा अभिप्राय रुपया अपने पास जमा रखने की प्रवृत्ति से है। आगे हम रुपया जमा रखने की प्रवृत्ति पर विचार करेंगे। लोग प्राय. अपने पास रुपया जमा रखना चाहते है, इसके चार कारण है—आय, व्यवसाय, अकस्मात् आवश्यकता की पूर्ति और सट्टेबाजी। पहला कारण यह है कि आय प्राप्त होने और खर्च होने के बीच मे जो एक प्रकार की समय की खाई होती है, उपभोक्ता उसको पाटने के लिये कुछ नकद रकम अपने पास जमा रखता है। इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध आय से होता है। दूसरे, व्यवसायी भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये रुपया अपने पास जमा रखना चाहता है। तीसरे, इन सभी को कई ऐसी अप्रत्याशित आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये तत्काल रुपये की आवश्यकता होती है। इन तीनो कारणो की क्रियाशील लेन-देन के लिये मुद्रा की मॉग कहा जाता है। इसका सम्बन्ध लेन-देन की उस मात्रा से होता है, जिसके लिये वित्त की आवश्यकता होती है और स्वय लेन-देन की मात्रा आय की सतह पर निर्भर करती है। इसलिये हमें चौथे कारण अर्थात् सट्टेबाजी के लिये रुपये की आवश्यकता पर विचार करने की आवश्यकता है। जब लोगो को यह आशा होती है कि ऋण-पत्रो की कीमत बढेगी तो वह अपने पास जमा नकद रुपयो के ऋण-पत्रो मे लगा देते है, परन्तु जब उन्हे यह आशा हो कि भविष्य मे ऋण-पत्रो की कीमत गिरेगी तो वे इसके विरुद्ध आचरण करेगे। वे ऋण-पत्रो मे रुपया नही लगावेगे। फलस्वरूप ऋण-पत्रो की कीमत गिरने के कारण होनेवाली क्षति से बचाव के रूप मे लोगो के पास नकद रुपया पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा मे जमा हो जायगा।

---

[1] *Meade*, Planning and the Price Mechanism, p. 27-28.

चूँकि व्याज की दर का ऋण-पत्रो की कीमत से उल्टा आनपातिक सम्बन्ध है, इसलिये सट्टेबाजी के लिये जो रकम जमा रखी जाती है, उस पर व्याज की दर का विशेषकर व्याज की वहुत नीची दर का तत्काल प्रभाव पडता है। व्याज की दर अधिक होने पर लोग अपने पास नकद रकम वहुत थोडी मात्रा मे रखेगे। इसके दो कारण है। पहले, चूँकि व्याज की दर अधिक है, इसलिये यदि उपलब्ध नकद रकम व्याज पर लगा दी जाय तो काफी आमदनी हो सकती है और यदि रकम को यो ही पडे रहने दिया जाय तो इससे वहुत हानि होगी। ऐसी स्थिति मे विनियोग मे पूंजी का न लगाने का अर्थ है भारी हानि सहना। दूसरे, इस ऊंची दर से प्राय यह धारणा पैदा हो जाती है कि व्याज की दर मे गिरावट अवश्य आयेगी। अर्थात् ऋण-पत्रो की कीमतो मे वृद्धि होगी। इसलिये अव लोग ऋण-पत्रो पर रुपया लगाना आरभ करेगे और अपने पास नकद रकम कम मात्रा मे जमा रखेगे। व्याज की दर यदि वहुत कम हो, तो लोग नकद रकम को अधिक मात्रा मे अपने पास जमा रखेगे, क्योकि अव रकम जमा रखने से अधिक हानि की सभावना नही है और लोग यह सोचते है कि भविष्य में व्याज की दर मे अवश्य वृद्धि होगी।

चूँकि अन्य सभी प्रकार की सम्पत्तियो मे मुद्रा ही सवसे अधिक द्रवता के गुण से पूर्ण है, अर्थात् मुद्रा को ही अन्य सम्पत्ति की अपेक्षा नकदी के रूप मे अधिक रखा जा सकता है, इसलिये नकद मुद्रा जमा रखने का वही अर्थ होता हो जो मुद्रा की द्रवता की पसदगी (Liquidity Preference) का अर्थ होता है। इसलिये यह सिद्धान्त द्रवता की पसन्दगी का सिद्धान्त (Liquidity Preference Theory) कहा जाता है। मुद्रा की द्रवता की पसन्दगी अत्यन्त परिवर्तनशील होती है। जैसे ही लोगो को यह मालूम होता है कि ऋण-पत्रो की कीमत वढनेवाली है, वैसे ही वह नकद रकम को ऋण-पत्रो मे लगाने की सोचने लगते है और मुद्रा की द्रवता की पसन्द में काफी परिवर्त्तन आ जाता है। परन्तु जैसे ही उन्हे यह मालूम होता है कि ऋण-पत्रो की कीमत मे भारी गिरावट आने की आशका है, वैसे ही वे अपनी रकम समेटने लगते है और काफी मात्रा में नकद रकम जमा कर लेते है।

व्याज की विशेष दरो पर लोग अपनी द्रवता के पसन्दगी के आधार पर निश्चित मुद्रा की मात्रा अपने पास जमा रखना चाहेगे। यदि केन्द्रीय वैक मुद्रा की वास्तविक पूर्ति वढा दे, तो लोगो को मालूम होगा कि उनके पास काफी मात्रा में नकद रुपया है, वह यह भी महसूस कर सकते है कि व्याज की मौजूदा दर पर वह जितनी नकदी अपने पास जमा रखना चाहते हैं, उनके पास उससे अधिक मात्रा में नकदी जमा है। इसलिये वह इस अतिरिक्त नकद रकम को ऋण-पत्रो में लगाकर अपना पीछा छुडायेगे। इससे ऋण-पत्रो की कीमत वढेगी। अर्थात् व्याज की दर तव तक गिरती जायगी जब तक कि वह इस स्तर तक न पहुँच जाय जहाँ पर लोग अपनी अतिरिक्त नकदी को ऋण-पत्रों मे लगाना वन्द कर देंगे और उसे अपने पास जमा रखने की ओर प्रवृत्त होगे। ५९

यदि व्याज की मौजूदा दर पर लोग जितनी रकम अपने पास जमा रखना चाहते है, वास्तविक मुद्रा उससे कम है तो वह ऋण-पत्रो को वेचकर नकद मुद्रा की अपनी आवश्यकता को पूरा करेगे। इसके परिणामस्वरूप ऋण-पत्रो की कीमत गिरेगी, अर्थात् व्याज की दर मे वृद्धि होगी। व्याज की दर अधिक होने पर लोगो की नकद मुद्रा की माँग घटेगी और घटकर मुद्रा की वास्तविक मात्रा के बरावर आ जायगी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि व्याज की दर मुद्रा की पूर्ति और लोगो की मुद्रा की द्रवता की पसन्दगी के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा निश्चित होती है।

आय और रोजगार निश्चित करनेवाली शक्तियॉ (Determinants of income and employment)—आय तथा रोजगार (क्रियाशीलता) की सतह निर्धारित करनेवाले साधनो का हमने विस्तार से विश्लेषण किया है। अब आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी साधनो को परस्पर जोडा जाय और यह बताया जाय कि इनके पारस्परिक सम्बन्धो से किस प्रकार आय तथा रोजगार की सतह समान रूप से निश्चित की जाती है।

गुणक और त्वरित (Multiplier and the acceleration)—विनियोग और आय मे क्या सम्बन्ध है? हम जानते है कि आय की सतह विनियोग की मात्रा पर निर्भर करती है। जब कभी विनियोग की मात्रा मे बढती होती है या घटती होती है, उसी के अनुसार आय की मात्रा मे भी बढती-घटती होती है। तब क्या विनियोग मे परिवर्तन की दर का किसी भी रूप मे आय मे होनेवाले परिवर्तन की दर से कुछ सम्बन्ध है। यदि विनियोग मे १०० रुपये की वृद्धि हो जाय तो क्या आय की सतह मे भी १०० रुपये की वृद्धि हो जायगी? या उसमे जो वृद्धि होती है, वह कम प्रतिशत होती है या अधिक प्रतिशत? अब हम इस बात पर विचार करेगे कि विनियोग मे होनेवाले परिवर्तन की आय और रोजगार पर क्या प्रभाव पडता है।

गुणक (The Multiplier)—मानो राष्ट्रीय आय १०० करोड रुपया है और उपभोग की प्रवृत्ति की स्थिति ऐसी है कि उपभोक्ता ८० करोड रुपया खर्च कर देते है और प्रतिवर्ष २० करोड रुपया विनियोग मे लग रहा है। चूकि आय १०० करोड़ रुपया है और व्यय ८० करोड रुपया है, इसलिये बचत २० करोड रुपये के बराबर हुई। अत बचत विनियोग के बराबर हुई। जब तक उपभोग की प्रवृत्ति मे और विनियोग मे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है, तब तक राष्ट्रीय आय की सतह मे भी किसी प्रकार का परिवर्तन नही होगा।

परन्तु माना कि किसी कारणवश विनियोग मे १ करोड की वृद्धि हो जाती है, जिससे कुल विनियोग की मात्रा अब २१ करोड रुपया होगी। विनियोग की मात्रा मे हुए इस परिवर्तन का या इस वृद्धि का राष्ट्रीय आय की सतह पर क्या प्रभाव पडेगा? जब

विनियोगकर्त्ता १ करोड रुपया और व्यय करते हैं, तब विनियोग से माल के विक्रेताओं की आय में १ करोड रुपये की वृद्धि हो जायगी। इस प्रकार विनियोग मे १ करोड रुपये की वृद्धि होने से पहले दौर मे राष्ट्रीय आय मे भी १ करोड रुपये की वृद्धि हो जाती है। परन्तु यह क्रिया यही पर समाप्त नही हो जाती। जब अ, ब के माल को खरीदने मे अधिक रुपया खर्च करता है तो ब की आय बढ़ती है। इससे ब अब उपभोग की वस्तुओ मे अधिक खर्च करेगा जिससे स की आय बढेगी और फिर स भी पहले की अपेक्षा अधिक व्यय करेगा और यह क्रम इसी प्रकार चलता रहेगा। इस प्रकार विनियोग के माल की बिक्री करनेवाला जिसकी आय मे १ करोड रुपये की वृद्धि हुई है, उपभोग की वस्तुओ पर अधिक व्यय करेगा। आय जितनी ही अधिक होगी उपभोग मे व्यय भी उतना ही बढता जायगा। उपभोग मे वह वृद्धि किस हद तक होगी यह उपभोग की प्रवृत्ति पर निर्भर करता है। आय मे परिवर्तन होने से उपभोग मे जिस गति से परिवर्तन होता है उसे उपभोग की सीमात सीमात प्रवृत्ति (Marginal propensity to consume) कहते है। मान लो कि उपभोग की सीमात प्रवृत्ति २/३ के बराबर है। अर्थात् आय मे होनेवाली वृद्धि की कुल रकम का २/३ भाग उपभोग मे खर्च किया जाता है और १/३ भाग की बचत की जाती है। इसलिये बचत की सीमात प्रवृत्ति जो उपभोग की सीमात प्रवृत्ति का दूसरा रूप है १/३ के बराबर होती है।

चूँकि उपभोग की सीमात प्रवृत्ति २/३ है, इसलिये विनियोग के माल के विक्रेता जिनकी आय मे पहले १ करोड की वृद्धि हो चुकी है, इसका २/३ (अर्थात् ६६२/३ लाख रुपया) उपभोग मे व्यय करेगे। आय मे वृद्धि का यह दूसरा दौर है। इस दौर मे आय बढकर १.६६२/३ करोड रुपया हो गयी है। उपभोग के माल के उत्पादक तथा विक्रेताओ को मालूम होता है कि उनकी आय मे ६६२/३ लाख रुपये की वृद्धि की गई है। अब वह ६६२/३ लाख रुपये का २/३ अर्थात् ४४४/९ लाख रुपया उपभोग मे खर्च करेगे। कुल आय अब बढकर २.१११/९ करोड (अर्थात् १ करोड + ६६२/३ करोड + ४४४/९ करोड) रुपया हो गयी है। आय मे वृद्धि का यह तीसरा दौर है। इस प्रकार अधिक आयवाले व्यक्ति जैसे-जैसे उपभोग मे अधिक व्यय करते जाते है, दूसरो की आय बढती जाती है, जो फिर पहले की अपेक्षा उपभोग मे अधिक व्यय करते है और यह सिलसिला तब तक चालू रहता है, जब तक आय में ३ करोड पये की वृद्धि न हो जाय। इसके पश्चात् आय मे अधिक वृद्धि नहीं होती है। इस सिलसिले मे आय मे जितनी वृद्धि होती गई है, उस सबको जोडकर कुल बडी आय मालूम की जा सकती है। कुल आय मे हुई वृद्धि का विनियोग मे हुई वृद्धि से जो आनुपातिक सम्बन्ध होता है, उसे गुणक (the Multiplier) कहते है। उक्त लिखित उदाहरण मे चूँकि विनियोग मे १ करोड रुपये की वृद्धि हुई और आय मे ३ करोड की वृद्धि हुई इसलिये गुणक ३ के बराबर हुआ।

आय मे किस सीमा तक वृद्धि हो सकती है, इसका पता लगाने के लिये क्या कोई नियम है? आय की सतह चाहे कुछ भी हो विनियोग की मात्रा बचत के बराबर होनी

चाहिये। जब विनियोग में १ करोड़ की वृद्धि होती है तो बचत में भी १ करोड़ की वृद्धि होनी चाहिये। जब उपभोग की सीमात प्रवृत्ति $\frac{२}{३}$ के बराबर है, तब लोग अपनी आय का केवल $\frac{१}{३}$ भाग बचा लेते है। इसलिये उनकी बचत मे १ करोड की वृद्धि तभी होगी जब उसकी आय मे ३ करोड की वृद्धि हो। जब विनियोग में वृद्धि होती है तो आय मे उस सीमा तक वृद्धि होगी जिससे उस आय में मे विनियोग मे हुई वृद्धि के बराबर बचत हो जाय। इससे हम गुणक और उपभोग की सीमात प्रवृत्ति के बीच के सम्बन्ध का पता चला सकते है। माना म गुणक है और र उपभोग की सीमांत प्रवृत्ति है। म और र के सम्बन्ध को निम्नलिखित सूत्र से मालूम कर सकते है—

$$म = \frac{१}{१ — र}$$

चूंकि हमने माना है कि र $\frac{२}{३}$ के बराबर है, १—र $\frac{१}{३}$ के बराबर है और $\frac{१}{३}$, ३ के बराबर है। इसलिये गुणक ३ के बराबर हुआ।

अब माना कि उपभोग की सीमात प्रवृत्ति $\frac{२}{३}$ नही बल्कि $\frac{३}{४}$ के बराबर है। अर्थात् अब उपभोग की सीमात प्रवृत्ति पहले की अपेक्षा अधिक है। ऐसी स्थिति में गुणक निम्नलिखित सूत्र के बराबर होगा—

$$\frac{१}{१ — \frac{३}{४}} \text{ अर्थात् } ४$$

अर्थात् आय की सतह ४ तक बढ जायगी। जब उपभोग की सीमात प्रवृत्ति अधिक है तो गुणक भी अधिक होगा और आय में भी अधिक वृद्धि होगी। गुणक और बचत की सीमात प्रवृत्ति में विशेष अन्तर नही है।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि विनियोग तथा आय मे जो आरम्भिक वृद्धि हुई है वह निरन्तर क्यो नही बढती जाती है, जिससे आय मे अपार वृद्धि हो सके? यह प्रक्रिया अन्तहीन क्यो नही होती? इसका कारण यह है कि प्रसार की इस प्रक्रिया मे कुछ अश छूटता चलता है। ऊँची आय के जिस अश की बचत की जाती है, वह इस प्रक्रिया से अलग हो जाता है और इस प्रकार आय की मात्रा मे शामिल नही होता है। यदि ऊँची आय की पूरी रकम खर्च कर दी जाय और कुछ भी न बचाया जाय तो प्रसार की यह प्रक्रिया खत्म हो जायगी, क्योकि आय मे वृद्धि होने की दर बचत की मात्रा के अनुपात पर निर्भर करती है।[1]

[1] For a very good discussion of the complications of the theory of the multiplier, see an article by G. L S Shackle, "Twenty Years On . A Survey of the Theory of the Multiplier" in the Economic Journal, June 1951, p. 241-60.

त्वरित-फल (The acceleration effect)—गुणक के सिद्धात मे यह बताया गया है कि विनियोग मे वृद्धि होने पर उसका आय की सतह पर क्या प्रभाव पडता है। परन्तु बात यही समाप्त नही हो जाती। यदि हम यह मालूम करना चाहे कि विनियोग मे वृद्धि होने का आय पर कुल क्या प्रभाव पडा है तो इस बात पर हमे ध्यान देना होगा कि विनियोग मे वृद्धि होने से आय मे वृद्धि हुई है, उससे व्यक्तिगत विनियोग को प्रोत्साहन मिलेगा ओर आय मे होनेवाली वृद्धि का नया दोर आरम्भ हो जायगा। इसे त्वरित-फल कहते है।

जब विनियोग की मात्रा मे १ करोड रुपये की वृद्धि होती है तो उपभोग मे भी ६६$\frac{२}{३}$ लाख रुपये की वृद्धि हो जाती है। परन्तु यह तब होता है, जब उपभोग की सीमात प्रवृत्ति $\frac{२}{३}$ के बराबर हो। ऐसी स्थिति मे जैसे-जेसे उपभोग में अधिक व्यय होने लगता है, वैसे-वैसे उपभोग के माल का व्यवसाय करनेवाले फर्मो की बिक्री बढती जाती है। वह इस प्रकार का ओर अधिक माल मँगायेगे और उत्पादको को इस प्रकार के माल के उत्पादन मे वृद्धि करने के लिये ओर अधिक पूँजी लगाने को प्रोत्साहन मिलेगा। यदि कपडे की खपत अधिक होगी तो कपडे की मिले अपने कर्घो ओर तकुओ (spindles) की सख्या भी बढा देगे। इससे स्पष्ट है कि विनियोग की सतह भी आय मे होनेवाले परिवर्तन की दर पर और फलस्वरूप उपभोग की मात्रा पर हुए परिवर्तन पर निर्भर करती है। इस प्रकार आय मे वृद्धि होने से विनियोग मे होनेवाली वृद्धि तथा उसके परिणामो मे तीव्रता आ जाती है। इसीलिये इसे त्वरित-फल कहते है और उपभोग मे होनेवाले व्यय से प्रभावित होकर विनियोग मे जो परिवर्तन होता है, उसका उपभोग में होनेवाले परिवर्तन से जो आनुपातिक सम्बन्ध होता है, उसे त्वरित-गुणक (acceleration co-efficient) कहते है। उदाहरण के लिये यदि उपभोग के व्यय में २ करोड रुपये की वृद्धि से प्रभावित होकर व्यवसायी विनियोग मे आरम्भ मे की गई वृद्धि के २ के बराबर और वृद्धि करने को तैयार हो जायँ तो त्वरित गुणक (acceleration co-efficient) $\frac{२}{१}$ के बराबर होगा।

त्वरित (acceleration) के सिद्धात को तीन रीतियो से समझाया जा सकता है। पहले, माना कि उपभोग के माल की माँग १००० इकाई प्रति सप्ताह है और विक्रेता औसतन १,००० इकाई अपने पास रखते है। यदि इस माल की माँग बढकर ११०० इकाई प्रति सप्ताह हो जाय तो विक्रेता को पहले सप्ताह अधिक बिक्री हो जाने से स्टॉक में हुई कमी को पूरा करने के लिये १०० इकाई और खरीदनी पडेगी और यदि वह चाहते है कि सप्ताह भर में होनेवाली बिक्री का कुल माल स्टॉक मे रखा जाय तो वह १०० इकाई और खरीदेंगे। अर्थात् विक्रेताओ की खरीद में २०० इकाइयो की वृद्धि हो जायगी। इस प्रकार बिक्री में १० प्रतिशत वृद्धि होने से विक्रेताओ की खरीद मे २० प्रतिशत की वृद्धि हो गई। माँग में जो वृद्धि हुई थी, उसके प्रभाव मे तीव्रता आ गयी।

दूसरे, यदि उपभोग के टिकाऊ माल की माँग में वृद्धि हुई तो उपभोग के इस प्रकार के माल का उत्पादन करने के लिये आवश्यक मशीन इत्यादि की माँग में भी तीव्र गति से वृद्धि हो जायगी। मान लो कि सिलाई की १०० मशीनें है और उनकी टूट-फूट इत्यादि औसतन १० प्रतिशत है अर्थात् प्रतिवर्ष केवल १० मशीनें बदलनी पडती है। यदि सिलाई की मशीनो की माँग मे वृद्धि नही हो तो इस प्रकार की मशीनो के उत्पादको को केवल प्रतिवर्ष १० मशीनो का उत्पादन करने की आवश्यकता पडेगी। परन्तु यदि इन मशीनो की माग मे १० प्रतिशत वृद्धि हो गई तो अब उत्पादक को २० मशीनों (१० मशीने बदलने के लिये और १० नयी माँग की पूर्ति के लिये) का उत्पादन करना पडेगा। इस प्रकार माग में १० प्रतिशत की वृद्धि होने से सिलाई की मशीनो का उत्पादन करने के लिये आवश्यक मशीन इत्यादि माल की मात्रा मे १०० प्रतिशत की वृद्धि हो गयी।

अन्त मे, यदि मशीन इत्यादि दीर्घकालीन वस्तुओ की माँग बढती है तो इन मशीनो तथा अन्य दीर्घकालीन वस्तुओं का निर्माण करनेवाली मशीनो इत्यादि की माँग अधिक तेज रफ्तार से बढेगी। एक साधारण उदाहरण त्वरित-फल पर अच्छी तरह प्रकाश डाल देगा। मान लो भारत में केवल ४०० कपडे की मिलें है जो विशेष प्रकार के कर्घे का उपयोग करती है। इस प्रकार के केवल ४०० कर्घे है और इनके १० प्रतिशत को प्रतिवर्ष बदलना पडता है। इन कर्घो का निर्माण करनेवाला उद्योग प्रतिवर्ष ४० कर्घो का उत्पादन करेगा। माना इस उद्योग की उत्पादन शक्ति केवल इतनी है, जिससे प्रतिवर्ष ४० कर्घो का निर्माण किया जा सके। यदि माँग बढने पर किसी वर्ष १० मिले और स्थापित हो जाती है, तो १० और मिलो में इस प्रकार के कर्घो की माँग होगी अर्थात् कर्घो की १० इकाइयाँ बढ जायँगी। इस वर्ष कर्घा बनाने वाले उद्योग को ५० कर्घों का उत्पादन करना पडेगा जिनमें से ४० तो पुरानी मिलो में बदले जायँगे और १० कर्घे नयी मिलो में लगाये जायेंगे। इस प्रकार कर्घो की माँग में २·५ प्रतिशत की वृद्धि होने से कर्घे का उत्पादन करने वाले उद्योग की माँग में २५ प्रतिशत की वृद्धि हो जायगी। यदि अगले वर्ष फिर १० इकाइयो की वृद्धि हो तो कर्घा-निर्माण उद्योग को पुराने कर्घो के स्थान पर बदलने को ४१ कर्घो का और १० अतिरिक्त कर्घों का (नयी मिलो के लिये) अर्थात् कुल ५१ कर्घो का निर्माण करना पडेगा। अर्थात् कर्वो की माँग मे २ ४ प्रतिशत की वृद्धि होने से उद्योग की माँग में केवल २ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस प्रकार जब अतिरिक्त कर्घो की बढी माँग में गत वर्ष की अपेक्षा १ प्रतिशत की कमी आयी तब कर्वों का उत्पादन करनेवाली मशीनो की माँग में पहले वर्ष की २५ प्रतिशत वृद्धि से वास्तव मे दूसरे वर्ष केवल २ प्रतिशत वृद्धि हुई। यदि तीसरे वर्ष भी कर्घो की माँग दूसरे वर्ष के अनुसार ४२० कर्घा ही रही तो इन कर्वो का निर्माण करनेवाली मशीनो की माग में ४२ प्रतिशत कमी आ जायगी जब कि कर्घा-निर्माण उद्योग ५१ कर्घों का प्रतिवर्ष

उत्पादन कर सकता है। इस प्रकार यद्यपि कर्घों की माँग पहले के समान ही रहती है फिर भी कर्घा निर्माण-उद्योग की माँग मे काफी गिरावट का सामना करना पडेगा।।

त्वरित-फल को प्रेपित माग का सिद्धान्त (principle of derived demand) भी कहते है। इससे यह प्रकट होता है कि यदि किसी वस्तु की माँग मे थोडा परिवर्तन हो जाय तो यह थोडा परिवर्तन क्रमश बढता जाता है और मूल उद्योग पर काफी बडी शक्ति के रूप मे प्रभाव डालता है।

गुणक और त्वरित की पारस्परिक क्रिया
(Inter-action of the Multiplier and the Acceleration)

जब विनियोग में परिवर्तन होता है, तब गुणक और त्वरित के प्रभाव सयुक्त रूप धारण कर लेते है। जब विनियोग मे वृद्धि होती है तो आय मे वृद्धि होती है और यह वृद्धि गुणक (multiplier) पर निर्भर करती है। आय में इस वृद्धि का परिणाम यह होगा कि और अधिक विनियोग के लिये प्रोत्साहन मिलेगा, और वृद्धि होगी और वृद्धि कितनी होगी यह त्वरित-गुणक (acceleration co efficient) पर निर्भर करेगा। विनियोग मे यह वृद्धि गुणक (multiplier) प्रक्रिया को पुन आरम्भ कर देगी, जिससे आय में और वृद्धि होगी और परिणाम-स्वरूप पुन विनियोग मे वृद्धि होगी। यह क्रम इसी प्रकार चलता रहेगा।[1] गुणक और त्वरित (multiplier और acceleration) का कुल योग उत्थानकारी प्रभाव (leverage effect) कहलाता है।

इस प्रकार यदि गुणक और त्वरित प्रभाव (multiplier और acceleration effect) सयुक्त रूप से क्रियाशील हो तो आय मे लगातार वृद्धि होगी। क्या प्रसार की यह प्रक्रिया कभी समाप्त होगी ? यदि उपभोग की सीमाँत प्रवृत्ति त्वरित प्रभाव (acceleration effect) अधिक ऊँचे हो, तो यह प्रसार-क्रिया निरन्तर ऊँची सतहो को छूती जायगी। यह वृद्धि तब तक जारी रहेगी, जब तक कि श्रम की पूर्ण क्रियाशीलता या मशीन इत्यादि की पूर्ण कार्यक्षमता की अधिकतम सीमा न आ जाय। इस स्थिति पर पहुँचने के बाद उत्पादन गिरने लगेगा और विनियोग बन्द हो जायगा। इसके अलावा जब तक बचत की सीमात प्रवृत्ति धनात्मक (positive) है, आय में होनेवाली वृद्धि के अधिकाश की निरन्तर बचत करते रहने से आय में वृद्धि क्रमश कम होती जायगी। इससे प्रोत्साहन पाकर किये गये विनियोग

[1] देखिये *P A Samuelson*, "Interaction between the Multiplier Analysis and the Principle of Acceleration", republished in the Readings in Business Cycle Theory.

मे गिरावट आने लगती है। त्वरित प्रभाव (acceleration effect) को समझाते समय जो उदाहरण दिया गया था, उसमे हमने देखा है कि तीसरे वर्ष वस्तु की मांग मे लगभग उसी प्रतिशत मे वृद्धि होने पर मूल उद्योग की मांग मे भारी गिरावट आ गई। जब विनियोग मे गिरावट उपभोग मे हुई वृद्धि मे अधिक हो जाती है, तब आय मे भी गिरावट आरम्भ हो जाती है। इसलिये त्वरित-प्रभाव (acceleration effect) के होते हुए बचत की धनात्मक सीमान्त प्रवृत्ति आय मे होने वाली वृद्धि को रोक देगी। इसके अलावा विनियोग मे निरन्तर वृद्धि होने से पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता कम होने लगती है और ऐसी स्थिति पर पहुँच जाती है जब और अधिक विनियोग अधिक लाभप्रद नही होता है।

साराश (Summary)

पिछले पृष्ठो मे हमने जिन बातो पर विचार किया है, अब हम उसका साराश दे सकते है। चूँकि एक व्यक्ति की आय होती है, इसलिये किसी समाज की कुल आय (मुद्रा मे) उसके कुल व्यय के बराबर होती है। कुल व्यय को दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है—उपभोग की वस्तुओ पर व्यय और विनियोग मे व्यय। दोनो प्रकार के व्यय मिलाकर कुल व्यय और कुल आय कहे जा सकते है। रोजगार की मात्रा भी कुल व्यय की मात्रा पर निर्भर करती है, इसलिये वह कुल आय पर भी निर्भर करती है। यदि पूर्ण रोजगार या क्रियाशीलता की स्थिति पैदा करनी है, तो कुल व्यय की मात्रा इतनी अधिक होनी चाहिए, जिसमे प्रत्येक रोजगार चाहनेवाले को रोजगार दिया जा सके।

इसलिये रोजगार की मात्रा या आय की सतह उपभोग की वस्तुओ पर तथा विनियोग मे किये गये व्यय की मात्रा पर निर्भर करती है, अर्थात् उपभोग तथा विनियोग पर निर्भर करती है।

उपभोग मे व्यय दो बातो पर निर्भर करता है—कुल आय और उपभोग की प्रवृत्ति। उपभोग की प्रवृत्ति मुद्रा-आय का वह अनुपात है, जो उपभोग मे व्यय किया जाता है। इसलिये यदि मुद्रा आय का स्तर दिया हुआ हो, तो उपभोग की मात्रा उपभोग की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। आय मे वृद्धि होने के साथ ही उपभोग मे भी वृद्धि होगी, परन्तु यह वृद्धि कम प्रतिशत मे होगी। अर्थात् उपभोग की प्रवृत्ति एक से कम होगी। साधारण स्थिति मे उपभोग की प्रवृत्ति अधिकतर स्थिर रहती है। इसलिये उपभोग की मात्रा आय मे परिवर्तन के साथ-साथ उस स्तर तक बढती-घटती रहती है, जहाँ पर बचत और विनियोग बराबर होते है।

इसलिये आय और रोजगार को निश्चित करने के लिये सबसे अधिक सक्रिय विनियोग है। वास्तव मे आय तथा रोजगार की स्थिति मे जो परिवर्तन

होते रहते है उसके लिये विनियोग मे होनेवाले परिवर्तन ही उत्तरदायी है। विनियोग भी दो बातो पर निर्भर करता है—पूंजी की सीमात कार्यक्षमता, और व्याज की दर। व्याज की दर मुद्रा की मात्रा और द्रवता-पसन्दगी की सूची द्वारा निश्चित की जाती है। यह तीन पूंजी की सीमांत कार्यक्षमता, द्रवता-पसन्दगी की सूची और मुद्रा की मात्रा—विनियोग की मात्रा निश्चित करते है। इन तीनो मे परस्पर जो सम्बन्ध है, उसे निम्नलिखित रीति से समझाया जा सकता है—व्याज की दर ऐसी होगी जहाँ पर मुद्रा की मात्रा द्रवता-पसन्दगी की सूची के वरावर होगी। इस प्रकार व्याज की मात्रा एक वार निश्चित कर लेने के बाद विनियोग की मात्रा इतनी होगी जिससे पूंजी की सीमात कार्यक्षमता मे तथा व्याज की दर मे साम्य स्थापित हो सके। पूंजी की सीमांत कार्यक्षमता जव तक व्याज की दर के वरावर नही होगी, तव तक विनियोग की मात्रा बढती-घटती रहेगी।

यदि विनियोग की मात्रा दी हुई हो तो आय का स्तर किस प्रकार निर्धारित करेगे? इस सिद्धान्त का दूसरा महत्वपूर्ण आधार यह है, कि विनियोग वचत के वरावर होता है। इसलिये जब विनियोग मे निश्चित मात्रा मे वृद्धि हो, आय के स्तर मे भी पर्याप्त वृद्धि होनी चाहिए, जिससे लोगो को उतनी ही मात्रा मे वचत करने की प्रेरणा मिले। यदि विनियोग मे १० करोड रुपये के वरावर वृद्धि होती है, तो आय मे भी इतनी ही वृद्धि होनी चाहिए जिससे १० करोड रुपये की और वचत हो सके। इसलिये आय के स्तर मे जो वृद्धि होती है वह आय के उस अश पर निर्भर करती है, जिससे लोग वचा लेते है। यदि आय में जितनी वृद्धि हुई है लोग उसका $\frac{1}{3}$ वचा लेते है, तो आय का स्तर भी तीन गुना बढ जाना चाहिए। अर्थात् लोगो को १० करोड रुपये की और वचत करने की प्रेरणा देने के लिये आय में ३० करोड की वृद्धि होनी चाहिए, क्योकि ३० करोड का $\frac{1}{3}$ भाग १० करोड रुपये के वरावर होता है। "वचत की सीमात प्रवृत्ति" का उपयोग आय में हुए परिवर्तन के उस अनुपात को प्रकट करने के लिये किया जाता है, जो लोगो ने वचा लिया है। यदि वचत की सीमात प्रवृत्ति $\frac{1}{3}$ है, तो आय में ३ के बराबर परिवर्तन हो जायगा; यदि वचत की सीमांत प्रवृत्ति $\frac{1}{4}$ है तो आय में ४ के बरावर परिवर्तन आ जायगा। आय मे जो परिवर्तन होगा वह वचत की सीमांत प्रवृत्ति का तत्सवधी होगा। विनियोग मे परिवर्तन होने के साथ ही जिस दर से आय मे परिवर्तन होता है, उसे गुणक (multiplier) कहते है। जव वचत की सीमांत प्रवृत्ति $\frac{1}{3}$ है तव गुणक (multiplier) ३ के वरावर होगा। गुणक (multiplier) वचत की सीमात प्रवृत्ति का तत्सम्वन्धी होता है। वचत की सीमांत प्रवृत्ति उपभोग की सीमात प्रवृत्ति के अनुपात ही मे होती है। जिस वस्तु का उपभोग नही किया जाता उसकी वचत की जाती है। इसलिये आय की सतह विनियोग की मात्रा तथा उपभोग की सीमात प्रवृत्ति के द्वारा निश्चित की जाती है।

इनके अलावा एक ओर बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है। विनियोग में परिवर्तन होने के कारण जैसे आय में भी परिवर्तन होता है, उससे व्यवसायी के अनुमान मे भी परिवर्तन होता है और इससे पूंजी की सीमान्त कार्यक्षमता मे वृद्धि भी हो सकती है और ह्रास भी हो सकता है। आय मे हुए परिवर्तन से प्रेरित विनियोग को त्वरित (acceleration effect) कहते है। त्वरित के सिद्धान्त के प्रभाव से आय मे और परिवर्तन होते है। इसलिये आय के चढने और उतरने की अधिकतम और न्यूनतम सीमा गुणक प्रभाव और त्वरित प्रभाव (multiplier effect और acceleration effect) के परिणाम पर निर्भर करती है।

मजदूरी और रोजगार (Wages and Employment)—क्या मजदूरी की दर और रोजगार की मात्रा मे कुछ सम्बन्ध है? अर्थशास्त्र मे यह अत्यन्त भ्रम पैदा करने वाली समस्या है। इस प्रश्न को सुनते ही शीघ्र दिमाग मे यह सम्बन्ध आ जाता है कि यदि मजदूरी अधिक होगी तो रोजगार कम होगा और यदि मजदूरी कम होगी तो रोजगार अधिक होगा। इसलिये आर्थिक मन्दी के समय जब मजदूरी मे कटौती की जाती है, तब उससे रोजगार बढना चाहिए। मजदूरी मे कटौती करने से व्यवसाय की लागत मे कमी हो जाती है। इसलिये वह उत्पादित माल की कीमत भी घटायेगा और कम कीमत पर उसकी बिक्री बढने की सभावना है। निस्सदेह वह अधिक रोजगार की व्यवस्था करेगा। एक व्यवसायी के सम्बन्ध मे यह बात सही हो सकती है, परन्तु जब सभी व्यवसायी मजदूरी मे कटौती करने लगते है, तब स्थिति जटिल हो जाती है।

सर्वत्र मजदूरी मे कटौती करने का अर्थ है, प्राय सभी वस्तुओ की लागत में कमी हो जायगी। परन्तु इससे मजदूरो की मुद्रा आय भी गिर जायगी इसलिये उपभोग मे उनके द्वारा होनेवाला व्यय भी कम हो जायगा। इस प्रकार वस्तुओं की कुल मॉग गिर जायगी। मजदूरी मे कटौती एक प्रकार से दोधारी तलवार के समान है। इससे एक ओर लागत घट जाती है और दूसरी ओर आय कम हो जाती है और इस प्रकार कुल मॉग घट जाती है। यह निश्चित नही है कि मजदूरी मे कटौती करने से रोजगार मे वृद्धि होगी। यह तब होगा जब वस्तुओ की कुल मॉग मे जो कमी हुई है, वह लागत में हुई कमी से कम हो। परन्तु निश्चयपूर्वक यह नही कहा जा सकता है कि ऐसा होगा।

यह समस्या वास्तव मे बडी जटिल है। लागत मे कमी होने और कुल माग मे कमी का रोजगार पर अप्रत्यक्ष पर अनुकूल प्रभाव पड सकता है। पहले, आय मे कमी का अर्थ है वस्तुओ की बिक्री में कमी और फलस्वरूप लेन-देन की मात्रा मे भी। लेन-देन के लिये मुद्रा की मॉग घट जाती है और यदि मुद्रा की मात्रा पूर्ववत् ही रहती है, तब व्याज की दर में कमी हो जायगी। व्याज की दर मे कमी हो जाने से विनियोग में वृद्धि हो सकती है। और फलस्वरूप रोजगार बढ सकता है। इसके

साथ ही मजदूरी मे कटौती करने से यह सभव है कि व्यवसायी उत्पादन के अन्य साधनो के स्थान पर मजदूरो के श्रम का उपयोग करे, क्योंकि मजदूरी मे कटौती से मजदूर का श्रम अधिक सस्ता है। इसलिये मजदूर के रोजगार मे वृद्धि हो सकती है। यह तभी होगा जब उत्पादन के अन्य साधनो की कीमते निश्चित और स्थिर हो, परन्तु मजदूरी की दर परिवर्तनशील हो। वास्तव मे यह मानना अधिक न्यायसगत जचता है कि अन्य साधनो की कीमते भी परिवर्तनशील है। ऐसी स्थिति मे यह हो सकता है कि मजदूरी मे कटौती के साथ ही अन्य साधनो की कीमतो मे भी कमी आ जाय और ऐसी स्थिति पैदा न हो सके जिसमे अन्य साधनो के स्थान पर मजदूरो को नियुक्त किया जाय। यदि कोई इसी मान्यता पर दृढ रहे कि जब मजदूरी परिवर्तनशील है अन्य साधनो की कीमत जैसे व्याज, लगान इत्यादि स्थिर है, तो इससे कुल माँग मे गिरावट आ जायगी। मजदूरी मे कटौती का अर्थ है, उन मजदूरो की आय मे कमी जिनकी उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति बहुत अधिक होती है, जब कि व्याज वसूलने वालो और लगान वसूलनेवालो की आय समान रहती है, उसमे कुछ परिवर्तन नही होता है। चूँकि इनकी उपभोग की सीमान्त प्रवृत्ति कम होती है, इसलिये कुल माँग में कमी होने की सभावना रहती है। इसका परिणाम रोजगार के प्रतिकूल होगा।

मजदूरी मे कटौती के साथ ही विदेशी बाजार मे हमारे माल की खपत पर अच्छा प्रभाव पड सकता है। यदि केवल हमारे देश मे मजदूरी घटायी जाय तो यहाँ से जो माल विदेशो को निर्यात किया जाता है, उसकी कीमत विदेश मे घट जायगी। इससे निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा और इससे विदेशी भुगतान की स्थिति हमारे अनुकूल रहेगी। अर्थात् विदेशो में हमारी माल की खपत बढेगी और फलस्वरूप अधिक रोजगार की स्थिति पैदा होगी। परन्तु यदि मजदूरी मे और अधिक कटौती की सभावना रही तो विदेशी व्यवसायी मौजूदा समय मे अधिक मात्रा मे माल नही खरीदेगे। ऐसी स्थिति मे विदेशी विनियोग या विदेशो को भेजे जानेवाले माल की मात्रा मे गिरावट आ जायगी।

मजदूरी मे कटौती का रोजगार की मात्रा पर जो प्रभाव पडता है, वह केवल विनियोग पर ही निर्भर नही करता है, बल्कि उपभोग की प्रवृत्ति पर भी निर्भर करता है। चूँकि उपभोग की प्रवृत्ति आय के वितरण पर निर्भर करती है, इसलिये मजदूरी में कटौती होने से उपभोग की प्रवृत्ति मे गिरावट आ सकती है। वह इससे स्पष्ट हो जायगा कि मजदूरी में कटौती होने से वेतन-भोगियो की आय कम हो जाती है। दूसरी ओर

उपभोग की प्रवृत्ति पर मजदूरी मे कटौती होने का जो प्रभाव पडता है, वह अनुकूल हो सकता है। मजदूरी मे कटौती होने से जहाँ तक कीमतो मे गिरावट आती है, वहाँ तक इससे नकद रकम का मूल्य बढ जाता है। जब जमा-बचत का वास्तविक मूल्य बढता है, तब उपभोक्ता को ऐसा मालूम होता है जैसे वह पहले की अपेक्षा अधिक धनवान हो गया है और इस भावनावश वह अपनी आय मे से पहले की अपेक्षा अधिक अश खर्च कर सकते है। इससे उपभोग की मात्रा बढेगी और परिणामस्वरूप रोजगार मे भी वृद्धि होगी। इस अनुकूल प्रभाव के लाभ की सीमा इस बात पर निर्भर करेगी कि समाज के कितने बडे भाग के पास नकद रकम है। समाज मे नकद रकम के व्यापक वितरण का प्रभाव इस लाभ की सीमा को बढा सकता है।

इसलिये यह निश्चित नही है कि मजदूरी मे कटौती होने से रोजगार मे वृद्धि होगी। ऐसा मालूम होता है कि जो साधन रोजगार बढाने में सहायक होते है, वह रोजगार की मात्रा घटानेवाले साधनो से सतुलित हो जाते है। इस प्रकार स्पष्ट है कि मजदूरी और रोजगार का सम्बन्ध बहुत जटिल है। "अब ऐसे अर्थशास्त्रियो की सख्या बहुत कम है (अगर कोई है तो) जो या तो इस बात पर जोर देते है कि मजदूरी मे कटौती होने से निश्चय ही रोजगार बढेगा या इस प्रकार की कटौती का अनुकूल प्रभाव नही हो सकता है। ऐसी बहुत-सी अज्ञात बातें है, जो विशेष परिस्थितियो में और विशेष शर्तों के आधार पर बदलती रहती है।"[1]

---

[1] "There are few, if indeed any, economists now who will dogmetically assert either that wages cuts will surely increase employment or that such cuts cannot possibly have any favourable effect. There are too many unknowns that vary with special conditions and special circumstances"

—*Henson, A. H.*, Monetary Theory and Fiscal Policy, p. 126.

अध्याय ४४

बेरोजगारी और पूर्ण रोजगार अथवा पूर्ण कार्यशीलता

(Unemployment and Full Employment)

जितने उद्योग-प्रधान देश है, उनकी बडी-बडी समस्याओ मे से एक महत्वपूर्ण समस्या जनता मे होनेवाली वेरोजगारी की समस्या है। इन सब देशो मे श्रम की पूर्ति का निश्चय थोडे से समय मे होता है। परन्तु उपभोग की पसन्दगियो मे परिवर्तन होते रहने के कारण श्रम की माँग मे भी परिवर्तन होते रहते है। इसलिये श्रम की माँग और पूर्ति मे असामजस्य अवश्य होगा। इसके परिणामस्वरूप लोगो मे वेरोजगारी होती है।

सबसे पहले 'वेरोजगारी' शब्द की परिभाषा करनी आवश्यक है। जैसा कि प्राय. समझा जाता है, वेरोजगारी का तात्पर्य मध्यवर्ग के उन लोगो से नही है, जिनके पास आराम से जिन्दगी विताने के साधन होते है। वेरोजगारी का तात्पर्य केवल मजदूर पेशा लोगो से है। यह सभव है कि मजदूरी करनेवाले लोग आलस और कामचोरी के कारण वेरोजगार रह सकते है, परन्तु ऐसे मजदूरो को हम बेरोजगार नही समझते। वेरोजगार लोग वह होते है, जिन्हे मजदूरी की प्रचलित दरो पर इच्छानुसार काम नही मिलता है।

वेरोजगारी की किस्मे

लेखको ने वेरोजगारी का वर्गीकरण भिन्न-भिन्न तरीको से किया है। एक तो अस्थायी वेरोजगारी (casual unemployment) होती है। लगभग सभी उद्योगो मे काम सम्वन्धी अकस्मात या एकाएक परिवर्तन होते रहते है। किसी समय काम बहुत तेजी पर रहता है और बढे हुए काम को समय पर पूरा करने के लिये उद्योगपति बडी सख्या में मजदूर चाहते है। किसी समय काम में बदी रहती है और श्रमिको की एक संख्या वेरोजगार हो जाती है। वन्दरगाहो पर काम करने वाले मजदूरो के सम्बन्ध मे ऐसा ही होता है। इस प्रकार बेरोजगारो की एक चलती-फिरती सख्या (floating surplus) रहती है और इसे सुरक्षित श्रम (reserve of labour) कहते है। दूसरे जो मौसमी धधे रहते है, उनमे भी वेरोजगारी होती है। कुछ उद्योग ऐसे होते है जिनमे मजदूरो को वर्ष मे केवल कुछ समय के लिये काम मिलता है। भारत मे चीनी के उद्योगो मे ऐसा ही होता है। चीनी के कारखानो मे नवम्बर से लेकर अप्रैल या मई तक काम चलता है। वाकी महीनो मे मजदूर वेरोजगार रहते है, हमारे देश में कृषि मे लगे हुए मजदूरो का भी यही हाल

है। तीसरे व्यवसाय-चक्र जनित बेरोजगारी (cyclical unemployment) होती है। व्यवसाय-चक्र सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण यह बेरोजगारी फैलती है। पानी में उठने वाली ऊँची-नीची तरगो की तरह व्यवसाय मे भी एक के बाद एक तेजी और मदी के समय आते है। इन व्यवसाय-चक्रो का बेरोजगारी की मात्रा पर बहुत बडा प्रभाव पडता है। जब व्यवसाय अच्छा रहता है, तब बेरोजगारी कम हो जाती है और जब व्यवसाय मे मन्दी रहती है, तब बेरोजगारी बढ जाती है। चौथे, उद्योग के सगठन में हमेशा परिवर्तन होते रहते है और इन परिवर्तनो के कारण भी कुछ बेरोजगारी होती रहती है। आधुनिक व्यवसाय प्रधानत प्रगतिशील होते है। नये-नये आविष्कार होते रहते है और नई-नई मशीनो का प्रयोग होता रहता है। इससे कुछ मजदूर कुछ समय के लिए बेरोजगार हो जाते है। कभी किसी वस्तु की माँग अधिक हो जाती है तो कभी किसी अन्य वस्तुओ की। जिस वस्तु की माँग गिर जाती है, उसी के उद्योग मे बेरोजगारी फैल जाती है। इसे "औद्योगिक बेरोजगारी" (technological unemployment) कहते है। अतिम, आर्थिक व्यवस्था मे कुछ सघर्ष होते रहते है और उनके कारण भी बेरोजगारी हो सकती है। विभिन्न मौसमो के अनुसार माग मे जो परिवर्तन होते है, अथवा एक काम से दूसरे काम पर जाने मे जो समय व्यर्थ जाता है, इत्यादि कारणो से भी बेरोजगारी फैल सकती है। इसे सघर्षक या आशिक बेरोजगारी (frictional unemployment) कहते है।

कारण। बेरोजगारी के कारण बहुत पेचीदे है। यहाँ हम केवल कुछ प्रधान कारणो की विवेचना कर सकते है। मौसमी बेरोजगारी प्रधानत जलवायु तथा सामाजिक कारणों से होती है। जलवायु अथवा अन्य प्राकृतिक कारणो से विभिन्न महीनो मे श्रम की माँग मे परिवर्तन होता रहता है। औद्योगिक बेरोजगारी पुराने व्यवसायो के समाप्त होने और उनकी जगह नये व्यवसायो के उत्पन्न होने से होती है, जैसे कि आजकल घोडागाडी का स्थान मोटरकार ने ले लिया है। औद्योगिक अर्थात् पेशासम्बन्धी बेरोजगारी मशीन के उपयोग के कारण भी हो सकती है, क्योकि आदमियो का काम मशीन द्वारा होने लगता है। कताई और बुनाई का काम अब मशीनो द्वारा होता है। इस प्रकार की बेरोजगारी तब भी हो सकती है, जब उद्योग मे युक्तिसगत पुनर्संगठन अथवा अभिनवीकरण (Rationalisation) इत्यादि की योजनाएँ लागू की जाय। परन्तु यदि श्रम मे अधिक गतिशीलता अथवा भ्रमणशीलता हो तो इस प्रकार की बेरोजगारी के कालो की अवधि कम की जा सकती है। परन्तु दुर्भाग्य से बहुधा बहुत से धन्धो में

श्रम की गतिशीलता नही पाई जाती है। गतिशीलता की कमी बहुधा बेरोजगारी का कारण बन जाती है। जिन कारणो से बार-बार व्यवसाय-चक्र होते है। उन्ही कारणो से चक्रो के अनुसार बेरोजगारी भी होती है।

पुराने अँग्रेज अर्थशास्त्रियो का मत था कि बेरोजगारी का एक कारण यह भी था कि मजदूरी की मुद्रा सतह या दर ट्रेड यूनियनो के दबाव या प्रभाव से अस्वाभाविक ऊँची सतह पर रखी जा रही थी। यदि गिरती हुई कीमतो के बावजूद मजदूरी की दर ऊँची और अपरिवर्तनशील रखी जावे तो कुछ बेरोजगारी अवश्य होगी, क्योकि इस ऊँची दर पर उद्योगपति श्रम की पूरी मात्रा को काम पर न ले सकेंगे। इस दलील का लार्ड कीन्स ने विरोध किया है। उनका मत है कि बेरोजगारी का कारण यह होता है कि वस्तुओ और सेवाओ की जो वर्तमान माग है, वह इतनी काफी नही है कि प्राप्त श्रम की पूरी मात्रा विभिन्न कार्यो मे पूरी-पूरी लगाई जा सके। रोजगार लोगो की कुल आय उपभोग पर खर्च होने अथवा उत्पादन पर लगने पर निर्भर होती है। परन्तु किसी देश मे जैसे-जैसे लोगो की मुद्रा आय बढती है, वैसे-वैसे लोग तत्काल उपभोग पर अपनी आय का अपेक्षाकृत कम अनुपात खर्च करेगे। इसलिये उत्पादको की आय मे कमी होगी और वे विभिन्न साधनो का उपभोग कम मात्रा मे करने का प्रयत्न करेगे। यदि उत्पादक वस्तुओ पर काफी पूँजी लगाई जाय तो इस प्रवृत्ति को दूर किया जा सकता है। परन्तु एक धनी देश मे पूँजी लगाने के नये मौके अपेक्षाकृत कम होगे। इसलिये सभव है कि उत्पादक पूँजी की मात्रा आवश्यक रूप मे न बढ सके और फल यह होगा कि श्रम वर्ग के एक अश को काम न मिल सकेगा।[1]

कीन्स के मतानुसार अनिश्चित बेरोजगारी।

बेरोजगारी की समस्या हल करने के लिये समय-समय पर कई प्रकार के उपाय सुझाये गये है। अस्थायी बेरोजगारी को मिटाने का उपाय इस अस्थायीपने को खतम करना है। जहाँ तक हो सके, श्रम की अपनी-अपनी सुरक्षित मात्रा नही रखनी चाहिये। सब अस्थायी श्रम कुछ केन्द्रो से प्राप्त करना चाहिये। इसके लिये श्रम एक्सचेज अथवा एम्प्लायमेन्ट एक्सचेज (रोजगार दफ्तर) स्थापित किये जाने चाहिये। इन एक्सचेजो में एक रजिस्टर रहता है, जिसमें बेरोजगार पुरुषो-स्त्रियो के नाम लिखे जाते है और विभिन्न कारखानो मे जैसे-जैसे श्रमिको की माँग होती जाती है, वैसे-वैसे इन बेरोजगार आदमियो को काम मिलता जाता है। उद्योगपतियो के यहाँ जितनी जगहे खाली होती है अथवा जैसे आदमियो की आवश्यकता होती है उनकी सूचना एक्सचेज के पास भेज दी जाती है और ये एक्सचेज अपने रजिस्टर मे दर्ज नामावली मे से उपयुक्त आदमी देने

उपाय।

---

[1] General Theory of Employment, Interest and Money.

का प्रयत्न करते है। एक व्यवसाय के साथ दूसरे का सम्बन्ध और सम्पर्क स्थापित कर के मोसमी बेरोजगारी दूर करने की कोशिश की जाती है। जैसे कि कृषि का काम करने वाले लोग सहायक धन्धो के रूप मे कुछ घरेलू उद्योग कर सकते है। फिर जहाँ सभव हो उत्पादको को मदी के समय मे कुछ माल जमा करके रखने का भी प्रोत्साहन देना चाहिए। अथवा उन्हे भविष्य के लिये पहले से मॉग स्वीकार करनी चाहिए। जिन कामो से श्रम की गतिशीलता बढेगी उनमे बेरोजगारी की मात्रा अवश्य कम होगी। जब मॉग की कमी के कारण कुछ लोग एक उद्योग मे काम खो बैठते है ओर बेरोजगार हो जाते है। तो उन्हे अन्य उद्योगो ओर कला-कोशल सम्बन्धी शिक्षा मिलने के प्रबन्ध होने चाहिये। यह सुझाव भी अक्सर रखा जाता है कि निर्माण तथा अन्य कार्यो पर (Capital Expenditure) सरकार को अधिक व्यय करना चाहिये जिसमे श्रम की सामूहिक मॉग बढे। जब बेरोजगारी बहुत अधिक फैली हुई हो, तब सरकार को बडे पैमाने पर निर्माण-कार्य करना चाहिये, अर्थात् सडके, नहरे, रेले, पार्क इत्यादि बनवाने चाहिये, पोस्ट आफिस खोलने चाहिये तथा इसी प्रकार के अन्य कार्य करने चाहिये। इससे बेरोजगारी की मात्रा मे काफी कमी होगी।

बेरोजगारी का बीमा।

परन्तु यह सब काम करने पर भी कुछ आदमी अवश्य बेरोजगार रहेगे। प्रत्येक प्रगतिशील देश की सरकार इन बेरोजगारो की सहायता बेरोजगारी की बीमा योजनाओ (Unemployment Insurance Scheme) के द्वारा करती है। एक केन्द्रीय बेरोजगारी कोष (Central Unemployment Fund) स्थापित किया जाता है। इस कोष में मजदूर, उद्योगपति तथा सरकार तीनो एक निश्चित अनुपात मे आर्थिक सहायता नियमित रूप से देते है। जब मजदूर काम पर लगे रहते है तब इस कोष में चन्दा देते है और जब बेरोजगार हो जाते है, तब इससे आर्थिक सहायता (doles) प्राप्त करते है।

पूर्ण रोजगार या पूर्ण क्रियाशीलता (Full employment)—बेरोजगारी के अभिशाप के दो पहलू होते है—सामाजिक ओर आर्थिक। इसलिये जितने प्रगतिशील देश है, वह सब सामूहिक बेरोजगारी दूर करना अपना कर्त्तव्य समझते है। इसलिये इधर कुछ दिनो से आर्थिक नीति का उद्देश्य पूर्ण रोजगार की स्थिति बनाये रखना माना जाता है। ध्यान रहे कि 'पूर्ण रोजगार' का अर्थ वैसा नहीं है जैसा उसके शब्दो से प्रकट होता है। इसका अर्थ ऐसी परिस्थिति है, जिसमे अनिच्छित बेरोजगारी इतनी कम रहती है कि वह कोई बडी सामाजिक समस्या का रूप धारण नहीं करती। यह स्वाभाविक है कि एक निश्चित अथवा दिये हुए समय मे कुछ लोग बेरोजगार अवश्य रहेगे—ऐसे लोग जो एक काम छोडकर दूसरे काम पर जा रहे है या जो किसी अन्य उद्योग या शिल्प मे शिक्षा पाने की प्रतीक्षा मे है। अधिकतर लेख 'पूर्ण रोजगार' का जो अर्थ लगाते है, उसमे यह न्यूनतम 'आशिक या सघर्षक बेरोजगारी' स्वीकृत की

जाती है। पूर्ण रोजगार की शर्त केवल यह है कि जो लोग किसी एक समय बेरोजगार हो जावे, उन्हे बिना विलम्ब, उचित दर पर अपनी शक्ति के अनुसार नया काम मिल जाना चाहिये।

पुराने अँग्रेज अर्थशास्त्रियो के मतानुसार स्वतत्र प्रतियोगितापूर्ण सामाजिक व्यवस्था मे बड़े पैमाने पर बेरोजगारी केवल अस्थायी रूप मे होती है। जिस आदमी के श्रम का कुछ भी मूल्य है, उसे जल्दी अथवा देर मे अपनी शक्ति और योग्यता के अनुसार काम अवश्य मिल जायगा। यदि किसी मनुष्य को काफी समय तक कोई काम न मिले तो इसका अर्थ यह होगा कि उसकी जितनी योग्यता है, वह उससे अधिक मजदूरी माँगता है। कुछ व्यवसायो अथवा क्षेत्रो मे अवनति होने के कारण थोड़ी-सी 'सघर्षक बेरोजगारी' और कुछ 'बेरोजगारी' तो अवश्य रहेगी। परन्तु प्रतियोगिता पूर्ण आर्थिक व्यवस्था मे काफी लोच होती है, जिसके कारण ये बेरोजगार आदमी एक उचित समय के भीतर विभिन्न उद्योगो मे काम पा सकते है? बहुत अधिक समय तक बेरोजगारी केवल इस कारण रह सकती है कि मजदूर बहुत अधिक ऊँची मजदूरी मागते है। मजदूरी की अत्यधिक ऊँची दर का कारण एकाधिकारी ट्रेड यूनियनो का प्रभाव भी हो सकता है। यदि इस प्रकार के एकाधिकार पूर्ण दबाव छोड दिये जायें तो प्रतियोगिता के कारण मजदूरी की दर नीची या कम हो जायगी और इन कम दर पर बेरोजगार मजदूरो को उपयुक्त काम मिल जायँगे।

आधुनिक अर्थशास्त्री इस मत को स्वीकार नही करते। अब यह बात स्वीकार की जाती है कि मजदूरी की मुद्रा दर में कमी करने से रोजगार की मात्रा इतनी नही बढ़ाई जा सकती कि बेरोजगारी बिलकुल खतम हो जाए। स्वर्गीय लार्ड कीन्स ने पुराने अर्थशास्त्रियो का खण्डन बहुत तर्कपूर्ण युक्तियो से किया और ऐसे सुझाव रखे जिसके द्वारा पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। उसके मतानुसार बेरोजगारी का कारण यह है कि श्रम की जितनी पूर्ति होती है, उतनी माँग नही होती है। माँग की मात्रा पूर्ति की मात्रा से कम होती है। रोजगार देश के खर्च के ऊपर निर्भर होता है। पूर्ण रोजगार कुल आय को एक निश्चित समय में उत्पादन मे खर्च करने पर निर्भर होता है। कुल आय एक निश्चित अनुपात मे उपभोग की वस्तुओ और उत्पादक वस्तुओ पर खर्च की जा सकती है। यदि कुछ लोग उपभोग पर कम खर्च करने का निश्चय करते है, तो उपभोग पर इस कम खर्च के बदले उत्पादक वस्तुओ पर उतना ही अधिक खर्च होना चाहिये। यदि ऐसा नही किया जायगा तो माँग मे कमी पड़ जायगी और परिणामस्वरूप श्रम की पूर्ति की जितनी मात्रा प्राप्त है, वह सब उत्पादन मे नही खप सकती। कीन्स का मत है कि सम्भव है कि एक निश्चित स्थिति के बाद उत्पादक पूंजी मे आवश्यक वृद्धि न हो और यदि पूंजी

पूर्ण रोजगार की स्थिति तक न पहुँचने के कारण।

और माँग को प्रोत्साहन देने के लिये विशेष उपायो से काम न लिया जायगा तो देश में बेरोजगारी स्थायी रूप मे होने का डर हो सकता है।

पूर्ण रोजगार की स्थिति दो प्रकार से प्राप्त की जा सकती है। या तो उपभोग को प्रोत्साहन देकर उपभोग की मात्रा बढाई जाय या विनियोग को प्रोत्साहन दिया जाय।

पूर्ण रोजगारी के तीन उपाय।

चूंकि बेरोजगारी माँग मे कमी होने के कारण होती है, इसलिये हम विभिन्न उपायों द्वारा उपभोग को प्रोत्साहन देकर बेरोजगारी रोकने का प्रयत्न कर सकते है। धनी वर्ग मे गरीब वर्ग की अपेक्षा कम खर्च करने की प्रवृत्ति रहती है। इसलिये एक उपाय यह है कि आय का वितरण दुबारा होना चाहिये। इसका एक तरीका यह है कि धनी वर्गो पर प्रत्यक्ष करो की दर बढा देनी चाहिये और निर्धन वर्ग पर अप्रत्यक्ष कर कम कर देने चाहिये या गरीबो को कौटुम्बिक भत्ता (family allowances) मिलना चाहिये। परन्तु इस उपाय मे सबसे बडा खतरा यह है कि आयकर की दर बहुत ऊंची रखने से लोग उद्योग व्यवसाय में पूंजी लगाने के लिये उत्साहित न होगे और इस प्रकार इससे भी रोजगार के बजाय बेरोजगारी की मात्रा अधिक बढ जाने की सभावना हो सकती है।

एक सर्वमान्य उपाय यह माना जाता है कि जैसे हो उत्पादन में अधिक पूंजी लगानी चाहिये। पूंजी दो प्रकार से लगाई जा सकती है—एक तो लोगो के द्वारा और दूसरे, सरकार के द्वारा। कुछ ऐसे तरीके ग्रहण किये जा सकते है, जिनसे लोग पूंजी लगाने के लिये उत्साहित हो। जब लाभ की दर लोगो की आशा से कम होने लगती है, तब लोग उत्पादक व्यवसायो मे पूंजी कम लगाने लगते है। इसलिये गैर-सरकारी पूंजी की इस प्रकार की गिरावट को रोकने के लिये व्याज दर कम कर देनी चाहिये। अर्थात् सस्ती मुद्रा की नीति ग्रहण करनी चाहिये। अथवा आय-कर की दर मे इतनी कमी कर देनी चाहिये कि गैर-सरकारी पूंजी को व्यवसाय मे लगाने का इतना काफी प्रोत्साहन मिले कि पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो सके। परन्तु इस तरीके की सबसे बडी कठिनाई यह है कि उत्पादको की मनोवृत्ति इतनी निराशापूर्ण हो सकती है कि इतने लालच या प्रोत्साहन मिलने पर भी वे उनका उपयुक्त लाभ न उठावे। इसलिये केवल इसी नीति को लेकर हम सतुष्ट नही हो सकते। परन्तु पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने के लिये हम अन्य उपायो के साथ निजी अर्थात् गैर-सरकारी पूंजी को प्रोत्साहन देने की भी नीति ग्रहण कर सकते है।

ऋणात्मक खर्च (Deficit Spending)—अत मे यदि सरकार सार्वजनिक कार्यो मे व्यवसाय चक्र की गति की विरुद्ध दिशा में पूंजी लगावे तो पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। यदि मदी के समय सरकार डाकखाने, सडके बनवाने तथा अन्य सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर काफी बडी मात्रा में रुपया खर्च करती है, अथवा

कौटुम्बिक भत्ता इत्यादि देकर उपभोग की मात्रा बढाने मे आर्थिक सहायता द्वारा प्रोत्साहन देती है, तो इसका माग पर प्रत्यक्ष प्रभाव पडेगा और माग बढेगी और साथ ही पूर्ण रोजगार की स्थिति की दिशा मे प्रगति होगी। यह खर्च सरकार को ऋण लेकर करना चाहिये और ऋण इस प्रकार लेना चाहिये कि उनका सम्पर्क गैर-सरकारी पूंजी से न हो। इस तरीके को "ऋणात्मक खर्च" अथवा घाटे की अर्थ-व्यवस्था कहते है। इस नीति को ग्रहण करने से सरकार की आय-व्यय नीति मे मौलिक परिवर्तन होगे। अभी तक सरकारो की यह नीति रही है कि अपने देशो की आर्थिक व्यवस्था मे सामजस्य स्थापित किये बिना, उन्होने अपने बजट अर्थात् आय-व्यय मे सामजस्य या सतुलन स्थापित करने के प्रयत्न किये है। बहुधा यह सन्तुलन दिखावे का होता है, वास्तविक नही होता है और मदी के दिनो में इस काम को असम्भव समझकर सरकारे अपने बजटो का सन्तुलन करने का प्रयत्न भी नही करती। परन्तु भविष्य मे इस नीति मे परिवर्तन होना चाहिये। मदी के दिनो मे ऋणात्मक खर्च (Deficit budgeting) दोष न समझ कर एक गुण समझना चाहिये। अर्थात् मदी के समय यदि सरकार को आय की अपेक्षा अधिक व्यय करना पडता है तो यह एक अच्छी बात है। सरकार को खर्च की कुल जिम्मेदारी अपने ऊपर इस प्रकार लेनी चाहिये कि पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो जाय और बनी रहे। मदी के समय सतुलित बजट बनाने का प्रयत्न जान-बूझकर नही करना चाहिये। चूकि गैर-सरकारी पूंजी की व्यवसाय मे कमी आ जाती है, और उपभोग पर भी उतना कम खर्च हो जाता है कि मदी आ जाती है, इसलिये सरकार को इस कमी को पूरा करना चाहिये। इसके लिये या तो सरकार को सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर अधिक खर्च करना चाहिये (और इसके लिये पहले से योजनाएँ बनाकर रखनी चाहिये) या फिर सामूहिक उपभोग को प्रोत्साहन देना चाहिये। बजट के व्यय की मद मे इतना अधिक व्यय रहे कि पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहे। तेजी के समय मे सार्वजनिक कामो पर कम खर्च कर देना चाहिये और करो की दर बढाकर आय की मात्रा बढानी चाहिये। बजट धनात्मक होना चाहिये, अर्थात् व्यय की अपेक्षा आय काफी अधिक होनी चाहिये, जिससे बचत (surplus) हो। इस बचत से मदी के समय के कुल घाटे को या कुल ऋण की रकम को चुकाना चाहिये।

इसमे सन्देह नही कि यदि इस साहसपूर्ण नीति से काम लिया जाय और सार्वजनिक कामो पर सरकारी खर्च तथा सामूहिक उपभोग पर सरकारी आर्थिक सहायता काफी ऊँची सतह पर रखी जाय तो पूर्ण रोजगार की स्थिति आसानी मे स्थापित की जा सकती है। परन्तु यदि थोडे समय मे सब बेरोजगार मजदूरो को काम देना है, तो इसके लिये श्रम की पूर्ण गतिशीलता आवश्यक है। परन्तु पूर्ण रोजगार की स्थिति के लिये जितनी गतिशीलता आवश्यक होती है, वास्तव मे श्रम में उतनी पाई नही जाती। इसलिये दो सहायक उपाय भी आवश्यक हो जाते है। पहला यह कि सरकार को कुछ ऐसे काम करने चाहिये, जिससे श्रम की गतिशीलता में वृद्धि हो। यह काम श्रम-

एक्सचेंज (Labour Exchange) स्थापित करके, मजदूरो को अन्य कामो में शिक्षा देने की सुविधाएँ देकर तथा ऐसे ही अन्य उपायो द्वारा किया जा सकता है। दूसरे, उद्योगो के केन्द्रीकरण अर्थात् स्थापन पर सरकार का नियन्त्रण होना चाहिये। जिससे किसी एक क्षेत्र मे जनसख्या अत्यधिक न हो पावे और जो कम उन्नत क्षेत्र है, उनमें उद्योग और कारखाने स्थापित करने का प्रयत्न करना चाहिये। जैसा कि लार्ड बीवरीज ने कहा है, यातायात के इतने अधिक उन्नत साधनो का बोझ माल पर न डाल कर मनुष्यो पर डालना बुद्धिमानी नही है।

ऋणात्मक खर्च मे कठिनाइयाँ।

इस नीति के विरोध मे कई प्रकार की आपत्तियाँ की गयी है। सबसे बडी आलोचना यह है कि इस नीति मे मुद्रास्फिति बढेगी। पूर्ण रोजगार की स्थिति मे ट्रेड यूनियनो की शक्ति बहुत अधिक बढ जायगी और वे मजदूरी की मुद्रा दर इतनी अधिक बढा सकते है कि उसका उत्पादन शक्ति मे कोई अनुपात न रहेगा। अथवा पिछडी हुई आर्थिक व्यवस्था मे जहाँ श्रम की सब मात्रा उत्पादन के साधनो मे अधिक है, ऋणात्मक व्यय से उत्पादन उतना नही बढेगा, जितना कि बढना चाहिये। इसका एक परिणाम यह हो सकता है कि कीमते बराबर बढती जायँगी और आर्थिक व्यवस्था पर इसका परिणाम भयानक होगा। बढती हुई मजदूरी की समस्या को वस्तुओ के मूल्य नियत्रण द्वारा, अथवा रहन-सहन के खर्च को आर्थिक सहायता द्वारा दृढ रखकर अथवा आय-कर मे वृद्धि करके हल किया जा सकता हैं। पिछडी हुई आर्थिक व्यवस्था मे सरकार के हाथ मे नियत्रण के वे सब अधिकार रखने आवश्यक हो सकते है, जो युद्धकाल मे उसके हाथ में थे। एक आलोचना यह भी है कि लगातार ऋणात्मक व्यय खतरनाक होगा। जब व्यवसायी लोग देखेगे कि काफी बडी मात्रा मे सरकार ऋणात्मक व्यय करती जा रही है, तब उन्हे भविष्य मे साख कमजोर होने का अथवा मुद्रा-स्फीति का अथवा करो के भार का डर हो सकता है। ये सब चीजे उन्नति की बाधक और पीछे खीचनेवाली है। सार्वजनिक अर्थात् सरकारी ऋणो की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि होने के कारण जो सकट और खतरे उत्पन्न हो जाते है, उनकी ओर भी इशारा किया गया है। फिर इस नीति के अनुसार यह आवश्यक है कि जब सरकार देखे कि जनता की पूंजी काफी मात्रा मे व्यवसाय मे आ रही है और अब सरकारी दखल की आवश्यकता नही है, तब उसे अपनी पूँजी लगाना बन्द कर देना चाहिये। परन्तु प्रोत्साहन की आवश्यकता न रहने पर भी किसी भी प्रजातन्त्र सरकार के लिये सार्वजनिक कार्यों पर एकाएक पूंजी लगाना बन्द कर देना सभव न होगा। सरकारी खर्च का उपयोग राजनीतिक रिश्वतो के रूप मे किया जा सकता है और इस लालच को रोकना बडा कठिन होता है। उपयुक्त समय पर सरकारी निर्माण कार्य को रोकना बडी भारी कुशलता, ईमानदारी और साहस का काम है और ये सब बातें आसानी से नही मिलती है।

अध्याय ४५

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय

(International Trade)

सब प्रकार के व्यवसाय श्रम विभाजन और कार्य की विशेषज्ञता के आधार पर होते है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय का भी यही हाल है। एक आदमी मे कई प्रकार के काम करने की योग्यता हो सकती है। लेकिन जिस काम मे उसकी योग्यता सबसे अधिक होती है, वह उसमे विशेष दक्षता प्राप्त करता है और अन्य काम अन्य लोगो के लिये छोड देता है। इसी प्रकार एक क्षेत्र अथवा एक देश मे बहुत-सी वस्तुएँ उत्पादन करने के साधन हो सकते है। लेकिन प्राय वह थोडी-सी वस्तुओ के उत्पादन मे विशेषता प्राप्त करता है तथा अन्य वस्तुओ का उत्पादन अन्य देशो पर छोड देता है। तब वह उन क्षेत्रो अथवा देशो के साथ अपनी वस्तुओ का विनिमय करता है, जिससे दोनो को लाभ होता है। एक आदमी मे इजीनियरी के काम की स्वाभाविक योग्यता हो सकती है और दूसरे आदमी की प्रवृत्ति स्वभावत डाक्टरी की ओर हो सकती है। यदि पहला व्यक्ति इजीनियर होता है और दूसरा डाक्टर तो उन दोनो को लाभ होगा। इसी प्रकार अलग-अलग क्षेत्रो में उत्पादन सम्बन्धी अलग-अलग साधन और सुविधाएँ होती है। इसलिये जिन क्षेत्रो को जिन वस्तुओ के उत्पादन की विशेष सुविधाएँ और साधन प्राप्त है, यदि वे केवल उन वस्तुओ का उत्पादन करें, तो उन सब क्षेत्रो का इससे पारस्परिक लाभ होगा। इन मूल समानताओ को ध्यान मे रखते हुए अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के लिये क्या एक अलग सिद्धान्त की आवश्यकता है ?

आडम स्मिथ और रिकार्डो जैसे सनातनी (classical) अर्थशास्त्रियो का मत था कि अन्तर्देशीय अर्थात् राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय मे महत्वपूर्ण अन्तर होते है। उनके मतानुसार पूंजी और श्रम एक देश के अन्दर घूमते है। विभिन्न देशों के बीच में उनका भ्रमण नहीं पाया जाता। यदि देश के एक भाग मे दूसरे की अपेक्षा मजदूरी की दर ऊँची होती है, तो उस भाग मे अन्य भागो से अधिक लोग आवेगे अथवा अधिक लोग वह पेशा करेंगे, जिसमें मजदूरी की दर अधिक ऊँची होगी। फल यह होगा कि समान योग्यतावाले मजदूरो को एक देश में एक समान मजदूरी मिलेगी। परन्तु विभिन्न देशो के बीच मे इस प्रकार की प्रवृत्ति देखने मे नही आती। "सब प्रकार के सामानों में मनुष्य का यातायात सबसे कठिन होता है।" सामाजिक प्रथाओ और आदतो, भाषा, शासन इत्यादि की विभिन्नता के कारण प्राय लोग अन्य देशो को जाना पसन्द नही करते। यही हाल पूंजी का भी है। परिणाम यह होता है कि विभिन्न देशो में मजदूरी

की दर और ब्याज की दर अलग-अलग रहती है। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय को समझने के लिये एक स्वतत्र सिद्धात की आवश्यकता थी।

सनातन अथवा प्राचीन आग्ल अर्थशास्त्रियो (classical economists) के इन अनुमानो की आलोचना इस प्रकार की गई है कि जिस प्रकार किसी देश के भीतर श्रम और पूंजी पूर्ण गतिशील नही होते, उसी प्रकार विभिन्न देशो के बीच वे पूर्ण गतिहीन भी नही होते।[1] इस आधार पर कुछ अर्थशास्त्रियो ने यह शका की है कि क्या राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में भेद मानने की आवश्यकता है? यह बात अवश्य है कि एक देश के भीतर श्रम पूर्णतया गतिशील नही होता। देश के अन्दर श्रम की स्वतत्र गतिशीलता में कई प्रकार की बाधाएँ आती है। इस बात का प्रमाण यह है कि अर्थशास्त्र श्रम के "प्रतियोगिता रहित" समूहो के सिद्धान्तो को स्वीकार करता है।

परन्तु यह बात सत्य है कि हमें यदि अपने देश में और विदेश में ब्याज की वही दर मिले तो हम हमेशा अपने देश में ही पूंजी लगाना पसन्द करेंगे। जब तक अपने देश के पक्ष मे और विदेश के विपक्ष में पसन्दगी की यह भावना रहती है, तब तक समान योग्यता के विभिन्न साधनो की कमाई की दरें विभिन्न देशो के बीच में एक-सी कभी नही हो सकती। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के सिद्धात पर स्वतत्र रूप से विचार करने का एक कारण यह भी है कि जिन सुविधाओ और परिस्थितियो के अन्तर्गत उत्पादन कार्य होते है, वे सब देशो मे एक समान नही होती। "एक देश के नागरिको के लिये राष्ट्रीय और स्थानीय कर एक से होते है, उनके लिये स्वास्थ्य, सफाई, कारखानो में काम करने की शिक्षा तथा सामाजिक बीमे के नियम एक से रहते है, यातायात की तथा सार्वजनिक सेवाए एक-सी रहती है, औद्योगिक तथा ट्रेड यूनियनो के एक से कानून रहते है तथा व्यावसायिक कार्य-पद्धति भी एक-सी रहती है।" इन नियमों की भिन्नता के अनुसार उत्पादन सुविधाएँ भी भिन्न देशो में अलग-अलग रहती है। विभिन्न देशो में लागत की सतह भी अलग-अलग होती है, किसी में ऊँची रहती है, तो किसी में नीची। विभिन्न सरकारो की विभिन्न नीति और कार्यों के कारण देशो के बीच में स्वाभाविक और अस्वाभाविक सीमाएँ खडी हो जाती है, जिनसे उनके बीच आर्थिक शक्तियाँ स्वतत्रतापूर्वक कार्य नही कर पाती।

अन्तिम, प्रत्येक देश की मुद्रा-प्रणाली अलग-अलग होती है। इसलिये जब देशों के बीच में वस्तुओ का विनिमय होता है, तब विदेशी विनिमय सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न होती है। ये समस्याएँ देश के अन्दर के व्यवसाय में नही उठती। विदेशी विनिमय सम्बन्धी इन समस्याओ के कारण व्यवसाय में कई प्रकार की बाधाएँ और कठिनाइयाँ

[1] See an article by J. H. Williams, "Theory of International Trade Reconsidered" in the Economic Journal, 1929.

उत्पन्न होती है। फिर प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक का नियत्रण होता है, जो मुद्रा सम्बन्धी अपनी स्वतत्र नीति के अनुसार कार्य करता है। इस नीति का देश के विदेशी व्यवसाय पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। इसलिये अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के एक स्वतत्र सिद्धात की आवश्यकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय होने की शर्तें (Conditions for the development of International Trade)—सब प्रकार के व्यवसाय होने के कारण लागतो का अन्तर है। यह नियम अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में भी लागू होता है। इसे समझाने के लिये हम दो ऐसे देशो का उदाहरण लेते है, जो केवल दो वस्तुओ का उत्पादन करतें है।

अ देश में,

१० दिन के श्रम से जूट की २० इकाइया उत्पन्न होती है।

१० दिन के श्रम से कपास की ३० इकाइयाँ उत्पन्न होती है।

ब देश में,

१० दिन के श्रम से जूट की १० इकाइयाँ उत्पन्न होती है।

१० दिन के श्रम से कपास की १५ इकाइयाँ उत्पन्न होती है।

इस उदाहरण में अ देश ब देश की अपेक्षा दोनो वस्तुओ के उत्पादन में पूर्ण रूप से बडा है। यदि हम श्रम के दिनो की दृष्टि से देखें तो दोनो देशो की लागतो में बहुत बडा अन्तर है। तब क्या दोनो देशो के बीच व्यवसाय हो सकता है? अ देश में २० इकाई जूट उत्पन्न करने की लागत, ३० इकाई कपास उत्पन्न करने की लागत के बराबर है। इसलिये जूट की दो इकाई की कीमत कपास की तीन इकाई की कीमत के बराबर होगी। ब देश में १० इकाई जूट की उत्पादन की लागत, १५ इकाई कपास की उत्पादन की लागत के बराबर है। इसलिये उस देश में भी २ इकाई जूट की कीमत ३ इकाई कपास की कीमत के बराबर होगी। दोनो देशो मे दोनो वस्तुओ की लागत का अनुपात (अर्थात् २ इकाई : ३ इकाई) एक समान है। अब यदि अ देश जूट की दो इकाई बिक्री के लिये ब देश में भेजता है तो उसे कोई लाभ नही होगा, क्योंकि दोनो देशो में २ इकाई जूट के बदले कपास की तीन इकाई मिलती है। इस प्रकार दोनो तरह से पूर्ण रूप से श्रेष्ठ या बडा होने पर भी पहला देश दूसरे से व्यापार करने पर लाभ के रूप में कुछ नही पाता।

अब इन उदाहरणो में हम थोडा-सा परिवर्त्तन करते है।

मान लो अ देश में,

१० दिन के श्रम से जूट की २० इकाइयाँ उत्पन्न होती है।

१० दिन के श्रम से कपास की ३० इकाइयाँ उत्पन्न होती है।

व देश में,

१० दिन के श्रम से जूट की १० इकाइयाँ उत्पन्न होती है।

१० दिन के श्रम से कपास की १० इकाइयाँ उत्पन्न होती हे।

पहले देश मे पहले की तरह जूट की २ इकाइयो के बदले कपास की तीन इकाइया मिलेगी। लेकिन दूसरे देश मे जूट की २ इकाइयो की कीमत कपास की २ इकाइयो के बराबर होगी। अब अ देश के व्यापारियो को दूसरे देश मे कपास भेजना लाभदायक होगा। जब तक उन्हे कपास की ३ से कम इकाइयो के बदले जूट की २ से अधिक इकाइयाँ मिलती रहेगी, तब तक वे लाभ मे रहेगे। मान लो, विनिमय की दर २ इकाई जूट के बदले २½ इकाई कपास होगी। तब इस व्यवसाय में प्रत्येक देश को कपास की ½ इकाइयो का लाभ होगा। इसलिये स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय तब सभव है, व दो देशो मे दो वस्तुओ की उत्पादन की लागत की अनुपात मे भिन्नता होती है। हले उदाहरण मे दोनो देशों में जूट ओर कपास की लागत का अनुपात जूट की २ इकाई पास की ३ इकाई के बराबर था। इसलिये उनके बीच कोई व्यवसाय सभव नही था। सरे उदाहरण मे अ देश में लागत के अनुपात मे जूट की २ इकाई कपास की ३ इकाई के बराबर थी और व देश मे जूट की २ इकाई कपास की २ इकाई के बराबर थी। कि लागत के अनुपात मे अन्तर है, इसलिये दोनो देशो मे व्यवसाय हो सकता है।

तुलनात्मक लागत का नियम (Law of Comparative Costs)—अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि दो देशो मे लागत के अनुपात अलग-अलग क्यो होते हैं। इसका प्रधान कारण यह है कि प्रत्यक देश मे उत्पादन के साधनो की मात्रा, सुविधाएं, परिस्थितियाँ इत्यादि अलग-अलग होती है। कुछ देशो में सोना, चादी, कोयला, लोहा इत्यादि खनिज पदार्थ अधिक मात्रा मे पाये जाते है। ओर कुछ मे ये प्राकृतिक साधन कम मात्रा मे पाये जाते है। बंगाल मे जिस किस्म की भूमि ओर जलवायु है, वह जूट और चाय उत्पादन के लिये विशेपरूप से अच्छी है और संयुक्तराज्य अमेरिका की बहुत-सी भूमि कपास की उत्पत्ति के लिये बहुत उपयुक्त है। सयुक्तराज्य अमेरिका तथा इगलैण्ड जैसे देशो के पास बड़ी मात्रा मे पूंजी की कमी नही है, परन्तु भारत जैसे गरीब देशो मे पूंजी की अत्यधिक कमी है। विभिन्न देशो मे उत्पादन के साधनो की पूर्ति की मात्रा अलग-अलग होती है। इसलिये विभिन्न देशो मे उनकी कमाई अथवा लाभ की दर भी अलग-अलग होगी। जिस देश में अच्छी भूमि काफी मात्रा मे प्राप्य है, उसमे कम लागत पर अनाज की फसले अच्छी मात्रा मे उत्पन्न हो सकेगी। और जिस देश मे पूंजी तथा वस्तु उत्पादन के साधन और दक्ष श्रम वर्ग प्रचुर मात्रा मे प्राप्त है, वह वस्तुएँ कम लागत मे तयार कर सकेगा। इसलिये विभिन्न देशो मे वस्तुओ की लागत और मूल्य अलग-अलग रहेगे। उत्पादन की लागत मे इन तुलनात्मक अन्तरो के कारण ही विभिन्न देशो के बीच व्यवसाय सम्भव होता है। प्रत्येक देश केवल उन्ही वस्तुओ का उत्पादन

करेगा, जिनके लिये उनकी योग्यता सबसे अधिक है, अर्थात् जिन्हे वह सबसे कम लागत पर उत्पन्न कर सकता है। इन वस्तुओ का वह निर्यात करेगा और जिन वस्तुओ मे उसकी उत्पादन योग्यता सबसे कम है, उनका वह आयात करेगा।

इसे समझाने के लिये पहले हमे कुछ अनुमानो की सहायता लेनी पडेगी। पहले हम अ और ब दो देश मान लेगे, जो आपस मे गेहूँ और सूती कपडा, इन दो वस्तुओ मे व्यवसाय करते है। दूसरे दोनो देशो मे दोनो वस्तुओ का उत्पादन स्थिर लागत के आधार पर होता है, अर्थात् उत्पादन की मात्रा चाहे जो हो, लागत वही रहेगी। फिर दोनो देशो के बीच मे माल के यातायात सम्बन्धी कोई बाधाएँ नही है।

प्राचीन आग्ल अर्थशास्त्रियो ने एक अनुमान और लिया था। उन्होंने सब लागतें श्रम के दिनो मे मापी थी। उन्होने सिद्धान्त का निरूपण इस प्रकार किया था।

अ देश मे,

१० दिन के श्रम से २० मन गेहूँ का उत्पादन होता है।
१० दिन के श्रम से २० जोडा सूती कपडे का उत्पादन होता है।

ब देश मे,

१० दिन के श्रम से १० मन गेहूँ का उत्पादन होता है।
१० दिन के श्रम से १५ जोडा सूती कपडे का उत्पादन होता है।

अ देश मे एक मन गेहूँ के बदले एक जोडा कपडा प्राप्त हो सकता है। इसलिये दोनों वस्तुओ की लागत का अनुपात १ १ है। ब देश मे १ मन गेहूँ के बदले कपड़े का १½ जोडा प्राप्त होगा। इस प्रकार अ और ब देशो मे लागत के अनुपात अलग-अलग है। अब तक अ को ब से एक मन गेहूँ के बदले एक जोडा कपड़े से अधिक मिल सकता है, तब तक उसे लाभ होता रहेगा। इसी प्रकार ब को जब तक १½ जोडा सूती कपडा से कम के बदले एक मन गेहूँ मिलता रहेगा, तब तक वह लाभ मे रहेगा। इस प्रकार यदि अ केवल गेहूँ उत्पन्न करता है और उसे ब देश मे निर्यात करता है और ब केवल सूती कपडे का उत्पादन करता है और उसे अ देश मे भेजता है, तो दोनो देशों को लाभ होगा। ध्यान रहे कि अ मे गेहूँ और कपडे दोनो के उत्पादन मे श्रम की योग्यता अधिकतर है, परन्तु तुलनात्मक दृष्टि से कपडे की अपेक्षा गेहूँ के उत्पादन मे उसे अधिक लाभ होता है।

इस सिद्धात की आलोचना

परन्तु इस सिद्धान्त के इस प्रकार निरूपण की आलोचना इस आधार पर की गई है कि यह मूल्य के श्रम-सिद्धान्त (labour theory of value) पर आधारित है, क्योकि यह लागत को श्रम के दिनो के रूप मे मापती है। परन्तु वास्तव मे श्रम की कई किस्में होती है और वस्तुओं के बनाने मे श्रम के-सिवा अन्य कई साधनो की आवश्यकता

होती है। इसलिये लागत को केवल श्रम के दिनो में आंकना अर्थरहित है। जब मूल्य के व्यापक सिद्धान्त में श्रम सिद्धान्त को स्वीकार नही किया जाता है, तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के सिद्धान्त श्रम सिद्धान्त के आधार पर बनाना उचित नही है। इसलिये तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के मूल्य-सिद्धान्त को आधुनिक रूप के आधार पर निरूपण करना आवश्यक है।

मान लो, अ देश में अच्छी भूमि प्रचुर मात्रा मे है, लेकिन उसके पास पूँजी की मात्रा थोड़ी है। परन्तु ब देश में पूँजी की मात्रा बहुत है और उस दृष्टि से भूमि की मात्रा अपेक्षाकृत कम है। अब पहले देश मे गेहूँ के उत्पादन का सीमात लागत खर्च ३ रु० प्रति मन है और सूती कपडे के उत्पादन का सीमान्त लागत खर्च ४ रु० प्रति जोड़ा है। दूसरे देश मे गेहूँ और सूती कपड़ा उत्पन्न करने का सीमात लागत खर्च क्रमश. ४ रु० और ३ रु० है। इन आँकड़ो को हम इस प्रकार भी रख सकते है।

अ में,

गेहूँ उत्पन्न करने का सीमात लागत खर्च ३ रु० प्रति मन है।

सूती कपड़ा उत्पन्न करने का सीमान्त लागत खर्च ४ रु० प्रति जोडा है।

ब में,

गेहूँ उत्पन्न करने का सीमान्त लागत खर्च ४ रु० प्रति मन है।

सूती कपड़ा उत्पन्न करने का सीमान्त लागत खर्च ३ रु० प्रति जोडा है।

अ में १ मन गेहूँ का मूल्य ३ रु० है और एक जोडे कपडे का दाम ४ रु० है। अर्थात् अ में जिन साधनो के सम्मिश्रण और सहयोग से एक मन गेहूँ उत्पन्न होता है, उन्ही से ¾ जोड़ा कपड़ा भी उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार ब में १ मन गेहूँ के बदले १⅓ जोडा कपड़ा मिल सकता है। इस परिस्थिति मे अ देश यह देखेगा कि यदि वह कपडा उत्पन्न करना छोड दे और केवल गेहूँ उत्पन्न करने मे अपनी शक्ति लगावे, तो वह ब को अपना गेहूँ बेच सकेगा और बदले में प्रति मन गेहूँ के लिये ¾ जोडा कपडा से अधिक प्राप्त करेगा। ब को केवल कपड़े का उत्पादन लाभप्रद होगा और उसे वह अ के गेहूँ से बदल सकता है। ब को तब तक लाभ होता रहेगा, जब तक उसे एक मन गेहूँ १⅓ जोड़ा कपडे से कम में मिल सकता है। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि जिस देश में जो वस्तुएँ बनाने के अपेक्षाकृत अधिक साधन है, उन वस्तुओ को तो वह निर्यात करेगा और जिन वस्तुओ के उत्पन्न करने का साधन अपेक्षाकृत कम है, उनको बाहर से मँगावेगा अर्थात् आयात करेगा।

यह सिद्धान्त माँग पक्ष के प्रभावो पर भी विचार करता है। ऊपर जो उदाहरण दिया गया है, उसमें हमने देखा है कि अ को तब तक लाभ होता रहेगा, जब तक उसे

एक मन गेहूँ के बदले ३/४ जोडा कपडे से अधिक मिलता रहेगा। **विनिमय की दर पारस्परिक माँग द्वारा निश्चित होती है** ब को तब तक लाभ होता रहेगा, जब तक उसे १ १/३ जोडा कपडे से कम के बदले एक मन गेहूँ मिलता रहेगा। गेहूँ और कपडे की विनिमय की वास्तविक दर इस बात पर निर्भर रहेगी कि दोनो देशो में एक दूसरे के माल के लिये माँग में कितनी लोच है। विनिमय की दर ऐसी रहेगी कि साम्य की स्थिति मे एक देश के निर्यात का मूल्य उसके आयात के मूल्य के बराबर रहेगा। मान लो, माँग का प्रभाव ऐसा है कि प्रत्येक देश अपनी उपज को एक मन गेहूँ के बदले एक जोडा कपडे के हिसाब से विनिमय करता है। कपडे की माँग बढने के कारण अ इस दर से अधिक कपडा खरीदना चाहता है। परन्तु ब की माँग वही है; उसमे कोई परिवर्तन नही हुआ। इसलिये ब को अ से कुछ अच्छा भाव या लालच मिलना चाहिये, जिससे ब कुछ अधिक गेहूँ खरीदे (अथवा अधिक कपडा बेचे) इसलिये या तो अ गेहूँ की कीमत गिरावे या ब को कपड़े के दाम अधिक दे। दूसरे शब्दो मे अ को कपडे की प्रति इकाई के बदले में अधिक गेहूँ भेजना चाहिये, जिससे ब अधिक गेहूँ खरीदने को तैयार हो जाय और उसके बदले में अधिक कपडा भेजने को भी तैयार हो जाय। तब अनुपात अ के विरुद्ध हो जायगा। इसलिये व्यवसाय की वास्तविक शर्त्तें प्रत्येक देश की दूसरे देश की वस्तुओ की माँग की लोच पर निर्भर करेंगी।

ध्यान रहे कि इस सिद्धान्त का उद्देश्य यह नही है कि हम अ और ब मे गेहूँ के उत्पादन के लागत खर्च की तुलना करे। हम यह कर भी नही सकते, क्योकि व्यवसाय की शर्त्तें नही जानते, और जब तक हम ये शर्त्तें न जानें, तब तक हम दोनो देशो मे एक वस्तु की लागत की तुलना नही कर सकते। तुलना अनुपातो के बीच मे होती है। ब में गेहूँ और कपास के लागतो का अनुपात क्या है। यदि दो अनुपातो मे भिन्नता है, तो दोनो देशो के बीच मे व्यवसाय हो सकता है।

अभी तक हमने इस सिद्धान्त की दो वस्तुओ और दो देशो के आधार पर विवेचना की है। परन्तु इस रीति से हम चाहे जितनी वस्तुओ और चाहे जितने देशो का अध्ययन कर सकते है। प्राय एक देश में बहुत-सी वस्तुएँ उत्पन्न करने की सुविधाएँ रहती है। उन्हे हम उनसे होनेवाले लाभ के अनुसार इस प्रकार सूची रूप मे रख सकते है। एक देश १० दिन के श्रम से कपास की ३० इकाइयाँ, जूट की २० इकाइयाँ, गेहूँ की १५ इकाइयाँ, चाय की १० इकाइयाँ, रबर की ८ इकाइयाँ इत्यादि उत्पन्न कर सकता है। इन वस्तुओ में से किसका निर्यात होगा और किसका आयात, यह व्यवसाय की शर्तों पर निर्भर करेगा। अर्थात् उस देश को अपनी निर्यात की वस्तुओ के बदले आयात की वस्तुएँ किस दर से मिलेगी। व्यवसाय की शर्तें जितनी अधिक उसके पक्ष मे रहेगी, उसे अपने आवश्यक आयात प्राप्त करने के लिये उतने ही कम निर्यात करने पड़ेंगे। अर्थात् उसे अपनी थोड़ी सी वस्तुओ के बदले दूसरे देशो की अधिक वस्तुएँ मिल सकेंगी। इसलिये निर्यात की वस्तुओ को दूसरी वस्तुओ से अलग करनेवाली रेखा स्थिर न होकर

गतिशील रहती है और वह व्यवसाय की शर्तों की गति के अनुसार चलती है। दो देशों के बदले यदि कई देश आ जाते है, तो उससे कोई कठिनाई नही होती। भारत के साथ जितने देश व्यवसाय करते है, उन्हे एक देश के रूप मे माना जा सकता है।

सक्षेप मे तुलनात्मक लागतो का नियम यही है। इसकी उपयुक्तता पर कोई बडा सदेह नही किया जा सकता। किसी भी देश के आयात-निर्यात कर सम्बन्धी कानूनो को आदि से अन्त तक देखने से इस सिद्धान्त की सत्यता का पता लग जायगा। उदाहरण के लिये टॉसिग[1] ने अमेरिका के आयात-निर्यात कर के इतिहास का अध्ययन करके इस सिद्धान्त की सत्यता का प्रमाण पा लिया। यद्यपि अमेरिका मे लोहे के उद्योग को सरक्षण प्राप्त है और वहाँ बहुत-सी वस्तुएं बनती है तथा उनका निर्यात होता है, फिर भी अमेरिका कुछ विशेष प्रकार के औजार और मशीनें बाहर से मँगाता है। इसी प्रकार कपडे के उद्योग को भी सरक्षण प्राप्त है। परन्तु इस पर भी अमेरिका कुछ महीन और अच्छे किस्म के कपडे बाहर से मँगाता है। इसके कारण जाहिर है। इन वस्तुओ को बनाने के लिये अमेरिका के पास तुलनात्मक दृष्टि से सबसे अधिक सुविधाएँ उपलब्ध नही है। इसलिये आयात करो के रहते हुए भी ये वस्तुएँ बाहर से अमेरिका में आती है।

उत्पत्ति के नियम और तुलनात्मक लागतें (Law of Return and Comprative Costs)—ऊपर जो उदाहरण दिया गया है, उसमें यह मान लिया गया था कि दोनो वस्तुओ का उत्पादन स्थिर लागत पर होता था। अब इस अनुमान को हटाना आवश्यक है। मान लो, वस्तुओ का उत्पादन घटती हुई उत्पत्ति अर्थात् क्रमागत ह्रास नियम के अनुसार होता है।

ऊपर दिये हुए उदाहरण में हमने यह मान लिया था कि अ अपनी शक्ति गेहूँ के उत्पादन पर केन्द्रित करेगा और अपने गेहूँ का एक भाव ब को देकर ब से कपड़ा लेगा। परन्तु ब को निर्यात करने के लिये अ जब अधिक गेहूँ उत्पन्न करता है, तब गेहूँ के उत्पादन की सीमान्त लागत बढ जाती है। एक स्थिति के बाद अ यह अनुभव करेगा, अब इससे अधिक गेहूँ उत्पन्न करने मे लाभ नही है। इसके सिवा, ब मे गेहूँ के उत्पादन से जैसे-जैसे अधिकाधिक मात्रा मे साधन हटाये जाते है, वैसे-वैसे सीमान्त लागत गिरती है। ब देखेगा कि अब अपने साधन गेहूँ के उत्पादन से हटाकर कपडे के उत्पादन मे लगाना ठीक नही है, क्योंकि कपडा तो अ देश मे भेजा जायगा और बदले मे महँगा गेहूँ मिलेगा। इसलिये ब अपने कुछ साधन गेहूँ के उत्पादन मे लगाये रखेगा, विशेषकर उस उपजाऊ भूमि में जहाँ उत्पादन की सीमान्त लागत कम होती है। इसलिये उत्पत्ति के क्रमागत ह्रास नियम की क्रियाशीलता का एक फल यह होता है कि एक वस्तु का

[1] *Taussig*, International Trade, ch 16, p. 178—196.

दोनो देशो मे उत्पादन हो सकता है और लगान की सतह तथा कृषि की सीमा व्यवसाय की शर्तों पर निर्भर होगी।

जब उत्पत्ति की क्रमागत वृद्धि का नियम क्रियाशील होता है, तब माँग की वृद्धि के अनुसार व्यवसाय मे लाभ का क्षेत्र भी बढता है। जैसे-जैसे उत्पादन बढता है, वैसे-वैसे उत्पादन सम्बन्धी योग्यता भी बढती है और उसी के अनुसार लाभदायक व्यवसाय का क्षेत्र भी बढता है। इसमे कोई नया सिद्धान्त लागू नही होता; केवल तुलनात्मक लागत की सीमाएँ अधिक विस्तृत हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय से लाभ (Gains from International Trade)

सबसे पहले लाभ की मात्रा देशो मे लागत के अनुपातो के अन्तर पर निर्भर होगी। तुलनात्मक लागतो मे जितना अधिक अन्तर होगा, लाभपूर्ण व्यवसाय के लिये उतना ही विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध रहेगा। "जब कभी किसी देश के व्यवसायियो को यह अनुभव होता है कि उनके देश मे कीमतो का जो अनुपात प्राप्त और प्रचलित है, उनसे कही अधिक भिन्न अनुपात विदेशो मे प्रचलित है, तब उस देश को विदेशी व्यवसाय से लाभ होता है। जो वस्तु उन व्यवसायियो को सस्ती दिखती है, उसे वे लोग खरीदते है, और जो वस्तु महँगी दिखती है, उसे बेचते है। उनकी दृष्टि में ऊँचे चिन्हो और नीचे चिन्हों मे जितना अधिक अन्तर होगा, और जिस वस्तु पर प्रभाव पडता है, वह जितनी अधिक महत्वपूर्ण होगी, व्यवसाय से उतना ही अधिक लाभ होगा।"[1] यदि अ देश मे गेहूँ के उत्पादन मे श्रमवर्ग अधिक दक्ष है और ब देश मे श्रमवर्ग कपास के उत्पादन मे अधिक दक्ष है, तो इस बात की काफी सम्भावना है कि दोनो देशो को अच्छा लाभ होगा। इसलिये लाभ की मात्रा श्रमवर्ग की दक्षता पर निर्भर करती है। इसलिये जिन वस्तुओ का हम आयात करते है, उनका उत्पादन करनेवाले विदेशी श्रमवर्ग की दक्षता मे वृद्धि होती है, तो हमें काफी लाभ होगा। परन्तु जिन वस्तुओ का हम निर्यात करते है, यदि उनके उत्पादन मे दक्षता बढती है, तो हमे हानि होगी।

लाभ की मात्रा व्यवसाय की शर्तो पर निर्भर करती है।

दूसरे, लाभ की मात्रा व्यवसाय की शर्तो पर भी निर्भर करती है। अर्थात् गेहूँ का विनिमय सूती कपडे से किस अनुपात मे होता है। यदि अनुपात १ : १ है, तो ब को अधिक लाभ होगा। क्योकि पहले तो उसे १ मन गेहूँ १$\frac{१}{३}$ जोड़ा कपडे के बदले में मिलता था। परन्तु अब व्यवसाय की शर्तो के अनुसार उसे एक जोडा कपडे के बदले एक मन गेहूँ मिलता है और इस प्रकार उसे $\frac{१}{३}$ जोडा कपडे का लाभ हो जाता है। यदि व्यवसाय न होता तो अ एक मन गेहूँ $\frac{३}{४}$ जोडा कपडे के बदले मे देता। परन्तु अब उसे पूरा एक जोडा कपडा मिल जाता है। इसलिये उसे $\frac{१}{४}$ जोडा कपडे का लाभ होता है। परन्तु यदि अनुपात एक

[1] *Harrod*, International Economics, p. 34.

मन गेहूँ के बदले १$\frac{१}{४}$ जोडा कपडा होता, तो व को $\frac{१}{२}$ जोडा कपडे का लाभ होता और अ को आधा जोडा कपडे का लाभ होता। इसलिये व्यवसाय की शर्तों पर बहुत कुछ निर्भर करता है।

व्यवसाय की शर्तें और लाभ माँग के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर होते है

व्यवसाय की शर्तें माँगों के पारस्परिक सम्बन्ध और प्रभावों पर निर्भर होंगी। अर्थात् अ का कपास की माँग में कितनी लोच होगी ओर व की गेहूँ की माँग में कितनी लोच होगी। यदि अ की माँग अधिक वेलोचदार है, तो वह कपडे की एक निश्चित मात्रा के लिये अधिक गेहूँ देने के लिये तैयार रहेगा। व्यवसाय की शर्तें उसके विपक्ष मे पडेगी। परन्तु यदि अ की माँग अधिक लोचदार है, तो व्यवसाय की शर्तें उसके अनुकूल होने की प्रवृत्ति दिखावेंगी। इसी प्रकार व की माँग भी जैसी वेलोचदार अथवा लोचदार होगी, उसी तरह व्यवसाय की शर्तें भी प्रतिकूल अथवा अनुकूल होने की प्रवृत्ति दिखावेंगी। एक उदाहरण ले लिया जाय। मान लो, व्यवसाय की शर्तों के अनुसार एक मन गेहूँ के वदले एक जोडा कपडा मिलेगा। अ की माँग व में परिवर्तन होता है और इस अनुपात पर वह अधिक कपडा चाहता है। परन्तु इस दर पर व की गेहूँ की माँग-सूची में कोई परिवर्तन नही हुआ है इसलिये अधिक कपडा पाने के लिये अ से ब को अच्छी शर्तें मिलनी चाहिये। व्यवसाय की शर्त अ के प्रतिकूल जायगी। परन्तु वह कितनी प्रतिकूल जायगी यह व की गेहूँ की माँग की लोच पर निर्भर करेगा। यदि व की माँग लोचदार है, तो वह गेहूँ की कीमत में थोडी-सी कमी होने पर उसे अधिक मात्रा में स्वीकार कर लेगा और बदले में अधिक कपडे देने को तैयार हो जायगा। विनिमय की दर थोडी-सी अ के विपक्ष मे हो जायगी। परन्तु यदि व की माँग वेलोचदार है, तो गेहूँ की कीमत मे अधिक रियायत होनी चाहिये, जिससे व अधिक गेहूँ ले और वदले मे अधिक कपडा दे। तव व्यवसाय की शर्तें अ के विपक्ष मे अधिक जायँगी। व्यवसाय से सवसे अधिक लाभ उस देश को होगा, जिसकी वस्तुओ की विदेशो मे अधिक माँग रहती है और जिसे स्वय विदेशी वस्तुओ की माँग कम रहती है। अर्थशास्त्र की भाषा मे विदेशी वस्तुओ की उसकी माँग वहुत लोचदार होनी चाहिये, परन्तु विदेशो मे उसकी वस्तुओ की माँग बहुत वेलोचदार होनी चाहिये। तव व्यवसाय की शर्तें उसके पक्ष मे होगी।

इस लाभ का सूचक मुद्रा-आय होगी और उसी के द्वारा लाभ प्राप्त भी होगा। जिस देश की वस्तुओ की माँग विदेशो मे बरावर वनी रहती है, उसकी मुद्रा-आय की सतह ऊँची रहेगी। यदि विदेशो से निर्यात की माँग ऊँचो रहती है, तो निर्यात करनेवाले उद्योग खूब उन्नति करेंगे और उनमे मजदूरी की सतह भी ऊँचो रहेगो। प्रतियोगिता के कारण अन्य उद्योग भी उसी ऊँची दर से मजदूरी देंगे। इस प्रकार उस देश मे मजदूरी की मुद्रा-दर की सतह ऊँची रहेगी। मजदूरी की मुद्रा-दर तो ऊँची रहेगो, पर विदेशी वस्तुओ की कीमत कम रहेगी। इसलिये विदेशी वस्तुओ के उपयोग से लोगो को लाभ

होगा। इसी प्रकार जिस देश की विदेशी वस्तुओ की मॉग बहुत अधिक रहेगी, उसकी मुद्रा-आय बहुत कम रहेगी। परन्तु विदेशी वस्तुओ के दाम ऊँचे रहेगे और उनके उपभोग से उसे हानि होगी।

मजदूरी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय (Wages and International Trade)—विभिन्न देशो में मजदूरी की अलग-अलग दर होने से अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय पर क्या प्रभाव पडता है? कुछ लेखको का, विशेपकर जो सरक्षण के समर्थक हैं, यह विचार है कि जिस देश मे मजदूरी की दर ऊँची रहती है, वह कम मजदूरी वाले देशो के सामने प्रतियोगिता में टिक नही सकता। यह विचार इस विश्वास से उत्पन्न होता है कि जिस देश में मजदूरी की दर ऊँची रहेगी, उसमे उत्पादन की लागत और कीमते भी ऊँची रहेगी। इसलिये वह देश उन देशो की प्रतियोगिता मे नही टिक सकता, जिसमें मजदूरी, लागते और कीमते कम रहती है।

क्या ऊँची मजदूरीवाला देश प्रतियोगिता में टिक सकता है?

यह विचार बहुत भ्रमपूर्ण है और इसे सिद्धान्त के तर्क और वास्तविक ऑकडो द्वारा दिखाया जा सकता है। ऊँची मजदूरी का अर्थ हमेशा अधिक लागत नही होता। यदि श्रम की उत्पादन शक्ति भी बहुत ऊँची है, अर्थात् यदि श्रम वर्ग अधिक माल का उत्पादन करता है, तो वास्तव में लागत प्रति इकाई कम ही होगी। इससे कीमते भी कम होगी। इसके विरुद्ध कम मजदूरी का कारण कम उत्पादन शक्ति हो सकती है। तब लागत और कीमतें दोनो ऊँची होगी। मजदूरी की दरो की ऊँची सतह व्यापक रूप में तभी रखी जा सकती है, जब श्रम की उत्पादन शक्ति भी बहुत ऊँची हो। इसलिये जिस देश मे मजदूरी की मुद्रा-दरे ऊँची है, वह नीची दर वाले देशो द्वारा प्रतियोगिता मे सब प्रकार से नही हटायी जा सकती।

व्यवसाय के ऑकडे भी इस कथन का समर्थन करते है। इगलैड मे मजदूरो को भारतीय मजदूरो की अपेक्षा अधिक मजदूरी मिलती है। फिर भी इगलैण्ड का माल भारत मे आता है। सभी जानते है कि अमेरिका की दर बहुत ऊँची है। फिर भी उसका माल काफी बडी मात्रा में विदेशो को जाता है।

वल्कि किसी देश की वस्तुओ की विदेशो में अधिक मॉग होने के करण उस देश मे मजदूरी की दर ऊँची हो सकती है। अर्थात् व्यवसाय की शर्तें उसके पक्ष मे रहेगी ओर उसके परिणामस्वरूप वहॉ मजदूरी की सतह ऊँची रहेगी। इस प्रकार मजदूरी की ऊँची मुद्रा पर निर्यात व्यवसाय मे बाधक होने के बदले किसी देश के उन्नतिशील निर्यात-व्यवसाय की सूचक हो सकती है और साथ ही ऊँची मजदूरी के कारण देश समृद्धिशाली भी हो सकता है।

यदि किसी देश के प्रधान उद्योगो में श्रम वर्ग बहुत कार्य-कुशल है, तो उस देश में मजदूरी की सतह ऊँची होगी। जब एक बार मजदूरी की सतह ऊँची हो जाती है, तो

सम्भव है कि किसी उद्योग विशेष के लिये वह बाधक हो। क्योंकि प्रतियोगिता के कारण उसे प्रचलित ऊँची दर से मजदूरी देनी पड़ेगी, पर सम्भव है कि उसमे लगा हुआ श्रमवर्ग उतना कार्य-कुशल न हो जितना कि प्रधान उद्योगों में है। तब उस देश में उन वस्तुओं का उत्पादन बन्द हो जायगा, क्योंकि उसके उत्पादन की सुविधाएँ तुलनात्मक दृष्टि से सबसे अच्छी नही है। यदि किसी उद्योग मे श्रम के किसी वर्ग को बहुत कम दर से मजदूरी मिलती है, तो वह उन वस्तुओ का निर्यात करेगा, जिनका उत्पादन उस श्रम वर्ग के द्वारा होता है। परन्तु यदि मजदूरी की दर की पूरी सतह ऊँची या नीची है, तो उसका प्रभाव अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय पर नही पड़ेगा।

प्रतियोगितारहित समूह और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय (Non-Competing Groups and International Trade)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के सिद्धान्त मे हमने इस बात को मान लिया है कि एक देश के अन्दर श्रमवर्ग काफी भ्रमणशील होता है। इसलिये श्रम-वर्ग के विभिन्न समूहो की योग्यता के अनुसार उनकी मजदूरी की दर भी निश्चित हो जाती है। यदि १० दिन के श्रम मे ३० मन गेहूँ और १५ मन चावल का उत्पादन होता है, तो गेहूँ और चावल का उत्पादन करनेवाले मजदूरो की मजदूरी का अनुपात क्रमश २ १ होगा। हम मान लेते है कि स्थिति यही है। परन्तु, मान लो, प्रतियोगितारहित समूहो के कारण श्रमवर्ग के एक समूह विशेष को उसी योग्यता के दूसरे समूह को मिलने-वाली मजदूरी की दर की अपेक्षा कम अथवा अधिक मजदूरी मिलती है। तो इन प्रतियोगितारहित समूहो की उपस्थिति का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की गति पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

क्या प्रतियोगितारहित समूहों का व्यवसाय पर प्रभाव पड़ता है।

यदि भ्रमणशीलता के अभाव के कारण श्रमवर्ग के किसी समूह को बहुत कम मजदूरी मिलती है, तो उस देश को उन वस्तुओ के उत्पादन मे तुलनात्मक सुविधा रहेगी, जिन का उत्पादन उस समूह द्वारा होता है। अन्य स्थानो की अपेक्षा खर्च कम होगा। इन परिस्थितियो मे उन वस्तुओ के निर्यात होने की सभावना होगी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय पर इसका प्रभाव पड़ेगा। सन् १९१४ के पहले जर्मनी के रासायनिक उद्योगो मे यही परिस्थिति थी। वैज्ञानिक शिक्षा का काफी प्रचार होने के कारण जर्मनी मे वैज्ञानिको की सख्या बहुत बढ गई और विवश होकर उन्हे कम वेतन अथवा मजदूरी पर काम स्वीकार करना पडता था। वैज्ञानिको की मजदूरी की कम दर के कारण जर्मनी को रासा-यनिक द्रव्यो के उत्पादन मे एक तुलनात्मक सुविधा या लाभ मिल गया और उनका लगातार निर्यात होता रहा।

परन्तु, यदि दूसरे देशो मे भी इसी प्रकार के मजदूरो के प्रतियोगितारहित समूह (उदाहरण के लिये वैज्ञानिक) जिनको कम मजदूरी मिलती है तो पहले देश को कम मजदूरी की जो तुलनात्मक सुविधाएँ प्राप्त है, वही अन्य देशो को भी प्राप्त होगी।

इसलिये खर्च की दृष्टि से तुलनात्मक रूप मे किसी भी देश की स्थिति अधिक अच्छी या अधिक बुरी न होगी और व्यवसाय की गति पहले की तरह उत्पादन की तुलनात्मक योग्यता द्वारा निश्चित होगी। इसलिये यदि विभिन्न देशो के प्रतियोगितारहित समूहो की स्थिति तुलनात्मक रूप मे एक-सी है, तो उनकी उपस्थिति का व्यवसाय की गति पर अधिक प्रभाव नही पडेगा। परन्तु यदि दो देशो मे दो समूहो की तुलनात्मक परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न है—जैसे कि वैज्ञानिको को जर्मनी मे कम मजदूरी मिलती है ओर अमेरिका मे वैज्ञानिको को अधिक मजदूरी मिलती है—तो व्यवसाय की गति पर प्रभाव पडेगा। "परन्तु वास्तव मे विभिन्न देशो की समाजो की सतहो मे अधिक अन्तर नही होता। विभिन्न देशो के समाजो के विभिन्न वर्गो मे प्रतियोगितारहित समूह प्राय एक समान सतह पर रहते है।"[1] इसलिये मजदूरो के प्रतियोगितारहित समूहो के होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की गति पर उनका विशेष प्रभाव नही पड़ता।

संरक्षण सम्बन्धी विवाद (The Protectionist Controversy)—सरक्षण सम्बन्धी वाद-विवाद उतना ही पुराना है, जितना कि अर्थशास्त्र ओर उसके सिद्धान्त। विदेशी प्रतियोगिता से अपनी रक्षा करने की इच्छा किसी-न-किसी रूप मे हमेशा से बनी आई है। वास्तव मे हृदय से हम सब सरक्षणवादी है ओर जीवन के किसी भी क्षेत्र मे प्रतियोगिता नही चाहते। विशेषकर विदेशियो की प्रतियोगिता तो बिलकुल नही चाहते। सरक्षण और स्वतत्र व्यवसाय सम्बन्धी वाद-विवाद बहुत पुराना है, परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध मे सुनिश्चित विचार नही है। इसलिये यहाँ हम इस समस्या पर विचार करेगे।

स्वतन्त्र व्यवसाय (Free Trade)—स्वतत्र व्यवसाय का अर्थ केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की स्वतत्रता है। इसका अर्थ यह है कि विभिन्न देशो के बीच मे व्यवसाय की जो स्वाभाविक गति अथवा प्रवाह हो, उसमे किसी प्रकार की अस्वाभाविक बाधाएँ बन्धन अथवा रुकावटें न आनी चाहिये।

स्वतन्त्र व्यवसाय तुलनात्मक लागतो के नियम की, बल्कि स्वय श्रम विभाजन की स्वाभाविक उपज है। विदेशी व्यवसाय भी देश के अन्तर्गत होनेवाले व्यवसाय के समान है। उसमे जितनी अधिक स्वतत्रता होगी, उतना अधिक लाभ विभिन्न देशो का होगा। जिस प्रकार देश के अन्दर व्यवसाय को पूर्ण स्वतत्रता रहती है और कोई भी व्यक्ति सबसे सस्ते बाजार मे खरीद सकता है तथा सबसे महँगे बाजार मे बेच सकता है, उसी प्रकार स्वतत्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय होने से कोई भी देश सस्ते बाजार मे खरीद सकेगा।

1 "But it fact, the phenomena of social satisfactions are not widely divergent Non-competing groups on the whole are arranged in the same series of grades in different countries."

—*Taussig*, Principles, vol., II.

स्वतत्र व्यवसाय का तर्क दो बातो पर निर्भर है। पहली, यह कि यदि किसी देश के सरकारी कानूनो ने बाधा न डाली, तो उस देश की पूंजी और श्रम उन उद्योगो में जाने की प्रवृत्ति दिखावेंगे, जिनमे उनका उपयोग सबसे अधिक लाभपूर्वक हो सकता है। दूसरी ससार का कुल उत्पादन तथा किसी देश का उत्पादन अपनी चरम सीमा पर पहुँच सकता है, यदि प्रत्येक देश अपनी पूंजी और श्रम केवल उन उद्योगो में लगावे, जिनमें उसे सबसे अधिक तुलनात्मक सुविधाएं प्राप्त है और उनका विनिमय अन्य देशों में बनी हुई सस्ती वस्तुओ से करे। इसलिये दीर्घकाल में स्वतत्र व्यवसाय मे प्रत्येक देश को लाभ होगा। "परन्तु इस प्रकार के व्यवसाय में सबसे बडा अनुमान यह होता है कि अपने निर्यात के बदले मे विदेशो से जो वस्तुएँ आती है, उनकी लागत उस रकम से कम होती है, जो उनके बनाने में स्वदेश में लगती। यदि ऐसा न होता तो स्वतत्र व्यवसाय के रहते हुए भी उनका आयात न किया गया होता।"[1]

संरक्षण (Protection)—सरक्षण के सिद्धान्त में यह तथ्य निहित है कि घरेलू उद्योगो को सरकारी कानूनो और प्रतिबन्धो के द्वारा विदेशी प्रतियोगिता से बचाया जाय अथवा उनको इस प्रतियोगिता के विरुद्ध सरक्षण प्रदान किया जाय। सरक्षण कई प्रकार से दिया जा सकता है जिनमें से प्रमुख दो तरीके इस प्रकार है—विदेशी सामान पर कर लगाया जाय और घरेलू उद्योगों को सहायता दी जाय। इस प्रश्न को छोडकर कि इनमें से कौन तरीका उत्तम है हम इस बात पर विचार करेंगे कि क्या सरक्षण की नीति वाछित है।

सरक्षण के पक्ष में जो दलीलें दी जाती है, उनमें तर्क की अपेक्षा कट्टर भावुकता अधिक रहती है, और शुद्ध आर्थिक तर्क की अपेक्षा, अन्य विचारो की प्रधानता रहती है। इसलिये उनमें से बहुतो का खंडन आसानी से हो सकता है। यहाँ हम उन पर एक-एक करके विचार करेंगे।

सबसे अधिक प्रचलित तर्क "घर का पैसा घर में रखने" का है। "जब हम विदेशों में बनी हुई वस्तुएँ खरीदते है, तब वस्तुएँ तो हमें मिलती है, पर पैसा विदेशियो को मिलता है। जब हम स्वदेश में बनी हुई वस्तुएँ खरीदते है, तब हमें वस्तुएँ और पैसा दोनो मिलते है।" राबर्ट इगरसोल के ये शब्द, जिन्हे गलती से अब्राहम लिकन के नाम

घर का पैसा घर मे रखना

[1] "The fact of trade establishes an over-whelming presumption that the commodities obtained from abroad in exchange for exports are so obtained at lower cost than that which the domestic production of their equivalent would entail. If this were not the case they would not be imported, even under Free-Trade."

—*Viner*, "The Tariff Question and the Economist," quoted in Beveridge Tariffs. p. 15.

से उद्धृत किया जाता है, सरक्षण के पक्ष में सबसे अधिक प्रचलित तर्क है। परन्तु इस नीति की वास्तविकता को समझने और उसको साहसपूर्वक स्वीकार करने का प्रयत्न कभी नही किया जाता। जब हम स्वदेशी के बदले विदेशी उत्पादक का माल खरीदते है, तब अनुमान यह होता है कि विदेशी उत्पादक हमे कम कीमत पर अपना माल दे रहा है। यदि हम स्वदेश की बनी वस्तुएँ खरीदते है, तो वे महँगी पडेगी। इसलिये उपभोक्ता की दृष्टि मे हमे हानि होगी। यह बात अवश्य है कि अन्य उद्देश्यो को ध्यान में रखकर हम यह हानि सहने के लिये तैयार हो सकते है। परन्तु नीति का यह पक्ष उस जनता के सामने स्पष्ट रूप से रख दिया जाना चाहिए जिन को सरक्षण का भार वहन करना पडता है।

आयात-निर्यात के अन्तर सम्बन्धी तर्क।

दूसरा तर्क आयात-निर्यात के अन्तर (balance of trade) सम्बन्धी सुप्रसिद्ध तर्क है। यह उस समय का पुराना विचार है, जब विदेशी व्यवसाय का उद्देश्य सोना-चाँदी सग्रह करना था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये यह आवश्यक रहता था कि निर्यात को प्रोत्साहन मिलना चाहिये और आयात कम होना चाहिये, जिससे अन्य देश हमारे देश को सोना देने के लिये बाध्य हों। जाहिर है कि यदि सब देश एक साथ इस नीति को अपनाने लगें तो किसी को लाभ न होगा। यदि सब देश केवल बेचने के लिये उत्सुक हो और खरीदने के लिये कोई तैयार न हों तो व्यवसाय का क्या हाल होगा ? मुद्रा अथवा सोना सम्पत्ति नही है। हमारी उन्नति हमारे सग्रहीत सोने की मात्रा पर निर्भर नही रहती, बल्कि कम से कम दामो पर वस्तुएँ खरीदने की सुविधा पर निर्भर रहती है और केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के द्वारा ही हम वस्तुएँ सस्ते से सस्ते मूल्य पर प्राप्त कर सकते है। फिर दीर्घकाल में आयात-निर्यात का सतुलन होना आवश्यक है। कोई भी देश आयात बन्द करके केवल निर्यात नही कर सकता।

स्वदेशी बाजार के तर्क

उसके बाद घरेलू बाजार सम्बन्धी तर्क आता है। इसका उपयोग अधिकतर अमेरिका में कर सम्बन्धी वाद-विवाद में किया जाता है। यह तर्क देश की मुद्रा देश में रखने के विचार पर आधारित है। देश में जिन उद्योगो को सरक्षण मिलेगा, उसमें अधिक लोगो को काम मिलेगा। इससे देश में बनी हुई वस्तुओ के लिये देश में ही बाजार अधिक विस्तृत होगा तथा इससे अन्य उद्योगो को प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु सरक्षण से आयात कम होगे और निर्यात भी कम होगे तथा अन्य उद्योगो के लिये विदेशी बाजार बन्द हो जायेंगे, पर उन्हे स्वदेशी बाजार मिल जायेंगे।

उसके बाद मजदूरी सम्बन्धी तर्क आता है। यह कहा जाता है कि जिस देश में मज़दूरी की दर ऊँची होती है, वह कम मजदूरी की दर वाले देश का मुकाबिला नही कर सकता।

मजदूरी सम्बन्धी तर्क

इसलिये पहले प्रकार के देश को दूसरे प्रकार के देश मे सरक्षण मिलना चाहिये। इस तर्क में जो त्रुटि है, उसे हम पहले बतला चुके है। इसी तर्क को दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कहा जाता है कि सरक्षण से मजदूरी की दर बढेगी। सरक्षण करो के द्वारा आयात कम हो जायँगे। देश मे सोने का आयात होगा और देश मे कीमतो की सतह ऊंची उठेगी। इससे मुद्रा-आय भी बढेगी। परन्तु कीमतो मे वृद्धि होने के कारण वास्तविक अथवा मजदूरी की दर कम होगी। उत्पादन शक्ति बढने पर मजदूरी की दर बढती है। यदि उत्पादन शक्ति कम हुई तो मजदूरी की दर भी कम होगी। सरक्षण द्वारा श्रम और पूंजी सबसे अधिक लाभदायक उद्योगो मे हट जायँगी। "उत्पादन शक्ति, उन्नति और मजदूरी की दर मे आम तौर से कमी होगी।"

सरक्षण का समर्थन स्वदेशी और विदेशी उत्पादन की लागतो में समता (equalising the costs of productions) स्थापित करने के लिये भी किया जाता है। यदि स्वदेशी लागत खर्च विदेशी लागत खर्च से (मान लो) १० प्रतिशत अधिक है, तो विदेशी आयातो पर १० प्रतिशत कर लगा देना चाहिये। इस प्रकार दोनो लागतो को एक सम करके तब उन्हे बराबरी की स्थिति मे प्रतियोगिता करने दो। यह तर्क देखने मे बडा न्याययुक्त दिखता है। परन्तु यदि इसका पालन पूरी तरह से किया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि स्वदेशी लागत-खर्च जितना अधिक हो, आयात कर भी उतना ही अधिक होना चाहिये। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि जो उद्योग सबसे कम योग्य होगा, उसे सबसे अधिक सरक्षण मिलेगा। यदि इस नियम का ईमानदारी के साथ कठोरतापूर्वक पालन किया जावे तो सब व्यवसाय ही समाप्त हो जायँगे। क्योकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय का आधार तो लागतो का तुलनात्मक अन्तर है।

शिशु उद्योगो का तर्क

सरक्षण के पक्ष मे सबसे अधिक ठोस तर्क 'शिशु उद्योगो' सम्बन्धी तर्क है, जिसकी विवेचना सबसे पहले लिस्ट (List) ने की थी। इस तर्क का सार यह है कि "शिशु का पोषण करो, बच्चे की रक्षा करो और वयस्क को स्वतन्त्र कर दो।" किसी देश मे कुछ उद्योगो की स्थापना और उन्नति करने के लिये बहुत से प्राकृतिक साधन और सुविधाए हो सकती है। परन्तु सुस्थापित विदेशी प्रतियोगियो की प्रतिस्पर्धा के कारण उनका पनपना कठिन हो जाता है। किसी काम को आरम्भ करना हमेशा कठिन होता है। यदि प्रारम्भिक अवस्था मे इन शिशु उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता से सरक्षण मिल जाता है, तो सम्भव है कि समय पाकर वे अच्छी प्रकार स्थापित हो जायें और विदेशी प्रतियोगिता का सामना करने मे समर्थ हो सकें। यद्यपि प्रारम्भ मे सरक्षण से हानि होगी, तथापि बाद मे उद्योगो के उन्नत हो जाने पर उससे लाभ ही होगा। स्वतन्त्र व्यवसाय के समर्थक इस तर्क की उपयुक्तता अस्वीकार नही करते। परन्तु इस तर्क के आधार पर केवल

अस्थायी संरक्षक कर लगाना ही न्यायसगत होगा। परतु सरक्षण मे स्थायी होने की प्रवृत्ति रहती है। "शिशु उद्योग कभी वयस्क होने की प्रवृत्ति नही दिखाते और यदि वयस्क हो भी जाते है, तो अपनी युवा-शक्ति को अधिक तथा लम्बे समय के लिये सरक्षण प्राप्त करने मे लगाते है।"[1]

सरक्षण का समर्थन देश में विभिन्न प्रकार के उद्योगो की स्थापना के लिये भी किया जाता है। विभिन्न उद्योगो की स्थापना कई आधारों पर की जाती है। पहला यह कि उससे देश आत्मनिर्भर हो सकता है और आत्मनिर्भरता सैनिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण होती है। दूसरा तर्क यह है कि विभिन्न उद्योगो ओर पेशो की स्थापना से लोगो की शारीरिक ओर मानसिक शक्तियो का बहुमुखी उपयोग हो सकेगा। अन्त मे देश को केवल उद्योग पर अथवा उद्योगो के केवल एक समूह पर निर्भर न रहना पडेगा। एक व्यक्ति के समान एक देश को भी सब अडे एक ही टोकनी मे न रखने चाहिये। इन तर्कों का सम्बन्ध अर्थशास्त्र से नही है। सैनिक सुरक्षा की दृष्टि से राष्ट्रीय आत्मनिर्भरता महत्वपूर्ण हो सकती है। इसमे सन्देह नही कि सम्पत्ति को अपेक्षा सुरक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। परन्तु तब हम सैनिक सुरक्षा के निमित्त हानि सहने के लिये तैयार होते है और यह एक बिलकुल अलग प्रश्न है। फिर, विभिन्न उद्योगो की उन्नति का तर्क असल बात पर ध्यान नही देता। अधिक लोगो को काम मिलने का अर्थ यह नही होता कि देश अधिक समृद्धिशाली हो जायगा। "आर्थिक प्रयत्न का उद्देश्य अधिक काम देना नहीं, बल्कि सम्पत्ति है।" जब पूंजी और श्रम का उपयोग कम उत्पादक कार्यो में होगा, तब उत्पादन शक्ति और समृद्धि भी कम हो जावेंगी।

गंदी प्रतियोगिता और संरक्षण।

अधिकाश स्वतन्त्र व्यवसाय के समर्थक इस बात का समर्थन करते है कि सरक्षण द्वारा देशी उद्योगो की विदेशो की गदी और बेईमानीपूर्ण प्रतियोगिता (dumping) से रक्षा करनी चाहिये। जब अन्य देश किसी देश मे गन्दी प्रतियोगिता करने के विचार से दाम घटाकर माल पटकना शुरू करते है, तो उस देश के उद्योग-धधे अस्त-व्यस्त हो जाते है। यदि यह प्रतियोगिता स्थायी हो तो आपत्ति नही होनी चाहिये, परन्तु माल का यह पटकना प्राय अस्थायी होता है। इसमे सन्देह नही कि इस प्रकार की प्रतियोगिता देश के उद्योगो के लिये हानिकर होती है और उसके विरुद्ध सरक्षक कर लगाना न्यायोचित है। परन्तु चूंकि यह प्रतियोगिता अस्थायी होती है, इसलिये

"[1] The infant industries never feel themselves grown up; if they grow up at all they devote their manly strength to fighting for bigger and longer protection."
—*Beveridge*, Tariffs, p. 103.

ये संरक्षक कर भी अस्थायी होने चाहिये। परन्तु अनुभव यह कहता है कि एक बार जब सरक्षक कर लगा दिये जाते है, तब वे बहुत कम हटाये जाते है। "दीर्घकाल में सरक्षक कर हानिकर होते है। वे देशो को जमे हुए समुद्रो और चट्टानो मे भरे हुए समुद्री किनारो की तरह गरीब और एकाकी बना देते है।"

सरक्षण की राजनीतिक बुराइयाँ भी कम गम्भीर नही होती। जिन उद्योगो को सरक्षण प्राप्त होता है, उनके मालिक उद्योगो की उन्नति करने के बदले ससद और विधानमडलो के सदस्यो को रिश्वत इत्यादि देकर सरक्षक कर सम्बन्धी कानून बनाने के चक्कर में रहते है। इसलिये सरक्षक-कर बर्फ की गेंद की तरह बढते ही जाते है और राजनीतिक जीवन में गदगी फैलाते है। एक बार लगने के बाद सरक्षक कर जल्दी नहीं हटाये जाते और वे देश के ऊपर स्थायी भार होकर बैठते है। सरक्षण के पक्ष में अधिकतर प्रचलित तर्क बिलकुल गलत और आधाररहित होते है। वे आर्थिक राष्ट्रवाद और कट्टरपन्थी का सहारा लेकर बढते है।

संरक्षण और बेकारी (Protection and Unemployment)–सरक्षण को बहुधा बेकारी को दूर करने का भी एक उपाय बतलाया जाता है। विदेशी आयातों पर रोक लगाने से स्वदेशी उद्योगो का विस्तार होगा। फल यह होगा कि इन उद्योगों में अधिक बेकार लोगो को काम मिलेगा। परन्तु लोग इस बात को भूल जाते है कि आयात पर रोक लगाने से अन्त में निर्यात भी कम हो जायेंगे। इसलिये सरक्षित उद्योगो में कुछ लोगो को भले ही काम मिल जाय, परन्तु जो उद्योग निर्यात की वस्तुएँ बनाते हैं, उनमें बेकारी बढेगी। इसलिये वास्तव में बेकारी में वृद्धि नही होगी।

कुछ समय पहले कीन्स ने दो सुझाव रखे थे, जिनसे सरक्षक करो द्वारा बेकारी में वृद्धि हो सकती है, यदि साथ ही निर्यात की मात्रा भी पुरानी सतह पर रखी जा सके। एक तो यदि सरक्षक कर लगानेवाला देश यदि विदेशो को अधिक ऋण भी देने लगे तो निर्यात की मात्रा पुरानी सतह पर रखी जा सकती है। इससे देशी उद्योगो में विस्तार होने से जो बेकारी बढेगी, वह निर्यात उद्योगो में होनेवाली बाकारी के प्रभाव से बची रहेगी। दूसरे यदि सरक्षक करो में होनेवाली आय में से निर्यात होनेवाले माल को सरकारी आर्थिक सहायता (bounties) मिले तो निर्यात व्यवसाय अपनी पुरानी सतह पर रखा जा सकता है।

जहाँ तक पहले सुझाव का सम्बन्ध है, यह बात सच है कि यदि विदेशो को अधिक ऋण या उधार दी जावे तो निर्यात की पुरानी सतह बनी रह सकती है। परन्तु जब देश के पूंजी सम्बन्धी साधनो का काफी बडा अश विदेशो को चला जायगा। इससे देश में पूंजी की कमी हो सकती है। फिर यह नीति बुद्धिमत्तापूर्ण नही होगी। विदेशी आयात कम करने का अर्थ यह होगा कि हम उन देशो की बेचने की शक्ति कम कर रहे है। इससे उनकी समृद्धि कम होगी। तब ऐसे देशो को अधिके ऋण देना बुद्धिमानी होगी? दूसरे

सुझाव के सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिये कि जब हमारे निर्यातो को सरकारी सहायता मिलेगी तो दूसरे देश भी उसका जवाब देंगे और वे इसे गदी प्रतियोगिता समझ कर इसके विरुद्ध सरक्षक कर लगावेगे। इन तरीको की सहायता से निर्यात बनाये रखने की सम्भावना बहुत कम है। इस प्रकार सरक्षण की सहायता से बेकारी दूर करने का तर्क सिद्ध करना तो सरल है, परन्तु वास्तविक जीवन मे इन विचारो पर अमल करना सम्भव नही है।

यदि हम बेकारी के वास्तविक कारणो का अध्ययन करें तो देखेंगे कि सरक्षक करो की सहायता से इनमे से एक भी कारण दूर नही किया जा सकता। एक तो व्यवसाय मे मोसिमी अर्थात् सामयिक परिवर्तनो के कारण बेकारी हो सकती है। इन्हे सरक्षक करो के द्वारा कोई भी दूर करने का दावा नही कर सकता। दूसरे, व्यवसाय-चक्रो के कारण जो परिवर्तन होते है, उनसे भी बेकारी होती है। व्यवसाय-चक्र बेकारी के महत्वपूर्ण कारण होते है। परतु सरक्षण द्वारा वे भी दूर नही किये जा सकते। बडे-बडे सरक्षक कर लगाने के बाद भी अमेरिका को बड़ी भारी व्यावसायिक मदी का सामना करना पडा। तीसरे, नये आविष्कारो तथा उत्पादन के नये तरीको को ग्रहण करने के कारण औद्योगिक सगठन में जो परिवर्तन होते है, उनमे भी बेकारी हो सकती है। सरक्षण द्वारा आप उन्नति का मार्ग नही रोक सकते और ऐसा करना भी नही चाहिये। अन्त में श्रमवर्ग की भ्रमणहीनता के कारण अथवा किसी देश में मजदूरी की दर ऊँची सतह के कारण बेकारी हो सकती है। इन परिस्थितियो में "मजदूरी पर बढती हुई कीमतो द्वारा छिपे रूप से पीछे से प्रहार करने की अपेक्षा मजदूरी को नये ढग से व्यवस्थित करने तथा उसे अधिक लचीला बनाना ज्यादा अच्छा होगा।" सरक्षण इस रोग की जड तक नही जायगा, बल्कि जिन कारणो से यह व्याधि उत्पन्न होती है, उन कारणो को अधिक मजबूत और अस्थायी बनावेगा।

अध्याय ४६

विदेशी विनिमय
(Foreign Exchange)

विदेशी विनिमय क्या है ? (What is Foreign Exchange ?)—'विदेशी विनिमय' का उपयोग कई अर्थों मे किया जाता है। कभी-कभी इसका उपयोग किसी विदेशी व्यवसायी या बैंक को दिये जानेवाले बैंकरो के ड्राफ्ट, विनिमय की हुडियो इत्यादि के लिये किया जाता है। जर्मन भाषा मे इसके लिये 'डिवाइजन (devisen)' शब्द का उपयोग किया जाता है। इस शब्द का उपयोग विनिमय की वास्तविक दर प्रकट करने के लिये भी किया जाता है। उदाहरण के लिये जब यह कहा जाता है कि विदेशी विनिमय हमारे पक्ष मे है, तो उसका मतलब विनिमय की वास्तविक दर से रहता है। विदेशी विनिमय का मतलब उस व्यवस्था मे भी होता है जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय के हिसाब और लेन-देन भुगतान किये जाते हैं। हम विदेशी विनिमय का उपयोग इस अर्थ मे करेंगे। जिस प्रकार देश के भीतर व्यावसायिक लेन-देन मे चेको का उपयोग होता है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान मे विनिमय पत्रों (bills of exchange) और बैंक ड्राफ्टो (banker's drafts) का उपयोग होता है॥

भुगतान किस प्रकार होता है ? (How payment is made ?)—अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय मे भुगतान प्राय विनिमय पत्रों और बैंक ड्राफ्टों के द्वारा होता है।

विनिमय पत्र किस प्रकार चलता है—विनिमय पत्र एक व्यक्ति द्वारा बैंक अथवा किसी व्यक्ति को दी हुई एक आज्ञा है, जिसमे एक तीसरे व्यक्ति को कुछ देने का आदेश रहता है। मान लो, एक भारतीय व्यापारी अ एक हजार रुपये का जूट एक अँग्रेज व्यापारी ब के नाम निर्यात करता है और एक भारतीय व्यापारी स ने एक हजार रुपये का कपडा एक अग्रेज व्यापारी ड से आयात किया है। यदि इन सौदो का भुगतान करने के लिये ब, अ के पास सोना भेजता है और स, ड के पास सोना भेजता है, तो यातायात मे दुगुना खर्च हो जायगा। परन्तु मान लो, भारतीय निर्यातकर्त्ता अँग्रेज आयातकर्त्ता के नाम पर हुडी चलाता है और उसे भारतीय आयातकर्त्ता को बेच देता है। भारतीय आयातकर्त्ता उसे खरीदकर अँग्रेज निर्यातकर्त्ता के पास भेज देता है और यह अँग्रेज निर्यातकर्त्ता इस हुडी का भुगतान अग्रेज आयातकर्त्ता से ले लेता है। इस प्रकार मुद्रा के यातायात के बिना एक हुडी या विनिमय पत्र के द्वारा सौदा अथवा ऋण का भुगतान हो जाता है। विदेशी व्यवसाय मे हुडियो तथा विनिमय पत्रो का उपयोग इस प्रकार किया जाता है। इधर

कुछ समय से हुडियो अथवा विनिमय पत्रो का उपयोग कम हो रहा है, उसके बदले सौदों का भुगतान बैंको के ड्राफ्ट अथवा जरूरी भुगतान मे केबिल या तार द्वारा (cable transfers) होता है। आयातकर्ता बैंक जाकर एक ड्राफ्ट खरीद लेता है और उसे निर्यातकर्ता के पास भेज देता है। निर्यातकर्ता उस ड्राफ्ट को बैंक की विदेशी शाखा या एजेन्ट से भुना लेता है। हुडी या तो 'दर्शनी' ('sight') होती है या 'मुद्दती' ('long')। दर्शनी हुडी का भुगतान तुरत करना पडता है। मुद्दती का भुगतान एक निश्चित समय के बाद, प्राय ९० दिन के बाद करना पडता है। यदि कोई आयात-कर्ता अथवा उसका बैंक या एजेट हुडी पर "स्वीकृत" ('accepted') लिखकर अपने हस्ताक्षर कर देता है तो हुडी स्वीकृत समझी जाती है। तब स्वीकार करनेवाला हुडी का भुगतान करने के लिये जिम्मेदार हो जाता है। यदि हुडी मुद्रा बाजार में बिक जाती है, तो कहते है कि वह भुन (discounted) गई। बेचनेवाले को हुडी की अवधि का एक निश्चित दर से ब्याज काटकर रकम मिल जाती है।

लेनी-देनी की बाकी (Balance of Payment)—यह जानना आवश्यक है कि किसी अन्य देश को किन-किन मदो पर रकम दी जायगी, अथवा उससे प्राप्त की जायगी। पहले तो एक देश अन्य देशो को आयात की हुई वस्तुओं का मूल्य देता है और जिन वस्तुओ का वह निर्यात करता है, उनके लिये अन्य देशों से मूल्य प्राप्त करेगा। वस्तुओ के सिवा देश सेवाओ का भी आयात और निर्यात करते है। इन सेवाओ मे जहाजो, बैंक और बीमा कम्पनियो की सेवाएँ प्रधान रहती है। यदि हम विदेशी जहाजो, बैंकों और बीमा कम्पनियो की सेवाओ का उपयोग करते है, तो हमें उनके लिये मुद्रा के रूप मे कुछ रकम देनी पडेगी। इसी प्रकार यदि अन्य देश हमारी इन सेवाओ का उपयोग करते है, तो वे हमें इनका मूल्य देंगे। लेनी-देनी की सूची में इनका स्थान दूसरा होता है। तीसरा स्थान उस खर्च का है, जो हमारे देश के लोग विदेशो में जाकर करते हैं अथवा विदेशो के लोग आकर हमारे देश मे करते है। जब हमारे देश मे अमरीका के लोग आते है, तो हम वस्तुओ (जिनका वे उपभोग करते है) और दृश्यो (जिन्हे वे देखते है) का निर्यात करते है तथा उनका हम मूल्य प्राप्त करते है और जब भारत के लोग विदेशो मे जाते है, तब हम विदेशो को मूल्य चुकाते है। चौथे, खर्च के विविध मद रहते है, जैसे एक देश दूसरे देश मे दान के लिये रकम भेजते है, आवासियो (विदेश से आकर बसने वालो) का रुपया इत्यादि रहता है। जब एक देश दूसरे को भेंट, नजराना और हरजाना देता है, तो उसमे भी काफी बडी रकम देनी पडती है। पाँचवें, यदि एक देश अन्य देशो मे पूँजी लगाता है, तो उसे प्रति वर्ष ब्याज के रूप में रकमें मिलेगी और यदि कोई देश विदेशो से ऋण लेता है, तो उसे ब्याज देना पड़ेगा। छठवें, यदि एक देश दूसरे देश को ऋण देता है, तो उसे ऋण की रकम तत्काल उस देश में भेजनी पड़ेगी और जो देश ऋण लेता है, वह ऋण चुकाते समय बड़ी रकम बाहर भेजेगा। अन्तिम, यदि एक

देश के ऋण-पत्र अन्य देशो के लोग खरीदते है, तो उस देश को उन ऋण-पत्रों का मूल्य मिलेगा।

लेनी और देनी की पूरी सूची को हिसाब की बाकी (balance of accounts) अथवा अन्तर्राष्ट्रीय ऋण की बाकी (balance of international payment) कहते है। इस वर्गीकरण का सबसे अधिक प्रचलित रूप यह है कि सूची को दृश्य (visible) और अदृश्य (invisible) मदो में बाट देते है। दृश्य बाकी मे केवल वे वस्तुएं रहती है, जिनका आयात और निर्यात होता है। अन्य मदो को अदृश्य माना जाता है। आयात और निर्यात की दृश्य बाकी को कभी-कभी व्यवसाय की बाकी (balance of trade) कहते है। जब निर्यात की हुई वस्तुओ का मूल्य आयात की हुई वस्तुओं के मूल्य से अधिक होता है, तो कहा जाता है कि बाकी स्वपक्ष (favourable) मे है। यह विचार उन दिनो का है, जब निर्यात अधिक होने के कारण देश में विदेशो से सोना आता था। इसलिये जब आयात निर्यात से अधिक हो जाता था, तो व्यवसाय की बाकी विपक्ष मे (unfavourable) हो जाती थी। क्योकि तब बाकी चुकाने के लिये अन्य देशो को सोना देना पडता था। परन्तु व्यवसाय की बाकी स्वपक्ष में होने का अर्थ यह नही है कि देश को हमेशा अन्य देशो से सोना मिलेगा। उसका अर्थ यह भी हो सकता है कि बाकी के अन्य मदो मे देश अन्य देशो का ऋणी है। अथवा वह बैंक और जहाजो इत्यादि की सेवाएँ विदेशियो से ले रहा है और इन मदो की रकम चुकाने के लिये उसे अन्य देशो को अधिक मात्रा मे अपना माल भेजना पडेगा।

निर्यात और आयात की बराबरी (Equality of Exports and Imports)—किसी देश के व्यवसाय की बाकी स्वपक्ष अथवा विपक्ष मे हो सकती है, परन्तु उसकी लेनी-देनी की बाकी स्वपक्ष अथवा विपक्ष मे नही हो सकती। यदि किसी देश की लेनी और देनी के सब मदो की पूरी सूची सावधानी के साथ तैयार की जाय तो सब मद एक दूसरे के बराबर पाये जायेंगे। एक दिये हुए समय में किसी व्यक्ति की आय और खर्च बराबर होनी चाहिये। यदि उसका खर्च आय से अधिक है तो या तो वह पुरानी बचत से खर्च करता है या अन्य लोगो से ऋण लेता है। यदि आय से उसका खर्च कम है, तो वह बचत कर रहा है। कुछ भी हो इसकी आय कर्ज अथवा बचत को जोड़कर अथवा घटाकर खर्च के बराबर होनी चाहिये। यही हाल एक देश का भी है। एक देश अन्य देशो से जो रकम प्राप्त करता है, यदि वह उसके द्वारा दी जानेवाली रकम से बढती है (अथवा घटती है) तब वह विदेशो मे बाकी जमा करता है (अथवा उसमें से खर्च करता है)। दूसरे शब्दो मे वह उन देशो को बाकी ऋण के रूप में देता है (अथवा बाकी ऋण के रूप में लेता है या जमा हुई बाकी में से

क्या निर्यात आयात का मूल्य चुकाते है?

खर्च करता है)। इसलिये उसके द्वारा प्राप्त रकम उसके ऋण अ...की विनिमय की
कर अथवा घटाकर उसके द्वारा दी जानेवाली रकम के बराबर होनी ...rchasing

इस अर्थ को ध्यान में रखकर कहा जाता है कि देश का निर्यात उसके... वास्त-
बराबर होना चाहिये। वस्तुओ का निर्यात आयात से अधिक अथवा कम ह... के
है। व्यवसाय की इस स्वपक्षीय अथवा विपक्षीय बाकी से ऊपर दिया गया कथन अ...
नही हो सकता। लेनी-देनी की बाकी मे निर्यात और आयात के बाद सब मद सम्मिलित रहते है। निर्यात मे वस्तुओ के सिवा विभिन्न प्रकार की सेवाएँ, ऋण, घूमनेवालो के खर्च, दान और हरजाने की रकमे इत्यादि शामिल रहती हैं। इन सब मदो को एक-दूसरे के बराबर होना चाहिये।

बाकी की यह बराबरी हमेशा किस प्रकार होती है? मान लो, एक देश को अन्य देशो से जो रकम प्राप्त होती हैं, वह उसके द्वारा दी जानेवाली रकम से अधिक है। उस देश के जिन व्यक्तियो को विदेशी रकमे मिलेगी, वे विदेशी मुद्रा अपने बैंकों को बेचेगे और बदले मे देश की मुद्रा लेगे। यह विनिमय पूरा हो जाने के बाद उस देश के बैंक विदेशो मे अधिक रकम या बाकी जमा कर लेते है, क्योकि विदेशी मुद्रा को वे विदेश में ही रखेगे। जब वे इस बाकी को विदेशो मे रखेगे तो उन देशो को ऋण भी देगे। किसी भी स्थिति मे देश की प्राप्त रकम (ऋणो को मिलाकर) दी जानेवाली रकम के बराबर होती है। लेनी और देनी फिर भी बराबर होती है। यदि बैंक विदेशो से अपनी रकम खीचते है, तो वे देश उन बैंको को सोना देंगे। तब उस देश में सोना आवेगा। बैंक के सुरक्षित कोष बढ जायँगे। तब ये बैंक बाजार मे अधिक ऋण देगे और ब्याज की दर कम करेंगे। इससे उत्पादन और व्यवसाय के लिये अधिक पूँजी प्राप्त होगी और लोगो की मुद्रा आय बढेगी। तब उस देश मे कीमतें बढेगी। ऊँची कीमतो के कारण निर्यात कम होगे और आयात बढ जायँगे। इस प्रकार अन्त मे लेनी और देनी बराबर हो जायगी।

विनिमय की दर किस प्रकार निश्चित होती है? (How the rate of exchange is determined?)—किसी देश की मुद्रा का जिस अनुपात में विदेशी मुद्रा से विनिमय हो सकता है, उसे विनिमय की दर कहते है। मुद्रा सम्बन्धी परिस्थितियों की दृढता के अनुसार तथा विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति के आधार पर विनिमय की वास्तविक दर निश्चित होती है। विदेशी मुद्रा की पूर्ति ऋणो की बाकी पर निर्भर रहती है। इसलिये यह कहा जाता है कि विनिमय की वास्तविक दर किसी देश के ऋण की बाकी द्वारा निश्चित होती है। यदि बाकी विपक्ष मे है अर्थात् यदि देश निर्यात की अपेक्षा आयात अधिक करता है, तब विदेशी मुद्रा की माँग बढेगी और विनिमय की दर गिरेगी तथा जब बाकी स्वपक्ष में होती है, तब इसका उलटा होता है। इसे व्यवसाय की बाकी का सिद्धान्त (balance of trade theory) कहते है। इसे कोई अस्वीकार नही करेगा कि विनिमय दर के निश्चित होने पर तत्काल

देश के ऋण-पत्र अन
मिलेगा।
लेनी
अथवा

ी बाकी का होता है। लेकिन यह केवल उथला और
ार आयात की मात्रा केवल इतनी क्यों होती है? इससे
किसी समय स्वपक्ष में और किसी समय विपक्ष में क्यों
कौन से प्रभाव है, जिनके द्वारा व्यवसाय की बाकी और
की दर निश्चित होती है? इसलिये विदेशी विनिमय
समझाना चाहिये, जिनके द्वारा लेनी-देनी की बाकी

लेना-देनी की बहुधा विनिमय की दरों का कारण न होकर परिणाम होता है। जब मुद्रा का प्रमाण कागजी मुद्रा होती है, तब पहले विनिमय की दरें क्रियाशील होती है और उन दरों के प्रभाव में व्यवसाय की बाकी में परिवर्तन होते है। इसलिये इस सिद्धान्त से हम विनिमय की दर निश्चित करनेवाले वास्तविक कारण नही समझ सकते।

खरीदने की सम-शक्ति का सिद्धाँत (Purchasing power parity theory)—यह कोई नया सिद्धान्त नही है। परन्तु दो महायुद्धों के बीच के वर्षों में स्वीडन के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गस्टाव केसल ने इसका पुनरुद्धार और प्रचलन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार दो देशों के बीच में विनिमय की दर मूल्य सतहों के पारस्परिक सम्बन्ध द्वारा निश्चित होती है। विनिमय की वास्तविक दर ऐसी होनी चाहिये कि खरीदने की शक्ति की वही मात्रा उस दर पर विनिमय होने के बाद दोनों देशों में एक बराबर वस्तुएं और सेवाएं खरीद सके। यदि हम १५ रु० खर्च करके भारत में उतनी ही वस्तुएँ खरीद सकते है, जितनी कि इगलैण्ड मे १ पौंड खर्च करके, तो भारत और इग्लैण्ड में विनिमय की दर १५ रु० के बदले १ पौंड अर्थात् १ रु० के बदले १ शि० ४ पें० होगी। "यदि हम इस बात को ध्यान में रखें कि विदेशी मुद्रा में जो मूल्य दिया जाता है, वह अन्तिम रूप मे विदेशी वस्तुओं के लिये ही दिया जाता है और उसका देश की वस्तुओं के मूल्य के साथ एक निश्चित सम्बन्ध होना चाहिये, तो यह सिद्धान्त जल्दी समझ में आ जाता है। इससे हम इस तात्पर्य पर पहुँचते है कि दो मुद्रा प्रणालियों के बीच विनिमय की दर अपने-अपने देश में इन मुद्राओं की खरीदने की शक्ति के भागफल (quotient) पर निर्भर रहती है।"[1]

विनिमय की दर मूल्य सतहों पर निर्भर होती है

[1] "This is easily seen if we reflect on the fact that the price paid in a foreign currency is ultimately a price for foreign commodities, a price which must stand is a certain relation to the prices of commodities on the home market. Thus we arrive at the conclusion that the rate of exchanges between two currencies must stand essentially on the quotient of the internal purchasing power of these currencies."

—*Cassel*, "Foreign Exchange." Article in the Encyclopedia Britannica, 13 ed., First Supplementary Volme, p. 1086

मूल्य सतहो के पारस्परिक सम्बन्ध के आधार पर निश्चित होनेवाली विनिमय की दर को खरीदने की सम-शक्ति या खरीदने की शक्ति की समता (purchasing power parity) कहते है। यह ऐसा चक्र या वृत्त है, जिसमे विनिमय की वास्तविक दरो के अनुसार परिवर्तन होते रहते है। जब तक दो मूल्य सतहो के आपस के सम्बन्ध मे कोई परिवर्तन नही होता, तब तक उनकी विनिमय की दरे समता की ओर जाने की प्रवृत्ति दिखावेगी। परन्तु ध्यान रहे यह समता सोने के अको या अनुपातो की तरह कोई निश्चित अनुपात नही है। यह समता एक चलता हुआ परिवर्तनशील मान होता है और मूल्य सतहो मे होनेवाले परिवर्तनो के साथ-साथ इसमे भी परिवर्तन होते है।

परन्तु देखा जाता है कि देशो के मूल्य-सतह प्राय अलग-अलग सतहों पर रहते है। इसलिये एक प्रमाण अथवा आधार-वर्ष (base-year) माने विना विभिन्न देशो के मूल्य सतहो की तुलना करना कठिन होगा। प्रायः सन् १९१३ को आधार वर्ष माना जाता है। उस वर्ष के मूल्य सतहो के सम्बन्ध और विनिमय की दरो को सामान्य अथवा आदर्श (normal) माना जाता है। यदि दो मूल्य-सतहो के आपस के सम्बन्ध मे परिवर्तन होता है तो विनिमय की दरो मे भी उसी अनुपात मे परिवर्त्तन होता है। उदाहरण के लिये, मान लो, सन् १९१३ मे अमेरिका में मूल्यो का सूचक-अक इग्लैण्ड की अपेक्षा डेढ़ गुना अधिक था और विनिमय की दर ४ ८ डालर=१ पौड थी। मान लो, सन् १९१४ मे इंग्लैण्ड मे मूल्य सतह दुगुना हो गया और अमेरिका में वही रहा। तो अब विनिमय की दर २ ४ डालर=१ पौड होगी। पौड का मूल्य डालर की दर में आधा हो जायगा, क्योकि इग्लैण्ड का मूल्य सतह दुगुना हो गया है और अमेरिका का वही है।

ध्यान रहे कि खरीदने की सम-शक्ति का निर्धारण सम्पूर्ण मूल्य-सतहो की तुलना करके होता है, केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की वस्तुओ के मूल्य सतहो की तुलना द्वारा नही। प्रत्येक देश में निर्यात और आयात के मूल्य (यातायात का खर्च, कर इत्यादि छोडकर) एक ही सतह पर रहने चाहिये। फिर उनका निर्धारण बहुधा विनिमय की दरो मे परिवर्तनो के आधार पर होता है। इसलिये थोक सूचक अको की तुलना करके हम इस सिद्धात की जाँच आसानी से कर सकते है। थोक-सूचक अको की तुलना द्वारा इस सिद्धात की प्रामाणिकता स्थापित करना इसलिये सभव होता है कि सूचक-अको मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की वस्तुओ की अधिकता रहती है।[1] परन्तु समताओ का माप "केवल व्यापक अथवा सम्पूर्ण सूचक अको द्वारा होना चाहिये, जिनमे जहाँ तक सभव हो, देश मे विकनेवाली सब वस्तुएँ शामिल हो।" यदि ऐसा किया जाय तो विनिमय की वास्तविक दरो और समताओ मे समानता न मिलेगी। अर्थात् दोनो एक-सी न होगी।

[1] *Keynes*, Treatise on Money, Vol. I. p. 73.

अल्पकाल में देश में विकनेवाली और विदेश में विकनेवाली वस्तुओ की मूल्य की दिशा अलग-अलग हो सकती है। तव विनिमय की वास्तविक दरे समताओ के वरावर न होगी। इसके सिवा, लेनी-देनी की वाकी की कई वातो पर, जैसे कि वीमा और वैकों के काम, पूंजी के आवागमन इत्यादि सम्पूर्ण मूल्य सतहो मे होनेवाले परिवर्तनो का वहुत ही कम प्रभाव पडता है, प्राय नही के वरावर है। परन्तु उनका प्रभाव विनिमय की दरो पर पडता है। इससे दरे सूचक अको की तुलना से प्राप्त दरो से भिन्न हो सकती है। विनिमय की दरे निश्चित करने में इन वातो का महत्व वहुत होता है। परन्तु केसल के सिद्धात मे इन वातो के प्रभावो पर विचार नही किया गया है।[1]

वास्तव मे यह सिद्धात मुद्रा की पारस्परिक सम्वन्ध स्थापना समझाता है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की मूल्य परिस्थितियो मे कोई परिवर्तन न हो तो विदेशी विनिमय की दरो पर मूल्यो के परिवर्तनो का प्रभाव पड़ेगा। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की परिस्थितियाँ कभी एक-सी नही रहती। विशेपकर व्यवसाय की विनिमय सम्वन्धी शर्ते और परिस्थितियां हमेशा वदलती रहती है, क्योकि विदेशी वस्तुओं की माँग मे, निर्यात की वस्तुओ की पूर्ति की परिस्थितियों मे, विदेशी ऋणो की मात्रा मे, यातायात संवधी खर्च मे तथा व्यवसाय की अदृश्य वाकी की प्रत्येक वात मे हमेशा परिवर्तन होते रहते है। एक ऐसे देश का उदाहरण ले ले, जो एक दूसरे मे ऋण लेता है। पहले देश के विदेशी विनिमय के वाजार मे विदेशी मुद्रा स्फीति की पूर्ति अधिक हो जाने मे स्वय उसकी मुद्रा का मूल्य ऋण देनेवाले देश की मुद्रा की दर मे वढ जायगा। विनिमय की दरो मे यह परिवर्तन दोनो देशो की मूल्य सतहो मे होनेवाले परिवर्तनो मे हमेशा जाहिर नही होगा। यदि व्यवसाय की विनिमय सम्बन्धी शर्ते वदलती है, तो विभिन्न देशो की मूल्य-सतहो के पारस्परिक सम्वन्धो मे भी परिवर्तन होगे। परन्तु पहले की मूल्य-सतहो की पारस्परिक तुलना द्वारा जो समताएँ प्राप्त की थी, उनमे विनिमय की दरो मे होने-वाले परिवर्तन जाहिर न होगे। इस प्रकार हम देखते है कि यह सिद्धात केवल तव सत्य होता है, जब व्यवसाय की शर्तो मे परिवर्तन नही होता।

विनिमय की दरो मे घटा-बढ़ी (Fluctuations in the Rates of Exchange)—विनिमय की वास्तविक दरे टकसाली-दर (mint par) के आस-पास अर्थात ऊपर-नीचे वदलती रहती है। विनिमय की दरो मे किन कारणो से परिवर्तन होते है? इन कारणो को हम दो प्रधान वर्गो मे रख सकते है—विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति तथा मुद्रा सम्बन्धी परिस्थितियां। विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति के तीन जरिये है—(१) व्यवसाय की परिस्थितियां, (२) स्टॉक एक्सचेज के प्रभाव, और (३) वैको के प्रभाव।

(१) विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति प्रधानत निर्यात और आयात की मात्रा पर

---

[1] *Ohlin*, Inter-regional and International Trade, p. 545

निर्भर करती है। जब निर्यात आयात से अधिक होते है, तब विदेशो से हमें अधिक मिलता है और हम उन्हे कम देते है। तब विनिमय की दर हमारे पक्ष मे हो जाती है। परन्तु जब आयात निर्यात से अधिक होते है, तब विदेशी मुद्रा की मॉग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होती है और दर गिर जाती है। निर्यात और आयात मे हमें दृश्य वस्तुओं के सिवा अदृश्य वस्तुएँ भी सम्मिलित करनी चाहिये, क्योकि इनके कारण भी विदेशी मुद्रा की मॉग और पूर्ति होती है।

व्यवसाय की परिस्थितियाँ

(२) स्टॉक एक्सचेज के प्रभावो मे इतनी वस्तुएँ शामिल होती है—ऋण देना, व्याज, ऋण चुकाना, हमारे देश के लोगो द्वारा विदेशी ऋण-पत्रो की खरीद और विक्री तथा विदेशी लोगो द्वारा हमारे देश के ऋण-पत्रो की खरीद और विक्री। जब एक देश दूसरे देश को ऋण देता है, तो वे ऋण विदेशी मुद्रा मे विदेश भेजे जाते है। उसकी विदेशी मुद्रा की मॉग बढ जाती है और विनिमय की दर उसके विपक्ष में हो जाती है। इसी प्रकार जब देश के लोग विदेशी ऋण-पत्र खरीदते है अथवा जब विदेशी लोग हमारे देश के ऋण-पत्र वेचते है, तब विनिमय की दर गिरती है। परन्तु जब हमारे ऋण हमे वापिस मिलते है अथवा जब विदेशी लोग हमारे ऋण-पत्र खरीदते है, तब विदेशियो द्वारा हमारी मुद्रा की मॉग बढ जाती है और विनिमय की दर बढ जाती है।

स्टॉक एक्सचेंज के प्रभाव

(३) वैको के प्रभाव में वैको के ड्राफ्ट और यात्रियो के साख-पत्रो (traveller's letters of credit) की खरीद और विक्री तथा सट्टा वाजार के क्रय-विक्रय सम्वन्धी काम शामिल रहते है। जब कोई वैक अपनी विदेशी शाखा के नाम ड्राफ्ट अथवा साख-पत्र देता है, तब विदेशी मुद्रा की मॉग बढ जाती है। और विनिमय की दर गिर जाती है। विनिमय की दर पर वैक दर भी महत्वपूर्ण प्रभाव डालती है। जब वैक-दर ऊँची रहती है (अर्थात् दूसरे केन्द्रो की अपेक्षा) तब विदेशी लोग उस देश मे ऊँची व्याज दर प्राप्त करने के लिये अपनी पूंजी भेजेंगे। तब उस देश की मुद्रा की मॉग बढ जाती है और विनिमय की दर भी बढ जाती है। जब वैक-दर कम हो जाती है, तब इसका उल्टा होता है।

वैंक के प्रभाव

मुद्रा सम्वन्धी परिस्थितियाँ (Currency conditions)—किसी देश की मुद्रा सम्वन्धी परिस्थितियो का भी विनिमय की दरो पर महत्वपूर्ण प्रभाव पडता है। यदि मान लो, कागजी मुद्रा के अत्यधिक प्रचलन के कारण मुद्रा का मूल्य गिरने की सभावना है, तो उस मुद्रा की मॉग कम हो जायगी। क्योकि जिस मुद्रा की खरीदने की शक्ति गिर रही है, उसमें कोई भी अपनी पूंजी परिवर्तित नहीं

मुद्रा सम्वन्धी परिस्थितियाँ

करना चाहेगा। तब विनिमय की दर बढ़ जायगी। यदि विदेशी लोग अपने घर की मुद्रा मे अपनी पूंजी न लगाकर उसे विदेशो की मुद्रा मे लगावे, जहाँ खरीदने की शक्ति अधिक स्थिर है, तब विनिमय की दर बहुत अधिक बढ़ जायगी। इसी प्रकार जब एक देश की मुद्रा का आधार चाँदी होती है और दूसरी का सोना, तो विनिमय की दर चाँदी के स्वर्ण-मूल्य पर निर्भर होगी। इनके सिवा, राजनीतिक परिस्थितियां, मं की प्रवृत्तियाँ इत्यादि अन्य कई बातें विनिमय की दर पर प्रभाव डालती है।

विनिमय की दरों की घटा-बढ़ी की सीमाएँ ((Limits to the fluctuations of Exchange)—जब दोनों देश स्वर्णमान पर होते है, तब विनिमय की वास्तविक दर, विनिमय की टकसाली दर (mint par of exchange) के आस-पास स्वर्ण आयात-निर्यात दर (gold points) द्वारा निश्चित सीमाओं के बीच में घटती-बढ़ती है। किसी देश के सिक्कों मे जितना शुद्ध सोना रहता है, उसी के आधार पर टकसाली दर निश्चित होती है। उदाहरण के लिये युद्ध के पहले सोने के एक सावरेन में ४.८६ डालर के बराबर सोना रहता है। इसलिये इग्लैण्ड और अमेरिका के बीच में टकसाली-दर १ पौड =४.८६ डालर था। जब विनिमय की दर टकसाली-दर के बराबर होती है, तब उसे सम मूल्य दर (at par) कहते है। परन्तु विनिमय की दर प्राय: टकसाली-दर के ऊपर-नीचे घूमती रहती है। स्वर्णमान में विनिमय की दर की घटी-बढी की सीमाएँ स्वर्ण की आयात-निर्यात दर (gold or specie points) के आधार पर निश्चित की जाती है। यद्यपि सोने का एक सावरेन भेजकर हम बदले में ४.८६ डालर प्राप्त कर सकते थे, परन्तु जहाज द्वारा स्वर्ण भेजने मे भी तो खर्च पडता। स्वर्ण भेजने के सम्बन्ध मे जो परेशानी होती, उसके सिवा निर्यातकर्ता को किराया बीमा इत्यादि के रूप में कुछ देना पडता और यातायात में जितना समय लगता उसका ब्याज मारा जाता। इन सब मदो पर खर्च होनेवाली रकम की मात्रा वास्तव में काफी हो सकती है। इसलिये टकसाल की दर (mint par) मे ये सब खर्च जोडकर वास्तविक स्वर्ण निर्यात कर दर (actual gold export point) निश्चित होता है। इसी प्रकार टकसाली-दर मे से खर्च घटाकर वास्तविक स्वर्ण आयात-दर (actual gold import point) मालूम हो जाता है। जब तक हुडियो की कीमते स्वर्ण निर्यात-आयात दर से कम रहेगी, तब तक व्यवसायी लोग विदेशों के भुगतान चुकाने के लिये उन्हे खरीदेगे। परन्तु जब हुडियो की कीमत स्वर्ण निर्यात दर से अधिक हो जायगी, तब वे हुडियाँ भेजने के बदले सोना ही भेजेगे। इसी प्रकार जब विनिमय की दर स्वर्ण आयात-दर के बराबर होगी, तब देश मे स्वर्ण का आयात होगा। टकसाल-दर तब तक स्थिर रहती है, जब तक सिक्को मे सोने की मात्रा और शुद्धता में परिवर्तन नही होता। परन्तु स्वर्ण-निर्यात-आयात दर में ऐसा नही होता। यह दर यातायात का किराया, बीमा-खर्च इत्यादि के अनुसार बदलती रहती है। जब ये कम खर्च होते है, तब

यह दर घटती है और जब ये खर्च बढते है, तब यह बढती है। आजकल हवाई यातायात
की सहायता से सोना भेजने मे कम समय लगता है। इसलिये व्याज मे कुछ बचत हो
जाती है। फिर यातायात और वीमा-सम्वन्धी खर्च अधिक नही होता। इसलिये स्वर्ण
की आयात-निर्यात दर अधिक नही होती।

जब विनिमय की दर स्वर्ण आयात दर के पास होती है, तब देश का विनिमय अनु-
कूल या स्वपक्षीय (favourable exchange) कहा जाता है। जब विनिमय
की दर स्वर्ण निर्यात दर के पास होती है, तब विनिमय प्रतिकूल या विपक्षीय कहा जाता
है। जब हमारे आयात निर्यात से अधिक होते है, तब हमे वाकी मूल्य चुकाने के लिये
सोना अथवा अन्य पूँजी भेजनी पडेगी। परन्तु जब हमारे आयात निर्यात से अधिक होते
है, तब विदेशी लोग हमारी वाकी चुकाने के लिये हमारे देश मे सोना भेजेगे। तब
विनिमय अनुकूल होगा।

ागजी मुद्रा के अन्तर्गत सीमाएँ

जब दोनो देशो मे अविनिमय साध्य कागजी मुद्रा (inconvertible paper
urrency) का मान होता है, तब सोने की (आयात-निर्यात) दर नही होती।
तब टकसाली दर के स्थान मे खरीदने की सम शक्ति होती
है और यह शक्ति दोनो देशो की मूल्य-सतहो के आधार पर
निश्चित की जाती है। टकसाली-दर परिवर्तशीनल नही
होती, परन्तु खरीदने की समशक्ति परिवर्तनशील होती
है। यह परिवर्तनगील मूल्यो के परिवर्तनो के अनुसार होती है। यद्यपि इसमे विनिमय
की सम मूल्य दर (par of exchange) होती है, परन्तु विनिमय-दर के परि-
वर्तनो की सीमाएँ नही होती। विनिमय की दर मे विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति के
परिवर्तनो के अनुसार परिवर्तन होगे।

विदेशी व्यवसाय मे ऋण चुकाने के तरीके (Loan payments in international trade)—केरनीज (Cairnes) के अनुसार हम ऋण को तीन
कालो मे बाँट सकते है—पहला काल जब ऋण का स्थानान्तर होता है, दूसरा काल जब
व्याज दिया जाता है और तीसरा काल जब ऋण वापिस किया जाता है। मान लो,
अमेरिका भारत को ऋण देता है। ऋण की वातचीत के समय प्रत्येक देश के आयात
निर्यात वरावर थे और विदेशी विनिमय की मूल्य दर सम थी। इस परिस्थिति मे ऋण
सम्वन्धी समझौता हुआ है। यदि पूरा ऋण अमेरिका में माल खरीदने में खर्च हो जाता
है, तो इग्लैण्ड अमेरिका के निर्यात का मूल्य ऋण की मात्रा के वरावर बढ जायगा।
निर्यात प्रत्यक्ष रूप से वढ जायगा और ऋण का स्थानान्तर माल भेजने के रूप में
होगा। परन्तु यदि ऋण की पूरी मात्रा इस प्रकार खर्च नही होती, तव अमेरिका ऋण
की रकम भारत भेजेगा। तव डॉलर के मूल्य में रुपये की माँग वढेगी। डालर के मूल्य
में रुपये का मूल्य वढेगा और विनिमय स्वर्ण आयात दर के वरावर हो जायगा। सोना
अमेरिका के वाहर जायगा। सुरक्षित कोष में सोना कम होने से फेडरल रिजर्व बोर्ड

बैंक दर बढा देगा। देश में साख अथवा ऋण का सकुचन होने लगेगा। मुद्रा आय और मूल्यो मे कमी होगी। मूल्यो में कमी होने से अमेरिका का निर्यात व्यवसाय बढेगा। इन बातो के कारण व्यवसाय की बाकी अमेरिका के पक्ष में हो जायगी और ऋणो का भुगतान अधिक निर्यातो के जरिये होगा, इसलिये दीर्घकाल में अमेरिका के निर्यात आयात से अधिक होंगे और मुद्रा आय तथा मूल्य बढेंगे। परन्तु भारत में इसका उलटा होगा। उसके आयात निर्यात से अधिक होंगे। मूल्य और मुद्रा आय भी ऊँचे होंगे। जब व्याज देने का समय आयेगा, तब ऋण लेनेवाला देश आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक करने का प्रयत्न करेगा। तीसरे काल में जब उसे ऋण लौटाना पडेगा, तब यह क्रिया-उलटी हो जायगी। अब भारत आयात की अपेक्षा निर्यात अधिक करने की कोशिश करेगा। उस देश में मूल्य और मुद्रा आय घटेंगे। तब अमेरिका में इसके विपरीत होगा। उसकी व्यवसाय की दृश्य बाकी विपक्षीय अर्थात् प्रतिकूल हो जायगी और कीमतो तथा मुद्रा आय की सतह ऊँची होगी।

जब एक देश दूसरे देश को एकपक्षीय भुगतान (onesided payment) करता है, तब उसकी क्रिया इस प्रकार होती है और उस क्रिया का विश्लेषण आधुनिक अर्थशास्त्रियो द्वारा इस प्रकार किया गया है। इस विश्लेषण के अनुसार (अग्रेजी मे इसे price-specie-flow-mechanism कहते है), जब एक देश दूसरे देश को ऋण अथवा अन्य कोई भुगतान करता है, तो वह भुगतान अधिक निर्यात के रूप में होता है। यह अधिक निर्यात उस देश में कीमतें गिरने के कारण होगा। परन्तु इधर हाल में ओहलिन (Ohlin) तथा अन्य अर्थशास्त्रियो ने इस विश्लेषण के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट किये है। उनके मत में यह विश्लेषण सर्वथा सही नही है। इसमें सन्देह नही कि ऋणो का स्थानान्तर आयात से अधिक निर्यात द्वारा किया जाता है। परन्तु निर्यात की यह अधिकता मूल्यो मे परिवर्तन के कारण नही, बल्कि दो देशो में खरीदने की शक्ति परिवर्तन होने के कारण होती है। जब अमेरिका भारत को ऋण देता है, तो उससे अमेरिका के लोगो की खरीदने की शक्ति कम होती है और भारत के लोगो की खरीदने की शक्ति बढती है। यह बात तो साफ जाहिर है। जब अ मुद्रा उधार लेता है, तब उसकी खरीदने की शक्ति बढ जाती है और उधार देनेवाले की खरीदने की शक्ति घट जाती है। चूंकि अमेरिका के लोगो की खरीदने की शक्ति घट जाती है, इसलिये वे लोग पहले की अपेक्षा कम माल खरीदेंगे। इससे आयात के माल की भी खरीद कम होगी। इससे अमेरिका में आयात घटने की प्रवृत्ति होगी और स्वय अमेरिका का माल निर्यात के लिये अधिक मात्रा में प्राप्त होगा। भारत के लोग अब वस्तुएँ अधिक मात्रा में खरीदेंगे, क्योकि अब उनके पास खरीदने की शक्ति अधिक है। इसलिये वे वर्तमान मूल्यो पर आयात का माल अधिक खरीदेंगे और आयात का काफी बडा अश प्राय: अमेरिका से आवेगा। इस प्रकार अमेरिका का निर्यात इतना अधिक हो जायगा कि वह निर्यात के रूप में ऋण का स्थानान्तर कर सकता है। यह आवश्यक नही है कि अमेरिका

ं कीमतें गिरें अथवा भारत में बढें। ऋण स्वीकृत होने पर खरीदने की शक्तियो में
ारिवर्तन होने से ही ऋण-दाता देश मे निर्यात की अधिकता हो सकती है।[1]

सत्य शायद इन दोनो के बीच पाया जायगा। इसमे सन्देह नही कि ऋण देने
ो खरीदने की शक्ति मे परिवर्तन होता है (जैसे कि माँग मे परिवर्तन) और इससे
नेर्यात की मात्रा मे कुछ अधिकता होगी। परन्तु कई वार दोनो देशो मे मूल्यो मे परि-
र्तन होने के कारण भी एक देश से दूसरे देश मे ऋण स्थानान्तर करना सम्भव हुआ है।

विनिमय मे मन्दी और निर्यात (Exchange Depreciation and Export)—यह कहा जाता है कि किसी देश की विनिमय की दरो मे मदी होने से
नेर्यात व्यवसाय को प्रोत्साहन ओर सहायता मिलेगी। विनिमय की दर गिरने से
निर्यात होनेवाली वस्तुओ के उत्पादको को विदेशी बाजारो मे अपना माल बेचने से अधिक
धन मिलता है। मजदूरी के रूप मे दी जाने वाली उनकी लागत एकदम नही बढती
अथवा उतनी नही जितनी कि उनकी आय बढ जाती है। इस प्रकार उन्हे कुछ अति-
रिक्त लाभ अथवा सहायता मिल जाती है। इस प्रकार देश की आन्तरिक कीमतें और
लागतें जब तक उसी प्रतिशत दर से नही बढती जितनी कि विनिमय की दर घटती है,
तब तक निर्यात व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलता रहेगा।

परन्तु विनिमय मे मदी होने से देश मे कीमते गिर सकती है। यह भी सम्भव है
कि विनिमय की दरो मे जितना ह्रास हो, उससे अधिक आन्तरिक कीमते बढ़ जायँ।
तब आयात को प्रोत्साहन मिलेगा और निर्यात में कमी होगी। जैसा टॉसिग ने कहा
है, "परिस्थिति बिलकुल विपरीत हो सकती है। विनिमय की वृद्धि कीमतो की वृद्धि
से कम हो सकती है। . केवल अनुमान तर्क (a priori reasoning)
अथवा कागजी मुद्रा के इतिहास के आधार पर हम यह नही कह सकते कि कीमतो की
अपेक्षा विनिमय जल्दी अथवा धीरे, कम अथवा अधिक बढ़ेगा।" स्वय विनिमय की
मदी से विदेशी विनिमय की ऐसी दरें प्राप्त नही हो पाती, जिनसे कि निर्यात या आयात
को प्रोत्साहन मिल सके।

विनिमय की मदी से निर्यात को हमेशा प्रोत्साहन नही मिलता। यदि निर्यात होने
वाले माल की माँग विदेशो में अपेक्षाकृत बेलोचदार है, तो विदेशो में निर्यात के माल
की कीमतें गिरने से निर्यात से होनेवाली कुल आय घट सकती है।'

परन्तु ऐसे अवसर अवश्य आते है, जब विनिमय में मदी होने से निर्यात को प्रोत्सा-
हन मिलता है। जैसा कि सन् १९१९ से १९२४ के बीच मे जर्मनी में हुआ था। यदि
सरकार बड़ी मात्रा मे कागजी मुद्रा चलाती है और उसका उपयोग विदेशो में भुगतान
करने के लिये करती है तो कीमतो की अपेक्षा विनिमय की दरो में अधिक और शीघ्र
परिवर्तन होते है। सन् १९३१ के बाद विनिमय में जो मदी आई, उसके अध्ययन के

[1] For further discussion see Chapter 53.

आधार पर हैरिस इस तात्पर्य पर पहुँचा कि "प्राप्त आँकडो की सहायता से यह कहा जा सकता है कि कागजी मुद्रावाले देशो को निर्यात से लाभ हुआ।"

परन्तु ध्यान रहे कि इस प्रकार का प्रोत्साहन केवल अस्थायी होता है। जल्दी अथवा थोडी देर मे कीमतो और लागतो में उसी अनुपात मे परिवर्तन होगा, जिसमे कि विनिमय की दरो मे होगा और तब प्रोत्साहन खतम हो जायगा। देश के अन्य उत्पादको की तुलना मे निर्यात माल के उत्पादको को यह प्रोत्साहन अनिश्चित काल के लिये नही मिलेगा। यह मौका देखकर कुछ अन्य उत्पादक भी निर्यात उद्योगो और व्यवसाय मे आ जायँगे। तब निर्यात बढ जायँगे और विनिमय की दरे कम हो जायँगी। जितनी शीघ्रतापूर्वक निर्यातो की मात्रा बढेगी, उतनी जल्दी प्रोत्साहन खतम हो जायगा।

इस सम्बन्ध मे कुछ अन्य बातो पर भी विचार करना पडेगा। जैसा कि हैरिस ने कहा है "विदेशो की आर्थिक परिस्थितियो का प्रभाव भी महत्वपूर्ण होता है। वास्तव मे प्रत्येक वस्तु की माँग और पूर्ति सम्बन्धी परिस्थितियो का अध्ययन करना आवश्यक होता है। कुछ वस्तुओ की मांग लोचदार हो सकती है और कुछ बेलोचदार। फिर माग मे भी महत्वपूर्ण परिवर्तन होते रहते है। किसी देश-विशेष के निर्यातो का बढना और घटना इन सब तथा अन्य बातो पर निर्भर होता है।[1] इसके सिवा यह भी सम्भव है कि जब विनिमय मे मदी आवे, तब इस प्रकार का प्रोत्साहन प्राप्त न हो। इस आशा मे कि विनिमय अभी और गिरेगा विदेशी लोग गिरते हुए विनिमय वाले देश से खरीद करना बन्द कर सकते है। निर्यात होनेवाली वस्तुओ के उत्पादन में लगनेवाले कच्चे माल का यदि विदेशो से आयात होता है तो आयात पर जो लागत खर्च बढेगा उस निर्यात का लाभ खतम हो जायगा। अन्त मे मुद्रा का मूल्य घटाना (devaluation) ऐसा खेल है, जिसे प्रत्येक देश खेल सकता है। यदि अन्य देश भी इसी प्रकार की मुद्रा-नीति अपनाने लगें अथवा वे बडे-बडे विनिमय निरोधक कर (heavy anti-exchange-dumping duties) लगाने लगे तो सम्भव है कि कोई भी लाभ प्राप्त न हो।

अग्रिम विनिमय (Forward Exchange)—जब दोनो देशो में अविनिमय साध्य कागजी मुद्रा मान होता है, तब विनिमय की दरो के घटा-बढी सम्बन्धी परिवर्तनो की कोई सीमाएँ नही होती। तब सब प्रकार का विदेशी व्यवसाय अनिश्चित और खतरा पूर्ण हो जाता है। विनिमय सबधी इन खतरो से बचने के उपाय क्या हो सकते है?

एक तरीका यह है कि जितने सौदे किये जायँ, उनमे 'स्वीकृति के अनुसार विनिमय' (Exchange as per endorsement) शर्त्त रख दी जावे। अर्थात् सौदे में विनिमय की दर बाँध दी जाती है और ऋणी उसी दर से भुगतान करता है। दूसरी रीति यह होती है कि विदेशी विनिमय का अग्रिम सौदा (forward contract) कर लिया जाता है।

[1] *Lerner*, Economics of Control p. 378.

विदेशी विनिमय के अग्रिम सौदे का सार यह है कि जब किसी व्यक्ति को एक निश्चित समय के बाद किसी देश से रुपया प्राप्त करना होता है अथवा उस देश को रुपया देना होता है, तब वह व्यक्ति विनिमय की दर अपने बैंक से निश्चित कर लेता है। मान लो, भारतीय आयातकर्ता को तीन महीने बाद ब्रिटिश निर्यातकर्ता को १,००० पौंड देना है। जब तक उसे यह मालूम न हो जायगा कि १,००० पौंड के बदले कितने रुपये देने होंगे तब तक वह आयात किये हुए माल की बिक्री की कीमतें नही बाँध सकता। वह अपने बैंक मे जाता है और एक दर निश्चित करके अग्रिम स्टरलिंग खरीद लेता है। अर्थात् वह बैंक के साथ एक दर निश्चित कर लेता है, जिस पर बैंक उसे १,००० पौंड देगा। इससे वह जान जाता है कि समय आने पर उसे कितना रुपया देना होगा। अब विनिमय की दर मे जो घटी-बढी होगी उसके खतरो से वह बच जाता है। अग्रिम विनिमय की दर को तात्कालिक दर (Spot rate) कहा जाता है। अर्थात् यह दर सौदे के दिन प्रचलित थी। जब अग्रिम विनिमय बट्टे पर मिलता है, तब उसका अर्थ यह होता है कि देशी मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा अधिक मात्रा मे मिल सकती है। जब अग्रिम विनिमय अधिक दर अथवा मूल्य पर मिलता है, तब उसका अर्थ यह होता है कि विदेशी मुद्रा कम मात्रा में प्राप्त है।[1]

अग्रिम दर किन बातों द्वारा निश्चित होती है

तात्कालिक दर का बट्टा अथवा अधिक मूल्य कौन-कौन-सी बातो पर निर्भर होता है? पहली चीज तो देश और विदेश मे प्रचलित व्याज की दर होती है। अग्रिम सौदे में यद्यपि व्यापारी तो विनिमय की दर की घटी-बढ़ी के खतरो से बच जाता है, पर बैंक भी अपने ऊपर कम से कम खतरा रखना चाहता है और इसके लिये वह तुरत सौदे की रकम विदेशी केन्द्र में भेज देता है। और यदि विदेशी केन्द्र में देश की अपेक्षा व्याज की दर ऊँची है, तब तो वह तुरत ही यह काम करने को उत्सुक रहेगा, क्योंकि तब उसे अपनी रकम पर अधिक व्याज मिलेगा। इसलिये जब देश की अपेक्षा विदेश में व्याज की दर अधिक मिलती है, तब बैंक अग्रिम विनिमय बट्टे पर देने को भी तैयार हो सकता है। दूसरी बात जो अग्रिम दर निश्चित करती है वह सौदे से सौदे की "शादी" करने का मौका रहता है। विदेश मे रकम भेजने के बदले बैंक एक सौदे का भुगतान दूसरे सौदे के द्वारा कर सकता है। जब कुछ व्यापारियो को विदेशी मुद्रा की

---

1 "Economic conditions abroad may play an important part. It is in fact necessary to study the supply and demand conditions of each commodity The demand for some may be elastic and for others inelastic. Furthermore, important shifts in demand will occur. Upon these and others will depend whether or not any particular country's exports will expand."

—*Harris*, Exchange Depreciation.

आवश्यकता होगी, तब कुछ व्यापारी ऐसे भी होंगे जिनके पास विदेशी मुद्रा होगी और उन्हे देशी की आवश्यकता है। वे विदेशी के बदले देशी मुद्रा चाहते है। बैंक इन दो सौदो की "शादी" कर देगा। वह बेचनेवालो से विदेशी मुद्रा लेकर खरीदनेवालो को दे देगा और सब खतरो से बच जायगा। यदि बैंक अग्रिम विनिमय खरीद चुका है, तो वह उसे अनुकूल दर पर अग्रिम बेचने को तैयार भी रहेगा। किसी सौदे की 'शादी' करने का जितना अधिक मौका रहेगा, उतनी ही अनुकूल शर्तें भी रहेगी। तीसरी बात मुद्रा सम्बन्धी परिस्थितियाँ होती है। अर्थात् विदेशी मुद्रा का मूल्य गिरने की सभावना इत्यादि बाते भी दर के निश्चित करने मे प्रभाव डालती है। यदि विदेशी मुद्रा का भविष्य बुरा दिखता है, तो उसे खरीदने का उत्साह न दिखावेगा और ऊँची दर पर खरीदेगा।

विनिमय क्षतिपूरक कोष (Exchange Equalisation Account)—जब सन् १९३१ में इगलैण्ड ने स्वर्णमान छोड दिया तो उसने इस बात की आवश्यकता समझी कि कोई ऐसा तरीका ग्रहण करना चाहिये, जिसमे विदेशी विनिमय की दरो में बहुत अधिक घटी-बढी न हो। इसलिये उसने सन् १९३२ में एक विनिमय क्षतिपूरक कोष या खाते (Exchange Equalisation Account) की स्थापना की। जिसका उद्देश्य विनिमय की दरो में अत्यधिक परिवर्तनो पर नियत्रण करना तथा देश के मुद्रा बाजार को इन परिवर्तनो के प्रभाव से बचाना था। बाद में कुछ समय के बाद जब फ्रास और अमेरिका ने भी स्वर्णमान छोडा, तब उन देशो में भी इस प्रकार के कोष स्थापित किये गये, जिनका उद्देश्य विनिमय की दरो को मजबूत रखना था। प्रारम्भ से ही इन कोषो की कार्यवाही अत्यन्त गुप्त रखी जाती है और उनके सम्बन्ध में एक रहस्य का वातावरण बना रहता है। अब हम ब्रिटेन के विनिमय क्षति-पूरक कोष के कार्यो का वर्णन करेंगे, क्योकि अन्य कोषो के कार्य भी लगभग उसी तरह के होते है।

ब्रिटिश क्षतिपूरक कोष पर सरकारी खजाने का प्रत्यक्ष नियत्रण है और खजाने के एजेट की हैसियत से बैंक आफ इगलैण्ड उसका दिन प्रति दिन का काम करता है। उसके साधनो में सरकार द्वारा प्रचलित सरकारी हुडी (Treasury Bills) और खुले बाजार में अथवा अमेरिका और फ्रास के केन्द्रीय बैंको से खरीदा हुआ सोना शामिल रहता है। प्रारम्भ मे सरकार ने कोष को लगभग १७ करोड ५० लाख पौड की सरकारी हुडियाँ दी। सन् १९३७ में यह रकम बढाकर ५७ करोड ५० लाख पौड कर दी गई। प्रारम्भ में विदेशो में कोष की कोई पूँजी नही थी। परन्तु बैंक आफ इगलैण्ड ने कुछ पूँजी विदेशो में जमा कर ली थी और उसे बैंक ने बेच दिया। सरकारी हुडियाँ तीन महीने के बाद नई कराई जाती है। कोष की स्थापना का प्रधान उद्देश्य विदेशी मुद्राओ के बदले में स्टरलिंग खरीदना और बेचना है। जब विदेशी लोग अपनी रकम को स्टरलिंग में बदलना चाहते है, तब बैंक का काम उन लोगो को स्टरलिंग बेचना है, जिससे स्टरलिंग की विनिमय की दर एकदम न बढ जाय। सरकार इस कोष का उपयोग इस तरह नही करती कि कोष विदेशी विनिमय बाजार की दीर्घकालीन और स्थायी प्रवृत्तियो में हस्त-

करे। परन्तु सरकार इस बात का प्रयत्न अवश्य करती है कि पूंजी लगानेवालों घवडाहट और सटोरियों के कामो के कारण विदेशी विनिमय की दरो में हानिकारक र्वर्तन न हो। दूसरे शब्दो मे विदेशी विनिमय के बाजार में "हानिकर मुद्रा" के ने अथवा जाने से जो हानिप्रद प्रभाव पड सकते है, उनसे बचने का वह प्रयत्न करती इस प्रकार उसका उद्देश्य बैंकिग व्यवस्था को विदेशी विनिमय के बाजार से अलग ाना है ओर साथ ही दीर्घकालीन प्रवृत्तियो को ध्यान मे रखकर विनिमय की दरो को रखना है। इस प्रकार देश के मुद्रा बाजार मे ओर विदेशी व्यवसाय मे किसी प्रकार मकट या बाधा नही पडने पाती ओर वे सामान्य रूप से चलते रहते है।

पहले कोप स्टरलिग के बदले डालर खरीदता था और डालर-स्टरलिग दर के जरिये न्य सब दरो पर नियत्रण रखने का प्रयत्न करता था। स्टरलिग के बदले जो डालर प्त किये जाते थे, उन्हे तुरत न्ययार्क मे सोने मे बदल दिया जाता था। सन् १९३३ के ाद जब अमेरिका ने भी स्वर्णमान छोड दिया, तब कोप फ्रास के सिक्के फ्रेक के द्वारा पना काम करने लगा। अब वह फ्रेको को पेरिस मे सोने से बदलने लगा। परन्तु जब फ्रास ने भी स्वर्णमान छोड दिया, तब इस मान मे कठिनाई होने लगी। इस कठिनाई को हटाने के लिये अक्टूबर सन् १९३६ मे इग्लैण्ड, फ्रास और अमेरिका के बीच एक मुद्रा समझौता हुआ। इस समझोते के अनुसार तीनो देश एक दूसरे से अपनी मुद्रा सोने के बदले २४ घटो के अन्दर खरीदने लगे।

इस कोप की वास्तविक कार्य-प्रणाली इतनी गुँथी हुई और उलझनो से भरी हुई होती है कि उसे सक्षेप में समझना कठिन है। सक्षेप मे केवल इतना कहा जा सकता है कि विदेशी विनिमयो और मुद्रा-धातुओ के बाजार पर नियत्रण रखने के लिये एक सतोपजनक प्रणाली अथवा मशीन बन गई है। इसमें सन्देह नही कि विदेशी विनिमय की दरो को अस्थायी अथवा सट्टा के कारण अत्यधिक परिवर्तनो के कुपरिणामो से इस प्रणाली की सहायता से बचाया जा सकता है। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात विभिन्न देशो के मूल्य और आय के सगठनो के बीच में सामजस्य स्थापित करना होता है ओर यह काम इस प्रणाली द्वारा सिद्ध नही हो सकता।

विनिमय-नियंत्रण (Exchange Control)—प्रथम युद्ध-काल में सब देशो मे सरकार ने किमी एक उद्देश्य से अथवा उद्देश्यो से प्रेरित होकर विनिमय की दरो पर नियत्रण प्राप्त कर लिया था। परन्तु सन् १९३० के बाद जो विश्वव्यापी व्यावसायिक मदी आरम्भ हुई, उसमे सरकारो ने निश्चयात्मक रूप मे इस नीति को ग्रहण किया। विनिमय-नियत्रण की परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते है कि इस प्रणाली में अपने हस्तक्षेप द्वारा सरकार विनिमय की एक निश्चित दर रखती है, जो कि बिना सरकारी हस्तक्षेप ओर नियत्रण के न रह सकती, और अपने देश के विदेशी मुद्रा के खरीदारो और बेचनेवालो पर जोर डालती है कि वे अपनी विदेशी पूंजी का उपयोग उसकी इच्छानुसार

विनिमय नियत्रण के उद्देश्य

करे। विश्वव्यापी महान व्यावसायिक मंदी के समय यूरोप के देशो ने इस त
को अपनाया था। उस समय अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान लगभग खतम हो चुका
और अन्तर्राष्ट्रीय ऋण तथा साख सम्बन्धी सुविधाएँ भी टूट चुकी थी।
प्रणाली को अपनाने मे अधिकाश देशो का प्रधान अभिप्राय यह था कि लेनी-
की बाकी के सम्बन्ध में जो अत्यधिक उथल-पुथल हो, उसका हानिकर प्रभाव उ
मुद्रा के स्वर्णमान या विनिमय मूल्य पर न पड़ने पावे। बहुत से देश "जी तोड़कर
कोशिश कर रहे थे कि चाहे जो हो, उनकी राष्ट्रीय मुद्राओ का सरकारी स्वर्ण-मूल्य
रहे। क्योकि प्रथम महायुद्ध के बाद जो अत्यधिक मुद्रा स्फीति हुई थी, उसके भया
दुष्परिणाम उन्हे याद थे।" इसलिये बहुत से देश विनिमय दर की समता को प्र
उद्देश्य मानते थे। दूसरा उद्देश्य यह था कि आवश्यक भुगतान करने के लिये अथ
आयात माल के मूल्यो मे वृद्धि रोकने के लिये विदेशी हुडियाँ काफी मात्रा में प्राप्त हो
रहे। बहुत से ऐसे उदाहरण भी है, जिनसे यह मालूम होता है कि किसी देश विशेष
व्यवसाय बढाने के लिये अथवा उसको भुगतान करने के लिये विनिमय-नियत्रण कि
गया। यह इस प्रकार किया जाता था कि उस देश-विदेश के माल के लिये विनिमय
विशेष दरे निश्चित कर दी जाती थी। अथवा यदि विनिमय की दर एक-सी भी रहे
उस देश को प्रथम स्थान दिया जाता था। तीसरा उद्देश्य पूँजी को बाहर जाने से रोकना
था। अन्तिम, इस प्रणाली का उपयोग सरक्षण के रूप मे भी किया जाता था। अथवा
जैसा चिली देश ने किया, कभी-कभी इससे आय प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया जाता
था।

विनिमय नियंत्रण के प्रकार

जब कोई देश विनिमय नियत्रण की नीति ग्रहण करता है, तो उसकी सरकार यह आवश्यक कर देती है कि माल तथा सेवाओ के निर्यातकर्त्ता तथा व्याज और ऋणो की किश्तो (amorisation) के प्राप्त करनेवाले अपनी-अपनी विदेशी रकमो के बदले सरकार द्वारा निश्चित दरो पर देशी मुद्रा स्वीकार करेगे। आयात के सब सौदों पर भी नियत्रण रखा जाता है। विदेशी भुगतान कम करने के लिये कुछ वस्तुओ का भुगतान बन्द कर दिया जाता है। 'आवश्यक' और 'अनावश्यक' आयातो की सूची बनाई जाती है और शुद्ध पूँजी सम्बन्धी सौदो की अपेक्षा वस्तुओ का मूल्य पहले चुकाया जाता है। जब विभिन्न देशो के बीच विदेशी विनिमय को बाटने का प्रयत्न नही किया जाता, तो उस प्रणाली को पक्षपातरहित प्रणाली कहते है। इसमे सरकार केवल वस्तुओ और सेवाओ के बीच मे विदेशी विनिमय बाँटने का प्रयत्न करती है। इस बात पर विचार नही करती कि वे किस देश की है। परन्तु यह प्रणाली बहुत कम पाई जाती है। इसके सिवा अन्य कई प्रणालियाँ प्रचलित है, जैसे कि क्षतिपूरक व्यवस्था (Compensation arrangements), निकासी व्यवस्था (Clearing arrangements), भुगतान व्यवस्था (Payment arrangements) इत्यादि। क्षतिपूरक व्यवस्था

हुत कुछ पुराने समय के वस्तु-विनिमय के समान होती है। उदाहरण के लिये, मान लो, भारत एक निश्चित मूल्य का सूती कपडा पाकिस्तान को बेचता है। पाकिस्तान भी उतने ही मूल्य का कपास भारत को बेचेगा। विनिमय की दर दोनो देश आपस मे तय कर लेते है और उसी के आधार पर यह सौदा होगा। इस प्रकार आयात और निर्यात बराबर हो जाते है और विदेशी विनिमय के द्वारा देने के लिये कोई बाकी नही रहती।

निकासी व्यवस्था मे दो अथवा दो से अधिक देश आपस मे विनिमय की दर निश्चित कर लेते है और उसी दर पर एक दूसरे को माल और सेवाएँ बेचते है। इन सौदो मे खरीदार केवल अपनी मुद्रा मे मूल्य चुकाते है। लेनी-देनी सम्बन्धी जो बाकी होती है, उसका भुगतान कुछ निश्चित काल के बाद केन्द्रीय बैंको द्वारा या तो सोने का स्थानान्तर करके या किसी सर्वमान्य तीसरी मुद्रा के द्वारा होता है। अथवा लेनी-देनी की बाकी को अगले समय तक के लिये पडा रहने दिया जाता है और इसी बीच मे साहूकार देश देनदार देश से कुछ अधिक खरीद करता है और इस प्रकार बाकी मिट जाती है। भुगतान व्यवस्था मे विदेशी भुगतान विनिमय बाजार द्वारा करने की प्रणाली ज्यो की त्यो रहती है। परन्तु प्रत्येक देश एक प्रकार का नियन्त्रण स्थापित करता है और इसके अनुसार दोनो एक दूसरे के बराबर मूल्य के माल और सेवाएँ खरीदते है। पिछले ऋणो को वसूल करने के लिये भी भुगतान व्यवस्था का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिये सन् १९२४ में इग्लैण्ड और जर्मनी मे एक समझौता हुआ। इसके अनुसार जर्मनी के जो निर्यात इग्लैण्ड को होने थे, उनका ५५ प्रतिशत भाग उस पुराने ऋण को चुकाने में चला जाता था, जिसका देनदार जर्मनी इग्लैण्ड के नागरिको के प्रति था। शेष ४५ प्रतिशत का उपयोग जर्मनी स्वतन्त्रतापूर्वक कर सकता था। यहाँ 'बँधे हुए खातो' (blocked accounts) की प्रणाली की चर्चा करना भी अनुपयुक्त न होगा। इसके अन्तर्गत ऋणी लोग विदेशी साहूकारो को कुछ विशेष बैंको के द्वारा भुगतान करते है। विदेशी साहूकार चाहे तो इन बन्दी खातो अथवा बन्दी कोष का उपयोग ऋणी देश में चाहे जिस प्रकार कर सकते है। जर्मनी में बन्दी कोषो का उपयोग केवल कुछ विशेष कामो के लिये अथवा अतिरिक्त निर्यातो के लिये किया जा सकता था। कई बार इन बन्दी कोषो के विदेशी मालिको को अपनी पूँजी हानि सहकर बेचनी पडती थी और सट्टे की दर ५ प्रतिशत से लगाकर २० प्रतिशत तक होती थी।

डा० ईनजिग के मतानुसार विनिमय नियत्रण की व्यवस्था से कई प्रकार के लाभ होते है। उदाहरण के लिये ऋणी और कमजोर देश आपस में एक दूसरे से तथा आर्थिक दृष्टि से सजबत देशो से खरीद करने में समर्थ हो जाते है। इसमें सन्देह नही कि विश्वव्यापी महान व्यावसायिक मदी के समय मे जो परिस्थितियाँ थी, उनमें विनिमय नियत्रण की सहायता से इन देशो के आयात और निर्यात का सामजस्य करके तथा उसके द्वारा विदेशी व्यवसाय बढाने मे काफी सहायता मिली। फिर जैसा प्रोफेसर हेनसन ने कहा है, जो देश कच्चे माल के उत्पादक है तथा औद्योगीकरण करना चाहते है, उनमें

विनिमय नियंत्रण आवश्यक हो सकता है।[1] परन्तु विनिमय नियंत्रण में सबसे बड़ा दोष यह है कि उससे व्यवसाय दो पारस्परिक नहरों में बंट जाता है। साधारण परिस्थितियों मे ऐसा होना सभव नही है। विनिमय नियंत्रण का एक दोष यह भी है कि विदेशी व्यवसाय मे पक्षपातपूर्ण व्यवहार होने लगता है। "व्यवसाय के सौदे व्यापारियों मे न होकर प्रधानत सरकारो के बीच होने लगते है। इसमे पारस्परिक धमकी देने का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। एक देश दूसरे देश के व्यवसाय के मार्ग मे अड़गा लगाना चाहता है। ये अड़गे इस नीयत से लगाये जाते है, जिसमे दूसरे देशो से सौदा करने में लाभपूर्ण उच्च स्थिति हो सके तथा अन्य देशो के अड़गो का सफलतापूर्वक सामना किया जा सके।"[2] एक बात यह भी है कि विनिमय नियंत्रण की व्यवस्था करने मे काफी खर्च होता है तथा उसमें बहुत से आदमी लगते है। साथ ही उसके द्वारा भ्रष्टाचार फैलता है और लोगों में साहसपूर्ण आर्थिक कार्य करने का उत्साह नहीं रहता।

---o---

अध्याय ४७

व्यवसाय-चक्र

(Trade Cycle)

जलवायु की गति के समान उत्पादन कार्यों की गति भी एक समान कभी नहीं चलती। उसकी गति मे भी उतार-चढाव आते रहते है। व्यावसायिक तेजी के बाद प्राय मदी का समय आता है। व्यावसायिक गति के इन उतार-चढावो को जिनमे तेजी के बाद मदी और मदी के बाद तेजी आती रहती है, व्यवसाय-चक्र कहते है। 'व्यवसाय-चक्र मे एक काल अच्छे व्यवसाय का होता है। इस काल मे कीमतें बढती है ओर बेकारी की औसत कम होती है। उसके बाद बुरे व्यवसाय का समय आता है, जिसमे कीमते गिरती है और बेकारी की औसत बढती है।"[3] व्यवसाय-चक्र मे दो प्रवृत्तियाँ प्रधान

[1] America's Role in the World Economy, p. 185.

[2] "A trade cycle is composed of periods of good trade characterised by rising prices and low unemployment percentage, altering with periods of bad trade characterised by falling prices and high unemployment percentage."

—*Howtrey*, Trade and Credit, p. 83.

[3] "Trade bargaining will tend to be conducted primarily by governments instead of by the individual traders themselves, in an

रूप से देखने मे आती है। एक तो उत्पादन कार्यों मे परिवर्तन होता है, ओर उसका ज्ञान बेकारो की सख्या द्वारा होता है। दूसरे मूल्य सतह मे परिवर्तन होते है। जब व्यवसाय-चक्र में तेजी की प्रवृत्ति होती है, तब उत्पादन कार्यों का विस्तार बढता है, बेकारी घटती है ओर कीमते बढ़ती है। परन्तु जब मन्दी की प्रवृत्ति होती है, तब उत्पादन कार्यो मे घटती होती है, बेकारी बढती है ओर कीमते गिरती है। इन चक्रो के परिणामस्वरूप दो पहलू होते है, एक उन्नति का ओर दूसरा अवनति का। उन्नति ओर अवनति के पहलुओ के बीच मे कभी-कभी एक तीसरा पहलू भी होता है ओर इसे सकट का पहलू कहते है।

इन परिवर्तनो को 'चक्र' इसलिये कहते है, "क्योकि एक दिशा मे अत्यधिक गति होने से न केवल उसकी प्रतिक्रिया होती है, बल्कि विरुद्ध दिशा मे भी उतनी ही अधिक उत्तेजनापूर्ण गति होती है।"[1] घडी के पेन्डुलम की तरह जब एक दिशा में गति होती है, तो अपने आप विरुद्ध दिशा मे गति होती है। तेजी के काल में आनेवाली मदी के काल के बीज छिपे रहते है। फिर इन चक्रो की गति से एक निश्चित काल का ज्ञान होता है। चक्र के विभिन्न पहलू एक प्रकार के कुछ निश्चित कालो में बँटे रहते है। पहले कहा जाता था कि एक चक्र का कार्य-काल प्राय दस या ग्यारह वर्षों का होता था। परन्तु वास्तव में कार्य-काल नियमित नही होता।

व्यवसाय-चक्र की कुछ प्रधान विशेषताएँ ध्यान मे रखने योग्य होती है। पहली विशेषता यह है कि व्यवसाय-चक्र व्यापक अथवा समन्वयात्मक (synchronic) होता है। अर्थात् तेजी और मदी की गतियाँ एक ही समय सब उद्योगो में प्रकट होने की प्रवृत्तियाँ दिखलाती है। जब किसी एक उद्योग का व्यवसाय अच्छा लगता है, तब उस उद्योग से अन्य उद्योगो को कच्चे माल की मशीनें इत्यादि की माँग मिलती है। उस उद्योग में अधिक मजदूरो को काम मिलता है ओर मजदूरो की कुल आय में वृद्धि होती है। इन अधिक माँगो और अधिक आयो से अन्य व्यवसायो मे तेजी आती है। इसी प्रकार जब एक उद्योग में मदी आती है तो वह अन्य उद्योगो मे भी फैलती है। किसी देश के उद्योगो और व्यवसायो मे इस प्रकार का घना सम्बन्ध रहता है कि एक उद्योग मे तेजी अथवा

चक्र की विशेषताएँ

---

atmosphere of sparring for advantage of threat and counter-threat, and of the multiplication by each country of impediments to trade which it does not want for their own sake, but which it feels it must introduce as a counter-weight to the restrictions imposed for bargaining purposes by other countries."

—Trade Relations between Free Market and Controlled Economics, p. 35.

[1] *Keynes*, Treatise on Money, vol. 1, p. 278.

मदी की लहर उठने से अन्य उद्योगो में भी उसी प्रकार की लहरें उठती है। दूसरी विशेपता यह है कि इन चक्रो की गतियाँ व्यापकता में अन्तर्राष्ट्रीय होती है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय ओर विदेशी विनिमय की प्रणालियो के द्वारा विभिन्न देशो के व्यवसाय एक दूसरे से इस तरह उठे हुए है कि एक देश मे उन्नति होने से उसका अच्छा प्रभाव दूसरे देशो पर भी पडेगा। अर्थात् वे भी उम उन्नति के किसी-न-किसी रूप मे भागी होगे। तीसरी विशेपता यह है यद्यपि तेजी और मदी के समयो का प्रभाव प्रत्येक उद्योग पर पडता है, तथापि सब उद्योगो पर एक बराबर मात्रा मे नही पडता। यह बात प्राय: सभी जानते है कि निर्माण कार्य सम्बन्धी उद्योगो में, जैसे कि जहाजरानी, इजीनियरिंग तथा उत्पादक वस्तुएं बनानेवाले अन्य उद्योगो मे, सबमे अधिक परिवर्तन होते है। तेजी के समय मे देश के साधनो का अधिकाश भाग उत्पादक वस्तुओ के बनाने में लगा रहता है। परन्तु मंदी के समय मे कम भाग लगा रहता है। उत्पादक वस्तुएँ बनानेवाले उद्योगो मे उपभोग की वस्तुएं बनानेवाले धधो की अपेक्षा कही अधिक परिवर्त्तन होते है। अन्तिम विशेपता यह है कि इन चक्रो की गति लहरो के समान होती है। और विभिन्न चक्र प्राय एक दूसरे के समान होते है। "अभी तक जितने व्यवसाय-चक्रो का विवरण प्राप्त है, उनको मिलाकर नमूना के तौर पर यदि एक चक्र तैयार किया जावे, तो उसमे और किसी एक चक्र मे बहुत अधिक अन्तर न पाया जावेगा। परन्तु साथ ही नमूने का यह चक्र किसी एक चक्र की ठीक नकल भी नही होगा। उनकी समानता दूर की और मोटी समानता होती है। जितने चक्रो का विवरण प्राप्त है, वे सब एक ही कुटुम्ब के सदस्य है। परन्तु उनमें जुडवे बच्चे एक भी नही है।[1]

व्यवसाय-चक्रों कारण (Causes of Trade Cycle)—व्यवसाय-चक्रो के की उत्पत्ति के कई कारण बतलाये जाते है। इस पुस्तक मे उन सब का विवरण देना कठिन है। यहाँ हम केवल प्रधान सिद्धातो का विवेचन करेगे। परन्तु इस विवेचन के पहले मदी के कारणो के सम्बन्ध मे कुछ गलत विचारो या भ्रमो का दूर करना आवश्यक है।

कहा जाता है कि वस्तुओ के अत्यधिक उत्पादन से व्यावसायिक मदी होती है। परन्तु यदि इस कथन का अर्थ यह है कि मनुष्य जितनी वस्तुओ के उपभोग की इच्छा रखता है, उससे अधिक उत्पन्न करता है, तो यह बात असम्भव है। इसका अर्थ यह

---

[1] "A 'typical' cycle consturcted by making as it were a composite photograph of all the recorded cycles would not materially differ in form very widely from any one of them. But this typical cycle is not an exact replica of any individual cycle. The rhythm is rough and imperfect. All the recorded cycles are members of the same family, but among them there are no twins"

—*Pigou*, Industrial Fluctuations, pp. 15-16.

होगा कि मनुष्य की सब इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी है। प्रत्येक व्यक्ति के पास उतनी वस्तुएँ है, जितनी वह उपभोग करना चाहता है। परन्तु आधुनिक समाज में इन बातो का अस्तित्व नही पाया जाता। मनुष्य मात्र की कुल आवश्यकताओ का अन्त नही है। अत्यधिक उत्पादन केवल इस अर्थ मे सम्भव है कि वस्तुओ की बिक्री लाभ पर सम्भव नही है।

क्या अत्यधिक उत्पादन व्यापक रूप से हो सकता है

यह परिस्थिति सम्भव है। माँग का गलत अन्दाज लगाने के कारण कुछ उद्योगो मे जितनी वस्तुएँ लाभ पर बिक सकती है, उनसे अधिक वस्तुओ का उत्पादन हो सकता है। कुछ विशेष उद्योगो मे अश रूप मे अत्यधिक उत्पादन हो सकता है। तब ये उद्योग मशीनो, कच्चे सामानो इत्यादि की माँग कर देते है और मजदूर बेकार हो जाते है। उनकी आय कम हो जाती है ओर वे अन्य वस्तुएँ कम मात्रा मे खरीदते है। फल यह होता है कि अन्य उद्योगो मे भी मदी आ जाती है। परन्तु यह अधिक समय तक नही चल सकता। उन उद्योगो से पूँजी ओर श्रम अन्य उद्योगो मे जाने लगते है और धीरे-धीरे परन्तु निश्चित रूप से अत्यधिक उत्पादन की स्थिति समाप्त हो जायगी। इसलिये व्यापक रूप मे अत्यधिक उत्पादन की स्थिति असम्भव है। फिर अत्यधिक उत्पादन व्यावसायिक मदी का चिन्ह या सूचक है, वह उसका कारण नही हो सकता। मदी को हम यह कह कर नही समझा सकते कि जब वस्तुएँ बहुत बडी मात्रा मे जमा हो जाती है और उनकी बिक्री नही होती, तब व्यावसायिक मदी होती है।

जलवायु सम्बन्धी सिद्धान्त (Climatic Theories)—हरशेल के सुझाव के आधार पर जेवन्स इस नतीजे पर पहुँचा कि व्यवसाय-चक्र का कारण सूर्य के धब्बे (Sun spots) थे। प्रति १०.४५ वर्ष के बाद अर्थात् एक नियमित चक्र मे सूर्य मे धब्बे प्रकट होते है और जेवन्स ने हिसाब लगाया कि एक व्यवसाय का औसत कार्य-काल भी १०.४६ वर्ष होता है। जब सूर्य मे धब्बे प्रकट होते है, तब उससे पृथ्वी को कम गरमी प्राप्त होती है, जिससे फसले अच्छी नही होती। बुरी फसलो के कारण किसानो की खरीदने की शक्ति कम हो जाती है और वे कम माल खरीदते है। इस कारण व्यवसाय मे मदी आती है। एच० एल० मूर और सर विलियम बीवरिज भी इस सिद्धान्त को कुछ न्यून रूप में स्वीकार करते है।

इस बात को कोई इनकार नही करेगा कि कृषि का प्रभाव व्यवसाय पर पडता है। परन्तु व्यवसाय-चक्रो का जलवायु-चक्रो से सम्बन्ध स्वीकार करना कठिन है। हाँ, जलवायु सम्बन्धी प्रभाव उन कई बातो मे से एक हो सकते है, जिनका प्रभाव कभी-कभी व्यवसाय-चक्र पर पडता है। परन्तु व्यवसाय-चक्र के सब पहलुओ के लिये वे जिम्मेदार नही हो सकते। उदाहरण के लिये उनसे यह पता नही चल सकता कि व्यावसायिक तेजी के समय मे उत्पादक वस्तुओ का उत्पादन क्यो बढ जाता है और मदी के समय में उन वस्तुओ का उत्पादन क्यो घट जाता है।

अत्यधिक बचत अथवा कम उपभोग सम्बन्धी सिद्धान्त (Theories of Over-saving or Under-consumption)—मार्क्स की विचारधारा के आधार पर हाबसन इस सिद्धात पर पहुचा कि अत्यधिक बचत करने के कारण व्यावसायिक मदी होती है। वर्तमान समाज मे आय मे अत्यधिक अन्तर होता है और कुल सम्पत्ति का काफी बडा भाग एक छोटे से वर्ग के हाथ मे है। जब व्यवसाय की तेजी रहती है, तब इस वर्ग की आय मे वृद्धि होती है और उसका अधिकाश बचत कर लिया जाता है। धनी व्यवसायी अपनी बचत की पूंजी उत्पादक व्यवसायो में लगाते जाते है और अधिक मशीने, औजार इत्यादि का उत्पादन करते है। तब उपभोग की वस्तुएँ खरीदने की शक्ति मे कमी पड जाती है। हम जानते है कि मजदूरी हमेशा कीमतो मे पीछे रहती है और इसी से ऊपर का कथन सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार खरीदने की शक्ति तो कम हो जाती है, परन्तु नई मशीनें और औजारो इत्यादि के उत्पादन काम में लग जाने से वस्तुओ की पूर्ति बढ जाती है। फल यह होता है कि बाजार वस्तुओ से भर जाता है और उन्हे लाभ पर बेचना सम्भव नही होता। तब व्यावसायिक मंदी का समय शुरू होता है। वस्तुएँ खरीदने के लिये काफी पैसा नही रहता, क्योकि आय का अधिकतर भाग उपभोग से खीचकर बचत कर लिया जाता है। खर्च की कमी और अत्यधिक बचत के कारण इस प्रकार व्यावसायिक मदी होती है। इस सिद्धात को थोडे से भिन्न रूप मे फास्टर, केचिंग्स और मेजर डूगलस भी स्वीकार करते है।

इस सिद्धात के द्वारा हम व्यवसाय-चक्रो को नही, बल्कि व्यावसायिक मदी को समझते है और व्यावसायिक मदी की विवेचना के रूप मे भी इसमें कई दोष है। कोई कारण नही कि व्यवसायी वर्ग लगातार बचत करता रहेगा। यह वर्ग अपने शौक और आराम पर खर्च बढ़ा सकता है। फिर यह सिद्धात मान लेता है कि जो धन बचत किया जायगा उसका उपयोग पूंजी के रूप मे उत्पादन कार्यों में होगा। परन्तु हमेशा ऐसा नही होता। इस सिद्धात के अनुसार मदी इसलिये आती है कि जितनी वस्तुएँ बिक सकती है, उससे अधिक का उत्पादन हो जाता है। इसलिये हम यह सोच सकते है कि मदी का पहला चिन्ह उपभोग की वस्तुओ के मूल्य-सतह मे गिरावट होगी। परन्तु वास्तव मे मदी के प्रथम चरण मे उत्पादक वस्तुओ के मूल्य मे गिरावट होती है और उपभोग की वस्तुओ के मूल्य-सतह मे प्राय सबसे अन्त मे गिरावट होती है।

व्यवसाय-चक्र का मुद्रा सिद्धान्त (Monetary Theory of Trade Cycle)—इस मत का सबसे बडा समर्थक हाटरे है और उसके मतानुसार व्यवसाय-चक्र "केवल मुद्रा सबधी परिवर्तनो के कारण होता है।" आधुनिक मुद्रा प्रणालियो में रकम भुगतान करने का सबसे बडा तरीका बैंको की साख होती है। परन्तु साख स्वय बहुत अस्थिर होती है। अधिक साख उत्पन्न करना पूरी बैंक व्यवस्था के ऊपर निर्भर होता है। यह काम बैंक बट्टे की दर कम करके अथवा अधिक

मुद्रा सम्बन्धी कार्यों से व्यवसाय-चक्र होता है

ऋण-पत्र खरीद करके कर सकते हैं। जब बैंक साख का विस्तार करते है, तब व्यवसाय-चक्र मे तेजी होती है। व्यवसायी इस अतिरिक्त साख को बैंको से ऋण के रूप मे लेते है और उसे मजदूरी, व्याज, लगान इत्यादि देने मे खर्च करते है। हाटरे के मतानुसार व्याज की दर मे परिवर्तनो का प्रभाव व्यवसायियो के कार्यो पर बहुत जल्दी पड़ता है। ये व्यवसायी ऋण लेकर बहुत बडी मात्रा मे सामान खरीदते और बेचते है तथा व्याज की दर मे थोडी-सी भी घटी-बढी होने से व्यवसायी बैंको के ऋण की मात्रा घटा अथवा बढा देगे और उसी के अनुसार अधिक अथवा कम माल रखेंगे। इस प्रकार जब व्याज की दर कम होती है, तब व्यवसायी ऋण अधिक लेते है और माल अधिक रखते है। वे उत्पादको से माल अधिक खरीदते है। उत्पादक अधिक माल उत्पादन करने की कोशिश करते है। और इसके लिये अधिक मजदूर काम पर लगाते है तथा अधिक कच्चे मालक खरीदते है। देश की कुल आय मे वृद्धि होती है और उपभोक्ता की आय भी बढती है। इसका मतलब यह होता है कि वस्तुओ की माँग बढती है। व्यवसायियो के माल की बिक्री बढती है। वे उत्पादको से अधिक माल की माँग करते है। अब उत्पादक अपना उत्पादन बढाने का प्रयत्न करते है। मुद्रा आय और खर्च बढता है। कीमतें बढने लगती है। अधिक बिक्री की आशा से व्यवसायी अपने माल की मात्रा बढाते है। तब फिर उसी क्रिया की पुनरावृत्ति होती है और कीमतें जोर के साथ बढती है।

अब ऋणो की माँग बढती है। परन्तु साथ ही बैंको के सुरक्षित कोष कम होते जा रहे है। क्योकि देश में नकद मुद्रा का प्रचलन बढ रहा है और स्वर्ण निर्यात की भी सम्भावना है। इसलिये लाचार होकर बैंको को व्याज की दर बढ़ानी पडेगी और अधिक ऋण देने से इनकार करना पडेगा। इससे प्रतिक्रिया होती है और व्यवसायी उत्पादन से माँग कम कर देते है। उत्पादक अपना काम कम कर देते है और बेकारी शुरू हो जाती है। इस मदी के समय में व्यवसायियो को ऋण की आवश्यकता कम रहती है और बैंको मे जमा और सुरक्षित कोष फिर बढने लगते है, जिससे लाचार होकर अन्त मे बैंक फिर से व्याज की दर घटा देते है। चक्र फिर से शुरू हो जाता है। इस चक्र से बचने का उपाय यह है कि बैंको को अपने ऋणो की मात्रा का नियत्रण इस प्रकार करना चाहिये कि कीमते स्थिर रहे।

इसमे सन्देह नही कि साख अथवा ऋण के विस्तार के कारण कभी-कभी व्यवसाय का विस्तार होता है। व्यवसाय मे तेजी होने की एक शर्त्त यह भी है कि ऋण का विस्तार होना चाहिये। परन्तु ऋण का विस्तार व्यावसायिक तेजी का कारण नही होता व्यवसाय-चक्रो के प्रधान कारण मुद्रा से सम्बन्ध नही रखते। मुद्रा सम्बन्धी प्रभाव तेजी को सम्भव बनाते है और व्यवसाय-चक्रो के परिवर्तनो की परिधि को घटाते-बढाते है इस सिद्धान्त के अनुसार यदि कीमते मजबूत रहे तो व्यवसाय-चक्र बन्द हो जावेगे। इस सिद्धान्त के प्रतिपादक इस बात से इनकार नही करते कि व्यवसाय का विस्तार अथवा सकुचन ऐसे कारणो से भी हो सकता है, जिनका सम्बन्ध मुद्रा से नही है। परन्तु यों

वैक ऋणो की मात्रा का उपयुक्त नियत्रण और परिचालन करते है; अर्थात् व्यवसाय में मदी के लक्षण होते है, तब ऋणो का विस्तार करें और जब व्यवसाय का विस्तार हो, तब ऋणो का सकुचन करे तो घटी-बढी अथवा तेजी-मदी सम्बन्धी परिवर्तन असम्भव हो जावेंगे। यह बात अवश्य सत्य है कि व्यवसाय-चक्र रुपये का नाच है और उस चक्र में कीमतो तथा ऋणो में घटा-बढी अवश्य होती है। यह उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार "वर्फीले पहाडो की चढाई मे बर्फ काटने की कुल्हाडी और पहाड की चढाई में पूर्ण सम्बन्ध होता है। बिना कुल्हाडी खरीदे प्राय कोई भी व्यक्ति पहाड पर नही चढता। . . परन्तु इसका अर्थ यह नही है कि यदि कानून द्वारा बर्फ काटने की कुल्हाडी खरीदना मना कर दिया जावे, तो लोग बर्फ के पहाडो पर चढना बन्द कर देंगे।"[1] इसलिये कीमतो को मजबूत रखकर हम इन घटी-बढी के परिवर्तनो को नही हटा सकते। इसलिये यद्यपि व्यवसाय-चक्र मुद्रा का आवरण लिये रहता है, परन्तु वास्तव में केवल मुद्रा सम्बन्धी कारणो से नही होता।

मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त (Psychological Theory)—इस सिद्धान्त के अनुसार व्यवसाय में विश्वास घटने-बढने से व्यवसाय-चक्र उत्पन्न होते है। इस सिद्धात के समर्थक पिगू माने जाते है। जब व्यवसाय तेजी पर होता है, तो लोग अच्छे लाभ की आशा करते है और भविष्य के बारे मे ऊँची-ऊँची आशाएं लगा लेते है। जब व्यवसायियों के एक वर्ग मे विश्वास उत्पन्न होता है, तो वह अन्य वर्गों में फैलता है, क्योंकि उत्साह और निराशा सक्रामक रूप में फैलते है। इसलिये आशा और निराशा के भावो का प्रभाव दूसरे लोगों पर भी पडता है। इस आशापूर्ण विश्वास से गलतिया होती है और लाभ पर जितनी बिक्री हो सकती है, उससे कही अधिक उत्पादन हो जाता है। जब यह क्रिया काफी हद तक हो जाती है, तब व्यवसायियो को हानि होने लगती है। वे व्यवसाय के भविष्य के बारे में निराश होने लगते है और उत्पादन-कार्य कम कर देते है। इस प्रकार व्यवसायी लोग आशा और निराशा की गलतियो के बीच में भटकते रहते है। और उनके कार्यों में लहरो की तरह क्रियाएँ होती रहती है। इस सिद्धान्त के समर्थक इस बात से इनकार नही करते कि फसल की दशा इत्यादि बातो का भी प्रभाव काम करता है, परन्तु उत्पादन पर इन बातो का प्रभाव व्यवसाय पर प्रभाव पडने के कारण होता है।

इस सिद्धात में काफी तथ्य है। व्यवसाय की परिस्थितियो पर विश्वास का काफी प्रभाव पडता है। परन्तु यह सिद्धान्त इस बात को नही समझाता कि तेजी किस प्रकार आरम्भ होती है और विश्वास किस प्रकार फिर से उत्पन्न होता है। इस बात को भी सिद्धात अच्छी तरह नही समझाता कि विश्वास अथवा आशा से निराशा किस प्रकार उत्पन्न होती है। इन बातो को समझाने के लिये इस सिद्धान्त को अन्य बातो की सहायता

[1] *Pigou*, Industrial Fluctuations, p. 197

लेना चाहिये। इस सिद्धान्त का महत्व इस बात को स्वीकार करने मे है कि जब तक व्यवसाय मे फिर से विश्वास उत्पन्न नही होता, तब तक मदी समाप्त होकर तेजी आरम्भ नही हो सकती।

आधुनिक सिद्धान्त[1] (Recent Theories)—स्वर्गीय लार्ड कीन्स तथा अन्य बहुत से लेखको का मत है कि व्यवसाय-चक्रो का सार यह है कि वे पूंजी की सीमात योग्यता मे होनेवाले परिवर्तनो के परिणामस्वरूप उत्पादक वस्तुओ की मात्रा मे होने-वाले परिवर्तनो के कारण अथवा व्याज की दर मे परिवर्तनो के कारण होते है। उत्पादन वस्तुओ की मात्रा मे परिवर्तन अथवा व्याज की दर मे परिवर्तन ही व्यवसाय-चक्र का सार है। (किसी नई उत्पादक वस्तु की लागत पर भविष्य के लाभ की दर कीन्स के मतानुसार पूंजी की सीमात उपयोगिता है)। यदि हम पिछले अध्यायो मे की गई बचत और लाभ पर पूंजी लगाने की विवेचना पर ध्यान दें तो हम इस बात को भली-भाँति समझ सकते है कि मुद्रा आय, श्रम की वाकारी (employment) इत्यादि की मात्रा इत्यादि मे होनेवाले परिवर्तनो पर इन दो बातो का कितना अधिक प्रभाव पडता है। जब मदी अपने निम्नतम स्तर पर पहुँच जाती है, तब ऐसी कोई वात होती है, जिससे पूंजी की सीमात योग्यता मे वृद्धि होती है, अथवा व्याज की दर घटती है। पूंजी की सीमात उपयोगिता में वृद्धि कई कारणो से हो सकती है, जैसे कि पहले से जमा की हुई वस्तुओं की मात्रा सामान्यत जितनी होनी चाहिये उससे भी कम हो जाय, अथवा उत्पादक वस्तुएँ (capital goods) पुरानी हो जायँ और उनकी जगह नई उत्पादक वस्तुएँ काम मे लाई जावें, अथवा नये साधनो की खोज हो जाय या नये आविष्कार हो जायँ। व्याज की दर मे कमी इस कारण से हो सकती है कि वैंको के पास मुद्रा की मात्रा वढ जाय, अथवा एक कारण यह हो सकता है कि लोगो की द्रवता पसन्दगी (liquidity preference) कमजोर हो जाय, जिसके कारण उनकी सग्रह करने की प्रवृत्ति कमजोर होती है। इन बातो में से कोई भी एक लाभ पर पूंजी लगाने की प्रवृत्ति जागृत कर सकती है। उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन मे जैसे-जैसे साधनो का अधिकाधिक उपयोग किया जाता है (यह मानकर कि मदी के तह मे कुछ साधन वेकार रहते है) वैसे-वैसे वाकारी भी वढती है। अर्थात् अधिक लोगो को काम मिलता है। जब साधनो का अधिक मात्रा में उपयोग किया जायगा, तो मुद्रा आय भी वढेगी। इस प्रकार उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन मे वृद्धि होने से व्यवसाय में तेजी आती है और यह तेजी तव तक वनी रहती है, जब तक उत्पादक वस्तुओ का उत्पादन होता रहता है। परन्तु कभी-न-कभी नयी उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन का क्षेत्र कम होने लगता है, क्योकि लाभ पर पूंजी लगाने के नये-नये जरियो की खोज और उपयोग होता

[1] यह विवेचन प्रधानत कीन्स के सिद्धान्त के आधार पर है। परन्तु उस सिद्धान्त की वारीकिया छोड़ दी गई है।

रहता है, जिनमें लाभ की गुंजाइश अधिक होती है। इसलिये नई उत्पादक वस्तुओ पर भविष्य में होनेवाले लाभ की दर में कमी होने की प्रवृत्ति अवश्य छिपी रहती है। फिर उत्पादक वस्तुओ के उत्पादन की मात्रा का विस्तार होने मे उनके लागत खर्च में भी वृद्धि होती है, क्योकि मजदूरी की दर, साधनो की कीमतें इत्यादि बढती है। इन दोनो बातो के मिश्रित प्रभाव के कारण पूंजी की सीमात उपयोगिता समाप्त हो जाती है। यदि व्याज की दर नही घटती अथवा अपर्याप्त रूप से घटती है, तो उसके फलस्वरूप व्यवसाय अथवा उत्पादन मे लगनेवाली पूंजी अवश्य घटेगी। व्याज की दर में आनुपातिक कमी की सम्भावना नही रहती। दूसरी तरफ चूंकि आय वृद्धि और व्यवसाय वृद्धि के कारण लोगो की मुद्रा की माँग बढती जाती है, इसलिये बैंको के लिये मुद्रा सम्बन्धी माँग पूरी करना अधिकाधिक कठिन हो जाता है। तब व्याज की दर में वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार व्यवसाय और उत्पादन में लगनेवाली पूंजी में कमी होने लगती है। इस पूंजी में ह्रास होने से लोगो की आय कम होने लगती है और काम पर लगे हुए लोगो की सख्या अर्थात् बेकारी भी कम होने लगती है तथा आर्थिक व्यवस्था फिर से मंदी के फंदो मे फँस जाती है।

इसके सिवा, कीन्स के मतानुसार उन्नतिशील आर्थिक व्यवस्था में माँग की कमी अथवा मदी की ओर जाने की एक सक्रामक प्रवृत्ति होती है। कोई समाज जैसे-जैसे अधिक धनी होता जाता है, वैसे-वैसे उसकी उपभोग करने की प्रवृत्ति कम होती जाती है। दूसरी तरफ, उत्पादक वस्तुओ की प्रचुरता के कारण नई पूंजी लगाने के मौके कम आकर्षक होते जाते हैं। इस प्रकार पूंजी की सीमात उपयोगिता में दोनो तरफ से ह्रास होता देखकर उत्पादन कार्यों में नई पूंजी का लगना बन्द हो सकता है और इसी मे मन्दी के सब लक्षण प्रकट होने लगते है।

प्रोफेसर ए० एच० हेनसन का मत है कि पश्चिमी दुनिया के सामने उत्पादन कार्यों में पूंजी लगाने के मौके कम हो रहे है। उसके मत मे इसके दो सयुक्त कारण है। एक तो जनसख्या वृद्धि की दर मे ह्रास हो रही है और दूसरे ऐसे कोई आविष्कारो की सम्भावना नही है, जिनके फलीभूत न होने में पूंजी की बडी मात्रा की आवश्यकता पड़े। फल यह हुआ कि हमारे सामने केवल व्यवसाय-चक्र की ही समस्या नही है, वल्कि एक 'दीर्घकालीन स्थिर परिस्थिति" (secular stagnation) का सामना करना पड रहा है, जिसमें "व्यावसायिक तेजी आरम्भ होते ही शैशव मृत्यु को प्राप्त हो जाती है और मदी पर मदी बढती जाती है, जिसका परिणाम बेकारी को एक ठोस और अचल कगार बराबर देखने में आती है।[1]

हिक्स का व्यवसाय-चक्र का सिद्धान्त (Hicks's theory of the Trade Cycle)[2] —हिक्स ने multiplier और acceleration के सिद्धातो को मिला

[1] *Hanson*, Fiscal Policy and Business, p. 353.

[2] A Contribution to the Theory of the Trade Cycle, 1950.

कर व्यवसाय-चक्र के एक नये सिद्धात का प्रतिपादन किया है। हिक्स का मत है कि व्यवसाय में जो चक्रीय ऊँचे-नीचे परिवर्तन (cyclical fluctuations) होते है, उसका मुख्य कारण (multiplier action और acceleration principle) का सयुक्त प्रभाव है। हिक्स के मतानुसार विनियोग दो प्रकार का होता है—(१) स्वेच्छा से (autonomous) और (२) प्रेरणा प्राप्त कर (induced)। स्वेच्छा से किये गये विनियोग मे ऐसे विनियोग शामिल है, जिन पर उत्पादन मे होनेवाले परिवर्तनो का कुछ प्रभाव नही पडता है। उत्पादन की प्रतिक्रिया से यह बिलकुल अछूते रहते है। "सरकारी विनियोग' आविष्कारो के अनुकूल तत्काल किया जानेवाला विनियोग और ऐसे 'दीर्घकालिक विनियोग' (श्री हेरोद के शब्दो मे) जो दीर्घकाल मे स्वय अपनी पूर्ति कर लेते है, स्वेच्छा से किये गये विनियोग कहे जा सकते है। विकासशील आर्थिक व्यवस्था मे इस प्रकार के विनियोगो में एक अवधि में प्राय स्थिर दर से वृद्धि होती है। प्रेरणा प्राप्त कर किये गये विनियोग वह है, जो उत्पादन में होनेवाले परिवर्तनो से प्रेरणा प्राप्त कर किये जाते है। मान लो कि किसी एक उद्योग मे माँग मे वृद्धि होने से उत्पादन मे भी वृद्धि हो जाती है। उत्पादन में हुई यह वृद्धि स्थायी बनाये रखने के लिये उद्योग के उत्पादक साज-सामान अर्थात् मशीन इत्यादि में भी कुछ वृद्धि होना आवश्यक है। इस प्रकार उत्पादन में वृद्धि होने से विनियोग में भी प्रोत्साहन मिलता है। यह और कुछ नही केवल acceleration का सिद्धात-मात्र है। हम जानते है कि मुद्रा आय की सतह विनियोग की मात्रा पर निर्भर करती है। इसलिये स्वेच्छा से किये गये विनियोग की मात्रा के अनुसार ही मुद्रा आय की भी एक विशेष सतह होगी, जब कि विनियोग से आय का अनुपात multiplier तथा acceleration के सिद्धान्त के पारस्परिक सम्बन्ध पर निर्भर करता है। इसलिये मुद्रा आय मे भी स्वेच्छा से किये गये विनियोग की मात्रा के बराबर ही वृद्धि होती जायगी। नीचे के चित्र मे एए रेखा द्वारा हिक्स ने स्वेच्छा से किये गये विनियोग के विकास को प्रदर्शित किया है। यह रेखा दाहिनी ओर ऊपर को चढती गई है, क्योकि स्वेच्छा से किया गया विनियोग एक अवधि में प्राय स्थिर दर से विकास करता जाता है। दद रेखा उत्पादन या आय की सतह बतलाती है। यह सतह स्वेच्छा से किये गये विनियोग की मात्रा के अनुकूल है। एए तथा दद के बीच की दूरी multiplier तथा accelerator के सयुक्त मूल्य पर निर्भर करती है।

मान लो कि जब उत्पन्नान (या आय) की सतह प° पर है, किसी मशीन का आविष्कार हो जाता है, जिससे तत्काल स्वेच्छा से कुछ पूंजी लगा दी जाती है। जैसे ही विनियोग की मात्रा मे अपनी सामान्य सतह से अधिक वृद्धि हो तो उत्पादन (या आय) मे भी प°प¹ की दिशा में वृद्धि होने लगेगी और यह रेखा दद के साम्य-पथ (equilibrium path) से दूर होती जायगी। उत्पादन में होनेवाली इस वृद्धि से और अधिक विनियोग होगा और प्रेरणा प्राप्त कर बढे हुए विनियोग से उत्पादन

(या आय) में और वृद्धि होगी। इस प्रकार उत्पादन बढता जायगा और यह वृद्धि तब तक होगी, जब तक कि "पूर्ण रोजगार या क्रियाशीलता की स्थिति" (full employment ceiling) नही आ जाती। पूर्ण रोजगार की स्थिति में उत्पादन (या आय) अधिकतम होता है और अधिकतम उत्पादन तब होता है, जब प्राय सभी साधनो का पूर्ण उपयोग किया जाय। यह पूर्ण रोजगार की अतिम सीमा कही जाती है, क्यो कि इसके आगे उत्पादन बढा सकना असम्भव होता है। विनियोग की प्रत्येक सतह पर पूर्ण रोजगार की स्थिति मे हुए उत्पादन की कुल मात्रा फफ रेखा द्वारा प्रदर्शित की गई है।
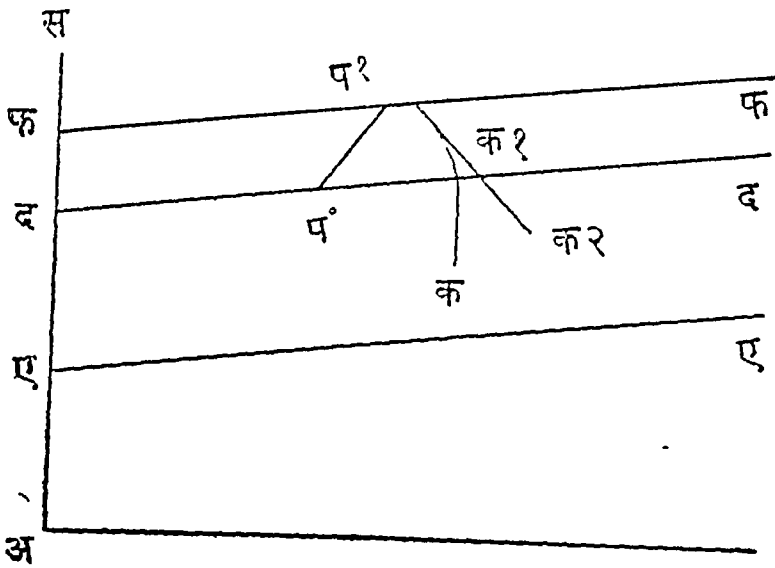
चित्र न० ३९

यदि एक बार हम इस स्थिति को प्राप्त कर ले तो फिर उत्पादन तथा आय को इस से अधिक नही बढाया जा सकता है। आर्थिक व्यवस्था कुछ समय तक इसी अधिकतम उत्पादन की रेखा के अनुरूप ही चलती रहेगी, परन्तु शीघ्र ही फिर उसे नीचे की दिशा में झुकना पडेगा। इसका कारण निम्नलिखित है। स्वेच्छा से तथा प्रेरणा से किये गये विनियोगो के प्रभाव के फलस्वरूप कुल उत्पादन पूर्ण क्रियाशीलता की सतह फफ तक बढा दिया गया है। प्रेरित विनियोग को वास्तव मे उत्पादन वृद्धि से प्रेरणा मिली। जब उत्पादन मे वृद्धि होना बन्द हो जाता है, तब यह प्रेरित विनियोग भी बिलकुल बन्द हो जायगा। एक बार जब उत्पादन की मात्रा पूर्ण क्रियाशीलता की सतह छू लेती है, तब इसके आगे उत्पादन नही बढाया जा सकता है। इसलिये जब आर्थिक व्यवस्था में फफ की स्थिति प्राप्त हो जाती है तो प१ पर उत्पादन में वृद्धि होना बन्द हो जाती है और इसके बाद प्रेरित विनियोग भी खत्म हो जाता है। इस स्थिति के बाद केवल स्वेच्छा से किये गये विनियोग चालू रहते है। परन्तु केवल इसी प्रकार के विनियोग की कुल मात्रा पूर्ण क्रियाशीलता की स्थिति मे होनेवाले उत्पादन की आवश्यकताओ की

पूर्ति नही कर सकती है। इसके फलस्वरूप उत्पादन पूर्ण क्रियाशीलता की सतह से नीचे गिरने लगेगा। जैसे ही उत्पादन में गिरावट आने लगेगी विनियोगकर्त्ता कुछ पूंजी वापस ले लेंगे। यदि उत्पादन में गिरावट आने से पूंजी की वापसी भी उसी दर से होने लगे जिस दर से उत्पादन बढने पर पूंजी लगाई गई थी तो उत्पादन में काफी तेजी से कमी होने लगेगी, जो क¹क रेखा द्वारा दर्शायी गई है। परन्तु ऐसा नही होता है। उत्पादन के स्थिर साधनो मशीन इमारत इत्यादि मे लगाई गई पूंजी को तुरत वापस नही लिया जा सकता है। इसमें काफी लम्बा समय लगता है। इसलिये उत्पादन में जिस गति से कमी होती है वह क¹क² रेखा द्वारा दर्शायी गई है।

अब तक यह प्रतीत होता है कि उत्पादन में जो कमी होगी वह वृद्धि की अपेक्षा अधिक सयमित रीति से होगी। परन्तु व्यवहार में हम इसका विपरीत पाते हैं। उत्पादन में कमी होने की एक विशेषता यह है कि एक बार कभी आरम्भ हो जाने पर उत्पादन तेजी से गिरने लगता है। हिक्स का मत है कि इसका मुख्य कारण मुद्रा है। उत्पादन में कमी होते ही वस्तुओ की बिक्री कठिन होती जाती है और स्थायी उत्पादक साधनो में लगी हुई पूंजी भारी बोझ बन जाती है। दिवालियेपन की दर में भी वृद्धि हो जाती है। इसके फलस्वरूप द्रवता पसन्दगी में तेजी से वृद्धि होगी। इसका साख पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा और साख में तगी आने पर तत्सम्बन्धी कार्यों में गिरावट बहुत तेजी से हो जाती है और इससे आर्थिक मदी की स्थिति और गभीर बन जाती है।

वास्तव में यही हिक्स का सिद्धान्त है। हमने उसका केवल साराश दिया है। इस सिद्धान्त पर विस्तार से लिखने की आवश्यकता है। हिक्स के इस सुसगठित-सिद्धान्त के साथ इस सीमित क्षेत्र में पर्याप्त न्याय किया जा सकता है।

तात्पर्य (Conclusion)—अर्थशास्त्र के ज्ञान की हमारी जो वर्तमान अवस्था है, उसमें व्यवसाय-चक्र के सब कारणो को पूर्णरूप से समझाना सम्भव नही है। इस सम्बन्ध में जो साहित्य प्राप्त है, वह बहुत विवादपूर्ण है और साथ ही निरन्तर बढ रहा है। परन्तु अर्थशास्त्रियो में जितना मतभेद पहले-पहल दिखता है, वास्तव में उतना है नही। व्यवसाय-चक्र किसी एक कारण से नही होता, बल्कि कई कारणो के परिणाम-स्वरूप होता है। इन कारणो में कभी एक प्रधान हो जाता है और कभी दूसरा या तीसरा।

उपाय (Remedies)—व्यवसाय-चक्र के कुपरिणाम इतने भयकर होते है, विशेषकर बेकारी की मात्रा के सम्बन्ध में। आज हमारे सामने सबसे बडी समस्या व्यवसाय-चक्र के परिवर्तनो के कुपरिणामो को दूर करना है। परन्तु दुर्भाग्य से अभी तक अर्थशास्त्र के विद्वानो में इस सम्बन्ध में सही नीति पर मतैक्य नही है। इस सम्बन्ध में जो उपाय बतलाये गये है, वे तत्सम्बन्धी छानबीन पर ही निर्भर है। जो अर्थशास्त्री

मुद्रा सम्बन्धी उपाय।

चक्र के कारण मुद्रा-सम्बन्धी बतलाते हैं, उनका विश्वास है कि मुद्रा की पूर्ति पर नियत्रण रखने से ये कुपरिणाम दूर हो सकते है। उनका मत है कि बैंक अपनी दर को नियत्रित करके और उसका उपर्युक्त परिचालन करके अथवा खुले बाजार की नीति ग्रहण करके व्यवसाय-चक्र के परिवर्तनो के घेरे को बहुत कम कर सकते है। जब व्यवसायो के बहुत अधिक विस्तृत होने के लक्षण दिखते है, तब केन्द्रीय बैंक को तुरन्त कुजी घुमानी चाहिये और बैंक दर बढा देनी चाहिये तथा बाजार में ऋण-पत्र बेचना चाहिये। इसी प्रकार जब मदी के लक्षण प्रकट होने लगें, तब बैंक दर कम करके, ऋण-पत्रो को खरीद करके तथा इसी प्रकार के अन्य उपायो द्वारा परिस्थिति को काबू में रखा जा सकता है। इस प्रकार यदि केन्द्रीय बैंक काफी साहसी और दूरदर्शी है, तो वह व्यवसाय-चक्र के लहरो के समान गति को काबू में रख सकता है और उसके कुपरिणामो को टाल सकता है।

जो लोग उपभोग की कमी के सिद्धान्त के समर्थक है, वे बैंक-दर के नियत्रण और परिचालन तथा खुले बाजार की नीति से सतुष्ट नही है। उनका मत है कि उपभोग कम करने की प्रवृत्ति रोककर अधिक उपभोग करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देना चाहिये। क्योंकि व्यावसायिक मदी की तह में उपभोग कम करने की प्रवृत्ति रहती है। कर प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिये, जिससे आय-वितरण में अधिक असमानता न हो; आय में अधिक समानता होना चाहिये, जिससे अत्यधिक बचत करने की प्रवृत्ति का मूल कारण हट जावे।

आय में अधिक समानता

हाबसन का मत है कि तेजी के समय में मजदूरी भी बढ़ाई जानी चाहिये। मजदूरी बढ़ाने और लाभ घटाने से उपभोग बढेगा और बचत की दर कम होगी। लाभ घटाने से व्यवसायी उधार लेने के लिये उत्सुक नही होगे और साहूकार ऋण देने के लिये उत्सुक न होगे। इसलिये ऋण की उत्पत्ति कम होगी। उसी दर से कीमतें भी बढेगी।

जिन अर्थशास्त्रियो का मत है कि व्यवसाय चक्र उत्पादक वस्तुओ की मात्राओ में परिवर्तनो के कारण होते है, उनका कहना है कि तेजी के समय मे उत्पादन में पूंजी कम और मदी के समय में अधिक लगानी चाहिये। उनके विचार मे इन कुपरिणामो से बचने के लिये केवल मुद्रा-सम्बन्धी उपाय ही अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकते है। परन्तु उनके व्यवसाय-चक्र समाप्त नही हो सकते।

चक्र विरोधी आयात निर्यात कर नीति।

सबसे अच्छा उपाय यह है कि सरकार व्यवसाय-चक्र विरोधी आयात-निर्यात कर नीति ग्रहण करे और उसका उपयोग कई दिशाओ में करे। सरकार को अपने सार्वजनिक निर्माण कार्यो की योजना इस प्रकार बनानी चाहिये कि मदी के समय में अधिक रुपया खर्च हो और तेजी के समय में कम। उदाहरण के लिये मदी के समय में अधिक पोस्ट

आफिस खोलना चाहिये, अधिक सड़कें, रेलें तथा नहरें बनानी चाहिये। इससे बेकारी में कमी होगी, आयो मे वृद्धि होगी और उपभोग बढेगा। मंदी के समय मे करो में कमी करना चाहिये, विशेषकर व्यवसायजनित लाभ पर लगनेवाले करो में। इससे लोग पूंजी लगाने के लिये उत्साहित होगे। मंदी के समय में सरकारी बजट ऋणात्मक अर्थात् कमी वाली होनी चाहिये और उनकी पूर्ति ऋणो से करनी चाहिये।[1]

तेजी के समय मे सार्वजनिक निर्माण कार्य कम कर देना चाहिये, व्यवसायजनित लाभ पर ऊँचे कर लगाना चाहिये, जिससे लोग व्यवसाय में पूंजी कम लगावे और सरकारी बजट धनात्मक होना चाहिये अर्थात् खर्च से आय अधिक हो। इस अधिक आय को पुरानी कमी मिटाने में खर्च करना चाहिये। ये तथा कुछ अन्य बातें मदी के समय में ग्रहण करने की सलाह दी गई है, जिससे उपभोग को प्रोत्साहन मिले और लोग व्यवसाय में पूंजी लगावें। इससे व्यवसाय-चक्र नही होगे।

अध्याय ४८

मुद्रा-प्रबन्ध

(Monetary Management)

बाह्य और आन्तरिक दृढ़ता (External vs. Internal Stability)–युद्ध के पहले स्वर्णमान का ध्येय विनिमय सम्बन्धी दृढता प्राप्त करना था। इसी दृष्टि से उसका नियन्त्रण और प्रबन्ध किया जाता था। विनिमय की दरें स्वर्ण (आयात-निर्यात) दरो के सकीर्ण दायरे के बीच में दृढ़ रखी जाती थी और आन्तरिक कीमतो तथा लागतो के परिवर्तनो मे मनचाहे रूप में परिवर्तन होने दिये जाते थे। इस बात मे अब सन्देह नही किया जाता कि विनिमय की दरो की दृढ़ता के कारण ससार को बहुत लाभ हुआ। उसने एक देश से दूसरे देश में बड़ी मात्रा में माल भेजने में बहुत सुविधा हुई है। उससे एक देश को पूंजी को दूसरे देश में लगाने का प्रोत्साहन मिला और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय पूंजी की मात्रा में वृद्धि हुई। परन्तु ऐसे आलोचको की भी कमी नहीं थी, जिन्होने विनिमय की दृढ दरो की उपयोगिता में सन्देह किया और उनकी आलोचना की।

---

[1] अगला अध्याय देखो।

इन आलोचको का कहना है कि विनिमय की दृढता का वहुत मामूली-सा अर्थ होता है। उसका अर्थ केवल विनिमय की दरो की दृढता होती है, लेकिन उसका अर्थ देशी मुद्रा के विदेशी मूल्य की दृढता नही होती। विदेशी व्यवसायी को वह विनिमय-दरो के खतरनाक परिवर्तनो से अवश्य वचा देती है। लेकिन जो उत्पादक निर्यात के लिये उत्पादन करता है, उसकी रक्षा वह नही करती, क्योकि न तो वह निर्यात कीमतो की दृढता का आश्वासन देती है और न वह कीमतो ओर लागतो के वीच दृढ सम्वन्ध का आश्वासन देती है। जो व्यवसायी निर्यात के लिये उत्पादन करता है, उसकी लागतें देश की आन्तरिक परिस्थितियो पर निर्भर करेंगी ओर अपने माल के लिये उसे जो मूल्य मिलेगा, वह ससार के मूल्य-सतह पर निर्भर करेगा। "विदेशी व्यवसाय का जो सिद्धान्त केवल दलाल या आढ़तिये के स्वार्थों पर ध्यान देता है, किन्तु देश के उत्पादक के स्वार्थों की रक्षा की तरफ ध्यान नही देता, वह सिद्धान्त वहुत ही सकीर्ण है।" फिर एक वात यह भी है कि यदि विनिमय की दर में दृढता रही, तो अन्य देशो में जो गडवडी होगी, उसका हानिकारक प्रभाव हमारे देश की व्यवस्था पर भी पड़ेगा। यदि अमेरिका में कोई राजनीतिक गडवडी होती है, तो उसका आर्थिक प्रभाव तुरन्त भारत पर पडता है। इसलिये अच्छा यह होगा कि हम ऐसी नीति ग्रहण करें, जिससे देश की आन्तरिक कीमतों में दृढ़ता रहे। विनिमय की दरो की परवाह हमे नही करनी चाहिये।

वाह्य दृढ़ता की नीति के दोष।

परन्तु इस प्रकार कहने से यह समस्या ओर भी जटिल हो जाती है। "इन दो उपायो में से किसी एक को नितान्त आवश्यक वतलाना न केवल वात को वडा-चढाकर कहना है, बल्कि गलत कहना है।"[1] यदि देश की आन्तरिक आर्थिक परिस्थितियो मे परिवर्तन होते है, तो विनिमय की दरो की दृढता अधिक समय तक नही वनी रह सकती। सन् १९३० के वाद स्वर्णमान का जो पूर्ण पतन हुआ, उसने इस वात को अच्छी तरह प्रमाणित कर दिया। इसी प्रकार यदि विनिमय की दरो मे वडे-वडे परिवर्तन होते है, तो केवल आन्तरिक कीमतो की दृढता प्राप्त करने मे सफलता नही मिल सकती। जो देश विदेशी व्यवसाय और विदेशो में पूँजी लगाने मे कोई भाग नही लेता, केवल वह एक के विना दूसरे को प्राप्त कर सकता है। जव कोई देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय मे एक अच्छी मात्रा मे भाग लेता है, तो विनिमय की दर में अस्थिरता होने से उस देश मे आन्तरिक मूल्य सतह में भी अस्थिरता आवेगी। इसमे केवल यह शर्त है कि देश का मूल्य-सतह निश्चित करने में आयात मूल्यो का काफी भाग रखना चाहिये। इसलिये व्यापक रूप मे दोनो प्रकार की स्थिरता एक दूसरे पर निर्भर है। इसमें सन्देह नही कि कुछ अवसरो पर दोनो प्रकार की स्थिरताओ में आपस मे सघर्ष हो सकता है (जैसे कि

---

1 "To put the two as absolute alternatives is not merely an exaggeration, it is untrue."

[यु]द्ध और क्रान्ति के समय में, अल्पकालीन पूंजी के असाधारण आवागमन में इत्यादि) [म]ुद्रा-नीति का उद्देश्य इन दोनो प्रकार की नीतियो में अधिक से अधिक सामजस्य स्थापित [क]रना होना चाहिये। लेकिन केवल वाह्य दृढता पर बहुत अधिक जोर नही देना चाहिये। [अ]धिकाधिक जोर ऐसी नीति स्थिर करने पर देना चाहिये, जिससे आन्तरिक कीमतो [औ]र लागतो मे दृढता उत्पन्न हो सके।

मुद्रा के उद्देश्य और कीमतें (Monetary Aims and Prices)—यदि [म]ान लिया जाय कि हमारा उद्देश्य आन्तरिक कीमतो का उचित प्रबन्ध करना होना [च]ाहिये तो अगला प्रश्न यह उठता है कि कीमतो की गति कैसी होनी चाहिये ? फिल-[ह]ाल हम इस प्रश्न को छोड देते है कि क्या हम वास्तव मे कीमतो का नियत्रण कर सकते [है]? मान लो, हम नियन्त्रण कर सकते है। तो फिर हमें कीमतें कैसी रखनी चाहिये—[दृ]ढ, उठती हुई या गिरती हुई ?

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग में मार्शल ने लिखा था कि गिरता हुआ मूल्य-सतह अच्छा होगा। बढ़ती हुई कीमतो के काल में भविष्य के सकट के बीज छिपे रहते है। इसी काल में ऐसे कार्य होते है, जिनके फलस्वरूप आगे मदी आती है और अधिक [व्]यवस्था को उसके कुपरिणाम भोगने पडते हैं। इसलिये मार्शल ने गिरती हुई कीमतों का समर्थन किया। परन्तु सन् १९१४ के पहले जो प्रचलित मत था वह निम्न दो में से किसी एक बात का समर्थन करता था—या तो मूल्य-सतह धीरे-धीरे उठती हुई होनी चाहिये या दृढ होनी चाहिये। अधिकाश लेखक दृढ-मूल्य-सतह के पक्ष में थे।

धीरे-धीरे उठती हुई मूल्य-सतह (A gently rising Price-level)—क्रमश उठती हुई मूल्य-सतह का समर्थन इसलिये किया जाता है कि उससे व्यवसाय को बहुत समर्थन मिलता है। जब कीमतें बढ़ती है, तब उत्पादकों के खर्च उतने नही बढते, जितनी कि कीमतें। सभी जानते है कि मजदूरी की दर धीरे-धीरे कीमतो के पीछे-पीछे चलती है। इसलिये इस समय व्यवसायी लोग बहुत लाभ प्राप्त कर सकते हैं। अधिक लाभ की आशा से व्यवसायी लोग अधिक माल उत्पादन करने का प्रयत्न करेंगे। इसलिये बढती हुई कीमतो के समय अधिक मजदूरो को काम मिलेगा जो अन्यथा नही मिलता।

लाभ

"बढती हुई कीमतो के समय में सरकारी बेकार गृह (work houses) और बेकारो के नाम दर्ज करनेवाले रजिस्टर खाली हो जाते है तथा कारखानें मनुष्यो से भर जाते है। अच्छा यही होगा कि सब लोग काम में लग रहे, चाहे कुछ लोग महँगाई के कारण भले ही भुनभुनाते रहे। यह ठीक नही कि कुछ लोग आराम से सस्ते में रहे और कुछ सडको पर भूखो मरें।"[1]

---

[1] *Robertson*, Money, p 139.

इस कथन मे काफी सत्य है। परन्तु इस नीति के ग्रहण करने से जो कठिनाइया होगी, उन पर भी हमें विचार करना चाहिये। इस नीति के समर्थन में जो दलीलें दी जाती है, वे इस अनुमान पर आधारित है कि तेजी मे उत्पादन कार्य करने के लिये व्यवसायियो को कुछ अतिरिक्त लाभ या लालच मिलनी आवश्यक है। यदि मूल्यो मे दृढ़ता है, तो इसका मतलब यह नही कि व्यवसायियो को उपयुक्त प्रोत्साहन नही मिलेगा। विभिन्न उद्योगो मे जो तेजी मदी होती रहती है, उसमे प्राय यथेष्ट प्रोत्साहन मिलते रहना चाहिये। इसके सिवा इस नीति का अर्थ यह होगा कि बढती हुई कीमतो के कारण जो लाभ होगे, उनमे व्यवसाय की प्रतिद्वन्द्विता मे अयोग्य व्यवसायी भी अपना काम सफलता-पूर्वक चलाते रहेगे। व्यवसायियो पर अपनी पूरी योग्यता के अनुसार काम करने का कोई दवाव नही रहेगा। एक खतरा यह भी है कि वडे-वडे लाभो की आशा मे उत्पादक वस्तुओ का अत्यधिक उत्पादन होगा ओर सट्टा काफी होगा, जिसमे तेजी आयगी। यदि ऐसा होता है और ऐसा होने की पूर्ण सम्भावना है, तो फिर मदी अवश्य आयगी और हमें उसका सामना करने के लिये तैयार रहना चाहिये। जब हम मदी के परिणाम-स्वरूप धन की हानि ओर वेकारी पर विचार करते है, तो हमे सदेह होने लगता है कि वढ़ती हुई कीमतो से वास्तव में फायदा होता है या नहीं। अन्त मे सामाजिक न्याय (social justice) की विषम समस्या का भी प्रश्न उठता है। वढती हुई कीमतों के काल मे मजदूर-पेशा लोगो की वास्तविक आय का मुद्रा-मूल्य कम हो जाता है। पूंजी लगाने वाले वर्ग की मुद्रा आय का भी मूल्य कम हो जाता है। तब क्या यह उचित है कि व्यवसायियो के लाभ या हित की रक्षा के लिये इन वर्गों को लगातार हानि ही सहनी पड़े?

दृढ़ मूल्य-सतह (A Stable Price-level)—दृढ मूल्य-सतह का अर्थ-शास्त्री बहुत अधिक समर्थन करते है। इसका एक कारण यह भी है कि यह नीति बहुत सरल है और जल्दी समझ मे आ जाती है। गत कुछ वर्षों मे हमे अस्थिर मूल्यो के कुपरि-णामो का इतना अधिक अनुभव हुआ है कि उसको देखते हुए दृढ मूल्यो का लाभ बतलाना बिलकुल फिजूल-सा लगता है। दूसरे, यह कहा जाता है कि अधिक व्यापक दृष्टि से भी इस नीति का समर्थन किया जा सकता है। मुद्रा मूल्य का मापक है और सब मापो की तरह उसका मूल्य भी दृढ या स्थिर होना चाहिये। पाउन्ड वजन का एक माप होता है और हम इसे स्वयसिद्ध समझते है कि उसका वजन हमेशा एक-सा रहना चाहिये। व्यवसाय-चक्र के कारण चाहे मुद्रा से सम्बन्ध रखते हो, परन्तु यह बात बहुत अधिक सम्भव दिखती है कि मूल्यो के दृढ रहने से व्यावसायिक कार्यों मे अत्यधिक परिवर्तन न होगे। अन्त मे इस नीति से साहूकारो तथा ऋण-दाताओ और मजदूर-पेशा तथा मालिको के बीच न्यायपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो सकेंगे।

इस नीति की आलोचना के रूप में कभी-कभी यह कहा जाता है कि दृढ मूल्य-सतह व्यवसायियो को उपयुक्त प्रोत्साहन न मिलेगा। परन्तु कीमतो की दृढता का अर्थ कुल स्थिरता या यथा स्थिति नही है। विभिन्न उद्योगो में तेजी-मदी होती ही गी। फिर इसका मतलब कीमतो की पूर्ण स्थिरता नही है। कीमतो में थोडी-बहुत टी-बढी तो हमे स्वीकार करनी ही पडेगी। सूचक अको के आस-पास थोडे-बहुत परि- र्तन तो होगे ही और इनसे व्यवसायियो को उपयुक्त प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

स नीति की कठिनाइयाँ

यद्यपि यह नीति बहुत सरल है, फिर भी मूल्यो की दृढता स्थापित करने मे कई कार की कठिनाइयाँ आती हैं। मूल्य-सतह कई प्रकार की होती है, जैसे फुटकर मूल्य सतह, थोक मूल्य-सतह इत्यादि। यदि हम मुद्रा का मूल्य दृढ रखना चाहते है, तो फुटकर मूल्यो को दृढ रखना आव- श्यक है। परन्तु यह सभव नही है। हमे पूरे-पूरे आँकडे प्राप्त ही रहते, जिससे कि हम फुटकर मूल्यो का सतोषप्रद सूचक अक बना सके। एक ठिनाई यह भी है कि एक ही नाम की वस्तुओ के गुण भिन्न-भिन्न समयो पर बदलते हते हैं। फिर बाजार में नई-नई वस्तुएँ आती रहती है और पुरानी गायब होती रहती है। इन कठिनाइयो के कारण थोक मूल्य से सूचक अक को दृढ रखने की सलाह दी जाती है। परन्तु इस प्रकार का सूचक अक भी कुछ चुनी हुई वस्तुओ के सम्बन्ध में सम्भव हो सकता है। परन्तु इसमें एक खतरा है। मान लो, ६० वस्तुएँ चुन ली जाती है ओर उनके मूल्य दृढ रखे जाते हैं। अन्य वस्तुओ के मूल्यो में परिवर्तन होने दिया जायगा, तब इन चुनी हुई वस्तुओ में पूंजी लगाना अधिक सुरक्षित होगा, क्योकि इन वस्तुओ की कीमतो मे अस्थिरता होने का खतरा नही रहेगा और अन्य वस्तुओ में पूंजी लगाना उतना सुरक्षित नही रहेगा। इसलिये चुनी हुई वस्तुओ में पूंजी लगाने की प्रवृत्ति अधिक देखी जावेगी और अन्य वस्तुओ के उत्पादन में लगी हुई पूंजी कम होने की प्रवृत्ति दिखावेगी। इस तरह पूंजी लगाने की दिशा बदल सकती हैं। इसलिये इस प्रकार के सूचक अक की दृढता वास्तविक आर्थिक दृढता का आश्वासन नही दे सकती। एक अधिक विचार पूर्ण और मौलिक आलोचना यह है ताकि दृढ-मूल्यो की नीतिका अर्थ यह नही हो सकता कि मुद्रा स्थिति और मुद्रा-सकुचन न होगे। जिस देश में उद्योग सम्बन्धी तरह-तरह के आविष्कार होते रहते है, उसमें उत्पादन-वृद्धि के साथ-साथ मूल्यो में अपने आप कमी होनी चाहिये। परन्तु यदि कीमतें दृढ और स्थिर रखी जायँगी तो व्यवसायी अत्यधिक लाभ प्राप्त करने लगेगे, उत्पादक पूंजी मे अत्यधिक वृद्धि होगी और अन्त में मदी के कारण सब आर्थिक ढाँचा अस्त-व्यस्त हो जायगा। सन् १९२९ के पहले सयुक्तराज्य अमेरिका मे यही हुआ। इस काल में फेडरल रिजर्व बोर्ड ने कीमतें लगभग स्थिर और दृढ रखी। परन्तु अमेरिका मे उत्पादन तेजी से बढ रहा था। फल यह हुआ कि व्यव- सायियो ने बहुत लाभ प्राप्त किये। स्टॉक एक्सचेंज में बडी तेजी आई और फिर एकदम से मदी आई और कीमते धराशायी हो गईं। इसके विपरीत यह भी सभव है कि "कीमतें

मजबूत रहे और गिरने के बजाय गोदामो में माल जमा होता जाय या उत्पादन कम होता जाय। सिद्धान्त के रूप में हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि बहुत बडी मन्दी की परिस्थिति आ सकती है, जिसमें कि कीमतें तो मजबूत रहेगी; परन्तु कीमतें गिरने के सब परिणाम अपने कडे रूप में प्रकट होगे।"[1] इसलिये मजबूत या दृढ कीमतो से न तो दृढ़ बाकारी की स्थिति का आश्वासन मिलता है और न उपभोग का।

तटस्थ मुद्रा (Neutral Money)--मजबूत कीमतो के दोपो को देखते हुए कुछ वर्ष पहले मि० हेक (Hayek) ने एक सुझाव रखा था कि आदर्श मुद्रा नीति वह है, जो मुद्रा से सम्बन्ध न रखने के प्रभावो की क्रिया में कम से कम दखल देती है। मान लो, मुद्रा का चलन नही है, केवल वस्तु विनिमय की प्रणाली का चलन है। तब वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओ के बीच में विनिमय के अनुपात निश्चित किये जायँगे। मुद्रा-नीति ऐसी होनी चाहिये कि मुद्रा का माध्यम होने पर भी विनिमय के अनुपात वही रहने चाहिये। मुद्रा-प्रचलन से वह स्थिति 'भ्रष्ट' नही होनी चाहिये, जो कि वस्तु विनिमय प्रणाली के अन्तर्गत होती। अर्थात् दूसरे शब्दो में मुद्रा को कीमतो पर प्रभाव डालने में तटस्थ रहना चाहिये।

मुद्रा को तटस्थ रहना चाहिये।

मि० हेक के मतानुसार यह उद्देश्य कीमतो की मजबूती द्वारा नही, बल्कि मुद्रा की जो मात्रा चलन में है, उसकी मजबूती द्वारा पूरा हो सकता है। यदि प्रभावपूर्ण मुद्रा (effective money) की पूर्ति स्थिर रखी जावे, तो मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन होने पर भी विनिमय के 'वास्तविक' अनुपातो मे कोई भ्रष्टता नही होने पावेगी। तब मूल्य-सतह उत्पादन-शक्ति के विपरीत अनुपात मे बदलेगी। उत्पादन-कला सम्बन्धी आविष्कारों अथवा उत्पादन के नये प्राकृतिक साधनो की प्राप्ति के कारण यदि उत्पादन प्रणाली की योग्यता बढ जाती है, तो उससे उत्पादन की लागत प्रति इकाई पीछे कम हो जायगी। यदि मुद्रा की मात्रा स्थिर रखी जाती है, तो कीमते भी गिरेगी और लाभ की मात्रा मे कोई विस्तार नही होगा। परन्तु यदि युद्ध इत्यादि के कारण सम्पत्ति की क्षति होती है और उत्पादन-शक्ति कम होती है, तो कीमते बढेगी। जनसख्या में होनेवाले परिवर्तनो से भी कीमतो मे परिवर्तन होते हैं। जनसख्या में वृद्धि होने से कीमते घटेंगी और जनसख्या में कमी होने से कीमते बढ़ेगी। ध्यान रहे कि इस नीति

---

[1] "It is theoretically conceivable that there might be severe depression uring which prices remain stable but in which all the consequences of a price-fall are reproduced in their strongest forms."

—The Future of Monetary Policy, p. 58.

के अन्तर्गत मुद्रा की मात्रा सब परिस्थितियो में स्थिर नही रखी जायगी। इसका अर्थ केवल इतना है कि सिर्फ 'प्रभावपूर्ण' मुद्रा की मात्रा स्थिर या निश्चित रखनी चाहिये। इस प्रकार जब मुद्रा की चलन का वेग कम हो जायगा, तो मुद्रा की मात्रा बढ जायगी। जब उत्पादन कार्य मे उत्पादन की विभिन्न क्रियाओ की सख्या बढ जाती है, तब भी मुद्रा की मात्रा बढ जायगी।[1]

मूल्य-सतह का उत्पादन शक्ति से विपरीत अनुपात में बदलना

मूल्य-सतह उत्पादन शक्ति के विपरीत अनुपात में परिवर्तित होने के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। इसका अर्थ यह होगा कि गिरती हुई कीमतो के रूप मे ऋणदाता तथा पूंजी लगानेवाले वर्गों को उन्नति का अश अपने आप प्राप्त हो जायगा। इसके सिवा मजदूरी पेशा लोगो को वास्तविक मजदूरी ऊँची दर पर मिलेगी। "और इसके लिये उन्हे बार-बार मुद्रा के रूप में मजदूरी बढाने की माँग न करनी पडेगी और इस प्रकार की माँगें ऐसी होती है कि चाहे उनसे काम बन्द हो या न हो, परन्तु व्यक्तियो के आपस के सम्बन्ध कटु हो जाते है और रचनात्मक नेतृत्व की शक्तियाँ व्यर्थ खर्च हो जाती है।"[2]

इस नीति की कठिनाइयाँ

परन्तु इस नीति को व्यावहारिक रूप में बडी-बडी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। मुद्रा की प्रभावपूर्ण पूर्ति को स्थिर रखने के लिये मुद्रा की मात्रा को चलन के वेग मे परिवर्तन होने पर अथवा व्यवसायो की व्यवस्था में परिवर्तन होने पर परिवर्तित करना पडेगा। परन्तु केन्द्रीय बैंक यह कब जानेगा और कैसे जानेगा कि मुद्रा के चलन के वेग में कितना परिवर्तन हुआ, अथवा विभिन्न फर्मो का एकीकरण या पृथक्करण कब, कैसे और कितना हुआ? इस नीति की सफलता के मार्ग में ये बाधाएँ वास्तविक और बहुत बडी है। जब हम बढती हुई उत्पादन शक्ति पर विचार करते है, तब एक नई मौलिक कठिनाई उत्पन्न होती है। इस नीति के अन्तर्गत लागत-खर्च जैसे-जैसे कम किये जायँगे, वैसे-वैसे कीमतें गिरेंगी। इसके लिये एक आवश्यक शर्त्त यह है कि कीमतें एकाधिकार के अस्वाभाविक वातावरण में न पनपती हो। यदि कुछ कीमतो पर एकाधिकारी नियत्रण है और वे गिरने से रोक ली जाती है, तो अन्य कीमतो में और अधिक गिरावट आवश्यक है, जिससे कि औसत कीमतें औसत लागतो के बराबर रहे। तब इन अन्य उद्योगो में बड़े लम्बे समय तक मदी रहेगी। आवश्यकता इस बात की है कि वस्तुओ की कीमतो में गिरावट के अनुसार अन्य सब साधनो की कीमतें भी उसी अनुपात मे गिरनी चाहिये। परन्तु यह मान लेना कि मजदूरी की दर, लगान या व्याज की दरो में, कीमतो में होनेवाले परिवर्तनो के अनुसार परिवर्तन स्वतंत्रापूर्वक किये जा सकते है, सब

---

[1] *Hayek*, Prices and Production. p. 124.

[2] *Robertson*, Money, p. 136.

कठिनाइयो को एक साथ हल करने के समान होगा। इसका अर्थ यह होगा कि इस सम्बन्ध मे कोई कठिनाइयाँ है ही नही। अर्थात् ब्याज की निश्चित दर सम्बन्धी कोई कठिनाई नही, मजदूरी की दर के नियन्त्रण सम्बन्धी कोई समस्या ही नही है और यदि आर्थिक व्यवस्था इतनी लचीली और परिवर्तनशील है, तब एक मुद्रा नीति उतनी ही अच्छी होगी जितनी कि कोई दूसरी।

इन परस्पर विरोधी मतो को देखते हुए यह कहना कठिन है कि उपयुक्त मुद्रा नीति क्या होगी। परन्तु कम से कम एक बात पर अर्थशास्त्रियो का एक मत है—वह यह कि जहाँ तक सभव हो व्यवसाय को असाधारण परिवर्तनो मे बचाना चाहिये और जहा तक आर्थिक व्यवस्था पर केवल मुद्रा के प्रभाव का सम्बन्ध है, वहा तक कीमतो में कुछ मजबूती या दृढता लाने का उद्देश्य होना चाहिये। यह बात अवश्य है कि यदि उत्पादन किया मे बडे परिवर्तन होते है, तो आवश्यकता होने पर कीमतो मे भी उचित परिवर्तन होते चाहिये।

अध्याय ४१

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष

(International Currency Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सन्बन्धी प्रस्ताव (International Currency Proposals)—हम देख चुके है कि विश्वव्यापी महान व्यावसायिक मदी के समय में सब देशो को या तो विवश होकर या अपनी रक्षा के लिये स्वर्णमान छोड़ना पड़ा। उसके बाद के वर्षों मे आर्थिक जगत में एक अस्तव्यस्तता का समय आया, जिसने अस्थिर विनिमय की दर, ऊँचे सरक्षक कर, मुद्रा के मूल्य मे गिरावट तथा समझौते के आधार पर व्यवसाय विनिमय (quotas) की भरमार रही। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय की मात्रा मे लगातार कमी होने लगी। लोग इस बात को महसूस करने लगे कि युद्धोतर काल मे विभिन्न देशो के बीच में होनेवाले व्यवसाय को यदि विभिन्न प्रकार के बधनो से मुक्त नही किया गया तो युद्ध मे क्षत-विक्षत देशो का पुनर्निर्माण अच्छी तरह नही हो सकता और यह तब तक सम्भव नही था, जब तक कि विभिन्न देशो के बीच विनिमय की दरे दृढ नही रखी जाती। लेकिन युद्ध के पहले जैसा स्वर्णमान था और उसके विनिमय की दर जिस प्रकार बेलोचदार और कडी थी, उनका फिर से स्थापित करना उपयुक्त नही समझा जाता था। एक अपेक्षाकृत लोचदार आर्थिक व्यवस्था के लिये वह मान

बहुत ही संकुचित समझा जाता था। एक ऐसी नई व्यवस्था की आवश्यकता थी, जिसमें प्रत्येक देश अपनी आर्थिक व्यवस्था के प्रबन्ध और निर्माण में काफी स्वतन्त्रता रख सके। जैसे-जैसे युद्ध समाप्त होने की संभावना दिखने लगी, वैसे-वैसे लोग इस बात को महसूस करने लगे कि सबसे पहले अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्बन्धी पुनर्निर्माण की समस्या हल होनी चाहिये। अमेरिका और इंगलैण्ड के विशेषज्ञों ने इस समस्या पर एक वर्ष से अधिक तक वाद-विवाद किया। दोनों देशों के विशेषज्ञों ने अपनी-अपनी मुद्रा सम्बन्धी योजनाएँ एक दूसरे के विचाराधीन रखीं। ब्रिटेन की योजना कीन्स योजना (Keynes Plan) कहलाती थी और अमेरिका की योजना White Plan। विशेषज्ञों के विचार विमर्श के परिणामस्वरूप एक तीसरी योजना बनी और जुलाई सन् १९४४ में अमेरिका के ब्रिटेन वुड्स नामक स्थान में राष्ट्रसंघ के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने थोड़े-से रद्दोबदल के पश्चात् इस तीसरी योजना के प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया और उन्हें विभिन्न देशों की सरकारों के पास स्वीकृति के लिये भेजा।

ब्रिटेन वुड्स का मुद्रा समझौता दो भागों में बँटा है। पहले भाग का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से है। दूसरे का सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण से है।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य वे देश होंगे, जो राष्ट्र संघ के सदस्य हैं और जो उस समझौते को स्वीकार करते हैं। इस कोष के स्थापित होने की एक शर्त यह थी कि इसे स्वीकार करने-वाली सरकारें जब कुल स्वीकृत पूँजी का ६५ प्रतिशत भाग इकट्ठा कर लेंगी, तब यह कोष स्थापित होगा। इसे स्वीकार करने की अवधि दिसम्बर सन् १९४५ के अन्त तक रखी गई थी। कोष की कुल पूँजी ८,८०,००,००,००० डालर होगी और इसे सदस्य देश देंगे। प्रत्येक देश का भाग समझौते में निश्चित कर दिया गया। अमेरिका का भाग २,७५,००,००,००० डालर है, ब्रिटेन का १,३०,००,००,००० डालर, रूस का १,२०,००,००,००० डालर, चीन का ५५,००,००,००० डालर, फ्रांस का ४५,००,००,००० डालर और भारत का भाग ४०,००,००,००० डालर रखा गया है। प्रत्येक देश अपने भाग का कम से कम २५ प्रतिशत भाग सोने में अथवा अपने भाग का १० प्रतिशत सोने और डालर में, जो भी कम हो, देगा। अपने भाग का बाकी अंश वह अपने देश की मुद्रा में दे सकता है।

कोष का प्रबन्ध इस प्रकार होगा। एक गवर्नरों का बोर्ड होगा, जिसमें प्रत्येक सदस्य देश का प्रतिनिधि रहेगा। यह बोर्ड नीति सम्बन्धी बड़े-बड़े प्रश्नों पर नीति निर्धारित करेगा। वास्तविक अधिकार कार्यकारिणी (Executive Committee) के हाथ में रहेंगे। इसमें १२ सदस्य होंगे और इनमें से ५ सदस्य अमेरिका, रूस, इंग्लैण्ड चीन और फ्रान्स द्वारा चुने जायेंगे। अमेरिका के अन्य देश दो डाइरेक्टर चुनेंगे। शेष अन्य देश पाँच डाइरेक्टर चुनेंगे। निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली (system of proportional representation) के अनुसार होगा। प्रत्येक सदस्य

को २५० वोट मिलेंगे और उनके अतिरिक्त अपनी पूंजी के भाग के प्रत्येक १,००,००० डालर के लिये एक वोट मिलेगा। कार्यकारिणी प्रवन्ध डाइरेक्टर (Managing Director) की नियुक्ति करेगी। वह कार्यालय का भी प्रधान रहेगा। कोप का प्रधान कार्यालय अमेरिका में रहेगा।

कार्य। कोप की पूंजी का उपयोग विनिमय की दृढ़ता बनाने में विभिन्न सदस्यों के बीच में विनिमय सबधी सुविधाएँ स्थापित करने में, विनिमय की दर घटाकर प्रतियोगिता को टालने में तथा विदेशी विनिमय का जिन शर्तों मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय में बाधा पडती है, उन्हे हटाने में किया जायगा। कोप के दो प्रधान उद्देश्य होगे—एक तो सौदों के भुगतान करने की बहुमुखी व्यवस्था (multilateral system) स्थापित करना और दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय का विस्तार और सतुलित उन्नति करना। इस कोप का सम्बन्ध न तो गत युद्धजनित राष्ट्रीय ऋणों से है और न पुनर्निर्माण और कष्ट-निवारण से। उसका प्रधान काम विनिमय को दृढ़ रखना और अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सम्बन्धी सुविधाएँ देना है। विनिमय सम्बन्धी दृढ़ता स्थापित करने के लिये निम्न-लिखित धाराएँ रखी गई हैं। कोप सम्बन्धी समझौता स्वीकार करते समय प्रत्येक सदस्य अपनी मुद्रा का सम मूल्य (par value) स्वर्ण के अथवा अमेरिका के डालर के अनुपात में निश्चित करेगा। विनिमय की सम दर (par value of exchange) वह होगी, जो कोप के कार्य प्रारम्भ होने से पहले साठवें दिन पर प्रचलित थी। प्रत्येक सदस्य विनिमय सबन्धी सब काम इस सम दर के आधार पर करेगा। इस प्रकार इस समझौते द्वारा विनिमय की दृढ़ता प्राप्त की जायगी। परन्तु आवश्यकतानुसार विनिमय की इस सम दर में परिवर्तन किया जा सकता है। स्वर्णमान में ऐसा करना सम्भव नही था।

विनिमय की परिवर्तन-शील दर। कोष के अधिकारियो की अनुमति लेकर प्रत्येक सदस्य अपनी मुद्रा के सम मूल्य में १० प्रतिशत परिवर्तन कर सकता है। इसमें बाधा डालने का कोप को कोई अधिकार नही होगा। यदि इससे परिस्थिति मे सुधार नही होता है, तो वह सदस्य कोप के सामने इससे अधिक परिवर्तन करने का प्रस्ताव रख सकता है। कोप या तो इसमें अपनी स्वीकृति देगा अथवा यदि परिवर्तन प्रारम्भिक विनिमय की सम दर से अधिक है, तो कोष को अपना आपत्तिजनक मत ७२ घटो के अन्दर प्रकाशित करना चाहिये। अधिक परिवर्तन तभी किये जा सकते हैं, जब कोप अपनी स्वीकृति दे दे और उसे 'सतोष हो कि किसी मौलिक असमानता को दुरुस्त करने के लिये इस प्रकार का परिवर्तन आवश्यक है।' इस प्रकार कोप के द्वारा विनिमय की दरों में काफी दृढ़ता आ सकती है और साथ ही यदि किसी देश की आर्थिक व्यवस्था में कुछ ऐसे मौलिक परिवर्तन हो, जिनके कारण विनिमय की दर में परिवर्तन की आवश्यकता हो, तो उसके लिये भी ऐसी व्यवस्था है कि ये परिवर्तन समझौते के अनुसार सर्वसम्मति से आसानी से पास किये जा सकें।

कोष का दूसरा प्रधान उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सम्बन्धी सुविधाएँ बढाना है।

कोष और ऋणी देश। मान लो, एक देश का विदेशी व्यवसाय विपक्षीय हो जाता है और व्यवसाय की बाकी का भुगतान करने के लिये उसे ऋणदाता देश की मुद्रा नहीं मिलती। सम्भव है कि ऐसी परिस्थिति में उस देश को अपने विदेशी विनिमय सम्बन्धी काम कम देने पडें और अपने विदेशी व्यवसाय पर भी नियत्रण रखना पडे। इस कठिनाई को हल करने के लिये इन उपायों का प्रवन्ध किया गया है। व्यावसायिक बाकी को पूरा करने के लिये एक सदस्य कोष से अपनी मुद्रा के बदले अपने ऋणदाता देश की मुद्रा आवश्यक मात्रा मे खरीद सकता है। इस सम्बन्ध में कुछ शर्तें अवश्य हैं। पहली शर्त यह है कि बारह महीनो के भीतर कोई भी सदस्य कोष से अपने भाग की २५ प्रतिशत से अधिक की विदेशी मुद्रा नहीं खरीद सकता। दूसरे, इस प्रकार की कुल खरीदें उस देश के भाग के १२५ प्रतिशत से अधिक नही होनी चाहिये। अत्यधिक आवश्यकता पडने पर इन शर्तों को कुछ ढीला किया जा सकता है। इस प्रकार किसी ऋणी देश की व्यावसायिक बाकी के भुगतान में जो अस्थायी कठिनाइयाँ आ जाती है, उन्हे वह इन उपायो की सहायता से हल कर सकता है। परन्तु यदि कोष में किसी समय देश की मुद्रा उसके भाग से अधिक जमा हो जाती है, तो कोष उस देश से एक निश्चित क्रमानुसार कुछ फीस या शुल्क लेता है। इसका उद्देश्य यह है कि एक तो इस काम के लिये कोष की सहायता बहुत अधिक न ली जाय और दूसरे व्यावसायिक बाकियो को प्रोत्साहन नही मिलना चाहिये। इन शुल्को या फीस से बचने के लिये कोष की सहायता लेनेवाला देश यह प्रयत्न करेगा कि उसकी व्यावसायिक बाकी एक निश्चित सीमा या मात्रा से अधिक न बढने पावे।

कोष और ऋणदाता देश। इसलिये किसी देश को आवश्यक मात्रा में विदेशी मुद्रा बेचकर कोष उस देश को अपनी अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की बाकी पूरी करने में सहायता करता है। परन्तु सम्भव है कि कोष के पास आवश्यक विदेशी मुद्रा पर्याप्त मात्रा में न हो। अमेरिका जैसे ऋणदाता देश के सम्बन्ध में यह हो सकता है। चालू हिसाब मे वह अन्य देशो पर बहुत बडी मात्रा में उधार बाकी जमा कर सकता है। तब कोष के अधिकारी उस देश की अनुमति लेकर उसकी मुद्रा उधार ले सकते है। अथवा किसी अन्य जरिये से (उस देश की अनुमति से) उधार ले सकते है। अथवा सोने के बदले उस देश की मुद्रा खरीद सकते है। यदि इन उपायो से काम नही चलता तो कोष एक रिपोर्ट प्रकाशित करेगा और उसमें उस मुद्रा के प्राप्य न होने के कारण बतलावेगा और साथ ही यह सिफारिश करेगा कि उस मुद्रा में काम और भुगतान न होना चाहिये। जिस मुद्रा की कमी होती है और प्राप्ति में कठिनाई होती है, कोष उसके राशन करने का प्रवन्ध कर सकता है और दूसरे सदस्यो को अनुमति दे सकता है कि उस मुद्रा में केवल सीमित मात्रा में भुगतान करें। सम्भव

है कि उन उपायो द्वारा ऋणदाता देश अधिक उदार हो जावे और अपनी मुद्रा अधिक मात्रा मे देने लगे।

कोष की ये स्थायी धाराएँ है। अन्तरिम काल के लिये भी कुछ धाराएँ निर्धारित की गई है। अन्तरिम काल की अवधि तीन से लेकर पाँच वर्ष तक रखी गई है। इस अन्तरिम काल में सदस्य देश विनिमय सम्बन्धी अपनी विशेष शर्तें, मुद्रा सम्बन्धी अपनी विशेष व्यवस्था समझौता इत्यादि रख सकते है। लेकिन अन्तरिम काल के बाद ये सब बन्धन और शर्तें छोड देनी पडेंगी।

इस योजना में स्वर्ण का स्थान।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की व्यवस्था इस अभिप्राय से की गई है कि विनिमय की दरो को दृढ़ता प्राप्त हो सके और उन्हे एकदम सख्त या बेलोचदार भी न बनाना पडे। इस हद तक यह व्यवस्था युद्ध के पहले की स्वर्णमान की व्यवस्था से अच्छी है। अब प्रश्न उठता है कि इस योजना में स्वर्ण का स्थान क्या है? यद्यपि यह कोष स्वर्णमान के समान नही है, तथापि इस योजना में स्वर्ण का स्थान काफी महत्वपूर्ण है। इस कोष का उद्देश्य स्वर्ण को एकदम स्थानच्युत करना नही है। प्रत्येक देश को कोष में अपने भाग की पूंजी का २५ प्रतिशत या तो सोने के रूप में देना पडता है या अपने सरकारी सोने के भाग का १० प्रतिशत डालर में। प्रारम्भिक समता या तो अमेरिकन डालर या स्वर्ण की दर में ही की जायगी। अर्थात् स्वर्ण सर्वमान्य सूचक रहेगा। तीसरे, जब कोष को कोई दुष्प्राप्य मुद्रा की काफी मात्रा नही मिलेगी तो वह उसे सोना देकर खरीद सकता है। इस प्रकार इन धाराओ द्वारा तथा इसी प्रकार की अन्य धाराओ द्वारा यह बात साफ जाहिर हो जाती है कि अन्तर्राष्ट्रीय-भुगतान का अन्तिम साधन सोना ही है। इस प्रकार स्वर्ण का स्थान अब भी प्रमुख है। यद्यपि अब वह राजा नही है, और साथ ही अब उसके हानिकारक प्रभाव भी छीन लिये गये है। यद्यपि विनिमय की दरें अब भी सोने में जाहिर की जावेगी, परन्तु ये दरें अब लोचदार है और आवश्यकतानुसार समय-समय पर बदली जा सकती है। इस कोष मे विभिन्न देशो की मुद्राओ का सग्रह होता है और सोने के बदले अब इस सग्रह द्वारा देशो का आपस के लेन-देन का भुगतान हो सकता है।

दूसरे भाग में अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण और विकास बैंक स्थापित करने की योजना है। इस प्रकार के बैंक की आवश्यकता इसलिये हुई कि युद्ध के कारण सब देशो को बडी क्षति उठानी पडी है तथा उन्हे पुनर्निर्माण और विकास के लिये बडी मात्रा मे पूंजी की आवश्यकता पडेगी। इसलिये यह आवश्यक है कि धनी देशो से गरीब देशो में पूंजी पहुँचे। यह भी जाहिर है कि केवल सयुक्तराज्य अमेरिका ही ऐसा देश है, जो आवश्यक पूंजी दे सकता है। दो महायुद्धो के बीच के वर्षों में विदेशो में पूंजी लगानेवाले अमेरिका के लोगो को इतना नुकसान हुआ कि इस बात का डर था कि शायद अब वे विदेशो में

पूंजी लगाने को तैयार न हो। इस बैंक के द्वारा इस प्रकार की कठिनाई को हल करने का प्रयत्न किया गया है। इस बैंक का प्रधान काम यह रहेगा कि जो लोग ऋणो मे अपनी पूंजी लगावेगे उसकी सुरक्षा का आश्वासन वह देगा। बैंक स्वय ऋण नही देगा। वह ऋण देनेवाले लोगो को केवल यह आश्वासन देगा कि उनकी पूंजी खतरे मे नही पडेगी, वल्कि सुरक्षित रहेगी। इस प्रकार एक विदेश को इस बैंक के जरिये उचित व्याज पर पूंजी मिलनी सभव हो जायगी। बैंक की अधिकृत पूंजी (authorised capital) दस अरब (१०,०००,०००,०००) डालर रहेगी। इसको एक लाख हिस्सो में वॉटा जायगा और बैंक के सदस्य इन हिस्सो को लेंगे। काम आरम्भ करने के लिये बैंक प्रारंभ में २० प्रतिशत पूंजी एक वार मे अथवा थोडी-थोडी करके जमा करेगा। वाकी ८० प्रतिशत वाद में आवश्यकतानुसार जमा की जायगी। हिस्सेदारो को पूंजी का २ प्रतिशत भाग सोने मे अथवा अमेरिकन डालर में देना पड़ेगा। बैंक के उद्देश्य देशों को आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये पूंजी देना, ससार के साधनो का पुनः वितरण करके उनकी मुद्रा प्रणाली तथा साख को मजबूत बनाना इत्यादि है। बैंक का काम केवल सरकारो तथा उनके एजेण्टो के साथ होगा। बैंक जितने ऋणो की जिम्मेदारी लेगा, उनके साथ निम्न-लिखित शर्त्तें लगी रहेगी। जो सदस्य देश ऋण लेगा, उसकी सरकार व्याज तथा मूलधन देने की जिम्मेदारी लेगी। चूंकि वैक कुछ खतरा लेगा, इसलिये उसे कुछ मिलना चाहिये। इसी प्रकार की अन्य कुछ शर्तें है।

बैंक अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो का इतनी काफी मात्रा में प्रवन्ध करेगा कि उससे पुनर्निर्माण की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें। इस सम्वन्ध में बैंक वहुत महत्वपूर्ण काम कर सकता है। उसकी सफलता इस वात पर निर्भर करेगी कि साहूकार देश, विशेषकर सयुक्त-राज्य अमेरिका, माल अथवा सेवाओ का ऋण देते समय बैंक के जरिये काम करेंगे और उसकी सेवाओ का उपयोग करेंगे।

अध्याय ५०

राजकीय अर्थ व्यवस्था क्या है

(The Nature of Public Finance)

राजकीय अर्थ-व्यवस्था अर्थशास्त्र का वह भाग है, जो शासन सम्बन्धी सस्थाओं के आय-व्यय की विवेचना करता है। वह उन सार्वजनिक सस्थाओ के आय-व्यय का अध्ययन करता है, जो देश की सरकार अर्थात् शासन का अग है।

राज्य अर्थ-व्यवस्था अर्थशास्त्र का एक अंग है। अर्थशास्त्र की तरह मनुष्य का अध्ययन वह भी समाज के एक सदस्य की दृष्टि मे करता है। अर्थशास्त्र की अन्य शाखाओं की तरह इस शाखा का उद्देश्य कम से कम खर्च में अधिक से अधिक आर्थिक कल्याण प्राप्त करना है। यह बात बहुत पहले स्वीकार की जा चुकी है कि राज्य अर्थ-व्यवस्था अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण अग है और उसका अध्ययन आवश्यक है। प्रारम्भ में अर्थशास्त्र को राजनीतिक अर्थशास्त्र (political economy) कहा जाता था। इसका सकेत प्राचीन नगर-राज्यो के आय-व्यय के प्रबन्ध से था।

राजकीय और निजी अर्थ-व्यवस्था (Public and Private Finance)–मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि निजी और राज्य की अर्थ-व्यवस्था का प्रबन्ध लगभग एक ही प्रकार के सिद्धान्तो के आधार पर होता है। लेकिन फिर भी दोनो में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर है। बहुधा सबसे बडा अन्तर यह बतलाया जाता है कि लोग तो अपनी आय के अनुसार खर्च करते है, परन्तु सरकार अपने खर्च के अनुसार आय करती है। एक कहावत है कि 'तेते पॉव पसारिये जेती चादर होय'। जितनी चादर हो, उतना ही पॉव पसारना चाहिये। लोग प्राय ऐसा ही करते है, परन्तु सरकार पहले यह निश्चय कर लेती है कि कितना पॉव पसारना है और तब उसके अनुसार चादर प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। लेकिन इस कथन में कुछ अतिशयोक्ति भी है। कभी-कभी ऐसे मोके भी आ जाते है, जब आदमी अपने खर्च के अनुसार अपनी आय करने की कोशिश करता है। मान लो, एक आदमी विवाह करने का निश्चय करता है, तब उसके गृहस्थ जीवन का खर्च बढ जायगा और वह अपनी आय बढाने की कोशिश करेगा। इसी प्रकार एक व्यक्ति की तरह सरकार भी अपनी आय के अनुसार खर्च करने का निश्चय करती है। मदी के समय में जब आय कम हो जाती है, तब सरकार भी अपना खर्च कम करने का

यत्न करती है, जिससे उसका व्यय आय के अन्दर ही रहे। इसलिये निजी और सरकारी आय-व्यय मे जो अन्तर है, उसे बढा-चढाकर नही देखना चाहिये। फिर भी यह बात सत्य है कि दोनो की प्रकृति मे कुछ अन्तर अवश्य है। यह बात तब अच्छी प्रकार समझ मे आ जायगी, जब हम देखेगे कि एक व्यक्ति अपनी आय और व्यय मे किस प्रकार सतुलन या सामजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है। यदि किसी व्यक्ति के लिये किसी वर्ष अधिक खर्च करना आवश्यक हो जाय तो वह दो मे से एक किसी प्रकार पूरा करने का प्रयत्न करेगा—या तो वह अधिक धन उपार्जित करने का प्रयत्न करेगा या वह ऋण लेगा। ऐसी परिस्थिति मे सरकार भी दो मे से कोई एक या दोनो तरीको से काम लेगी। लेकिन यहाँ एक अन्तर देखने मे आता है। सरकार या तो बाहरी लोगो से (अर्थात् विदेशो से) कर्ज ले सकती है या स्वय अपने लोगो से (अर्थात् देश में ऋण लेगी।) अथवा वह देश मे ही अधिक कागजी मुद्रा छापेगी। लेकिन एक व्यक्ति अन्य लोगो से ही ऋण ले सकता है। न तो वह स्वय अपने से ऋण ले सकता है और न अपनी मुद्रा (I. O. U's legal tender) बना सकता है।

निजी और सरकारी खर्च मे एक अन्तर और है। साधारणत एक व्यक्ति अपना व्यय उपभोग की विविध बातो पर इस प्रकार करेगा कि उसे व्यय के प्रत्येक मद से एक बराबर सीमान्त उपयोगिताएँ प्राप्त होगी। यद्यपि आदर्श रूप मे यह शायद ही कभी किया जाता हो। सरकारी खर्च का भी आदर्श यही होना चाहिये। परन्तु सरकार यह आदर्श शायद ही कभी प्राप्त कर सकती है। भावुकता अथवा विशेष स्वार्थो के प्रभाव के कारण सरकार का रुपया बहुधा व्यर्थ की बातो पर खर्च होता है। नये प्रजातन्त्रों में अथवा जहाँ जातीय भावनाएँ बहुत प्रबल होती है, वहाँ यह प्रवृत्ति बहुत प्रबल होती है। परन्तु सरकारी खर्च के पक्ष मे एक बात होती है, जिसे ध्यान मे रखनी चाहिये। केवल सिद्धान्त की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति के सम्बन्ध में यह मान लिया जाता है कि वह अपनी आय वर्तमान और भविष्य की आवश्यकताओ पर इस प्रकार खर्च करता है कि दोनो परिस्थितियो में अर्थात् अभी और भविष्य में उसे सम सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होगी। परन्तु वास्तव में लोग भविष्य की अधिक चिन्ता नही करते और भविष्य के लिये उपयुक्त प्रबन्ध भी नही करते, किन्तु राज्य अर्थात सरकार भविष्य की तरफ इतनी लापरवाह नही होती और व्यक्तियो की अपेक्षा भविष्य के लिये अधिक प्रबन्ध करती है (अथवा करना चाहिये)।

एक अन्य महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि व्यक्ति के लिये यह कहा जा सकता है कि उसकी भलाई इसी में है कि अपना खर्च अपनी सीमा के भीतर रखे। परन्तु राज्य के सम्बन्ध मे अधिक खर्च से बहुधा कुल राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है और राज्य की आर्थिक स्थिति अधिक मजबूत हो जाती है। राज्य उत्पादन, रोजगारी तथा आय वृद्धि के लिये जो खर्च करता है, वह निजी खर्च की तरह नही होता। राज्य की आर्थिक नीति की सफलता

या असफलता इस बात से देखी जाती है कि सार्वजनिक खर्च का कुल राष्ट्रीय आय और बेकारी पर कैसा प्रभाव पडता है।

राजकीय अर्थ-व्यवस्था के उद्देश्य (Aims of Public Finance)–इस पर विचार करते समय इस प्रश्न का उत्तर जानना आवश्यक है कि किन सिद्धांतो के आधार पर कर लगाये जाने चाहिये और सरकार को व्यय करना चाहिये ? भिन्न-भिन्न समय पर विभिन्न लेखको ने इस सम्बन्ध में अनेक सिद्धान्तो का सुझाव दिया है। इसमें से कुछ सिद्धान्तो पर हम आगे विचार करेंगे।

न्यूनतम व्यय का सिद्धान्त(Principle of Minimum Expenditure) कुछ समय पहले यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त था कि राजकीय अर्थ-व्यवस्था के सम्बन्ध में जितनी समस्याएँ उठती हैं, उनके लिये सबसे अच्छा सिद्धान्त यह होगा कि सरकार को कम से कम खर्च करना चाहिये और कम से कम कर लगाना चाहिये। यह सिद्धान्त दो बातो के आधार पर उचित ठहराया जाता था। एक यह थी कि उस समय व्यक्तिवाद (Individualism) के सिद्धान्त का बहुत अधिक प्रचार था। जिस प्रकार आदर्श सरकार शून्य या अस्तित्वहीन सरकार (Zero Government) मानी जाती थी, उसी प्रकार आदर्श राजकीय अर्थ-व्यवस्था वह होगी जिसमें आय और व्यय शून्य हो, अर्थात् सरकार को किसी व्यक्ति की स्वतत्रता और सम्पत्ति में कम से कम हस्तक्षेप करना चाहिये। दूसरा विचार यह था कि सरकार का खर्च अधिकतर अनुत्पादक कार्यो पर होता है, लेकिन लोग उत्पादक कार्यो पर खर्च करते है। इसलिये ग्लैडस्टन कहा करता था कि धन लोगो की जेबो में फूलने-फलने के लिये छोड देना चाहिये।

लेकिन जो सिद्धान्त सरकारी खर्च को घटाकर न्यूनतम मात्रा में ले आना चाहते है, वह सिद्धान्त गलत है। सब कर हमेशा बुरे नही होते। कुछ करो द्वारा ऐसे काम होते है जिन्हे सामाजिक दृष्टि से उचित कहा जा सकता है। जब शराब पर कर लगाया जाता है, तो शराब की बिक्री कम होती है और इस प्रकार एक सामाजिक उपकार होता है। यदि किसी आयात कर द्वारा किसी राष्ट्रीय उद्योग की उन्नति होती है, तो उससे राष्ट्रीय आय बढती है। फिर यह बात भी सभव है कि किसी व्यक्ति की अपेक्षा सरकार ज्यादा अच्छे कामो पर खर्च कर सकती है। एक व्यक्ति घुडदौड या जुआ में खर्च कर सकता है, परन्तु सरकार गरीबो की शिक्षा पर खर्च कर सकती है। सरकारी खर्च से बहुधा देश की उत्पादन योग्यता में वृद्धि होती है। लेकिन इसका मतलब यह नही है कि जितना सरकारी खर्च होता है, वह सब अच्छे कामो पर होता है। कुछ लोग है, जो ऐसा कहते है और सरकारी खर्च में मनचाही वृद्धि का समर्थन करते है। परन्तु यह भी ठीक नही है। कुछ कर ऐसे होते है, जिनसे देश की राष्ट्रीय आय को निश्चित रूप से हानि पहुँचती है। उदाहरण के लिये आय-कर और मृत्यु-कर बहुत अधिक होने से लोगों की बचत कम होगी और उत्पादन गिरेगा। इसी तरह सरकारी खर्च की कुछ ऐसी

ई भी होती है जो अच्छी नहीं होती है। अनावश्यक युद्धों पर जो खर्च किया जाता है, ह बिलकुल व्यर्थ खर्च होता है।

अधिकतम लाभ का सिद्धान्त (The Principle of Maximum Advantage)—एक दूसरा सिद्धान्त यह है कि सरकार को अपनी अर्थ-व्यवस्था इस प्रकार चलानी चाहिये कि उससे अधिक से अधिक सामाजिक लाभ प्राप्त हो सकें। सरकार की आय करों द्वारा अथवा ऋणों द्वारा होती है और यह आय क्रमश: कई मदों पर खर्च होती है। इस प्रकार सम्पत्ति का हस्तान्तर लोगों के एक समूह से दूसरे समूह को लगातार होता रहता है और सम्पत्ति का जो उत्पादन होता है, उसकी मात्रा और प्रकृति में परिवर्तन होते रहते है। इन परिवर्तनों द्वारा अन्त में यदि अधिकतम सामाजिक सर्वोदय प्राप्त होता है और सब साधनों का समुचित उपयोग होता है तो वे परिवर्तन न्यायसगत है।

यह जानने के लिये कि अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हुआ है या नहीं, हमें निम्नलिखित बातों पर विचार करना चाहिये। सबसे पहले राजकीय खर्च की प्रकृति और सगठन पर विचार करना चाहिये। सभव है कि कुछ बातों पर खर्च अधिक हो, परन्तु यदि उनकी प्रकृति उत्पादक पूंजी की है तो अत मे उनके द्वारा होनेवाला लाभ वर्तमान भार से कहीं अधिक होगा। सभव है कि कुछ भारी न हो, पर वे बिलकुल अनुत्पादक हो सकते है। परन्तु इस प्रकार के खर्च यदि विदेशी आक्रमण से बचने तथा आन्तरिक सुरक्षा के लिये किये जाते है तो समाज के सर्वोदय की दृष्टि से वह न्यायसगत है। यद्यपि आर्थिक सर्वोदय की दृष्टि से उन्हे न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है। दूसरे, कर-प्रणाली की प्रकृति और तरीके भी महत्वपूर्ण होते है। यद्यपि कर के विभिन्न तरीकों से धन की वही मात्रा प्राप्त होगी, फिर भी एक तरीका दूसरों की अपेक्षा अधिक हल्का हो सकता है। तीसरे, उत्पादन शक्ति पर कर-नीति का अतिम प्रभाव महत्वपूर्ण होता है। यदि कर-नीति को बचत करने की इच्छा और शक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है तो ऐसी कर-नीति को उचित नहीं कहा जा सकता है।

पूर्ण रोजगार या क्रियाशीलता का सिद्धान्त (Principle of full employment)—अब इस बात को लोग दिनों-दिन महसूस कर रहे है कि राजकीय अर्थ-व्यवस्था का प्रबन्ध इस प्रकार होना चाहिये कि देश में पूर्ण रोजगार या क्रियाशीलता की स्थिति बनी रहे। करों की दर और खर्च की दर विभिन्न आर्थिक स्तरों पर इस प्रकार बाँधनी चाहिये कि सरकारी तथा गैरसरकारी पूंजी को उत्पादन

व्यवसाय में लगने का प्रोत्साहन मिले और सामूहिक उपभोग में भी वृद्धि हो। इसमे सक्रिय माँग बढेगी और यह वृद्धि इतनी काफी होगी कि सभी उपलब्ध श्रम को रोजगार मे लगाया जा सकेगा अर्थात् श्रम की पूर्ण बाकारी या रोजन्दारी बनी रहेगी। कुछ भी हो, इस नीति के अनुसार आय तथा रोजगार को बहुत ऊँची सतह पर बनाये रखने के लिये सरकार को बहुत अधिक व्यय करना पडेगा।

कम विकसित देशो में यह अधिकाधिक अनुभव किया जा रहा है कि कर-प्रणाली के महत्वपूर्ण उद्देश्यो में से एक उद्देश्य यह होना चाहिये कि इसमे इन देशो के विकास कार्यक्रम की वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति करने मे सुविधा हो सके। कर-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए जिससे मुद्रा-स्फीति की स्थिति पैदा होने मे रोकते हुए उपयुक्त गति से पूंजी-निर्माण मे सहायता मिल सके। सारी स्थिति को ध्यान मे रखते हुए यह प्रतीत होता है कि सबसे उपयुक्त कर प्रणाली वह होगी जिसमे सरकारी क्षेत्र मे पूंजी लगाने के लिए समस्त उपलब्ध साधनो मे वृद्धि होगी और निजी उद्योग-क्षेत्र मे जहाँ तक सभव हो अपेक्षाकृत कम पूंजी लगायी जा सके। इसलिए इसके साथ सभी वर्गो द्वारा उपभोग के क्षेत्र में यथासभव आत्म-नियत्रण की आवश्यकता पडती है।

इन उद्देश्यो के साथ अक्सर कुछ और बाते भी शामिल कर दी जाती है जैसे धनी वर्ग की आय का निर्धन वर्ग में पुन वितरण आदि।

अध्याय ५१

राजकीय खर्च

(The Role of Public Expenditure)

राजकीय खर्च का वर्गीकरण (Classification of Public Expenditure)--राजकीय खर्च के वर्गीकरण के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्र एकमत नहीं है। त्येक लेखक ने अपना अलग वर्गीकरण किया है।

जिस शासन मे सब शक्ति केन्द्रित सरकार के हाथ मे रहती है, उसमे पहला वर्गीकरण राष्ट्रीय और स्थानीय वर्गीकरण के वीच मे किया जाता है। सघ शासन मे खर्च के तीन वर्ग होते है--सघीय खर्च, राज्यो का खर्च और स्थानीय खर्च। जो खर्च केन्द्रीय शासन द्वारा किये जाते है, जैसे कि सुरक्षा, न्याय इत्यादि, उन्हे राष्ट्रीय खर्च कहा जात है। परन्तु जो खर्च किसी एक स्थान मे उसी से सम्बन्धित किसी बात पर किया जात है, उसे स्थानीय खर्च कहते है। जैसे कि किसी स्थान मे पानी और प्रकाश इत्यादि के प्रवन्ध पर जो खर्च किया जायगा, वह स्थानीय खर्च कहा जायगा। सघ शासन में खर्च के दो प्रधान मद होते हैं, एक सघ शासन का और दूसरा राज्य की उन इकाइयो क जो मिलकर सघ बनाते हैं। इन दोनो मे से कौन अधिक महत्वपूर्ण है, यह बात इस प निर्भर करती है कि शासन में सब को अधिक महत्व प्राप्त है अथवा राज्यो को। जि खर्चो से सघ के सब राज्यो को लाभ पहुँचता है, उन्हे सघीय खर्च कहा जाता है, जैं कि सुरक्षा, डाक ओर तार, केन्द्रीय शासन और दूतावास इत्यादि परराष्ट्र विभा सम्बन्धी खर्च। परन्तु जो सघ के किसी राज्य द्वारा केवल अपने शासन के सम्बन्ध किये जाते है, उन्हे राज्य सम्बन्धी खर्च कहा जाता है, जैसे कि पुलिस, शिक्षा, जे. इत्यादि। खर्च के कुछ मद ऐसे होते है, जो स्थानीय और राष्ट्रीय दोनो सूचियो में आते हैं और उनके विषय में यह कहना कठिन हो जाता है कि कहाँ तक वे स्थानीय है और कहाँ तक राष्ट्रीय। फिर भी शासन और कर-नीति की दृष्टि से इस प्रकार का भेद और वर्गीकरण आवश्यक है।

कान (Cohn) के सुझाव के आधार पर प्लेन (Plehn) ने एक वर्गीकरण किया है, जिसका आधार यह है कि खर्च से नागरिको को कितना लाभ पहुँचता है। उसने खर्च को चार भागों में बाँटा है। पहला खर्च वह है, जिससे सब नागरिको को समान लाभ पहुँचता है, जैसे कि सुरक्षा, शासन, सड़कें इत्यादि। दूसरा, वे खर्च

प्लेन का वर्गीकरण।

जिनसे कुछ वर्गों को विशेष लाभ पहुँचता है। यह लाभ इन वर्गों की शक्तिहीनता के कारण दिया जाता है। गरीबों को सहायता, वृद्धों को पेंशन इस प्रकार के खर्च के उदाहरण है। तीसरे प्रकार के खर्च वे है, जिनसे कुछ लोगों को विशेष लाभ होता है और सब लोगों को कुछ-न-कुछ लाभ मिलता है। न्याय शासन इसका उदाहरण है। चौथे प्रकार के खर्च वे है, जिनसे व्यक्तियों को एक विशेष लाभ प्राप्त होता है। सार्वजनिक कारखाने इसके उदाहरण है। लेकिन विशेष लाभ और सार्वजनिक (common) लाभ में स्थायी और दृढ अन्तर नहीं है। सामाजिक उन्नति के साथ-साथ एक प्रकार का लाभ दूसरे प्रकार मे बदल सकता है।

डॉल्टन का वर्गीकरण।

डॉल्टन का मत है कि सार्वजनिक खर्चों को दो वर्गों मे बाँटना चाहिये। एक वे जिनसे देश के सामाजिक जीवन की रक्षा बाह्य और आन्तरिक आक्रमणों से होती है। और दूसरे वे जिनमे सामाजिक जीवन की उन्नति होती है। इसमे भी कठिनाई यह है कि कुछ खर्चों को छोडकर बाकी या तो एक वर्ग मे रखे जा सकते है या दूसरे वर्ग में। यह साफ-साफ नही कहा जा सकता कि कौन खर्च सामाजिक सुरक्षा बनाये रखते है और कौन खर्च सामाजिक उन्नति करते है।

उत्पादन और अनुत्पादन खर्च।

खर्च उत्पादक भी हो सकते है और अनुत्पादक भी। परन्तु इस प्रकार के वर्गीकरण मे यह प्रश्न उठ सकता है कि उत्पादन शक्ति के जाँचने का मापदण्ड क्या है? यदि हम लाभ को उत्पादन शक्ति का पैमाना माने, तब बहुत से खर्च अनुत्पादक कहे जावेंगे, यद्यपि उनके द्वारा सामाजिक लाभ बहुत से होते है। भारत मे सिंचाई के बहुत से साधन है, जिन पर हानि ही होती है, लाभ नही। इनका प्रधान उद्देश्य दुष्कालो से रक्षा करना है। इसलिये हम इस खर्च को अनुत्पादक खर्च नही कह सकते। उत्पादन शक्ति का सबसे अच्छा पैमाना या मापदड शायद रोबिन्सन ने दिया है।[1] उसके मतानुसार "कोई भी सरकारी खर्च जिससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से देश के प्राकृतिक साधनो या मानव शक्ति की उन्नति होती है अथवा उनका अधिक अच्छा उपयोग होता है तो उससे देश की उन्नति होगी और सम्पत्ति बढेगी। और इस प्रकार अन्त मे उस खर्च की लागत पूरी हो जायगी। अर्थात् वह खर्च अदा हो जायगा। इसमे एक शर्त यह है कि अधिक खर्च से जो लाभ होगा वह अधिक करो द्वारा होनेवाली हानि से कम न हो। इस प्रकार आवागमन और यातायात के साधनो पर, शिक्षा पर, सार्वजनिक स्वास्थ्य पर और कारखानो मे श्रमिको की समुन्नति पर जो खर्च किया जाता है, वह

[1] *Robinson*, Public Finance, p. 7.

दीर्घकाल में उत्पादक होता है। इस मापदण्ड के अनुसार शान्तिकाल में शस्त्रीकरण और युद्ध पर जो खर्च किया जाता है, उसका अधिकांश अनुत्पादक होता है, क्योंकि वह अधिक सम्पत्ति के लिये नही, बल्कि उसको नष्ट करने के लिये किया जाता है।

डॉल्टन ने वर्गीकरण का दूसरा आधार दिया है—एक अनुदान (grants) और दूसरा क्रय मूल्य (purchase prices) अथवा खरीद की कीमतें। यदि

अनुदान और क्रय मूल्य

कोई खर्च किया जाय और उसके बदले मे उतनी ही कोई वस्तु या सेवा मिल जाय तो उसे क्रय मूल्य कहते हैं और यदि खर्च के बदले मे कोई वस्तु न मिले तो उसे अनुदान कहा जायगा। सरकारी नौकरो, सैनिको और ठेकेदारो को जो वेतन और रुपया दिया जाता है, उसे क्रय-मूल्य कहते है। परन्तु गरीबो को सहायता और बूढ़ो को पेंशन इत्यादि के रूप मे जो रुपया खर्च किया जाता है, उसे अनुदान कहते है। अनुदान रुपया और सेवाएँ दोनो रूप मे हो सकता है, जैसे कि मुफ्त मे शिक्षा और दवा इत्यादि देना भी अनुदान है।

उत्पादन पर खर्च का परिणाम (Effect of Expenditure on Production)—बहुत से लोगो का मत है कि सरकार जो भी खर्च करती है, वह अनुत्पादक होता है। परन्तु यह मत कुछ महत्वपूर्ण बातो पर विचार नही करता। पहली बात तो यह है कि सरकार का बहुत-सा खर्च सम्पत्ति का एक व्यक्ति समूह से दूसरे व्यक्ति समूह को केवल परिवर्तन मात्र है। जैसे कि सरकारी ऋणो पर व्याज, वृद्धो को पेंशन इत्यादि। दूसरे, सार्वजनिक शिक्षा और स्वास्थ्य पर जो खर्च किया जाता है, उससे लोगो की कार्यक्षमता प्रत्यक्ष रूप से बढ़ती है। फिर कुछ सरकारी खर्च ऐसे होते है, जिनसे देश की अधिक सम्पत्ति उत्पन्न करने की शक्ति बढ़ती है। रेल, तार और डाक इस श्रेणी में आते है। इनका सबसे अच्छा प्रबन्ध केवल सरकार ही कर सकती है। अन्त मे कुछ ऐसे खर्च होते है, जिन्हे केवल सरकार ही अपने सिर पर ले सकती है, गैर-सरकारी कम्पनियाँ नही ले सकती। जिस देश की आबादी घनी नही है, उस देश मे कोई गैर-सरकारी कम्पनी रेले बनाकर लाभ नहीं उठा सकती, यद्यपि अन्त मे देश को उनसे अमित लाभ और उन्नति होगी। ऐसे मदो पर केवल सरकार ही खर्च कर सकती है।

जहा तक खर्च का काम करने और बचत करने (ability to work and save) की शक्ति पर प्रभाव का प्रश्न है, तो यह कहा जा सकता है कि उससे इस प्रकार की योग्यता बढती है। सरकारी खर्च का काफी अंश शिक्षा पर, सस्ते मकान बनवाने पर, रहन-सहन का खर्च कम करने पर, बच्चो को स्कूल में पौष्टिक आहार देने पर, और शारीरिक तथा मानसिक विकास के साधनो इत्यादि पर होता है और उससे सारे देश की उत्पादन शक्ति बढती है। परन्तु यह बात हम एकदम निश्चित रूप से उस खर्च के सम्बन्ध मे नही कह सकते, जिसका प्रभाव काम करने की और बचत

करने की इच्छा पर पडता है। जब मजदूरो को यह मालूम होता है, कि बुढापे में उन्हे सरकार की ओर से पेंशन मिलेगी, तो उनकी बचत करने की इच्छा कम हो सकती है। लेकिन जब आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में कोई शर्त लगा दी जाती है, जैसे कि आर्थिक सहायता केवल बीमारी के समय मिल सकती है, इससे काम करने और बचत करने की इच्छा कम न होगी। यदि ऐसा प्रबन्ध किया जा सके कि जो व्यक्ति अधिक काम करेगा, उसे अधिक सरकारी सहायता मिलेगी तो उसमे काम करने की इच्छा बढेगी। परन्तु सब बातो पर विचार करके डाल्टन इस नतीजे पर पहुँचता है कि अनुदान मिलने की आशा के फलस्वरूप उत्पादन मे थोडी-सी कमी की सम्भावना हो सकती है।

आर्थिक साधनों के पुनर्वितरण के प्रभाव।

अन्त मे राजकीय या सरकारी खर्च के परिणामस्वरूप आर्थिक साधनो का एक उद्योग से दूसरे उद्योग मे और एक पेशे मे दूसरे पेशे मे जाने का प्रश्न उठता है और इस सम्बन्ध मे अन्तिम रूप मे निश्चयपूर्वक कुछ नही कहा जा सकता। उन सब बातो पर अधिक सरकारी खर्च करना आवश्यक है, जिनसे कि देश के साधनों का वितरण विभिन्न पेशो और उद्योगो मे इस प्रकार होता है कि देश मे पूर्ण ब्राकारी बनी रहती है। इस नियम का ज्ञान न होने के कारण के बहुत से साधन ऐसे कामो और स्थानो मे चले जाते है, जिनसे कोई लाभ नही होता। युद्ध सम्बन्धी उद्योगो पर जो खर्च किया जाता है, वह इसी प्रकार के लाभ-रहित खर्च की श्रेणी मे आता है। यही बात उन उद्योगो को सरक्षक आर्थिक सहायता देने मे लागू होती है, जिनके लिये देश मे प्राकृतिक सुविधाएँ नही है। परन्तु एक बात ध्यान मे रखनी आवश्यक है। सब राजकीय खर्चो पर केवल आर्थिक दृष्टि से विचार करना उचित नही है। कुछ अन्य कारण भी हो सकते है, जो आर्थिक कारणो के बराबर अथवा उनसे भी अधिक महत्वपूर्ण हो।

वितरण पर राजकीय खर्च का प्रभाव (Effect of Public Expenditure on Distribution)—इस पुस्तक मे कई स्थानो पर यह कहा गया है कि अधिकतम सतोष या तुष्टि के दृष्टिकोण से यह वाछनीय होगा कि असमानता की मात्रा में और कमी होनी चाहिये। जितनी असमानता इस समय देखने में आती है, उससे कम होनी चाहिये। अब प्रश्न यह उठता है कि राजकीय खर्च से असमानता कितनी घटती है। मोटे तौर से खर्च को दो भागो मे बाँटा जा सकता है—एक खर्च वह जिससे व्यक्तियो को लाभ पहुँचता है और दूसरा वह जिससे सारे समाज को लाभ पहुँचता है।

पहले प्रकार के खर्च मे ऐसी कई बाते होती है, जिससे प्रत्यक्ष रूप मे या सीधे तरीके से गरीबो के पास सम्पत्ति का परिवर्तन या हस्तान्तर होता है। आय पर बढते हुए क्रम से कर लगाना और वृद्धो को पेंशन देना, इस प्रकार का प्रत्यक्ष परिवर्तन है। परन्तु ये प्रत्यक्ष परिवर्तन मुद्रा के रूप में बहुत कम होती है। परिवर्तन के अधिक प्रचलित

तरीके ये होते है कि गरीब वर्गों को मुफ्त में वस्तुएँ और सेवाएँ दी जाती है जैसे कि मुफ्त चिकित्सा का प्रवन्ध, मुफ्त शिक्षा का प्रवन्ध इत्यादि। इसमे भी प्रभाव वही पडता है, अर्थात् धनिको के खर्च पर गरीबो को लाभ होता है। असमानता घटती है और तुष्टि की कुल मात्रा बढती है।

जिन खर्चो से देश के किसी एक स्थान के सब लोगो को लाभ पहुँचता है, जैसे कि अच्छी सडको द्वारा अथवा किसी शहर मे मुफ्त मे पानी मिलने से, उनसे सम्पत्ति के वितरण पर प्रभाव तो अवश्य पडता है। परन्तु यह जानना बहुत कठिन है कि अलग-अलग लोगो पर व्यक्तिगत रूप मे कितना और कैसा प्रभाव पडता है।

परन्तु राजकीय खर्च द्वारा सम्पत्ति का पुनर्वितरण करने के प्रयत्न मे एक बडा खतरा यह रहता है कि बचत की मात्रा मे कमी हो जायगी। जिन लोगो पर कर लगेगा, उनकी बचत कमेगी और जिन लोगो को इस खर्च से लाभ मिलेगा उनकी बचत भी कमेगी। यदि बचत की मात्रा मे कमी होती है, तो भविष्य मे वितरण के लिये और भी कम मात्रा प्राप्त होगी। खर्च के प्रभावो और परिणामो के सम्बन्ध मे कालविन कमेटी का मत है कि "उत्पादन और वितरण पर खर्च के जो प्रभाव होते है, उनमे आपस मे सघर्ष मालूम होता है। परन्तु वास्तव मे कुछ हद तक सघर्ष नही होता। कठिनाई यह जानने मे होती है, कि दोनो के बीच मे सतुलन कहाँ किया जाय।"[1] राजकीय खर्च का उद्देश्य अधिक से अधिक सामाजिक लाभ होना चाहिये और सब प्रकार के राजकीय खर्च पर इसी दृष्टिकोण से विचार करना चाहिये।

---

[1] *Colwyn*, Committee Report, p 105.

अध्याय ५२

राजकीय आय के साधन
(Sources of Public Income)

राजकीय आय के साधन—मरकार की आय एक तो करो द्वारा होती है ओर दूसरे करो के सिवा अन्य जरियो मे भी हो सकती है। अन्य जरियो या साधनो को हम इन श्रेणियो मे बांट सकते है—(क) शुल्क (fees), (ख) मूल्य (prices), (ग) विशेष निर्धारण (special assessments), (घ) जुरमाना अथवा आर्थिक दड (fines and penalties)। कुछ आय उपहारो के रूप में हो सकती है, परन्तु इसकी मात्रा नगण्य होती है।

कर किसी व्यक्ति की सम्पत्ति पर वह अनिवार्य वसूली होती है, जो सरकार बदले मे बिना किसी लाभ का आश्वासन दिये उससे लेती है। इसलिये जैसा कि हम यहाँ देखेगे, एक अनिवार्य अदाई होती है, और वह मूल्य से भिन्न होती है। दूसरी विशेषता यह है कि व्यक्ति को कर से चाहे कोई लाभ मिले, या न मिले, पर उसे कर देना ही पडेगा।" "कर मे और सरकार द्वारा ली जानेवाली अन्य वसूलियो मे अन्तर रहता है। कर का सार यह रहता है कि करदाता और सरकार मे इस प्रकार का कोई समझौता नही रहता कि कर के बदले मे करदाता को सरकार प्रत्यक्ष रूप मे कुछ देगी।" एक धनी व्यक्ति यह कहकर, कर नही टाल सकता, चूंकि उसके बच्चे नही है, इसलिये वह सार्वजनिक शिक्षा सम्बन्धी कर नही देगा। कर सार्वजनिक हित के लिये दिया जाता है। सरकार सब कर दाताओ की एक समान भलाई करती है। यह तर्क स्वीकार नही किया जा सकता कि कर दाता को जितना लाभ प्राप्त हो, उसी के अनुपात मे उससे कर लेना चाहिये।

सरकार कुछ व्यक्तियो के लिये कुछ विशेष प्रकार की सेवाएँ करती है और बदले मे उनसे शुल्क (fees) लेती है। सेवाएँ प्राय नियत्रण और नियमन (control and regulation) के सम्बन्ध मे की जाती है। शुल्क और कर मे यह अन्तर होता है कि शुल्क देनेवाला किसी लाभ विशेष के बदले मे यह शुल्क देता है, परन्तु कर सार्वजनिक हित के लिए दिया जाता है। शुल्क की मात्रा सेवा की लागत के बराबर होनी चाहिये। अर्थात शुल्क प्राय लाभ विशेष के अनुपात मे होती है। परन्तु वास्तविक व्यवहार में शुल्क सेवा की लागत से अधिक होता है।

सेवाओ और वस्तुओ की बिक्री से सरकार को जो आय होती है, उसे मूल्य (price) कहते है। कभी-कभी सरकार साधारण व्यवसायी की तरह कई प्रकार

के व्यवसाय करती है और इन व्यवसायो की बिक्री से जो आय होती है, उसे कीमत कहते है। सरकार अपने जगलो से सागौन की लकडी और अपने कारखानो से नमक बेचती है। कर के समान मूल्य देना अनिवार्य नही होता। यदि हम पोस्टकार्ड न खरीदे अथवा रेल-यात्रा न करें तो हम सरकार को मूल्य देने के लिये बाध्य नहीं होते। जो लोग इन वस्तुओ और सेवाओ से लाभ नही उठाते उन्हे मूल्य देने के लिये बाध्य नहीं होना पडता। यदि किसी विशेष प्रकार के लाभ का उपयोग किया जाय तो उसके लिये भी मूल्य देना पडता है। जिस सेवा के लिये शुल्क दिया जाता है, वह सेवा जनता के लिये अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती है, बनिस्वत उस सेवा के जिसके लिये 'मूल्य' दिया जाता है। शुल्क मे मूल्य की अपेक्षा सार्वजनिक हित अधिक निहित होता है।

जब स्थावर सम्पत्ति अर्थात् भूमि (real property) मे सरकार के प्रयत्नो द्वारा कोई सुधार या तरक्की होती है और उस सुधार के लिये भूमि का स्वामी सरकार को कुछ द्रव्य देता है, तो उसे विशेष निर्धारण (special assessment) कहते है। यदि इम्प्रूवमेट ट्रस्ट किसी मुहल्ले मे एक पार्क बनाता है, तो आस-पास की भूमि या मकानो का मूल्य बढ जाता है और इस प्रकार उन मकान-मालिको को लाभ होता है। इस लाभ के परिणामस्वरूप यदि ट्रस्ट इन मकान-मालिको से कोई कर वसूल करता है तो उसे "विशेष निर्धारण" कहेगे। यह कर या द्रव्य उसी विशेष लाभ के लिये दिया जाता है और उसी के अनुपात मे दिया भी जाता है। यह ध्यान रहे कि जो सुधार किया जाय, वह सार्वजनिक हित के उद्देश्य से किया जाय।

राजकीय आय के इन विभिन्न साधनो के बीच मे साफ-साफ अन्तर जानना हमेशा आसान नही होता। शुल्क और कीमतो को करो से अलग पहचानने मे प्राय. कठिनाई होती है। जब कभी सरकार शुल्को की दर सेवाओ की लागत से अधिक रख देती है, तो वे लगभग करो के समान हो जाते है। भारत मे अदालतो के शुल्क का उपयोग कुछ हद तक उत्तराधिकार की सम्पत्ति पर कर लगाने के लिये किया जाता है। यदि किसी व्यवसाय मे सरकार का एकाधिकार है, तो सरकार कीमत इतनी अधिक बढा सकती जितनी कि प्रतियोगिता की परिस्थितियो मे कभी न बढती। फ्रास की सरकार तम्बाकू के उत्पादन के सम्बन्ध मे एकाधिकार प्राप्त थे। उसने इन अधिकारो उपयोग इस प्रकार किया कि उसे बहुत लाभ हुआ। इन परिस्थितियो मे सरकार कीमत लेती है, वह कर के समान हो जाती है। इसलिये यह कहना ठीक ही है कि शुल्क और मूल्य एक दूसरे मे घुलते-मिलते रहते है।

———

अध्याय ५२

राजकीय आय के साधन
(Sources of Public Income)

राजकीय आय के साधन---सरकार की आय एक तो करो द्वारा होती है और दूसरे करो के सिवा अन्य जरियो से भी हो सकती है। अन्य जरियो या साधनो को हम इन श्रेणियो मे बाँट सकते है---(क) शुल्क (fees), (ख) मूल्य (prices), (ग) विशेष निर्धारण (special assessments), (घ) जुरमाना अथवा आर्थिक दड (fines and penalties)। कुछ आय उपहारो के रूप मे हो सकती है, परन्तु इसकी मात्रा नगण्य होती है।

कर किसी व्यक्ति की सम्पत्ति पर वह अनिवार्य वसूली होती है, जो सरकार बदले मे बिना किसी लाभ का आश्वासन दिये उससे लेती है। इसलिये जैसा कि हम यहाँ देखेंगे, एक अनिवार्य अदाई होती है, और वह मूल्य से भिन्न होती है। दूसरी विशेषता यह है कि व्यक्ति को कर से चाहे कोई लाभ मिले, या न मिले, पर उसे कर देना ही पड़ेगा।" "कर मे और सरकार द्वारा ली जानेवाली अन्य वसूलियो मे अन्तर रहता है। कर का सार यह रहता है कि करदाता और सरकार मे इस प्रकार का कोई समझौता नही रहता कि कर के बदले मे करदाता को सरकार प्रत्यक्ष रूप मे कुछ देगी।" एक धनी व्यक्ति यह कहकर, कर नही टाल सकता, चूंकि उसके बच्चे नही है, इसलिये वह सार्वजनिक शिक्षा सम्बन्धी कर नही देगा। कर सार्वजनिक हित के लिये दिया जाता है। सरकार सब कर दाताओ की एक समान भलाई करती है। यह तर्क स्वीकार नही किया जा सकता कि कर दाता को जितना लाभ प्राप्त हो, उसी के अनुपात मे उससे कर लेना चाहिये।

सरकार कुछ व्यक्तियो के लिये कुछ विशेष प्रकार की सेवाएं करती है और बदले मे उनसे शुल्क (fees) लेती है। सेवाएँ प्राय नियन्त्रण और नियमन (control and regulation) के सम्बन्ध मे की जाती हैं। शुल्क और कर मे यह अन्तर होता है कि शुल्क देनेवाला किसी लाभ विशेष के बदले मे यह शुल्क देता है, परन्तु कर सार्वजनिक हित के लिए दिया जाता है। शुल्क की मात्रा सेवा की लागत के बराबर होनी चाहिये। अर्थात् शुल्क प्राय लाभ विशेष के अनुपात मे होती है। परन्तु वास्तविक व्यवहार मे शुल्क सेवा की लागत से अधिक होता है।

सेवाओ और वस्तुओ की बिक्री से सरकार को जो आय होती है, उसे मूल्य (price) कहते है। कभी-कभी सरकार साधारण व्यवसायी की तरह कई प्रकार

के व्यवसाय करता है और इन व्यवसायो की बिक्री से जो आय होती है, उसे कीमत कहते है। सरकार अपने जगलो से सागौन की लकडी और अपने कारखानो से नमक बेचती है। कर के समान मूल्य देना अनिवार्य नही होता। यदि हम पोस्टकार्ड न खरीदे अथवा रेल-यात्रा न करें तो हम सरकार को मूल्य देने के लिये वाध्य नही होते। जो लोग इन वस्तुओ और सेवाओ से लाभ नही उठाते उन्हे मूल्य देने के लिये वाध्य नही होना पडता। यदि किसी विशेष प्रकार के लाभ का उपयोग किया जाय तो उसके लिये भी मूल्य देना पडता है। जिस सेवा के लिये शुल्क दिया जाता है, वह सेवा जनता के लिये अधिक महत्वपूर्ण समझी जाती है, बनिस्वत उस सेवा के जिसके लिये 'मूल्य' दिया जाता है। शुल्क मे मूल्य की अपेक्षा सार्वजनिक हित अधिक निहित होता है।

जब स्थावर सम्पत्ति अर्थात् भूमि (real property) मे सरकार के प्रयत्नो द्वारा कोई सुधार या तरक्की होती है और उस सुधार के लिये भूमि का स्वामी सरकार को कुछ द्रव्य देता है, तो उसे विशेष निर्धारण (special assessment) कहते है। यदि इम्प्रूवमेट ट्रस्ट किसी मुहल्ले मे एक पार्क बनाता है, तो आस-पास की भूमि या मकानो का मूल्य बढ जाता है और इस प्रकार उन मकान-मालिको को लाभ होता है। इस लाभ के परिणामस्वरूप यदि ट्रस्ट इन मकान-मालिको से कोई कर वसूल करता है तो उसे "विशेष निर्धारण" कहेगे। यह कर या द्रव्य उसी विशेष लाभ के लिये दिया जाता है और उसी के अनुपात मे दिया भी जाता है। यह ध्यान रहे कि जो सुधार किया जाय, वह सार्वजनिक हित के उद्देश्य से किया जाय।

राजकीय आय के इन विभिन्न साधनो के बीच मे साफ-साफ अन्तर जानना हमेशा आसान नही होता। शुल्क और कीमतो को करो से अलग पहचानने मे प्राय. कठिनाई होती है। जब कभी सरकार शुल्को की दर सेवाओ की लागत से अधिक रख देती है, तो वे लगभग करो के समान हो जाते है। भारत मे अदालतो के शुल्क का उपयोग कुछ हद तक उत्तराधिकार की सम्पत्ति पर कर लगाने के लिये किया जाता है। यदि किसी व्यवसाय मे सरकार का एकाधिकार है, तो सरकार कीमत इतनी अधिक बढा सकती है जितनी कि प्रतियोगिता की परिस्थितियो मे कभी न बढती। फ्रास की सरकार को तम्बाकू के उत्पादन के सम्बन्ध मे एकाधिकार प्राप्त थे। उसने इन अधिकारो का उपयोग इस प्रकार किया कि उसे बहुत लाभ हुआ। इन परिस्थितियो में सरकार जो कीमत लेती है, वह कर के समान हो जाती है। इसलिये यह कहना ठीक ही है कि कर, शुल्क और मूल्य एक दूसरे मे घुलने-मिलते रहते है।

अध्याय ५३

कर-नीति के सिद्धान्त
(Principles of Taxations)

ऑडम स्मिथ के कर-नीति के सिद्धान्त (Adam Smith's Canons of Taxation)—आधुनिक राजनीतिक अर्थशास्त्र के जनक ऑडम स्मिथ ने कर-नीति के सम्बन्ध मे कुछ नियम निर्धारित किये है। अर्थशास्त्र पर प्रत्येक पुस्तक में उनकी विवेचना आवश्यक है, नही तो वह पुस्तक अपूर्ण समझी जावेगी।

(१) योग्यता अथवा समानता के सिद्धान्त (Principle of Ability or Equality)—"प्रत्येक राज्य की प्रजा को अपनी योग्यता के अनुपात मे राज्य-शासन के लिये कर देना चाहिये। योग्यता के अनुपात का अर्थ यह है कि राज्य की सुरक्षा के अन्तर्गत कितनी आय होती है।"

इस सिद्धान्त के अनुसार ऑडम स्मिथ ने कर देने का आधार देने की शक्ति या योग्यता रखी। अर्थात् कर देने मे सबको एक समान त्याग करना पडेगा। जाहिर है कि एक धनी व्यक्ति किसी गरीब की अपेक्षा अधिक ऊंचे अनुपात मे कर दे सकता है। इसलिये कर प्रणाली क्रमश प्रगतिशील होनी चाहिये। परन्तु इस सिद्धान्त के अर्थ या अभिप्राय के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो मे एकमत नही है। कुछ लोगो का मत है कि ऑडम स्मिथ का अभिप्राय यह था कि कर प्रणाली प्रगतिशील होनी चाहिये। इसके समर्थन में वे कहते है कि अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राष्ट्रो की सम्पत्ति (Wealth of Nations) में, जिसमे ऑडम स्मिथ ने इन सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है, आगे के भाग में लिखा है कि "यह अनुचित नही है कि धनी लोग करो के रूप मे न केवल अपनी आय के अनुपात मे दें, बल्कि अनुपात से कुछ अधिक देना चाहिये।" परन्तु अन्य लोग अनुपात शब्द पर जोर देते है, जिसे उसने अपने सिद्धान्त मे उपयोग किया है और यह तर्क पेश करते है कि उसने आनुपातिक-कर व्यवस्था के सिद्धान्त का समर्थन किया।

(२) निश्चितता का सिद्धान्त (Principle of Certainty)—"जो कर प्रत्येक व्यक्ति के लिये देना आवश्यक है, वह निश्चित होना चाहिये, मनमाना नही। कर दाता को तथा अन्य सब लोगो को कर की मात्रा तथा देने का समय इत्यादि सब बातें साफ-साफ मालूम रहनी चाहिये।"

जिस व्यक्ति को एक वर्ष में जितना कर देना है, वह उसे साफ-साफ मालूम होना चाहिये, जिससे कि कर देने के पश्चात् वह अपनी आय और खर्च मे ठीक-ठीक हिसाब बैठा सकें।

राज्य को भी निश्चित रूप से मालूम होना चाहिये कि कर के रूप मे उसे कितना धन प्राप्त होगा, जिससे कि वह अपना बजट सतुलित कर सके।

(३) सुविधा का सिद्धान्त (Principle of Convenience)—"प्रत्येक कर इस प्रकार लगाना चाहिये और ऐसे समय लगाना चाहिये कि देनेवाले को अधिक से अधिक सुविधा मिल सके।"

इस नियम का महत्व स्वयसिद्ध है। यदि इसका पालन न किया जाय तो कर दाता को अनावश्यक कष्ट होगा। जैसे कि जमीन पर लगान या कर फसल आने के बाद लेना चाहिये।

(४) बचत का सिद्धान्त (Principle of Economy)—"प्रत्येक कर इस प्रकार लगाया जाय कि जो कुछ सरकारी खजाने मे जाय, उसके सिवा लोगो की जेब से कम से कम खर्च हो।"

इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि कर वसूल करने का खर्च कम से कम हो। कर एकत्रित करने मे कम से कम खर्च हो और साथ ही शासन-शक्ति ढीली न पडने पावे। यदि किसी कर के वसूल करने मे ही उसका अधिकतर भाग खर्च हो जाय तो यह अनुचित होगा। इसी कारण से प्रत्येक देश मे आय-कर की एक सीमा बॉध दी जाती है और उस सीमा से नीची आय पर कर नही लगाया जाता।

इन सिद्धान्तों की समीक्षा (An Examination of Canons)—सबसे पहले हमे पहले सिद्धान्त और बाकी तीन सिद्धान्तो में जो भेद है, उसे समझाना चाहिये। पहला नियम कर-नीति से सम्बन्ध रखता है और बाकी तीन करो के शासन सम्बन्धी बातो से सम्बन्ध रखते है।

समानता और योग्यता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि वह अपना आशय साफ-साफ जाहिर नही करता। वह किसी सुनिश्चित सिद्धान्त के आधार पर नही बना है, बल्कि वह कुछ अशो मे नैतिक और कुछ अशो मे आर्थिक विचारो के आधार पर बना है। चूंकि वह कर-नीति मे न्याय या औचित्य पर विचार करता है, इसलिये वह कुछ अशो मे नैतिक है और चूंकि वह कर दाता की आर्थिक-शक्ति पर विचार करता है कि राज्य की सुरक्षा में कर दाता की आय क्या है, इसलिये वह आर्थिक है। यह सिद्धान्त योग्यता का कोई मापदण्ड नही बतलाता, इसलिये उसका आशय साफ जाहिर नही होता। इसके सिवा, योग्यता का अर्थ कभी-कभी त्याग करने की शक्ति की समानता लगाया जाता है। परन्तु इससे कुछ कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है। इस अर्थ को स्वीकार करने से हम एक ठोस मापदड से भाववाचक और मनोवैज्ञानिक मापदण्ड पर पहुँच जाते है। फिर यह सिद्धान्त साफ-साफ यह भी नही बतलाता कि हमें अनुपात के सिद्धान्त के आधार पर चलना है अथवा प्रगतिशील या घटते हुए क्रम के सिद्धान्त के आधार पर।

यद्यपि निश्चयता और सुविधा के सिद्धान्त बहुत अच्छे और मूलतः महत्वपूर्ण हैं, परन्तु आजकल उनका महत्व अपेक्षाकृत कम हो गया है। जिस कर प्रणाली में इन दोनों नियमों का समावेश नहीं रहेगा, वह अपूर्ण व दोषपूर्ण मानी जावेगी। परन्तु कुछ सिद्धान्त इनसे कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं, जिन्हें ऑडम स्मिथ को अपनी विवेचना में शामिल करना चाहिये था, परन्तु उसने नहीं किया। उत्पादन शक्ति (productivity) और लोच (elasticity) के सिद्धान्त उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों से महत्वपूर्ण होते हैं।

अन्त में बचत या मितव्ययता के सिद्धान्त को आजकल अधिक महत्व दिया जाता है। ऑडम स्मिथ ने उसे उतना महत्व नहीं दिया। मितव्ययता से ऑडम स्मिथ का आशय केवल यह था कि कर इकट्ठा करने का खर्च बहुत कम होना चाहिये। सम्भव है कि ऐसी मितव्ययता की दृष्टि से कोई कर-प्रणाली बहुत अच्छी हो। पर साथ ही राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था पर उसके विनाशकारी प्रभाव पड सकते हैं। यदि आय-कर की दरों का क्रम बहुत ऊँचा हो, तो आय-कर इकट्ठा करने में तो बहुत कम खर्च होगा, पर साथ ही राष्ट्रीय विस्तृत दृष्टिकोण से वह बचत या किफायत करनेवाला नहीं होगा, क्योंकि उसका अन्तिम परिणाम यह होगा कि राष्ट्रीय आय गिर जायगी। मितव्ययता-पूर्ण कर-प्रणाली को केवल वर्तमान का विचार नहीं करना चाहिये। उसे भविष्य का भी ध्यान रखना चाहिये। दूसरे शब्दों में कर ऐसा न्यायसंगत रहे कि उसका भार धनिक वर्ग पर बहुत अधिक न पडे, नहीं तो पूँजी की वृद्धि रुक जायगी। इस प्रकार मितव्ययता का सिद्धान्त अन्त में कर के न्याय सिद्धान्त (equity) के साथ बँधा हुआ है। इस सम्बन्ध में इसी अध्याय में आगे विचार किया जायगा।

ऑडम स्मिथ के बाद के लेखकों ने उत्पादन-शक्ति और लोच के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। यहाँ उन पर विचार करना आवश्यक है। करों को उत्पादक होना चाहिये। एक व्यावहारिक अर्थशास्त्री की पहली चिन्ता राज्य के लिये काफी धन प्राप्त करना होती है। वह यह देखता है कि किस कर से कितनी मात्रा मिलेगी। उसकी दृष्टि में सबसे अच्छा कर वह होगा, जिससे होनेवाली आय जनसंख्या और उसकी आय की वृद्धि के साथ-साथ अपने-आप बढती जावे। वस्तुओं पर कर लगाने से यह उद्देश्य पूरा हो जाता है। जनसंख्या में वृद्धि होने से अधिक वस्तुओं का उपभोग होता है और उन वस्तुओं के कर से अधिक आय प्राप्त होती है। कर-नीति का दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि कर लोचदार होना चाहिए।

उत्पादन शक्ति।

राज्य की आवश्यकताओं के अनुसार और कर दाताओं की शक्ति के अनुसार कर में घटने और बढने की शक्ति होनी चाहिये। नहीं तो उस कर से लोगों को कष्ट होगा।

लोच। लोच कोई नया सिद्धान्त नहीं है। वह केवल उत्पादन शक्ति और मितव्ययता के सिद्धान्तो का सम्मिश्रण है। परिवर्तनशीलता या लोच किसी भी कर प्रणाली का बहुत महत्वपूर्ण और वाछनीय गुण है और करो के चुनने मे कोई भी व्यवहार-कुशल अर्थशास्त्री इस गुण के प्रति उदासीन नही हो सकता।

कर-नीति के सिद्धान्त

राज्य उचित रूप में नागरिको से किस प्रकार अपनी आय प्राप्त कर सकता है, इस सम्वन्ध मे और भी कई सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया गया है। इन सिद्धान्तो में जो महत्वपूर्ण है, उनकी हम एक-एक करके विवेचना करेंगे।

(क) **लाभ सिद्धान्त (Benefit Theory)**—इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य के अन्तर्गत प्रत्येक नागरिक को जितना लाभ मिलता है, उसके अनुसार उससे कर लिया जाना चाहिये। सरकार के कार्यो से किसी व्यक्ति को जितना अधिक लाभ मिलता है, उस व्यक्ति को उन कार्यो के खर्च पूरे करने के लिये उतने ही अधिक कर देने चाहिये। राज्य की कुछ सेवाएँ ऐसी होती है, जिनसे कुछ व्यक्तियो को विशेष लाभ होते है और कुछ सेवाएँ ऐमी होती है, जिनसे सब लोगो को एक समान लाभ होता है। कॉन ने इस मोटे आधार पर राजकीय खर्च का वर्गीकरण किया था। लाभ के सिद्धान्त का प्रतिपादन राज्य के कार्यो का एक सकीर्णतापूर्ण व्यक्तिवादी विचार करके किया गया है।

लेकिन केवल इसी सिद्धान्त के आधार पर कर-नीति उचित रूप से नही समझाई जा सकती। हम जानते है कि राज्य सर्वहित के लिये जो कार्य करता है, उसी के लिये कर दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति को मिलनेवाला लाभ अलग-अलग नही मापा जा सकता। उदाहरण के लिये, हमें सेना और पुलिस से जो लाभ मिलता है, उसे हम कैसे नाप सकते है? अथवा एक अच्छी न्याय-प्रणाली से हमे जो लाभ मिलता है, उसे हम कैसे नाप सकते है? कर की जो मात्रा हम देते है, उसका राज्य से हमें मिलनेवाले लाभो से कोई अनुपात नही होता। यदि कोई अनुपात होने लगे, तो फिर वह कर न रहेगा। इसके सिवा इस सिद्धान्त के अनुसार धनियो की अपेक्षा गरीबो को अधिक कर देना पडेगा, क्योकि सरकार से उन्हे अधिक लाभ मिलते है। यह बात बिलकुल अतर्कपूर्ण है। लेकिन एक दृष्टिकोण से इस सिद्धान्त को उचित कह सकते है। वह यह है कि "यदि व्यक्तिगत आधार को छोडकर यह देखा जाय कि राज्य ने कुछ नागरिको को सब मिलाकर

कितना लाभ होता है, तो हम यह कह सकते है कि करो की कुल मात्रा के बदले में राज्य से कुल मिलाकर इतना लाभ होता है।"[1]

(ख) **सेवा की लागत सम्बन्धी सिद्धान्त** (The Cost of Service Principle)—सेवा की लागत सम्बन्धी सिद्धान्त और अधिक व्यक्तिवादी है। इस सिद्धान्त का कहना है कि राज्य जो सेवाएं करता है, उनके वास्तविक खर्च या लागत को पूरा करने के लिये कर लगाये जाते है। डाक महसूल निश्चित करने में, अथवा जहां रेले सरकारी है, वहां रेलो का किराया निश्चित करने मे इस सिद्धान्त का उपयोग किया जा सकता है। अथवा जब राज्य कुछ विशिष्ट प्रकार की सेवाएं करता है, तब इस सिद्धान्त का उपयोग किया जा सकता है। परन्तु अधिकतर करो के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त लागू नही किया जा सकता। जब सब नागरिको की समान रूप मे एक साथ सेवा की जाती है, तब यह कहना कठिन होता है कि प्रत्येक व्यक्ति की कितनी सेवा हुई और उसका खर्च कितना हुआ। अलग-अलग हिसाब लगाना असम्भव है। फिर इस सिद्धान्त के अनुसार वृद्धावस्था की पेंशन पानेवाले को न केवल अपनी पेंशन लौटानी चाहिये, बल्कि उस सम्बन्ध में अर्थात् पेंशनो की व्यवस्था मे जो खर्च होता है, उसका भी कुछ अंश सरकार को लौटाना चाहिये। जाहिर है कि यह बात बिलकुल गलत है। इसलिये इस सिद्धान्त को बहुत पहले त्याग दिया गया था।

(ग) **कर देने की योग्यता का सिद्धान्त** (The "ability to pay" Theory)—इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार राज्य को कर देना चाहिये, जिससे शासन का खर्च पूरा हो सके। शासन-प्रबन्ध एक सार्वजनिक कार्य है और वह सबकी भलाई के लिये चलाया जाता है। इसलिये सब लोगो को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उसकी सहायता करनी चाहिये।

यह बात तो है कि न्याय के सम्बन्ध में हमारे जो विचार है, यह सिद्धान्त उनमे मिलता-जुलता है। परन्तु "देने की योग्यता" की परिभाषा करनी कठिन हो जाती है। किसी व्यक्ति की योग्यता किस प्रकार मापी जाय?

योग्यता का प्रमाण पहले यह समझा जाता था कि सम्पत्ति के आधार पर किसी व्यक्ति की योग्यता मापी जा सकती थी। जिनके पास अधिक सम्पत्ति है, उन्हे अधिक कर देना चाहिये। लेकिन इस बात का अनुभव जल्दी होने लगा कि सम्पत्ति योग्यता का अच्छा प्रमाण नही है। क्योकि ऐसे लोग बहुत से थे, जिनकी

---

[1] "If the relation to the state of citizens en masse rather than the individual tax-payer be considered, there is a sense in which the aggregate of taxes represents payment for the aggregate of collective benefits rendered by the state."

—*Lutz*, Public Finance, p. 295.

ाय बहुत थी, परन्तु उनके पास सम्पत्ति कुछ नही थी। एक व्यक्ति अपने परिश्रम से हुत आय कर सकता है और साथ ही उसे खुले हाथ खर्च भी कर सकता है। वह सम्पत्ति रूप मे उसे सग्रह नही करेगा। एक डॉक्टर अपनी योग्यता से बहुत कमा सकता है, रन्तु साथ ही वह इतना खर्च कर सकता है कि सम्पत्ति के नाम कुछ नही रखेगा। यद्यपि सकी कर देने की योग्यता बहुत अधिक है, परन्तु सम्पत्ति न होने के कारण वह करों बच जायगा। बाद मे यह कहा जाने लगा कि खर्च योग्यता का अधिक अच्छा प्रमाण । जो लोग अधिक खर्च करते है, वे अधिक कर भी दे सकते है। इसलिये यदि यक्तिगत खर्च पर कर लगाया जाय तो उससे योग्यता के सिद्धान्त का पालन हो जायगा। केकिन यह भी कहा जा सकता है कि यदि एक व्यक्ति अधिक खर्च करता है, तो उसका तलब यह नही है कि वह अधिक कर भी दे सकता है। जिस आदमी के ऊपर बहुत से गेग आश्रित है, उसे अधिक खर्च करना ही पडेगा, बनिस्बत उस आदमी के जिस पर कोई आश्रित नही है। जाहिर है कि दूसरे आदमी की अपेक्षा पहले आदमी की कर देने की योग्यता बहुत कम रहेगी। लेकिन यदि खर्च की योग्यता का प्रमाण माना जाय तो पहले आदमी को अधिक कर देना पडेगा। इसे न्यायसगत नही कहा जा सकता। सब बातो को ध्यान मे रखकर किसी व्यक्ति की आय की योग्यता का सबसे अच्छा प्रमाण समझा जाता है। इसलिये आधुनिक कर-प्रणाली मे जिन व्यक्तियो की आय अधिक होती है, उन पर अधिक कर लगाये जाते है और जिनकी आय कम होती है, उन पर करो का भार कम डाला जाता है।

मुद्रा के सिवा अन्य प्रमाण।

फिर भी मुद्रा आय योग्यता का पूर्ण सतोषप्रद प्रमाण नही है। दो व्यक्तियो की एक बराबर मुद्रा आय हो सकती है, परन्तु उनकी कर देने की योग्यता मे अन्तर हो सकता है। उनकी व्यक्तिगत जिम्मेदारियो मे अन्तर हो सकता है। एक व्यक्ति अविवाहित हो सकता है और दूसरे के ऊपर एक बडे कुटुम्ब के पालन करने का भार हो सकता है। तब दोनो व्यक्तियो पर एक ही दर मे कर लगाना ठीक नही होगा। पहले व्यक्ति की आय उसकी सम्पत्ति से हो सकती है और दूसरे आदमी की आय केवल उसके श्रम से। चूंकि दूसरे व्यक्ति के पास कोई सम्पत्ति नही है, इसलिये उसे अपनी आय का एक अश भविष्य के लिये बचाना पडेगा। पहले व्यक्ति को ऐसा करने की आवश्यकता नही है। इसलिये उन दोनो की कर देने की योग्यता मे अन्तर है।

लार्ड स्टाम्प का कहना है कि योग्यता का वास्तविक प्रमाण जानने के लिये व्यक्तियों की मुद्रा-आयो के सिवा हमे निम्नलिखित बातो पर भी विचार करना चाहिये। पहले, जिस समय मे आय की गई, उस पर विचार करना आवश्यक है। सब देशो में प्राय. यह प्रथा है कि आय-कर प्राय गत वर्ष की आय पर लगाया जाता है। जैसे कि सन् १९५० मे जो आय की गई, उस पर सन् १९५१ मे आय-कर लगाया जायगा। परन्तु सम्भव है कि सन् १९५१ मे व्यवसायी को अपने व्यवसाय में हानि हो और वह गत वर्ष के लाभ

३५

पर इस वर्ष कर देने मे समर्थ न हो। इसलिये योग्यता के सिद्धान्त का पालन करने के लिये यह आवश्यक है कि जिस काल मे आय प्राप्त की जाती है, उसी काल में उसके साथ कर लिया जाय। आय-कर के सम्वन्ध में "कमाई के साथ-साथ कर देने" की प्रणाली (Pay as-you-earn system) के समर्थन में यह दलील दी जाती है। दूसरे, आय मे से उत्पादक वस्तुओ के मूल्य ह्रास को पूरा करने के लिये एक अश अलग रखना आवश्यक है, जिससे उत्पादक पूजी का बदलना सम्भव होता जाय। तीसरे यह विचार करना चाहिये कि आय सम्पत्ति से प्राप्त हुई है अथवा व्यक्तिगत श्रम द्वारा जो आय व्यक्तिगत श्रम से प्राप्त हुई है, उसकी अपेक्षा सम्पत्ति मे प्राप्त आय पर अर्थात् बिना श्रम के प्राप्त आय पर अधिक ऊंची दर मे कर लगाना चाहिये। चौथे, कुटुम्ब के आकार अथवा कुटुम्ब के सदस्यो की सख्या का भी ध्यान रखना चाहिये। जिस व्यक्ति पर वडे कुटुम्ब का भार है, उससे कर कम लेना चाहिये, परन्तु जिस पर छोटे कुटुम्ब का भार है, उससे अधिक कर लेना चाहिये। अन्त में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि आय में कुछ अतिरिक्त बचत (surplus) भी शामिल है या नही। आधुनिक आय-कर सम्बन्धी कानून बनाने में इन सब बातों पर विचार किया जाता है और उन्हें स्वीकार किया जाता है।

'योग्यता' का एक दूसरा अर्थ त्याग के आधार पर किया जाता है। इसमें यह मान लिया जाता है कि कर दाता कर देने में त्याग करता है। कर देने में कर दाता को संतोष का त्याग करना पडता है। इस त्याग को बॉटने के दो तरीके बतलाये गये हैं। एक त्याग की समानता का सिद्धान्त और दूसरा न्यूनतम समन्वयात्मक या सामूहिक त्याग (Least Aggregate Sacrifice) का सिद्धान्त। त्याग की समानता (Equality of Sacrifice) के सिद्धान्त के अनुसार कर इस प्रकार लगाना चाहिये कि प्रत्येक कर दाता का त्याग एक बराबर हो। इसलिये यह सिद्धान्त क्रमश प्रगतिशील कर प्रणाली का समर्थक है। परन्तु इस सिद्धान्त के सम्बन्ध मे प्रधान कठिनाई यह है कि किसी कर दाता ने कर के रूप मे जो भावात्मक (subjective) त्याग किया, उसका हिसाब लगाना मुश्किल है।

न्यूनतम सामूहिक त्याग

न्यूनतम सामूहिक त्याग के सिद्धान्त के अनुसार कर-व्यवस्था ऐसी होनी चाहिये कि सब कर दाताओ द्वारा जो कुल त्याग किया जाय वह कम से कम रहे। आजकल सब कर व्यवस्थाओ का प्रधान उद्देश्य अधिकतम सामाजिक कल्याण प्राप्त करना होता है और इस उद्देश्य को पूरा करने का उत्तम तरीका यह है कि समाज को कम से कम त्याग करना पडे। इस सिद्धान्त के पक्ष मे यही तर्क दिया जाता है। यह सिद्धान्त सीमान्त उपयोगिता के नियम के आधार पर बना है। उस नियम के अनुसार आय जितनी अधिक होती जाती है, उसकी उपयोगिता उतनी ही कम होती जाती है। इसलिये जिन लोगो की आय सबसे अधिक है, उनकी आय की अन्तिम इकाई की उपयोगिता भी सबसे कम होगी। इसलिये यदि केवल इन लोगो पर कर लगाया जाय तो त्याग की मात्रा सबसे

न रहेगी। इसलिये राज्य को अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए केवल चोटी के
धिक आय वाले व्यक्तियो पर कर लगाना चाहिए। इस प्रकार इस सिद्धान्त के
नुसार प्रत्येक व्यक्ति को कर नही देना पडेगा। परन्तु इस सिद्धान्त पर अमल करने मे
वसे वडी वाधा यह है कि अन्त मे इससे बचत की मात्रा घटने लगेगी और लोगो मे काम
करने का उत्साह न रह जायगा। यदि आय की एक निश्चित सतह के ऊपर की सब आयो
को कर के रूप मे लिया जाय तो लोग उन आयो को कमाने का प्रयत्न ही न करेगे। इस-
लिये करो का भार क्रमश नीचे की सतहो पर आता जायगा। इससे देश की पूँजी जो
भविष्य मे जमा होती है—घटेगी और उसी के साथ-साथ राष्ट्रीय आय भी घटेगी।
इसलिये न्यूनतम सामूहिक त्याग को प्राप्त करने के लिये राज्य को करो के भार का
वितरण इस प्रकार करना चाहिए कि धनी व्यक्तियो पर बहुत अधिक वोझ न पडे और
वे काम करने तथा वचत करने मे उदासीन न हो। राज्य को सारे देश के वर्तमान तथा
भविष्य दोनो प्रकार के स्वार्थो का ध्यान रखना चाहिये।

कर आर्थिक नीति के साधन के रूप मे (Taxes as an Instrument of Economic Policy)—कर सदैव योग्यता, लाभ या त्याग के सिद्धान्तो
के अनुसार नही लगाये गये है। अनेक वार सरकार ने कर लगाकर अपनी सहायता
योजनाओ को लागू किया है। किसी-न-किसी समय लगभग सभी देशो ने घरेलू उद्योगो
को सरक्षण देने तथा निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिये कर व्यवस्था का उपयोग किया है।
वस्तुओ के आयात को प्रोत्साहन न करने के लिये विदेशो से मँगाये गये सामान पर आयात
कर की ऊँची दरे लागू की गई है, जब कि प्राप्त आय में से निर्यात को प्रोत्साहन देने के
लिये कुछ घरेलू उद्योगो को आर्थिक सहायता दी गई है। अनेक देशो में एक और
सिद्धान्त अपनाया गया है। वह जिन वस्तुओ को अवाछित समझते है और उनके उपभोग
को प्रोत्साहन नही देना चाहते, उन पर कर लगा देते है। उदाहरण के लिये, शराव
पर बहुत अधिक कर लगाया गया है, शराव के समान ही अन्य सभी मादक पदार्थों पर
भी अधिक कर लगाया गया है। इसका उद्देश्य अधिक आय प्राप्त करना नही, बल्कि
उनके उपभोग को कम करना है। हाल मे कर-व्यवस्था के सम्बन्ध मे अन्य सहायक
सिद्धान्तो को अपनाया जा रहा है। गत महायुद्ध के दौरान में सरकार का मुख्य उद्देश्य
यह था कि उपभोग की वस्तुओ मे लगे उत्पादन के साधनो का उपयोग युद्ध के लिये आव-
श्यक सामग्री के उत्पादन मे किया जाय। इसलिये यह आवश्यक समझा गया कि कुछ
ऐसी वस्तुओ के उपभोग मे रोक लगा दी जाय जिनकी युद्ध चलाने मे आवश्यकता थी।
लोगो की आय पर अधिक आय-कर लगाया जा सकता है। कर की ऊँची दर होने से
कर दाताओ के हाथ मे बहुत कम आय बचेगी। इसका परिणाम यह होगा कि उन्हे विवश
होकर [illegible] करनी पडेगी। परन्तु यह हो सकता है कि आय-कर की
[illegible] इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पडे और वह
[illegible] दूसरी नीति
[illegible] सरकार आय कर की ऊँची दर लागू न कर [illegible]

अपनायेगी। वह उन वस्तुओ पर बिक्री-कर की ऊँची दर लागू कर देगी, जिनका वह उपभोग कम कराना चाहती है। इस प्रकार कर-व्यवस्था का शातिकालीन उत्पादन के साधनो को युद्ध-कालीन-उत्पादन मे लगाने के लिये उपभोग किया गया।

कर और पूर्ण रोजगार की स्थिति बनाये रखना (Taxes and the maintenance of full employment)—आजकल व्यवसाय-चक्र के प्रभाव से आय तथा उत्पादन की सतहो मे होनेवाले परिवर्तनो को रोकने के लिये भी कर प्रणाली का उपयोग किया जा रहा है। समाज द्वारा अपनी मुद्रा आय का पूर्ण व्यय न किये जाने के परिणामस्वरूप आर्थिक मदी छा जाती है। करो मे छूट देकर खर्च की इस कमी को पूरा किया जा सकता है। यदि आय-कर की दर घटा दी जाय, यदि व्यवसाय पर लगे करो को कम कर दिया जाय तो लोगो के पास खर्च करने के लिये अधिक रुपया रहेगा और सभवत वह अधिक रुपया व्यय भी करेगे। यदि उपभोग की प्रवृत्ति को बढाना आवश्यक समझा जाय तो सरकार बिक्री-कर की दरे घटा सकती है या वह ऐसी कार्रवाई कर सकती है, जिससे समाज के धनी व्यक्तियो द्वारा चुकाये जाने वाले करो की दर बढा दे और मुख्य रूप से निर्धनो द्वारा दिये जानेवाले करो की दर घटा दे। कर के इस पुर्नवितरण से समाज के निर्धन वर्ग के पास खर्च के लिये अधिक धन आयेगा और उसकी उपभोग की प्रवृत्ति धनी वर्ग की अपेक्षा अधिक होती है। इस प्रकार कर-व्यवस्था को दो उद्देश्यो की पूर्त्ति मे उपभोग मे लाया जा रहा है। एक उद्देश्य तो यह है कि जनता के विभिन्न वर्गो की आय का पहले की अपेक्षा अच्छी तरह बंटवारा हो ओर दूसरा उद्देश्य यह है कि आय तथा रोजगार मे व्यवसाय-चक्र से जो चक्रीय ऊंच-नीच होती है, उसे रोका जाय।

कर-नीति मे अनुपात तथा कमशः प्रगति के सिद्धान्त (Principle of Proportion and Progression in Taxation)—दूसरा प्रश्न यह होता है कि यदि आपको कर-नीति का सही सिद्धान्त मिल जाय तो आप उसकी रीति से करो का वितरण करेगे। इस सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिये कि कर आनुपातिक (Proportional), प्रगतिशील (Progressive) क्रमश घटता हुआ (Regressive) और ह्रासमान प्रगतिशील (Degressive)—चार प्रकार का हो सकता है। इन चारो प्रकारो की परिभाषा करनी आवश्यक है। आनुपातिक कर वह होता है, जिसम आय अथवा सम्पत्ति के मत्य का एक बराबर प्रतिशत भाग ले लिया जाता है, चाहे आय की मात्रा कुछ भी हो। आय की मात्रा चाहे जितनी हो, परन्तु यदि आय पर १० प्रतिशत कर लगा दिया जाय तो वह आनुपातिक कर होगा। प्रगतिशील कर से आय अथवा सम्पत्ति में जैसे-जैसे वृद्धि होती है, वैसे-वैसे उस पर कर की प्रतिशत दर भी बढती जाती है। जैसे, जिन लोगो की आय ५,००० रुपये से अधिक नही है, उन पर १० प्रतिशत आय कर हो। जिन लोगो की आय १०,००० रुपये से कम नही है, उन पर १५ प्रतिशत आय कर हो और १५,००० रुपये की आय वालो पर

२२ प्रतिशत आय कर हो। यह प्रगतिशील कर होगा। क्रमश घटता हुआ कर प्रगतिशील कर का ठीक उलटा होता है। इसमे जैसे-जैसे आय बढती है, वैसे-वैसे कर की दर घटती जाती है। ह्रासमान प्रगतिशील कर मे आय के साथ-साथ कर की दर भी बढती है, परन्तु कर की दर घटते हुए क्रम से बढ़ती है। व्यवहार मे हमें केवल आनुपातिक और प्रगतिशील कर व्यवस्थाओ से काम पड़ता है।

अनुपातिक कर का सिद्धान्त।

इसलिये अनुपात के सिद्धान्त के अनुसार कर दाताओ की आय चाहे जो हो, उन्हे कर के रूप मे उसका एक निश्चित अश देना पडगा। अपनी कर-नीति के पहले सिद्धात मे ऑडम स्मिथ ने कहा था कि कर व्यक्ति की आय के किसी अनुपात मे होना चाहिये यद्यपि बाद मे उसने यह भी लिखा कि वे अनुपात से कुछ अधिक भी हो सकते है। इस सिद्धान्त का आधार यह है कि कर व्यवस्था सम्पत्ति के वर्तमान वितरण मे दखल या बाधा नही देना चाहती। यदि प्रत्येक व्यक्ति एक निश्चित अनुपात मे कर देता है तो विभिन्न आयो के पारस्परिक सबध वही बने रहते है। उनमे कोई परिवर्तन नही होता। इस सिद्धान्त और प्रणाली की खूबी यह है कि वह बहुत सरल है। जैसा कि से (Say) ने कहा है, आनुपातिक-कर-प्रणाली की व्याख्या करने की आवश्यकता नही है। वह एक पहाड़े के समान है।

परन्तु अर्थ-व्यवस्था का उद्देश्य केवल सरलता प्राप्त करना नही होता। सभी जानते है कि एक हजार रुपया आयवाले व्यक्ति से १०० लेना और १०,००० रु० आयवाले व्यक्ति से, १,००० लेना सरल अवश्य है, परन्तु साथ ही अनुचित और न्याय के विरुद्ध है। जैसे-जैसे मुद्रा आय बढती है, वैसे-वैसे कर देने की योग्यता अनुपात से अधिक बढ जाती है।

प्रगतिशील कर-नीति (Progressive Taxation)—आनुपातिक कर-प्रणाली के दोष-पूर्ण होने के कारण धीरे-धीरे करो की आधुनिक प्रणालियो में प्रगतिशीलता सिद्धान्त (principles of progression) ग्रहण किया गया। प्रगतिशील कर-प्रणाली के पक्ष मे प्रधान तर्क यह है कि जैसे-जैसे किसी व्यक्ति की आय बढती है, वैसे-वैसे उसकी कर देने की शक्ति आय की अपेक्षा बढती है। अर्थात् आय के अनुपात से कर देने की शक्ति का अनुपात अधिक हो जाता है। इसलिये करो की दर आनुपातिक न होकर क्रमश बढती हुई या प्रगतिशील होनी चाहिये। दूसरे त्याग की समानता का सिद्धान्त भी प्रगतिशीलता की ओर ले जाता है। आय की वृद्धि के साथ-साथ मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता कम होती है। इसलिये १०० रुपये की आयवाले मनुष्य से ५ रुपया लेने से और १००० रुपये की आयवाले व्यक्ति से ५० रुपया लेने से दोनो व्यक्तियो पर त्याग का भार एक समान नही पडता। पहला व्यक्ति दूसरे की अपेक्षा अधिक त्याग करता है। त्याग की मात्रा बराबर करने के लिये अधिक आयवाले व्यक्ति

को अधिक ऊँची दर से कर देना चाहिये। न्यूनतम सामूहिक सिद्धान्त अधिक प्रगतिशील की ओर ले जाता है। तीसरा तर्क यह है कि वर्तमान समाज में सम्पत्ति का वितरण असमान है और राज्य को चाहिये कि धनियो पर अधिक ऊँची दर से कर लगा कर आय की असमानता को कम करे। ऐसे बहुत कम अर्थशास्त्री मिलेगे जो आय की वर्तमान असमानताओ को कम करने के पक्ष मे हो। और कर-प्रणाली इसका बडा अच्छा साधन है। यह बात अवश्य है कि उपाय बहुत साधारण है और इसमे मूल समस्या हल नही होती। फिर भी इस उपाय को काम मे लाने मे कोई हर्ज नही है। फिर धनी वर्ग पर ऊँची दर से कर लगाने के पक्ष मे एक बात और है। धनी व्यक्तियो में उपभोग की प्रवृत्ति प्राय बहुत कम होती है। इसलिये एक वर्ग जैसे-जैसे धनी होता है, वैसे-वैसे उपभोग की प्रवृत्ति कम होती जाती है और उसके परिणामस्वरूप वस्तुओ और सेवाओ की प्रभावशील मॉग मे भी घटी होती है। दूसरे शब्दो मे मॉग इतनी कम हो जाती है कि उपस्थित पूरी श्रमिक शक्ति को काम नही मिल पाता। इस बेकारी को दूर करने का उपाय धनियो पर कर लगाना है, जिससे उपभोग की प्रवृत्ति बढे। अन्त मे यह कहा जाता है कि आधुनिक राज्य एक शरीर के समान है। "साधारण सामाजिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति के लिये आचार का पहला नियम यह है कि शक्तिशाली को कमज़ोर व्यक्ति की सहायता करनी चाहिये। न्यायोचित यही होगा कि सबसे अधिक बली कन्धो पर सबसे अधिक भार पडे।"

इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में सबसे बडी कठिनाई यह है कि यदि यह मान भी लिया जाय कि आय-वृद्धि के साथ-साथ मुद्रा की उपयोगिता मे ह्रास होता है, तो भी यह निश्चय करने का कोई तरीका नही है कि यह ह्रास किस दर से होता है। कर की ऐसी प्रगतिशील दर जानने का कोई साधन नही है, जिसके द्वारा त्याग के भार का बराबर बँटवारा हो सके। ऐसी परिस्थिति मे प्रगतिशील की दर मनचाही होगी।

एक तथा अनेक कर-प्रणाली (Single vs. Multiple Tax System)–आरम्भ से ही कर-प्रणाली को सरल बनाने की प्रवृत्ति रही है। बहुत से लोगो का मत है कि न्याय के किसी सिद्धान्त के आधार पर केवल किसी एक वस्तु पर कर लगाना चाहिए। भूमि को सपत्ति का आधार माननेवाले अर्थशास्त्रियो (Physiocrats) का मत था कि भूमि के आर्थिक लगान (economic rent) पर केवल एक कर लगाया जाय। उनका मत था कि अन्त मे सब प्रकार के करो का भार लगान पर ही पडता था। एक कर-प्रणाली के समर्थको का विचार है कि इस प्रणाली से संसार की सम्पत्ति का नवीन वितरण हो सकता है।

इसी उद्देश्य से हेनरी जॉर्ज ने केवल भूमि पर एक कर लगाने की प्रणाली का समर्थन किया था। उसका विचार था कि लगान पर कर लगाने से उद्योग की उन्नति मे बाधा नही पडती। उसका यह तात्पर्य तो सही था। लेकिन उसके सिद्धान्त में यह दोष था कि लोग अपनी आय भूमि मे नही

हेनरी जॉर्ज की कर योजना

लगाते, वे सब करो से बच जायँगे। एक लखपती करो से बच जायगा, परन्तु जिस गरीब आदमी के पास अपना मकान है, उसे कर देना पडेगा।।

केवल एक कर-प्रणाली के सम्बन्ध मे एक प्रस्ताव यह भी है कि केवल आय पर कर लगाना चाहिये। इसमे सन्देह नही कि भूमि की अपेक्षा आय पर कर लगाना अधिक अच्छा होगा। लेकिन इस रीति मे भी कुछ दोष है। एक तो छोटी आय पर कर वसूल करना कठिन है और अन्त मे उससे कोई लाभ नही होता। दूसरे, उससे बचत मे बाधा पड सकती है। तीसरे, कुछ ऐसे जरिये बच जाते है, जिन पर कर लगाना बहुत अच्छा होता है, जैसा कि एकाएक होनेवाला लाभ।

केवल आय पर कर

एक कर प्रणाली के समर्थको का उद्देश्य एक ऐसी कर-व्यवस्था स्थापित करनी है, जो खर्चीली न हो। कर वसूल करने मे खर्च बहुत कम होगा और कर का भार ठीक-ठीक मालूम हो जायगा। परन्तु एक कर-प्रणाली के किसी भी सिद्धान्त के विरुद्ध कुछ बाते समान रूप से कही जा सकती है। (क) कोई भी एक कर जो सिद्धान्त की दृष्टि से न्याययुक्त मालूम हो, विभिन्न व्यक्तियो के ऊपर भार की दृष्टि से अनुचित और न्याय-विरुद्ध हो सकता है। परन्तु एक कर-प्रणाली के अन्तर्गत जो अपवाद हो, उन्हे अनेक कर-प्रणाली द्वारा ठीक किया जा सकता है। (ख) किसी भी आधुनिक राज्य को इतनी अधिक आय की आवश्यकता रहती है कि ऐसी एक कर-प्रणाली बनानी कठिन है जिससे उसकी आवश्यकताएँ पूरी हो सके। (ग) केवल एक कर से वे सब लाभ प्राप्त न हो सकेंगे, जो करो के विभिन्न मदो द्वारा प्राप्त हो सकते है—जैसे, आय, उपभोग, उत्तराधिकार इत्यादि। (घ) एक-कर-प्रणाली मे कर से बचना अर्थात् उसे न देना सरलता से सम्भव हो सकता है। परन्तु अनेक-कर-प्रणाली मे करो से बचना उतना सरल न होगा, क्योंकि उसमें पकडने के कई तरीके होते रहते है।

एक-कर व्यवस्था के दोष

एक-कर-प्रणाली मे जो दोष है तथा प्रत्यक्ष व्यवहार में जिन त्रुटियो का अनुभव हुआ है, उनके परिणामस्वरूप आर्थर यग ने उसका ठीक उलटा एक सिद्धान्त बनाया। उसने लिखा है कि, "मुझे एक अच्छी कर-प्रणाली की परिभाषा करनी पडे तो वह यह होगी कि करो का थोडा-थोडा भार बहुत से मदो पर बाँट दिया जाय और बहुत बडा भार किसी एक मद पर न लादा जाय।" यह विचार दूसरी दिशा मे अति कर देती है और न यह सिद्धान्त की दृष्टि से उचित न व्यावहारिक दृष्टि से सम्भव है। "सब वस्तुओ पर, वस्तुओं के यातायात पर, तथा उत्पादन के विभिन्न तरीको और रूपो पर कर लगाने से एक तो उद्योग की उन्नति मे बाधा पडेगी, दूसरे कर-दाताओ को बडी असुविधा होगी और तीसरे उन्हे वसूल करने मे बडा खर्च होगा।" सन् १८४५ के पहले इगलैण्ड की आयात-निर्यात कर-व्यवस्था बहुत टेढी-मेढी थी और हस्किसन के सुधारो ने उसे बहुत कुछ सरल बना दिया।

इसलिये सबसे अच्छी कर-प्रणाली न तो एक-कर-प्रणाली है और न अनेक-कर-प्रणाली, बल्कि इन दोनो के बीच मे कोई प्रणाली होनी चाहिये। वेस्टवाल के अनुसार इस प्रकार की प्रणाली को हम 'बहु-कर-प्रणाली' (system of plural taxation) कह सकते है। कुछ बडे-बडे कर होने चाहिये, जिनका बोझ प्रायः धनी लोगो पर पडे और थोडे से कर ऐसे होने चाहिये, जिनका भार थोडा-बहुत समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर पडे। आय-कर, उत्तराधिकार, ऐश-आराम की वस्तुओ पर कर, पहले प्रकार का कर होगा। परन्तु जिन वस्तुओं का उपभोग सभी लोग करते है, उन पर कर का भार सभी वर्गो पर पडेगा।

अच्छी कर-प्रणाली की विशेषताएँ (Characteristics of a Good Tax System)—ऊपर हमने जो विवेचना की है, उसके आधार पर अब हम यह कह सकते है कि अच्छी कर-प्रणाली मे क्या विशेषताएं होती है। पहली विशेषता यह होती है कि ऊपर हमने कर-नीति के जिन सिद्धान्तो की विवेचना की है, उन सिद्धान्तो का वह पालन करती है। दूसरे, करो के भार के वितरण के सम्बन्ध मे न केवल पूरी कर व्यवस्था का भार बल्कि प्रत्येक कर के भार के वितरण पर सावधानी से विचार करना चाहिये। जिन करो के कारण समाज को निम्नतम सामूहिक त्याग करना पडे तथा वर्तमान और भविष्य मे उत्पादन तथा वितरण पर जिनका प्रतिकूल प्रभाव न पडे वे कर ज्यादा अच्छे होते है। किसी एक वस्तु पर करो का भार बहुत अधिक न हो। करो का भार करदाता की योग्यता के अनुसार निश्चित होना चाहिये। अन्त मे, एक-कर-प्रणाली और अनेक-कर-प्रणाली की अपेक्षा बहु-कर-प्रणाली अधिक अच्छी होती है। इन कर-प्रणालियो पर हम विचार कर चुके है इसलिये उन्हे दुहराना उचित नही है।

कर देने की शक्ति (Taxable Capacity)—किसी समाज की कर देने की शक्ति की परिभाषा कई प्रकार से की गई है। अधिक प्रचलित परिभाषा यह है कि राष्ट्रीय आय मे से वह खर्च काट कर जो देश की पूंजी तथा लोगो की योग्यता अक्षत बनाये रखने के लिये आवश्यक है, जो कुछ शेष बचता है, वही लोगो की कर देने की शक्ति का सूचक है। यह परिभाषा स्पष्ट नही है और इससे कई कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है। पूंजी तथा लोगो की योग्यता अक्षत बनाये रखने के लिये जो खर्च आवश्यक होता है, उसे हम कैसे निश्चित करेगे? साधारण समय मे हमे न केवल पूंजी के ह्रास के लिये कुछ रुपया अलग रखना पडता है, परन्तु उसकी वृद्धि में भी कुछ भी योग देना पडता है, जिससे पूँजी बढती रहे। धन की इन मात्राओ को हम किस प्रकार निश्चित करेगे? इसलिये इस परिभाषा मे कई त्रुटियाँ है। यह परिभाषा कई परस्पर सम्बन्धित बातो पर निर्भर करती है। कुछ बातो को हम देख सकते है, कुछ को नही और कुछ बातो को सतोषपूर्वक माप नही सकते।

सामान्य तौर पर यह कहा जा सकता है कि इसका तात्पर्य उस कर भार से है जिसको समाज अपनी उत्पादन क्षमता और कुशलता को किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये बिना वहन करने की सामर्थ्य रखता है। इसके अलावा आर्थिक दृष्टिकोण से कर देने की क्षमता पर विचार करते समय अक्सर राजनैतिक स्थिति पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है और कुछ हद तक विशेषकर अदायगी का कानून लागू करने की दिशा मे प्रशासन-कुशलता के प्रश्न पर भी विचार करना जरूरी हो जाता है। व्यापक रूप से कर की चोरी की जाती है। इसके ज्ञान से नैतिक वल क्षीण होता है और जो ईमानदारी से कर की अदायगी करते हैं उन पर इससे भारी दवाव पडता है। इसमे सन्देह नही, कि इससे कर लगाने या कर देने की क्षमता को क्षति पहुँचती है।

तब फिर कर देने की शक्ति किन बातो पर निर्भर करती है? पहले तो वह लोगो की मानसिक या मनोवैज्ञानिक स्थिति (Psychology) पर निर्भर करती है। कभी-कभी ऐसा समय आता है, जैसे युद्ध-काल मे, जब लोग अधिक त्याग करने को तैयार रहते है। विगत आर्थिक सकट के समय में इगलैण्ड के लोग अधिक त्याग करके सरकार के साथ सहयोग करने को तैयार हो गये थे। कर देने के लिये लोग कतारो में घटो खडे रहते थे। इससे मालूम होता था कि लोगो की कर देने की शक्ति कुछ समय के लिये वढ गई थी। दूसरे, कर देने की शक्ति देश में राष्ट्रीय आय के वितरण पर निर्भर करती है। जब किसी व्यक्ति के पास २०,००० रुपये होते है, तो उसकी कर देने की शक्ति उन वीस आदमियो से अधिक होती है, जिनमें से प्रत्येक के पास १,००० रूपये है। आय जितनी अधिक असमान होती है, कर देने की शक्ति उतनी ही अधिक होती है। तीसरे, कर देने की शक्ति की तुलना में जनसख्या के आकार राष्ट्रीय आय के अनुपात पर निर्भर करती है। यदि राष्ट्रीय आय का अनुपात जनसख्या के अनुपात से अधिक वढ जाता है, तो प्रति मनुष्य पीछे आय भी वढ जाती है और उसके साथ-साथ कर देने की शक्ति भी वढ़ जाती है। चौथे वह देश की औद्योगिक परिस्थितियो और व्यवस्था पर निर्भर करती है। यदि उद्योग के लिये अधिक उत्पादक पूंजी की आवश्यकता है, तो उस मद के लिये राष्ट्रीय आय का अधिक अश अलग रखना पडेगा और किसी समय विशेष पर कर देने की शक्ति कम रहेगी। परन्तु ऐसे देश की राष्ट्रीय आय भी ऊंची होगी और कर देने की शक्ति वढेगी। पाँचवें, वह लोगो के रहन-सहन के दर्जे पर निर्भर करती है। रहन-सहन का दर्जा उनकी योग्यता, कार्यक्षमता और काम करने की रुचि निश्चित करती है। छठे, वह कर प्रणाली पर निर्भर करती है। यदि प्रत्यक्ष करों का अधिक उपयोग किया जाय तो कर देने की शक्ति वढेगी। अप्रत्यक्ष करो की अपेक्षा प्रत्यक्ष करों से अधिक आय प्राप्त की जा सकती है और साथ ही उससे देश के उत्पादक भावना को भी हानि पहुँचेगी। अन्तिम, लोगो की कर देने की शक्ति सरकारी खर्च की प्रकृति पर भी निर्भर करती है। यदि सरकारी आय शिक्षा, सफाई, स्वास्थ्य इत्यादि पर खर्च की जाती है, तो अन्त में लोगो की कर देने की शक्ति वढेगी। परन्तु यदि राज्य की आय अस्त्र-शस्त्र इत्यादि युद्ध सामग्री बनाने पर खर्च होती है, तो कर देने की शक्ति घटेगी।

अध्याय ५४

करों का भार और उनका चालन

(Shifting and Incidence of Taxes)

भार और चालन का अर्थ (Meaning of Shifting and Incidence) जब किसी व्यक्ति पर एक कर लगाया जाता है, तो वह उसका भार अन्य लोगों के कन्धों पर लादने का प्रयत्न करता है। कर के भार को अन्य लोगों पर टालने के इस प्रयत्न को चालन कहते हैं। चालन से अपना भार खतम हो जाता है। कर के कारण किसी व्यक्ति पर मुद्रा का जो भार पडता है, उसे कर का भार (incidence of tax) कहते हैं। भार की समस्या उस व्यक्ति को जानना है, जिसके ऊपर कर का भार पडता है। सरकार को जो रुपया मिलता है, वह किस की जेब से आता है? अथवा यदि सरकार कर न लगाती तो वह रुपया किसकी जेब में रहता? भार के सम्बन्ध में यह प्रधान समस्या रहती है। कर का पहला दबाव (impact) उस व्यक्ति पर पडता है, जो सरकार को रुपया देता है। अब वह व्यक्ति उसका भार अन्य लोगों पर चलाने या खिसकाने का प्रयत्न करेगा। परन्तु कर का भार (incidence) उस व्यक्ति पर पडता है, जो अन्त में कर के रुपये का भार सहन करता है।

कर व्यक्तियों पर अन्य प्रकार के बोझ भी डालता है। इसलिये मुद्रा का भार (money burden) और वास्तविक भार (rael burden) तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भार में भेद समझना आवश्यक है। करों के रूप में खजाने में जो रुपया जमा किया जाता है, उसकी मात्रा से प्रत्यक्ष मुद्रा भार (direct money burden) मापा जाता है। कर दाता को जिस आर्थिक हित का त्याग करना पडता है, उससे प्रत्यक्ष वास्तविक भार (direct real burden) निश्चित होता है। इसे कर का परिणाम (effect) कहते हैं। किसी कर के मुद्रा का अप्रत्यक्ष और भार भी हो सकता है। जिस वस्तु पर कर लगा है, उसके विक्रेता को कर पहले देना पडता है। बाद में ग्राहकों से अधिक कीमत लेकर वह कर की पूरी मात्रा वसूल कर सकता है। परन्तु इस वसूली में कुछ समय लगता है और उसी बीच में उसे कर के रूप में दी गई रकम पर व्याज की हानि सहनी पड़ती है। यह कर का अप्रत्यक्ष मुद्रा भार होता है। इसी प्रकार अप्रत्यक्ष वास्तविक भार होता है। जब कर के कारण किसी वस्तु की वास्तविक कीमत बढ जाती है, तो उपभोक्ता उसे कम मात्रा में खरीदेंगे। इसका मतलब यह है कि उपभोक्ता अपने स्वार्थ या हितों का त्याग कर रहे हैं। सुख का यह त्याग कर का अप्रत्यक्ष वास्तविक भार (indirect real burden) होता है। कर चालन के सम्ब-

में तीन बातें महत्वपूर्ण हैं—चालन की दिशा, चालन व
चालन की दिशा आगे या पीछे दोनों ओर हो सकती है।
पडता है, तो वह उसे आगे की ओर उपभोक्ताओं पर
सफलता नहीं मिलती तो वह उसे पीछे की ओर उत्पादव
चालन का रूप भी दो प्रकार से हो सकता है। या तो वस
है अथवा कीमत न बढाकर उनकी किस्म घटा दी ज
बातों पर निर्भर करती हैं, उनका अध्ययन हम आगे
हैं कि कभी-कभी पूरा कर उपभोक्ताओं के ऊपर चला दिया जाता है और कभी-कभी उत्पादक, व्यवसायी और उपभोक्ता तीनों उसको बाँटकर उसका भार सहते हैं।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर (Direct and Indirect Taxes)—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों का प्रश्न दबाव और भार से सम्बन्ध रखता है। जब दबाव और भार एक ही व्यक्ति पर रहता है, तब कर प्रत्यक्ष कहा जाता है। अर्थात् जिस व्यक्ति से कर लिया जाता है, उस पर मुद्रा देने का अन्तिम भार भी पडता है। वह भार दूसरों के ऊपर चालन नहीं कर सकता। आय-कर प्रत्यक्ष कर होता है। जो आदमी आय प्राप्त करता है, उसी पर वह कर भी लगाया जाता है और अन्त में वही उसका भार भी सहता है। जब किसी कर का दबाव और भार अलग-अलग व्यक्तियों पर पडता है, तब उसे अप्रत्यक्ष कर कहा जाता है। इसमें पहले कोई व्यक्ति कर देता है, परन्तु वह उसका भार अन्य लोगों पर चला देता है। किसी वस्तु पर जो कर लगाया जाता है, वह अप्रत्यक्ष कर है। यद्यपि वस्तु विक्रेता उसे अदा कर देता है, पर वह वस्तु की कीमत बढाकर उसका भार उपभोक्ताओं के ऊपर चला देता है। दोनों प्रकार के करों के बीच में जो अन्तर है, वह हमेशा साफ-साफ प्रकट नहीं होता। कभी-कभी विक्रेता अर्थात् आयातकर्ता कर का भार खरीदारों पर चलाने में सफल नहीं होता। तब मुद्रा का अन्तिम भार भी उसी को सहना पडता है।

प्रत्यक्ष करों के गुण (Merits of Direct Taxes)—प्रत्यक्ष कर में एक बडा गुण यह होता है कि वह प्रगतिशील होता है। उसका क्रम इस प्रकार बाँधा जा सकता है कि धनियों के ऊपर अधिक भार पडेगा और जिन लोगों की आय निश्चित सतह से कम रहेगी, वे उस कर से मुक्त रहेंगे। इस प्रकार वह कर-नीति के प्रधान और

प्रत्यक्ष करों के लाभ।

समप्रभग सिद्धान्त अर्थात् कर देने की योग्यता को पूरा करता है। प्रत्यक्ष कर का दूसरा गुण यह होता है कि वह मितव्ययी अर्थात् कम खर्चीला होता है। कर वसूल करने का व्यय बहुत कम होता है और अपव्यय बिलकुल नहीं होता। तीसरा लाभ यह है कि यह निश्चितता का सिद्धान्त पूरा करता है। करदाता यह जानता है कि उसे कर के रूप में कितनी रकम देनी है और सरकार भी एक निश्चित आय पाने का भरोसा रखती है। चौथे, प्रत्यक्ष कर लोचदार होते हैं। सरकार की आवश्यकताओं के अनुसार

अध्याय ५४

करों का भार और उनका चालन

(Shifting and Incidence of Taxes)

भार और चालन का अर्थ (Meaning of Shifting and Incidenc[e]) जब किसी व्यक्ति पर एक कर लगाया जाता है, तो वह उसका भार अन्य लोगों के कन्धों पर लादने का प्रयत्न करता है। कर के भार को अन्य लोगों पर टालने के इस प्रयत्न को चालन कहते है। चालन से अपना भार खत्म हो जाता है। कर के कारण किसी व्यक्ति पर मुद्रा का जो भार पड़ता है, उसे कर का भार (incidence of tax) कहते हैं। भार की समस्या उस व्यक्ति को जानना है, जिसके ऊपर कर का भार पड़ता है। सरकार को जो रुपया मिलता है, वह किन की जेब से आता है? अथवा यदि सरकार कर न लगाती तो वह रुपया किसकी जेब मे रहता? भार के सम्बन्ध मे यह प्रश्न समस्या रहती है। कर का पहला दबाव (impact) उस व्यक्ति पर पड़ता है जो सरकार को रुपया देता है। अब वह व्यक्ति उसका भार अन्य लोगों पर चलाने या खिसकाने का प्रयत्न करेगा। परन्तु कर का भार (incidence) उस व्यक्ति पर पड़ता है, जो अन्त मे कर के रुपये का भार सहन करता है।

कर व्यक्तियो पर अन्य प्रकार के बोझ भी डालता है। इसलिये मुद्रा का भार (money burden) और वास्तविक भार (rael burden) तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भार में भेद समझना आवश्यक है। करो के रूप मे खजाने मे जो रुपया जमा किया जाता है, उसकी मात्रा से प्रत्यक्ष मुद्रा भार (direct money burden) मापा जाता है। कर दाता को जिस आर्थिक हित का त्याग करना पड़ता है, उससे प्रत्यक्ष वास्तविक भार (direct real burden) निश्चित होता है। इसे कर का परिणाम (effect) कहते है। किसी कर के मुद्रा का अप्रत्यक्ष और भार भी हो सकता है। जिस वस्तु पर कर लगा है, उसके विक्रेता को कर पहले देना पड़ता है। बाद में ग्राहको से अधिक कीमत लेकर वह कर की पूरी मात्रा वसूल कर सकता है। परन्तु इस वसूली मे कुछ समय लगता है और उसी बीच मे उसे कर के रूप मे दी गई रकम पर ब्याज की हानि सहनी पड़ती है। यह कर का अप्रत्यक्ष मुद्रा भार होता है। इसी प्रकार अप्रत्यक्ष वास्तविक भार होता है। जब कर के कारण किसी वस्तु की वास्तविक कीमत बढ जाती है, तो उपभोक्ता उसे कम मात्रा मे खरीदेगे। इसका मतलब यह है कि उप- अपने स्वार्थ या हितो का त्याग कर रहे है। सुख का यह त्याग कर का अप्रत्यक्ष भार (indirect real burden) होता है। कर चालन के सम्ब

में तीन बातें महत्वपूर्ण हैं—चालन की दिशा, चालन व
चालन की दिशा आगे या पीछे दोनो ओर हो सकती है।
पड़ता है, तो वह उसे आगे की ओर उपभोक्ताओ पर
सफलता नही मिलती तो वह उसे पीछे की ओर उत्पादक
चालन का रूप भी दो प्रकार से हो सकता है। या तो वस्
है अथवा कीमत न बढ़ाकर उनकी किस्म घटा दी ज
बातो पर निर्भर करती है, उनका अध्ययन हम आगे
हैं कि कभी-कभी पूरा कर उपभोक्ताओ के ऊपर चला दिया जाता है और कभी-कभी उत्पादक, व्यवसायी और उपभोक्ता तीनो उसको बाँटकर उसका भार सहते है।

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर (Direct and Indirect Taxes)—प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करो का प्रश्न दवाव ओर भार से सम्बन्ध रखता है। जब दवाव और भार एक ही व्यक्ति पर रहता है, तब कर प्रत्यक्ष कहा जाता है। अर्थात् जिस व्यक्ति से कर लिया जाता है, उस पर मुद्रा देने का अन्तिम भार भी पड़ता है। वह भार दूसरो के ऊपर चालन नही कर सकता। आय-कर प्रत्यक्ष कर होता है। जो आदमी आय प्राप्त करता है, उसी पर वह कर भी लगाया जाता है ओर अन्त मे वही उसका भार भी सहता है। जब किसी कर का दवाव और भार अलग-अलग व्यक्तियो पर पड़ता है, तब उसे अप्रत्यक्ष कर कहा जाता है। इसमे पहले कोई व्यक्ति कर देता है, परन्तु वह उसका भार अन्य लोगो पर चला देता है। किसी वस्तु पर जो कर लगाया जाता है, वह अप्रत्यक्ष कर है। यद्यपि वस्तु विक्रेता उसे अदा कर देता है, पर वह वस्तु की कीमत बढाकर उसका भार उपभोक्ताओ के ऊपर चला देता है। दोनो प्रकार के करो के बीच मे जो अन्तर है, वह हमेशा साफ-साफ प्रकट नही होता। कभी-कभी विक्रेता अर्थात् आयातकर्ता कर का भार खरीदारो पर चलाने मे सफल नही होता। तब मुद्रा का अन्तिम भार भी उसी को सहना पड़ता है।

प्रत्यक्ष करों के गुण (Merits of Direct Taxes)—प्रत्यक्ष कर मे एक बड़ा गुण यह होता है कि वह प्रगतिशील होता है। उसका क्रम इस प्रकार बाँधा जा सकता है कि धनियो के ऊपर अधिक भार पड़ेगा और जिन लोगो की आय निश्चित सतह से कम रहेगी, वे उस कर से मुक्त रहेगे। इस प्रकार वह कर-नीति के प्रधान और सर्वप्रथम सिद्धान्त अर्थात् कर देने की योग्यता को पूरा करता है। प्रत्यक्ष कर का दूसरा गुण यह होता है कि वह मितव्ययी अर्थात् कम खर्चीला होता है। कर वसूल करने का खर्च बहुत कम होता है और अपव्यय बिलकुल नही होता। तीसरा लाभ यह है कि वह निश्चितता का सिद्धान्त पूरा करता है। करदाता यह जानता है कि उसे कर के रूप मे कितनी रकम देनी है ओर सरकार भी एक निश्चित आय पाने का भरोसा रखती है। चौथे, प्रत्यक्ष कर लोचदार होते है। सरकार की आवश्यकताओ के अनुसार

प्रत्यक्ष करों के लाभ।

किये जा सकते हैं। दरों का क्रम बदलने से कर की रकम घटाई अ
की है। पाचवे, प्रत्यक्ष कर बहुत उत्पादक होता है। देश में जनस
प्ति की वृद्धि होने से प्रत्यक्ष कर की आय अपने आप बढ़ जाती है। अन्ति
कर देने से नागरिक उसके बोझ का अनुभव करता है। राज्य के प्रति वह अ
र्तव्य को समझता है। उसकी नागरिकता जागृत होती है और वह राज्य के कार्यों
विशेषकर सरकार के आर्थिक प्रश्नो मे दिलचस्पी लेता है।

प्रत्यक्ष कर मे कुछ दोष भी होते हैं। पहला दोष यह है कि कर दाता की दृष्टि
वह बहुत असुविधाजनक होता है। कर दाता को पूरा-पूरा हिसाब रखना पड़ता है अ
उसे सरकारी अफसरों के सामने पेश करना पड़ता है। पि

प्रत्यक्ष करों के दोष।

कुछ निश्चित समय के अन्तर पर उसे पूरी रकम एक म
जमा करनी पड़ती है। आय तो थोड़ी-थोड़ी करके होती
पर कर एक मुश्त देना पड़ता है। इससे काफी असुविधा हो सकती है। दूसरे प्रत्य
कर एक प्रकार से ईमानदारी पर कर होता है। यदि सरकार के सामने झूठा हिस
पेश किया जाय तो कर का भार बहुत हल्का हो सकता है। बहुत से लोग झूठा हिस
देकर कर का भार हल्का करने के लालच में आ जाते है। कम से कम बहुत से लोगो
सामने यह लालच रहती है। तीसरे, किसी भी प्रत्यक्ष कर में कर के क्रम की दर म
चाही रहती है और वह सरकारी अधिकारियो की इच्छा पर निर्भर रहती है।

गुणो और दोषो दोनो पर विचार करने के बाद हम यह कह सकते है कि प्रत्यक्ष कर
अन्त में न्यायोचित, मितव्ययी, लोचदार ओर उत्पादक होते है।

अप्रत्यक्ष करों के गुण (Merits of Indirect Taxes)—अप्रत्यक्ष
करो के पक्ष में प्रधान बात यह है कि जिन गरीब वर्गों पर प्रत्यक्ष कर लगाना मुश्किल है,
उन तक पहुँचने का साधन अप्रत्यक्ष कर होता है। राज्य

अप्रत्यक्ष करों के लाभ।

की सहायता प्रत्येक नागरिक को करनी चाहिये। लेकिन
इस बात पर मतभेद हो सकता है। अप्रत्यक्ष कर के पक्ष में
दूसरा तर्क यह है कि वह आय का आधार काफी विस्तृत कर देता है। किसी एक चीज
पर बहुत भारी कर लगा देने से सामाजिक ओर राजनीतिक व्यवस्था पर हानिकारक
प्रभाव पड सकते है। अप्रत्यक्ष कर-नीति इसलिये अच्छी होती है कि उससे कई जरियो
से आय प्राप्त हो जाती है ओर केवल प्रत्यक्ष करो पर निर्भर होना पड़ता। तीसरे,
अप्रत्यक्ष कर बहुत सुविधाजनक होते है। प्रत्येक वस्तु की खरीद के साथ-साथ करो का
भुगतान धीरे-धीरे करके होता है। चूँकि हम कोई भी वस्तु एक समय बहुत अधिक मात्रा
मे एक साथ नही खरीदते, इसलिये करो का भार एक समय बहुत भारी नही मालूम
पड़ता। चौथे, इस कर से लोग बच नही सकते। कभी-कभी चोरी से माल लाकर
बेचा जाता है, पर इस प्रकार के सौदे अपवादस्वरूप रहते है। पाचवे, यदि यह

कर वेलोचदार माँग की वस्तुओ पर लगाया जाता है, तो वह क[illegible] धारण भार
कर की दर बदलने से उसकी आय भी बढाई जा सकती है।
हानिकारक वस्तुओ पर धनी व्यक्तियो के ऐश-आराम की [illegible] पडता
लगाने से उनका उपभोग घटेगा और समाज की खरीद-शक्ति [illegible]
की वस्तुओ की ओर झुकेगी।

अप्रत्यक्ष करो मे लाभ की अपेक्षा दोष अधिक होते हैं। इसका विरोध सबसे अ.
न्याय के आधार पर किया जाता है। अप्रत्यक्ष कर न्यायसगत नही होता। उसकी प्रगति क्रमश घटती हुई होती है। धनियो की अपेक्षा उसका भार

अप्रत्यक्ष करों के दोष। गरीबो पर अधिक पडता है। अप्रत्यक्ष कर आवश्यकताओ पर लगाना पडता है, जिससे वह उत्पादक हो। लेकिन आवश्यकताओ पर कर लगाने से गरीब लोगो को नकसान होता है। उससे असमानता बढती है, जब कि "कर नीति से आय की वितरण की असमानता बढ़ने की अपेक्षा घटना चाहिये।"—अप्रत्यक्ष करो मे दूसरा दोष यह है कि आवश्यकताओ को छोडकर अन्य जरियो से इन करो से होनेवाली आय निश्चित होती है। यदि कर की दर ऊँची है, तो माँग घट जायगी और माँग घटने से कर से होनेवाली आय भी घट जायगी।

अन्तिम अप्रत्यक्ष कर मितव्ययी न होकर खर्चीले होते है। उनको वसूल करने का खर्च भी काफी अधिक होता है। अप्रत्यक्ष कर प्राय उत्पादक अथवा आयातकर्त्ता द्वारा किया जाता है। वस्तुओ की बिक्री द्वारा वह कर वापिस मिलते-मिलते कुछ महीने अवश्य बीत जाते है। इसलिये कर के रूप मे दी गई रकम पर वह कुछ व्याज अवश्य लेता है। इसलिये जिस वस्तु पर कर लगाया जाता है, उसकी कीमत कर से अधिक हो सकती है।

इस बात पर मतभेद है कि राज्य की कुल आय का कितना अश अप्रत्यक्ष करो द्वारा प्राप्त होना चाहिये। पुराने समय में इन करो से अधिकाश प्राप्त होता था, क्योकि तब प्रत्यक्ष-कर-प्रणाली पूर्ण तथा सुव्यवस्थित नही थी। उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग मे ग्लेडस्टन ने कहा था कि ये दो प्रकार के कर दो सुन्दर बहिनो के समान थे और वह किसी भी बहिन के प्रति पक्षपात नही दिखाना चाहते थे। परन्तु वर्तमान समय मे यह मत जोर पकडता जा रहा है कि यद्यपि अप्रत्यक्ष करो को नही त्यागना चाहिये, तथापि आय का अधिक भाग प्रत्यक्ष करो द्वारा प्राप्त करना चाहिये।

करों के भार के साधारण सिद्धान्त (General principles governing the Incidence of Taxation)—कर-नीति के सिद्धान्तो के सम्बन्ध में दो बाते ध्यान मे रखने लायक है। पहली बात यह है कि अन्य बातो के यथास्थिति रहते हुए किसी वस्तु की माँग जितनी अधिक लोचदार होगी, उतनी अधिक सम्भावना इस

माँग और पूर्ति लोच पर निर्भर करता है।

बात की होगी कि कर का भार विक्रेता के ऊपर पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि अन्य बातों के यथास्थिति रहते हुए किसी वस्तु की पूर्ति जितनी अधिक लोचदार होगी, उतनी अधिक सम्भावना इस बात की होगी कि कर का भार उपभोक्ता के ऊपर पड़ेगा। जब किसी वस्तु की माँग बेलोचदार होती है, तब कर की पूर्ण मात्रा के बराबर कीमत बढ़ जाने पर भी खरीदार अपनी माँग कम नही करेगा। इस परिस्थिति में कर का भार ख़रीदार पर पड़ता है। परन्तु यदि वस्तु की माँग बहुत लोचदार होती है तो वैसे ही वस्तु के दाम बढ़ेंगे, वैसे ही खरीदार अपना उपभोग कम कर देगा। इसलिये सम्भावना इस बात की है कि कर का भार विक्रेता के ऊपर पड़ेगा। इसी प्रकार जब पूर्ति लोचदार होती है, तब कीमत बढ़ने पर माँग गिर सकती है। परन्तु साथ ही पूर्ति में भी कमी की जा सकती है। उत्पादक कर की मात्रा के बराबर कीमत बढ़ा सकता है।" साराश यह है कि पूर्ति कम करके विक्रेता कर का भार खरीदार पर डालना चाहता है। माँग कम करके खरीदार भार विक्रेता पर डालना चाहता है। इन दो प्रकार के व्यक्तियों में कम से कम खर्च करके जो व्यक्ति अधिक योग्य होता है, उसी के अनुकूल या पक्ष मे परिणाम भी होता है।"[1] पूर्ति की लोच पर विचार करते समय हमें समय की अवधि पर भी विचार करना चाहिये। किसी वस्तु की पूर्ति अल्पकाल में कम नहीं की जा सकती। दीर्घकाल में पूर्ति माँग के अनुसार घटाई या बढ़ाई जा सकती है। इसलिये किसी वस्तु की पूर्ति अल्पकाल मे बेलोचदार ही रहती है, यद्यपि दीर्घकाल मे वह बहुत लोचदार हो सकती है। इसलिये यद्यपि अल्पकाल में किसी कर का भार विक्रेता पर रह सकता है, परन्तु दीर्घकाल मे वह उपभोक्ता के ऊपर पड सकता है। कर का भार अन्तिम रूप मे माँग और पूर्ति की लोच के ऊपर रहता है। इसे एक उदाहरण के द्वारा दिखलाया जा सकता है। जिस वस्तु के बदले मे अन्य कई वस्तुओं का उपयोग हो सकता है, उसकी माँग बहुत लोचदार होती है। इसलिये यदि चाय पर कर लगाया जाय और काफी, कोको इत्यादि पेय पदार्थों पर न लगाया जाय तो विक्रेता चाय की कीमत अधिक नही बढा सकेगा। क्योंकि चाय की कीमत बढ़ाने से उसके गाहक कम हो जायँगे। इसलिये कर का भार विक्रेता पर पड़ेगा।

वस्तुओं पर किसी कर का भार (Incidence of a Tax on Commodities in General)—करों के भार के सम्बन्ध मे ऊपर जिन सिद्धान्तों की

---

[1] 'The sellers in short try to put the incidence on the buyers by reducing supply, the purchasers try to put it on the sellers by reducing demand. The relative ability of the two groups to carry out their objects, with the minimum cost to themselves, determines the result."

—*Dalton*, Public Finance, p. 54.

विवेचना की गई है, वे नाना प्रकार की वस्तुओ पर पडनेवाले करो का साधारण भार समझते है। इस सम्बन्ध मे थोडी-सी बाते और भी है, जिन्हे हम यहाँ देखेंगे।

ऊपर कहा गया है कि आयातकर्ता अथवा देशी उत्पादक को जो कर देना पडता है, उसे वह वस्तुओ की कीमत बढाकर पूरा करने की कोशिश करेगा। साथ ही कर के रूप में उसने जो रकम दी है, उस पर वह व्याज भी लेगा। इसलिये कीमते कर की मात्रा से अधिक बढ सकती है। परन्तु उसकी सफलता वस्तु की माँग और पूर्ति की लोच पर निर्भर करेगी।

जब किसी वस्तु का उत्पादन स्थिर लागत की परिस्थितियो के अन्तर्गत होता है, तो कीमत मे वृद्धि कर की पूरी मात्रा के बराबर होगी। इसमे सन्देह नही कि कीमत बढने की माँग अवश्य घटेगी, लेकिन चूँकि सब इकाइयो का उत्पादन एक ही लागत पर होता है, इसलिये चाहे जिस पैमाने पर उत्पादन हो, कीमत कर की मात्रा से अधिक नही बढेगी।

घटती उत्पत्ति के अन्तर्गत कर का भार।

जब किसी वस्तु का उत्पादन घटती हुई उत्पत्ति की परिस्थितियो के अन्तर्गत होता है, तब कर लगने से उस वस्तु की कीमत तो बढेगी, **परन्तु कर की पूरी मात्रा के बराबर नही बढेगी।** मान लो, ५ रुपया प्रति इकाई की लागत से १०,००० इकाइयो का उत्पादन होता है। यदि कर की मात्रा १ रुपया प्रति इकाई है, तो प्रति इकाई की कीमत पहले ६ रुपया होगी। परन्तु कर लगने के बाद के १०,००० इकाइयाँ नही बिकेंगी। क्योकि कीमत बढने से माँग घट जायगी। मान लो, बिक्री ९,००० इकाइयो पर आ जाती है। चूँकि उत्पादन कम होगा, इसलिये उत्पादन की लागत भी घटेगी। मान लो, वह प्रति इकाई ४½ रुपया हो जायगी। कर जोडकर कीमत ५½ रुपया हो जायगी। अर्थात् कीमत में वृद्धि कर की मात्रा से कम होगी।

बढ़ती हुई उत्पत्ति के अन्तर्गत कर का भार।

जब वस्तु की उत्पत्ति बढ़ती हुई उत्पत्ति की परिस्थितियो के अन्तर्गत होती है, तब कीमत कर की मात्रा से अधिक बढ सकती है। मान लो, ५ रुपया प्रति इकाई के हिसाब से १०,००० इकाइयो का उत्पादन होता है और ९,००० इकाइयो का उत्पादन ५½ रुपया प्रति इकाई के हिसाब से होता है। कर लगने के बाद यदि माँग १०,००० इकाई से घटकर ९,००० इकाई हो जाती है, तो कर को छोडकर उत्पादन की लागत ५½ रुपया प्रति इकाई होगी और कर को जोडकर कीमत ६½ प्रति इकाई होगी। इसलिये यह कहा जाता है कि कर उन वस्तुओ पर लगाना चाहिये जिनका उत्पादन घटती हुई उत्पत्ति के अन्तर्गत होता है और जिन वस्तुओ का उत्पादन बढती हुई उत्पत्ति को परिस्थितियो के अन्तर्गत होता है, उन्हे आर्थिक सहायता मिलनी

चाहिये। एक अन्य सम्भावना भी है। कर लगने के बाद विक्रेता अपनी-अपनी आप की प्रतिद्वन्द्विता खतम करके आपस मे मिलकर यह निर्णय कर सकते है कि कीमत क की मात्रा से अधिक कर दी जाय। फिर यदि सोने को छोडकर बाकी सब वस्तुओ प आयात कर लगा दिया जाय तो अन्य वस्तुओ का आयात कम हो सकता है और सोने क आयात बढ सकता है। सोने का आयात अधिक होने से सब वस्तुओ की कीमतें ब जायँगी और जिन वस्तुओ पर कर लगा है, उनकी कीमतें कर की मात्रा से अधिक ब सकती है।

भूमि और मकानों पर कर का भार (Incidence of a Tax on Lan and Buildings)—कर के भार की समस्या काफी गुथी हुई है। इसलि इस समस्या के अलग-अलग पहलुओ का अलग-अलग अध्ययन करना अच्छा होगा आर्थिक लगान (economic rent) पर जो कर लगाया जाता है, उसका भा लगान प्राप्त करने वाले अथवा भूमिपति पर पडता है। उत्पादन की लागत जिसमे साधारण लाभ भी शामिल है, छोडकर जो कुछ बच रहता है, उसे लगान कहते है इस बचत मे से कर दिया जाता है। कर भूमिपति पर इस कारण नही चलाया जा सकता कि वह केवल आर्थिक लगान प्राप्त करता है और उसके सिवा कोई बचत नही प्राप्त करता। लेकिन यह मान लिया जाता है कि भूमिपति को पूरा आर्थिक लगान मिल रहा है और कर पूरे लगान पर लगाया जाता है। परन्तु यदि कर केवल उस भूमि पर लगाया जाता है, जिस पर (मान लो) जूट उत्पन्न किया जाता है, तब कर को बचाने के लिये लोग उस भूमि पर जूट के बदले अन्य फसले उत्पन्न करेगे। परिणाम यह होगा कि जूट की उत्पत्ति कम हो जायगी और उसकी कीमत इतनी बढेगी कि उसकी कृषि पर भी उतना ही लाभ हो, जितना कि अन्य फसलो की कृषि पर होता है।

किसी कर के भार का फसल की मात्रा के अनुपात मे होना उस फसल की माँग की लोच पर निर्भर करता है। कर के फसलो की उत्पादन की लागत बढ जाती है, जिससे उनकी कीमत बढ जाती है। यदि माँग बेलोचदार है, तो कीमत कर की पूरी मात्रा के बराबर बढेगी, क्योकि कीमत बढने पर भी खरीदारो की माँग पहले के बराबर ही रहेगी? कर का भार लगान पर नही पडेगा। बल्कि फसलो के उपभोक्ताओ पर पडेगा। यदि माग लोचदार है, तो कीमत बढने से माँग घटेगी। उत्पादन घटेगा और सीमान्त भूमि पर भूमि पर कृषि होनी बन्द हो जायगी। इस प्रकार लगान घटेगा और कर का भार भूमिपति पर पडेगा।

मकानों पर कर का भार

मकानो पर कर का भार और अधिक जटिल होता है। कर का विभाजन मकान मालिक, किरायेदार और मकान वाले श्रमिक के बीच में भी हो सकता है। कर का अश उन लोगो पर भी पड़ सकता है, जो उस मकान में विकनेवाली वतुओ के उपभोक्ता है। जब किसी मुहल्ला या स्थान मे होनेवाले व्यवसाय को लोग अपनाते है, अर्थात्

उसके ग्राहक बन जाते है, तो थोडी-सी कीमते बढा देने से उस मकान के कर का भार उपभोक्ताओ पर चलाया जा सकता है। कीमतो मे वृद्धि इतनी थोडी-सी की जायगी कि उन वस्तुओ को खरीदने के लिये लोग दूर की दूकानो पर नही जायँगे।

किरायेदार और मकान मालिक के बीच मे कर के बँटवारे के सम्बन्ध मे यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि मकानो की माँग बेलोचदार है (और वह प्राय बेलोचदार रहती है) तो कर का भार अधिकतर किरायेदार पर पड़ता है। यदि किसी स्थान मे मकानो की माँग बहुत अधिक नही है, परन्तु उस समय पूर्ति सीमित है, तो कर का भार अधिकतर मकान मालिक पर पडता है। परन्तु ऐसी परिस्थिति मे मकान मालिक नये मकान नही बनवायेंगे और बाद मे जनसख्या की वृद्धि के साथ-साथ जब मकानो की माँग बढेगी, तब मकान मालिक कर का भार किरायेदारो पर लादने मे सफल हो सकेंगे। इसलिये दीर्घकाल मे मकानो पर लदे हुए करो का भार अन्त मे किरायेदारो पर ही पड़ता है।

एकाधिकार पर कर का भार (Incidence of a Tax on Monopoly)—हम देख चुके है कि एकाधिकारी का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना रहता है और वह केवल उतनी ही मात्रा का उत्पादन और विक्रय करेगा, जिससे उसकी सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर रहे। यदि एकाधिकारी के लाभ पर एक कर मुश्त रकम के रूप में लगाया जाय तो वह कीमतो मे परिवर्तन नही करेगा। कर देने के पहले उसे जिस कीमत पर जितनी अधिक आय होती है, कर देने के बाद भी उसकी आय अधिकतम रहेगी। यदि कर आनुपातिक है अर्थात् मान लो, एकाधिकार के लाभ पर १० प्रतिशत के हिसाब से लगाया गया है, तो भी कीमतो मे परिवर्तन नही होगा क्योंकि १० प्रतिशत कर देने के बाद भी उसकी आय अधिकतम आय की ९० प्रतिशत रहेगी और यह अन्य किसी भी आय के ९० प्रतिशत से अधिक है। इसलिये आनुपातिक आय कर का कुल भार एकाधिकारी सह लेगा। अब मान लो, आय कर एकाधिकारी के लाभ पर क्रमश बढती हुई दर से लगाया जाता है। इसमे भी कर-भार एकाधिकारी सह लेगा। जब विक्रय की अन्तिम इकाई से प्राप्त होनेवाली सीमान्त आय उस इकाई की सीमान्त लागत के बराबर होगी, तब उस बिन्दु या स्थिति मे एकाधिकार साम्य (monopoly equilibrium) स्थापित होगा। चूंकि एकाधिकारी को इस इकाई पर कोई लाभ नही होता, इसलिये वह इस पर कर भी नही देता। इसलिये वह उत्पादन की मात्रा पहले के बराबर रखेगा और कीमत भी वही रहेगी। जब उत्पत्ति कर लगाया जाता है, तब कीमत में थोडी-सी वृद्धि कर देने से एकाधिकार के अन्तर्गत सबसे अधिक आय प्राप्त होती है। कर जोड देने से सीमान्त लागत खर्च बढेंगे और यदि साम्य बनाये रखना है तो सीमान्त आय और कीमत भी बढानी पडेगी। सीमान्त आय को सीमान्त लागत के बराबर करने के लिये कीमत कितनी बढानी पडेगी, यह बात माँग की लोच पर निर्भर करेगी। चूकि कीमत बढा दी जाती है, इसलिये कर का कुछ भाग उपभोक्ता

भी देता है। ऐसी परिस्थिति में यदि पूर्ति बिलकुल बेलोचदार न हो और माँग बहुत अधिक लोचदार न हो तो कर का भार कुछ अश में एकाधिकारी पर पड़ता है और कुछ अश मे उपभोक्ता पर।

आयात और निर्यात करों का भार (Incidence of Import and Export Duties)—आयात-निर्यात कर दो देशो के बीच मे होनेवाले व्यवसाय ओर वस्तु विनिमय मे बाधा डालते है। करो का भार दोनो देशो के बीच मे बँट जाता है। एक देश की माँग की लोच दूसरे देश की वस्तुओ के लिये जैसी होती है, उसी के अनुसार कर का भार भी पडता है। कर का भार माँग की तीव्रता के सीधे अनुपात में होता है। यदि भारतीय वस्तुओ के लिये इगलैण्ड की माँग अधिक तीव्र (अर्थात् अधिक बेलोचदार) है और भारत की माँग इगलैण्ड की वस्तुओं के लिये उतनी तीव्र नही है, तो सम्भावना यह है कि करो के भार का अधिक अश इगलैण्ड के उपभोक्ताओ पर पड़ेगा।

आयात पर लगनेवाले करो का भार देश और विदेशो में माँग और पूर्ति की लोच पर निर्भर रहेगा। देश में पूर्ति अधिक और लोचदार होने से कर लगानेवाले देश में कीमतें कम बढेगी और विदेशो में अधिक बढ़ेगी। यदि कर लगे हुए माल की कीमत में थोडी-सी भी वृद्धि होने से देश में उस माल का उत्पादन बढता है, तो देश में उस वस्तु की कीमत में बहुत कम वृद्धि होगी और विदेशो में उसकी कीमत काफी गिरेगी। इसी प्रकार यदि देश की अपेक्षा विदेशो से होनेवाली पूर्ति कम लोचदार और मात्रा में कम है, तो कर लगानेवाले देश मे कीमतो में वृद्धि कम होगी। यदि विदेशी उत्पादक अपनी पूर्त्ति कम नही कर सकता, क्योकि उसके कारखाने विशेष प्रकार के माल बनाते हैं, जिनकी माँग हमारे देश में है, अथवा उसे हमारे देश के बदले अन्य बाजार नही मिलने तो उसे लाचार होकर कम कीमत पर बेचना पडेगा। यदि वह तुरन्त अपनी पूर्ति बदल सकता तो वह ऐसा करने पर लाचार न होता। तीसरे, यदि स्वदेश की माग कर लगाये हुए माल के लिये बहुत लोचदार है, तो उस देश में उस वस्तु की कीमत में बहुत थोडी-सी वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि विदेशी माँग बहुत लोचदार है, तो आयात करनेवाले देश में उस वस्तु की कीमत में वृद्धि अधिक होगी।

जाहिर है कि आयात कर का भार स्वदेश के उपभोक्ताओ पर पडता है, क्योंकि कर लगाने से आयातकर्ताओ के साधारण लाभ घट जाते है। यदि उन्हे साधारण लाभ भी नही मिलता तो वे उन पेशो या धन्धो में जाने का प्रयत्न करेंगे, जहाँ साधारण लाभ मिलने की अधिक सुविधाएँ है। इसलिये उन वस्तुओ की पूर्ति कम हो जायगी। उनकी कीमतें बढेंगी और तब तक कि आयातकर्ता अपने साधारण लाभ न प्राप्त करने लगेंगे। इसलिये साधारणतः आयात कर का भार स्वदेश के उपभोक्ताओ पर पडता है। परन्तु कभी-कभी ऐसे मौके भी आ सकते है, जब कर का भार विदेशियो पर भी डाला जा है। हम देख चुके है कि जब स्वदेश की पूर्ति बहुत लोचदार होती है और विदेश

की पूर्ति बेलोचदार होती है तो कर लगी हुई वस्तुओं की कीमतें कर लगानेवाले देशों में कम बढ़ेंगी। अथवा जब स्वदेश की माँग बहुत लोचदार होगी और विदेश की माँग बेलोचदार होगी, तब भी यही बात होगी। इन सब परिस्थितियों में विदेशी उत्पादक को कर का पूरा अथवा आशिक भार सहना पडेगा। इसी प्रकार विदेश से जो आयात होता है वह यदि विदेश के उत्पादन को देखते हुए बहुत अधिक है और आयात करनेवाले देश के उत्पादन को देखते हुए बहुत अधिक है तो कीमत में बहुत थोडी वृद्धि होगी और कर के भार का कुछ अश विदेशी सहन करेगा।

इसी प्रकार यदि कोई देश कच्चे माल का उत्पादन करता है, जिनकी माँग प्राय: बेलोचदार होती है और वह बने हुए माल का आयात करता है, जिनकी माग लोचदार होती है, तो आयात अथवा निर्यात करों के कुछ अश विदेशियो द्वारा सहन किये जा सकते है। परन्तु यदि विदेशी उत्पादक अपने माल अन्य बाजारों में भी बेच सकते है, अथवा कुछ ऐसे अन्य जरिये है, जहाँ उन्हे कच्चे माल प्रतियोगितापूर्ण परिस्थितियो में मिल सकते है, तो वे उन करो का भार नही सहेगे। इस प्रकार हम देखते है कि विदेशियो पर इन करो का भार बहुत कम अर्थात् केवल कभी-कभी पडता है

आय-कर का भार (Incidence of Income Tax)—आय-कर के भार के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत है, जो एक दूसरे के विरोधी है। एक वर्ग का अर्थात् व्यवसायी वर्ग का मत है कि कीमत की वृद्धि के रूप में आय-कर का चलन किया जा सकता है और किया जाता है। "जब कोई व्यवसायी कीमतें बाँधने या निश्चित करने के लिये अपने लागत खर्चों का अनुमान लगाता है, तब वह बहुधा, कम से कम अप्रत्यक्ष रूप में, उस आय-कर को भी जोड लेता है, जो उसे देना पडेगा; और यदि बाजार की परिस्थितियाँ अनुकूल हुईं तो वह कीमतें ऐसी सतह पर बाँधेगा, जिससे उसे मनवाछित अथवा वास्तव में आवश्यक न्यूनतम आय प्राप्त हो सके।"[1] परन्तु अर्थशास्त्रियो का मत इस मत के विरुद्ध है। उनका कहना है कि आय-कर का चालन नही किया जा सकता और (कुछ अपवादो को छोडकर) वह कीमतो में प्रवेश नही कर सकता।

हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिये कि व्यवसायी को अपने लाभ पर जो आय-कर देना पडता है, क्या वह उसका भार ऊँची कीमतो के रूप में उपभोक्ताओ पर चला सकता है ?

एकाधिकारी के सम्बन्ध में हम जानते है कि वह ऐसी कीमत बाँधता है, जिससे उसे अपने एकाधिकार से अधिकतम आय प्राप्त हो सके। चूँकि उसके लिये यह सर्वोत्तम

[1] Evidence of the Association of British Chambers of Commerce before Colwyn Committee, quoted in the Report, p. 109.

कीमत होगी, इसलिये वह अन्य किसी कीमत से अधिक अच्छा लाभ नही प्राप्त कर सकता।

परन्तु जो व्यवसायी प्रतिद्वन्द्विता की परिस्थितियो में काम करता है, उसके लिये अधिक कीमते रख कर आय-कर का भार चालन करना कठिन होगा। कीमत बढाने की उसकी वह शक्ति नही होती, जो कि एकाधिकारी की होती है। प्रतियोगिता के कारण उसकी शक्ति तीन प्रकार से सीमित हो जाती है। पहले तो उसकी वस्तुओ की तुलना उन वस्तुओ से की जायगी, जिनके गुण मे थोड़ा-सा ही अन्तर है। दूसरे वह अन्य प्रतियोगियो की पूर्ति पर नियत्रण नही कर सकता। यदि वह पूर्ति सीमित कर देगा तो अन्य प्रतियोगी अपने माल से बाजार भर देगे। तीसरे, उसे हराने के लिए अन्य प्रतियोगी अपनी लागत कम कर सकते है और वह उन्हे ऐसा करने से नही रोक सकता। जिस बाजार मे प्रतियोगिता रहती है, उसमें किसी भी समय कीमत सीमान्त उत्पादक के लागत खर्च के बराबर हो सकती है। चूंकि सीमान्त उत्पादको को अतिरिक्त बचत नही होती, अथवा उनका लाभ इतना थोडा होता है कि उस पर आय-कर नही लगाया जा सकता, इसलिये कीमतो मे आय-कर का समावेश नही हो सकता।

सम्मिलित पूँजी की कम्पनियों मे किसी कम्पनी के लाभ पर एक निश्चित दर से (flat rate) कर लगाया जाता है। निजी व्यवसाय के मालिको की तरह सम्मिलित पूँजी की कम्पनी के डाइरेक्टरो को अपने स्वार्थ के लिये कर चालन करने का लालच नही रहता। फिर लाभ पर उसके उद्गम स्थान पर ही एक निश्चित दर से कर लगा दिया जाता है, परन्तु जिन हिस्सेदारो की आय बहुत अधिक रहती है, उन्हे अतिरिक्त कर (sur tax) देना पडता है ओर जिन हिस्सेदारो की आय थोडी-सी रहती है, उन्हे कर से वापिसी के रूप मे कमी अथवा बट्टा (rebate) मिलता है। इसलिए कपनी को जिसमे कि कई तरह के हिस्सेदार रहते है, कीमते बढाने का कोई लालच नही रहता। निजी फर्मो या कम्पनियो में कर के दर अलग-अलग होते है। इसलिये यदि फर्म आय-कर को कीमतो में जोडता है, तो प्रत्येक फर्म की कीमते अलग-अलग होगी। परन्तु कुछ फर्म ऐसे होगे जो अपने प्रतियोगियो को कीमतो मे हरा सकते है। परन्तु बडे फर्म कीमते बढाकर ऐसी परिस्थिति नही ला सकते।

फिर विदेशी प्रतियोगिता का भी ध्यान रखना पडता है। यदि देशी उत्पादक ऊँची कीमतें रखते है, तो विदेशी उत्पादक अपनी कीमते घटाकर सारा बाजार अपने हाथ में लेगे। विदेशी उत्पादको को अपने देशो में आय-कर अवश्य देने पडेगे। परन्तु विभिन्न देशो में करो के दर इतने विभिन्न होते है कि यह आशा करनी व्यर्थ है कि विदेशी ओर देशी उत्पादक एक ही दर से कीमतें बढावेगे।

अन्त मे आय-कर एक सामान्य-कर होता है। यदि वह कीमतो मे सम्मिलित होता है, तो कीमतो का पूरा सतह उठेगा। परन्तु जब तक साख ओर मुद्रा मे स्फीति

न होगी, तब तक मूल्य-सतह में व्यापक वृद्धि अधिक समय तक नहीं टिक सकती। द्रव्य या मुद्रा के परिमाण-सिद्धान्त से यह बात प्रकट होती है। अन्य वस्तुओं के यथा-स्थिति रहते बिना मुद्रा-स्फीति की मूल्य-सतह व्यापक रूप से ऊँचा नही उठ सकती। लेकिन यह विश्वास करने का कोई प्रमाण नहीं है कि आय-कर की वृद्धि होने से प्रामाणिक अर्थात् कानून-ग्राह्य मुद्रा अथवा बैंक जमा की मात्रा में वृद्धि हो जायगी।

प्रोफेसर सेलिगमेन का कहना है कि जिस काल मे कीमतों की वृद्धि तेजी से होती है, उस काल मे सीमात उत्पादकों के सामने कीमत कम करने की लालच या समस्या नही रहती और यदि उस काल मे किसी प्रकार का कर लगे तो उन्हे कीमत बढ़ाने का एक बहाना मिल जावेगा लेकिन यह केवल अल्पकाल में सम्भव है। एक और परिस्थिति में भी आय-कर कुछ हद तक कीमतो मे जोडा जा सकता है। जब कोई फुटकर विक्रेता किसी एक स्थान में अपूर्ण बाजार में विक्री करता है तब वह ऐसा कर सकता है और खरीदार कीमत के इस थोडे से अन्तर के लिये किसी दूर की दूकान में अपनी दैनिक खरीद के लिये जाना पसन्द नही करेगा। परन्तु इसमें भी कीमत में बहुत थोडी वृद्धि होनी चाहिये नही तो यहाँ भी प्रतियोगी उत्पन्न हो जायँगे।

इस कर का प्रभाव सीमान्त आय और सीमान्त-लागत रेखाओ दोनो पर पडता है। बचत की मात्रा पर भी उसका प्रभाव पडता है। यदि कर की ऊँची दर के कारण कुल आय की एक निश्चित मात्रा में से वास्तविक आय कम होती है तो साहसी उत्पादक आय प्राप्त करने में कम समय और शक्ति व्यय करेंगे, अर्थात् उनका उत्साह घट जायगा और इसका प्रभाव कीमतो पर पडेगा।[1]

करों का पूँजीकरण (Capitalisation of Taxes)—जब किसी स्थायी सम्पत्ति से प्राप्त होनेवाली आय पर कर लगाया जाता है, तो उस सम्पत्ति से होनेवाली वास्तविक आय घट जाती है। इसलिये उस सम्पत्ति का मूल्य घट सकता है। इस क्रिया को करों का पूंजीकरण (Capitalisation or amortisation of taxes) कहते है।

करों का पूँजीकरण।

ब्याज की प्रचलित दर पर कर की मात्रा का पूंजीकरण कर दिया जाता है और सम्पत्ति का विक्रय मूल्य कर की मात्रा के बराबर घट जाता है। एक उदाहरण ले लिया जाय। मान लो, भूमि के एक खड से १०० रु० लगान के रूप में प्राप्त होता है और ब्याज की दर ५ प्रतिशत है। तब इस हिसाब से भूमिखड का मूल्य २,००० रुपया होगा। मान लो, सरकार भूमि के लगान पर १० प्रतिशत की दर से कर लगाती है। तब कर देने के बाद असली लगान ९० रुपया होता है। अब भूमि का मूल्य १८०० रु० हो जाता है। भविष्य में खरीदार इस बात का ध्यान रखेंगे कि उन्हे लगान पर १० प्रतिशत कर देना

[1] *Harris*, The National Debt and the New Economics, p. 215-16.

पडेगा। इसलिये उस भूमि को खरीदते समय वे कम कीमत लगावेंगे, जिससे कि उन्हें अपनी रकम पर कम से कम ५ प्रतिशत व्याज तो मिले। भविष्य के खरीदार प्रति वर्ष कर तो अवश्य देगे, परन्तु उसका भार उनके ऊपर न पडेगा, क्योंकि उस भूमि का मूल्य उन्होने कम दिया है। पहले जो व्यक्ति भूमि का स्वामी था, उसे उस कर के मूल्य का प्रतिशोध (amortisation or write off) करना पडेगा। इस प्रकार कर के जिस मूल्य का पूंजीकरण किया जाता है, उसकी कुल मात्रा सम्पत्ति के विक्रेताओं को देनी पडेगी। यह बात अवश्य है कि यदि कर कई वर्षों के बाद दिया जाता है, तो कर लगी हुई सम्पत्ति के वर्तमान मालिको को अतिरिक्त लाभ या पुरस्कार (bonus) मिल जाता है, क्योंकि उससे सम्पत्ति का मूल्य वढ जाता ह।

किसी कर का पूंजीकरण करने के पहले कई शर्तों का पूरा होना आवश्यक होता है। कर ऐसी स्थायी सम्पत्ति पर लगाना चाहिये, जिसकी पूर्ति सम्पत्ति की कीमतो मे होनेवाले परिवर्तनो के साथ-साथ मनचाहे रूप मे न वदली जा सके। यदि सम्पत्ति टिकाऊ नही है, तो उसके मूल्य मे ह्रास होने से उसकी पूर्ति भी कम हो जायगी। इसलिए कीमत वढ जायगी और कर का भार खरीदारो पर पड़ेगा। दूसरी शर्त यह है कि कर भेदात्मक (differential) होना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि पूंजी लगाने के और भी कई जरिये है, जिन पर कर नही लगता है अथवा जिन पर बहुत कम दर से कर लगता है। कर के एकाकी और असाधारण प्रकृति का होने के कारण ही उसका पूंजीकरण सभव होता है। मान लो, केवल भूमि पर कर लगता है, सरकारी ऋण-पत्रो पर कर नही लगता। पूंजी लगानेवाले अपनी पूंजी या तो भूमि मे लगा सकते हैं या सरकारी ऋण-पत्रो में और सरकारी ऋण-पत्रो मे पूंजी लगाने से उन्हे ५ प्रतिशत व्याज मिलेगा। तव भूमि मे वे तव तक अपनी पूंजी न लगावेगे जव तक कि उन्हे कम से कम ५ प्रतिशत व्याज न मिलेगा। इसलिये जव भूमि पर १० प्रतिशत का कर लगाया जाता है, तो जिस भूमि से कुल लगान १०० रुपया मिलता है, तो कर देने के वाद ९० रु० मिलता है, उसके लिए खरीदार केवल १८०० रुपया देगे। परन्तु यदि पूंजी लगाने के अन्य सव जरियो पर भी एक वरावर कर लगा है, तो सम्पत्ति के खरीदारो को अन्य जगह अधिक अच्छा सौदा या शर्तें नही मिलेगी। ऐसी परिस्थितियो मे कर का पूंजीकरण नही हो सकता। कर की आकस्मिकता (unexpectedness) भी पूंजीकरण के पक्ष मे एक विशेष वात हो जाती है। यदि किसी कर के वारे मे पहले से मालूम हो जाय कि यह लगनेवाला है, तो उसका वट्टा आरम्भ से ही लगने लगेगा। परन्तु जव कोई भेदात्मक कर किसी टिकाऊ सम्पत्ति पर एकाएक लगा दिया जाता है, तव वेचनेवालो को वेचते समय अपनी सम्पत्ति के मूल्य मे कुछ घटी या ह्रास सहने के सिवा और कोई उपाय नही रहेगा।

इस प्रकार यदि कोई कर व्यापक (universal) नही है, तो किसी भी
 की टिकाऊ सम्पत्ति पर उसका पूंजीकरण किया जा सकता है। साधारण आय-कर

यह शर्त पूरी नही करता, क्योकि वह सामान्य अर्थात् व्यापक होता है, एकाकी (exclusive) नही होता। परन्तु आय-कर का जो भाग केवल सम्पत्ति से प्राप्त आय पर पडता है, यदि वह साधारण आय-कर से अलग किया जा सकता है तो उसका पूँजीकरण किया जा सकता है। इसी प्रकार अतिरिक्त लाभो (excess profits) पर लगने वाले कर का भी पूँजीकरण या प्रतिशोध हो सकता है और ऐसे व्यवसायो के विक्रय मूल्य घट जायँगे। मान लो, एक कम्पनी को ५० प्रतिशत की दर से लाभ हो रहा है जब कि साधारण लाभ की दर १० प्रतिशत है, तो जो कम्पनी केवल साधारण लाभ प्राप्त कर रही है, उसकी अपेक्षा पहली कम्पनी के हिस्सो की कीमत पाँचगुनी अधिक होगी। अब मान लो, एक कर लगाया जाता है और अतिरिक्त लाभ कम होकर केवल ३० प्रतिशत रह जाता है। तब पहली कम्पनी के हिस्से दूसरी की अपेक्षा तीनगुने अधिक रहेगे। इसी प्रकार एकाधिकार से प्राप्त होने वाले लाभो पर कर लगाने से लाभ की मात्रा घट जायगी और एकाधिकार की सम्पत्ति का विक्रय मूल्य कर के पूँजीकरण के मूल्य की मात्रा के बराबर कम हो जायगा।

करों मे सम्मिश्रण का सिद्धान्त।

पुराना कर (An Old Tax)—बहुत से पूँजीपति प्राय. कहा करते है कि पुराना कर कोई कर नही होता और उसका भार विशेपरूप से शायद ही कोई अनुभव करता है। उदाहरण के लिए यह बात प्राय कही जाती थी कि भारत मे नमक कर एक पुराना कर था और उसे उठाने की कोई आवश्यकता नही थी। इसलिये हमे इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए। इस प्रश्न के पक्ष मे कई बातें कही जा सकती है। एक तर्क हम ऊपर देख चुके है। एक पुराने कर का पूँजीकरण किया जा सकता है और यद्यपि लोग उसे प्रतिवर्ष देते रहते है, परन्तु उस पर उनका भार नही पडता। किन्तु सब पुराने करो का पूँजीकरण नही किया जाता। जब कोई कर किसी टिकाऊ सम्पत्ति पर होता है और जब वह भेदात्मक होता है, केवल तब उसका पूँजीकरण हो सकता है। दूसरा तर्क सम्मिश्रण सिद्धान्त (diffusion theory) के समर्थको द्वारा किया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक कर का सारे समाज पर इस प्रकार वितरण कर दिया जाता है कि उसका ठीक-ठीक भार निश्चित करना सम्भव नही होता। सम्मिश्रण द्वारा अन्तिम भार सारे समाज पर फैला दिया जाता है। इस सिद्धान्त के एक महत्वपूर्ण समर्थक ने कर लगाने की तुलना शरीर में खून देने की क्रिया से की है। शरीर के किसी नस से खून लिया जाता है, तब केवल उस नस में खून की होती। शरीर की सब नसो मे खून की मात्रा कम हो जाती है। यही हाल है। जब किसी एक स्थान या बिंदु पर कर लगाया जाता है, तब उसका बिन्दु पर नही पडता, बल्कि सब बिंदुओ पर पड़ता है। इसलिये समय कर का सम्मिश्रण हो जायगा और किसी एक व्यक्ति पर उसका भार न अन्य लोग उससे बच सकेंगे।

करो का सम्मिश्रण का सिद्धान्त एक व्यर्थ सिद्धान्त है। इसमें सन्देह नही कि जैसे-जैसे समय बीतता जाता है, वैसे-वैसे किसी कर विशेष का प्रभाव भी सारे समाज में फैलता जाता है। लेकिन इसका अर्थ यह नही कि हम किसी कर का ठीक-ठीक भार निश्चित नही कर सकते। पुराना कर भार-रहित कर भी नही हो सकता। जब भारत मे नमक पर से कर हटाया गया, तब नमक की कीमत तुरत कम हो गई। इसलिये उस हद तक उपभोक्ताओ को लाभ हुआ। इसलिये यह नही कहा जा सकता कि पुराना कर कोई कर ही नही होता। यह बात जरूर है कि कालान्तर मे लोग पुराने कर के आदी हो जाते है ओर जब वे उसके देने के आदी हो जाते है तथा उसे देना आवश्यक समझने लगते है, तब उसके भार का अनुभव वे उस प्रकार नही करते, जिस प्रकार कि एक नये कर के भार का अनुभव करते है। इस तरह हम यह भी कह सकते है कि पुराना घाव कोई घाव नही होता। परन्तु यदि करदाता किसी कर के भार का अनुभव नहीं करते, तो यह कर का कोई बडा गुण नही है। पुराने कर के पक्ष मे एक अन्य तर्क भी है। सब करो के चालन मे समय लगता है और जब कर लगाया जाता है, तब स्थिर होने के पहले प्रारम्भ मे काफी कठिनाई और अस्तव्यस्तता का अनुभव होता है। अर्थात् पुराना कर चालित होकर स्थिर हो जाता है। परन्तु इन तर्कों से यह प्रमाणित नही होता कि पुराना कर कोई कर ही नही है।

अध्याय ५५

कुछ कर विशेष
(Particular Taxes)

किसी कर के परिणाम (Effects of a Tax)—किसी कर के परिणाम निश्चित करने का अर्थ यह जानना है कि उस कर द्वारा अन्त मे कौन-सी आर्थिक समस्याएँ उत्पन्न होती है। कर के भार (incidence) ओर परिणाम (effect) में अतर होता है। भार का सम्बन्ध प्रत्यक्ष मुद्रा सहने से है। परन्तु परिणाम का सम्बन्ध उत्पादन की शैली, आय के वितरण तथा बचत करने की इच्छा और योग्यता पर पडने वाले प्रभावो से है। किसी कर के परिणामो का अध्ययन हम तीन दृष्टियो से कर सकते है। अर्थात् कर का लोगो की काम करने की इच्छा ओर बचत करने की इच्छा पर क्या प्रभाव पडता है। लोगो की काम करने की शक्ति पर क्या प्रभाव पडता है और आर्थिक साधनो के वितरण पर क्या प्रभाव पडता है।

आय-कर और उसके परिणाम (Income Tax and its effects)—आय कर का की काम करने की योग्यता पर जो प्रभाव पडता है, वह आय-कर की सतह और

आय-कर और काम तथा बचत करने की शक्ति

जिन पर कर लगाया जाता है, आय के उन वर्गों पर निर्भर करता है। साधारणत ऐसी प्रथा है कि एक निश्चित सतह के नीचे की आयो पर कर नही लगाया जाता और उस सतह के ऊपर जैसे-जैसे आय वढती जाती है, वैसे-वैसे कर की दर भी वढती जाती है। अधिक आय की एक दूसरी सतह पर सुपर टैक्स या अतिरिक्त कर (Super-tax) लगाया जाता है। परन्तु कर की दर इतनी अधिक कभी नही रखी जाती कि सारी आय कर के रूप मे चली जाय। जहाँ तक कर-मुक्ति की सतह श्रम वर्ग तथा निम्न मध्यम वर्ग के रहन-सहन के दर्जे को ध्यान मे रखकर निश्चित की जाती है, वहाँ तक यह कहा जा सकता है कि आय-कर का कुप्रभाव कार्य-क्षमता की आवश्यक शर्तो पर नही पडता। फिर साधारण आयो पर वहुत हल्का कर लगाया जाता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि आय-कर का प्रभाव रहन-सहन के दर्जे पर नही पडता और इस कारण उससे काम करने की क्षमता कम नही होती। अव रहा आय-कर की वचत करने की शक्ति पर प्रभाव। इस सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक कर लोगो की वचत करने की शक्ति घटा देता है। यही हाल आय-कर का भी है। परन्तु एक व्यक्ति की वचत करने की शक्ति और कुल देश की वचत करने की शक्ति मे अन्तर हो सकता है। यदि आय-कर से प्राप्त रकम को सरकार ऋणो का व्याज देने मे खर्च करती है, तो मुद्रा का एक वचत करनेवाले वर्ग से दूसरे वचत करनेवाले वर्ग को प्रत्यक्ष परिवर्तन होता है। जिन लोगो के पास काफी वॉन्ड या ऋण-पत्र होते है, वे इस व्याज की वचत करेगे, क्योकि उनकी उपभोग की प्रवृत्ति धनी कर-दाताओ के समान मानी जाती है। इसलिये जव यह प्रश्न किया जाता है कि क्या आय-कर देश की वचत करने की शक्ति कम कर देता है, तव उसका उत्तर इस वात पर निर्भर करता है कि आय-कर से प्राप्त रकम किस प्रकार खर्च की जाती है। फिर सम्मिलित पूंजी की कम्पनियो द्वारा देश की अधिकाश पूंजी की अपने आप वचत हो जाती है। पूंजी के इस भाग का लोगों की काम करने और वचत करने की शक्ति से वहुत कम सम्वन्ध है।

आय-कर और काम तथा बचत करने की शक्ति

इसके वाद आय-कर का मनोवैज्ञानिक पहलू आता है और यह प्रश्न काफी पेचीदा है। आय-कर का लोगो की काम करने और वचत करने की शक्ति पर किस प्रकार प्रभाव पडता है? इस सम्बन्ध मे दो मत है और दोनो काफी उग्र है। एक मत के लेखको का कहना है कि आय-कर की ऊँची दर किसी व्यक्ति की काम करने और वचत करने की शक्ति घटा देती है, क्योकि उसकी आय का काफी वडा भाग कर के रूप मे चला जाता है। दूसरे मत के लेखको का कहना है कि इस कर से वचत करने की प्रवृत्ति और दृढ हो जाती है क्योकि भविष्य मे कर देने के लिये कर दाता अपने लिये तथा अपने कुटुम्ब के लिये काफी रकम सग्रह कर लेना चाहता है। इस मत के समर्थन मे यह कहा जा सकता है कि वहुत से धनी लोग मान प्रतिष्ठा तथा सामाजिक [illegible]

लिये सम्पत्ति की कामना करते है। इसलिये आय-कर लगने से ये लोग पहले की अपेक्षा अधिक मुस्तैदी से काम करेगे। लोगों के अधिक या कम काम करने का प्रश्न उनकी आय की माँग की लोच पर निर्भर करता है। यदि मांग लोचदार है, तो काम करने और बचत करने की इच्छा घटेगी। परन्तु यदि मांग बेलोचदार है, तो काम और बचत करने की इच्छा बढेगी। प्राय लोग रहन-सहन के एक दर्जे के आदी हो जाते है। इसलिये आय की एक विशेष रकम के पहिये उनकी मॉग बेलोचदार हो जाती है। इसी प्रकार यदि बुढापे मे अथवा बच्चो के लिये एक विशेप रकम आवश्यक हो जाती है तो बचत की मात्रा कम न होगी। यह बात अवश्य है कि बचत करनेवाले कुछ लोग ऐसे भी रहते है, जिन्हे हमेशा यह शका बनी रहती है कि बचत करे या न करे। इस प्रकार के लोगो पर कर का प्रभाव हानिकारक होगा, परन्तु आय-कर से सम्मिलित पूँजी की कम्पनियो की बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव नही पडेगा। उन्हे प्रति वर्ष काफी बडी मात्रा मे धन की बचत करनी पडती है। उनकी समस्याएं व्यक्तियो की समस्याओ के समान नही रहती। कम्पनी के लाभ पर एक मोटी दर (flat rate) से आय-कर लगा दिया जाता है। फिर धनी हिस्सेदारो की कुल आय पर अधिक दर से आय-कर लगता है। गरीब हिस्सेदारो को, जिनकी आय कर से मुक्त रहती है, कुछ कमी या बट्टा (rebate) मिल जाता है। यदि हम सम्पूर्ण व्यवसाय पर दृष्टि दे तो देखेगे कि उसे लाभ या हानि कुछ भी नही होती। इसलिये कर लगाने से व्यवसायों की बचत पर प्रतिकूल प्रभाव नही पड़ेगा।

वचत करनेवाले पर कर के मनोवैज्ञानिक परिणाम का विचार करना भी यहा अनुचित न होगा। जब लोग कोई कर देने के आदी हो जाते है, तो वे धीरे-धीरे उसकी कटुता या तीक्ष्णता को भूल जाते है। लोगो की पहली पीढी के लिये कोई कर जितना कष्टदायक होता है, आगे की पीढ़ियाँ उतने कष्ट का अनुभव नही करती। जब इगलैण्ड मे पहले-पहल आय-कर लगाया गया, तो सारे देश मे बडा असतोष फैला, यद्यपि उसकी दर बहुत ऊँची नही थी। परन्तु अब उसकी दर कही अधिक है, फिर भी उसका भार उतना अधिक नही माना जाता।

अब हम देखेगे कि आय-कर का आर्थिक साधनो के विभिन्न पेशो और स्थानो मे वितरण पर कैसा प्रभाव पड़ता है। इसे हम तीन विभागो मे बांट सकते है। (१) आय-कर खर्च और बचत, (२) आय-कर और उत्पादन सम्बन्धी साहस, और (३) आय-कर और पूँजी का लुप्त होना।

आय-कर और बचत (Income Tax and Savings)—कुछ लोगो का मत है कि आय-कर एक भेदात्मक कर है। बचत पर उसका प्रतिकूल प्रभाव पडता है और खर्च करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। चूँकि यह कर प्रत्येक प्रकार की बचत पर लगता है, इसलिये लोग बचत करने की अपेक्षा खर्च करना अधिक पसन्द करते है। चूँकि पूँजी सग्रह करने के हित मे यह बात ठीक नही है, इस-लिए पिगू और फिशर का मत था कि जिस आय की बचत की जाय, उस पर कर बिलकुल नही लगना चाहिये। कर केवल उस भाग पर लगाना चाहिये, जो खर्च किया जाता है। स्वाम्प और गुलीवाड समान लेखको ने इस बात का खडन किया है कि आय-कर से बचत पर दुहरा कर लगता है। जब कोई वस्तु उपार्जित की जाती है, तो उस पर एक विशेष दर से कर लगाया जाता है। यदि पूरी आय खर्च कर दी जाय तो कर लगाने के लिये कुछ नही बचेगा। परन्तु यदि उस आय का एक अंश बचाकर पूँजी के रूप मे लगा दिया जाय तो उस पूँजी से होनेवाले लाभ पर भी कर लगेगा। इसे बचत पर दुहरा कर नही कहा जा सकता। बचत के ब्याज पर कर लगाने से बचत पर दुहरा कर नही होता। यह ब्याज तो नई सम्पत्ति है, जो बाद के समय मे बचत द्वारा उपार्जित की गई है। इसलिये एक आय पर दो बार कर नही लगाया जाता, चाहे उसे बचाया जाय चाहे खर्च किया जाय।

बचत और खर्च की प्रवृत्ति पर प्रभाव

आय-कर और साहसपूर्ण उत्पादन (Income Tax and Enterprise) कुछ लोगो का मत है कि आय-कर से खतरे से भरे हुए उत्पादन-कार्यों को आरम्भ करने का साहस कम हो जाता है। खतरे से भरे हुए व्यवसाय आरम्भ करने का उद्देश्य यह होता है कि लाभ अधिक प्राप्त होगा। यदि करो के द्वारा लाभ की मात्रा कम हो जाती है तो इस प्रकार के व्यवसायो को कोई हाथ मे न लेगा। इसमे भी मनोवैज्ञानिक पहलू बहुत महत्वपूर्ण है और कोई बात निश्चयपूर्वक नही कही जा सकती। इसमे सन्देह नही कि कुछ लोग खतरे से भरे हुए कामो को हाथ में लेने की अपेक्षा पूँजी को सुरक्षित रूप से लगाना अधिक पसन्द करेंगे। परन्तु कुछ लोग ऐसे भी होगे जो अधिक लाभ के लालच से खतरे से पूर्ण काम हाथ मे लेना पसन्द करेंगे, जिससे करो के देने मे जो क्षति हुई है, वह पूरी हो सके।

डा० ब्लेक का मत है कि कर लगाने से धनी व्यक्तियो का ऐश और आराम पर खर्च कम हो जायगा और कर से जो आय होगी वह गरीबो के लिये लाभकारी कार्यों पर खर्च की जा सकती है। ऐश और आराम की वस्तुओ के उत्पादन में अनिश्चितता रहती है। गरीबो की आवश्यकताओ की वस्तुओ को बनाने में उतनी अनिश्चितता नही रहती। इसलिये कर लगने से उत्पादको की कुल अनिश्चितता कम हो जायगी।[1]

---

[1] D. Black, The Incidence of Income Tax, p 223

आय-कर और पूँजी पर पलायन (Income Tax and Flight of Capital)—एक डर यह रहता है कि यदि आय-कर वहुत ऊँची दर से लगाया गया तो पूँजी विदेशो को भाग जायगी। परन्तु विदेशो से जो आय आती है, उस पर भी कर लग सकता है। यदि पूँजी का स्वामी अपनी पूँजी लेकर विदेश चला जावे तो वह कर से वच सकता है। फिर विदेशो मे भी तो आय-कर लग सकता है। इससे पूँजी के पलायन का भय कम हो जाता है। उसी पूँजी पर देश और विदेशो मे दो जगह कर लग सकता है। यह दुहरा कर हो जायगा। इसलिये लोग विदेशों में पूँजी लगाने के लिये उत्साहित न होगे, वल्कि डरेगे।

अव एक डर यह है कि जिस देश मे आय-कर लगेगा, उसमे विदेशी लोग पूँजी लगाना पसन्द नही करेगे। परन्तु विदेशी पूँजी का स्वदेश मे लगना कई वातो पर निर्भर करता है। जैसे कि विदेश और स्वदेश के आय-करो की दर में अन्तर, पूँजी लगाने से लाभ की मात्रा, विदेश में पूँजी की सुरक्षा इत्यादि। विदेशी पूँजी का लगना इन सब वातो पर निर्भर करता है। इसलिये निश्चयपूर्वक किसी एक पक्ष मे कुछ नही कहा जा सकता।

मृत्यु-कर (Death Duty)—कर की एक महत्वपूर्ण प्रणाली किसी व्यक्ति की सम्पत्ति पर उसकी मृत्यु के समय कर लगाना है। इस कर के उदाहरण इगलैण्ड का मृत्यु-कर और अमेरिका का उत्तराधिकार कर (Inheritance Taxes) है इगलैण्ड मे सम्पत्ति-कर (Estate Duty) मृत्यु के समय छोड़ी हुई सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार लगता है और उत्तराधिकार कर (Legacy and Succession Duties) उत्तराधिकार के मृतक व्यक्ति के साथ सम्वन्ध पर निर्भर करता है। जो उत्तराधिकारी मृतक के निकट सम्वन्धी होते है, उन्हे अधिक दर से कर देना पडता है। परन्तु जो दूर के सम्वन्धी होते है, उन्हे अधिक दर से कर देना पडता है। अमेरिका मे उत्तराधिकार कर सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार अलग-अलग होता है। भार के प्रश्न को छोडकर यहाँ हम इस वात पर विचार करेगे कि इस कर का कुल उत्पादन पर क्या प्रभाव पडता है।

मृत्यु कर और वचत

चूँकि केवल वडी उत्तराधिकार की सम्पत्तियो पर मृत्यु-कर ऊँची दर से लगाया जाता है, इसलिये उसका प्रभाव निम्न वर्गों की वचत पर वहुत अधिक नही होता। यह बात अवश्य है कि जो उत्तराधिकारी मृत्यु-कर देगा, वह उतनी वचत नही कर पावेगा, जितनी रकम की उसे कर के रूप मे देनी पडेगी। परन्तु प्रत्येक उच्च दर का कर इस प्रकार का होता है। यह विशेषता केवल मृत्यु-कर के सम्वन्ध मे नही है। कई लोगो का मत है कि एक दृष्टि से मृत्यु-कर की अपेक्षा आय-कर अधिक अच्छा होता है। वह यह कि आय-कर आय में से दिया जाता है, परन्तु मृत्यु-कर पूँजी मे से दिया जाता है। परन्तु यह तर्क गलत है। ऊँची दर का कोई भी कर चाहे वह आय-कर हो अथवा मृत्यु-कर, पूँजी मे हस्तक्षेप करेगा। आय-कर भविष्य की पूँजी मे से दिया जाता है, अर्थात् वही

आय भविष्य में पूंजी हो जाती है और मृत्यु-कर वर्तमान पूंजी में से लिया जाता है। किन्तु जब मृत्यु-कर देने का प्रबन्ध वार्षिक बीमा के द्वारा कर लिया जाता है तब मृत्यु-कर और आय-कर में कोई अन्तर नहीं रहता।

मृत्यु-कर और बचत करने की इच्छा।

जहाँ तक बचत करने की इच्छा पर मृत्यु-कर के प्रभाव पड़ने का प्रश्न है, तो यह कहा जा सकता है कि आय-कर की अपेक्षा मृत्यु-कर कम बाधा देता है। मृत्यु-कर काफी देर बाद भविष्य में दिया जाता है। आय-कर के समान निकट भविष्य में नहीं दिया जाता। वर्तमान अथवा निकट भविष्य की तरह हम दूर भविष्य पर उतना ध्यान नहीं देते। फिर मृत्यु-कर बचत करनेवाले के द्वारा नहीं दिया जाता, बल्कि वह उसके उत्तराधिकारी द्वारा दिया जाता है। सम्पत्ति का मालिक अपने जीवन मे अपनी सम्पत्ति का पूरा उपभोग कर सकता है और मृत्यु के समय बड़ी सम्पत्ति छोड़कर मर सकता है। मृत्यु-कर का उसके जीवन-काल में कोई असर नहीं पड़ता। इन सब बातो को ध्यान मे रखते हुए हम यह कह सकते है कि बचत करने की इच्छा पर मृत्यु-कर आय-कर की अपेक्षा कम प्रभाव डालता है।

मृत्यु-कर का सम्पत्ति के उत्तराधिकारी पर सम्भवतः इस प्रकार का मनोवैज्ञानिक असर पड़ेगा कि वह अधिक परिश्रम करने को तैयार रहेगा। यदि उसे कर के रूप में अधिक रकम देनी पड़ी, तो वह उसे उपार्जन करने का प्रयत्न करेगा। यदि उत्तराधिकारी मृतक का दूर का सम्बन्धी है, तो भी अधिक सम्पत्ति मिलने की आशा उसकी बचत करने और अधिक परिश्रम करने की इच्छा पर संभवतः प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालेगी। यह सम्पत्ति तो उसके हाथ में एकाएक आनेवाली होती है और जब तक वास्तव में वह उसे मिल नहीं जाती, तब तक वह अपना श्रम कम नहीं करेगा।

रिगनानो योजना (Rignano Scheme)—ऊपर जो विवेचना की गई है, उसमे यह अनुमान कर लिया जाता है कि मृत्यु-कर कुछ हद तक बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है। बचत करनेवाले की मनोदशा पर इस प्रतिकूल प्रवृत्ति का असर हटाने के लिये प्रोफेसर रिगनानो नामक एक इटालियन लेखक ने मृत्यु-कर सम्बन्धी एक योजना का सुझाव रखा है। संक्षेप में यह योजना इस प्रकार है। एक

है। इस योजना में अनुमान यह है कि कोई भी आदमी अपने पहले उत्तराधिकारी का जितना अधिक ख्याल करता है, उतना ख्याल आगे की पीढियो का नही करता। कुछ पीढियो के बाद सम्पत्ति खोने का प्रभाव बचत करने की इच्छा पर उतना अधिक प्रतिकूल नही पडेगा, जितना कि अगली पीढी मे खोने का। फिर चूँकि ब जानता है कि अ की सम्पत्ति का काफी बडा अश राज्य ले लेगा, इसलिये वह अधिक श्रम और बचत करेगा, जिससे उसके उत्तराधिकारी स के रहन-महन का दर्जा कम न हो। इस प्रकार उसकी मनोदशा पेर प्रतिकूल प्रभाव पडने की अपेक्षा उसकी काम करने और बचत करने की इच्छा बढ सकती है।

इस योजना मे सरकार के लिये प्रबन्ध सम्बन्धी कुछ कठिनाइयाँ अवश्य होगी, लेकिन इगलैण्ड के बोर्ड ऑफ इगलैण्ड रेवेन्यूज का इसके सम्बन्ध में मत है "कि देश में रिगनानो योजना के आधार पर क्रियाशील मृत्यु-कर की प्रणाली स्थापित करनी असम्भव नही है।" न्याय औचित्य के आधार पर इसकी एक आलोचना की जाती है। मान लो ब उत्तराधिकार के रूप मे अ से ५०,००० पाता है और यह रुपया कम्पनियो के हिस्सो मे लगा हुआ है। ब के जीवन काल में ये कम्पनियाँ फेल हो जाती है और उस उत्तराधिकार की सम्पत्ति का मूल्य शून्य हो जाता है। परन्तु बाद में अपने प्रयत्नो से ब काफी सम्पत्ति उपार्जन करता है। तब क्या ब की सम्पत्ति उत्तराधिकार में मिली हुई समझी जायगी और उस पर ऊँची दर से कर लगेगा? अथवा वह उसकी स्वय उपार्जित मानी जायगी और उस पर कम दर से कर लगेगा? यदि पहली रीति ग्रहण की गई तो ब के साथ बडा अन्याय होगा और यदि दूसरी रीति से काम लिया गया तो प्रत्येक उत्तराधिकारी बहाना करेगा कि उसके उत्तराधिकार मे मिली हुई सम्पत्ति का मूल्य कम हो गया है। लोग जालसाजी और कर देने मे चोरी करेगे।

रिगनानो योजना की आलोचना।

डाल्टन ने कहा है कि जिस व्यक्ति की मृत्यु के बाद सम्पत्ति बिलकुल जब्त हो जायगी वह अपने जीवन-काल में ही सारी सम्पत्ति खतम कर सकता है। इसलिये डाल्टन इस योजना में कुछ परिवर्तन करना चाहता है। अगले उत्तराधिकार पर जितना कर देना पड़ेगा, उतना कर सम्पत्ति पर साधारण करो के चुकने के बाद और लगा देना चाहिये। इस अतिरिक्त कर के बदले में सम्पत्ति के स्वामी को राज्य से एक वार्षिक रकम मिला करेगी और स्वामी के मरने के बाद यह वार्षिक सहायता बन्द हो जावेगी। "सिद्धान्त की दृष्टि से उत्तराधिकारी की आय मे कमी न होगी, परन्तु उसकी मृत्यु होने पर राज्य को अपनी पूँजी मिलने का विश्वास रहेगा।

अनुपार्जित वृद्धि पर कर (Taxation of Unearned Increment)—भूमि के मूल्य मे जो अनुपार्जित वृद्धि होती है, उस पर कर लगाने का सुझाव रखा गया है। एक तो भूमि का मूल्य तब बढ सकता है, जब उसका स्वामी उसकी उन्नति

के लिये कुछ उपाय करे। परन्तु भूमि के स्वामी के बिना कुछ प्रयत्न किये समाज-की उन्नति के साथ-साथ ही भूमि का मूल्य बढ सकता है। सम्पत्ति और जनसख्या की वृद्धि के साथ-साथ अन्न का भाव बढ जाता है। इससे लगान मे और भूमि के मूल्य मे वृद्धि होती है। शहरो मे भूमि की अनुपार्जित मूल्य-वृद्धि विशेष रूप से देखने मे आती है। शहर के बीच की जमीन का, जहाँ नई सडके बनती है, वहा की जमीन का, तथा जहाँ पार्क इत्यादि बनते है वहाँ की जमीन का मूल्य बढ जाता है, और कभी-कभी तो बहुत अधिक बढ जाता है। जब शहर बसते और बढते है तो उनके आसपास की भूमि का मूल्य बढ जाता है। भूमि के मूल्य मे यह वृद्धि आकस्मिक होती है, भू-स्वामियो के प्रयत्नो के कारण नहीं होती। चूंकि यह मूल्य वृद्धि समाज के कार्य-कलापो के फलस्वरूप होती है, इसलिये क्या यह उचित नही है कि यह अतिरिक्त मूल्य-वृद्धि सरकार ले ले? क्यो कि उसे उपार्जित करने के लिये भू-स्वामी ने कुछ भी प्रयत्न नही किया है।

अनुपार्जित वृद्धि कर कई दृष्टियो से आदर्श कर माना जाता है। एक कारण हम ऊपर बतला चुके है। वृद्धि केवल सामाजिक कारणो से हुई है। भू-स्वामी ने उसके लिये कुछ भी प्रयत्न नही किया, जिससे वह उसे मिलना चाहिये। सम्पत्ति की जो वृद्धि केवल भाग्य के कारण हुई है, जो वृद्धि स्वामी के प्रबन्ध या दूरदर्शिता के कारण नही हुई, उस पर कर लगाना अनुचित नही हो सकता। दूसरा कारण भूमि के मूल्य में अचानक वृद्धि है। इसलिये कर के परिणामस्वरूप न तो भूमि के पूर्ति मे परिवर्तन होगा और न भू-स्वामियो की काम करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। इस-लिये कर के कारण लोगो के कार्यों में दिशा परिवर्तन न होगा।

इस कर का बचत करने की इच्छा पर प्रभाव।

परन्तु यह प्रश्न ऊपर से जितना सरल दिखता है, वास्तव में उतना है नही। उसमें भी काफी उलझने है। यह सम्भव है कि किसी भूमि के सम्बन्ध मे यह जान लिया गया हो कि भविष्य में उसकी उन्नति होगी, इसीलिये उसका वर्तमान क्रय मूल्य दिया गया हो। "सम्भव है कि खरीदार ने पहले यह सोच लिया था कि भविष्य मे यह भूमि मकान बनाने के लिये काफी अच्छी और लाभकारी होगी। इसी विचार से खरीदार ने उसके तत्काल मूल्य से अधिक मूल्य दिया हो। तब भविष्य में मूल्य बढने पर कम से कम उस वृद्धि का कुछ अंश तो आकस्मिक नही कहा जायगा। बल्कि उसे उसकी पुरानी पूंजी पर संग्रहीत दर-ब्याज कहेंगे।"[1] यदि ऐसी बात हो—

---

1 The buyer "may have foreseen the possible development into a building site, and may therefore have paid a price above the value of the land in its existing uses because of the chance of its development. Part of the increase in price that he gets then is not a windfall, but accumulated compound interest on his old investment."

—B[illegible], Public Finance, p

और सम्भव है कि बात ऐसी ही हो—तो आर्थिक लगान के अनुपार्जित अश का पता लगाना लगभग असम्भव बात है। एक अन्य कठिनाई यह होती है कि अनुपार्जित वृद्धि मे और भू-स्वामी के प्रयत्नों के कारण मूल्य वृद्धि मे अन्तर करना हमेशा सम्भव नही होता। भूमि स्वयं चालित साधन नही है। भू-स्वामी को कुछ काम करना ही पडता है। वह उसके उपयोग करने की योजना बनाता है और उनकी उन्नति करता है। इस-लिये भूमि से उसे जो कुछ प्राप्त होता है, वह कुछ अश मे तो लगान होता है और कुछ अंशो मे मजदूरी, लाभ और ब्याज होता है। अब उपार्जित और अनुपार्जित वृद्धि को अलग-अलग जानना बहुत ही कठिन काम है। पूर्ण अनुपार्जित अश को प्राप्त करने के लिये अर्थमत्री उपार्जित अश मे से भी कुछ अवश्य ले लेगा। इससे वह न केवल कुछ लोगो के प्रति अन्याय करेगा, बल्कि वह लोगो के उत्पादन सम्बन्धी प्रयत्नो पर भी आघात करेगा। कहा जाता है कि अनुपार्जित वृद्धि का कर के रूप मे लेना आवश्यक हो जाता है, जिससे देश की भूमि की उन्नति और श्रेष्ठ उपयोग हो सके। अनुपार्जित वृद्धि के लालच ने कई लोगो को उत्साहित किया है। उससे लोगो की दूरदर्शिता को प्रोत्साहन मिलता है और प्राय भूमि ऐसे लोगो के हाथ मे चली जाती है, जो उसका अच्छा उपयोग कर सकते है। यदि यह सब वृद्धि करो के रूप मे चली जावेगी तो लोगो मे भूमि की अच्छी उन्नति करने के लिये उत्साह न रहेगा।

एक अधिक तर्कपूर्ण एतराज यह है कि भूमि किसी व्यक्ति के लिये पूँजी के समान होती है। प्रत्येक प्रकार की आय मे कुछ अनुपार्जित अश होते है। सिनेमा के बड़े-बड़े अभिनेताओ की ऊँची-ऊँची तनख्वाहो मे तथा ब्याज की रकमो मे अनुपार्जित अश होते है। तब फिर भूमि की तरह उन पर भी कर लगना चाहिये। केवल भूमि पर एक विशेप प्रकार का कर लगाना विभिन्न प्रकार की पूँजियो पर भेद-भाव करना है और यह वर्त्तमान भू-स्वामियो के लिये अन्यायपूर्ण है, क्योकि उन्हे कर के पूंजीकरण के मूल्य का पूरा भार सहना पडेगा। एक अन्य कारण से भी यह कर अन्यायपूर्ण है। यदि राज्य सब अनुपार्जित वृद्धि ले लेता है, तब उसे उन भू-स्वामियो को मुआवजा देना चाहिये, जिनकी भूमि का मूल्य कम हो जाता है। क्या यह न्यायसगत है कि राज्य वर्त्तमान भू-स्वामियो के प्रति "मीठा-मीठा गप्प और कड़ुवा-कडुवा थू" की नीति ग्रहण करे।

इन सब कठिनाइयो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि भूमि के मूल्य की पूरी अनुपार्जित वृद्धि को कर के रूप मे लेना न तो सम्भव है और न न्यायोचित है। परन्तु यदि राज्य भूमि के मूल्य की वर्त्तमान अनुपार्जित वृद्धि का केवल एक अश और भविष्य की अनुपार्जित वृद्धि का अधिकाश ले लेता है तो इसमे कोई आपत्ति नही हो सकती। जैसा कि टॉसिग ने लिखा है, भविष्य में निहित स्वार्थ (vested interest) नही होते और जब तक हमे दोपरहित तथा कठिनाइयो से रहित कोई आदर्श कर का ज्ञान नही होता, तब तक हम अनुपार्जित कर को एक श्रेष्ठ कर मान सकते है।

न बाँटे गये लाभ पर कर (Taxation of undistributed profits)—ज्वाइट स्टॉक कम्पनियाँ प्राय. अपने कुल लाभ का कुछ प्रतिशत बचाकर सुरक्षित कोष में जमा कर देती है। यह लाभाश कम्पनी के हिस्सेदारो में मुनाफे के हिस्से के रूप मे नही बांटा जाता है। अनेक देशो मे इस न बाँटे गये लाभाश पर कर लगाने के प्रयत्न किये गये है।

इस न बाँटे गये लाभाश पर विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति के लिये कर लगाया जाता है। यद्यपि इस कर से निश्चय ही कुछ आय प्राप्त होती है, परन्तु इसको लगाने का कुछ और भी मतलव होता है। इस प्रकार के कर लगाने का पहला कारण यह है कि लाभाश को अविवेकपूर्ण रीति से सुरक्षित कोष मे जमा करने से रोका जाय और कम्पनी के इस पूंजी-कोष को अधिक लाभदायक कार्य मे लगने को प्रोत्साहित किया जाय। दूसरे इन करो को इसलिये भी लगाया जाता है कि कम्पनी कर मे रकम चुकाने के बजाय अपने हिस्सेदारो को मुनाफे का अधिक अश बाँटे। हिस्सेदारो को अधिक लाभाश प्राप्त होने पर मन्दी के समय उपभोक्ता की कुल शक्ति मजबूत हो सकेगी। तीसरे, यह सभव है कि कम्पनी का धनवान हिस्सेदार अपने आय-कर मे बचत करने के उद्देश्य से अर्जित लाभाश को सुरक्षित कोष मे जमा कर दे। इस सभावना को रोकने के लिये भी इस प्रकार के कर लगाये जाते है। यदि न बाँटे गये लाभाश के अधिक भाग को अधिक लाभाश (higher dividends) के रूप मे हिस्सेदारो मे बांट दिया जाय तो धनवान हिस्सेदार की आय में और अधिक वृद्धि हो जायगी और उसे अधिक आय-कर चुकाना पडेगा। परन्तु यदि लाभ को फिर से सुरक्षित-कोष में जमा कर दिया जाय तो हिस्सेदार को ऊँची दर से आय कर का भुगतान नही करना पड़ेगा, जब कि शेयर बाजार में इन शेयरों की ऊँची कीमत का वह लाभ उठाता रहेगा। सुरक्षित कोष में अधिक पूंजी जमा रहने से शेयर बाजार में कम्पनी के शेयरो की कीमत बढ़ेगी। अंतिम, ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी के विनियोग पर विभिन्न तरीकों से नियंत्रण रखने के लिये भी न बाँटे गये लाभाश पर कर लगाया जाता है।

कम्पनी अक्सर अपने कारखाने में नयी मशीने लगाने में या कारखाने का विस्तार करने मे खर्च करते है। यदि कर चुकाने से इस प्रकार की सुरक्षित पूंजी में कमी आ जाती है या हिस्सेदारो को अधिक लाभाश देने से इस पूंजी मे ह्रास हो जाता है तो कम्पनी अपनी सम्पत्ति मे से कारखाने के प्रसार की तथा नयी मशीनो को लगाने की योजना पूरी नही कर सकेगी। इसके साथ ही मन्दी के समय यह सुरक्षित कोप कम्पनी के लिये एक बहुत बडा सहारा बन जाते है। मदी के समय कम्पनी इस सुरक्षित कोप पर निर्भर रह सकती है। यदि यह सुरक्षित पूंजी कम हो जाती है, तो व्यवसायी फर्मे कठिनाई में पड जायेंगी, उनके माल की मॉग भी घट सकती है। इसलिये इस कर से व्यवसायी फर्मो के कार्य तथा उनकी आमदनी पर प्रतिकूल प्रभाव पडेगा।

इसमे पूंजी निर्माण की प्रक्रिया को सही रूप मे नही समझा गया है। इसमें पूंजी-निर्माण की प्रक्रिया के सम्बन्ध मे कुछ गलत धारणायें बना ली गयी है। विनियोग के लिये पूंजी की पूर्ति बहुत हद तक व्यवसायी फर्म से भविष्य में होनेवाले लाभ की मात्रा पर निर्भर करती है। यदि ऐसा मालूम हो कि फर्म से भविष्य मे काफी लाभ हो सकता है, तो सामूहिक-बचत (Corporate Saving) मे कमी होने के बावजूद भी वह फर्म अपने लिये मुद्रा बाजार से पर्याप्त पूंजी सग्रह करने मे सफल रहेगा। न बांटे गये लाभाश पर कर लगाने से कारखाने की लाभदायकता मे कमी नही होती है। साथ ही यदि इस प्रकार के कर लगाने से हिस्सेदारो को अपेक्षाकृत अधिक लाभाश मिलता है तो इससे कुछ हद तक उपभोग की मात्रा मे विशेषकर घटती मांग के समय वृद्धि हो सकती है। यदि इस कर के लगाने से घटती मॉग में और गिरावट रुक जाती है या उपभोग मे वृद्धि होने से मॉग मे भी वृद्धि हो जाती है तो इससे व्यवसायी फर्मों की लाभदायकता मे वृद्धि होने की सभावना है, इसलिये इसका पूंजी निर्माण पर अनुकूल प्रभाव पडने की सभावना है। पहले यह कहा गया है कि सुरक्षित पूंजी का फर्म मदी के समय उपयोग कर सकते है। इस सहारे के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यदि कम्पनी के पास सुरक्षित कोष मे काफी रकम है तो इसका सदैव यह तात्पर्य नही होता है कि कम्पनी के पास सुरक्षित कोष मे काफी नकद रकम जमा है। मदी के समय व्यवसायी फर्मो को इसी प्रकार की नकद रकम की आवश्यकता होती है। यदि उसके सुरक्षित कोप मे काफी नकद रकम जमा है तो वह मॉग मे मन्दी आने पर उपस्थित कठिनाइयो का सामना कर सकता है।

पूंजी पर हुए लाभ पर कर (Capital gains tax)—अनेक देशो मे ऋण-पत्र या अन्य सम्पत्ति बेचकर लोग जो लाभ कमाते है उस लाभ पर भी कर लगाया जाता है। यदि कोई व्यक्ति ८० रुपया प्रति ऋण-पत्र की दर से अनेक सरकारी ऋण-पत्र खरीद लेता है और कुछ महीने बाद ८५ रुपया प्रति ऋण-पत्र की दर से उन्हे बेच देता है तो उसे पूंजी-लाभ (Capital gains) होता है। वैसे इस लाभ को उसकी का अंश नही समझना चाहिये और इसलिये उस पर आय-कर भी नही लगाना

ाहिये। यदि इस प्रकार के पूंजी-लाभ पर विशेष कर लगाया जाता है तो इस प्रकार
: कर का देश की अर्थ-व्यवस्था पर क्या प्रभाव पडेगा ?

जब पूंजी-लाभ कर लगाया जाता है, तब इस बात की भी व्यवस्था कर ली जाती है कि उस लाभ मे से हानि की पूर्ति के लिये कुछ रकम अलग रख दी जाय। उदाहरण के लिये अमेरिका मे कार्पोरेशनो को पूंजी-लाभ मे से भविष्य मे होनेवाली हानि की पूर्ति के लिये रकम अलग जमा करने की अनुमति दे दी गयी। इस प्रकार की अप्रयुक्त जमा रकम को अगले पाँच वर्षो तक जमा रखने की और प्रति वर्ष पूँजी-लाभ मे से इनके लिये एक हजार डालर अलग रख लेने की अनुमति दी गयी।

यह भी कहा गया है कि इस प्रकार का कर लगाने से अधिक खतरे के व्यवसायो में लोग पूंजी लगाने से डरते है। खतरे से पूर्ण व्यवसायो मे पूंजी लगाने का साहस केवल इसलिये किया जाता है कि बाद मे बहुत बड़ी मात्रा मे पूंजी-लाभ प्राप्त होगा। इस कर के लग जाने से जिस हद तक इस पूंजी-लाभ की रकम मे कमी हो जायगी, उस हद तक इससे खतरे से पूर्ण व्यवसायो मे पूंजी लगाने मे रुकावट पैदा हो जायगी। परन्तु इस प्रकार की निराशा को दूर करने की भी व्यवस्था की गई है। पूंजी-लाभ या आय में से हानि की पूर्ति के लिये अलग पूंजी जमा करने की अनुमति देने से उक्त रुकावट से होने वाली क्षति की पूर्ति हो जाती है। पूंजी लगाने वाले जानते है कि यदि उन्हे हानि होगी तो भविष्य मे होनेवाले पूंजी-लाभ या आय मे से क्षतिपूर्ति, के लिये काफी कर-मुक्त रकम भी बचा लेगे। इन बातों पर विचार कर यह नही कहा जा सकता है कि इस प्रकार का कर लगाने से खतरे से पूर्ण व्यवसायो मे पूंजी लगाने मे बाधा पहुँचेगी और पूंजी की पूर्ति आवश्यक मात्रा में नही हो पायेगी।

इस कर का आर्थिक-स्थिरता पर निश्चय कुछ प्रतिकूल प्रभाव पड सकता है। शेयर बाजार में जिन दिनो शेयरो की कीमते चढती है, शेयर बेचनेवाले पूंजी-लाभ प्राप्त करते है, परन्तु उन्हे इन करो की अदायगी के भार का निरन्तर ख्याल रहता है। इसलिये वह ऋणपत्रो की और ऊँची कीमत मॉगेंगे। खरीदारो में भी कुछ प्रतिशत खरीदार भविष्य में प्राप्त होनेवाले आकर्षक लाभांश की आशा में इन ऋणपत्रो को खरीद लेगे। यदि भविष्य मे काफी लाभांश प्राप्त होने की आशा हो तो वह इन ऋणपत्रो की अधिक कीमत चुकाने में नही हिचकिचायेंगे। जो खरीदार ऋणपत्रो को भविष्य के पूंजी-लाभ की आशा मे खरीद लेने है तो उनको कितना कर चुकाना पडेगा, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है। यह निश्चित रूप से तभी कहा जा सकेगा, जब उसे पूंजी-लाभ वास्तव मे प्राप्त हो गया हो। इसलिये वह ऋणपत्रो की अधिक कीमत चुकाने मे नहीं हिचकिचायेंगे। परिणामस्वरूप कर से कीमतो मे और अधिक वृद्धि हो सकती है। ज[illegible] शेयरो की कीमत गिर रही हो तो कर लगाने से शेयरो मे यह गिरावट और तेज हो सकती है। [illegible] और भी कम कीमत स्वीकार करने मे नही हिचकिचायेंगे, क्योंकि वे जान[illegible] कि वह [illegible] मे होनेवाली क्षति को भविष्य में होनेवाले पूंजी-लाभ की रकम से पूरा कर लेंगे और इस प्रकार कर की रकम में से कुछ रकम की बचत कर लेंगे।

अध्याय ५६

राजकीय साख

(Public Credit)

राजकीय ऋण (Public Debt)—हम कह चुके हैं कि राजकीय आय का एक साधन राजकीय ऋण भी होता है। राजकीय और व्यक्तिगत अर्थात् गैर-सरकारी ऋण में अन्तर जानना आवश्यक होता है। राजकीय ऋणो में सरकार ऋणी होती है और इसके कई महत्वपूर्ण अर्थ होते हैं। सरकार के हाथ में राजसत्ता होती है, इसलिये वह प्रजा पर जोर देकर ऋण ले सकती है। फिर एक साधारण व्यवित की तरह राज्य पर ऋण चुकाने के लिये जोर नहीं डाला जासकता। दूसरे राज्य अमर या स्थायी होता है, इसलिये वह स्थायी ऋण ले सकता है। परन्तु कोई व्यक्ति ऐसा नही करता। तीसरे, राज्य विदेशो से ऋण ले सकता है। अथवा वह देश मे अपनी प्रजा से ऋण ले सकता है या वह नोट छापकर उन्हे कानून-ग्राह्य मुद्रा बना कर धन प्राप्त कर सकता है। एक व्यक्ति केवल एक बाहरी जरिये से उधार ले सकता है। न तो वह स्वय अपने से ऋण ले सकता है और न नोट छापकर और न उन्हे कानूनी मुद्रा बनाकर धन प्राप्त कर सकता है।

राजकीय और व्यक्तिगत साख में अन्तर।

फिर राजकीय ऋणो और व्यक्तिगत ऋणो मे भी कुछ मौलिक भेद रहते हैं। राजकीय ऋणो का देश की उत्पादन और वितरण व्यवस्था पर बहुत व्यापक प्रभाव पडता है। राजकीय ऋणो का भुगतान या चुकता भी व्यक्तिगत ऋणो की तरह नही होता। व्यक्तिगत ऋणो के कानून भी राजकीय ऋणो के सम्बन्ध मे लागू नही होते। यह बिलकुल सम्भव है कि राजकीय ऋणो के चुकाने से देश की राष्ट्रीय आय कम हो जाय और साथ ही देश की आर्थिक स्थिति भी गिर जाय, जो कि शायद और अधिक ऋण लेने से न गिरती।

नागरिको के स्वार्थ की दृष्टि से भी करनीति और ऋण लेने की रीति मे महत्वपूर्ण अन्तर होते हैं। जब सरकार ऋण लेती है, तो व्यक्ति को सरकार से मूल और ब्याज पाने का अधिकार हो जाता है। परन्तु करो मे ऐसा कोई अधिकार नहीं मिलता। यह बात जरूर है कि ऋण का मूल और ब्याज चुकाने के लिये अन्त मे जनता को ही भविष्य मे करो के रूप मे अधिक रुपया देना पडेगा, परन्तु यह भी सम्भव है कि ब्याज के रूप मे उसे जो रुपया मिलेगा, वह कर की मात्रा से अधिक होगा। फिर लोग सरकारी ऋण-पत्रो का उपयोग ऋण लेने मे कर सकते है। सरकार की दृष्टि से सरकार को यह लाभ

ता है कि ऋणों के रूप में जनता से रुपया लिया जाता है, तो उसे उतना नहीं खलेगा जितना कि करो के रूप में रुपया देना खलता।

परन्तु ऋणो के पक्ष मे सिद्धान्त के आधार पर एक अधिक तर्कपूर्ण बात कही जा सकती है। सरकार ऋण असाधारण मोको पर लेती है, जब किसी विशेष खर्च की आवश्यकता आ पडती है और अपनी साधारण आय से वह उन खर्चों को पूरा कर नहीं सकती। मान लो, सरकार को युद्ध का हरजाना देना है और हरजाने की रकम को वह करदाताओ पर बाँट देती है। तब प्रत्येक करदाता का जो हिस्सा बैठेगा, वह उसके लिये असाधारण खर्च होगा और उसके लिये उसे उपयुक्त प्रबन्ध करना पड़ेगा। इस असाधारण खर्च को पूरा करने के लिये शायद किसी करदाता को ऋण लेना पडेगा। इसमे सन्देह नही कि इस हरजाने को देने के लिये कई लोगो के अलग-अलग ऋण लेने की अपेक्षा सरकार द्वारा एक ऋण लेना बहुत अच्छा होगा। एक तो निजी ऋणो की अपेक्षा सरकार को ऋण कम ब्याज पर मिल जाते है। दूसरे निजी ऋणों की तरह सरकारी ऋणो की मियाद नही होती, अथवा बहुत लम्बी मियाद होती है, इसलिये सरकारी ऋण-पत्रो के स्वामियो को दुहरे लाभ होते है या तो वे एक ठोस चीज मे अपनी पूँजी लगी रहने दे सकते है या वे उन ऋण-पत्रो को बेचकर बिलकुल आसानी के साथ अपनी पूँजी प्राप्त कर सकते हैं। निजी ऋणो में ऐसा करना सम्भव नही होता। "सच बात तो यह है कि सरकारी ऋण-पत्रो मे बेचने की आसानी तथा उनकी कीमतो में स्थिरता की मात्रा काफी होने के कारण सरकारी ऋण चालू होने से जनता की एक अतिरिक्त सेवा भी हो जाती है। अर्थात् लोगो में आपस मे साख और ऋणो का काम आसान हो जाता है।"[1]

राजकीय ऋणों का वर्गीकरण (Classification of Public Debts)– राजकीय ऋणो का एक-सा वर्गीकरण कही नही मिलता अलग-अलग लेखकों ने उनका वर्गीकरण अलग-अलग किया है, जैसे स्वेच्छापूर्ण और अनिच्छापूर्ण, उत्पादक और अनुत्पादक ऋण, दीर्घकालीन (funded) और अल्पकालीन (unfunded) ऋण, वार्षिक वृत्ति, लाटरी इत्यादि। स्वेच्छापूर्ण और अनिच्छापूर्ण ऋणो का अर्थ तो साफ समझ मे आ जाता है। १७ वी शताब्दी में इगलैण्ड में जनता पर अनिच्छापूर्ण ऋण बहुधा लादे जाते थे। अर्थात् उसकी इच्छा के विरुद्ध जबर्दस्ती लिये जाते थे। राजकीय ऋणो का एक वर्गीकरण उत्पादक और मृतक-बोझ मे भी किया जाता है। उत्पादक ऋणो के मूल्य के बराबर सरकार अपने पास सुरक्षित कोष अथवा अन्य निधि रखती है। परन्तु जिन ऋणो के मूल्य के बराबर सरकार ऐसी कोई निधि नही रखती,

---

[1] *De Viti De Marco*, First Principles of Public Finance, p. 294. Chapter I of Book V of this contains a novel and admirable discussion of the utility of public loans.

उन्हे मृतक-बोझ ऋण कहते हैं। उत्पादक ऋणो का ब्याज सरकार उस निधि के ब्याज से देती है, परन्तु मृतक-बोझ ऋण का ब्याज सरकार अपनी साधारण आय में से देती है।

श्रीमती हिक्स ने राजकीय ऋणो को तीन वर्गों मे बांटा है—मृतक-बोझ ऋण (dead weight debt), निष्क्रिय ऋण (passive debt) ओर सक्रिय ऋण (active debt)। मृतक-बोझ ऋण उन मदो पर खर्च किये जाते है, जिनसे देश की उत्पादन शक्ति में कोई वृद्धि नही होती। निष्क्रिय ऋण ऐसी बातो पर खर्च किये जाते है, जिनसे न तो मुद्रा आय होती है और न देश की उत्पादन शक्ति ही बढती है। लेकिन इन ऋणो का उपयोग सार्वजनिक भवनो, पार्कों इत्यादि ऐसी बातो पर किया जाता है, जिनसे लोगो को उपयोगिता तथा आमोद-प्रमोद प्राप्त होता है। सक्रिय ऋणो का उपयोग इस प्रकार किया जाता है कि उनसे या तो मुद्रा आय होती है अथवा देश की उत्पादन शक्ति बढ़ती है।

आजकल सबसे अधिक प्रचलित वर्गीकरण दीर्घकालीन ऋण ओर अल्पकालीन ऋण माना जाता है। इन शब्दो का उपयोग तीन भिन्न-भिन्न अर्थो मे किया जाता है। ऑडम स्मिथ ने लिखा था कि अल्पकालीन ऋण वह होता है, जिसमे सरकार लेते समय उसे चुकाने के लिये कोई निधि निश्चित नही करती। लेकिन दीर्घकालीन ऋणो मे सरकार एक निधि अथवा आय के कुछ जरिये निश्चित कर देती है, जिनसे कि वह चुकाया जायगा। परन्तु आधुनिक लेखक इन दो प्रकार के ऋणो मे ऐसा कोई अन्तर नही मानते। प्राय अल्पकालीन ऋणो का अर्थ उन ऋणो से होता है, जो कि अपेक्षाकृत थोडे समय मे चुका दिये जावेंगे। जैसे कि (मान लो) एक वर्ष मे दीर्घकालीन ऋण बहुत लम्बे समय के बाद चुकाये जाते है। लेकिन यह भेद साफ नही है, क्योकि अल्पकाल ओर दीर्घकाल के समय की किसी निश्चित अवधि का बोध नही होता। कुछ लोग कहते है कि तीन से पॉच वर्ष की अवधिवाले ऋण अल्पकालीन ऋण कहे जा सकते है। लेकिन वास्तव में केवल एक वर्ष से कम की अवधि के ऋण अल्पकालीन ऋण माने जाने चाहिये। उससे अधिक अवधिवाले ऋण दीर्घकालीन ऋण माने जाने चाहिये। ट्रेजरी बिल (जिनकी अवधि अधिक से अधिक तीन महीने की रहती है) अथवा केन्द्रीय बैक समय-समय पर सरकार को जो पेशगी देता रहता है और जो एक वर्ष के अन्दर चुक जाना चाहिये, अल्पकालीन ऋणो के उदाहरण है। ध्यान रहे कि ये शब्द अंग्रेजी शब्दो के पर्यायवाची है और अंग्रेजी शब्दो का उपयोग सरकारी भाषा मे विशेष अर्थ मे किया जाता है। दीर्घकालीन ऋण वे होते है, जिनमें मूलधन देने की जिम्मेदारी सरकार नही लेती। केवल ब्याज देने की जिम्मेदारी लेती है। दूसरे शब्दो मे दीर्घकालीन ऋण स्थायी ऋण होते है। इगलैण्ड के 'कनसोल' ("consols") इसके उदाहरण है। अल्पकालीन ऋण वे होते है, जिनका मूलधन एक निश्चित समय पर लौटा दिया जाता है।

वार्षिक वृत्ति (annuities) के रूप में भी सरकार रुपया उधार लेती है। सरकार एक बार से एक लम्बी रकम ले लेती है और वार्षिक किस्तों के रूप में उसे कई वर्षों में चुकाती है। आजकल जीवन भर की वार्षिकी (life annuity) काफ़ी प्रचलित है। कर्ज के बदले में सरकार किसी ऋणदाता को उसके जीवन भर प्रति वर्ष एक निश्चित रकम देती रहती है। जब ऋणदाता मर जाता है, तो उसका ऋण भी खतम हो जाता है। ऋणो की एक किस्म लाटरी (lottery loans) भी होते हैं। लाटरी ऋण कई तरह के होते है। लाटरी की इनामें व्याज अथवा मूल-धन में से दी जा सकती है। इस प्रकार सरकार लोगो की जुआखोरी की आदत से लाभ उठा सकती है।

राजकीय ऋणो का एक वर्गीकरण वाह्य और आन्तरिक ऋणो के अन्तर्गत भी होता है। देश के लोगो से सरकार जो ऋण लेती है, वे आन्तरिक ऋण कहलाते है और जो ऋण विदेशो से प्राप्त किये जाते है, उन्हे वाह्य ऋण कहते है। आन्तरिक ऋणो मे सरकार जब मूल और व्याज चुकाती है, तो उसका अर्थ राष्ट्रीय आय का केवल पुन-वितरण होता है। इस सम्बन्ध में जो खर्च होता है, वह एक प्रकार से खर्च का देश के अन्दर स्थानान्तर होता है। परन्तु जब वाह्य ऋणो के मूल, व्याज इत्यादि दिये जाते है, तब देश की सम्पत्ति विदेशो में जाती है।

ऋण कब लेनी चाहिये? (When to borrow?)—राजकीय ऋणो का उद्देश्य अन्य साधनो से प्राप्त राजकीय आय की पूर्ति करना होता है। अब प्रश्न यह होता है कि सरकार को ऋण कब लेना चाहिये।

ऋण लेना, व्यावहारिक मौको अथवा विशेष परिस्थितियो पर बहुत कुछ निर्भर करता है। कभी-कभी ऐसे मौके आते है, जब करो द्वारा आसानी से रुपया मिलना कठिन हो जाता है। ऐसे मौको पर सरकार के सामने सिवा ऋण लेने के और कोई रास्ता नही रह जाता। ऐसी विशेष परिस्थितियो को छोड कर कभी-कभी ऐसे अवसर भी आते है, जब सरकार एक निश्चित रकम कर द्वारा भी प्राप्त कर सकती है और ऋण लेकर भी। अब समस्या यह है कि ऐसा सिद्धान्त निर्धारित हो जाना चाहिये, जिसके आधार पर सरकार यह निश्चित कर सके कि ऋण द्वारा रुपया प्राप्त करना चाहिये अथवा कर द्वारा।

एक तो किसी आकस्मिक सकट के कारण धन की जो कमी आ जाय उसे पूरी करने के लिये ऋण लिये जा सकते है। कर-व्यवस्था द्वारा आय प्राप्त करने में कुछ समय लगता है। यदि एकाएक रुपये की आवश्यकता आ पडती है, तो सिवा ऋण लेने के और कोई रास्ता नही रहता। देश मे पूर्ण बाकारी बनाये रखने के लिये, धन की जो कमी हो, उसे बनाये रखने के लिये ऋण लेना चाहिये। फिर देश मे जब व्यावसायि

मंदी हो, तव क्रियाशील माँग को वढाने के लिये सरकार को काफी धन की आवश्यकता पड सकती है। ऐसे अवसर पर भी सरकार ऋण ले सकती है।

दूसरे, यदि कोई ऐसा सकट या आकस्मिक स्थिति आ पड़े, जिसमें कि बहुत खर्च की आवश्यकता हो ओर वह खर्च करो द्वारा प्राप्त आय से पूरा न हो सके, तव भी ऋण लेना उचित ठहराया जायगा। जैसे कि जव कोई देश युद्ध मे फँस जाता है, तव केवल करो की आय से युद्ध का खर्च पूरा नही किया जा सकता। यदि ऐमा प्रयत्न किया जायगा तो देश की आर्थिक व्यवस्था को हानि पहुँचेगी।

तीसरे, यदि सरकार कुछ ऐसे व्यावसायिक कार्य करना चाहे, जिससे कि इतनी आय हो सके कि कम-से-कम व्याज और ह्रास मूल्य (depreciation charges) निकलते आवे तो ऋण लिया जा सकता है। यह वात जरूर है कि इस प्रकार के ऋण लेने का ओचित्य सरकार की प्रवन्ध कुशलता पर निर्भर रहता है। यदि सरकार का *प्रवन्ध उतना ही कुशल होता है, जितना कि किसी अन्य व्यक्ति का,* तव सरकार का व्यवसाय आरम्भ करना विलकुल उचित होगा। भारत सरकार ने रेलो ओर नहरो के लिये जो ऋण लिये है, वे इस दृष्टि से उत्पादक ऋण हैं।

चौथे, उन ऋणो का लेना अच्छा समझा जाता है, जिनसे सारे समाज को लाभ है। इस सम्वन्ध मे एक वात ध्यान मे रखनी आवश्यक है। कभी-कभी अस्पताल, स्कूल, सडके इत्यादि वनवाना वहुत लाभदायक होता है। परन्तु यदि इनके लिये इतने भारी कर लगाने पडे, कि उससे देश के उद्योग और व्यवसाय को हानि हो, अथवा उसकी उन्नति मे वाधा पडे, तव ऋण लेना ही अच्छा रहेगा। ऋण का भार काफी लम्बे समय तक ढकेला जा सकता है, और इस प्रकार उसका भार हल्का किया जा सकता है।

युद्धकालीन अर्थ-व्यवस्था (War Finance)—कई प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का मत है कि युद्ध-सम्वन्धी खर्च की पूर्ति प्रधानत करो द्वारा की जानी चाहिये। इस सम्वन्ध मे निम्नलिखित तर्क दिये जाते है।

पहला कारण यह वतलाया जाता है कि भारी करो से फिजूल ओर अनावश्यक उपभोग कम हो जायगा। धनी व्यक्तियो को क्रमश वढती हुई दर से कर देना चाहिये, जिससे गरीव वर्गो को अपने रहन-सहन का दर्जा कम न करना पडे।

कर और ऋण

दूसरे, करो से कीमतो और साख मे वहुत अधिक वृद्धि नही हो पाती। परन्तु यदि ऋण वहुत वडे पैमाने पर लिए जायँ तो यह वृद्धि अवश्य होगी। करो के द्वारा खरीदने की शक्ति एक वर्ग के लोगो से दूसरे वर्ग के लोगो के हाथ मे चली जाती है। इसलिये स्फीति की आशका कम हो जाती है। यदि थोड़े पैमाने पर ऋण लिये जायं तो उससे भी स्फीति नहीं होती। परन्तु जव अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा का प्रचलन वढ़ाकर

अथवा बैंकों की साख द्वारा खरीदने की नई शक्ति उत्पन्न की जाती है, तब कीमतों में वृद्धि अवश्य होती है। कीमतों में वृद्धि होने से मुद्रा-प्रसार की ... जाता है। फल यह होता है कि लोगों की आयों पर मुद्रा-स्फीति ... का काम करती है। वह न केवल लोगों की खरीदने की शक्ति घटा देती है, ... आय का मूल्य भी घटा देती है। कर का यह रूप न्याय-विरुद्ध है ... वादी होता है। धनियों की अपेक्षा उसका भार गरीबों पर अधिक पड़ता है। ... के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि सिर्फ करों का सहारा लेकर ... रूप से दूर नहीं रखा जा सकता। बहुत से लोग बैंकों से बहुत बड़ी मात्रा में उधार ... कर देते हैं। परन्तु यह बात अवश्य है कि करों के अन्तर्गत मुद्रा-स्फीति की मात्रा ... रहेगी।

तीसरे, यह कहा जा सकता है कि इस रीति का परिणाम यह होगा कि 'लोगों को सेना में अनिवार्य भरती से जो विषमता उत्पन्न होती है, वह विषमता आयों और पूंजी पर अनिवार्य कर लगाने से दूर हो जायगी।" इस तर्क का उत्तर पूंजी पर कर लगाने की विवेचना में दिया गया है।

चौथे, युद्ध के बाद ऋणों को चुकाने के लिये जो भारी कर लगाये जाते हैं, वे अनावश्यक हो जायँगे। जब कीमतें कम होंगी, तब ऋणों का वास्तविक भार बढ़ेगा।

ये तर्क काफी तथ्यपूर्ण हैं। लेकिन इस नीति को कार्यान्वित करने में बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। युद्धकाल में पूरी कर-व्यवस्था को एकदम से युद्ध की आवश्यकताओं के लिये उपयोगी नहीं बनाया जा सकता। अतिरिक्त आय किस प्रकार प्राप्त की जाय? पुराने करों की दर बढ़ाई जा सकती है। परन्तु करों की दर बढ़ाने से हमेशा आय में वृद्धि नहीं होती। जैसा कि ऑडम स्मिथ ने बहुत पहले कहा था, करनीति में दो और दो हमेशा चार नहीं होते; कभी-कभी वे केवल तीन हो सकते हैं। नये कर लगाये जा सकते हैं। परन्तु इनसे आय प्राप्त करने में समय लगता है। और युद्ध की आवश्यकताएँ तुरन्त पूरी करनी पड़ती हैं। इसलिये कुछ मात्रा में ऋण लेना आवश्यक हो जाता है। लेकिन आधुनिक युद्ध के खर्च इतने अधिक होते हैं कि यदि उन्हें केवल करों द्वारा पूरा करने का प्रयत्न किया जाय, तो लोग उस कर-व्यवस्था के भार से दबकर मर जायँगे। जैसा कि सेलिगमेन ने कहा है, यदि सब बड़ी-बड़ी आयों को तथा व्यवसाय के सब लाभों को भी जब्त कर लिया जाय तो भी युद्ध के आधे खर्च भी पूरे न होंगे। इसमें सन्देह नहीं कि मुद्रा-स्फीति होती है और मुद्रा-स्फीति एक बहुत बड़ा अनर्थ है। लेकिन मुद्रा-स्फीति में एक गुण यह होता है कि उससे लोगों में अधिक काम करने की प्रेरणा बढ़ती है। भारी करों से उद्योग को हानि पहुँचेगी और पूंजी के स्रोत ऐसे समय में सूख जायँगे, जब कि युद्ध का भार ढोने के लिये देश के सब साधनों का अधिक से अधिक उपयोग करने की आवश्यकता होती है।

कभी-कभी ऋण उचित होते हैं।

इन सब बातो को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि युद्धकाल मे अथवा ऐसे किसी आकस्मिक सकट के समय दोनो तरीको के मिश्रित उपयोगो द्वारा ही आय प्राप्त करना सबसे अच्छा तरीका होगा। सबसे अच्छी नीति यह होगी कि ऋण नीति की सहायक कर नीति न होकर कर नीति की सहायक ऋण नीति रहे।

राजकीय ऋणों का भार (Burden of Public Debts)—बाह्य ऋण का प्रत्यक्ष मुद्रा भार व्याज की कुल मात्रा द्वारा मापा जा सकता है, जो कि विदेशी पूंजी पर विदेशो को दिया जाता है। इस प्रकार के ऋण का वस्तविक भार यह होता है कि इतना पैसा बाहर चले जाने से आर्थिक हितो मे इतनी कमी हो जाती है। समाज के विभिन्न वर्ग करो के रूप मे जो रुपया देते हैं, उसी के अनुपात मे प्रत्यक्ष और वास्तविक भार होता है। यदि अधिकाश धन धनियो द्वारा दिया जाता है, तो वास्तविक भार उतना अधिक नही होता, जितना कि अधिकाश कर गरीबो द्वारा दिये जाने पर होता है। बाह्य ऋण उसी प्रकार का होता है जैसा कि किसी व्यक्ति द्वारा लिया गया ऋण। विदेशी ऋण को चुकाने के लिये कुछ वस्तुएं देश के बाहर चली जाती है और किसी व्यक्ति की तरह देश भी उस हद तक गरीब हो जाता है। परन्तु यदि वे वस्तुएं धनी वर्ग द्वारा दी जाती है, तो समाज का वास्तविक भार उतना अधिक नही होता।

बाहरी ऋण और व्याज देने मे समाज पर जो अप्रत्यक्ष भार पडता है, उससे समाज की उत्पादन शक्ति दो प्रकार से कम हो जाती है। एक तो वस्तुओ का निर्यात पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में होता है और दूसरे राजकीय खर्च सीमित करना पडता है, जो कि शायद किसी लाभकारी काम मे लगाया जाता।

परन्तु आन्तरिक ऋण की परिस्थिति बिलकुल भिन्न होती है। आन्तरिक ऋण तथा उनका व्याज देने मे खरीदने की शक्ति का केवल एक वर्ग से दूसरे वर्ग मे परिवर्तन होता है। इसलिये इनमे प्रत्यक्ष मुद्रा भार नही होता। लेकिन प्रत्यक्ष वास्तविक भार काफी होता है। कर सब वर्गों के लोगो द्वारा दिये जाते है, परन्तु ऋण उन्ही लोगों द्वारा दिये जाते है, जो काफी धनी होते है। इसलिये जब आन्तरिक ऋण सरकार द्वारा चुकाये जाते है, तब पूरे समाज की सम्पत्ति का उतना अश धनी वर्गों के हाथ मे चला जाता है। इसलिये वास्तविक भार काफी रहता है और साथ ही इसमें आयो की समानता बढ़ती है।

आन्तरिक ऋण का अप्रत्यक्ष भार ऋण चुकाने के लिये लगाये गये करो के परिणामो, लोगो की काम करने और बचत करने की योग्यता तथा काम करने और बचत करने की इच्छा पर निर्भर करता है। लोगो की बचत करने की योग्यता पर अधिक प्रतिकूल प्रभाव नही पडता। यह कहा जा सकता है कि बचत करने की योग्यता बढ जाती है, क्योकि ऋणो के रूप मे जो रुपया दिया जाता है, उसकी बचत की जाती है। जो लोग सरकार को ऋण देते है, उनमे करदाताओ की अपेक्षा उपभोग करने की प्रवृत्ति कम

हती है। लेकिन लोगो की काम करने की योग्यता पर [illegible]

, क्योकि बहुत से लोगो के रहन-सहन के दर्जे पर [illegible]

रो के परिणामस्वरूप उनकी काम करने की और बचत [illegible]

ाती है। सब बातो पर ध्यान रखते हुए यह कहा जा [illegible]

प्रत्यक्ष भार आन्तरिक ऋणो की अपेक्षा काफी अधिक [illegible]

ऋणो के भार के सम्बन्ध मे एक और बात पर विचार [illegible]

युद्धकाल मे बहुत बडे-बडे ऋण लिये जाते है और युद्धकाल मे [illegible]

मुद्रा स्फीति और ऋणों का भार।

जाती है। यदि ये ऋण गिरती हुई [illegible] भी चलते रहते है तो समाज को [illegible] है। पहले तो जहा तक ऋणो के [illegible] मूल्य (nomial value) का [illegible]

जा सकता है कि ऊँची कीमतो के समय मे जो कुछ ऋण के [illegible] उसकी अपेक्षा वास्तविक सम्पत्ति की कही अधिक मात्रा ऋण वापिस [illegible] है। दूसरे, ऊँची कीमतो के समय मे ब्याज की दर प्राय ऊँची रहती है [illegible] के समय मे यह दर काफी बडा भार हो जाती है।

क्या आन्तरिक राजकीय ऋण भार होता है? (Does an internal public debt impose any burden ?)—इगलैण्ड के प्राचीन [illegible] का बहुमत अधिकतर बडे राजकीय ऋणो को भयावह मानता था। परन्तु [illegible] अर्थशास्त्रियो का मत है कि राजकीय ऋण भार नही होता है। जैसा कि डाक्टर लरनर (Lerner) का मत है कि "राष्ट्रीय ऋण (जो देश के लोगो के हाथ मे रहता है) की मात्रा का कोई महत्व नही होता है। उसका केवल एक महत्व होता है और वह है, देश मे पूर्ण रोजगार की स्थिति बनाये रखना।" राजकीय ऋण का कोई भार नही होता है, क्योकि मूल अथवा ब्याज देने से सम्पत्ति का हस्तान्तर देश के एक समूह को होता है। ऋण का अर्थ यह होता है कि उसका कोई देनेवाला भी है। अर्थात् हमेशा एक साहूकार रहता है, जो ऋण पाने का अधिकारी होता है। परन्तु डाक्टर मोल्टन (Moulton) इससे सहमत नही है। उन्होने अपनी पुस्तक The New Philosophy of Public Debt मे कहा है कि ब्याज देने के लिये सरकार जो कर लगाती है, यदि वे भार नही है, तो स्थानीय सस्थाओ और कार्पोरेशनो को दिये जानेवाले कर भी भार नही माने जाने चाहिये। लेकिन स्थानीय-सस्थाओ की कर-व्यवस्था और सरकार की कर-व्यवस्था मे अंतर होता है। कार्पोरेशन जो कुछ देता है, वह उसे वापिस नही मिलता है, लेकिन ऋणो के सम्बन्ध मे सरकार जो कुछ देती है अथवा खर्च करती है, वह अन्त मे लोगो को ही मिलता है। जो लोग ब्याज देने के लिये लगाये गये करो को भार मानते है, वे लोग यह भूल जाते है कि ऋणो के सम्बन्ध मे किये गये खर्च का मुद्रा की पूर्ति पर, आय और बचत पर कितना अनुकूल प्रभाव पडता है। यदि इन अनुकूल

परिणामो पर समुचित विचार किया जावे तो राजकीय ऋणो के भार का जो अनुमान किया जाता है, वास्तव में वह कही कम होगा।

साथ ही यह कहना भी ठीक नही कि राजकीय ऋणो का कोई भार नहीं होता है। ऐसा कहनेवाले बहुत-सी बातो पर ध्यान नही देते हैं। आतरिक राजकीय ऋण, ऋण लेते समय अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव डालता है, और सरकार द्वारा प्राप्त-धन के व्यय किये जाने के समय तथा ऋण के उपयोग और उसकी अदायगी के समय भी अर्थ-व्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। यदि राजकीय ऋणो का मूल और ब्याज चुकाने के लिये भारी कर लगाये जाते है, तो उनसे व्यावसायिक प्रोत्साहन और बचत पर प्रतिकूल प्रभाव अवश्य पड़ेगा। ब्याज देने के लिये जो कर लगाये जाते है, उन पर डाक्टर लरनर समुचित विचार नही करते। वास्तव मे राजकीय ऋणो के भार के सम्बन्ध मे कोई एक सीधा स्पष्ट उत्तर नही दिया जा सकता है, क्योकि वह उत्तर कई बातो पर निर्भर करता है। प्रोफेसर हेनसन का मत है कि राजकीय ऋणों का भार बहुत हद तक ऋणो के वितरण और उनके सम्बन्ध में लगाये गये करो के भार के चालन पर निर्भर करता है।[1]

राजकीय ऋणों के आर्थिक परिणाम (Economic effects of Public Borrowing)—राजकीय ऋणो के आर्थिक परिणाम कई बातो पर निर्भर करते है। उनमें से निम्नलिखित विशेष रूप से महत्वपूर्ण है—(१) ऋणो की मात्रा और उनके जरिये अथवा स्त्रोत, (२) ऋण लेने का उद्देश्य, (३) ब्याज की दर और (४) ऋण चुकाने की शर्तें और रीतियाँ।

ऋणों की मात्राएँ और उनके आर्थिक परिणाम।

ऋण की मात्रा सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात है। यदि ऋण की मात्रा छोटी है, तो वह देश की अल्पकालीन अथवा बेकार मुद्रा से पूरी की जा सकती है। ऐसी परिस्थिति मे लाभ के लिये लगनेवाली पूँजी की मात्रा मे कमी नही होती। परन्तु यदि ऋण की मात्रा बहुत बडी है, तो अपना रुपया लोग व्यवसाय से खीचकर सरकारी ऋणो मे लगा सकते है। जब लोग ऐसा करेगे तो उस हद तक व्यवसाय और उत्पादन के लिये पूंजी की कमी हो जायगी। इससे राष्ट्रीय आय मे कमी होगी ओर बेरोजगारी बढेगी। अधिक ऋण लेने से खरीदने की नयी शक्ति उत्पन्न नही होती, केवल देश के साधनो का एक दिशा से दूसरी दिशा मे स्थानान्तर हो जाता है। परन्तु यदि सरकार खरीदने की नई शक्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है, तो उसके परिणाम अधिक भयकर हो सकते है। अतिरिक्त खरीदने की शक्ति उत्पन्न करने का अर्थ यह होगा

[1] Fiscal Policy and Bussiness Cycles, p. 155—159. Also his book, Economic Policy and Full Employment, Ch. XXII.

कि मुद्रा-स्फीति बढ़ेगी और मूल्य सतह ऊँची उठेगी। इसका परिणाम यह होता है कि
विभिन्न वर्गों मे असमानता बढ़ती है। जब मूल्य-सतह मे एकाएक परिवर्तन होते है, तब
उनका परिणाम यही होता है। फिर मुद्रा का मूल्य-ह्रास यहाँ तक हो सकता है कि बाद
मे सरकार मुद्रा सकुचन सम्बन्धी चाहे जितने उपाय करे मुद्रा का पूर्ववत् सामान्य मूल्य
फिर नही जम सकेगा।

दूसरी महत्वपूर्ण तथा विचारणीय बात यह होती है कि ऋण किस उद्देश्य से लिये
जाते है। यदि ऋणो का व्यय उत्पादक खर्चों या कार्यों पर किया जाता है, तो यह कहा
जा सकता है कि ऋण अनुत्पादक नही है और न्यायसगत है। परन्तु यदि ऋणो का व्यय
युद्ध इत्यादि जैसे अनुत्पादक मदो पर किया जाता है, तो वे ऋण समाज और देश के
ऊपर मृतक बोझ के समान हो जाते है। उत्पादक खर्च से पूरे देश की उत्पादन शक्ति
मे जो वृद्धि होगी, उससे अन्त मे लोगो के स्थायी नुकसान पूरे हो सकते है। बल्कि
सम्भव है, उन्हे कुछ लाभ भी हो जावे। करो की आय को अनुत्पादक मदो पर खर्च
करने से उतनी बरबादी नही होती, जितनी कि ऋणो की आय को अनुत्पादक मदो पर
खर्च करने से होती है। क्योंकि करो का व्याज नही देना पडता, परन्तु ऋणो पर तो
व्याज देना पड़ता है।

व्याज की दर का महत्व इस बात मे है कि यदि व्याज की दर ऊँची है और ऋण की
मात्रा अधिक है, तो देश की आय का बहुत बड़ा अश प्रति वर्ष केवल व्याज देने मे चली
जायगा। आर्थिक दृष्टि से यह बात ठीक नही है। बड़े-बड़े ऋण प्राय. ऊँची कीमतो
के काल मे ऊँची व्याज दर पर लिये जाते है। कम कीमतो के काल मे व्याज सहित इन
ऋणो को चुकाना बहुत बडा बोझ हो जाता है।

यदि हम ऋणो के आर्थिक परिणामो पर विचार करना चाहे, तो इस बात पर भी
विचार करना चाहिये कि उन ऋणो को चुकाने के आर्थिक परिणाम क्या होगे। ऋण
चुकाने के सम्बन्ध मे एक बात ध्यान मे रखनी चाहिये। ऊँची कीमतो के समय मे ऋणो
का चुकाना आसान होता है। मुद्रा-सकुचन (deflation) के समय मे ऋणो
का वास्तविक भार बढ जाता है और देश की कर देने की शक्ति कम हो जाती है। इसलिये
यह समय ऋण चुकाने के लिये उपयुक्त नही होता।

ऋण चुकाने की रीतियाँ (Methods of Debt Repayment)—ऋण
चुकाना तब सम्भव होता है, जब सरकार के बजट मे कुछ अतिरिक्त आय अथवा बचत
शेष रहे। यदि सरकार के पास बचत है, तो उससे बाजार से ऋण-पत्र खरीदकर उन्हे
नष्ट किया जा सकता है। लेकिन यह बात कहने मे जितनी सरल लगती है, वास्तव
मे उतनी सरल है नही। आजकल शायद ही ऐसी कोई सरकार मिले, जो कि अपनी
आय का काफी बडा भाग ऋण चुकाने पर खर्च कर सके। इसलिये हम कुछ अन्य रीतियो
पर विचार करेंगे, जिनके द्वारा ऋण का बोझ हल्का किया जा सकता है।

(क) ऋण-परिशोध कोष (Sinking Fund)—ऋण चुकाने की यह रीति इगलैण्ड के प्रधान मत्री पिट (Pitt) के समय से प्रचलित है। ऋण-परिशोध कोष का अर्थ यह था—ऋण के अवधि काल मे एक कोष मे इतनी रकम सग्रह कर ली जाती थी कि ऋण की अवधि पूरी होने पर उस कोष मे से ऋण का मूलधन चुकाया जा सके। यह कोष व्याज-दर-व्याज या चक्रवृद्धि व्याज (compound rate of interest) की रीति से सग्रह किया जाता था। ऋण पर वार्षिक व्याज राज्य की आय मे से चुकाया जाता है। कुछ वर्षो के बाद जब कोष मे सग्रहीत धन ऋण के बराबर हो जाता था, तब ऋण का परिशोध कर दिया जाता था, अर्थात् वह चुका दिया जाता था। लेकिन यह व्याज-दर-व्याज की रीति भी सर्वथा दोषरहित नही थी। जब सरकार ऋण-परिशोध कोष बनाने के लिये एक निश्चित रकम अलग रख रही हो तो सभव है कि उसी समय उसे अधिक व्याज-दर पर नये ऋण लेने पडे। इसलिये यह योजना व्यवहार रूप से सभव नही थी।

आजकल ऋण-परिशोध कोष द्वारा ऋण चुकाने की रीति बिलकुल भिन्न होती है। कुछ रकम ऋण चुकाने के लिये निश्चित कर दी जाती है। इस रकम से प्रति वर्ष ऋणो की कुल रकम या पूँजी मे कुछ कमी कर दी जाती है, अर्थात् प्रति वर्ष ऋणो का कुछ अश चुका दिया जाता है। अब ऋण-परिशोध कोष को व्याज-दर-व्याज रीति से ऋण की अवधि तक सग्रह नही किया जाता। चूँकि ऋणो की पूँजी मे प्रति वर्ष कुछ कमी हो जाती है, इसलिये आगे के वर्षो का व्याज का बोझ भी कुछ हल्का हो जाता है और ऋण चुकाने के लिये कुछ अधिक रकम मिलने की आशा की जा सकती है।

इस रीति का काफी उपयोग किया जाता है। इसमे डर केवल यही है कि जब जनता पर आर्थिक सकट हो तो कोई अर्थमन्त्री नये कर न लगाकर कही इसी ऋण-परिशोध की रकम को ही खर्च न कर डाले। फिर जिस देश पर करो का बहुत अधिक भार लदा है, वह इस रीति से बहुत लबे समय मे ऋण-परिशोध कर पावेगा।

(ख) ऋण-रूपान्तरकरण (Conversion of Debt)—इस रीति के अनुसार एक ऋण को उसकी व्याज-दर घटाकर दूसरे ऋण मे बदल दिया जाता है और इस नये ऋण पर व्याज की दर कम हो जाती है। ऊपर कह चुके है कि ऋण प्राय बढी हुई कीमतो के समय मे लिये जाते है, जब कि व्याज दर ऊँची रहती है। इसलिये साधारण समय मे अथवा जब बाजार मे व्याज की दर कम हो, तब यह सम्भव हो सकता है कि कम व्याज दर पर नया ऋण ले लिया जाय और ऊँची व्याज दरवाला ऋण चुका दिया जाय। मान लो, इस समय व्याज की दर मे काफी कमी हो जाती है। तब सरकार ऋण-पत्रो के स्वामियो को इतनी बाते दे सकती है। या तो वे कम व्याज दर पर नये ऋण-पत्र ले ले या अपना पूरा मूलधन वापिस ले ले। यदि नये ऋण पर दी जानेवाली व्याज दर बाजार की व्याज दर से थोडी भी ऊँची है, तो सम्भव है कि वर्तमान ऋण-पत्रो के स्वामियो मे से अधिकाश अपने ऋणो का रूपान्तर करा लेगे, अर्थात् नया ऋण लेगे

और बहुत कम मूलधन माँगेगे। इस प्रकार इस रीति द्वारा ब्याज दर मे काफी कमी की जा सकती है। गत कुछ वर्षों मे भारत सरकार ने ऋणो का रूपान्तरकरण किया है। इसका एक सुफल यह हुआ है कि ब्याज के रूप मे दी जानेवाली रकम मे काफी कमी हो गई और जब हम देखते है कि ब्याज के रूप मे सरकार को लाखो रुपया देना पडता है, तो यह लाभ कोई थोडा लाभ नही है।

परन्तु इस रीति के उपयोग करने का क्षेत्र बहुत सीमित है। ब्याज की दर मे कमी करनी तभी सभव है, जब कि ऋण का मूलधन किसी भी समय चुकाया जा सकता है। परन्तु बहुत से ऋणो मे ऐसी कोई शर्त नही रहती। इसके सिवा यदि ऋण का रूपान्तरकरण सम्भव भी हो तो ब्याज की दर मे बहुत अधिक कमी की आशा नही की जा सकती। फिर यह भी ध्यान मे रखना चाहिये कि ब्याज दर मे कमी होने से आय में भी कमी होगी, क्योकि ऋण-पत्रो के स्वामियो की आय मे भी कमी हो जायगी। अन्त मे इस रीति से ऋणो के मूलधन की रकम मे कोई कमी नही होती; केवल ब्याज मे दी जानेवाली रकम कुछ कम हो जाती है।

पूँजी से उगाही (Capital levy)—प्रथम महायुद्ध के बाद कई वर्षों तक इस बात पर विवाद चलता रहा कि युद्धकाल मे सरकार को जो बड़े-बड़े ऋण लेने पडे, उन्हे चुकाने के लिये पूँजी पर एक कर लगाना चाहिये, जिससे सब ऋण एक साथ चुकाये जा सके। आय और सम्पत्ति की एक निम्नतम सतह निश्चित कर दी जाय और उस सतह के नीचे यह कर नही लगाना चाहिये। उस सतह के ऊपर लोगो के ऊपर क्रमशः बढती हुई दर से यह कर लगाना चाहिये। कर की दर निश्चित करते समय यह देखना चाहिये कि किसी व्यक्ति की आय का नही, बल्कि सम्पत्ति का पूँजी के रूप मे क्या मूल्य है। ऋण-परिशोध की इस योजना को पूर्व निश्चित मृत्यु-कर (anticipated death duty) कहा गया है। "जिस प्रकार युद्धकाल मे एक कानून बनाया गया था, जिसके अनुसार एक निश्चित अवस्था और स्वास्थ्यवाला प्रत्येक मनुष्य सैनिक समझा जाता था, उसी प्रकार युद्धकालीन आर्थिक व्यवस्थाजनित एक दोष को दूर करने के लिये एक कानून बनाया जायगा, जिसके अनुसार एक निश्चित मात्रा की सम्पत्तिवाला प्रत्येक व्यक्ति मरा हुआ मान लिया जायगा और दूसरे दिन वह अपनी सम्पत्ति पर कर देने के बाद उस सम्पत्ति के उत्तराधिकारी के रूप मे फिर जीवित हो जायगा।"[1]

---

[1] "For just as during the war a law was passed, by which every man of suitable age and physique was deemed to be a soldier, so now in order to dissipate one of the evil legacies of war finance, a law would be passed by which every man of suitable degree of wealth would be deemed to die and to come to life again as the fortunate heir to his own property on payment of an appropriate ransom."

Dalton, Public Finance, p. 203.

और जिससे कि ऋण जल्दी चुक जाय, उगाही का समय दो तीन वर्ष से अधिक लम्बा नही होना चाहिये।

इस योजना के पक्ष और विपक्ष मे बहुत से मत दिये गये है। यहाँ हम केवल कुछ प्रधान मतो पर विचार करेगे। इस योजना के पक्ष मे प्रधान तर्क यह है कि युद्धकाल मे लोगो की त्याग की मात्रा में बहुत असमानता थी। महायुद्ध मे प्रमुख भाग श्रमिक वर्ग ने लिया और इस वर्ग के हजारो की सख्या में युद्ध में मरे। जो लोग जीवित बचे उनमे से अधिकाश के अग-भंग हो गयें और वे लाचार हो गये। परन्तु पूँजीपतियो ने इस काल में अपार धन-राशि कमाई, क्योकि युद्धकाल में कीमतें बहुत अधिक बढ जाती है। यदि श्रमिक वर्ग के लोगों ने युद्ध में प्राण दिये तो पूँजीपति वर्ग के लोगो को युद्धकाल मे कमाये हुए धन के अश का त्याग क्यो न करना चाहिये।

उगाही के पक्ष मे दूसरी बात यह कही जाती है कि जो रकम ब्याज मे दी जाती है, वह लोगो के ऊपर एक स्थाई बोझ हो जाती है। ऊँची कीमतो के समय में जो ऋण लिये जाते हैं, वे बाद मे कम कीमतो के समय मे बहुत भारी हो जाते हैं। इसलिये उन ऋणो को ऊँची कीमतो के समय में ही पूरा-पूरा चुका देना चाहिये। इसमे सन्देह नहीं कि एक साथ ऋण चुकाने मे बहुत कष्ट होगा, परन्तु जब कोई मर्ज होता है, तो एक बार चीर-फाड़ का कष्ट सहकर उससे मुक्ति पाना अच्छा होता है, जीवन भर उसका कष्ट सहना अच्छा नही। एक बार लगनेवाली उगाही के परिणाम प्रतिवर्ष लगनेवाले करो के कुपरिणामों से अधिक बुरे नही होते। फिर यदि क्रमश वृद्धि की इस योजना को ग्रहण किया जाय तो त्याग की असमानता घट जायगी और वह केवल वर्तमान मृत्यु-कर और अतिरिक्त करो का (Sur-taxes) थोडा-सा विस्तृत रूप होगा।

परन्तु इस योजना के विरोधियों का कहना है कि युद्धकाल मे धनी वर्गों ने अपने कर्त्तव्यो से मुँह नही मोडा। उन्होने भी युद्ध में भाग लिया और उनके नुकसान का अनुपात भी उतना ही अधिक था, जितना कि अन्य वर्गों का। दूसरे यदि एक बार उगाही की जाती है, तो इस बात की क्या गारटी है कि फिर उसका उपयोग नही किया जायगा। तीसरे, यह योजना उन लोगो के विपक्ष मे जाती है, जो मितव्ययता से रहते है और बचत करते है और जो लोग खूब खर्च करते है, उन लोगो के पक्ष मे जाती है। इससे बचत करने का उत्साह घटेगा और पूंजी विदेशो मे चली जायगी। फिर मान लो, एक पेशे वाला आदमी है, जिसकी आय काफी है, पर उसके पास पूँजी कुछ नही है और एक दूसरा आदमी है, जिसकी आय कम है, पर उसके पास पूँजी अधिक है, इन दोनो पर किस आधार पर और किस दर पर पूँजी लगाई जावेगी? इस प्रकार की वास्तविक कठिनाइयाँ बहुत-सी है और वे काफी बडी है।

सरकारों का पारस्परिक ऋण चुकाना (The Repayment of Inter-Government Debts)—आधुनिक काल मे युद्ध सम्बन्धी ऋणो और युद्ध के हर-

भुगतान का प्राथमिक बोझ

जानो के समस्याओ ने राजकीय अर्थ-व्यवस्था मे नये प्रश्न उत्पन्न कर दिये है। इन प्रश्नों का महत्व केवल इसलिये नहीं है कि इनमे बड़ी-बडी रकमो का सवाल रहता है, वल्कि महत्व का एक कारण यह भी है कि 'हस्तान्तरकरण' के सम्वन्ध मे सिद्धान्त पर विवाद उठ खडा होता है। इस समय इन ऋणो की उत्पत्ति के सम्वन्ध मे विचार करना आवश्यक है। केवल इस वात को ध्यान मे रखना चाहिये कि कई देशो की सरकारे अन्य देशो की सरकारो को वड़ी-वडी रकमो की देनदार कई कारणो से है। इन ऋणो के सम्वन्ध में एक महत्वपूर्ण बात यह भी होती है कि वे प्राय. एकतरफा भुगतानवाले (unilateral payments) होते है। इन ऋणो के भुगतान के सम्वन्ध मे दो प्रकार की समस्याएँ उत्पन्न होती है। एक तो यह कि कर अथवा मुद्रा-स्फीति द्वारा देश से एव रकम प्राप्त करनी पडती है। विदेशो से ऋण लेकर भी भुगतान किया जा सकता है परन्तु इससे प्रश्न हल नही होता, क्योकि आगे चलकर विदेशी ऋण चुकाने के लिये और वडी धन-राशि प्राप्त करनी पडेगी। इनमे से चाहे जिस रीति से काम लिया जाय, उसका केवल एक परिणाम यह होगा कि ऋणी देश के लोगो की वास्तविक आय घट जायगी। फिर यदि भारी करो के कारण उद्योगो में मदी आती है और उत्पादन मे कमी होती है तव तो लोगो की वास्तविक आय और अधिक कम हो जायगी। यदि देश की सरकार मुद्रा-स्फीति से काम लेती है, तो इसमें सन्देह नही कि शायद सवसे अधिक भार गरीव लोगो पर पडेगा। भुगतान के सम्वन्ध में ऋणी देशो पर यह प्राथमिक वोझ पडता है।

कीन्स-ओहलिन विवाद

जव ऋणी देश भुगतान की आवश्यक रकम प्राप्त कर लेते है, तो दूसरी समस्या यह होती है कि जिन देशो को रकम दी जायगी, उनकी मुद्रा में यह रकम कैसे वदली जाय। उदाहरण के लिये जर्मन सरकार को हरजाना चुकाने के लिये पहले वहुत वड़ी रकम प्राप्त करनी पडेगी, फिर दूसरी समस्या जर्मन मुद्रा (मार्क) को विदेशी मुद्रा मे परिणत करने की होगी। इस समस्या को 'परिवर्तन सकट' (transfer crisis) कहा गया है। जिस रीति या उपाय द्वारा जर्मन मुद्रा विदेशी मुद्राओ मे परिवर्तित की जायगी और इससे ऋणी देशों के ऊपर जो भार पड़ेगा, इन वातो के आधारभूत सिद्धान्त के सम्वन्ध में वहुत वाद-विवाद हुआ है।[1] हरजाना देने के लिये जर्मनी को अपना निर्यात व्यवसाय वढाना चाहिये। केवल वढाना ही न चाहिये वल्कि आयात से निर्यात अधिक रखना चाहिये। कीन्स का मत है कि निर्यात माल के विदेशी खरीदार तव तक अधिक माल न खरीदेगे, जव तक कि उसकी कीमत कम न की जायगी। आयात से निर्यात अधिक वनाये रखने के लिये निर्यात माल की कीमत कितनी कम करनी चाहिये। यह

[1] Keynes, Ohlin Controversy in the Economic Journal, 1929.

बात विदेशो मे जर्मन माल की माँग की लोच पर निर्भर करेगी। जो भी हो व्यवसाय विनिमय का रुख जर्मनी के विपक्ष मे हो जायगा। यदि आयात माल की कीमतें बढे, तब व्यवसाय की शर्तें ओर अधिक प्रतिकूल हो जायँगी। इसलिये हरजाना के प्राथमिक भार के सिवा जर्मनी दूसरा भार भी सहता है। उसे आयात माल की एक निश्चित मात्रा खरीदने के लिये वदले मे अपने माल की वहुत वडी मात्रा देनी पडेगी। उसे न केवल अपनी राष्ट्रीय आय का वहुत वडा भाग विदेशो को देना पडेगा, वल्कि आयात की प्रत्येक मात्रा के वदले अधिक माल देना पडेगा। यह दूसरा भार "हस्तान्तरकरण सम्वन्धी हानि" (transfer loss) कहलाती है।

हरजाना का दूसरा भार

इस मत के विरुद्ध यह कहा गया है, ओर इसमे प्रोफेसर ओहलिन का मत प्रधान है कि आयात की अपेक्षा निर्यात की मात्रा अधिक रखने के लिये जर्मनी मे कीमते कम करने की आवश्यकता नहीं है। इसलिये हस्तान्तरकरण द्वारा दूसरा भार होना आवश्यक नही है। उसका मत है कि इस सम्वन्ध मे दो देशो की शक्ति मे जो परिवर्तन होते है, उन पर कीन्स ध्यान नही देता। हरजाना देने का अर्थ यह है कि खरीदने की शक्ति की एक मात्रा जर्मनी से विदेशो को चली जाती है। अब जर्मनो की आय घट जाती है और जिन देशो को हरजाना मिलता है, उनकी मुद्रा-आय बढ जाती है ओर वे अव पहले की अपेक्षा अधिक खर्च कर सकते है। इसका अर्थ यह होता है कि जर्मनी की माँग कम हो जाती है, परन्तु विदेशियो की माँग वढ जाती है। फल यह होगा कि पुरानी कीमत पर भी विदेशी लोग अब अधिक माल खरीदेगे। इस प्रकार जर्मन निर्यात माल की कीमत कम किये विना भी निर्यात की मात्रा आयात से अधिक वनाई जा सकती है। व्यवसाय की शर्ते जर्मनी के प्रतिकूल होनी आवश्यक नही है। इसलिये हस्तान्तरकरण सम्वन्धी हानि नही होती।

सत्यता इन दोनो मतो के वीच मे पाई जाती है। इसमे सन्देह नही कि हरजाना देने से दो देशो की खरीदने की शक्ति मे परिवर्तन होगे। इससे अतिरिक्त निर्यात की कुछ वृद्धि होगी। दोनो देशो की कीमतो सवधी कुछ परिवर्तन भी होगे। जो देश हरजाना देगा, व्यवसाय की शर्तें उसके विरुद्ध जायँगी और इस प्रकार उसके ऊपर दूसरा भार पडेगा। परन्तु व्यवसाय की शर्त्तो मे कितना परिवर्तन होगा, यह कई वातो पर निभर करेगा—जैसे कि, निर्यात माल की माँग की लोच, उस देश मे माल की पूर्ति की परिस्थितियाँ, कीमतो मे कमी करने के लिये साख या ऋण-सम्वन्धी प्रतिवन्ध, विदेशो द्वारा लगाये गये आयात करो की दरे इत्यादि। यदि विदेशो द्वारा लगाये गये आयात करो की मात्रा क्रमश वढती जाती है, तो हरजाना देनेवाले देशो मे कीमते भी क्रमश गिरती जायँगी और हस्तान्तरकरण सम्वन्धी हानि भी उतनी ही अधिक होगी। जो देश हरजाना पाते है, यदि वे अपने यहाँ कीमते और मुद्रा आय नही बढ़ने देते तो

हरजाना देनेवाले देश मे कीमते और मजदूरी की दरें और अधिक तेजी से गिरेंगी तथा उसका भार और भी अधिक होगा।

कभी-कभी यह भी कहा गया है कि इस प्रकार के हरजानो से प्राप्त करनेवाले देशो को भी हानि होती है। हरजाने के अन्तर्गत ऋणी देशो के निर्यात और साहूकार देशो के आयात अवश्य बढने चाहिये। परन्तु यह परिस्थिति हमेशा वाछनीय नही होती।

हस्तान्तरकरण की समस्या और साहूकार देश।

ऋणी देशो के माल साहूकार देशो के माल के साथ न केवल साहूकार देशो मे वल्कि अन्य विदेशी बाजारो मे भी प्रतियोगिता करेगे। फल यह होगा कि साहूकार देशो के उद्योगो की बिक्री अपने देश मे तथा विदेश मे भी कम हो जायगी और उसके फलस्वरूप उन देशो मे व्यावसायिक मदी और वेकारी फैलेगी। परन्तु ऐसा होना हमेशा आवश्यक नही है। यह भी सम्भव है कि ऋणी देशो और साहूकार देशो के माल के बीच मे कोई प्रतियोगिता न हो। उदाहरण के लिये ऋणी देश साहूकार देशो को चाय, जूट तथा अन्य कच्चे माल भेज सकते है और साहूकार देश केवल पक्के माल बनानेवाले हो सकते है अथवा यह भी सभव है कि साहूकार देशो मे खरीदने की शक्ति की वृद्धि होने के कारण उनकी माँग बढ जायगी और वे अपने ही उद्योगो के माल अधिक मात्रा मे ख़रीदेगे। फिर भी यह सम्भावना है कि साहूकार देशो के उद्योगो को मन्दी, वेकारी, अस्तव्यस्तता इत्यादि सकटो का सामना करना पडे। इसलिये जब मुफ्त मे मुद्रा की लम्बी रकम मिलती है और उसमे जो लाभ होते है, उनके साथ-साथ हमे इन हानियो का भी ध्यान रखना चाहिये। परन्तु यदि हरजाना बहुत लम्बे समय तक मिलता रहता है, तो अस्तव्यस्तता कुछ समय बाद ठीक हो जायगी और साहूकार देशो के उद्योग नई परिस्थितियों के अनुसार काम करने लगेगे। असुविधाएँ या हानियाँ धीरे-धीरे समाप्त हो जायँगी और जब प्रारम्भिक अस्तव्यस्तता का काल समाप्त हो जायगा, तब साहूकार देशो को हरजानो की रकमो से वास्तविक लाभ होगा।

अध्याय ५७

आयात-निर्यात कर-नीति और पूर्ण बाकारी

(Fiscal Policy and Full Employment)

इस ग्रन्थ मे कई स्थानो पर हमने इस बात पर जोर दिया है कि सामाजिक नीति का प्रधान उद्देश्य व्यवसाय-चक्रो के परिवर्तनो से बचना और पूर्ण बाकारी बनाये रखना होना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये राज्य को आयात-निर्यात कर सम्बन्धी नीति का उपयोग कहाँ तक करना चाहिये ? ध्यान रहे कि केवल मुद्रा सम्बन्धी उपायो द्वारा कोई भी देश पूर्ण बाकारी की स्थिति नही बनाये रख सकता। मुद्रा नियन्त्रण का प्रधान साधन ब्याज दर होती है और ब्याज दर का प्रभाव लाभ पर लगनेवाली पूँजी पर अधिक नही पड़ता। सन् १९३२ से १९४१ के बीच मे दीर्घकालीन ब्याज की दर मे काफी कमी हुई। परन्तु इस समय मे पूँजी व्यवसाय मे अधिक नही लगी।[1] इसके सिवा केन्द्रीय बैंक को ब्याज की दरो मे घटी-बढी करने की हमेशा स्वतन्त्रता नही रहती। ब्याज की दरो मे परिवर्तनो का प्रभाव सरकारी ऋण-पत्रो पर पडता है। इसलिये सरकार, बैंक इत्यादि तथा जनता इन परिवर्तनो का विरोध कर सकती हैं। इसलिये यह बात साफ जाहिर होती है कि केवल मुद्रा नीति से पूर्ण बाकारी का उद्देश्य प्राप्त नही हो सकता।

जब तक किसी देश में वस्तुओ और सेवाओ पर व्यवसायी वर्ग द्वारा अथवा सरकार द्वारा काफी मात्रा मे खर्च किया जाता है, तब तक उसमे बडे पैमाने पर बेकारी होने का डर नही रहता। वस्तुओ और सेवाओ पर किये जाने वाले कुल खर्च को चार विभागो में बाँटा जा सकता है—व्यक्तिगत उपभोग पर खर्च, व्यक्तिगत रूप से लगाई गई पूँजी सम्बन्धी खर्च, सरकारी शासन सम्बन्धी खर्च और सरकार द्वारा लगाई गई पूँजी सम्बन्धी खर्च। जिन देश मे आर्थिक व्यवस्था व्यक्तिगत व्यवसाय के आधार पर होती है, उसमे बडे पैमाने पर बेकारी होने का अर्थ यह होता है कि पहले दो प्रकार का खर्च (अर्थात् व्यक्तिगत उपभोग और पूँजी लगाना) इतना अधिक नही हो सकता कि सब लोगो को काम मिल सके। इसलिये सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि व्यक्तिगत उपभोग की अथवा व्यक्तिगत रूप से पूँजी लगाने की इतनी सहायता करे या प्रोत्साहन दे, जिससे कि पूर्ण बाकारी की स्थिति बनी रहे। गत महायुद्ध के अनुभव ने यह प्रकट कर दिया कि यदि सरकारी खर्च काफी बडी मात्रा में रहे, तो पूर्ण बाकारी की स्थिति प्राप्त की जा सकती है। शान्तिकाल मे भी आवश्यक सतर्कता के साथ उसी नीति का अनुसरण करना अच्छा होगा। इसी कारण से पूर्ण बाकारी के प्रश्न के सम्बन्ध मे सरकार की

[1] *Klein*, L R, The Keynesian Revolution, p. 172.

आयात-निर्यात कर नीति का महत्व होता है। आवश्यकता इस बात की होती है कि व्यक्तिगत उपभोग तथा पूंजी लगाने मे जो कमी रह जाय, उसकी पूर्ति सरकार को सेवाओ पर खर्च तथा पूंजी लगाकर पूरी करनी चाहिए। सरकार की नीति इस प्रकार की हो कि वह अपनी इच्छानुसार व्यक्तिगत उपभोग तथा पूंजी लगाने को उत्साहित या हतोत्साहित कर सके अर्थात् सरकार को क्षतिपूरक आयात-निर्यात कर नीति (compensatory fiscal policy) ग्रहण करनी चाहिये।

पूर्ण वाकारी के लिये बजट बनाना।

इसलिये सुझाव पेश किया जाता है कि सरकार पर इतना अधिक खर्च करने की जिम्मेदारी रहनी चाहिये, जिससे कि पूर्ण वाकारी बनी रहे। सरकार को बजट के सम्बन्ध मे अब नई नीति ग्रहण करनी चाहिये। बजट केवल मुद्रा तथा आर्थिक आवश्यकताओ के आधार पर न बन कर सारे देश की आय और खर्च को ध्यान में रखकर बनाना चाहिये। यह बजट "सारे देश की जनशक्ति को आधार बनाकर तब उसके आधार पर अपनी योजनाए बनावेगा।"[1] सरकार को प्रति वर्ष यह हिसाब लगाना चाहिये कि पूर्ण वाकारी रहने पर लोगो की कुल आय कितनी होगी ओर उपभोग तथा पूंजी लगाने मे व्यक्तिगत खर्च कुल कितना होगा और खर्च कुल आय से जितना कम पडे उस कमी को पूरा करना चाहिये। अर्थात् सरकार को उतना खर्च करना चाहिये जिससे व्यावसायिक मदी और वेकारी न हो। पहले सरकार को ऐसे उपायो से काम लेना चाहिये, जिससे व्यक्तिगत उपभोग बढे उदाहरण के लिये सरकार सामाजिक सुरक्षा (social security) सम्बन्धी योजनाये आरम्भ कर सकती है। आधुनिक ओद्योगिक समाज मे लोगो के बचत करने के कारण साफ जाहिर हैं। लोग बीमारी वेकारी और बुढापे के दिनो के लिये बचत करते है अथवा मृत्यु के बाद अपने उत्तराधिकारियो के लिये बचत करते है। यदि सरकार सामाजिक सुरक्षा की योजनाओ द्वारा इन आपत्ति के अवसरो के लिये प्रबन्ध कर देती है, तो लोगो को बचत करने की उतनी आवश्यकता नही रहेगी और उपभोग पर खर्च बढ जायगा। इसलिये यह आशा की जाती है, कि सामाजिक सुरक्षा की योजनाओ द्वारा उपभोग का स्तर ऊचा उठ जायगा। परन्तु इस रीति के परिणाम दीर्घकाल मे प्रकट होगे। अल्पकाल मे इस रीति के द्वारा व्यक्तिगत उपभोग पर किये जानेवाले खर्च को काफी प्रोत्साहन नही मिलेगा।

व्यक्तिगत पूँजी लगाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलेगा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सबसे अधिक उपयुक्त कर-दर प्रामाणित आय-कर की दर (basic income tax rate) होगी। जब प्रामाणिक आय-कर की दर घटा दी जावेगी, तब कर दाताओं के हाथ में अधिक धन बच रहेगा और वे उपभोगो तथा पूँजी लगाने पर अधिक खर्च कर सकेंगे। जब यह दर बढा दी जावेगी, तब पूँजी लगाने की प्रवृत्ति में तुरन्त बाधा पहुँचेगी और उसका फल यह होगा कि पूर्ण बाकारी की स्थिति मे बाधा पडेगी। आय-कर में अन्य रीतियो द्वारा भी कमी की जा सकती है। मि० कालेकी[1] का मत है कि आय का जो अंश अचल पूँजी (fixed capital) पर लगता है, उसे अंशरूप मे या पूर्ण रूप मे आय कर से मुक्त कर देना चाहिये। व्यावसायिक कम्पनियों के लाभ का जो अंश मशीनो इत्यादि अचल पूँजी मे लगाया जाय उसे अंशरूप मे या पूर्णत आय-कर से मुक्त कर देना चाहिये। इसके सिवा नये तथा खतरे से पूर्ण व्यवसायों में पाँच वर्ष आगे तक के लिये हानि की सीमा रखने से भी इन व्यवसायो को प्रोत्साहन मिलेगा। इससे व्यवसाय मे नई पूँजी लगेगी। कुछ अन्य कर भी हैं, जिन्हे व्यवसाय-चक्र विरोधी कामो मे लाया जा सकता है, जैसे कि "ब्रिटिश सरकार सामाजिक बीमा योजना के अन्तर्गत उद्योग-पतियो तथा मजदूरो से जो साप्ताहिक चदा लेती है, उसमे परिवर्तन करना चाहती है। जिन देशो मे बिक्री-कर लगता है, उन्हे उस कर को इस काम के लिये उपयोग मे लाना चाहिये।"[2]

व्यवसाय-चक्र विरोधी कर नीति मे कुछ लाभ अवश्य होते हैं। उदाहरण के लिये जब मंदी के लक्षण प्रकट हो, तब खर्च बढाने की अपेक्षा कर कम करना अच्छा होगा। दूसरे, सार्वजनिक निर्माण कार्यों के निर्माण और समय के सम्बन्ध में और योजनाओ के सम्बन्ध मे जो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है, वे इस रीति द्वारा बचाई जा सकती है। इस रीति मे उपभोक्ता को इच्छानुसार वस्तुएँ चुनने का अधिक मौका मिलता है और व्यक्तियो को अपनी इच्छानुसार पूँजी लगाने का अच्छा अवसर मिलता है। परन्तु इस बात मे सन्देह है कि इस रीति द्वारा खर्च करने की प्रवृत्ति को और बाकारी को कहाँ तक प्रोत्साहन मिलता है। फिर इस रीति द्वारा व्यक्तिगत पूँजी लगाने की प्रवृत्ति को किसी एक दिशा मे मोडना कठिन होगा। इसलिये कुल खर्च और पूर्ण बाकारी की स्थिति बनाये रखने के लिये केवल इस रीति का सहारा लेना उपयुक्त न होगा। मि० कालेकी कह चुके है कि व्यक्तिगत पूँजी को प्रोत्साहन देने के उद्देश्यो से करो मे जो कमी की

---

[1] *Kalecki*, Economics of Full Employment, pp 45-46

[2] "This the British government proposes to vary the weekly contributions paid by employers and employed under its system of social insurance, countries which have a general sales tax should consider its suitability for the purpose"

—Employment Stability in the Post-War World (L. of N.) pp. 170-71.

जायगी, उससे पूर्ण बाकारी बनाये रखने की समस्या हल नही होती। यदि पूर्ण बाकारी को स्थायी रूप से बनाये रखना है, तो आय-कर मे लगातार कमी करनी पड़ेगी।

सार्वजनिक निर्माण नीति (Public Works Policy)—इसलिये पूर्ण बाकारी की स्थिति बनाये रखने के लिये सरकार को खर्च के सम्बन्ध मे व्यवसाय-चक्र विरोधी नीति ग्रहण करना आवश्यक है। यह पुराना विश्वास है कि जब व्यक्तिगत पूँजी की कमी मालूम हो तब सरकार को सार्वजनिक निर्माण कार्य मे अधिक पूँजी लगानी चाहिये। सार्वजनिक निर्माण कार्य के सम्बन्ध मे सरकार भवन निर्माण, गंदी बस्तियो का पुन निर्माण इत्यादि कार्य हाथ मे ले सकती है और इनकी सामाजिक उपयोगिता सर्वविदित है। सरकार को कुछ योजनाएँ बिलकुल तैयार रखनी चाहिये और जैसे ही व्यक्तिगत पूँजी की कमी के लक्षण प्रकट हो, वैसे ही उन्हे तुरन्त आरम्भ कर देना चाहिये। ध्यान रहे कि साधारणत व्यवसाय की परिस्थितियाँ चाहे जैसी रहे, सार्वजनिक निर्माण कार्य चाहे जब आरम्भ किया जा सकता है, और चाहे जब बन्द किया जा सकता है। जिस देश मे रेले तथा इसी तरह के सार्वजनिक उपयोगिता के अन्य विभाग सरकार के अधिकार मे रहते है, उसमे इस नीति के सफल होने की अधिक आशा रहती है। सार्वजनिक कार्यो पर इस प्रकार के खर्च से उपभोग की वस्तुओ की माँग बढेगी और व्यक्तिगत पूँजी को प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सार्वजनिक कार्यो पर इस प्रकार का जो खर्च किया जाय, उसकी प्रतियोगिता के फलस्वरूप व्यक्तिगत पूँजी मे कमी न होने पावे अथवा व्यक्तिगत ऋणो पर भी व्याज की दर न बढने पावे। फिर यदि सार्वजनिक ख़र्च किसी ऐसे उद्योग पर किया जावे, जिसमे मजदूरी की दर का कुल लागत से अनुपात अधिक होता है तो बाकारी की मात्रा पर प्राथमिक प्रभाव अच्छा पडता है।

यद्यपि इस नीति की सफलता के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा जा सकता है परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध मे जो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है, उन्हे भी ध्यान मे रखना चाहिये। व्यवसाय-चक्र विरोधी सार्वजनिक खर्च की नीति ग्रहण करने के पहले वर्त्तमान और भविष्य की परिस्थितियो का पूर्ण विश्लेषण करना चाहिये और उन्हे अच्छी प्रकार समझना चाहिये। 'क्योकि बिना दूरदर्शिता के इस प्रकार के विश्लेषण केवल भूतकाल की समस्याओ का हल कर सकते है, भविष्य के लिये सहायक नही हो सकते।"[1] फिर इस प्रकार की नीति को तुरन्त कार्यान्वित करने के लिये कुछ प्रत्यक्ष कठिनाइयाँ भी होती है। यह तो प्रकट ही है कि इस योजना की एक विशेषता ऋणात्मक बजट होगा, अर्थात् आय की अपेक्षा व्यय अधिक होगा। सार्वजनिक निर्माण नीति की सबसे जटिल समस्या यही रहती है। यह कहा जाता है कि इस नीति का उद्देश्य यह रहता है कि व्यावसायिक मंदी के समय मे सरकार को ऋण लेना चाहिये और तेजी के समय मे बजट की बचत में

[1] F. [illegible], Financing American Prosperity, p. 455.

से उन्हे चुकाना चाहिये, परन्तु व्यवहार मे इस नीति मे कुछ प्रत्यक्ष कठिनाइयाँ हो सकती है। फल यह होगा कि जब राजकीय ऋणो की मात्रा बहुत अधिक बढ जायगी तो आर्थिक व्यवस्था पर उनका कई प्रकार से प्रतिकूल प्रभाव पडेगा। जब राजकीय ऋण बढने लगेगे तो व्यक्तिगत पूँजी लगानेवालो के मन मे सरकार की नीति के प्रति अविश्वास हो सकता है। इससे व्यक्तिगत लगनेवाली पूँजी की मात्रा मे और कमी हो सकती है। फिर ऋणात्मक खर्च से मुद्रा-स्फीति भी बढेगी। परन्तु यदि उचित सावधानी बरती जावे तो सरकारी ऋणो की मात्रा बढने से मुद्रा-स्फीति की आशका नहीं होनी चाहिये। बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करेगा कि ऋणो के खर्च की प्रकृति किस प्रकार की होगी, उसकी उत्पादन शक्ति कितनी होगी और जब ऋण लिये जाते है, तब बाकारी की स्थिति कैसी है और ऋण किस दर से बढते है। जब तक ऋणो का उपयोग बेकारो को काम देने, रहने के लिये मकान बनवाने, स्कूल तथा सडके बनवाने के लिये किये जाते है, तब तक वे बुरे नही कहे जा सकते। क्योकि उससे प्रत्येक व्यक्ति की दशा मे सुधार होता है। "गरीबो को यह लाभ होता है कि भूख और बेकारी के बदले मे उन्हें काम मिलता है। धनियो को यह लाभ होता है कि इस हस्तान्तरकरण से उन्हें कोई हानि नही होती और पूर्ण बाकारी से उनके लाभ मे वृद्धि होती है। बेकारी मे शायद ऐसा न होता।"[1]

इसलिये पूर्ण बाकारी की योजना की व्यवसाय-चक्र विरोधी आयात-निर्यात कर नीति एक आवश्यक अग होना चाहिये। लेकिन साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि पूर्ण बाकारी बनाये रखने के लिये केवल इतना ही पर्याप्त नही है। पूर्ण बाकारी की स्थिति तब भी बनी रह सकती है, जब सार्वजनिक खर्च, विदेशी व्यवसाय, मुद्रा प्रचलन, तथा श्रम की भ्रमणशीलता सम्बन्धी विभिन्न योजनाओ का सामजस्य करके काम किया जाय।

---

1 "The poor are better off because they have jobs instead of hunger pains and the nervous frustration of idleness The rich are better off because they have lost nothing on the transfer and they get longer profits out of the full employment income than would otherwise be the case"

—*Klein*, The Keynesian Revolution, p 183.

अध्याय ५८

राज्य के आर्थिक कार्य

(The Economic Activities of the State)

पिछले अध्यायो मे विभिन्न समस्याओ पर विचार करते समय अनेक बार हमने इस ओर सकेत किया कि आर्थिक कार्रवाइयो को सचालित करने तथा उन पर नियत्रण रखने मे आधुनिक राज्य कितना महत्वपूर्ण भाग लेते है। व्यापार-स्वतत्रता का भी एक युग था और उस युग मे राज्य के किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप को अनुचित समझा जाता था। परन्तु उस युग को बीते काफी समय हो चुका। वास्तव मे क्या कभी कोई ऐसा भी राज्य था जिसने समाज की आर्थिक कार्रवाइयो पर काफी नियत्रण नही रखा एक सदेहजनक प्रश्न वन चुका है। यह सत्य प्रतीत नही होता है कि कभी ऐसा भी राज्य रहा होगा। इसमे सन्देह नही कि १९वी सदी के मध्यकाल मे व्यक्तिवादी विचारधारा के प्रभाव के फलस्वरूप राज्य का नियंत्रण न्यूनतम हो गया था, परन्तु १९वी सदी बीतने से पहले ही व्यक्तिवादी विचारधारा के विरुद्ध जोरदार प्रतिक्रिया हुई और इस प्रतिक्रिया के फलस्वरूप व्यापार स्वतत्रता कम होने लगी। आर्थिक क्षेत्र मे इस प्रकार राज्य ने धीरे-धीरे हस्तक्षेप करना आरम्भ कर दिया, परन्तु प्रथम विश्व-युद्ध से जो परिस्थिति पैदा हुई और जो परिवर्तन हुए उससे इस हस्तक्षेप मे वृद्धि होने मे काफी सहायता मिली। विश्व युद्ध के कारण राज्य को युद्ध पर विजय प्राप्त करने के लिये सभी उपलब्ध साधनो की पूर्ण उपयोगिता प्रयोग करने के हेतु आर्थिक क्षेत्र मे अपने अधिकारो का अधिकाधिक उपयोग करने के लिये विवश होना पड़ा। राज्य का यह कार्य युद्ध समाप्त हो जाने के वाद भी जारी रहा, क्योकि विश्वयुद्धो के वीच के अशात वर्षो मे अनिश्चित आर्थिक स्थिति से आर्थिक क्षेत्र मे राज्य का कार्य पूर्ववत् चलते रहना आवश्यक हो गया। १९३० मे व्यापार मे मदी आ जाने से प्रत्येक देश मे वेरोजगारी की मात्रा मे अत्यधिक वृद्धि हो गयी। इससे वेरोजगारी की मुसीवतो को दूर करने के लिये राज्य का आर्थिक क्षेत्र मे प्रवेश करना आवश्यक हो गया। धीरे-धीरे यह माना जाने लगा कि राज्य की नीति का प्रमुख उद्देश्य देश में पूर्ण रोजगार की स्थिति पैदा करना तथा उसे बनाये रखना होना चाहिये। इसके लिये यह आवश्यक हो गया कि आर्थिक क्षेत्र मे योजनाबद्ध कार्य किया जाय और अनेक दिशाओ मे आर्थिक व्यवस्था पर नियत्रण रखा जाय। इस प्रकार देश की आर्थिक व्यवस्था मे राज्य का प्रभाव सर्वव्यापक बन गया है।

[illegible] आर्थिक सगठन मे आधुनिक राज्य की कार्रवाइयो को निम्नलिखित भागो मे विभक्त किया जा सकता है—उद्योग का सचालन एव नियत्रण, मजदूरो के हितो

की रक्षा के लिये कार्य; विदेशी व्यापार के संचालन से सम्बन्धित कार्य, सामाजिक बीमा योजना सम्बन्धी कार्य; विभिन्न व्यक्तियो की आय मे अधिक समानता लाने के सम्बन्ध मे कार्य, बेरोजगारी और व्यवसाय-चक्र से सम्बन्धित कार्य और अत मे युद्ध के दौरान मे और युद्ध के बाद किये गये कार्य।

राज्य और उद्योग (The State and Industry)—औद्योगिक क्षेत्र में राज्य के कार्यों पर विचार करने के लिये हमे निम्नलिखित तीन बातो पर विचार करना होगा—सचालन-कार्य (regulatory functions), एकाधिकार पर नियत्रण (control of monopolies) और राष्ट्रीयकरण अथवा सरकार का स्वामित्व (nationalisation)।

उद्योगो की स्थापना के तरीको के सचालन मे और औद्योगिक कार्यों को चलाने मे राज्य निरन्तर अधिक सक्रिय होता जा रहा है। किसी भी कारखाने को अपना उत्पादन कार्य आरभ करने से पहले सरकार से लाइसेन्स प्राप्त करना पड़ता है। यदि यह उद्योग ज्वाइट स्टॉक कम्पनी के रूप मे सगठित है तो इन कम्पनियो के विधान तथा कार्य कम्पनी-कानून (Company law) की व्यवस्था के अनुसार ही होने चाहिये। कारखानो के आकार-प्रकार कारखाना कानून (Factory Acts) की व्यवस्थाओ के अनुकूल होने चाहिये। यदि इन कारखानो को आवश्यक मशीनो या कच्चे माल का विदेशो से आयात करना हो या यदि उन्हे अपने माल का विदेशो को निर्यात करना हो तो उन्हे यह कार्य विनिमय नियत्रण नियमो (Exchange Control Regulation) के अनुसार करना पडेगा। यदि हम केवल विभिन्न सरकारो द्वारा बनाये गये कारखानो से सम्बन्धित औद्योगिक नियमो की सूची भर तैयार करने लगे तो सैकडो पृष्ठ भर जायँगे। इन नियमो के मुख्य उद्देश्य यह होते है कि (१) ऐसी कार्रवाइयो को निषिद्ध घोषित कर दिया जाय तो जागरूक जनता अनुचित समझती है, (२) प्रतियोगिता के कुछ दुरुपयोगो अथवा दोषो को रोकना और (३) देश के औद्योगिक साधनो के विकास को उचित दिशा मे सुनियोजित तरीके से आगे बढाना।

दूसरे, राज्य ने अक्सर एकाधिकारी सगठनो के दुरुपयोग को नियन्त्रित करने के लिये कार्रवाई की है। आधुनिक औद्योगिक सगठनो की एक प्रमुख विशेषता एकाधिकारी सगठनो (monopolistic organisation) का विकास है। वास्तव मे प्राय सर्वत्र स्वतत्र प्रतियोगिता घटती जा रही है और सामूहिक उत्पादन की बचतो से कुछ विशाल औद्योगिक कारखानो की स्थापना हो गयी है और इन विशाल कारखानो को यह लालच हो सकता है कि उपभोक्ता का शोषण किया जाय। इसीलिये राज्य को एकाधिकारी सगठनो द्वारा उत्पादित माल की कीमते निश्चित करने और उनकी बिक्री की शर्तें निर्धारित करने के तरीको को अपनाने के लिये विवश होना पड़ा है। कुछ देशो मे एकाधिकारी सगठनो के व्यवसाय के तरीको का अध्ययन करने तथा उनकी छानबीन

करने के लिये कानूनी-सस्थाओ की स्थापना की गयी है। अमेरिका मे इसी प्रकार की एक सस्था सघीय व्यापार आयोग (Federal Trade Commission) की स्थापना हो चुकी है। एकाधिकारी सगठनो की तथा उद्योगो के सयुक्त सगठनों (combination) की स्थापना गैरकानूनी घोषित कर दी गयी है।

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण

अत मे, ऐसे उद्योगो की सख्या वढती जा रही है, जिनकी व्यवस्था सरकार ने अपने हाथ मे ले ली है। वर्तमान समय में उद्योगो का राष्ट्रीयकरण ही सबसे अधिक विवादग्रस्त प्रश्न है। अनेक कारणों से राष्ट्रीयकरण की माँग की जा रही है। उदाहरण के लिये समाजवादी दृष्टिकोण है कि उत्पादन के सभी साधनो पर राज्य का अधिकार होना चाहिये। इस समाजवादी दृष्टिकोण के अलावा भी उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के समर्थन मे अनेक कारण प्रस्तुत किये गये है। आधुनिक औद्योगिक सगठन की मुख्य प्रवृत्ति एकाधिकारी सगठन की ओर है। एकाधिकार के दोषो से और उसके बुरे प्रभाव को प्राय सभी ने स्वीकार किया है। एकाधिकार की प्रवृत्ति पर नियत्रण रखने के सभी परिचित तरीके इन बुराइयो को दूर कर सकने में असमर्थ रहे है। इसलिये यह कहा गया है कि इन बुराइयों को दूर करने के लिये सरकार के पास और कोई चारा नही रह गया है। इन बुराइयों को तभी दूर किया जा सकता है जब राज्य स्वय एकाधिकार प्राप्त सगठनों को अपने हाथ मे ले ले। तीसरे, कुछ उद्योग ऐसे है, जो फौजी दृष्टि से, देश की सुरक्षा की दृष्टि से तथा कुछ अन्य कारणो से विशेप महत्व के होते हैं। इसलिये यह कहा गया है कि राज्य इनके महत्व के आधार पर इनकी व्यवस्था अपने हाथ मे ले ले। यह विभिन्न फौजी उद्योगों के लिये सही है जिनमें हथियारों तथा बारूद इत्यादि का उत्पादन किया जाता है। कुछ अन्य उद्योगो मे यह देखा गया है कि उनके सगठन मे सुधार करने तथा उनका विकास करने के लिये काफी वडी मात्रा मे पूँजी लगाने की आवश्यकता है, परन्तु निजी रूप से चलाये जाने वाले उद्योगो की यह आवश्यकता पूरी नही हो पाती है। उद्योगपति इतनी पूँजी लगा सकने मे असमर्थ होते है। वहुत कुछ अश मे यह वात हमारे कोयला उद्योग पर लागू होती है। ऐसी स्थिति मे उद्योग मे सुधार करने तथा उसका विकास करने के लिये राज्य को सक्रिय होना पडेगा और उद्योग को अपने हाथ मे लेकर आवश्यक पूंजी लगानी पडेगी।

इससे स्पष्ट है कि ऐसी स्थितिया अनेक हो सकती है, जिनके आधार पर उद्योगो का राष्ट्रीयकरण किये जाने का समर्थन किया जा सकता है। परन्तु सरकार की इस प्रकार की नीति का समर्थन किया जाना वास्तव मे राज्य के कुशल और ईमानदार प्रशासन पर निर्भर करता है। जब तक सरकारी कर्मचारी ईमानदार और कुशल नही है तब तक राष्ट्रीयकरण की नीति सफल नही हो सकती है। इसके साथ ही राष्ट्रीयकरण से अनेक कठिन समस्याये पैदा हो जाती है। उदाहरण के लिये राष्ट्रीयकरण किये गये उद्योगो की व्यवस्था सुचारु रूप से चलाने के लिये उपयुक्त सगठन किस प्रकार का होना

चाहिये ? साधारणतया सरकारी कार्पोरेशन स्थापित किये जाते है, जिसमें विशेषज्ञ और मजदूर तथा अन्य हितो के प्रतिनिधि शामिल होते है। इनको सरकार नियुक्त करती है। परन्तु यदि जिस उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया गया है, उसका आकार-प्रकार आदर्श आकार-प्रकार से अधिक बडा है तो इससे उद्योग की कार्यक्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पडने की सभावना रहती है और ऐसे उद्योग की उत्पादन की लागत आदर्श स्थिति की लागत से अधिक हो सकती है। यदि इस प्रकार के सरकारी कार्पोरेशनो का प्रबन्ध सुचारु रूप से किया भी जाय तब भी एक और कठिनाई उत्पन्न हो जायगी। सरकारी अधिकारी जिन्हे उद्योग सम्बन्धी अपनी नीतियो के लिए विधानमडलो को जवाब देना पडता है और अपनी नीतियो को उचित तथा सही नीति सिद्ध करना पडता है, उद्योग मे खतरा लेने से या अधिक खतरा लेने से डरते है। अन्त में, अनुभव मे यह सिद्ध हो चुका है कि यदि उद्योग का सचालन बडे कार्पोरेशनो के द्वारा भी किया जाय, तब भी इमसे श्रम-सम्बन्धो मे सुधार होने की सभावना कम रहती है। श्रम-सम्बन्धो मे पहले की अपेक्षा सुधार नही भी हो सकता है।

राज्य और श्रम (State and Labour)—आधुनिक राज्यो को मजदूरो के हितो की रक्षा करने के लिए भी अनेक कार्रवाइयां करने को विवश होना पडा है। प्रतियोगिता मे किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न लगाने पर मजदूरो के शोषण पर प्रतिबन्ध लगाना पडा है। इसीलिए राज्य में कारखाना-कानून (Factory law) पास किया है जिसमें एक निश्चित उम्र से कम बच्चो को कारखानो मे नियुक्त करना निषिद्ध घोषित किया गया है, साथ ही कुछ परिस्थितियो में महिलाओ को भी कारखाने मे मजदूर नही रखा जा सकता है, काम के घण्टे निर्धारित कर दिए गए है और कारखाने में काम करने के लिए कुछ न्यूनतम सुविधाएँ प्रदान की गई है। मजदूरो के विभिन्न वर्गो को न्यूनतम मजदूरी निर्धारित कर दी गई है जिससे श्रम का दुरुपयोग अथवा शोषण न किया जाय और मजदूर अपने रहन-सहन का एक न्यूनतम स्तर बनाए रख सके। इससे मजदूरो की ट्रेड यूनियनो को मान्यता दी गई है और अनेक बार उद्योग के मालिको को मजदूरो के प्रतिनिधियों से मिलकर आपस मे समझौता कर देने के लिए विवश किया गया है।

राज्य और समाज-सेवायें (The State and the Social Services)—अनेक देशो मे राज्यो ने एक कदम और आगे बढाया है। वह इस बात को निश्चित कर देना चाहता है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी आवश्यकताओ से छुटकारा मिल जाय अर्थात् प्रत्येक नागरिक के अभाव की पूर्ति हो। यह कार्य 'समाज सेवा कार्य' के माध्यम से किया जा रहा है। राज्य ने सामाजिक बीमा योजना अपनायी है जिसमे सभी व्यक्तियो को डाक्टरी-चिकित्सा मुफ्त करने, बीमारी के समय नकद धन की सहायता देने, और बेरोजगार रहने पर बेरोजगारी का लाभ या भत्ता देने, बुढापे मे पेन्शन पाने या किसी

कारण अयोग्य होने पर पेन्शन पाने की व्यवस्था की गई है। विधवा और अनाथो को भी राज्य से पेन्शन प्राप्त होती है। इन योजनाओ का उद्देश्य नागरिको की गरीबी को कम करना और जीवन मे आनेवाली अनेक विपदाओ के विरुद्ध सुरक्षा की व्यवस्था करना और रहन-सहन का न्यूनतम स्तर बनाये रखने की गारन्टी करना है।

राज्य और विदेशी व्यापार (The State and Foreign Trade)—देश के विदेशी-व्यापार मे राज्य की दिलचस्पी का एक लम्बा इतिहास है। विदेशो से व्यापार करनेवाले व्यापारियो ने १६वी और १७वी सदी मे काफी उन्नति की। यह सदियाँ वास्तव मे उनके लिए समृद्धिकाल थी। यह व्यापारी चाहते थे कि राज्य विदेशी व्यापार, पर अपना नियत्रण रखे जिसे हमारे देश के लिए व्यापार की अनुकूल स्थिति पैदा हो, हमारा देश विदेशो से आयात की अपेक्षा विदेशो को निर्यात अधिक कर सके। वह चाहते थे कि आयात पर कर लगाए जायँ और निर्यात को विशेष सुविधाएँ दी जायँ और इसके प्रति उदारता की नीति अपनाई जाय। उन दिनो राज्य ऐसा करते थे। बाद मे इन व्यापारियो (Mercantilists) के विचारो की अनेक लेखको ने कडी आलोचना की जिनमे आदम स्मिथ प्रमुख थे। १९वी सदी के मध्य तक विदेशी व्यापार पर से धीरे-धीरे राज्य का नियत्रण समाप्त हो गया। विदेशी व्यापार पर राज्य का नियत्रण नही रहा परन्तु शीघ्र ही इसकी प्रतिक्रिया जोर पकड गई और जर्मनी तथा अमेरिका जैसे अनेक देशो मे अपने उद्योगो को सरक्षण देने की भावना बढने लगी।[1] १९२९ मे व्यापार मे मन्दी आने के बाद ब्रिटेन सबसे पहले इस भावना का शिकार हो गया। देश के उद्योगो को सरक्षण देने के लिये राज्य विदेशी व्यापार मे निरन्तर हस्तक्षेप करने लगे। इस हस्तक्षेप का उद्देश्य विदेशी व्यापार में घाटे की पूर्ति करना भी था यह घाटा निर्यात की मात्रा से आयात की मात्रा अधिक होने के कारण हुआ था जिससे वसूल की जानेवाली रकम की अपेक्षा भुगतान की रकम अधिक थी। युद्ध के समय और युद्ध के बाद अधिकतर देशो के भुगतान की स्थिति प्रतिकूल होने अथवा अन्य देशो से वसूल की जानेवाली रकम की अपेक्षा उनको भुगतान करने की रकम अधिक होने, आवश्यक कच्चे सामान तथा खाद्यान्न की पूर्ति में कमी होने और डालर की कमी होने के कारण राज्य को आयात नियत्रण तथा विनिमय पर प्रतिबन्ध लगाने के तरीको से देश के विदेशी व्यापार पर पूर्ण नियत्रण रखना पडा।

राज्य और आय मे असमानता (State and inequality of incomes) हम पहले एक अध्याय मे आय तथा सम्पत्ति के वर्तमान में असमान वितरण के बुरे प्रभावो पर विचार कर चुके है। सर्वत्र यह माना गया है कि देश में आय में असमानता को कम करने के लिए यथासम्भव प्रयत्न करना तथा न्यायोचित तरीको का अपनाना प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है। इस हेतु की पूर्ति के लिए निम्नलिखित तरीको को अपनाया

गया है—(१) आय पर प्रगतिशील-कर (Progressive taxation) लगाना, (२) उत्तराधिकार प्राप्त करने पर सम्पत्ति मे प्रगतिशील कर (Death duty) लगाना और (३) सग्रहीत आय का विशेषकर धनियो से सग्रह की गई आय का समाज सेवा के द्वारा समाज के निर्धन वर्ग मे वितरण। आय के इस पुनर्वितरण की निश्चय ही कुछ सीमाये है। यदि आय-कर की दर काफी ऊँची निश्चित की जाती है, तो इससे बचत करने की प्रवृत्ति पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है और पूँजी निर्माण मे बाधा पड जाती है। यह सभव है कि आय-कर का भार अधिक होने से धनियो की कमर ही टूट जाय। इसके साथ ही कर की दर इतनी ऊँची होने से यह सभव है कि लोग असली आय की रकम प्रकट ही न करे और विशेषकर ऐसे देशों मे जिनमे नैतिकता का विशेष प्रभाव नही है। इस प्रकार आय छिपाने की प्रवृत्ति काफी जोर पकड़ सकती है। ऐसी स्थिति में सारी आर्थिक व्यवस्था मे ही असमानता फैल जायगी, क्योकि ईमानदार कर-दाताओं को अधिक आय कर देने से काफी नुकसान उठाना पड़ेगा, जब कि बेईमान कर दाताओं की दिन दूनी रात चौगुनी तरक्की होती जायगी।

राज्य और युद्ध (The State and the War)—जिस प्रकार आधुनिक युद्ध होते है ओर उनका सचालन किया जाता है उससे राज्यो को देश के आर्थिक जीवन पर अपना पूर्ण नियत्रण रखने को विवश होना पड़ा है। युद्ध की ऐसी आवश्यकताये होती है, जिनकी पूर्ति के लिए यह नियत्रण किसी प्रकार नही टाला जा सकता है। आधुनिक युद्ध व्यापार-स्वतत्रता (Laissez faire) के सिद्धान्त के आधार पर नही लड़ा जा सकता है। यदि युद्ध का सफल सचालन करने के लिए आर्थिक व्यवस्था का पूर्ण सगठन करना है तो राज्य के लिए देश की आर्थिक व्यवस्था पर अपना पूर्ण नियत्रण रखना परमावश्यक होगा। इस प्रकार आधुनिक राज्यो ने शातिकाल मे उत्पादन मे लगे हुए साधनो को युद्ध-काल के उपयुक्त उत्पादन की ओर खीचने के लिए कीमतो पर नियत्रण रखने तथा राशनिग व्यवस्था लागू करने की नीति अपनायी। इस नीति का एक कारण उक्त स्थिति के फलस्वरूप पैदा होनेवाली मुद्रा-विस्तार की स्थिति के प्रभाव को रोकना भी रहा है। राज्य को नये विनियोगो का इस प्रकार सचालन करना पडता है जिससे उनको युद्ध काल के उपयुक्त उत्पादन मे लगाया जा सके। इसी उद्देश्य से राज्य विदेशी व्यापार और विदेशी विनिमय साधनो (Foreign Exchange resources) पर भी अपना नियत्रण रखता है।

युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी कुछ समय तक ऐसी स्थिति रहती है जिसमे इस प्रकार का नियत्रण बनाये रखना आवश्यक हो जाता है। इसका पहला कारण यह है कि यदि इस प्रकार का नियत्रण युद्ध समाप्त होते ही खत्म कर दिया जाय तो देश की आर्थिक व्यवस्था मे भारी गडबडी पैदा हो जायगी। दूसरे, युद्ध समाप्त होने के बाद उन सभी साधनो को जिनसे युद्ध का सामान तैयार किया जा रहा था, एक सुनियोजित तरीके से

शातिकालीन उत्पादन की ओर आकृष्ट करना पडेगा। तीसरे, युद्ध काल मे जिन अनेक वस्तुओ का अभाव रहता है, वह युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी विद्यमान रहता है, इसलिए युद्ध समाप्त हो जाने के बाद काफी समय तक राशनिग तथा कीमतो पर नियत्रण रखने की व्यवस्था लागू रखनी पडती है। अतिम, युद्ध के समय जमा नकद रकम और उपभोक्ताओ की बढी हुई मॉगो से युद्ध के बाद कुछ समय तक मुद्रा-विस्तार मे वृद्धि होने की आशका रहती है। इसलिए युद्धकाल के दवाव के कारण अपनाये गये अनेक नियत्रण सम्वन्धी उपायो को युद्ध समाप्त होने के बाद भी लागू रखना पडता है और अक्सर इन उपायो को अधिक मुस्तैदी से लागू करने की आवश्यकता होती है।

राज्य और व्यवसाय-चक्र (The State and the Trade Cycle)—दो युद्धो के बीच की अवधि मे विभिन्न देशो मे बेरोजगारी अत्यधिक बढ जाने से इन राज्यो की सरकारो को बेरोजगारो की सहायता देने तथा व्यवसाय की चक्रीय घट-बढ (cyclical fluctuations) को रोकने के लिए अनेक तरीको का इस्तेमाल करना पडता है। व्यवसाय-चक्र की इस घट-बढ के सम्वन्ध मे हम पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर चुके हैं, इसलिए हम व्यवसाय-चक्र के विरुद्ध सघर्ष मे सरकार के योगदान का महत्व समझ सकते है। अव यह वात अधिकाधिक मानी जाने लगी है कि सरकार अपनी मुद्रा-नीति तथा वजट-नीति का व्यवसाय-चक्र की गति-विधि रोकने मे सफल उपभोग कर सकते है। इस दिशा मे मुद्रा-नीति के महत्व को वहुत पहले ही मान्यता प्रदान की जा चुकी है। १९३० के पश्चात् वजट-नीति का महत्वपूर्ण योग भी स्पष्ट हो गया है। मदी का कारण क्रियाशील मॉग (effective demand) का अभाव है। यदि सरकार अपने करो मे कमी कर दे और व्यय मे वृद्धि कर दे तो इस अभाव को रोका जा सकता है। समृद्धि-काल (boom) मे सरकार को अपने करो की दर वढा देनी चाहिए और अपने व्यय मे कमी कर देनी चाहिए। यदि जनता पूँजी लगाने मे हिचकिचाती है और विनियोग की ओर से उदासीन होने लगती है तो राज्य विभिन्न तरीको से सरकारी पूंजी लगाकर इस खाई को पाट सकता है। राज्य वहुत से सार्वजनिक निर्माण कार्य आरम्भ कर सकता है।

राज्य और आर्थिक नियोजन (The State and Economic Planning)—वर्तमान समय मे हम सभी योजना बनानेवाले [illegible] हैं और जनता चाहती है कि कुछ आधारभूत आदर्शो की पूर्ति के लिए राज्य कुछ आर्थिक योजनाये तैयार करे। नियोजन का अर्थ है किसी विशेष उद्देश्य की पूर्ति के [illegible] साधनो को सगठित करना। यदि हम किसी स्थान की यात्रा करना चाहते हैं तो पहले हमें अपनी यात्रा की विस्तृत रूपरेखा तैयार कर लेनी पडती है, अर्थात् हम [illegible] हैं कि हम किस समय रवाना होते है, टिकट खरीदते है और [illegible] करते है, जिससे यात्रा सुरक्षित और सुखद हो सके। आर्थिक नियोजन [illegible]

उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सभी उपलब्ध साधनो को सगठित करने तथा उनका उपयोग करने का एक तरीका है। आधुनिक राज्यो से इस प्रकार योजनाओ की अपेक्षा की जाती है।

इस सम्बन्ध मे आगे विचार करने से पहले इस प्रश्न का उत्तर जानना जरूरी है कि क्या देश के साधनो का विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य योजना तैयार करे? नियोजन की आवश्यकता ही क्या है? क्या नये व्यवसाय चलाने की स्वतन्त्रता की आधुनिक प्रणाली और उसकी शीघ्र प्रभावित होनेवाली बिक्री-कीमत निर्धारित करने की विधि से सभी वाछित उद्देश्यो की पूर्ति नही हो सकती है? विक्रय-मूल्य निर्धारित करने की स्वतन्त्र विधि के अनेक महत्वपूर्ण लाभ हो सकते है। साधारण परिस्थितियो मे इस विधि से उन अनेक उद्देश्यो की पूर्ति हो सकती है, जिन्हे हम चाहते है। परन्तु जब आर्थिक स्थिति में अनेक बडे-बडे और द्रुत परिवर्तन हो रहे हो, या ऐसे परिवर्तन करने की आवश्यकता पूरी करनी हो तो इनका जो प्रभाव पडेगा उसको कीमत निर्धारित करने की अनियन्त्रित प्रणाली नही सँभाल सकती है और इस प्रणाली से ऐसे द्रुत परिवर्तन किये जा ही सकते है। यह बात विशेष रूप से उन देशो पर लागू होती है जिनकी आर्थिक व्यवस्था विकसित नहीं हुई है। ऐसे देशो के लिये यह आवश्यक है कि उनके द्रुत-विकास की व्यवस्था की जाय। इस दिशा मे निजी उद्योग आवश्यक खतरा उठाकर आगे बढने मे असफल हो सकते है और प्राय: असफल रहे है। दूसरे, निजी उद्योगो के द्वारा आर्थिक विकास से होने वाले लाभ का समाज के विभिन्न वर्गों में समान वितरण नही हो पाता है। यह बात निश्चित रूप से नही कही जा सकती है कि कीमत निर्धारित करने की स्वतन्त्र विधि से देश की राष्ट्रीय आय का जनता के सभी वर्गों मे सतोषजनक वितरण हो सकेगा। इसके विपरीत इस विधि से समाज मे आय तथा सम्पत्ति के वितरण मे जो असमानता फैली है वह आँख खोल देने के लिए काफी है। जनता की निरन्तर विकसित सामाजिक चेतना अब इस प्रकार की गभीर आर्थिक असमानता को सहने के लिये तैयार नहीं है और जनता के बहुत बडे अश की माँग है कि राज्य ही समाज के सब उपलब्ध साधनो पर नियन्त्रण रखे, जिससे समाज के विभिन्न वर्गों में राष्ट्रीय आय का उपयुक्त वितरण किया जा सके।

राज्य को आर्थिक योजना क्यो तैयार करनी चाहिये, इसका एक तीसरा कारण भी है। कीमत निर्धारित करने की स्वतन्त्र विधि सामूहिक बेरोजगारी की समस्या को हल करने में असफल रही है। प्रत्येक व्यक्ति इस बात से सहमत है कि १९३० के दौरान मे सामूहिक बेरोजगारी की जो भयकर स्थिति पैदा हो गई थी उसकी पुनरावृत्ति न हो। अनेक लोगो ने यह राय प्रकट की है कि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण रोजगार देने के लिये राज्य को देश मे उपलब्ध साधनो के विकास के लिए आर्थिक योजना तैयार करनी चाहिये।

इसके साथ ही अब प्राय प्रत्येक आर्थिक दृष्टि से अविकसित देश मे यह सोचा जाने लगा है कि आर्थिक साधनो के सुनियोजित विकास की अत्यन्त आवश्यकता है। पहले से ही योजनाबद्ध न किये गये निजी उद्योगो द्वारा ऐसे देशो का विकास जिस गति से सभव हो सकता है, वह अब अपर्याप्त समझा जाने लगा है। इन अविकसित देशो ने विकास की दिशा मे बहुत देर मे कदम उठाया है और अब वह चाहते है कि अगले कुछ वर्षों मे ही विकास की वाछित स्थिति को प्राप्त कर ले। यह राज्य अपनी जनता के रहन-सहन के स्तर को उस स्तर तक ऊँचा उठाना चाहते है जो वर्तमान मान के अनुसार उपयुक्त स्तर कहा जा सकता है। इसलिए इन देशो की आर्थिक-व्यवस्था मे इतने बडे पैमाने पर तथा इतनी तेजी से परिवर्तन करने की आवश्यकता है जो निजी उद्योगो द्वारा कभी सभव नही हो सकता है। इस दिशा मे अनेक ऐसे अज्ञात खतरे है और अनेक ऐसे अज्ञात क्षेत्रों तथा साधनो का उपयोग करने की आवश्यकता है कि निजी व्यवसायी कभी भी इस कार्य को पूरा नही कर सकते है। वह अपने तत्सम्बन्धी कार्यक्रम को ही तैयार नही कर सकते। देश का आर्थिक विकास इस गति से होना चाहिए जिससे सम्बन्धित पूर्ति, सम्बन्धित कीमत तथा लागत के पूरे ढाँचे मे भी तेजी से व्यापक परिवर्तन आ जाय। ऐसी परिस्थितियो से देश के सभी उपलब्ध साधनो के विकास की योजना राज्य द्वारा तैयार किये जाने की माँग को काफी बल मिल जाता है।

प्रत्येक आर्थिक योजना का किसी एक उद्देश्य या अनेक उद्देश्यो से सम्बन्ध रहता है। यह आशा की जाती है कि आर्थिक योजना द्वारा इन उद्देश्यो की पूर्ति की जा सकेगी। दूसरे, चूँकि नियोजन का अर्थ साधनो को सगठित करना है इसलिए नियोजनकर्ता को सभी उपलब्ध साधनो का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। साथ ही इन साधनों का उपयोग करने की विधि का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। आर्थिक योजना तैयार करने के लिए हमे अपने उद्देश्य की स्पष्ट रूप-रेखा तैयार कर देनी चाहिये और इन उपलब्ध साधनो की जानकारी प्राप्त करनी चाहिये। साथ ही नियोजन मे यह स्पष्ट है कि [illegible] योजना तैयार करने के लिए, कार्यान्वित करने के लिये, प्रोत्साहित करने के लिए और प्रत्येक निजी तथा पृथक योजनाओ, व्यवसायो तथा उद्योगो का समन्वय करने के लिए एक केन्द्रीय सस्था होगी।

उद्देश्यो मे बहुत-कुछ सुधार करना पडेगा। यह बहुत सभव है कि इन देशो में बेकार पडे हुए श्रम का उपयोग करने के लिये उत्पादक साज-समाज की पर्याप्त पूर्ति न हो। इसलिये पूर्ण रोजगार के उद्देश्य मे थोडा परिवर्तन करना पडेगा। अतिम, यह सभव है कि देश मे व्याप्त आर्थिक असमानता को कम करने के उद्देश्य से इन सभी उद्देश्यो को परस्पर मिलाकर एक सयुक्त रूप दे दिया जाय। वास्तव मे वर्तमान युग में आर्थिक [स]मानता ओर सामाजिक न्याय अत्यन्त आवश्यक समझे जाते है और इन दो उद्देश्यो की [पू]र्ति के लिये सावधानी से निर्धारित की गयी नीति प्राय सभी योजनाओ का अभिन्न अग [ह]ोती है। इसलिये इनमे से प्रत्येक उद्देश्य की पूर्ति वाछित है और प्राय सर्वत्र योजना [त]ैयार करनेवाले इन विविध उद्देश्यो के उचित समन्वय के आधार पर कार्य करते है, [य]ह किसी उद्देश्य पर कम और किसी पर अधिक जोर देकर योजना को एक सुसगठित [रू]प दे देते है। विभिन्न उद्देश्यो मे से वाछित उद्देश्य का निर्वाचन केवल आर्थिक नियोजन [क]ी ही विशेषता नही है। यह आर्थिक व्यवस्था से सम्बन्धित प्रत्येक निश्चय मे निहित [र]हती है। इन उद्देश्यो मे से वाछित उद्देश्य का निर्वाचन एक तो देश की उस समय की [आ]र्थिक स्थिति पर निर्भर करता है और दूसरा उस देश की जनता के प्रति दृष्टिकोण [प]र निर्भर करता है।

किसी भी प्रकार की आर्थिक व्यवस्था मे आर्थिक नियोजन किया जा सकता है। [पू]ँजीवादी तथा गैर-पूँजीवादी सभी देशो मे आर्थिक योजनाये लागू की जा सकती है। [ए]क विशेष राजनीतिक दल या सगठन द्वारा नियन्त्रित देश मे आर्थिक जीवन के हर पहलू [प]र राज्य का कडा नियत्रण रहता है। इससे योजनाओ को लागू करने मे सहायता [म]िलती है। ऐसी व्यवस्था मे एक सर्वशक्तिमान केन्द्रीय सस्था होती है, जो देश की [पू]री आर्थिक व्यवस्था पर पूर्ण नियत्रण रखती है। इस प्रकार के सगठन में विभिन्न [न]ीतियो का परस्पर पूर्ण सामजस्य रहता है और सफल नियोजन के लिये उन सभी तरीको [क]ा आसानी से प्रयोग किया जा सकता है, जिनकी आवश्यकता प्रतीत होती है। आर्थिक [य]ोजनाओ को सफलतापूर्वक लागू करने की दिशा मे इस प्रकार के एकदलीय अधिनायक-[व]ाद मे चाहे कितनी ही विशेषताये हो इसमे उन कुछ आधारभूत मान्यताओ का त्याग [क]र दिया जाता है जिनको अन्य देश अपने लिये अमूल्य समझते है। इस प्रकार की [व्]यवस्था मे निजी स्वतन्त्रता को तथा जनता के अन्य जनतत्रीय अधिकारो को खतरा रहता है, इसका कोई कारण नही कि जनतत्रीय व्यवस्था में आर्थिक योजनाये सफल न हो। वह निश्चय सफल हो सकती है। इसमे सदेह नही कि जनतत्रीय शासन-व्यवस्था में आर्थिक नियोजन अवश्य जटिल होता है और उक्त अधिनायकवाद की अपेक्षा इस व्यवस्था

मे योजना को कार्यान्वित करने के लिये सरकार तथा जनता से अधिक सहयोग, सक्रियता तथा त्याग की अपेक्षा की जाती है। इसके लिये इस बात की आवश्यकता है कि जिस उद्देश्य की पूर्ति करना चाहते हो और उसके लिये जो कुछ त्याग करना पडे उसे जनता स्वेच्छा से स्वीकार करे।

इससे आर्थिक योजना के निर्माण के महत्व पर बहुत कुछ प्रकाश पड जाता है।

नियोजन के गुण।

इससे देश अपने साधनो का परस्पर सुसम्बन्धित विकास कर सकता है और कम से कम समय के अन्दर जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा उठाया जा सकता है। इससे सामूहिक बेरोजगारी की पुनरावृत्ति को रोका जा सकता है, प्रतियोगिता की प्रणाली मे होनेवाली समाज-विरोधी वरबादी को दूर किया जा सकता है और आय तथा सम्पत्ति के वितरण मे अधिक समानता लाई जा सकती है। परन्तु इन विशेपताओ के साथ ही नियोजन के खतरो और कठिनाइयो की भी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिये। पहले, केन्द्रीय सस्था

नियोजन के खतरे।

द्वारा आर्थिक नियोजन का अर्थ है एक जटिल प्रशासन व्यवस्था की स्थापना जिससे कार्य शीघ्र सम्पन्न होने के बजाय काफी समय लग जाने की सभावना वनी रहती है। ओर कागजी-घोडे दौडाने से उत्पन्न होनेवाली दफ्तरो की सभी बुराइयो का सामना करना पडता है। दूसरे, इस प्रकार के नियोजन से योजना के सम्बन्ध मे निर्णय करने का अधिकार केन्द्रीय सस्था के हाथ मे केन्द्रित हो जाते है और इससे जनतत्रीय अधिकारो को खतरा पहुँच सकता है। उपभोक्ता के रूप मे इससे हमारी उपभोग सम्बन्धी निर्वाचन स्वतत्रता का हनन होता है। इसमे यह भी खतरा निहित

उच्च अधिकारी वर्ग की इस अकुशलता से देश के आर्थिक सगठन के एक वडे भाग का कार्य ठप पड सकता है।

इसलिये आधुनिक राज्य वडी द्विविधा में है। सामाजिक प्रक्रियाएँ बहुत जटिल है और यदि उनका निराकरण नही किया जायगा तो वह ऐसी बुराइयो को जन्म दे सकती है जिसे मानव की निरन्तर विकासोन्मुख चेतना सहन करने को तैयार नही है। वर्त्तमान समय मे कुछ आधारभूत मान्यताओ के प्रति जागरुकता वढ गयी है ओर उन पर जोर दिया जाने लगा है। इन बुराइयो को दूर करने ओर इन आधारभूत मान्यताओ की प्राप्ति के लिये यह आवश्यक हो गया है कि राज्य इसमे हस्तक्षेप करे और कोई आर्थिक योजना तैयार करे। परन्तु योजना को कार्यान्वित करने के लिये नोकरशाही (bureaucracy) का सहारा लेना पडेगा और इसकी तमाम बुराइयो का सामना करना पड़ेगा, साथ ही वैयक्तिक स्वतत्रता की हानि होने का भी सदैव खतरा बना रहेगा।

अध्याय ५९

समाजवाद

(Socialism)

इस पुस्तक मे हमनें वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत आर्थिक समस्याओ का अध्ययन किया है। परन्तु आजकल प्राय सभी देशो मे वहुत से लोग वर्तमान सामाजिक व्यवस्था से असन्तुष्ट है और वे उसका पुनर्संगठन करना चाहते है। पुनर्संगठन के पक्ष मे सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रस्ताव समाजवाद का है। जब से रूस मे पचायती या समाजवादी सरकार की स्थापना हुई है, तब से समाजवाद के सिद्धान्तो का व्यावहारिक महत्व हो गया है। इस अध्याय मे हम समाजवाद के कुछ सिद्धान्तो का अध्ययन करेगे।

समाजवाद क्या है? (What is Socialism?)—समाजवादी लेखक समाजवाद की निश्चित परिभाषा के सम्बन्ध मे एकमत नही है। परन्तु अधिकाश परिभाषाओ में कुछ मूल बाते एक समान है। समाजवाद का अर्थ यह है कि उत्पादन के साधनो पर पूरे समाज का स्वामित्व या अधिकार रहता है। पूंजीवादी प्रणाली में उत्पादन के साधनो पर (जैसे—भूमि, खदाने, कारखाने, रेलें इत्यादि) थोडे से लोगो का अधिकार रहता है और वे उनसे अधिकतम लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करते है। परन्तु समाजवादी व्यवस्था मे इस प्रकार के व्यक्तिगत अधिकार नही होते है। उत्पादन के साधनो पर राज्य का सामूहिक रूप से अधिकार होता है और राज्य उनसे पूरे समाज के लिये अधिकतम लाभ पाने का प्रयत्न करता है। फल यह होता है कि सम्पत्तिहीन लोगो की जो बहुत बडी सख्या होती है, उनका शोषण थोडे से लोग नही कर पाते है। डा० तुगनबारानोवस्की (Dr. Tugan-Baranowsky) के मतानुसार समाजवाद का सार यह है कि उसके अन्तर्गत समाज के किसी व्यक्ति का

मार्क्सवाद और समाजवाद (Marx and Socialism)—यद्यपि समाजवादी विचारधारा का इतिहास बहुत पुराना है, परन्तु चलन मे समाजवादी आन्दोलन कार्लमार्क्स के नाम के साथ जोड़ा जाता है। उदाहरण के लिये इगलैण्ड मे कार्लमार्क्स से बहुत पहले रावर्ट ओवन (Robert Owen) ने स्वेच्छा से सगठित ऐसे समाज की कल्पना की थी, जिसमे सारी सम्पत्ति पर सबका समान अधिकार रहेगा और उससे जो भी उपज अथवा आय होगी वह उस समुदाय के प्रत्येक सदस्य मे बराबर बॉट दी जायगी। फ्रास मे चार्ल्स फोरियर (Charles Fourier) के विचार भी इसी प्रकार के थे। इन लेखको को स्वप्नदर्शी समाजवादी (Utopian Socialists) कहा जाता था। आधुनिक समाजवाद मार्क्स और एगेल्स के समय से प्रारभ होता है, जिन्होने अपना कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र (Communist Manifesto) सन् १८४८ मे प्रकाशित किया। इस घोषणा-पत्र मे मार्क्स और एगेल्स ने पूँजीवाद के उद्भव का इतिहास बतलाया। मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी मीमासा की और उसी के आधार पर अपनी विचारधारा बॉधी। पूरे सामाजिक और राजनीतिक इतिहास का आधार विभिन्न आर्थिक वर्गों का सघर्ष रहा है। जहॉ कही भी समाज विभिन्न आर्थिक वर्गों मे विभक्त रहता है उनमे अपने अपने हितो के लिये आपस मे सघर्ष अनिवार्य रूप से होता है। यह सघर्ष अनेक सामाजिक तथा राजनीतिक घटनाओ को जन्म देते है, जिनसे देश का इतिहास बनता है। समाज का विभिन्न आर्थिक वर्गों मे विभाजन देश की उत्पादन प्रणाली के कारण होता है। समाज मे वर्ग-व्यवस्था हमेशा से प्रचलित रही है। प्राचीन युग मे गुलाम, साधारण जनवर्ग (Plebian) और उच्च वर्ग (Patrician) थे। मध्ययुग मे गुलाम, किसान, सैनिक और सामन्त होते थे। इन वर्गों के स्वार्थो में हमेशा सघर्ष होता रहता था और इसी सघर्ष ने वर्तमान सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को जन्म दिया। इस दिशा मे अन्तिम महत्वपूर्ण उत्थान पूँजीपति वर्ग का हुआ। इस वर्ग की उत्पत्ति सम्पत्ति को वृद्धि तथा बाजार के विस्तार के कारण हुई। पूँजीवादी वर्ग (bourgeoisie) की उत्पत्ति हुई और इस वर्ग ने सामन्त वर्ग (feudal lords) को समाप्त कर दिया। इस वर्ग की उत्पत्ति से अनेक महत्वपूर्ण सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन हुए और यही परिवर्त्तन पूँजीवाद का सार है।

परन्तु पूँजीवाद के अन्दर ही कुछ ऐसी बाते मौजूद है कि उनसे ऐसी स्थिति पैदा होगी कि यह समाप्त हो जायगा। यह अपने पतन के कारणो को स्वय जन्म देता है।

पूँजीवाद का पतन अवश्यंभावी है।

इस प्रणाली ने समाज को दो प्रमुख भागो मे बॉट दिया है—एक पूँजीपति वर्ग और दूसरा मजदूर वर्ग, और जैसा पहले कहा जा चुका है, इन दो वर्गों मे सघर्ष होना अवश्यम्भावी है। मार्क्स का विश्वास था कि पूँजीवाद मे दो ऐसी प्रमुख प्रवृत्तियॉ है जिनसे उसका अन्त निश्चित है। पहली प्रवृत्ति यह है कि उत्पादन और धीरे-धीरे एक छोटे से वर्ग के हाथ मे एकत्रित होती जाती है। बड़े-बड़े उद्योग

और कारखाने स्थापित होगे और वह छोटे-छोटे उद्योगो को निगल जायंगे। दूसरी प्रवृत्ति यह होगी कि मजदूर वर्ग की सख्या वढ़ती जायगी और साथ ही उनकी गरीवी भी वढ़ती जायगी। चूंकि उत्पादन के साधन एक छोटे से वर्ग के हाथ मे एकत्रित होते जायँगे इसलिये लोग अधिकाधिक सख्या मे मजदूर होते जायँगे। मजदूरवर्ग की सख्या वढने के साथ ही साथ समाज व्यवस्था मे एक प्रवृत्ति यह भी देखने मे आयेगी कि धनी वर्ग के हित-साधन के लिये निर्धन तथा निम्नवर्ग का शोपण किया जायगा। अत मे मजदूरवर्ग विद्रोह करेगा और पूँजीवादी वर्ग को समाप्त कर देगा। पूँजीवादी नियत्रण समाप्त कर देने के वाद उत्पादन के सव साधनो पर राज्य का अधिकार हो जायगा और सरकार तथा उद्योग का परिचालन मजदूरवर्ग के हित मे होगा। तव एक वर्गहीन समाज की उत्पत्ति होगी। वर्तमान परिस्थितियो के अनुसार इस प्रकार के समाज का सगठन अवश्य होगा।

सामाजिक व्यवस्था का विश्लेपण मार्क्स ने इसी प्रकार किया है। इस पर कुछ टीका की जा सकती है। इसमे सन्देह नही कि पूँजीवाद के विकास से उत्पादन का केन्द्रीकरण हुआ है। परन्तु उद्योगो के केन्द्रीकरण से उसके स्वामित्व का केन्द्रीयकरण नही हुआ है। यद्यपि छोटे-छोटे व्यवसायियो की सख्या घट रही है, परन्तु सम्मिलित पूँजी के सिद्धान्त के कारण वडे-वडे उद्योगो मे छोटे-छोटे लोग भी हिस्से खरीद सकते है। पूँजीवाद के विकास से मजदूरवर्ग एकदम गरीव नही हुआ है। इसमे सन्देह नही कि आय मे वहुत अधिक असमानता है। परन्तु मार्क्स के समय से यह असमानता वहुत अधिक नही वढी है।

इसी बीच मे समाजवादी विचारधारा से सम्बन्धित कई मत और उन मतो के अनुसार कई दल हो गये। एक सामूहिक विचारधारा पहले से थी ही जिसके अनुसार उत्पादन के साधनो पर राज्य का अधिकार माना गया, परन्तु फ्रास मे इसके अलावा एक और क्रान्तिकारी आन्दोलन का प्रचार हुआ। इस नये आन्दोलन को मजदूर सघवाद (Syndicalism) कहते है। यह समाजवाद और मजदूर सघवाद (Trade Unionism) का सम्मिश्रण है। इसके अनुसार उद्योगो पर राज्य का अधिकार न होकर प्रत्येक उद्योग का नियत्रण ओर प्रबन्ध मजदूर सघो (Syndicates or Trade Unions) के हाथ मे होगा। इस तरह स्थानीय उद्योगो पर स्थानीय मजदूर सघो का अधिकार होगा ओर राष्ट्रीय उद्योगो पर राष्ट्रीय मजदूर सघो का अधिकार होगा। इस प्रकार राज्य स्वतन्त्र विकेन्द्रित इकाइयो का एक ढीला-ढाला सघ मात्र होगा। मजदूर सघवाद वर्तमान व्यवस्था को खत्म करने के लिये हडताल, ध्वस तथा गुप्त तोड-फोड इत्यादि उपायो पर विश्वास करता है।

मजदूर सघवाद।

इगलैण्ड मे भी एक समाजवादी मत का विकास हुआ है। इस मत के अनुसार उत्पादन के सब साधन राज्य के अधिकार मे रहने चाहिये। परन्तु उद्योगो का प्रबन्ध राज्य के साथ मे सामूहिक रूप मे न रह कर, प्रत्येक उद्योग मे काम करनेवाले सब प्रकार के मजदूरो के साथ मे रहेगा। इस सघ मे मजदूर, इजीनियर, मैनेजर इत्यादि सब विभागो के लोग रहेगे। इस प्रकार रेलो के लिये एक रेलवे सघ होगा। इस विचारधारा को कारीगर सघवाद (Guild Socialism) कहते है ओर यह मजदूर सघवाद तथा सामूहिकवाद का सम्मिश्रण है।

कारीगर सघवाद।

तीसरी विचारधारा के लोगो ने अपने को विकासवादी समाजवादियो से पृथक सिद्ध करने के लिये कम्यूनिस्ट नाम दिया। कम्यूनिस्टो का विश्वास था कि समाजवाद को बलपूर्वक तत्काल स्थापित किया जा सकता है। सोशलिस्टों अथवा समाजवादियो के विपरीत कम्युनिस्ट राजनीतिक प्रजातत्र, आम मताधिकार और बहुमत के आधार पर शासन-प्रणाली मे विश्वास नही करते थे यद्यपि रूस ने सन् १९३६ मे इन बातो को ग्रहण किया। कम्यूनिस्ट हिंसात्मक क्रातिद्वारा जनसत्ता स्थापित करना चाहते है। इनको आय की वितरण प्रणाली भी समाजवाद की अन्य विचारधाराओ से कुछ भिन्न है। इनका कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति से उसकी योग्यता के अनुसार लेना चाहिये ओर प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार देना चाहिये।

कम्यूनिज्म।

सोविट रूस (Soviet Russia)—रूस मे जो कम्यूनिस्ट व्यवस्था लागू की गयी है उसका वर्णन करना भी आवश्यक है। १९१७ मे रूस मे कम्युनिस्टो के हाथ

मे राजसत्ता आई। उन्होने सबसे पहले भूमि का राष्ट्रीयकरण किया। किसानो की भूमि उन्ही के हाथो मे रहने दी गयी परन्तु उसमे यह शर्त थी कि अपना अतिरिक्त उत्पादन उन्हे राज्य को देना पड़ेगा। सन् १९१९ तक खानो, कारखानो, बैंक, यातायात और विदेशी व्यवसाय का पूरी तरह राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। परन्तु शीघ्र ही इनके सम्वन्ध मे कुछ कठिनाइयाँ पैदा हुई। भूमि का राष्ट्रीयकरण करने की नीति लागू करने से उत्पादन घट गया और लोग चोरी-चोरी क्रय-विक्रय करने लगे। सरकार को विदेशों से रेल-सम्वन्धी तथा अन्य प्रकार की मशीने मिलनी वन्द हो गयी। पुराने मैनेजरो ओर कारखानो के टेकनिकल विशेषज्ञो ने भी सरकार को सहयोग देना वन्द कर दिया। उत्पादन व्यवस्था इतनी लचर हो गयी कि कुछ समय के लिये सरकार को अपनी नीति मे परिवर्तन करना पडा। एक नयी आर्थिक नीति (New Economic Policy) ग्रहण की गई। किसानो को अपना अतिरिक्त उत्पादन वेच सकने की रियायत दी गयी। गृह-उद्योग तथा छोटे-छोटे कारखानो मे लोगो को उत्पादन-सम्वन्धी निजी स्वामित्व दिया गया, विदेशी कारखानो और स्वदेशी तथा विदेशी मिश्रित कारखानो अथवा मिश्रित पूँजी की कम्पनियो को (जैसे कि लीना की सोने की खाने है) भी रियायते दी गयी। यह नीति १९२८ तक लागू रही ओर उस वर्ष से फिर नीति मे वडे-वडे परिवर्तन किये गये। इसके वाद वास्तव मे आर्थिक-नियोजन का युग आरम्भ हो गया। उद्योग तथा कृषि की वृहद् उन्नति के लिये वडे-वडे कार्यक्रम वनाये गये। एक पचवर्षीय योजना तैयार की गयी और इसमे वड़े-वड़े उद्योगो, कोयला, विजली, मशीनो ओर ट्रैक्टरो के निर्माण तथा वृहद् उत्पादन पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। सन् १९२९ मे कृषि के सम्वन्ध मे एक नई नीति ग्रहण की गयी, जिसका उद्देश्य सामूहिक खेती का प्रचार करना था। भूमि और जानवरो को वड़े-वड़े सामूहिक कृषि-फार्मो को सौंप दिया गया आर उन्हे ट्रैक्टर तथा कृषि की अन्य मशीने इत्यादि दी गयी। वहुत से किसानो ने इसका विरोध किया परन्तु उनका दमन करके इस नीति को कार्यान्वित किया गया। सन् १९३३ मे दूसरी पचवर्षीय योजना लागू की गयी। इस योजना का प्रथम उद्देश्य छोटे-छोटे कारखानो को वढाना तथा उपभोग की वस्तुओ का उत्पादन वढाना था। वस्तुओ की जो कमी प्रारम्भ मे हुई थी उसे इस प्रकार पूरा किया गया। सन् १९३५ मे राशनिंग की व्यवस्था का अंत कर दिया गया।

के स्त्री-पुरुषो को ऊँची-ऊँची तनख्वाहे दी जाती है। रूस मे आय की असमानता उतनी ही अधिक है जितनी कि सारे ससार के किसी भी पूँजीवादी देश मे हो सकती है। कुछ लोगों का कहना है कि यह बात वास्तविक कम्यूनिस्ट सिद्धान्त के विरुद्ध है। परन्तु यह बात सही नही है। मार्क्स ने कहा था कि समाजवाद की प्रारम्भिक अवस्था मे काम के गुण और मात्रा के अतर मे अनुपात मे मजदूरी की दरो मे भी अतर रहेगा। जब उत्पादन इतना बढ जायगा कि सबके उपभोग के लिये काफी वस्तुएँ हो जायँगी और जब लोग सामाजिक वर्गों को भूल जायंगे, तब कम्युनिस्ट का वह सिद्धान्त प्रचलित किया जाय जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकतानुसार देने की बात कही गयी है। परन्तु आय में असमानता होते हुए भी इस प्रणाली की श्रेष्ठता इस बात मे मानी जाती है कि पूँजीवादी व्यवस्था के समान इसमें सम्पत्ति अथवा अनुपार्जित आय नही है तथा बिना काम किये किसी को कुछ आय भी नही प्राप्त होती।

समाजवादी राज्य मे मूल्य का अर्थ (Value in a Socialistic States)—कुछ वर्ष पहले कुछ अर्थशास्त्रियो ने समाजवादी आर्थिक व्यवस्था के अतर्गत मूल्य के आधार का प्रश्न उठाया। मूल्य और वितरण के सम्बन्ध मे अर्थशास्त्रियो के जो सिद्धान्त है, क्या वे समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे भी लागू होते है? प्रतियोगितापूर्ण आर्थिक व्यवस्था मे बाजार में वस्तुओ तथा साधनो की जो कीमते रहती है, उनके अनुसार उत्पादक अपनी नीति निश्चित करते हैं। प्रत्येक उत्पादक केवल उतना उत्पादन करेगा, जिससे उसकी सीमात लागत कीमत के बराबर रहे। विभिन्न साधनो का विभिन्न उद्योगों मे इस प्रकार वितरण होगा कि उनकी वास्तविक सीमात ओसत कीमतो के बराबर होगी और यदि व्यक्तिगत सीमांत वास्तविक उत्पत्ति तथा सामाजिक सीमात वास्तविक उत्पत्ति मे अन्तर नही है, तो प्राप्त साधनो से अधिकतम तृप्ति प्राप्त हो सकती है। परन्तु जैसा कि प्रोफेसर माइसेस[1] ने बतलाया है, समाजवादी आर्थिक व्यवस्था मे उत्पादन के सब साधनो पर राज्य का अधिकार रहेगा और उन साधनो का स्वतन्त्र बाजार नही रहेगा। अतएव उत्पादन के साधनो का स्वतन्त्र बाजार न रहने से उनकी कीमते निश्चित नही की जा सकती। स्वतत्र कीमतो के न होने से लागत का खर्च तथा कीमतो का हिसाब नही लगाया जा सकता।

बाद मे इस विवाद में डा० एच० डी० डिकिन्सन, लेगे, टेलर आदि लेखको ने भाग लिया। पूँजीवादी प्रथा मे हमेशा अधिकतम तुष्टि या उपयोगिता पर जोर नही दिया जाता। मार्शल और पीगू के ग्रन्थो से बहुत पहले यह बात प्रकट हो गयी है कि सामाजिक सीमान्त वास्तविक उत्पत्ति मे और व्यक्तिगत सीमात वास्तविक उत्पत्ति में बहुत से अतर होते है। फिर बाजार मे प्रचलित कीमतो के आधार पर हमेशा उत्पादन के सम्बन्ध मे सही निश्चय नही कर सकते। प्रतियोगितापूर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत जो

---

1 Socialism by Ludwing Von Mises.

कीमते प्रचलित होती है, वह उपभोक्ताओ की वर्त्तमान आयो के आधार पर निश्चित होती है। इसलिये वे उत्पादन की व्यवस्था को पथभ्रष्ट कर देती है, ओर धनी वर्गो की आराम की वस्तुओ पर अधिक ध्यान दिया जाता है और गरीव वर्गो की आवश्यकता की वस्तुओ के उत्पादन पर उतना ध्यान नही दिया जाता। पूँजीवादी व्यवस्था मे वरवादी और अयोग्यता को भी काफी स्थान मिलता है। सन् १९०८ मे वेरोन नामक इटली के एक अर्थशास्त्री ने कहा था कि सिद्धात की दृष्टि से समाजवाद मे हिसाव के आधार पर निश्चित की गई कीमते (accounting prices) उतनी ही महत्व-पूर्ण होती है, जितनी कि पूँजीवाद मे बाजार मे प्रचलित कीमते। उसने विभिन्न वर्गो के समीकरणो द्वारा यह सिद्ध कर दिया कि समाजवादी व्यवस्था मे भी साधनो का वितरण विभिन्न उद्योगो मे उसी प्रकार किया जा सकता है जिस प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था मे होता है। डिकिन्सन, आस्कर, लेगे, डरविन तथा अन्य कई अर्थशास्त्रियो का मत भी इसी प्रकार का है। 'कीमत किसी सगठन विशेप के ऊपर निर्भर नही रहती है। माइसेस (Mises) ने भ्रम से कीमत निश्चित करने की क्रिया के सार को उस रूप विशेप से मिला दिया है, जो पूँजीवादी व्यवस्था मे प्रकट होता है।" समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे स्वतत्र बाजार न होने से कोई मूल कठिनाई उत्पन्न नही होती है। साधनो के वितरण के सम्वन्ध मे हिसाव लगाने के लिये कीमतो का अनुमान स्वीकार किया जा सकता है। प्रत्येक साधन की मुद्रा के रूप मे एक अनुमानित कीमत मानी जा सकती है। उदाहरण के लिये जैसा कि पूँजीवादी देशो मे होता है, केन्द्रीय योजना के अधिकारी बाजार मे प्रचलित कीमतो को आधार मान सकते है। तव वे अधिकारी माँग ओर पूर्ति की सूची के आधार पर तथा कुछ प्रयोगो के आधार पर सही कीमते निश्चित कर सकते है। यदि वस्तु की माँग पूर्ति से अधिक है, तव उस वस्तु का उत्पादन ओर उसकी माँग वदलनी पडेगी। तव नयी कीमतो की सूची वनेगी और उत्पादन की मात्रा मे परिवर्त्तन हो जायगा। इस प्रकार के प्रयोगो के आधार पर एक नया साम्य स्थिर हो जायगा, जिस पर माँग ओर पूर्ति वरावर हो जायगी। प्रतियोगितापूर्ण अर्थ-व्यवस्था मे इस रीति के अनुसार कीमते निश्चित की जाती है।

अधिकाश लोगो की आवश्यकता पूर्ति के लिये किया जायगा। इस प्रकार उत्पादन की एक निश्चित मात्रा से तुष्टि की अधिक मात्रा प्राप्त होगी। अत मे, पूँजीवाद मे उत्पादन की प्रणाली सुव्यवस्थित नही होगी। उसमे सकट आते रहते है। परन्तु समाजवादी व्यवस्था मे दीर्घकालीन योजनाओ द्वारा व्यवसाय-चक्रो के परिवर्तनो पर पूँजीवाद की अपेक्षा अधिक अच्छा नियत्रण रखा जा सकता है। वर्तमान समाज मे पूर्ण प्रतियोगिता के फलस्वरूप जो खतरे और अनिश्चित परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं, वे समाजवाद मे बहुत कम हो जायँगी। प्रतियोगितापूर्ण व्यवस्था मे जो बरबादी होती है, वह भी समाप्त हो जायगी।

समाजवाद की कठिनाइयाँ

समाजवादी व्यवस्था मे इन गुणो के साथ-साथ कुछ दोष भी है। प्रोफेसर पीगू (Prof. Pigou) ने इस बात को स्वीकार किया है कि समाजवादी अर्थ-व्यवस्था मे लागत हिसाब (accounting costs) के आधार पर साधनो का आदर्श बँटवारा हो सकता है, परन्तु उनका मत है कि व्यावहारिक रूप मे इसमे बडी-बडी कठिनाइयाँ उत्पन्न होगी। इस समस्या को हल करने के लिये बहुत से विलक्षण बुद्धिमानो की आवश्यकता होगी। दूसरे, क्या समाजवाद मे उत्पादन का सगठन अपनी योग्यतम अवस्था में स्थिर रह सकता है? प्रतियोगितापूर्ण व्यवस्था मे हानि के डर से अथवा लाभ के लालच से उत्पादक सतर्क रहते है और उनकी योग्यता बनी रहती है। परन्तु समाजवादी व्यवस्था मे किसी कारखाने के मैनेजर को एक निश्चित वेतन मिलेगा। यदि उसके कारखाने मे नुकसान होगा तो उसका भार सारे देश पर पडेगा। इसलिये कारखाने के प्रबन्ध मे वह सतर्क रहने की परवाह नही करेगा। समाजवादी व्यवस्था मे यह बात कमजोरी का कारण बन सकती है। परन्तु सोवियत रूस मे इस कठिनाई को हल करने के लिये कई उपाय किये गये है, प्रतिद्वन्द्विता की भावना का प्रचार, सार्वजनिक सम्मान, सार्वजनिक भर्त्सना इत्यादि की व्यवस्था से वहाँ यह कठिनाई हल कर ली गयी है।

दूसरी कठिनाई पूँजी एकत्रित करने की सही दर निश्चित करने मे होगी। केन्द्रीय योजना समिति का निर्णय तो बिना किसी आधार के और इच्छानुसार होगा। इसलिये सभव है कि गलत दर से पूँजी एकत्रित करने के कारण आर्थिक व्यवस्था को हानि पहुँचे। परन्तु साथ ही यह भी सही है कि पूँजीवादी व्यवस्था मे उपभोक्ताओ की द्रवता पसन्दगी के आधार पर ब्याज की दर निश्चित की जाय, वह उतनी सही न हो, जितनी कि योजना समिति द्वारा निश्चित की हुई दर। चौथी कठिनाई विभिन्न पदो के लिये उपयुक्त व्यक्तियो के चुनने मे सम्बन्ध मे होगी। इस सम्बन्ध मे पूँजीवादी व्यवस्था मे भी कोई आदर्श रीति नही है। परन्तु उसमे एक तरीका है, जिसके द्वारा योग्य और उपयुक्त मिल जाते है, यद्यपि यह तरीका अपूर्ण है। परंतु समाजवादियो ने भी कोई

सेसे अच्छी रीति नही निकाली, जिससे पदो के योग्य उपयुक्त व्यक्ति मिल सके और लोगो की योग्यता तुरन्त पहचानी जा सके।

परन्तु समाजवाद की कठिनाइयो की चर्चा करने का यह अर्थ नही है कि समाजवाद की स्थापना असभव है। वास्तविक निर्णय आदर्श पूँजीवाद और कट्टर समाजवाद के बीच मे नही है। पूँजीवाद के समर्थको के मतानुसार पूँजीवाद से जो खूबियाँ प्राप्त हो सकती है, वास्तव मे वह प्राप्त नही हुई है। इसलिये हम केवल अपूर्ण प्रतियोगितापूर्ण आर्थिक व्यवस्था और कठिनाइयो से लदी हुई समाजवादी व्यवस्था के बीच तुलना कर सकते है और यह तुलना हमेशा पूँजीवादी व्यवस्था के पक्ष मे नही जाती है।

—-.o'—